PRISHAD PATRIKA 1964 G.K.V.

परिषद्-पत्रिका

साहित्य-संस्कृति-साधना-प्रधान त्रैमासिक

४ | माघ, २०२० विक्रमाब्द; १८८५ शकाब्द; जनवरी, १९६४ ई० | वार्षिक ६.०० : एक प्रति १.५०

आनन्दममृतं यद्विभाति

प्रस्तुत अङ्क में

परिषद्-पत्रिका

[१२]

सम्पादक-मण्डल

डॉ० श्रीलक्ष्मीनारायण सुधांशु :: डॉ० श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर'
श्रीमोहनलाल महतो 'वियोगी'

•

सम्पादक

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

•

सहायक सम्पादक

हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' :: श्रीरञ्जन सूरिदेव

अन्त:-

कृतार्थ ऋषि जाते हैं
हमारे लिए सत्य के द्वारा

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद
पटना

परिषद्-पत्रिका

[साहित्य-संस्कृति-साधना-प्रधान त्रैमासिक]

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल॥ —भारतेन्दु

वर्ष ३ अङ्क ४ | माघ, विक्रमाब्द २०२०; शकाब्द १८८५; जनवरी, १९६४ ई० | वार्षिक ६·०० एक प्रति १·५०

सत्यमेव जयते नानृतम्

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

सत्यमेव जयते नानृतम्
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्ति ऋषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥

—मुण्डकोपनिषद्, ३·१·५-६।

यह आत्मा निरन्तर सत्य से, तप से, यथार्थज्ञान से और ब्रह्मचर्य से उपलभ्य है। पापरहित और प्रयत्नशील व्यक्ति इस निष्कलङ्क और प्रकाशस्वरूप आत्मा को अपने अन्तः-करण में देख सकते हैं।

सत्य की ही जय होती है, असत्य की नहीं। जिस मार्ग से कृतार्थ ऋषि जाते हैं और जहाँ उस सत्य का परम निधान है, ऐसा वह देवमार्ग हमारे लिए सत्य के द्वारा ही प्रशस्त होता है।

टिप्पणियाँ

हिन्दी-संस्थाओं के कार्यों में सुनिश्चित योजना का अभाव

हिन्दी को आज राष्ट्रभाषा का पद तो अवश्य मिल गया है, पर इसके विकास और विस्तार में जो बाधाएँ आ रही हैं, उनसे राष्ट्र का महा अहित हो रहा है। स्वार्थ-सिद्धि के लिए जो बाधाएँ खड़ी की जा रही हैं, उनसे सम्पूर्ण देशवासी क्षुब्ध हो उठे हैं। मद्रास की कड़गम-पार्टी और चक्रवर्त्ती श्रीराजगोपालाचारी को छोड़ दें (इनका विरोध बिलकुल कृत्रिम है), तो मद्रास-राज्य के कुल-के-कुल सर्वसाधारण व्यक्ति आज हिन्दी के प्रति हृदय से निष्ठावान् मिलेंगे। मद्रास-राज्य के दूर-दूर कोने में कतिपय तेजस्वी साधकों ने हिन्दी-प्रचार-समितियों का जैसा जाल बुन दिया है, वैसा उत्तरी भारत में नहीं दिखता। इतना ही क्यों, मद्रास-राज्य के हिन्दी-लेखक जितना शुद्ध और सुगठित हिन्दी आज लिखते हैं, और जिस तेजी से दक्षिण में हिन्दी का प्रसार हो रहा है, वह उत्तर भारत के हिन्दी-भाषाभाषी क्षेत्रों के लिए ईर्ष्या और अनुकरण की वस्तु है। इसी प्रकार, आन्ध्र और केरल भी अपनी हिन्दी-निष्ठा में पूरी प्रगति पर हैं, जिसके लिए सभी इनकी प्रशंसा करते हैं। उत्कल-सरकार ने भी अपने यहाँ 'राष्ट्रभाषा-प्रचार' नामक एक अच्छी हिन्दी-संस्था स्थापित कर दी है। इसने तो कई अलभ्य हिन्दी-ग्रन्थ प्रकाशित भी किये हैं। कलकत्ता की वङ्गीय हिन्दी-परिषद् की सेवाएँ भी स्तुत्य हैं। हिन्दी-हित की बात जब हम सोचते हैं, तब सहज ही इन संस्थाओं की बरबस याद हो आती है। परन्तु, एक सुनिश्चित योजना के अभाव में ये छिटपुट सेवाएँ अपना पूरा-पूरा प्रभाव नहीं डाल पातीं।

हिन्दी के विकास, विस्तार और उसके दृढ आधार के लिए सबसे अधिक उत्तर-दायित्व आज बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, दिल्ली, राजस्थान और पंजाब पर है; क्योंकि हिन्दीभाषी होने का दावा इन्हीं प्रान्तों का है। यदि ये प्रान्त हृदय से हिन्दी-निष्ठा का प्रभाव उपस्थित करें, तो हिन्दी के विकास और विस्तार को कोई रोक नहीं सकता। किन्तु, इन प्रान्तों में भी कुछ ऐसे अवसरवादी राजनीतिज्ञ और अँगरेजीपरस्त व्यक्ति हैं, जो सबसे बड़े हिन्दी के विद्वेषी और शत्रु बने हुए हैं। ये उस पौधे के कीट हैं, जिसके रस से स्वयं जीते हैं, पर उसे ही पनपने नहीं दे रहे हैं। ये अपना सिक्का कायम रखने के लिए बराबर हिन्दी-अँगरेजी की कृत्रिम समस्या खड़ी करते रहते हैं और किसी-न-किसी व्याज से हिन्दी के प्रवाह को अवरुद्ध कर रहे हैं। फिर भी, इन सारे विरोधों एवं बाधाओं का हमें विवेकपूर्वक और धैर्य तथा सहिष्णुता के साथ सामना करना है और हिन्दी के लिए मार्ग प्रशस्त करना है। प्रश्न है कि यह कार्य कैसे किया जाय, जिसका उत्तर हमारे जानते और सही अर्थ में हिन्दी-साहित्य के सर्जनात्मक और क्रियात्मक कार्यों से ही दिया जा सकता है। हिन्दीद्वेषियों के साथ किसी तरह का वितण्डावाद व्यर्थ है—समय तथा शक्ति का अपव्यय करना है।

आज हमारे लिए प्रसन्नता का विषय है कि हिन्दी-साहित्य के सर्जनात्मक और क्रियात्मक कार्यों के लिए दिल्ली, आगरा, प्रयाग, वाराणसी, गोरखपुर, जयपुर, जोधपुर, जबलपुर, बंबई, पूना, पटना आदि नगरों में अनेक ऐसी हिन्दी-संस्थाएँ स्थापित हो गई हैं, जिनके द्वारा होनेवाले कार्य वस्तुत: उत्साहवर्द्धक हैं। यों तो, देश के अनेक विद्वान् लेखक, उपन्यासकार, नाटककार और कवि हिन्दी की सेवा में संलग्न हैं; किन्तु हिन्दी की जो योजनाबद्ध सेवा समष्टि-रूप में ये संस्थाएँ कर सकती हैं, वह व्यष्टि-रूप में संभव नहीं। इन नगरों की संस्थाओं में कुछ सरकारी हैं, कुछ सार्वजनिक और कुछ वैयक्तिक भी, जिनमें दिल्ली की साहित्य-अकादमी, पब्लिकेशन डिवीजन, केन्द्रीय हिन्दी-निदेशालय, स्व० डॉ० रघुवीर द्वारा स्थापित सरस्वती-विहार और दिल्ली-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन; लखनऊ में हिन्दी-समिति; आगरा में कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी भारतीय विद्यापीठ; प्रयाग में अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, हिन्दुस्तानी अकादमी और भारतीय हिन्दी-परिषद्; वाराणसी में नागरी-प्रचारिणी सभा, भारतीय ज्ञानपीठ और ज्ञानमण्डल लिमिटेड; गोरखपुर में गीता प्रेस; जयपुर में साहित्य-अकादमी और श्रीदिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी; जबलपुर में भाषानुसंधान-संस्थान; मद्रास में दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा; वर्धा में राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति; पूना में राष्ट्रभाषा-महासभा और भण्डारकर-रिसर्च-इन्स्टिच्यूट; पटना में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, बिहार-रिसर्च-सोसायटी एवं प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन; बम्बई में हिन्दी-विद्यापीठ तथा बीकानेर में शार्दूल राजस्थानी इन्स्टिच्यूट मुख्य हैं। ये संस्थाएँ आज हिन्दी-साहित्य के भाण्डार को भरने में निरन्तर क्रियाशील हैं, जिनसे हिन्दी का मस्तक ऊँचा उठा है और उसकी दीप-शिखा ऊर्ध्वमुखी बनी है।

उपर्युक्त सारी बातें तो हैं; पर इनमें एक बहुत बड़ा अभाव है और वह है—सुनिश्चित योजना का अभाव। जिस वृक्ष की जड़ भूमि में जितनी गहराई तक पहुँची होती है, वह उतनी ही अधिक शाखा-प्रशाखाओंवाला होता है और शतियों तक उसका स्थायित्व बना रहता है। शीघ्र बढ़नेवाले तथा शीघ्र फूलने-फलनेवाले वृक्ष शीघ्र ही नष्ट भी हो जाते हैं। किसी भी भाषा का बहुविध साहित्य तो उसकी शाखा-प्रशाखा-मात्र है, यह उसका भीतरी मूल भाग नहीं होता। उसका पाताल तक पहुँचनेवाला मूल तो उसका सुदृढ व्याकरण और कोशग्रन्थ है, जिनमें वैज्ञानिक एकरूपता होती है। ये ही विषय भाषा की आधारभूमि हैं, जिनपर उसका साहित्य पनपता और बढ़ता है। आज हिन्दी में इन्हीं का अभाव है और यह इसलिए है कि हिन्दी-संस्थाओं में सुनिश्चित योजनाबद्ध कार्य नहीं हो रहे हैं। आप देखेंगे कि भारतीय भाषाओं में अतिशय समृद्ध पालि और प्राकृत-भाषाएँ तो बिलकुल बिखर गईं और हजारों-हजार वर्षों की पुरानी संस्कृत भाषा, शतियों से सिंचन के अभाव में भी, अपने सुदृढ व्याकरण और कोशग्रन्थों के सहारे आज भी हरी-भरी बनी हुई है तथा भारत की तमाम भाषाओं को रस दे रही है। हमारे कहने का तात्पर्य है कि हिन्दी-साहित्य के लिए सुदृढ भूमि तैयार की जाय, जिसे सुसंघटित संस्थाएँ ही कर सकती हैं और हिन्दी-भाषा में एकरूपता एवं समग्रता ला सकती हैं।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए यह एक बहुत बड़ा चिन्त्य विषय है कि आजतक इसकी वर्त्तनी और व्याकरण में एकरूपता नहीं आ सकी। हिन्दी-संस्थाओं का यह दायित्व है कि ये भाषा को स्थायी और वैज्ञानिक बनाने के लिए मनमानेपन को समाप्त करें। हिन्दी अब किसी वर्ग और प्रान्त-विशेष की भाषा नहीं रह गई है, यह सारे भारत की ही नहीं; बल्कि सम्पूर्ण संसार के लिए सीखने-समझने की भाषा हो गई है। अतः, वर्त्तनी और व्याकरण के मनमाने प्रयोगों से अहिन्दीभाषी भारतीय और विदेशी चकरा जाते हैं और हिन्दी-भाषा की वैज्ञानिकता पर संदेह करने लगते हैं। उनके सामने यह समस्या खड़ी हो जाती है कि **गई** में **ई** लिखें या **यी**। इसी तरह **उसके लिए** और **लिये-दिये** में से किसमें **ए** लिखा जाय और किसमें **ये**; **लीजिए-दीजिए-कीजिए** के अन्तिम अक्षर को **ए** से लिखें अथवा **ये** से; **कलकत्ता** आदि नगरों के आगे कारक-विभक्ति आने पर **आकार** को ज्यों-का-त्यों छोड़ा जाय अथवा उसमें विकृति पैदा कर एकार कर दिया जाय; स्त्रीलिंग आकारान्त शब्दों के बहुवचन में **एँ-ओं** अथवा **ये-यों** इनमें से क्या लिखा जाय? हिन्दी में आज ऐसे अनेक प्रयोग है, जिन्हें लोग कई तरह से लिखते हैं और भाषा की छीछालेदर करके छोड़ देते हैं। इसी तरह शब्दों के स्त्रीलिंग-पुँल्लिंग में भी भारी उछृंखलता आ गई है और कुछ लोग तो मात्राओं के लिखने में भी धाँधली मचाये हुए हैं। इस तरह के मनमानेपन को मिटाने के लिए यह आवश्यक है कि देश की हिन्दी-संस्थाएँ अपने एक अथवा एकाधिक सम्मिलित सम्मेलनों में वर्त्तनियों तथा व्याकरण के सम्बन्ध में एक-रूपता लाने के लिए नियम निर्द्धारित करें, जिसका व्यवहार कम-से-कम ये अपने कार्यों में अवश्य अपनायें। इस समस्या के समाधान और सहयोग के लिए हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं के संचालकों तथा सम्पादकों को भी सम्मिलित करना श्रेयस्कर होगा। हिन्दी-भाषा को सुदृढ और वैज्ञानिक बनाने में यह प्रयास निश्चय ही स्तुत्य होगा और यह तभी संभव होगा, जब हिन्दी-संस्थाएँ सुसंघटित होकर परस्पर समन्वय स्थापित करेंगी। इस दिशा में केन्द्रीय सरकार का ध्यान जरूर गया था; पर उसका विचार लाल फीते के अंदर ही घुटकर रह गया। किन्तु, देश की हिन्दी-संस्थाएँ यदि सम्मिलित भाव से भाषा में एकरूपता लाने का प्रयास करें, तो हिन्दी का बहुत बड़ा हित हो जाय।

हिन्दी की वर्त्तनी और व्याकरण की तरह हिन्दी की प्रकाशन-व्यवस्था भी आज योजना-विहीन है। विभिन्न विषयों के ग्रन्थों के निर्माण और प्रकाशन के लिए यदि हिन्दी की संस्थाएँ सुसंघटित होकर योजना तैयार करें, तो हिन्दी-साहित्य का विकास चरमोत्कर्ष पर शीघ्र ही पहुँच जाय। आज देश की किसी हिन्दी-संस्था को यह पता नहीं है कि कहाँ किस विषय की अथवा कौन-सी पुस्तक प्रकाशित हो रही है। फलस्वरूप, प्रकाशन में पिष्टपेषण होना स्वाभाविक है। जैसे, काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा, बीकानेर की शार्दूल राजस्थानी इन्स्टिट्यूट और पटना की बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्—तीनों हस्त-लिखित पोथियों पर कार्य कर रही हैं। यदि इनमें से कोई एक के जिम्मे यह कार्य सौंपा जाय, तो अन्य दो दूसरे उपेक्षित विषयों पर भली भाँति काम कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक संस्था को अपने लिए किसी एक तरह के ग्रन्थों के प्रकाशन का चुनाव

कर लेना चाहिए और यह तभी संभव होगा, जब देश की हिन्दी-संस्थाएँ समन्वयात्मक रूप में योजनाबद्ध कार्य आरंभ करेंगी। गोरखपुर के गीता प्रेस को हम धन्यवाद देते हैं, जिसका प्रकाशन सुनियोजित ढंग से हो रहा है। इधर अपनी योजना के अनुसार ज्ञानमण्डल लिमिटेड (काशी) ने कोशों का कार्य आरंभ किया है, जो अनुकरणीय है। आज से तेरह साल पूर्व बिहार-सरकार ने भी ऐसी ही, सुनियोजित ढंग से कार्य करने के उद्देश्य से, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत और पालि की चार संस्थाएँ स्थापित की थीं, जिनमें हिन्दी और पालि की दो संस्थाएँ आज पूर्ण सक्रिय हैं। इसलिए, देश की हिन्दी-संस्थाओं पर आज इसका दायित्व है कि ये इस आपत्ति-काल में हिन्दी के विकास और विस्तार के लिए योजनाबद्ध कार्य करें तथा ग्रन्थों के निर्माण आर प्रकाशन के लिए विषयों का परस्पर विभाजन कर लें। एक से अधिक विषय भी किसी संस्था को अवश्य दिये जायँ; पर समन्वयात्मक योजना के अनुसार कार्यों का निर्द्धारण आवश्यक है। प्रति वर्ष हिन्दी-संस्थाओं का सम्मेलन हो, जिसमें इस तरह के विचार-विनिमय हों। मनमाने ढंग पर और योजना-रहित कार्यों से शक्ति, श्रम और साधन का दुरुपयोग हो रहा है और हिन्दी-साहित्य का यथेष्ट हित भी नहीं सध रहा है। उपर्युक्त संस्थाओं के योजनाबद्ध कार्यों के अभाव के कारण ही, अभीतक हिन्दी-साहित्य के भाण्डार में विज्ञान, तकनीकी, चिकित्सा, कानून, कृषि, भूतत्त्व, कोश आदि ग्रन्थों का अभाव बना हुआ है। अतः, हमारा विचार है कि हिन्दी-साहित्य के विकास की उद्देश्यवाली संस्थाएँ आज सुसंघटित होकर परस्पर योजनानुसार हिन्दी के विकास, विस्तार एवं उसके दृढ आधार की बात सोचें। हिन्दी का तथा राष्ट्र का वास्तविक हित इसी में है। —'सहृदय'

o

दक्षिण भारत की उल्लेख्य हिन्दीसेवी संस्थाएँ

यह बात इतिहास-सम्मत है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा अहिन्दीभाषी प्रान्तों के हिन्दीप्रेमी मनीषियों ने जिस आस्था और तन्मयता से की है, वह हिन्दीभाषी प्रान्तों के लिए अनुकरणीय आदर्श है। सच पूछिए, तो हिन्दी को आधार-शिला रखने के श्रेयोभागी अहिन्दीभाषी ही हैं। आज तो हिन्दी ने स्वयं इतनी शक्तिमत्ता प्राप्त कर ली है कि अनेकानेक भारतीयेतर देश भी इसकी उत्कण्ठ उपासना में गौरव, हर्ष और सहज अभिरुचि के साथ कार्यशील हैं। फिर, भारत के अहिन्दीभाषी प्रान्तों और नागरिकों के हृदयों में यदि हिन्दी के लिए सेवा की भावना उज्जीवित हुई है, तो यह अस्वाभाविक नहीं। ऐसी स्थिति में, हिन्दी को बलहीन समझकर इसके प्रचार-प्रसार या दृढता-स्थिरता के लिए आन्दोलन करने या नारे लगाने के दिन लद गये। साथ ही, अब इसके राष्ट्रभाषा के पद से अपदस्थ हो जाने या किये जाने की आशंका की गुंजायश भी नहीं रह गई है। अब तो केवल इस बात की आवश्यकता रह गई है कि हिन्दी के लिए योजनाबद्ध रूप में काम किया जाय और इसके भाण्डार को विविधता और विशिष्टता से अधिकाधिक समृद्ध किया जाय।

तो, आज हिन्दी के लिए जिस योजनाबद्धता, निष्ठा और उत्साह की अपेक्षा है, उस दृष्टिकोण से दक्षिण भारत की हिन्दी-सेवा अवश्य ही उल्लेख्य है। दक्षिण भारत की हिन्दीसेवी संस्थाओं में कतिपय ऐसी हैं, जिनमें हिन्दी-सेवा के लिए न्यूनाधिक योजनाबद्धता तो है ही, साथ ही निष्ठा और उत्साह की भी प्रचुरता है। पूज्य बापू की प्रेरणा और आशीर्वाद से अभिषिक्त मद्रास की दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा हिन्दी की सर्जनशील संस्थाओं में अग्रणी है। विगत कई दशकों से वह हिन्दी की अभ्युदय-अभिवृद्धि के लिए ठोस कार्य कर रही है। इसके द्वारा प्रकाशित महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों में चारों दक्षिणी भाषाओं के हिन्दी-कोश हिन्दी-संसार के लिए अद्‌भुत, अभिनव और महार्घ प्रमाणित हुए हैं। इस सभा के द्वारा संचालित होनेवाली हिन्दी-परीक्षाओं तथा मासिक पत्र 'हिन्दी-प्रचार-समाचार' से भी अहिन्दीभाषी दक्षिण-भारतीय नागरिकों में हिन्दी के प्रति दिनानुदिन आकर्षण, अनुराग और अभिरुचि बढ़ रही है। दक्षिण भारत की एक स्तरीय हिन्दी-संस्था होने के कारण ही भारत-सरकार ने इसे 'राष्ट्रीय संस्था' की गरिमा प्रदान की है। महामना लोगों का कथन भी है कि सच्चे सेवकों की सेवा एक-न-एक दिन पुरस्कृत होकर रहती है। इस सभा के प्रति हिन्दी-जगत् इससे भी अधिक संभावनाओं के लिए आस्थाशील है।

एर्नाकुलम् (केरल) की दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा भी मद्रास की हिन्दी-प्रचार सभा के समान ही, उसकी शाखा होने के कारण, हिन्दी-परीक्षाओं का संचालन करती है, साथ ही 'केरल भारती' नाम की मासिक पत्रिका भी निकालती है। यह सभा हिन्दी-प्रचार-कार्य में बड़ी तीव्रता से गतिशील है। इसकी स्थापना के मूल में भी पूज्य बापू की ही प्रेरणा काम करती है। इस सभा के प्रयास से सम्प्रति केरल की चालीस प्रतिशत जनता हिन्दी से परिचित हो चुकी है। इसके महार्घ प्रयत्न से प्रभावित होकर आन्ध्र और मैसूर की सरकारों ने अपने सभी कर्मचारियों के लिए सभा की कम-से-कम मध्यमा परीक्षा में उत्तीर्ण होना अनिवार्य कर दिया है। केरल की इस सभा ने अपने गत अधिवेशन में हिन्दी के त्रिमुखी विकास (राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी, स्कूलों में हिन्दी और जनता में हिन्दी) पर विचार और चिन्तन के लिए एक मौलिक प्रश्नद्वार का उद्‌घाटन किया है। इस सभा की सक्रियता अहर्निश सतर्क समन्वय की ओर अनुधावित है, जिसे देखकर हिन्दी-भारती अवश्य ही गर्वोद्‌ग्रीव होती होगी। केरल के अतिरिक्त, तमिल और कर्नाटक में भी हिन्दी-प्रचार सभा कार्यशील है। इस सभा के सामने सम्प्रति पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण की योजना का कार्यान्वियन ही मुख्य कर्त्तव्य हो उठा है। यह कार्य जिस दिन सम्पन्न हो जायगा, उस दिन हिन्दी-संसार को निश्चय ही गौरवान्वित होने का पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जायगा।

दक्षिण भारत का आन्ध्रप्रदेशीय हिन्दी-विद्यार्थी-संघ भी हिन्दी-सेवा की दिशा में निरन्तर जागरूक है। इसके सत्प्रयासों का ही प्रभाव है कि आन्ध्र के शिक्षण-संस्थानों और विभिन्न कार्यालयों में हिन्दी का आदर होने लगा है। इस संघ के द्वारा स्वल्प जीवन में ही दक्षिण में हिन्दी के लिए जो अनुकूल वातावरण तैयार किया गया है, वह निस्सन्देह प्रशंस्य है।

मद्रास की ही, आज से एक दशक पूर्व स्थापित, साहित्यानुशीलन-समिति हिन्दी के लिए बड़ी तत्परता से सक्रिय है। हिन्दी तथा दक्षिणी साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन एवं अनुशीलन के द्वारा इन दो भिन्न भाषावर्गों के साहित्यों में भावों की एकता के स्रोत का अभिज्ञान ही इस समिति का प्रमुख लक्ष्य है। इस समिति की ओर से प्रकाशित वार्षिक 'साहित्यानुशीलन' दक्षिणभारतीय साहित्य के विभिन्न पक्षों पर, उसके वैविध्य और वैशिष्ट्य पर बड़ा ही वैदुष्यपूर्ण प्रकाश डालता है। प्रति वर्ष हिन्दी-साहित्य के विभिन्न विषयों का अनुशीलन विभिन्न विद्वानों के द्वारा कराया जाना भी इस समिति के पवित्र कार्यों में एक है। इसके अतिरिक्त, गत वर्ष दशम वार्षिकोत्सव के अवसर पर इस समिति ने दक्षिणी भाषाओं के कृष्ण एवं राम-काव्यों पर विशेष भाषणों का आयोजन किया था। इस प्रकार, यह समिति दक्षिण भारत में हिन्दी के शास्त्रीय पक्ष को पुष्ट करने में प्रत्यह प्रगतिशील है।

--सूरिदेव

०

कतिपय नवीन और उल्लेख्य विशेषांक

पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांकों की अपनी परम्परा होती है, उनका अपना महत्त्व होता है। परिपाटी के अनुकूल, विषय-विशेष या अवसर-विशेष से अनुगत विशेषांक एक ओर जहाँ अपने प्रस्तावित विषय के सम्बन्ध में व्यापक सूचनाएँ तथा गंभीर शोध-सामग्री प्रस्तुत करते हैं, वहीं वे दूसरी ओर स्व-सम्बद्ध पत्रों की दृढ आधार भूमि, सजीव सम्पादन-नीति, युगीन विचार-जागरूकता, साथ ही अपनी अक्षय्य अर्थशक्ति का भी संकेत देते हैं। सचमुच, विशेषांक साहित्य के आगार को तो समृद्ध करते ही हैं, पत्र-पत्रिकाओं के इतिहास में भी अपने पृष्ठ शाश्वत और स्वर्णिम कर जाते हैं। हम अपनी उक्ति की चरितार्थता के लिए गीता प्रेस, गोरखपुर के प्रसिद्ध मासिक 'कल्याण' के बृहत्तर विशेषांकों को उदाहृत कर सकते हैं। कहना न होगा कि 'कल्याण' के प्रख्यात बृहत्काय विशेषांकों ने भारतीय जन-मानस के सांस्कृतिक स्तर को उन्नीत करने में ईर्ष्य यशोधनता प्राप्त की है। इसके अतिरिक्त, आसेतुहिमाचल विस्तीर्ण हिन्दी-संसार में धर्म और संस्कृति के व्याज से हिन्दी के प्रति निर्व्याज अभिरुचि, सहज आग्रह और उदग्र उत्कण्ठा भी उत्पन्न की है। सामान्य जन-मानस को हिन्दी की ओर उन्मुख करने का जहाँतक प्रश्न है, 'कल्याण' का प्रयास निस्सन्देह सर्वातिशायी माना जायगा। किन्तु, 'कल्याण' के द्वारा होनेवाले हिन्दी के जनतन्त्रीकरण व्यापार की दिशा से इतर लक्ष्यवाले हिन्दी के कतिपय प्रमुख मासिकों के प्रौढ विशेषांकों ने शोध-जगत् के लिए महत्त्वपूर्ण और दुर्लभ सामग्री सुलभ की है। हम यहाँ अधिकांशतः शोधात्मक दृष्टिकोण से प्रस्तुत कुछेक पत्र-पत्रिकाओं के उन विशेषांकों का समासतः उल्लेख करेंगे, जो हमें इसी हेतु प्राप्त हुए हैं।

प्राप्त विशेषांकों में मासिक **ज्ञानोदय** (कलकत्ता) का **पत्र-अंक** सर्वप्रथम उल्लेख्य है। यह विशेषांक नवम्बर '६३ का है और दिसम्बर '६३ का अंक इसी **पत्र-अंक** के परिशिष्टांक के रूप में प्रकाशित हुआ है। इन दोनों में शताधिक पत्रों (कतिपय पद्यात्मक भी) का

संकलन किया गया है। पत्र-लेखकों में अधिकांशतः साहित्यिक—चोटी के माने जानेवाले सर्जनशील साहित्यिक हैं। इनके बाद दो-एक गौण साहित्यिक तथा एकाध राजनेता। इन्हीं संकलित पत्रों में कतिपय हिन्दीतर भाषाओं के अनूदित पत्र भी समाविष्ट हैं। इस प्रकार, वर्गीकृत दृष्टि से निश्चय ही यह पत्र-संकलन व्यापक और पूर्ण नहीं कहा जा सकेगा। इसके अतिरिक्त अनुसन्धित्सु तब और भी हतोत्साह होंगे, जब उन्हें इस प्रतिनिधि संकलन (?) में हिन्दी के उदय और उत्थान-काल की धारा के सहसा स्मरण हो आनेवाले मूर्द्धन्य दधीचि-कल्प साहित्य-विभूतियों के पत्र नहीं दीख पड़ेंगे। इसके अलावा उन्हें तब और भी अधिक झुँझलाहट होगी, जब वे सम्पादकीय का यह मर्मांश (!) कि **इस विशेषांक में हमारा यह भी प्रयत्न रहा है कि यथासंभव हिन्दी की तथाकथित सभी जीवित पीढ़ियों के प्रतिनिधियों को एक मंच पर प्रस्तुत किया जा सके**— पढ़कर अपनी पीढ़ियों के प्रतिनिधियों को ढूँढ़कर पाने के बाद निराश होंगे।

दूसरी बात, यथारूप संकलित पत्रों में, कुछेक को छोड़कर, प्रायः सभी-के-सभी पत्र मूलतः पत्र नहीं हैं, वरन् यों ही गढ़े गये वायव्य भावपत्र हैं; इसलिए इनका साहित्यिक महत्त्व जितना ही अधिक है, शोध-प्रकर्ष उतना ही कम। इन सब खामियों के बावजूद इस विशेषांक की अनेक ऐसी खूबियाँ हैं, जिनसे इनकार नहीं किया जा सकता। बीच-बीच में, 'टेलपीस' के रूप में दी गई सम्बद्ध सूचनाएँ पत्र-प्रेमियों के लिए आवर्जक सिद्ध होंगी। प्रबुद्ध पाठकों को साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं की विविध रोचक विधाएँ अनुकूलित करेंगी। सुलभता, सुमुद्रण और सघन सज्जा इस संकलन की ततोऽधिक विशिष्टता मानी जायगी। सम्पादक की ओर से दीपावली के अवसर पर भेंट किया गया यह 'अनेकरंगी, अनेकगंधी गुलदस्ता', 'पत्रों का यह अपूर्व भण्डार' अवश्य ही साहित्य-जगत् में समादृत होगा।

दूसरा विशेषांक है मासिक **भारती** (बम्बई) का **वेद-विद्या-अंक**। यह भी दीपावली के ही अवसर पर, सितम्बर-अक्टूबर '६३ के दो अंकों में, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के रूप में निकाला गया है। इसकी साज-सज्जा जितनी आवर्जक है, सामग्री भी उतनी ही उत्कृष्ट। निश्चय ही, यह विशेषांक जीवन, संस्कृति और साहित्य का संदेशवाहक है। इसके सभी लेखक वेद-विद्या के अधिकारी विद्वान् हैं, जिससे सामग्री भरती की न प्रतीत होकर ठोस मालूम पड़ती है। अनेक रंगीन चित्र इसकी उत्कृष्टता में चार चाँद लगाते हैं। कुछ कविताएँ अवश्य दुर्बल हैं, फिर भी वे अपने पाठकों के द्वारा उपेक्षित होंगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। संकलित तथा सुमुद्रित लेखों में म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, आचार्य अभयदेव, डॉ० जनार्दन मिश्र, वेदमूर्त्ति पं० सातवलेकर, डॉ० सम्पूर्णानन्द आदि वेदज्ञों के महार्घ लेख वेदों के विविध जिज्ञास्य गूढ तत्त्वों के जटा-जाल को सुलझानेवाले हैं। वेदों के सम्बन्ध में सर्वसामान्य जिज्ञासुओं के लिए यह विशेषांक जलधि की अगाधता में प्रवेश के लिए सोपान-श्रेणी प्रमाणित होगा, जिससे कृत-विद्य सम्पादक को उपकृत हिन्दी-जगत् के आन्तरिक धन्यवाद के अर्जन का स्वतःसिद्ध अधिकार प्राप्त होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। [शेषांश पृ० १३९ पर]

चर्यापद में वर्णित दार्शनिक तत्त्व*

डॉ० श्रीशशिभूषण दासगुप्त

चर्यापद का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि तात्त्विक दृष्टि से इसके दो पक्ष हैं—एक दार्शनिक पक्ष और दूसरा साधना-पक्ष। दार्शनिक पक्ष इसमें प्रमुख नहीं है। इसका प्रधान पक्ष साधना-तत्त्व है। इसके प्रधान होने का कारण यह है कि चर्यापद के कवि मुख्य रूप से एक विशेष 'गुह्ययोग-पथ' के साधक थे; उस साधना की विभिन्न प्रक्रियाओं एवं उसी साधना से प्राप्त विचित्र अनुभूतियों को प्रकट करना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। बौद्ध एवं हिन्दू-तन्त्रों में भी देखते हैं कि तर्कप्रधान दार्शनिक तत्त्वों के प्रचार में उनका कोई उत्साह नहीं है; बल्कि उनका सारा उत्साह साधना द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार करने में ही दिखाई पड़ता है। चर्यापद में जो दार्शनिक पटभूमि गृहीत हुई है, वह पटभूमि मोटे तौर पर महायान बौद्धधर्म में अन्तर्भुक्त विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के मतों द्वारा ही तैयार हुई है। महायान बौद्धधर्म के अन्तर्गत जितने मत हैं, उनमें दो का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। एक है—नागार्जुनपाद द्वारा प्रवर्त्तित शून्यवाद या माध्यमिकवाद, और दूसरा है—मैत्रेय, असंग तथा वसुबन्धु द्वारा प्रवर्त्तित विज्ञानवाद या योगाचारवाद। इन दो प्रमुख मतों के बीच जो सद्धान्तिक पार्थक्य विद्यमान है, चर्यापद में उस पार्थक्य की रक्षा नहीं हुई है—वहाँ देखता हूँ कि विज्ञानवाद के पास ही शून्यवाद के अनुकूल पद भी विद्यमान हैं।

इस प्रसंग में एक बात पर और भी गौर किया जा सकता है कि महायान के अन्तर्गत नागार्जुन का शून्यवाद मुख्यतः नेतिवाचक है। सत्य यह नहीं, वह नहीं है; परमार्थ-तत्त्व को सत्य भी नहीं कहा जा सकता, मिथ्या भी नहीं कहा जा सकता, दोनों भी नहीं कहा जा सकता और दोनों नहीं भी नहीं कहा जा सकता; 'वह है भी' नहीं कह सकता, 'नहीं है भी' नहीं कह सकता, 'है भी एवं नहीं भी है' भी नहीं कह सकता, 'है और नहीं है, इसमें कोई भी सत्य नहीं है' यह भी नहीं कह सकता। परमार्थसत्य इस प्रकार चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त है एवं जो तत्त्व चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त है, वही शून्य है। परमार्थ-सत्य के सम्बन्ध में स्वीकारात्मक रूप में कोई बात नहीं कही जा सकती, यह कहकर ही नागार्जुन ने उसे शून्यता की संज्ञा से अभिहित किया है। किन्तु, विज्ञानवादियों ने शून्यता को इस प्रकार अनस्तिवाचक कहकर स्वीकार नहीं किया है, उन लोगों ने विशुद्ध विज्ञान (विज्ञप्तिमात्र) को ही शून्यतत्त्व कहकर अभिहित किया है। यह विज्ञप्तिमात्रता है, मगर वह अभूत-परिकल्प (अर्थात्, जहाँ किसी तरह का मानसिक परिकल्प नहीं होता)

* प्रस्तुत लेख मूलतः बँगला में लिखा गया था, जिसका हिन्दी-अनुवाद श्री श्रीनारायण पाण्डेय ने किया है।—सं०

रूप में अवस्थित है। विज्ञानवाद के इस अभ्यर्थक मतवाद के साथ औपनिषदिक और वैदान्तिक ब्रह्मवाद का गहरा सम्बन्ध है, अर्थात् विज्ञानवाद के 'अभूत-परिकल्प' या 'विज्ञप्तिमात्रता' को थोड़ा और बढ़ा लेने से ही वह वैदान्तिक ब्रह्मवाद में पर्यवसित हो जाता है। इसीलिए, प्रसिद्ध वैदान्तिक शंकराचार्य को परवर्त्ती काल में बहुतेरे प्रच्छन्न बौद्ध समझते थे। हम चर्यापद में देख पायेंगे कि चर्याकार बहुतेरे स्थानों पर इसी विज्ञान-वादी महायान-धर्म का अवलम्बन कर धीरे-धीरे जाकर हिन्दू ब्रह्मवाद या आत्मवाद में प ँचे हैं। इस प्रसंग में हमलोगों को एक बात और स्मरण रखनी होगी। जिस युग में इन चर्याओं की रचना हुई है, वह पालयुग हमलोगों के धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में सर्वांगीण समन्वय का युग था। इस समन्वय-काल में हिन्दू और बौद्ध चिन्ताधारा का भी समन्वय हुआ था और साधना के क्षेत्र में भी दोनों धाराओं ने मिलकर एक समन्वित लोकायत साधना-धारा का निर्माण किया था। ध्यान, मनन और साधना की दृष्टि से चर्यापदों में जो उपादान मिलते हैं, उनमें कितना हिन्दू-अंश है एवं कितना बौद्ध-अंश, इसे अलग-अलग करके देखना सब जगह संभव नहीं।

चर्यापदों में बहुत-से ऐसे पदों को देखते हैं, जो साधारण बौद्धधर्म की चिन्ता-धारा से निकले हैं। यहाँ कहा गया है—

भवणइ गहण गम्भीर वेगेँ वाही।
दुआन्ते चिखिल माझे न थाही॥ (सं० ५)

इसे देखकर बौद्धधर्म में जहाँ अस्तित्व-प्रवाह की तुलना नदी-प्रवाह के साथ की गई है, उसकी याद आती है। जिस प्रकार एक नदी-प्रवाह में, प्रत्येक मुहूर्त्त, प्रत्येक जलकण दूसरे जलकण से पृथक् है, फिर भी सबको मिलाकर एक अखंड जलप्रवाह दिखाई पड़ रहा है, उसी प्रकार हमलोग जिसे संसार-प्रवाह कहते हैं, उस प्रवाह में भीतर का प्रत्येक अस्तित्व क्षणिक एवं पृथक्-पृथक् है; सबको मिलाकर एक अखंड भव प्रवाहित हो रहा है। दूसरी पंक्ति में भी हमें प्राचीन बौद्धधर्म की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। साधारण रूप से बौद्धमत को माध्यमिक मत कहा जाता है; साधना के क्षेत्र में बुद्धदेव ने पहले एक चरम त्याग (कृच्छ्रता) के पथ को चुन लिया था; किन्तु बाद में उन्होंने इस सत्य का अनुभव किया कि साधना के पथ को जिस प्रकार भोग का पथ होना उचित नहीं, उसी प्रकार चरम त्याग (कृच्छ्रता) का पथ होना भी उचित नहीं—उसका मध्यपथ होना ही श्रेयस्कर है। यहाँ उसी मध्यपथ का ही संकेत पा रहे हैं; फिर भी वही मध्यपथ यहाँ तान्त्रिक महायानियों के मत में रूपान्तरित है—तीव्र वेग से प्रवाहित होने-वाली भवनदी का एक किनारा शून्यता है और दूसरा किनारा करुणा। शून्यता ज्ञानवादी निवृत्ति का पक्ष है और करुणा कुशल धर्मवादी प्रवृत्ति का। इनमें किसी एक को भी छोड़कर दूसरे का आश्रय ग्रहण करने से परम सत्य से विच्युत होकर कीचड़ में गिरना पड़ेगा—एक को दूसरे के साथ अद्वैत रूप में मिला लेने पर ही बोधिचित्त की प्राप्ति होगी। शून्यता या प्रज्ञा के साथ करुणा या उपाय को मिला लेने से प्रज्ञा हम लोगों को आत्मकेन्द्रिक निवृत्ति के संकीर्ण पक्ष पर खींच नहीं ले जा सकेगी और करुणा या

उपाय के साथ शून्यता या प्रज्ञा को मिला लेने पर बोधिसत्त्व के आदर्श से अनुप्राणित कुशल कर्मसमूह भी कभी बन्धन का कारण नहीं हो सकता।

प्रथम चर्या में ही जब हम देखते हैं कि **काआ तरुवर पंच विडाल,** तभी हमें इस सत्य का आभास मिलता है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन्हीं पंचतत्त्वों से ही हमारा शरीर बना है और इसी शरीर के भीतर ही पुद्गल-रूपी अहंभाव जगता है। सातवीं चर्या में कहा गया है—

ते तिनि ते तिनि तिनि हो भिन्ना। भणइ काण्हु भव परिच्छिन्ना॥
जे जे आइला ते ते गेला। अवणागवणे काण्हु विमन भइला॥

"वे तीन हैं, वे तीन हैं, तीनों ही अलग हैं। काण्हु कहते हैं (ठीक नहीं), सभी भव-परिच्छिन्न हैं। जो आये हैं, वे ही गये हैं। इसी आवागमन से काण्हु अन्यमनस्क हुए।" हमलोग तीन या बहुत-सा कहकर जो कुछ अलग-अलग देख रहे हैं, असल में वह कुछ भी अलग स्वयं सम्पूर्ण वस्तु नहीं। शून्यता के बीच ही हमलोग भवबोध और अस्तित्वबोध के द्वारा सब कुछ को अलग और परिच्छिन्न करके देख रहे हैं, जो क्षण-भर में आता है और क्षण-भर में विनष्ट भी हो जाता है। इस आवागमन में आना भी सत्य नहीं है और जाना भी सत्य नहीं, यही काण्हुवाद को उदास कर रहा है। एक अनादि अविद्याजनित माया के स्वप्न में प्रतिभात इस भव-जलधि के इस अनित्य शून्यस्वरूप को समझकर इसे आसानी से पार कर जाना होगा—**तरित्ता भवजलधि जिम करि माअ सुइना (१३)**। इस संसार-प्रवाह के स्वरूप एवं उसके भीतर निहित विशुद्ध विज्ञान-रूप सत्य का वर्णन 'लुइपाद' ने अपने एक पद में किया है—

भाव ण होइ अभाव ण जाइ। अइस संबोहें को पतिआइ॥
लुइ भणइ वट दुलक्ख विणाणा। तिअ धाए विलसइ उह लोग णा॥
जाहेर वाण चिन्ह रूव ण जाणी। सो कइसे आगम वेएँ वरवाणी॥
काहेरे किस भणिमइ दिवि पिरिच्छा। उदक चान्द जिम साच न मिच्छा॥

"भाव भी नहीं होता और अभाव भी नहीं जाता, ऐसे संबोध को कौन पतिया सकता है। लुई कह रहे हैं, सुनिए, यह विज्ञान बहुत ही दुर्लक्ष्य है—यह तीन धातुओं में विलास करता है, किन्तु इससे किसी उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती। जिसका कोई वर्णचिह्न-रूप नहीं जाना जाता, तो फिर भला आगम-वेद से उसकी व्याख्या कैसे होगी? किसके सम्बन्ध में क्या कहकर हम जिज्ञासा का समाधान करेंगे, जैसे जल का चन्द्रमा सत्य भी नहीं है और मिथ्या भी नहीं है।"

यहाँ मोटे तौर पर कवि ने विज्ञानवाद का ही अनुसरण किया है। भाव एवं अभाव—(अस्तित्व एवं नास्तित्व)—इसका कोई भी अंश सत्य भी नहीं है, मिथ्या भी नहीं है, केवल दुर्लक्ष्य विज्ञानस्वरूप मात्र ही सत्य है, वह समस्त अस्तित्व-प्रवाह के बीच ही विलास कर रहा है; किन्तु अभूत-परिकल्प कहकर वह सम्पूर्ण 'अवाङ्मनसगोचरम्' है। फिर, इस पद के पास ही एक और पद को उद्धृत किया जा सकता है, जिसमें शून्यवादियों की तरह प्रतीत्यसमुत्पादहेतु प्रतिभात संसार के अनुत्पन्नत्व एवं अनस्तित्व की ही नाना

रूपों में व्याख्या की गई है। वहाँ मिथ्या प्रतिभास-प्रवाह के बाद और अन्य किसी तरह के किसी सत्य को, किसी भी रूप में, स्वीकार नहीं किया गया है।

आइए अनुअनाए जगरे भांतिएँ सो पड़िहाइ।
राजसाप देखि जो चमकिइ साँचे कि ता वोड़ो खाइ॥
अकट जोइआरे मा कर हथा लोहा।
अइस सभावेँ यदि जग बूझसि तुटइ वासना तोरा॥
मरुमरीचि गन्धर्वनअरी दापन-पड़िबिम्बु जइसा।
वातावत्तेँ सो दढ़ मइआ अपेँ पाथर जइसा॥
बान्धे सुआ जिमि केलि करइ खेलइ वहुविह खेला।
बालुआ तेलेँ ससरसिंगे आकाश फूलिला॥
राउतु भणइ कट भुसुकु भणइ कट सअला अइस सहाव।
जइ तो मूढ़ा अच्छसि भान्ती पुच्छतु सद्गुरु पाव॥ (सं० ४१)

"आदि से ही अनुत्पन्नहेतु यह जगत् भ्रान्ति द्वारा ही प्रतिभात होता है। रज्जु-सर्प को देखकर जो चौंकता है, सच्मुच क्या बोड़ा साँप (एक तरह का साँप) उसको खाता है? अरे अकट (मूर्ख योगी)! अपना हाथ लोना मत करना। इस स्वभाव से अगर जगत् को समझ सको, तो तुम्हारी सारी वासना टूटेगी।" इसके आगे भुसुक जग ् के स्वरूप का वर्णन करता हुआ कहता है—जिस प्रकार "मरुमरीचिका, गन्धर्वनगरी और दर्पण-प्रतिबिम्ब (किसी वस्तु-सत्ता के न होने पर भी भ्रान्ति एवं वासना का दिखाई पड़ना) हैं, जिस प्रकार हवा की तरंगों में पानी का दृढ पत्थर (जलस्तम्भ) रहता है, जिस प्रकार बाँझ का लड़का खेलता है; ये सब उसी प्रकार हैं—जैसे बालू का तेल, खरगोश का सींग, आकाश का फूल आदि। भुसुक कह रहा है—सबका यही स्वभाव है; अगर तुम मूर्ख बनकर रहो, तो सद्गुरु के चरणों में अपनी सब भ्रान्तियों की जिज्ञासा करो।"

यहाँ जिस प्रकार व्यावहारिक जीवन में हम लोगों का ब तेरा वस्तुज्ञान है; किन्तु उनके पीछे किसी भी तरह की वस्तुसत्ता का होना संभव नहीं, वहाँ जिस प्रकार चित्त-विकल्प के द्वारा कुछ के न होने से भी हमलोग बहुत कुछ बना लेते हैं, उसी प्रकार जगत् के समग्र अस्तित्व के सम्बन्ध में भी वही एक बात सत्य है—यह अनादि अविद्याजात एक चित्तविकल्प की प्रतीतिमात्र है। असल में यह एक बड़ा निराधार भ्रम है। किन्तु, इस पद के साथ ही हम 'काण्हपाद' के एक पद को उद्धृत कर सकते हैं, जिस पद में अभूत-परिकल्प विज्ञान महासुख-रूप में एक सर्वव्यापी शाश्वत आनन्द-स्वरूप में दिखाई पड़ा है और यही महासुख-स्वरूप विज्ञान वेदान्त के आनन्द-स्वरूप सर्वव्यापी ब्रह्म के साथ मन के अज्ञात में ही युक्त हो गया है।

चिअ सहजे शुण संपुरणा। कान्ध वियोएँ मा होहि विसण्णा॥
भण कइसे काण्ह नाहि। फरइ अनुदिन तैलोए पमाइ॥
मूढ़ा दिठ नाठ दि देखि काअर। भाग तरंग कि सोसइ साअर॥

मूढ़ा अच्छन्ते लोअ न पेखइ । दूध माझे लड़ अच्छन्ते न देखइ ॥
भव जाइ ण आवइ एथू कोइ । अइस भावे विलसइ काण्हिल जोइ ॥ (सं० ४२)

"चित्त सहज द्वारा (महासुख-रूप सहज रूप में) शून्य-सम्पूर्ण है (शून्य होकर ही सम्पूर्ण है); स्कन्ध-वियोग से विषण्ण मत होना। काण्ह नहीं है, यह कैसे कहते हो ? वह हरदम त्रिलोक में व्याप्त हो आनन्द का उपभोग कर रहा है; मूर्ख ही दृश्यवान् को नष्ट होता देखकर दु:खित होता है; तरंग की गति क्या सागर को सोख लेती है ? ज्ञो है, मूर्ख उसे भी नहीं देख पाते, जिस प्रकार दूध में चिकनाहट के रहने पर भी उसे नहीं देख पाते।"

यहाँ कोई अस्तित्व आता भी नहीं और समाप्त भी नहीं होता। इस तरह काण्हिल योगी विलास कर रहा है। यहाँ शून्यता तो नहीं ही है, बल्कि वह पूर्णता का ही नामान्तर है। मृत्यु से सब कुछ का अन्त नहीं हो जाता, मृत्यु से इस स्थूल देह का अवसान होता है, पंचतत्त्वों का वियोग-मात्र होता है; इस पंचतत्त्व के वियोग के बाद क्या बच रहता है ? बच रहता है, हम लोगों का आनन्दमय सहज-स्वरूप; यही आनन्दमय सहज-स्वरूप का असल में आनन्दमय सर्वव्यापी शाश्वत अस्तित्व है। यह आनन्दमय अस्तित्व जैसे एक सागर के समान है और प्रत्येक व्यक्ति-जीवन उसकी एक-एक लहर के समान है। लहरों के उठने और गिरने से जैसे सागर के अस्तित्व एवं नास्तित्व की सूचना नहीं मिलती, उसी प्रकार एक आनन्दमय अस्तित्व के महासागर में अविद्या-विक्षुब्ध जो यह व्यक्ति-जीवन की लहर है, उसके द्वारा महासागर में किसी प्रकार का परिवर्त्तन सूचित नहीं होता। पंचतत्त्वों के वियोग के बाद जो अखण्ड आनन्द स्वरूप के साथ अभिन्न होकर त्रिलोकव्यापी आनन्द-विलास है, स्थूल दृष्टि से उसे देखने और समझने की कोई सम्भावना नहीं है। केवल सूक्ष्म दृष्टि-सम्पन्न, प्रज्ञासम्पन्न व्यक्ति ही उस आनन्दमय अस्तित्व का अनुभव कर सकते हैं। यही जो सहजानन्द-स्वरूप शून्य-स्वरूप है, अनित्य संसार के भीतर यही एकमात्र अपनी वस्तु है। इसी से सरहपाद ने कहा है—

अदभुअ भव मोहरे दिसइ पर आप अप्पणा ।
ए जगजलबिम्बाकारे सहजेँ सुण अपणा । (सं० ३९)

"अद्भुत है यह भवमोह—यही अपने और पराये को दिखाता है। इस जलबिम्बाकार रूप जगत् में सहज में प्रतिष्ठित शून्यस्वरूप ही आत्मस्वरूप है—वही मात्र अपना है।"

मतों में अन्यान्य भेद होने पर भी नागार्जुन के शून्यवाद एवं मैत्रेय, असंग तथा वसुबन्धु के विज्ञानवाद के बीच यहाँ समानता है कि वस्तुजगत् की जिस प्रकार कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं, उसी प्रकार मनोधर्म एवं उस मनोधर्म से उद्भूत आत्मबोध या पुद्गल-बोध की भी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं। वस्तु की असारता को साधारण रूप से धर्म-नैरात्म्य एवं आत्मबोध की असारता को पुद्गल-नैरात्म्य कहा जाता है। इस प्रकार, दोनों रूपों में नैरात्म्य की प्रतिष्ठा ही शून्यता की प्रतिष्ठा है। इसके बीच इन्द्रियग्राह्य बहिर्वस्तु के संबंध में इनका मत है कि सारी-की-सारी बहिर्वस्तु अविद्याक्षुब्ध चित्तचैतसिक की सृष्टि है। शून्यवादियों के मत से मन न कुछ से ही जगत्-संसार का सब कुछ बना लेता है; अनादि-अविद्या-धृत :अनादि-वासना का ही बहि:प्रकाश नाना वस्तुरूपों में हुआ है। विज्ञानवादा

कहेंगे, व्यक्ति-विज्ञान का ही बहिःप्रकाश वस्तुरूप में हुआ है और यह व्यक्तिविज्ञान एक समष्टिविज्ञान में ही समाया हुआ है। विज्ञानवादियों ने इसको आलय-विज्ञान नाम दिया है। विज्ञान ही अविद्या से विक्षुब्ध होकर एक ओर अपने को चित्तचैतसिक रूप में फैला देता है और यह चंचल चित्तवृत्ति ही फिर कालज्ञान एवं देशज्ञान की सृष्टि करके विविध वस्तुज्ञान को सम्भव बना लेती है। इसीलिए, 'लुइपाद' ने कहा है—**चंचल चीए पइठा काल।** कालज्ञान हमलोगों के सारे वस्तुज्ञान के मूल में है—सारी वस्तुओं का अस्तित्व तो काल में ही है। काल का बोध न होने पर वस्तु का बोध किस प्रकार सम्भव होगा? सब तरह के अस्तित्वबोध के पीछे जो काल है, वह कोई बाहरी वस्तु नहीं, चित्त की चंचलता के कारण चित्तवृत्ति में जो सन्ततिबोध है, वही कालबोध को सम्भव बनाता है। अतएव, काल पूर्णरूप से चैत्तिक और चैतसिक हुआ। अविद्याजनित वासना-विक्षोभ से निरुद्ध होने पर ही चित्तवृत्ति निरुद्ध होती है, चित्तवृत्ति के निरुद्ध होने से ही काल निरुद्ध होता है, काल के निरुद्ध होने से वस्तुज्ञान निरुद्ध होता है एवं धर्म-नैरात्म्य तथा पुद्‌गल-नैरात्म्य का होना—अर्थात् शून्यता का होना—सम्भव होता है।

बौद्धदर्शन के इस चित्तप्राधान्यवाद (Idealism) द्वारा चर्याकार खूब प्रभावित हुए हैं एवं विभिन्न रूपकों की सहायता से संसार में चित्त के खेल एवं चित्त-निरोध के प्रयोजन और पथ की व्याख्या करने की कोशिश की है। एक पद में साफ कहा गया है कि चित्त के जाल को फैला-फैलाकर हमलोग वस्तु-जाल बना रहे हैं और इस चित्तजाल एवं उससे निर्मित वस्तुजाल में अपने को अपने-आप से ही बाँध दे रहे हैं। भव और निर्वाण (अस्तित्व और नास्तित्व) इन दोनों को हमलोग अपने मन से बना लेते हैं। वस्तुतः, जन्म भी मिथ्या है और मृत्यु भी मिथ्या, तत्त्वज्ञानी के निकट इन दोनों में कोई पार्थक्य नहीं; क्योंकि दो मिथ्याओं में पार्थक्य की और सम्भावना कहाँ? जो जन्म को सत्य कहकर स्वीकार करते हैं, वही मृत्यु की चिन्ता से भीत होते हैं। यदि आदि से ही जन्म के सम्बन्ध में भ्रान्ति का विश्वास पैदा हो, तो फिर मृत्यु कहाँ—और मृत्यु के हाथ से निष्कृति पाने के लिए कोशिश करने की जरूरत ही क्या? कोई कहता है, कर्म द्वारा जन्म होता है; कोई जन्म द्वारा कर्म बतलाता है; किन्तु चर्याकार कहते हैं—जन्म और कर्म दोनों ही वासनाविक्षोभ-जनित भ्रान्ति का विलाप है। सरहपाद के एक पद में इस तत्त्व को देखा जा सकता है—

> **अपणे रचि रचि भव निर्वाणा। मिछेँ लोअ बन्धावए अपणा॥**
> **अम्हें ण जाणहुँ अचिन्त जोइ। जान मरण भव कइसण होइ॥**
> **जइसे जान मरण बि तइसो। जीवन्ते मइतेँ नाहि विशेसो॥...**
> **जामे काम कि १ कामे जाम। सरह भणति अचिन्त सो धाम॥** (सं० २२)

"अपने-आप भव का निर्माण करके लोग झूठ-मूठ अपने को बँधवाते हैं। हम अचिन्त्य योगी नहीं जानते कि जन्म-मरण और भव किस तरह का होता है। जिस प्रकार जन्म और मरण में कोई वैशिष्ट्य नहीं, उसी प्रकार जीवित और मृत अवस्था में कोई

विशेषता नहीं।......जन्म से कर्म अथवा कर्म से जन्म होता है। सरहपाद कहते हैं, अचिन्त्य का वही धाम है।"

इस चित्त के दो रूप हैं—एक है सर्वविध दोषग्रस्त अपरिशुद्ध रूप। यही माया-वच्छिन्न जो अपरिशुद्ध विज्ञान है, वही है बद्ध जीव। चित्त जहाँ विशुद्ध विज्ञान है, वहाँ वह प्रज्ञालोक में विराज रहा है, वहाँ वह 'प्रकृति-प्रभास्वर', अर्थात् प्रकृति से ही प्रदीप्त हो रहा है। यही प्रकृति—प्रभास्वर विशुद्ध विज्ञान हमलोगों का आनन्दमय सहज स्वरूप है। यही सहजानन्ददायिनी या महासुखदायिनी की शून्यता है। 'भसुकुपाद' ने अपने एक पद में इन दोनों अवस्थाओं का वर्णन किया है (सं० ६)। यहाँ भुसुकुपाद ने एक अवोध हरिण-रूप में अपनी कल्पना की है, जो पास-पड़ोस की कोई खबर न रखकर आनन्द के साथ जंगल में विहार करता है। एक दिन वह सहसा उस बहेलिये के सम्बन्ध में सजग हो उठता है, जिसने उसको चारों ओर से घेर लिया है; और वह तब समझ पाता है कि वह स्वयं अपने चारों ओर कितने वैरियों को बुला लाया है। तब उसको वैराग्य होता है और आत्मचिन्तन करता है। वह अब तृण नहीं छूता है, पानी नहीं पीता है, उसे अपनी सुपरिशुद्धा, प्रकृति-प्रभास्वरा, महासुखरूपा शून्यतारूपिणी हरिणी याद आती है और उसका सहज स्वरूप भी स्मरण हो आता है। तब चित्तशुद्धि की साधना आरम्भ होती है। उसी साधना के फल से एक दिन हरिणी दिखाई पड़ती है और अपने में ही उस सहज-स्वरूप का—प्रकृति-प्रभास्वरा शून्यता का अनुभव होता है। वह इस संसार-अरण्य को छोड़कर चले जाने की बात कहती है। उस प्रज्ञा के आह्वान को बद्धजीव हरिण स्वीकार करता है, तीव्र गति से उसका ऊर्ध्वायन होने लगता है और फिर खोजने पर भी उसका पता नहीं लगता।

'भुसुकपाद' के एक और पद में इस चंचल चित्त को एक चंचल चूहे के साथ उपमित किया गया है—

निसि अन्धारी मूसा अचारा। अमिअ भखअ मूसा करअ अहारा॥
मारे जोइआ मूसा-पवणा। जेन तूटअ अवणा-गवणा॥
भव विन्दारअ मूसा खणअ गाति। चंचल मूसा कलिआँ नाशक खाती॥
काल मूसा उह ण बाण। गअणे उठि करअ अमिअ पाण॥
ताव से मूसा उंचल पंचल। सद्गुरु बोहे करह सो निच्चल॥
जवें मूसाएर अचार तूटअ। भुसुकु भणअ तवें बाँधन फिटअ॥ (सं० २१)

"रात्रि का अन्धकार, मूस के पैरों का शब्द, मूस अमृत का आहार करता है। हे योगी, इस मूस-पवन को मार, जिससे आवागमन टूट जाय। भव-विदारक मूस गड्ढा खोदता है; चंचल मूस को अच्छी तरह समझकर (योगी) उसके नाशक बनो। काल-मूस का उद्देश्य भी नहीं है और वर्ण भी नहीं है; गगन में जाकर अमृत पीता है। यह तभी तक उछल-कूद करता है, सद्गुरु के उपदेश द्वारा उसको निश्चल करो। जब मूस का आचार (आचरण = सक्रियता) बन्द होगा, भुसुकु कहते हैं, तभी बन्धन ढीला हो जायगा। चंचल मूस का आना-जाना रात के अँधेरे में चलता है। यह चंचलचित्त देहागार में

स्थित सारे अमृत को नष्ट कर देता है। पवन ही चित्त-मूस है; क्योंकि योग के मत से श्वास-प्रश्वास-वायु ही चित्त का वाहन है। वायु-स्थैर्य द्वारा ही चित्त-स्थैर्य और चित्त-स्थर्य द्वारा ही भवचक्र का निरोध होता है। चंचलचित्त मूस ही भव-विस्तारक है (विन्दारक का व्यवहार यहाँ विस्तारक के अर्थ में ही हुआ है)—यही सारे अस्तित्वज्ञान का प्रसारक है यही हमलोगों के पतन के लिए गर्त्त खोदता है। मगर जब इसको गगनाभिमुखी, अर्थात् शून्यताभिमुखी करके ऊपर उठाया जाता है, तब महासुख-कमल में यह मूस बोधिचित्त-रूप चन्द्र से क्षरित अमृत का पान करता है, तब यह चंचल-रूप मूस स्थिर एवं प्रकृति-प्रभास्वर-रूप में दिखाई पड़ता है।" [सशेष]

अनुवादक का पता :
त्रिवेणीदेवी भालोटिया कॉलेज
रानीगंज (बर्दवान)

●●

'ढोला-मारू' के कतिपय संदिग्ध स्थलों का अर्थ-विनिश्चय

श्रीमूलचन्द्र 'प्राणेश'

'ढोला मारू रा दूहा' राजस्थानी लोकगाथा-काव्य, एक सुरुचिपूर्ण जन-काव्य है। चिरकाल से लोक-कंठावस्थित होने से इसमें अनेक परिवर्तन तथा परिवर्द्धन हुए हैं। अतः, इस काव्य में प्राचीन राजस्थानी से वर्त्तमान काल तक की भाषा और भावों का समावेश होना आश्चर्यजनक नहीं। इस प्रकार की लोकगाथाएँ भाषाविदों के लिए अध्ययन की प्रचुर सामग्रा प्रस्तुत किया करती हैं।

'ढोला-मारू' काव्य की लोकप्रियता और उपयोगिता को देखकर ही विद्वान्त्रय (ठा० रामसिंहजी, श्रीसूर्यकरणजी, श्रीनरोत्तमद्रासजी) ने आज से चौंतीस वर्ष पूर्व (सन् १९३१ ई० में) एक सुसंपादित संस्करण तैयार किया और उसे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित करवाया। इस प्रकाशन के संपादन में संपादकत्रय का परिश्रम स्पष्टरूपेण परिलक्षित होता है, फिर भी तत्कालीन परिस्थितियों के कारण इस काव्य में भाषा एवं भाव-संबंधी कतिपय त्रुटियाँ रह गई थीं, जिनका संकेत सर्वप्रथम मुंशी अंजमेरीजी ने 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' के माध्यम से किया था। तत्पश्चात् डॉ० श्रीमाताप्रसाद गुप्त ने (ना० प्र० प०, भा० ६५, अंक १ में) 'ढोला मारू रा दूहा में अर्थसंशोधनविषयक कुछ सुझाव' शीर्षक एक लेख प्रकाशित करवाया। लेख में पर्याप्त परिश्रम किया गया है; पर डॉ० गुप्तजी ने राजस्थानी भाषा एवं भावों से पूर्णतया परिचित न होने के कारण अनेक स्थलों में संशोधन के नाम पर भ्रम उत्पन्न कर दिया है। जिसका प्रतिकार, भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा ('ना० प्र० प०', 'वरदा' आदि पत्रिकाओं के

माध्यम से करना प्रारम्भ किया। वह कार्य अभी पूर्ण हो ही नहीं पाया था कि डॉ० गुप्त ने इसी विषय से सम्बद्ध एक और लेख 'परिषद्-पत्रिका' (वर्ष २, अंक १, पृ० ४९ –६२) में प्रकाशित करवाया। इस चौदह पृष्ठों के लेख में बहुत-से देहास्पद शब्दों का (केवल कोश को आधार मानते हुए) काल्पनिक अर्थ करके और भी अधिक भ्रम उत्पन्न कर दिया गया है।

वैसे किसी भी भाषा को पूर्णरूपेण जानने के लिए अन्य साधनों के साथ-साथ कोश भी एक साधन है, परन्तु संयोगादि की अवहेलना कर केवल कोश के आधार पर सही अर्थ कदापि संभव नहीं है। तदुपरान्त राजस्थानी भाषा का अभी तक कोई प्रामाणिक कोश भी उपलब्ध नहीं है। 'प्रा० स० म०' केवल प्राकृत भाषा में प्रयुक्त कतिपय शब्दों का कोश है, जिसका सीधा राजस्थानी भाषा से कोई सबंध नहीं है। हाँ, यह बात अलग है कि कोई रूप प्राकृत भाषा से मेल खाता हो, तो उसको 'कोश' के द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। राजस्थानी भाषा की सामग्री के शोधकार्य में राजस्थानी के सम्यक् ज्ञान के लिए संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं के साथ-साथ गुजराती, मराठी, सिंधी, पंजाबी आदि समीपवर्त्ती प्रांतीय भाषाओं का अध्ययन भी आवश्यक है तथा रचनाकाल के वातावरण से परिचित होना भी वांछनीय है।

समस्त हिन्दी-वाङ्मय की आधार-शिला 'राजस्थानी भाषा' पर ही टिकी हुई है। (?) अतः राजस्थानी भाषा का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है और उसके सही रूप का संरक्षण आवश्यक हो जाता है। निम्नांकित पंक्तियों में 'ढोला मारू रा दूहा' के कतिपय संदिग्ध स्थलों पर यथार्थ प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

(१) पिंगल 'ऊचाळउ' कियउ, नल नरवरचइ देसि ॥२॥

'ऊचाळउ' क अवरसणउ कइ फाकउ कइ तिड्ड ॥६६०॥

सम्पादकत्रय ने 'ऊचाळउ' शब्द का अर्थ 'प्रयाण या कूच, देशत्याग कर परदेश-गमन' (शब्दकोश, पृ० ५६७) किया है तथा टिप्पणी में—'सं० उच्चलन, प्रा० उच्चालो (विशेष भी, पृ० ४०४)' बताया है। गुप्तजी 'ऊचाळउ' के विषय में '...ऊचाल < ऊच्चाल < उत् + चालय है। अवधी क्रिया उचार = उखाड़ना इसी का अन्य रूप है...... उत् + चल का उच्चल या ऊचल होगा, जिसका अवधी रूप उचर् = उखड़ना है, ऊचाल नहीं' संशोधन प्रस्तुत करते हैं। गुप्तजी का उपर्युक्त विवेचन, अवधी की 'उचर्' क्रिया के लिए उपयुक्त हो सकता है। प्रस्तुत राजस्थानी 'ऊचाळउ' से इस विवेचन का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। सम्पादकत्रय का उपर्युक्त अर्थ ठीक है। वास्तव में, यह शब्द 'उत्' उपसर्ग-सहित 'चल्' क्रिया का संज्ञारूप है। वर्त्तमान राजस्थानी में भी 'ऊचाळो' का 'स्वदेश त्याग कर परदेश-गमन' अर्थ लिया जाता है।

(२) नळ राजा आदर दियउ जउ 'राजवियाँ' जोग ॥३॥

सम्पादकत्रय ने 'राजवी' शब्द का अर्थ 'राजा (पृ० २) और टिप्पणी (पृ० ४०५) में राजवियाँ < राज + अवी = राजवी शब्द के बहुवचन का विकारी रूप' किया है। गुप्तजी सुदयवत्स का उद्धरण देते हुए उपर्युक्त अर्थ में संशोधन-सुझाव देते हुए लिखते हैं—

"...किन्तु सुदयवत्स युवराज-मात्र है, राजा उसका पिता शालिवाहन है। अई < अइय < दयित है, अतः राजई शब्द—राज + अइय < राजदयित = राजा का प्रिय, राजा का प्रीतिपात्र हुआ।" परन्तु, 'राजवी' शब्द राजस्थान का एक बहुप्रचलित शब्द है। राजस्थान में 'राजवियों' के गाँव-के-गाँव बसे हुए हैं और वे लोग राजाओं के प्रीतिपात्र नहीं, बल्कि स्वयं राजा या राजवंशीय हैं। सम्पादकत्रय का अर्थ ठीक है।

(३) इसइ 'आरखइ' मारुवी, सूती सेज बिछाइ।
साल्ह कुँवर सुपनइँ मिल्यउ जागि निसासइ खाइ ॥१४॥

सम्पादकत्रय ने 'आरखइ' शब्द का अर्थ 'अवस्था में' किया है (पृ० ५) और गुप्तजी इस शब्द को 'आरख < आ + लक्षय = जानना, चिह्न से पहचानना' मानते हुए प्रथम चरण का 'ऐसा ही जानकर' अर्थ करते हैं, जो प्रसंगानुमोदित नहीं है। आरख् = चिह्न, लक्षण के अर्थ में व्यवहृत होता है, अतः दोहे के प्रथम चरण का अर्थ होगा, ऐसे चिह्नों से युक्त मारवी...।

(४) बाबहिया चढ़ि डूंगरे, चढि ऊँचइरी 'पाज'।
'मतही' साहिब 'बाहुडइ', सुणि मेहाँरी गाज ॥२६॥

सम्पादकत्रय के 'पाज' शब्द का अर्थ—'तालाब के चारों ओर मिट्टी जमा करके बनाई हुई भूमि, पाज' अमानित करते हुए गुप्तजी "...पाज या तो पज्जा < पद्या = मार्ग, रास्ता है और या तो पाज (दे०) = निश्रेणी, सीढ़ी' अर्थ करते हैं; परन्तु ऊँचे मार्ग और ऊँची सीढ़ी का यहाँ प्रसंग नहीं है। पपीहा पक्षी ऊँचे स्थानों पर बैठकर ही बोलना अधिक पसन्द करता है, अतः सम्पादकत्रय का अर्थ प्रसंगानुसार ठीक ज्ञात होता है। 'मतही' शब्द को इच्छावाची संयोजक मानकर गुप्तजी '...ताकि (जैसी मेरी इच्छा है)' अर्थ करते हैं और प्रमाणस्वरूप कबीर-ग्रन्थावली की साखी (३।११) उद्धृत की है; परन्तु 'मतही' शब्द उपर्युक्त उद्धरणों में निषेधवाची अव्यय बनकर आया है, इच्छावाची संयोजक नहीं। दोहे के उत्तरार्द्ध का अर्थ होगा—'(...तुम) मेघों का गर्जन सुनकर (मेरे) स्वामी (की प्रियस्मृति) को मत लौटाओ।' पपीहा विरहिणी का सहायक कभी नहीं हुआ है, वह तो अपने तीखे राग से 'पिऊ-पिऊ' करके, प्रिय की अनुपस्थिति में प्रिय की स्मृति दिलाकर विरहणियों को जलाया करता है।

(५) सूती साजण संभर्या, करवत 'बूही' अंगि ॥५५॥

सम्पादकत्रय ने 'बूही' शब्द का 'चल गई' अर्थ किया है (पृ० १८) तथा टिप्पणी (पृ० ४४१) में 'बूही' वूहणो क्रिया का सामान्यभूत एकवचन बताया है एवं स्पष्ट करने के लिए 'राजस्थानी सुभाषित' का एक उद्धरण भी दिया है, जिसका खण्डन करते हुए गुप्तजा "...यहाँ 'बुह' का उदाहरण तो दिया गया है; किन्तु 'बूह' का नहीं है। वूह् है < वृह = फाड़ना, चीरना वह < वह् नहीं है" अर्थ-संशोधक सुझाव रखते हैं, जो क्लिष्ट कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं। 'बूही' शब्द राजस्थान की बहुप्रचलित बह् = चलना क्रिया का विकारी रूप है और इसका अर्थ सम्पादकत्रय ने प्रसंगानुकूल ठीक किया है।

(६) मंझि समंदाँ 'वींट' घर, जलसूँ जामोपत्त ॥५७॥

सम्पादकत्रय ने 'वींट' शब्द का अर्थ 'वींट' ही रहने दिया है (पृ० १८) तथा टिप्पणी (पृ० ४४२) में १. 'वींट<सं० वृंत<प्रा० विंट=फल-पत्तों आदि के ठंडल या बंधन, २. सं० विष्टा' बताया है। गुप्तजी इस शब्द को '...किन्तु यह विंट<वेष्टित है' मानते हैं, जिसका यहाँ कोई प्रकरण ज्ञात नहीं होता। राजस्थानी में विंट या वींट क्षुप एवं लताओं के समूह को कहते हैं। उपर्युक्त पद्यांश में भी यह इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। दोहार्द्ध का अर्थ होगा—'समुद्र के मध्य क्षुप एवं लतासमूह में घर है तथा जल से ही (तेरी) उत्पत्ति है।' सम्पादकत्रय की दोनों टिप्पणियाँ ठीक हैं।

(७) निसिभरि सज्जण सल्लिया, नयणे 'वूहा' नीर ॥५९॥

सम्पादकत्रय ने 'वूहा' शब्द का अर्थ 'बहता रहा' किया है (पृ० १९) तथा टिप्पणी में '१. देखो दूहा ५५ में वूही; २. सं० वृष्ट, राज० वूठो, वूहो बताया है।' गुप्तजी इसे '...किन्तु, यह वूहा<वूह्<वृंह=संवर्द्धित होना, पुष्ट होना' बताते हैं, जो प्रसंगानुमोदित नहीं है। सम्पादकत्रय का अर्थ ठीक है। विशेष देखिए दोहा ५५ का विमर्श।

(८) कुंझा, द्यउनइ पंखड़ी, 'थांकउ विनउ वहेसी' ॥६२॥

सम्पादकत्रय ने 'थांकउ विनउ वहेसी' का अर्थ 'तुम्हारा बाना बनाऊँगी' किया है (पृ० २०) तथा टिप्पणी (पृ० ४४३) में ''विनउ' मिलाओ—हि० बाना'' बताया है। गुप्तजी '...विनउ<विनय=शिष्टाचार, सद्व्यवहार' बताते हुए 'थांकउ विनउ वहेसि' का 'तुझको विनय [का पुण्य] प्राप्त होगा' अर्थ करते हैं। विनय का अर्थ तो गुप्तजी ने ठीक लिया है; परन्तु समस्त पद्यांश का भाव अस्पष्ट रहा है। उपर्युक्त पद्यांश का '(मैं) आपकी विशिष्ट विनय करती हूँ' अर्थ लिया जा सकता है। विनउ<वीनवुं का विकृत रूप प्रतीत होता है।

(९) साल्ह कुंवर सूँ वीणती कहि किण 'दाखूँ' भंति ॥९२॥
डाढी जे प्रीतम मिळइ, यूं कहि 'दाखवियाह' ॥११३॥
ढाढी जे राज्यंद मिळइ, यूँ 'दाखविया' जाइ ॥११५॥
ढाढी जे साहिब मिळइ, यूँ 'दाखविया' जाइ ॥११६॥
ढाढी जइ प्रीतम मिळइ, यूँ 'दाखविया' जाइ ॥११८॥
ढाढी जइ साहिब मिळइ, यूँ 'दाखविया' जाइ ॥११९॥
का चिंता चित अंतरे, सा भ्री 'दाखउ' मुज्झ ॥२३६॥
साँच कहे तूँ 'दाखवइ' वहाँ ज पूगळ वट्ट ॥४४९॥
पर मन रंजन कारणइ, भरम न 'दाखिस' कोइ ॥४६७॥
उच्चल-चित्ता साजणाँ, कहि क्यउँ 'दाखउँ' सज्झ ॥४८७॥

सम्पादकत्रय ने 'दाख्' शब्द का अर्थ 'कहना' तथा टिप्पणी (पृ० ४५१) में 'दाखूँ—दाखणो का संभाव्य भविष्य, उत्तमपुरुष एकवचन। दाखणो (दाख्) राजस्थानी की क्रिया है; सम्भवत: आँख के साम्य पर बना ली गई है' बताया है। गुप्तजी '... किन्तु, दाख् < दक्ख < दर्शय = दिखलाना' बताते हैं, जिसका उपर्युक्त

उद्धरणों में कहीं पर भी सम्बन्ध नहीं बैठता है। वास्तव में, सम्पादकत्रय का अर्थ ठीक है। 'दाख्' क्रिया 'कहने' के अर्थ में बहुप्रचलित है। इसका परिवर्त्तित स्वरूप 'आख्' पंजाबी भाषा में भी 'कहने' के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

(१०) जइ तूँ ढोला नाविग्रउ, कइ फागुण कइ चेत्रि।
तउ म्हे घोडा बाँधिस्याँ, 'काती' कुड़ियां खेत्रि ॥१४६॥

सम्पादकत्रय ने 'काती' शब्द का अर्थ 'कार्त्तिक में' किया है (पृ० ४५)। गुप्तजी एक बहुत बड़े विमर्श के बाद लिखते हैं—"······मेरी समझ में यह काती < कात् < कत्त < कृत्त = काटना से बना है; कुड़ियां = राशियाँ है। 'काती कुड़ियाँ खेत्रि' का अर्थ होगा—'खेतों में (अन्न की) राशियों के कटे हुए होने पर'।" परन्तु, इस अर्थ का पूर्वपद से सम्बन्ध ठीक नहीं बैठ पाता है। सम्पादकत्रय का अर्थ उचित प्रतीत होता है। कार्त्तिक मास के पश्चात् ही राजस्थानी कृषकों को कृषिकार्य से मुक्ति मिलती है तथा यात्रा के लिए इसी समय को उपयुक्त मानकर चना जाता है। 'काती' शब्द का प्रयोग इसी ग्रन्थ के दूहा २३९ में भी 'कार्त्तिक मास' के अर्थ में हुआ है—

पिय खोटा रा एहवा जेहा 'काती' मेव।
आडंबर अत देखावइ, आस न पूरइ तेह ॥२३९॥

(११) जेती जउ मन माँहि, पंजर जइ तेती 'पुळइ'।
मनि वइराग न थाय, वालँभ वीछुड़ियाँ तणी ॥१७१॥
साद करे किम, सुदुर है, 'पुळि' 'पुळि' थक्के पाँव ॥३८५॥
ढोलउ किम परिचइ नहीं, सहु रहिया सवझाइ।
के 'पुळिया' पूगळ दिसी, के काँहीं कजि काइ ॥६१५॥

सम्पादकत्रय ने 'पुळ्' शब्द का अर्थ प्रथम स्थान पर 'दौड़ना' तथा द्वितीय और तृतीय स्थान पर 'चलना' किया है और प्रमाणस्वरूप टिप्पणी में वेलि का एक उद्धरण दिया है। गुप्तजी उक्त अर्थ में संशोधन प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—"···किन्तु, 'पुळ् = देखना है (पा० स० म०)। पहले स्थान पर यह अपने सामान्य अर्थ में प्रयुक्त है। दूसरे स्थान पर माग देखने—प्रतीक्षा करने के अर्थ में और तीसरे स्थान पर रास्ता देखने—जाने का निश्चय करने के अर्थ में। उदाहरण के लिए दिये हुए दोहे में तो 'मार्ग' कर्म के साथ 'देखने' के अर्थ में शब्द प्रयुक्त हुआ ही है।" परन्तु, उपर्युक्त समस्त विमर्श क्लिष्ट कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। 'पुळ्' शब्द का व्यवहार 'दौड़ने' के अर्थ में राजस्थानी भाषा के प्राचीन साहित्य एवं वर्त्तमान बोलचाल की भाषा में बहुतायत से पाया जाता है। 'जुळतेनैं पुळतो को पूगेनीं' उक्ति प्रत्येक राजस्थानी से सुनी जा सकती है। इस उक्ति में 'पुळ' का प्रयोग 'दौड़ना' स्पष्टार्थ में ध्वनित है। दौड़ना, गति का एक विशेष प्रकार होने से इस शब्द का प्रयोग 'चलने' के अर्थ में भी देखा जाता है। सम्पादकत्रय ने अर्थ ठीक किया है। प्रसंगानुसार 'पुळ्' शब्द, प्रथम स्थान में 'दौड़ सके', द्वितीय स्थान में 'दौड़-दौड़कर', तृतीय स्थान में साधारण 'गति' और उद्धरण में 'चले हुए मार्ग पर चले' अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

(१२) आसालुध्धी हूँ नसुइय, सज्जन 'जंजाळेइ' ।
मारू सेकई हथ्थड़ा, झीणे अंगारेई ।।२०६।।

सम्पादकत्रय ने 'जंजाळेई' शब्द का अर्थ 'स्वप्नों द्वारा' किया है, जो प्रसंगानुमोदित नहीं। गुप्तजी इस शब्द को एक न मानकर "..... जं है यत् = क्योंकि, और जाळेइ जलाता है । दोहे का अर्थ होगा—क्योंकि सज्जन (स्वजन) [उसको विरह का दुःख देकर] जलाता है; इसपर भी वह (उसके दर्शनों की) आशालुब्धा होने के कारण मरी नहीं है; (इस प्रकार विरह-ज्वाला का सहन करते हुए उसका जीवित रहना वैसा ही है) जसे मारू का हल्के अंगारों से हाथों का सेंकना (आग यद्यपि जलाती है, तथापि मनुष्य उससे दूर नहीं भागता; बल्कि उससे हाथ सेंककर सुख प्राप्त करता है)" अर्थ किया है । जं = यत् तक तो गुप्तजी का विमर्श उचित है; पर आगे के अर्थ में दोहे का भाव निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है : 'इस आशा में मैं मरी नहीं हूँ; क्योंकि प्रिय (आकर) मुझे जलायेंगे और उन हल्के चिताङ्गारों से अपने हाथ सेंकेंगे ।' 'जालेइ' क्रिया का प्रयोग वर्त्तमान में न होकर सं० भविष्यत् में हुआ है तथा 'मारू' व्यक्तिवाचक न होकर जातिवाचक शब्द है, जिसका अर्थ 'प्रिय' होता है ।

(१३) ईडर की धर अउलगउँ जइ तूँ कहइ जाँह ।
'अउथि' वड़ाऊँ आभरन, मालहवणी में लाँह ।।२२४।।

सम्पादकत्रय ने 'अउथि' शब्द का अर्थ 'वहाँ' किया है (पृ० ६९) तथा टिप्पणी (पृ० ४८८) में उसे "...'अउथि' सं० उतः + स्थ (क्रिया-विभक्ति), हिं० उत, राज० ओथ, ओथिये । मिलाओ—अप० एत्थु, केत्थु, तेत्थु" बताया है । गुप्तजी लिखते हैं—'...किन्तु, अउथि है अवत्थिय < अवस्थित = स्थिर या स्थित होकर ।' परन्तु, यह भी एक क्लिष्ट कल्पना ही है । वस्तुतः, 'अउथ' राजस्थानी का बहुप्रचलित शब्द है और इस शब्द का अर्थ 'वहाँ' सम्पादकत्रय ने ठीक दिया है ।

(१४) घरि बइठाँही आविस्यइ, लाखेलियाँ 'लड़ंग' ।
तिणिमइँ लेस्याँ 'टालिमा' वाँकड़ मुहाँ 'विड़ंग' ।।२२७।।

सम्पादकत्रय ने 'लड़ंग' का कोई अर्थ न देते हुए (पृ० ७०) टिप्पणी (पृ० ४८९) में "लडंग—सं० यष्टि, प्रा० लट्ठि, हिं० लड़ी, लड़ = पंक्ति, कतार, बड़ी संख्या (घोड़ों की) वि०, ठीक अर्थ अस्पष्ट है । 'टालिमा' का अर्थ 'चुने हुए' (पृ० ७०) तथा टिप्पणी (४८९) में 'टालिमा' (दे०) हिं० टालना—चुनिंदा, चुने हुए, छँटे हुए" लिखा है । 'विडंग' शब्द का अर्थ 'घोड़े' (पृ० ७१) किया है तथा टिप्पणी (पृ० ४८९) में इसे अस्पष्ट बताया है । गुप्तजी अपना संशोधन प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—"...वस्तुतः, लडंग < लडह (दे०) + अंग = रम्य अथवा सुन्दर अंगोंवाला है । 'टालिमा' टाल (दे०) कोमल अवस्था का, किशोर (बीज आने के पूर्व की अवस्था के फल को 'टाल' कहते हैं, प्रा० स० म०) से बना है और 'विडंग' है < विड्ड (दे०) + अंग = दीर्घ अंगोंवाला ।" परन्तु, उपर्युक्त सम्भावित संशोधन केवल शब्दों के द्राविड़ प्राणायाम के अतिरिक्त कुछ नहीं है । सम्पादकत्रय का अर्थ ठीक है । 'विडंग' जैसे बहुप्रचलित शब्द के बारे में सम्पादकत्रय का संदेह

आश्चर्यजनक है। डिंगल-साहित्य में तो इस शब्द का 'घोड़े' के अर्थ में प्रयोग पुरातन काल से किया जा रहा है :

बाजी बाज पमंग विडंग (हमीर नाममाला—घोड़ानाम)।
हर हेमर वैंगाळ हब बाजी खैंग विडंग (अवधानमाला)।
होवास ब्रहास धाटी बडंगी निहंग हंस (डिंगलकोष पृ० १७५)।
बिडंगा चढिया वीरवर समसेर ससाई (वीरवांण-नि० २२)।

(१५) मनह 'सँकोडी' मालवी, सोहइ तुम्फ सरीर ॥२३२॥

सम्पादकत्रय ने 'सँकोड़ी' का अर्थ 'संकुचित होनेवाली' किया है (पृ०७३) तथा टिप्पणी (पृ०४९१) 'सँकोडी—सं० संकोच; हिं० सिकुड़ना, सकुचाना=संकुचित हुई। उदाहरण—'संकुडित समसमा संध्या समयै (वेलि, १६२)' दी है। गुप्तजी संशोधन प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—"किन्तु, सँकोडी है संकोडिय < संकोटित = सिकोड़ी हुई, संकोचित। अतः, 'मनह सँकोडी' का अर्थ होगा—'जिसने मन को सिकोड़ अथवा बटोर रखा है, किसी वस्तु के लिए मन को कहीं जाने नहीं दिया है'।" परन्तु, गुप्तजी के संशोधन में कोई नवीनता नहीं है। शब्द-व्युत्पत्ति से सम्पादकत्रय का ही अर्थ परिपुष्ट होता है। परन्तु, यह 'सँकोडी' शब्द वास्तव में स + कोड + ई है। कोड (दे०) कुड्ड, कोड = हर्ष, प्रसन्नता, प्रसन्न चित्त से किया गया सत्कार के अर्थ में व्यवहृत होता है। इस रचना में अन्यत्र भी इस 'संकोडी' शब्द का व्यवहार उपलब्ध है—'साई सँकोडी मा वी ऊचळ गई वणेह' (ढो० मा० परिशिष्ट) तथा 'काठी साँहत मूठिमां, कोडी कासीसंत' (ढो० मा०, ४१६) दोहार्द्ध में भी इसी अर्थ में प्रयुक्त है। अर्थ होगा—हे सहर्ष मनवाली मालवी ! (वह चीर) तुम्हारे शरीर पर सुशोभित होगा।

(१६) सहसे लाखे 'साटविसु', 'परिघळ आणाँ वेसि।
घरि बइठा ही प्रीतमा, पट्टोळा पहिरेसि ॥२३३॥

सम्पादकत्रय ने इस दोहे के पूर्वार्द्ध का अर्थ 'हजारों-लाखों के पहनने के वस्त्र मैं इकट्ठे ही मँगा लूँगी' (पृ०७३) किया है तथा टिप्पणी (पृ०४९१) में 'साटविसु' और 'परिघल' शब्दों के अर्थ को संदिग्ध बताया है। गुप्तजी उक्त शब्दों का संशोधन प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—"...वस्तुतः, 'साटविसु' एक शब्द नहीं है, 'साट' तथा 'विसु' दो शब्द हैं। 'साट' है < शाट = वस्त्र। 'विसु' है < वृष = सर्वोत्कृष्ट (मो० वि०) और 'परिघळ' मेरी समझ में है < परिग्रहितृ = पति। अतः, चरण का अर्थ होना चाहिए—सहस्रों और लाखों उत्तमोत्तम वस्त्र, हे पति, मैं (स्वयं) मँगा लूँगी।" परन्तु, 'साटविसु' तथा 'परिघळ' शब्दों के सही अर्थ की जानकारी न होने पर ही उक्त शब्द-शीर्षासन कराया गया है। उपर्युक्त दोहे में 'साटविसु' शब्द 'बदले में, विनिमय में' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा 'परिघळ' तो राजस्थानी का बहुप्रचलित शब्द है, जिसका अर्थ 'अत्यधिक' होता है। उदाहरणार्थ, 'परघळ खर्चउ निज आथि' (अकबर-प्रतिबोधरास, २०)। 'पुष्कर खड़ पांणी प्रघळ' (ढो० मा० दू०, परि०) दोहे का अर्थ होगा—"हे प्रियतम, (मैं) हजारों-लाखों (रुपयों) के विनिमय में अत्यधिक पहनने के वस्त्र (ड्रेस) मँगा लूँगी

(इस प्रकार) घर बैठे ही 'पट्टोला' पहनूंगी (आपको इसके लिए गुजरात जाने की आवश्यकता नहीं है)।"

(१७) प्रीतम, कामणगारियाँ, थळ थळ बादळियाँह।
घण वरसंतइ सूकियाँ 'लूसूँ' पाँगुरियाँह ॥२४८॥

सम्पादकत्रय ने दोहे के उत्तरार्द्ध का अर्थ "वे (बदलियाँ) मेह बरसने से सूख जाती हैं और लू से पनप जाती हैं (?) (पृ० ७९)। गुप्तजी लिखते हैं—"...'लू' और 'सूं' अलग-अलग नहीं है, 'लूसूं' एक शब्द है और (लूंसूं) <लूषय=वध करना, मारना, कदर्थना करना है। किन्तु, यहाँ वह शब्द सम्भवतः 'विनष्ट होना' के अर्थ में प्रयुक्त है। चरण का अर्थ होगा—'मेघ के बरसते ही मैं सूख जाती हूँ और प्रांकुरित होती हुई भी विनष्ट हो जाती हूँ।' यह प्रसंगानुमोदित नहीं है। गुप्तजी कदाचित् दोहे के पूर्वार्द्ध में वर्णित 'बादळियाँ' को भूल गये हैं, अन्यथा बहुवचन में प्रयुक्त क्रियाओं का अर्थ एक-वचन में नहीं करते। 'लू' राजस्थानी भाषा का ही नहीं, हिंदी का भी बहुप्रचलित शब्द है। 'लू' शीर्षक से तो श्रीचन्द्रसिंहजी ने एक काव्य-ग्रन्थ की रचना की है। 'लू' शब्द का अर्थ हिन्दी तथा राजस्थानी में 'सूर्य के आतप से सन्तप्त हवा' लिया जाता है। 'सूँ' राजस्थानी का बहुप्रचलित विभक्ति-प्रत्यय है। उपर्युक्त दोहे में ये दोनों शब्द इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। दोहे का अर्थ होगा—'हे प्रियतम, सूर्यातप से सन्तप्त वायु से प्रांकुरित, अत्यधिक वर्षा के कारण सूखी हुई ये जादूगरनी बदलियाँ स्थल-स्थल पर छाई हुई हैं (अतः, ऐसे समय में आपका जाना उचित नहीं)।

(१८) महि मोराँ मंडव करइ, मनमथ अंगिन माइ।
हूँ एकलड़ी किम रहउँ, मेह पधारउ 'माइ' ॥२६३॥

सम्पादकत्रय ने 'माइ' शब्द का अर्थ 'अरी माँ' किया है (पृ०८४)। गुप्तजी संशोधन करते हुए लिखते हैं—"इस दोहे में पति को सम्बोधित किया गया है, अतः 'माँ' यह अर्थ असम्भव है। 'माइ' है मायि <मायिन्=मायावी (तुल० प्रीतम कामणगारियाँ थल-थल बादलियाँह ॥२४८॥); परन्तु यहाँ समस्त प्रसंग प्रिय को विदेश-गमन करने से रोकने का है। इस दोहे में प्रयुक्त 'पधारउ' शब्द और गुप्तजी का संशोधित अर्थ 'पति' के लेने से ध्वनित होता है कि—'हे मायावी, (तुम) जाओ', जो प्रसंग से सर्वथा विपरीत पड़ता है। वास्तव में, यह 'माइ' शब्द 'मा' निषेधवाची अव्यय और दोहे का तुक मिलाने के लिए 'इ' आगम करके बना है। दोहे का अर्थ होगा—'पृथ्वी पर मयूर मंडप (छत्र) बनाकर नृत्य कर रहे हैं। कामदेव अंगों में नहीं समा रहा है। (ऐसे समय में) मैं अकेली कैसे रह सकती हूँ। (अतः तुम) वर्षा के दिनों में मत जाओ।'

(१९) उत्तर आज स उत्तरइ, 'ऊपडिया सीकोट'।
काय दहेसइ पोयणी, काय कुंवारा धोट ॥२९६॥

सम्पादकत्रय ने 'ऊपड़िया सीकोट' का अर्थ 'शीत के गढ़-के-गढ़ उमड़ आये हैं [अर्थात्, कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा है] (पृ० ९५)' किया है। टिप्पणी (पृ० ४९८) "'उपड़िया' सं० उत्पत, प्रा० उप्पड़, हिं० उपाड़ना। उदाहरण: 'ऊपड़ी धुडी रवि लागी

अम्बरि' (वेलि, १९३)। 'कोट' राज० मुहा० कोटरा कोट=अनन्त राशि।'' गुप्तजी संशोधन में लिखते हैं—''......किन्तु, शीत के 'गढ़-के-गढ़ उमड़ आये हैं, यह कल्पना बुद्धिसंगत नहीं ज्ञात होती; क्योंकि गढ़ तो सुरक्षा के लिए होते हैं। मेरी समझ में 'सीकोट' है सिग्गु < सिग्रु = सहिंजन का पेड़ और उप्पड़ना है उत् + पत = उखड़ना। अवधी में 'उपर्' क्रिया इसी अर्थ में अबतक प्रयुक्त होती है। इस प्रकार, 'उप्पड़िया सीकोट' का अर्थ होगा (उस उत्तर वायु के झोंके से) सहिंजन का पेड़ उखड़ गया है। छंद २९५ में इसी प्रकार 'शिरीष' वृक्ष के सम्बन्ध में कहा गया है।'' यह अर्थ प्रसंग से सर्वथा विपरीत है। वस्तुतः, २९५ दोहे के अर्थ ने ही गुप्तजी को उपर्युक्त काल्पनिक अर्थ करने के लिए विवश कर दिया है; परन्तु दो० २९५ में 'ऊकटिया सारेह' का अर्थ सम्पादकत्रय ने 'शिरीषों को सुखा दिया है' गलत किया है। उपर्युक्त दोनों दोहों में वृक्षों का उल्लेख तक नहीं है। दो० २९५ में 'ऊकटिया सारेह' एक प्रसिद्ध राजस्थानी मुहावरा है, जिसका अर्थ—'सजधज कर, तैयार होकर' होता है। दो० २९६ में 'ऊपड़िया' शब्द का अर्थ सम्पादकत्रय ने ठीक किया है। 'सीकोट' शब्द से सम्पादकत्रय तथा गुप्तजी सर्वथा अपरिचित हैं। राजस्थान में अत्यधिक शीत के दिन प्रातः को क्षितिज और दर्शक के मध्य 'शुभ्र अम्बार' जैसे दिखाई देते हैं (लेखक ने स्वयं अपनी आँखों देखा है), जिनको राजस्थानी 'सीकोट' (शीत के गढ़ या समूह) की संज्ञा देते हैं। राजस्थानी प्राचीन साहित्य, विशेषकर संत-साहित्य में इस शब्द का व्यवहार प्रचुर मात्रा में देखा जा सकता है। दोहे का अर्थ होगा—'आज उत्तरी पवन उतर आया है, 'सीकोट' उमड़ गये हैं। जो या तो कमलिनियों को जलायेंगे या कुँवारे युवकों को।'

(२०) आवी 'सव रत' आँमळी, त्रिया करइ सिणगार।
जिका हिया न फाटही, दूर गया भरतार ॥३०३॥

सम्पादकत्रय ने ''सव रत' का अर्थ 'वह रितु', किया है (पृ० ९७) और टिप्पणी (पृ० ४९९-५००) में 'सव'—सं० सः, प्रा० सो, सौ, सव। 'रत' सं० ऋतु। अन्य रूप—रिति, रुति, रुत, रित, रत। आधुनिक राजस्थानी में 'रुत' प्रयुक्त होता है। 'आंवळी—सं० अमल (स्त्रीलिंग) निर्मल। वि० दोहे के प्रथम-चरण का अर्थ अस्पष्ट है'' लिखा है। गुप्तजी 'सव रत' का संशोधन प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—''मेरी समझ में 'सव रत' है शबलता—रंग-विरंगापन। यह वर्णन वसंत का है। छंद ३०२ में फाल्गुन मास और उसके फाग का उल्लेख किया है। इस ऋतु में भाँति-भाँति के पुष्पों के खिलने से सारे वनस्पति-जगत् में रंग-विरंगापन आ जाता है।'' सम्पादकत्रय तथा गुप्तजी का शब्द-शीर्षासन-प्रयोग दर्शनीय है। वस्तुतः, व्युत्पत्ति के चक्कर में पड़कर प्रसंग की अवहेलना करने पर इस प्रकार की कल्पनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। वास्तव में, उपर्युक्त दोहे में कहीं क्लिष्टता नहीं है। इसके वाक्य-विन्यास की असावधानी से ही क्लिष्टता उत्पन्न हुई है। इस दोहे में प्रयुक्त 'सव रत' सव + रत नहीं, बल्कि स + वरत है, जिसका अर्थ होता है व्रतसहित। और, 'आमळी' आमलकी एकादशी है, जो फाल्गुन मास के शुक्लपक्ष में आया करती है। इस दिन सभी स्त्रियाँ व्रत रखते हुए शृंगार धारण किया

करती हैं, अतः इसे शृंगार-एकादशी भी कहा जाता है। इसी एकादशी का यहाँ उल्लेख है। दोहे का अर्थ होगा—'व्रतसहित आमलकी एकादशी आ गई है। (आज) स्त्रियाँ शृंगार करेंगी। (ऐसे समय में) जिनके पति दूर देश चले गये हैं, (क्या) उनके हृदय नहीं फटेंगे ?'

(२१) पलाणियउ पवने मिलिइ, घड़िए जोइण जात्र।
रहबारी, ढोलउ कहइ, सोमो आवइ 'दाय' ॥३०८॥
पूगळ जाइ प्रगडउ करइ, करइ माखणि 'दाइ' ।३०७॥
विरह वियापी मारुई नहिं राखणकउदाय ॥८०॥

सम्पादकत्रय ने प्रथम स्थल पर 'दाम' शब्द का अर्थ 'पसन्द' किया है (पृ० ९९) तथा टिप्पणी में 'दाय आना = पसंद आना, राजस्थानी मुहावरा जो, बोलचाल में आता है' लिखा है। द्वितीय स्थल पर 'दाइ' का अर्थ 'प्रसन्नता का कार्य' किया है (पृ० १२५) और तृतीय स्थल पर 'दाय' का अर्थ 'उपाय' किया है (पृ० २५)। गुप्तजी उपर्युक्त तृतीय स्थल पर प्रयुक्त सम्पादकत्रय के अर्थ को स्वीकार करते हुए लिखते हैं—"दाय शब्द 'उपाय' के साथ प्रायः इसके समानार्थी के रूप में अवधी के एक मुहावरे में आता है। 'दाय' = उपाय। 'दाय' का अर्थ 'साधन' ज्ञात होता है और तीनों स्थलों पर अर्थ कदाचित् यही होना चाहिए।" परन्तु, उपर्युक्त तीनों उद्धरणों में 'साधन या उपाय' अर्थ का कहीं सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता है। 'दाय' शब्द राजस्थानी के 'खुशी' शब्द के समानार्थ में व्यवहृत होता है। हिन्दी में इस शब्द का अर्थ १. 'मनोनुकूल, इच्छित, ठीक (२. पसन्द' लिया जा सकता है। उपर्युक्त तीनों उद्धरणों में 'दाय' शब्द इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

(२२) करहा लंब कराड़िया, बेबे अंगुळ कन्न।
रातिज चीन्ही बेलड़ी, तिण 'लाखीणा' पन्न ॥४३३॥

सम्पादकत्रय ने 'लाखीणा' शब्द का अर्थ 'बहुमूल्य, (स्वादिष्ठ) किया है (पृ० १४१) और टिप्पणी (पृ० ५१९) "लाखीणा—लाख + ईणा (प्रत्यय) = लाख के, लाख मुद्रा जिनका मूल्य हो, बहुमूल्य, यहाँ स्वादिष्ठ" दी है। गुप्तजी लिखते हैं— "पत्ते लाखों के मूल्य के थे और इससे आशय लिया जाय कि वे स्वादिष्ठ थे—ये दोनों बातें बुद्धिसम्मत नहीं ज्ञात होती हैं। मेरी समझ में सम्भवतः लाखीणा का 'लाख' = लाक्षा है, बहुत-से पेड़ ऐसे होते हैं, जिनपर लाख लगती है। ज्ञातव्य यह अवश्य है कि लाखवाले ये पेड़ अपनी पत्तियों के कारण ऊँटों को कहाँतक रुचिकर होते हैं।" परन्तु, दोहे में पेड़ का उल्लेख कहीं नहीं है, अतः लाख लगने का प्रश्न ही नहीं उठता। दोहे में 'बेलड़ी' < वल्ली = लता का उल्लेख है, जिसके पत्तों की प्रशंसा की गई है। सम्पादकत्रय का अर्थ समीचीन ज्ञात होता है। वर्त्तमानकालिक बोलचाल की भाषा में भी 'लाखीणा' शब्द का अर्थ— 'बेजोड़, सुन्दर, भला, बहुमूल्य' लिया जाता है।

(२३) घर 'नीगुल' दीवउ 'सजळ', छाजइ 'पुणग' न माइ।
मारू सूती नींद्र-भरि, साल्ह जगाई आइ ॥५०६॥

सम्पादकत्रय ने 'नीगुल' शब्द का अर्थ 'विना गुल का', 'सजळ' शब्द का अर्थ 'सुन्दर' तथा 'पुणग' शब्द का अर्थ 'सर्प के फण के आकारवाला छज्जा, किया है। गुप्तजी संशोधन

प्रस्तुत करते हैं —"मेरी समझ में निगुल के स्थान पर होना चाहिए नीगल < निर्गत = निःसृत, बाहर निकला हुआ, जो बहुत प्रतियों में मिलता है। 'सजळ' एक शब्द न होकर सम्भवतः स–जळ < ज्वलित होगा और होगा वह जल रहा था।......मेरी समझ में 'पन्नग' उस दीपक का ठेढ़ा-मेढ़ा उठनेवाला धूम है, जो अपनी अधिकता के कारण छज्जे में समा नहीं रहा है और उसके बाहर भी निकल पड़ रहा है।" परन्तु, प्रस्तुत संशोधन से समस्त दोहे का भाव अस्पष्ट रहता है। 'नागुल' शब्द का अर्थ 'विना गुल का' सम्पादक-त्रय का ठीक है। गुप्तजी भी इसे **'नीगुल'** मानते हैं तथा अनेक प्रतियों में आया लिखते है; परन्तु पाठान्तर में शब्द 'नीगुल' नहीं, बल्कि 'नीगल' है, जिसका अर्थ होता है **'स्नेह से परितृप्त'**। 'सजल' शब्द का अर्थ सं + ज्वलित गुप्तजी का ठीक है। 'पुणग' का अर्थ 'पन्नग' लेने से भी अर्थगत कोई विषमता नहीं होगी। दोहे का अर्थ होगा—"माखणा के प्रधान प्रकोष्ठ में गुलरहित (या स्नेह से परितृप्त) दीपक संज्वलित हो रहा है। छज्जे में 'पन्नग' भी नहीं समा सकता (अर्थात् द्वार बन्द है), (इस प्रकार के सुरक्षित स्थान में) मारू गहरी नींद में सोई थी। (उसको) साल्ह कुँवर ने आकर जगाया।"

(२४) का, प्री, रागाँ प्राणकरि, काँइ अचंती हाँण ॥६२७॥

सम्पादकत्रय ने 'रागाँ प्राणकरि' का अर्थ 'या तो इनको अपने प्राणों का मोह है' किया है। गुप्तजी लिखते हैं "......किन्तु, 'राग' टाँगों का कवच होता है, जो मध्ययुग के सैनिक सवारों द्वारा प्रायः पहना जाता था। यह 'रागाँ' अन्यत्र भी आया हुआ है—**सड़ सड़** बाहिम कँवड़ी, **'रागाँ' देह म चूरि** ॥४९२॥ पद्मावत में इसी प्रकार आया है—**जेबा खोलि राग सों चढ़े। लेंजिम घालि इराकिन्ह चढ़े (पद्मावत, ८६६।४)**। परन्तु, पद्मावत में प्रयुक्त 'राग' शब्द ढोला-मारु के 'राँग' से भिन्न है। गुप्तजी के उद्धरणस्वरूप ढोला-मारू के दोहे (४९२) में 'रागाँ' शब्द अशुद्ध छपा है। इसका शुद्ध स्वरूप 'राँगाँ है। उपर्युक्त दोहे (६२७) में भी यही शब्द है, वहाँ भूल से 'रागाँ' छप गया है। 'राँगाँ' – राँग = रान शब्द का बहुवचन है। पद्मावत में प्रयुक्त शब्द 'राग' = रंग धातु है। दोहार्द्ध का अर्थ होगा—'हे प्रिय, या तो तुम अपनी रानों से बल करो (क्योंकि, रानों से दबाने पर ऊँट की गति तेज होती है) [नहीं तो] कोई अचिंत्य हानि होने की सम्भावना है।

(२५) बालूँ, ढोला, देशड़उ, जइँ पाँणी कुँवेण।
कूँ-कूँ वरण हथ्थड़ा नहीं सुँ घाढा जेण ॥६५७॥

सम्पादकत्रय ने दूसरे चरण का अर्थ किया है, 'जहाँ कुंकुमवर्णवाले हाथ उसको नहीं निकालते, (पृ० २१९)। टिप्पणी (पृ० ५५४) में "सुँ घाढा' का ठीक अर्थ अस्पष्ट है। घाढा = काढ़ा? । जेण – जहाँ से" लिखा है। गुप्तजी संशोधन प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— "घाढा' के स्थान पर मेरी समझ में पाठ घाठा < घट्ट < घृष्ट = घिसा हुआ, घट्टे पड़ा हुआ होना चाहिए – रस्सियों से पानी भरते रहने से हाथों में घट्ठे पड़ जाते हैं.........इस प्रकार दूसरे चरण का अर्थ होगा—'जिससे घृष्ट होकर ऐसे कुंकुभ वर्ण के हाथ (उस देश की) रमणियों के नहीं होते हैं'।" परन्तु, राजस्थान में कुओं से स्त्रियाँ पानी निकालती ही नहीं हैं, अतः रमणियों के हाथों में घट्टे पड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता है। प्रस्तुत

दोहे में प्रयुक्त 'सु ँ घाड़ा' शब्द वास्तव में 'सुघाढा' है, जिसका अर्थ 'अगाध प्रेम' लिया जा सकता है। 'घाढा' वर्त्तमान राजस्थानी में भी घनिष्ठता के लिए व्यवहृत होता है। दोहे का अर्थ होगा—'हे ढोला, उस देश के आग लगाऊँ, जहाँ पानी कुँओं में है, जिससे कुंकुम वर्णवाले हाथोंवाली (ललनाओं से) अगाध प्रेम नहीं हो सकता।' वास्तव में, राजस्थान के मारवाड़-प्रान्त के कुएँ बहुत गहरे होते हैं। उन कुओं से पानी प्राप्त करने के लिए नवयुवकों को समस्त रात्रि व्यतीत करनी पड़ती है। इसी भाव का दोहे में संकेत है।

(२६) देश निवाणूँ सजळ जळ, मीठा बोला लोग्रि ॥६६८॥

सम्पादकत्रय ने 'निवाणूं' का अर्थ 'नीची और उपजाऊ' किया है (पृ० २२३) तथा टिप्पणी (पृ० ५५६) 'निवाणूं – नीची भूमि, जहाँ जल भरता है। अतः, उपजाऊ' दी है। गुप्तजी संशोधन में लिखते है......''किन्तु, निवाण है, निपान = जलाशय, अतः 'निवाणूँ' का अर्थ होगा 'जलाशयोंवाला'।'' परन्तु, गुप्तजी ने इसी 'निवाण' शब्द को 'निर्वाण' (दे० ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ६५, अंक १, पृ० ९) माना और इसे निवाण < प्रा० निव्वाण < सं० निर्वाण (=परमसुख) बताया है। अस्तु; कोई बात नहीं, सुबह का भूला शाम को घर आ जाय, तो भूला नहीं माना जाता है। गुप्तजी को 'निवाण' शब्द का सही अर्थ प्राप्त हो गया है, इसकी हमें प्रसन्नता है। हमारे प्रान्त में तथा हमारे राजस्थानी साहित्य में तो 'निवाण' शब्द 'जलाशय' के अर्थ में चिरकाल से प्रचलित है। उपर्युक्त दोहे में 'निवाणूँ' का अर्थ 'जलाशयोंवाला' न होकर 'जलाशयों में' होगा।

भा० वि० मं० शोध-प्रतिष्ठान
(रतनबिहारीजी का पार्क)
बीकानेर

●●

भारत की अन्तरप्रान्तीय व्यवहार-भाषा

आचार्य श्रीविनयमोहन शर्मा

भारत अपनी विस्तीर्णता, विशालता और विविधता के कारण संसार का एक अपूर्व भूखण्ड है। यहाँ की सभ्यता विविध जातियों के विभिन्न संस्कारों का अद्भुत मिश्रण है। मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा के उत्खनन से सिंधु-जलधौत भाग के लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व सभ्यता के इतिहास पर जो प्रकाश पड़ा है, उससे ज्ञात होता है कि भारत में आर्यों के पूर्व निषाद, द्रविड और किरात जातियाँ बसती थीं। काल-प्रवाह में उनकी ताम्रयुगीन सभ्यता कैसे भूगर्भित हो गई, यह नहीं जाना जा सका। पर, आज भी उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त में ब्राहुई बोली के अवशेष से अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्यों के आगमन के समय द्रविड-जाति का उत्तराखण्ड में संचार अवश्य था। समस्त देश में आर्य-द्रविड और आष्ट्रिक भाषा-परिवारों की विभिन्न भाषा और बोलियाँ प्रचलित हैं।

डॉ० कत्रे की गणना के अनुसार उनकी कुल संख्या १५०० है। भारत भौगोलिक दृष्टि से दो भागों में विभक्त है। हिमपर्वत से विन्ध्यपर्वत तक के भाग को उत्तरापथ और विन्ध्यपर्वत से दक्षिण में कन्याकुमारी तक के भाग को दक्षिणापथ कहा गया है। उत्तरापथ में आर्यों का आवास होने से उसे आर्यावर्त्त भी कहा जाता रहा है। आर्य भारत में कब आये, कितनी टोलियों में आये, इसे ठीक-ठीक कहना कठिन है। जो हो, पर हर्ष का विषय है कि उनकी भाषा का (उनका बाहर से आना भी कुछ विद्वानों को मान्य नहीं है) लगभग ३५ सौ वर्ष का इतिहास अखण्डित रूप से विद्यमान है। उसी के माध्यम से उन्होंने न केवल उत्तराखण्ड में, अपितु दक्षिणापथ में भी अपनी संस्कृति का संचार और विस्तार किया। दक्षिणापथ में पौराणिक आख्यायिकाओं के अनुसार सर्वप्रथम महर्षि अगस्त्य ने विन्ध्य के दुर्गम वनों-उपवनों, पर्वतों और सरिताओं को लाँघकर आर्यभाषा और संस्कृति का प्रचार किया। दक्षिणापथ के महाराष्ट्र-प्रदेश को तो अगस्त्य के अनुयायियों ने अपनी भाषा और आचार-विचार की दृष्टि से आत्मसात् कर ही लिया; पर उसके नीचे आन्ध्र, कर्नाट, तमिल और केरल-प्रदेशों को वे न्यूनाधिक मात्रा में केवल प्रभावित कर सके, पचा नहीं पाये। फिर भी, अगस्त्य ऋषि का दक्षिण में बड़ा सम्मान है। उनके नाम से संबद्ध वहाँ कई स्थान हैं। उन्होंने तमिलनाड में बसकर वहाँ की भाषा और साहित्य की अपूर्व सेवा की है। वे तमिल-भाषा के प्रथम वैयाकरण माने जाते हैं। प्रतीत होता है, प्राचीन आर्यों की अपनी निवास-भूमि—दक्षिणापथ—की भाषा और वहाँ के आचार-विचार के साथ तादात्म्य स्थापित करने के कारण ही आन्ध्र, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम और तमिल भाषाएँ उनकी भाषा और संस्कृति से भी प्रभावित हो सकीं। तेलुगु की अपेक्षा कन्नड़ और कन्नड़ की अपेक्षा मलयालम संस्कृत से अधिक प्रभावित हैं। यद्यपि तमिल-भाषा इतनी समृद्ध कही जाती है कि वह संस्कृत की बैसाखी की अपेक्षा नहीं रखती, तो भी अनुसंधान करने पर ज्ञात हुआ है कि उसमें अब भी लगभग एक हजार शब्द संस्कृत के विद्यमान हैं। जो भाषा समृद्ध होना चाहती है, वह विभिन्न भाषाओं के शब्दों का आदान-व्यापार स्थगित नहीं रख सकती। यह सत्य ह, भारत राजनीतिक कारणों से कई छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त रहा है, तो भी उसकी सांस्कृतिक एकता कभी खण्डित नहीं हो पाई। इस संबंध में राष्ट्रपति राधाकृष्णन् ने उचित ही कहा है—**शताब्दियों के संघर्षों के बावजूद भारत ने समान संस्कृति का विकास किया है। जिसमें अनेक प्रकार की विभिन्नता होते हुए भी ऐसी मूलभूत एकता है, जो जन-जन को समाज का एक अंग बनाये हुए है। उनमें एक ही संस्कृति के प्रति भक्ति-भाव है।**

इस प्रकार की सांस्कृतिक एकता को अखण्डित रखने में जहाँ जनता का समान धार्मिक भाव कारण बना है, वहाँ एक व्यवहार-भाषा का अपनाव भी उसकी रक्षा कर सका। यदि एक व्यवहार-भाषा को स्वीकार न किया गया होता, तो दक्षिण के 'आचार्यों' ने उत्तर भारत में अपने धार्मिक विश्वासों का किस प्रकार प्रचार किया होता? उत्तर के बड़-बड़ साम्राज्यों का सुदूर दक्षिणापथ के प्रदेशों में राजकाज कैसे सम्पन्न हुआ होता?

सारे देश को भावात्मक एकता के सूत्र में बाँधनेवाली एक भाषा रही है, जो कभी संस्कृत, कभी पालि, कभी प्राकृत और कभी अपभ्रंश के रूप में गृहीत होती आई है। अपभ्रंश का स्थान अब हिन्दी ने ग्रहण कर लिया है। ये भाषाएँ किस प्रकार देशव्यापी बनीं, इसपर हम यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि के विचार करेंगे। संस्कृत तो आर्यों के साथ ही देश के विभिन्न स्थानों में संचरित होती रही है। सामान्य धारणा है कि संस्कृत पुस्तकों की ही भाषा रही है, बोलचाल की नहीं। पर, बात सर्वथा ऐसी नहीं है। स्वर्गीय आनन्द-शंकर ध्रुव का मत है कि **वैयाकरणों द्वारा विशिष्ट रूप में ढाली जाने पर भी संस्कृत उत्तर भारत के बहुभाग में संस्कारी जनता की बोलचाल की भाषा रही है।** और, जब आर्यों का दक्षिणापथ में प्रवेश हुआ, तब वहाँ भी वह व्यवहार-भाषा बन गई। रॉबर्ट काल्डवेल भी इसी मत के समर्थक हैं। अशोक-काल में प्रचारकों ने दक्षिणापथ में ही नहीं, सिंहल-द्वीप तथा सुदूर दक्षिण-पूर्व में भी संचार किया और पालिभाषा का प्रचार किया था। श्रीलंका की वर्त्तमान सिंहली भाषा पालि की ही उत्तराधिकारिणी है। जैनों के दक्षिण-संचार से प्राकृत और अपभ्रंश का दक्षिण में प्रवेश हुआ।

धार्मिक कारणों से ही नहीं, व्यावसायिक और राजनीतिक कारणों से भी आर्य-भाषाओं से दक्षिण परिचित रहा है। दक्षिण में प्रतिष्ठान (वर्त्तमान पैठण) प्राचीन काल में व्यापार का प्रमुख केन्द्र था। वहाँ के श्रेष्ठी और महाजन देश-भर में आते-जाते थे। ईसा की पहली शती में 'परिप्लस' नामक मिस्री लेखक ने प्रतिष्ठान के नाना प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख किया है। उत्तर भारत के व्यापारियों का उज्जयिनी के मार्ग से तमिलनाडु तक बराबर आवागमन होता रहता था।

अर्नेस्ट हॉरिज ने अपनी 'शार्ट हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन लिटरेचर' में लिखा है कि 'अवध, मगध और उज्जैन व्यापार के प्रसिद्ध केन्द्र थे और वहाँ पालिभाषा का विशेष रूप से अध्ययन होता था।''

प्राचीन तमिल-साहित्य से ज्ञात होता है कि ईसा के २५० वर्ष पूर्व से ईसा का प्रथम शती के पश्चात् तक पुलिकत के पूर्व और पटकल के पश्चिम तक का प्रदेश आर्यसत्ता के अन्तर्गत था और वहाँ आर्यभाषा प्रचलित थी।[1]

ईसवी-पूर्व सन् ३७३ में प्रियदर्शी अशोक का साम्राज्य सुदूर दक्षिण तक फैला था। उसने अपने राज्य के कोने-कोने में चट्टानों तथा स्तम्भों पर राज्याज्ञाएँ खुदवाई थीं, जो पालिभाषा में हैं। अशोक ने अपने अभिलेखों को 'धर्मलिपि' कहा है; क्योंकि उसी में बौद्धधर्म प्रचारित हुआ है। मद्रास में गंजाम नगर के निकट जाड़ के प्राचीन दुर्ग में अशोक की ११ धर्मलिपियाँ उत्कीर्ण हैं। मसूर, आंध्र, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों में भी ये लिपियाँ वर्त्तमान हैं। देवानं पिय पियदस्सी राजा के अभिलेखों से प्रकट होता है कि समस्त देश में तत्कालीन पालिभाषा समझी जाती थी। दक्षिण में ईसा की प्रथम शती से पाँचवा शती तक के प्राप्त अभिलेखों की भाषा प्राकृत है। एक लेख में इक्ष्वाकु-कुल के

---

१. भारतीय इतिहास-संशोधन-मण्डल (पुणे), जिल्द १, संख्या ३, पृ० ३।

माठरिपुत्र श्रावीरूपुरुषदत्त नामक राजा का उल्लेख है[१] और उसके अक्षर ईसा-सन् की तीसरी शती के प्रतीत होते हैं। कांची में पल्लवों के राज्य की स्थापना के पश्चात् वहाँ हुएनसांग के कथनानुसार मध्य हिन्दुस्तान की भाषा बोली जाती थी।[२] राष्ट्रकूट शासकों के काल में मान्यखेट साहित्य का केन्द्र था। राष्ट्रकूट-वंशज अमोघवर्ष ने सन् ८१८ ई० में इसे राजधानी के रूप में बसाया था। सन् ९७३ ई० तक इसकी समृद्धि होती रही। इस अवधि में यहाँ जैनधर्म और प्राकृत तथा अपभ्रंश-साहित्य का विकास होता रहा। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का कथन है—"प्राकृत-कविता व्याकरण के सहारे समझने लायक हो चला, या यों कहो कि जैसे पहले गंगा-प्रवाह में संस्कृत का बाँध बाँधकर नये कटे किनारों का नहर बना ली गई थी और फिर मागधी, शौरसेनी तथा महाराष्ट्री की नहरें छाँट ली गईं, जिनके किनारे भी संस्कृत की तरह काटे-तराशे गये, किन्तु भाषा-प्रवाह सच्ची गंगा—अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी—के रूप में बहता गया। अपभ्रंश एक देश की भाषा नहीं, कहीं-कहीं नहरों का पड़ोस होने से उसे नहर के नाम से भले ही पुकारते हों, किन्तु वह देश-भर की भाषा थी, जो नहरों के समानान्तर बहती चली जाती थी।"[३] डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का भी यही मत है। वे अपनी 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी' में लिखते हैं कि 'तुर्की—विजय के पहले भारतीय चालू या कथ्य बोलियों में सबसे अधिक प्रचलित शौरसैनी अपभ्रंश थी। उन दिनों पश्चिमी अपभ्रंश का स्थान आजकल की हिन्दुस्तानी का-सा था। उसे आधारभूत मानकर विभिन्न साहित्यिक बोलियों की रचना हुई, जिसमें स्थानीय उपादानों का उपस्थित रहना अवश्यम्भावी था' (पृ० १८७)। उनका यह मत भी मान्य है कि 'पश्चमी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी कुछ अंशों में व्रज-भाषा हुई। व्रजभाषा सन् १२०० से १८५० ई० तक के सुदीर्घ काल के अधिकांश में सारे उत्तरीय भारत, मध्यभारत, राजस्थान और कुछ अंश तक पंजाब की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक भाषा बनी रही।'[४]

डॉ० सुनीतिकुमार ने उत्तरभारत के जहाँ कई प्रान्तों की चर्चा की, वहाँ बंगाल और असम में व्रजभाषा-प्रवेश पर बल नहीं दिया। वास्तविकता यह है कि असम और बंगाल दोनों प्रान्तों में भी व्रजभाषा साहित्यिक रूप में ग्रहण की गई थी। असम और उत्कल में जो व्रजबुलि की रचनाएँ प्राप्त होती हैं, वे हिन्दी के मैथिली कवि विद्यापति से अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होती है। बंगाल के गौडीय वैष्णव भक्तों ने राधाकृष्ण का लीलागान जिस व्रजबुलि में विभोर होकर किया है, वह व्रजबुलि व्रजभाषा के माधुर्य से अत्यधिक रसमयी बन गई है। इन भक्तों के व्रजभाषा में भी पद मिलते हैं। आज बँगला के पण्डित भले ही व्रजबुलि को स्वतंत्र भाषा कहें, पर भाषातत्त्व की दृष्टि से उसे व्रजभाषा से सर्वथा विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। नेपाल तक में पूर्वी हिन्दी-

१. इंडियन ऐंटीक्वेरी, पृ० २५६।
२. भारतीय इतिहास-संशोधन-मण्डल (पुणें) जिल्द १, संख्या ३५६, पृ० ३४।
३. 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका'।
४. आयभाषा और हिन्दी, पृ० १८९।

मैथिली का सम्मान पाया जाता है। आगस्टस कानरेडी ने ईसा की सत्रहवीं शती के दामोदर कवि के 'हरिश्चन्द्रनृत्यम्' नाटक की भाषा पर आलोचना करते हुए लिखा है कि वह एक ऐसी मैथिली भाषा है, जो कभी हिन्दी और कभी बँगला का ओर झुकती है।[1] असमी साहित्य में ब्रजभाषा-मिश्रित ब्रजबुलि का प्रधान स्थान है। शंकरदेव का एक पद है—

अथिर धन जन जीवन यौवन, अथिर एहु संसार।
पुत्र परिवार सबहि असार करबो को हरि सार॥
कमल दल जल चित्त चंचल थिर नहे तिल एक।
नाहि भवमय भोग हरिहर परमपद परतेक॥
कहतु 'शंकर' ए दुख सागर पार करहु हृषीकेश।
तुहु गति मति देहु श्रीपति तत्र पदं उपदेश॥[2]

बंगला के वैष्णव कवि बलदेव दास ने राधाकृष्ण की आरती गाई है—

जय जय मंगल आरति दुहुं कि। श्याम गौरी छवि उठत झलकि॥
नवघने जनु थिरबिजुरी विराजे। ताहे मणि-अभरण अंगहि साजे॥
करे लह दीपावलि हेमथालि। आरति करतुहि ललिता आलि॥
सबहुं सखीगण मंगल गाओये। कोइ करतालि देह कोइ बजाओये॥
कोइ कोइ सहचरी मनहि हरीखे। दुहुक अंग पर कुसुम बरीखे॥
इह रस कहतहि बलदेब दासे। दुहुं रूपमाधुरी हेरइते आशे॥[3]

मध्ययुग में वैष्णव भक्तों के प्रभाव के कारण ब्रजभाषा देशव्यापी काव्य-भाषा बन गई थी। उत्तर में कश्मीर के द्विगर्त्त-प्रदेश के कवि भी उसमें सोत्साह रचना करते थे।

पंजाब में हिन्दी का अस्तित्व मुसलमानों के आगमन के पूर्व ही विद्यमान पाया जाता है। वहाँ आधुनिक भाषा-काल के प्रारम्भ से ही ब्रजभाषा और खड़ी बोली में रचनाएँ मिलती हैं। नाथपंथियों की 'सबदी' में खड़ी बोली का रूप है। उदाहरणार्थ, **किसका बेटा किसकी बहू, आप सबारथ मिलता सहू। जेता फूल तेता आल चरपट कहे सवाल।** सिख संतों में गुरु नानक, गुरु गोविन्दसिंह आदि संतों की पुष्कल ब्रजभाषा-रचनाएँ उपलब्ध हैं। पंजाब ने हिन्दी के आविर्भाव-काल से वर्त्तमान काल तक अनेक यशस्वी कवियों और लेखकों को जन्म दिया है। इसी प्रकार, गुजरात में हिन्दी को अपनाने का प्रारम्भ से ही क्रम दिखाई देता है। प्राचीन राजस्थानी जिसे गुजराती लेखक 'जूनी गुजराती' भी कहते हैं, राजस्थानी से सर्वथा अभि है (प्राचीन काल में गुजरात की सीमा जोधपुर तक रही है।) गुजराती कवि भालण को ब्रजभाषा का आदिकवि भी कहा जाता है। श्री के० का० शास्त्री ने 'हिन्दुस्तानी' (गुजराती दैनिक) पत्र के ११ नवम्बर, १९५९ ई० के अंक में एक लेख लिखकर इन्हें सूरदास के पूर्व ब्रजभाषा में काव्य लिखने का श्रेय प्रदान किया है; परन्तु अब यह मान्यता सन्देहास्पद बन गई है। भालण को 'सूर' का

---

१. ब्रजबुलि-साहित्य (रामपूजन तिवारी), प्रथम संस्करण, पृ० १४।
२. वही।
३. वही, पृ० १४५।

परवर्त्ती मानने का पक्ष प्रबल हो रहा है। गुजराती समीक्षक हिन्दी-काव्य के वैभव को अंगीकार करने में संकोच नहीं करते। श्री दी० ब० कुशेवलाल ध्रुव ने 'जयन्ती-व्याख्यानों' के पृ० ६१-६२ पर लिखा है—"विक्रम की सत्रहवीं–अठारहवीं शती में हिन्दी के अतिरिक्त अन्य देशा भाषाएँ बहुत पिछड़ी हुई थीं। जब सिंधी केवल दूसरी अवस्था में थी, जब बंगाली ने पगों चलना साखा था, जब मराठी की बेल किसी आधार की आशा में भूमि पर पड़ी थी ग्रार गुजराती का कदलीवन एक अच्छे माली के अभाव में सूखा ठूँठ जैसा दिखाई दे रहा था, उस समय हिन्दी का अक्षयवट अपने विशालकाय तने और अनेक योजन घेर लेनेवाली जटा से ऐसा फल-फूल रहा था कि प्रसिद्ध पंचवटी भी विस्मृत हो जाती थी।

बौद्धधर्म के सहस्र शिखावाले दीप ने निर्वाण पाया, उसके पश्चात् के मंथन-काल में धर्ममूर्त्ति रामचन्द्र और प्रेममूर्ति कृष्णचन्द्र की भावना ने सार्वजनिक प्रचार और प्रसार पाया। उसने सात्त्विक प्रेमभक्ति में लीन और राजस प्रेमभक्ति में मग्न तुलसीदास, सूरदास तथा अन्य अनेक कवियों का जन्म दिया, जिन्होंने हिन्दी का साहित्य-सिन्धु छलका दिया। यह हिन्दी भाषा सम्पूर्ण आर्यावर्त्त में प्रसारित थी। जबकि अन्य भाषाएँ देश-विशेष के नाम से प्रसिद्ध थीं, तब हिन्दी विशषकर 'भाषा' के गौरवमय नाम से विख्यात थी। प्राचीन काल में लोकभाषा कोई-न-कोई प्राकृत होने पर भी शिष्टमंडल में संस्कृत की जो प्रतिष्ठा थी, वही प्रतिष्ठा अर्वाचीन काल में हिन्दी को प्राप्त थी। उसमें केवल काव्य-आख्यान और रासो-ग्रन्थों की ही रचना नहीं हुई, अपितु रस, अलंकार, छन्द, संगीत और नीति के शास्त्रीय विषयों की भी चर्चा हुई थी। राजनीति में राज्य-अंग में कवि की गणना हुई थी और राजदरबारों में हिन्दी-कविता का पोषण तथा पूजन होता था। भारत के केन्द्र दिल्ली में ही नहीं, अपितु जयपुर, जोधपुर, उदयपुर इत्यादि राजस्थान में, गुजरात तथा सुदूर महाराष्ट्र में हिन्दी के कवि सम्मान के पात्र थे। इस प्रकार हिन्दी-भाषा हिमालय से विन्ध्याचल और सतपुड़ा तक की पहाड़ी लाँघकर दक्षिण में भी पगडंडी बना चुकी थी। उस समय के राजदरबारों में कवि-कोविदों में, साधु-सन्तों में यदि कोई सम्मान-प्राप्त भाषा थी, तो (वह) हिन्दी (थी)।[1]

गुजरात के ज्ञानमार्गी और भक्तिमार्गी सन्तों ने हिन्दी में प्रचुर काव्य-रचना की। ब्रजभाषा के अध्ययन-अध्यापन के लिए भुज में अठारहवीं शती के महाराजा लखपति ने एक पाठशाला की स्थापना की थी, जिसमें दूर-दूर के कवि काव्य-शास्त्र की शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते और उपाधि प्राप्त करके जाते थे। गुजरात में ब्रजभाषा को राज्याश्रय प्राप्त हुआ था। स्वयं महाराज लखपति ने हिन्दी के कवि सुन्दरदास के 'सुन्दर-शृंगार' की टीका लिखवाई थी। खेद है कि स्वाधीनता के पश्चात् यह पाठशाला बन्द कर दी गई। राजकोट के राजकुमार महेरावण सिंह ने सन् १८७२ ई० में ८४ सर्गो का 'प्रवीण-सागर' नामक महाकाव्य व्रज और डिंगल-भाषा में लिखा। सूफी कवियों ने पंजाब, गुजरात और सिंध में भी मिश्रित भाषा में रचनाएँ कीं। (गुजरात की गौरीबाई की सरस हिन्दी-

१. 'सरस्वती' (प्रयाग), दिसम्बर, ६२ ई०, पृ० ५५५।

रचनाएँ भी उपलब्ध हैं।) वैष्णव कवियों के अतिरिक्त गुजराती जैन साधुओं ने भी हिन्दी-साहित्य की बहुमूल्य सेवा की है। उन्होंने रास, चतुष्पदी, ढाल, चौढालिया, वार्त्ता, विनती, वन्दना, लावनी आदि रचनाएँ कीं। भाषा के उदाहरण के लिए संवत् १८५६ में विद्यमान रूपमुनि की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

आदि : प्रथम नमो गुरु चरण कुं पायो ज्ञान अंकूर।
जसु प्रसाद उपकार थीं, सुख पावे भरपूर।।
अन्त : संबत अठारा अप्पने कहवाया, फागुन मास सवाया जी।
कृष्ण सप्तमी अति हितकारी, सूर्य बार जयकारी जी।।
एकतालीसमी ढाल वषाणी, रूपमुनि हितकारी जी।
सुनै सुनावै रहै हितकारी, लहै मंगल जयकारी जी।।

सुदूर दक्षिण में भी व्रजभाषा के प्रति रुझान रहा है। श्रीमान् स्वातितिरुनाल श्रीरामवर्मा त्रावणकोर के साहित्यप्रेमी राजा थे। उन्होंने लगभग सौ वर्ष पूर्व मणिप्रवाल-शैली में एक ग्रन्थ-रचना की है, जिसमें व्रजभाषा की भी खड़ी बोली के पुट-सहित पंक्तियाँ हैं। सूर और मीरा की पद-संगीत-लहरियों का स्मरण दिलानेवाले उन्होंने स्वयं व्रजभाषा में लगभग ४० पद लिखे हैं। उदाहरण के लिए एक पद दिया जाता है—

रामचन्द्र प्रभु! तुम बिन और कौन खबर ले मेरी।
बाज रही जिनकी नगरी सौं सदा धरम की भेरी।।
जाके चरण कमल की रज से तिरिया तनकू फेरी।
औरन के नहिं और भरोसा हमें भरोसा तेरी।।

मलयालम के हास्यरस-कवि कुंचन नंबियार की कविताओं में भी कहीं-कहीं हिन्दी की झलक मिलती है। महाराष्ट्र में संगीत के बोल व्रजभाषा से ही लिये जाते हैं। वहाँ के प्रमुख संतों में महानुभावी-पंथी चक्रधर महदाइसा, दामोदर पंडित, बारकरी-पंथी ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम, रामदास आदि ने प्रचुर हिन्दी-पद लिखे हैं। चक्रधर तो दक्षिण में मुसलमानों के प्रवेश के पूर्व विद्यमान थे। कन्नड़ में भी व्रजभाषा-मिश्रित रचनाएँ मिलती हैं। तंजाउर के मराठा राजा शाहजी ने अपने राज्य-काल (सन् १६८४ से १७१२ ई०) में संगीत और साहित्य की अपूर्व सेवा की। उन्होंने स्वयं तेलुगु और मराठी के अतिरिक्त हिन्दी में भी साहित्य-रचना की। हिन्दी में 'राधा-वंशीधर-विलास' और 'विश्वातीत-विलास-नाटक' नामक यक्षगान लिखे हैं। यक्षगान आन्ध्र का प्रसिद्ध लोकनाट्य है। हिन्दी के ये यक्षगान श्रीराममूर्त्ति रेणु द्वारा प्रथम बार प्रकाश में लाये गये हैं। 'विश्वातीत-विलास' नामक यक्षगान की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

सुन सखी पिउ मेरो कहाँ नैना दोऊ देखें चाहें।
धीर धरूं सखी कैसै के मन में सहे बिना रहे न जाय।
कित धुंडों हम काहे को पूछं कौन बन अब जाये।
चन्द्र चंदन मलयानिल न सहे दूर करो घनसार।

जल बिन मीन तलपत है जैसी बीगत हमारी होउ ।
पिक सुक जैसे सारिका सोर करें बहु दूर निकालो देउ ।
धरि पल छन एक जुग से जाते अब मोसूं रहु न जाय ।[१]

शाहजी महाराज का राजकवि जयराम स्वयं व्रजभाषा के अतिरिक्त कई भाषाओं में काव्य-रचना करता था। शाहजी की राजसभा में मराठी, व्रज, गुजराती, बख्तर, पंजाबी, हिन्दुस्तानी, बगलानी, फारसी, उर्दू और कानिड़ी के कवि थे। सभा में जो कवि बाहर से आते, वे जयराम को समस्या देते और स्वयं पूर्त्ति भी किया करते थे। जयराम ने शाहजी की प्रशंसा में कहा —

तेरे गुन गनिबे के बिधिना बिधु ये मेरु करि,
तारा मुकुताहल माल मानो गही है।
साहै गुन जस धाम गम थक्यों अष्टे ज्याम,
याते कहे जयराम तेरे संग तू ही है।

बंगाल में मुर्शिदाबाद के पास गंगा के पश्चिमी किनारे देवीपुर नामक एक स्थान है, जहाँ प्राचीन समय में धार्मिक व्यक्ति मंदिर-मठ आदि प्रतिष्ठित करके जीवन-यापन किया करते थे। वहाँ के एक अखाड़े में एक शिलालेख है। वह विक्रम-सं० १७९१ का है। उसमें बँगला के साथ-साथ हिन्दी-भाषा का भी प्रयोग किया गया है। यह शिलालेख श्रीपूर्णचन्द नाहर ने सं० १९८३ की नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में प्रकाशित कराया है। उसकी भाषा का नमूना इस प्रकार है—

श्री कृष्ण वासुदेव जू सदा सहाय
श्री गणशोह नमं श्री श्री .....
श्री रघुनाथाय नमं
श्री लक्ष्मणाय नमं
सं० १७८१ वैषाक मास सुदी तीज । श्री नृप गंधर्व सिंह मूब
वेमोल ले क्यौ धर्म को बीर ।।
देवपुर अस्थानय ।
हर्वावदंग के तीर । जर षरीदि लीनों सोई श्री हरि
समन को धीर ।। रतनेसुर की नारि ने दयौ षुसी कर मोल ।।

व्रजभाषा के साथ-साथ खड़ी बोली भी क्रमशः व्यावहारिक भाषा बनती गई और अन्तरप्रान्तीय भाषा का स्थान ग्रहण करती गई। व्रजभाषा केवल साहित्य में प्रयुक्त होती रही। यह सत्य है कि मुसलमान शासकों ने खड़ी बोली हिन्दी को प्रचारित करने में अधिक सहायता पहुँचाई। पर, दक्षिण में हिन्दी का प्रवेश मुसलमान-आक्रमण का परिणाम नहीं है। वहाँ हिन्दी का संचार आर्यों के दक्षिण-प्रवेश का स्वाभाविक परिणाम है। दक्षिण के आर्यों ने अपने मूल स्थान—मध्यदेश—से संपर्क बनाये रखने के लिए वहीं की भाषा को देशभाषा के रूप में स्वीकार किया। मेरा विश्वास है कि दक्षिणापथ में

१. पाक्षिक 'युगप्रभात' (कालीकट, केरल), १६ नवम्बर, १९६२ ई०।

नाथों के अपने मत-प्रचार के कारण हिन्दी प्रचारित हुई और उसने अपभ्रंश को व्यवहार-भाषा के पद से अपदस्थ किया। गोरखनाथ का समय क्या है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। परंतु, महाराष्ट्रीय विद्वानों की मान्यता है कि 'नाथों' ने बारहवीं शती में दक्षिण में धार्मिक जागरण का महान् कार्य किया। अलाउद्दीन खिलजी ने सन् १२९४ ई० में, दक्षिणापथ में सैनिक अभियान किया और देवगिरि पर आक्रमण कर वहाँ के राजा को पराजित किया। यह दक्षिणापथ में उत्तर से प्रथम मुस्लिम-प्रवेश था। सन् १३१० ई० में उसने पुन: दक्षिण में प्रवेश किया और मदुरा तक सेना ले गया। तीन वर्ष के पश्चात् उसने चौथी बार दक्षिण पर चढ़ाई की और देवगिरि के यादव-राजा को हराकर महाराष्ट्र में लूट-मार की। इस प्रकार, उसकी सेनाएँ बराबर दक्षिण के सम्पर्क में बनी रहीं। अत:, हिन्दी का जो रूप वहाँ विद्यमान था, उससे उत्तर की खड़ी बोली, व्रज और स्थानीय बोली के मिश्रण से एक नई व्यवहार-भाषा प्रचलित हो गई, जो दक्खिनी हिन्दी या हिन्दवी कहलाई। यह भाषा अरबी-फारसी के प्रभाव से बिलकुल बोझिल नहीं थी। दक्षिण के बहमनी-राज्य के विभिन्न भागों--विशेषकर बीजापुर और गोलकुंडा में इसका बराबर विकास होता रहा। उत्तर भारत के सूफियों ने दक्षिण में जाकर वहाँ की प्रचलित भाषा में अपने मत का प्रचार करने की दृष्टि से साहित्य-रचना की। उनमें ख्वाजा बंदा-नवाज गेसूदराज को सर्वप्रथम दक्खिनी साहित्य का आरम्भकर्त्ता माना जाता है। यहाँ कतिपय सूफी फकीरों की भाषा के उदाहरण प्रस्तुत हैं, जिनमें उनके द्वारा व्यवहृत हिन्दी के रूप का अनुमान हो सकेगा। शाहजी लिखते हैं--

तूं कादिर कर सब जग को रोजी देव
तूं सभों का दाना बीना सब जग को सेवे
एकस काटी मूला देवे एकस पाटी बज
केतों भीख मंगावे केतों देवे राज
केतों पाट पितम्बर देता केतों सरकी लाया
केते ज्ञान भगत बैरागी, केते मूर्ख गंवार
एक जिन एक मानस कीता एक पुरुष एक नार

उनके पुत्र बुरहानुद्दीन का एक शेर है--

यह सभ प्रगट आप छिपाया, कोई न पाया अन्त।
माया मोह में सब जग बांधा, क्यों कर सूझे पन्त।

सूफियों के अतिरिक्त दक्षिण के कई मुसलमान बादशाह हिन्दी और व्रज में रचनाएँ करते थे और अपनी अभिव्यक्ति में भारतीयता का रंग चढ़ाते थे। मुगल-सम्राटों के युग से बराबर दक्षिण के विभिन्न राज्यों, केरल तक में भी उत्तरवासी सिपाहियों की भरती होती रही है। स्थानीय निवासियों को उनसे सम्पर्क रखने के लिए हिन्दी या हिन्दुस्तानी सीखनी पड़ती थी। बाबर के भारत-प्रवेश के पूर्व उत्तर भारत में हिन्दी लोकभाषा बन गई थी। उसने दौलत खाँ लोदी से हिन्दुस्तानी के माध्यम से बात की थी।

हिन्दी या हिन्दुस्तानी के अन्तरप्रान्तीय व्यवहार के और भी अनेक ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। टी० मौट्टे का 'अर्ली योरोपियन ट्रेवेलर्स इन नागपुर टेरीटोरीज' में यात्रा-वर्णन इस प्रकार छपा है—

अप्रैल ७, सन् १७६६। आज प्रातःकाल मुझसे कहा गया कि काँकेर का राजा रामसिंह आ रहा है। अभिवादन के पश्चात् मैंने उससे उत्तरीय सरकार के मार्गों में पड़नेवाले स्थानों के संबंध में प्रश्न किये। राजा ने स्वयं अनेक प्रश्नों के उत्तर दिये। मुझे जानकर आश्चर्य हुआ कि राजा हिन्दुस्तानी भाषा बड़ी धारा-प्रवाह-गति से बोल रहा था। (पृ० १३२)

महाराष्ट्र में लोकनाटकों—तमाशा गोंधल आदि—में हिन्दी का प्रयोग होता था। तमाशा के एक दृश्य में खड़ी बोली का चलता रूप देखिए—

छड़ीदार—हम छड़ीदार, पोशाक पेना जड़ी जरदार...गले में डाला भाव भोतन का हार। ज्ञान ध्यान की बांधी तलवार...भगवान के नाम को पुकारूं ललकार, ये ही हम छड़ीदार कहलाते हैं।

पाटील —तुमने कहां नौकरी बनाई?

छड़ीदार —दश अवतार में।

पाटील —कौन-से दश अवतार में?

छड़ीदार—मच्छ, कच्छ, वराह, नरसिंह, बामन, परशुराम, राम, श्रीकृष्ण, बौद्ध, कलंकी ऐसे महाराज के दश अवतार में नौकरी बनाई।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हमारे देश में अति प्राचीन काल से परस्पर व्यवहार की एक भाषा रही है और वह भाषा मध्यदेश[1] की आर्यपरिवार की भाषा रही है। देश विभिन्न प्रदेशों में विभाजित रहा है और वहाँ अपनी क्षेत्रीय भाषाएँ भी रहीं; परन्तु धार्मिक और राजनीतिक कारणों से साधु-संत तथा साधारण जन आवागमन के आधुनिक साधनों के अभाव में भी हिमालय से कन्याकुमारी तक और द्वारका से पुरी तथा काठमांडू तक बराबर यात्राएँ किया करते थे। वे कभी संस्कृत, कभी पालि, कभी प्राकृत, कभी अपभ्रंश का सहारा लिया करते और अपभ्रंश के पश्चात् हिन्दी के माध्यम से अपना व्यवहार सिद्ध करते रहे हैं।

●●

हिन्दी-विभागाध्यक्ष
कुरुक्षेत्र-विश्वविद्यालय (पंजाब)

---

१. मध्यप्रदेश की सीमा समय-समय पर परिवर्त्तित होती रही है। मनुस्मृति में उसकी सीमा है—"हिमपर्वत और विन्ध्यपर्वत के मध्य में और विनशन से पूर्व और प्रयाग से पश्चिम में जो है, वह मध्यदेश कहलाता है।" विनयपिटक में—पश्चिम में ब्राह्मणों का थून-प्रदेश, पूर्व में कजंगल, दक्षिण-पूर्व में सलिलवती नदी, दक्षिण में सतेकन्निक नगर और उत्तर में उसीरधज पर्वत। उत्तर और दक्षिण के ये स्थान कहाँ हैं, इसका ठीक निर्णय अभी नहीं हो सका। मार्कण्डेयपुराण में विदेह और मगध को मध्यदेश नहीं गिना गया है। इसके अनुसार कोशल और काशी तक का ही क्षेत्र मध्यदेश माना गया है। मुसलमान-काल में यही भाग हिन्दुस्तान [illegible] के अन्तर्गत आ गया।—ले०

स्वराज्य

पं० श्रीमोहनलाल महतो 'वियोगी'

आ यद्वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः ।
व्यचिष्टे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये ॥
(ऋग्वेद, ५ । ६६ । ६)

हे (ईयचक्षसा) व्यापक दृष्टि धारण करनेवालो, हे मित्रो, आपके साथ हम (सूरयः) विद्वान् मिलकर विस्तृत और ब तों द्वारा पालित होनेवाले स्वराज्य में (आ यतेमहि) पूर्णता से प्रयत्न करेंगे ।

इस पवित्र प्रतिज्ञा के साथ आर्यों ने अपने स्वराज्य का स्वागत किया था । 'व्यापक दृष्टि रखनेवाले' और 'विद्वान्' इन दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से ही विस्तृत और बहुजन-पालित स्वराज्य में पूणता लाई जा सकती है, ऐसा आर्य विचारकों का मत था । व्यापक दृष्टिवाले समाज के सदस्य थे तथा विद्वानों का तो अपना ही वर्ग होता है । यह वर्ग जन-साधारण से कुछ अलग होता है—'तिल-चावल-न्याय' के अनुसार दोनों ही अन्न-वर्ग के हैं, किन्तु दोनों में जो प्रभेद है, वह अपना अलग महत्त्व रखता है । इसीलिए, इस मंत्र में व्यापक दृष्टि धारण करनेवालों से विद्वानों को अलग करके 'प्रयत्न' की धरती पर मिला दिया गया । स्वराज्य पूर्णफलप्रद तबतक कैसे हो सकेगा, जबतक कर्म और ज्ञान का समान स्तर पर उसे सहारा न मिले । ज्ञानविहीन कर्म पशुकर्म है, कर्महीन ज्ञान कोरा बकवास है, अप्राण है । आर्य विचारकों ने संकीर्णता को जीवन के लिए अभिशाप माना । यजुर्वेद के ऋषि की कामना है—**तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु** (३४ । १) । एक पूरा मंत्र ही यजुर्वेद में है, जिसके प्रत्येक दूसरे चरण को 'तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु' कहकर पूर्ण किया गया है ।

महाभारत (वन० ३२ । ५८) में एक प्रसंग आया है, जिसमें कहा गया है—'हीन-भावना का त्याग करना ही श्रेयस्कर है'—

न त्वेवात्मावमन्तव्यः पुरुषेण कदाचन ।
न ह्यात्मपरिभूतस्य भूतिर्भवति शोभना ॥

हीन-भावना के त्याग का मतलब ही होता है—संकीर्णता का त्याग । हीन-भावना-ग्रस्त व्यक्ति उदारबुद्धिसम्पन्न हो ही नहीं सकता ।

महाभारत के अनुद्यूतपर्व में कुन्ती ने, तपस्या के लिए जाते हुए अपने पुत्रों को, आशीर्वाद दिया था—

धर्मे वा धीयतां बुद्धिर्मनो वो महदस्तु च ।

'बुद्धि धर्माचरण पर स्थिर रहे और मन विशाल हो'—यही माता की शुभ-कामना थी अपने यशस्वी पुत्रों के प्रति । ऋषियों ने सदा यही प्रयत्न किया कि मानव संकीर्णता के घेरे को तोड़कर ऊपर उठे, वह जीवन के महान् उद्देश्य की पूर्त्ति करने में

समर्थ बने। स्वराज्य को पूर्णत्व तक पहुँचाने के लिए उदार दृष्टि रखनेवाले व्यक्तियों की परम आवश्यकता मानी गई है। अथर्व (३।२४।५) का आदेश है कि—

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सङ्किर।

'सैकड़ों हाथों से अर्जन करके हजारों हाथों से वितरण' करने का क्या तात्पर्य हो सकता है? यह संकीर्णबुद्धि का कार्य नहीं कहा जा सकता, 'शिव-संकल्प'-युक्त मन से ही ऐसी उदारता की आशा रखी जा सकती है।

'शिवाभिष्टे हृदयं अथर्व का वचन है। उदार भावना मानवता की चरम सिद्धि मानी गई है। कहा है—**सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु** (अथर्व, १९। १५। ६)। दूरदृष्टि **(ईयचक्षस)**, मित्र और ज्ञानी, तेजस्वी, विद्वान् **(सूरयः)** - इन तीनों को एक ही स्तर पर मिलने से स्वराज्य फलप्रद होता है, उसमें स्थायित्व पैदा होता है, प्रत्येक व्यक्ति का आदर भी उसे प्राप्त होता है।

व्यचिष्टे बहुपाय्ये स्वराज्ये—ये तीन शब्द हैं। व्यचिष्ट, बहुपय्य और स्व-राज्य। 'स्व-राज्य जनता के लिए' और जनता के लिए जो राज्य हो, वही स्वराज्य कहा जायगा। अनेक विचारकों ने स्वराज्य की बहुत तरह की व्याख्या की है; किन्तु साधारण अर्थ में उसे जनता का राज्य कहना ही उचित है—**माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः** (अथर्व, १२।१।१२)। स्वराज्य की अपनी मर्यादा[1] होती है। जो सब मनुष्यों द्वारा मिल-कर, निश्चित करके 'स्व' संमति स्वीकृत हो, वही मर्यादा है। इंगलैंड की सारी राज्य-व्यवस्था का आधार उसका अलिखित संविधान है। यही वहाँ के शासन की 'मर्यादा' है। मान लिया गया है कि ब्रिटिश पार्लियामेंट ही सारा ब्रिटिश-साम्राज्य है और पार्लियामेंट जिस 'मर्यादा' की स्थापना कर देता है, वह जनता की अपनी मर्यादा बन जाती है।

अथर्व **(पिप्पलाद-संहिता, ५।१९)** में संज्ञान-सूक्त आया है। इस सूक्त का प्रत्येक मंत्र अत्यन्त मूल्यवान् है; क्योंकि सभी मंत्रों का सम्बन्ध जीवन के महत्त्वपूर्ण उत्थान और विकास से है। 'मर्यादा' की स्थापना में ये मंत्र प्राण-संचार करनेवाले हैं। ऋषि कहते हैं:—

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्योन्यस्मै वल्गु वदन्तो यात समग्रास्थ सध्रीचीनान्॥ ५॥

हार्दिक प्रेम के साथ मिलकर रहना, श्रेष्ठत्व लाभ करना, एक साथ मिलकर भारी बोझ खींचना, एक दूसरे को प्रसन्न रखना आदि ऐसे गुणों का उल्लेख उपर्युक्त मंत्र में है कि एक विकसित परिवार, सुगठित समाज और पुष्ट, सुगठित और बलवान् राज्य की तसवीर अनायास ही आँखों के सामने उभर आती है।

इसके बाद ७वाँ मंत्र आता है। इस मंत्र से स्पष्ट होता है कि वेद के ऋषियों ने जिस स्वराज्य को स्वर्ग के रूप में धरती पर उतारा था, उसके सभी अवयवों को सबल बनाने के लिए वे आतुर थे। कहते हैं—

सध्रीचीनान् वः समनसः कृणोम्येकश्नुष्टीन् संवनेन सहृदः।
देवा इवेदमृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सुसमितिर्वो अस्तु॥

१. मर्यैः मनुष्यैः आदीयते स्वीक्रियते या सा मर्यादा (मर्य+आ+दा)।

'समानमार्गी' जीवन की गति को एक ही मार्ग पर (श्रेय के मार्ग पर) ले जानेवालों के लिए आवश्यक है कि उनके मन की गति भी मर्यादित हो। सायं-प्रातः समिति हो, जिसमें उत्तम व्यक्ति बैठकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य पर विचार करें। स्पष्ट है कि मानव बहुआयामी (मल्टी डाइमैंशनल) प्राणी है। इसके भीतर भौतिक तत्त्व, जीवन, चेतना, बुद्धि, अहंकार तथा दिव्यज्योति के विभिन्न तत्त्वों का नर्त्तन होता रहता है। जब यह उच्च स्तर पर पहुँचता है, तब ईश्वरत्व का दावा करता है और नीचे उतरता है, तब पशुत्व को भी पीछे छोड़कर गिरता चला जाता है। यह आत्मपुरुष को भी जानता है और प्रकृति का यंत्रजात दास भी बन जाता है। चरम विकास को प्राप्त हुआ मनुष्य सभी जीवों से श्रेष्ठ है तथा नियम और न्याय से विरहित होने के कारण प्राणिमात्र में सबसे हेय है। यही कारण है कि गुणों और सहयोग के बन्धन में एक मनुष्य को दूसरे के साथ बाँधकर, बहकने से बचाने का प्रयास ऋषियों ने किया है और यह प्रयत्न किया गया है 'स्वराज्य' को अधिकाधिक फलप्रद बनाने के सुविचार से। ऋग्वेद (१०।१०१।१) का ऋषि सावधान करता है—

उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः।

'मित्रो, समानमना होकर उठो, जागो।' किन्तु, मन इतना चंचल होता है कि उसे एक स्तर पर टिकाकर रखना परमयोगी के लिए ही संभव है, जनसाधारण ऐसा नहीं कर पाता। इसीलिए, प्रार्थना की गई है कि यह जो ज्ञान से तीक्ष्ण बना हुआ मन है और जिसमें भयंकर प्रसंग उत्पन्न हो जाते हैं, वह हमें शान्ति दे—

इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम्।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः॥ (अथर्व,४)

ऋषि, विचारक या नेता कहता है कि—'समानमना होकर उठो, जागो।' उसके इस उद्बोधन-वाक्य को जनता स्वीकार करती है; किन्तु चेतना और चिन्तन के उच्च स्तर पर पहुँची हुई जनता कहती है—'मेरा मन ज्ञान से तीक्ष्ण बना हुआ है, यह भयंकर प्रसंग उपस्थित कर देता है, मैंने इस खतरे को समझा और मेरी प्रार्थना है कि वह हमें शान्ति दे।'

नेता के आह्वान को अपनी सम्पूर्ण चेतना के सहित ग्रहण करना एक अचरज की बात नहीं है उस जन-समाज के लिए, जिसने 'आर्य' (श्रेष्ठ) पद धारण किया था। इसके बाद वह अपने मनोभाव इस मंत्र के द्वारा प्रकट करता है—

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं ते चक्षुरयुत मे श्रोत्रमयुतो मे।
प्राणोयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुताऽहं सर्वः॥
(अथर्व, १९।५१।१)

मैं अनिन्दित होऊँ, मेरी आत्मा (आत्मपुरुष नहीं) अनिन्दित हो, मेरे चक्षु, श्रोत्र, प्राण, अपान, व्यान सभी अनिन्दित हों।

ऋषि (आचार्य या नेता) के वचन के प्रति तीव्र श्रद्धा हमारे भीतर हो, तब हम उनके दिखलाये हुए मार्ग पर, अपनी बुद्धि के बल से, सम्यक् गति से,

विश्वासपूर्वक बढ़ सकेंगे। इसीलिए, जीवन में श्रद्धा की स्थापना होनी चाहिए। ऋग्वेद का ऋषि कहता है—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥ (१०।१५१।५)

श्रद्धा का आह्वान श्रद्धा के लिए किया गया है। विशुद्ध श्रद्धा, अपने निर्मल रूप में श्रद्धा, तत्त्वरूप में श्रद्धा की ही कामना ऋषि करता है। प्रातः, दोपहर, सूर्यास्त के बाद अहर्निश श्रद्धा की पूजा वह करता है। अपने मूल रूप में श्रद्धा जब उसे प्राप्त हो जायगी, तब ज्ञान के द्वारा स्वयं यह निर्णय करेगा कि कहाँ श्रद्धा को वह प्रतिष्ठित करे और कहाँ उसे जाने से रोके। ऋषि चाहता है कि वह श्रद्धावान् बने—केवल इतनी ही उसकी कामना है, याचना है, प्रार्थना है।

ईयचक्षसा, व्यापक दृष्टि धारण करने की चर्चा आगे आ चुकी है। इतनी सारी बातें उसी प्रसंग में कही गई। स्वराज्य कैसे पूर्णता को प्राप्त करे, कैसे वह व्यापक-दृष्टिवालों और (**सूरयः**) विद्वानों से सेवित हो, इसी पर हम विचार कर रहे थे।

ऋग्वेद (५।६०।५) में एक मंत्र आया है, जो बतलाता है कि कोई भी हेय या उत्तम (बड़ा या छोटा) नहीं है। सभी भाई-भाई हैं, जो मिल-जुलकर ऐश्वर्य के लिए, ऐश्वर्य-वृद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते,
सं भ्रातारो वावृधुः सौभगाय।

दूसरा मंत्र और भी चमत्कारपूर्ण है, जो इस प्रकार है—

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन॥
(ऋ० ५।५६।६)

कहा है—वे सब (**अ-ज्येष्ठाः**) बड़े नहीं हैं, (**अ-कनिष्ठासः**) छोटे नहीं हैं और (**अ-मध्यमासः**) मध्यम भी नहीं हैं; परन्तु सब-के-सब (**उत्-भिदः**) उदय को प्राप्त होनेवाले हैं। इसलिए, (**महसा**) उत्साह के साथ, विशेष रीति से (**वव्रृधुः**) बढ़ने का प्रयत्न करते हैं। ये (**दिवः मार्या**) दिव्य मनुष्य हैं, (**नः अच्छा**) हमारे निकट (**आ जिगातन**) आ जायँ।[१]

'दिवः मार्याः' से प्रकाश के पुत्र का बोध होता है। जो ऊँच-नीच के भेद-भाव का त्याग करके आत्मविकास के लिए प्रयत्न में लगे हैं, वे निश्चय ही 'प्रकाश-पुत्र' हैं, जिनकी भेद-भावना (तम) समाप्त हो चुकी है। इन कृत्रिम भेद-भावनाओं के रहते स्वराज्य नहीं पनप सकता और न उचित तथा निर्मल न्याय की ही संभावना है।

स्वराज्य के पोषक और विनाशक तीन-तीन तत्त्वों का वर्णन ऋषियों ने वेदों में किया है।

---

१. यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं स त्वमेव त्वमेव तत्॥ —कैवल्योपनिषद्।

पोषक तत्त्व	विनाशक तत्त्व
१. मिलकर रहना (सं-भूति)	१. अलग रहना (अ-संभूति)
२. सामुदायिक (स-जन्य)	२. वैयक्तिक (प्रति-जन्य)
३. सामुदायिक कर्म (सं-वावृधुः)	३. वैयक्तिक कर्म (वि-वावृधुः)

इन तत्त्वों पर विचार करना उचित होगा। हम पहले 'सं-भूति' को आपके सम्मुख उपस्थित करेंगे। यह विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है :

सं-भूति

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ (अथर्व, ३।३०।६)
सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ (अथर्व, ३।३०।७)
ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः ।
तेषां श्रीर्मयि कल्पतामस्मिंल्लोके शतं समाः ॥ (यजुर्वेद, १९।४६)

ऋषि का वचन है—तुम लोगों का जलस्थान एक ही हो, बाँटकर खाओ। मैं तुम लोगों को एक ही कुटुम्ब के बन्धन में बाँधता हूँ। सब मिल-जुलकर काम करो, जैसे रथ के चक्के के सभी 'आरे' एक ही में लगे होते हैं और कर्म करते हैं।

मैं तुम्हारे हृदयों को एक समान करता हूँ और तुम्हारे मनों को विद्वेषरहित। एक दूसरे से उसी तरह प्रीति करो, जैसे सद्योजात बछड़े से गऊ प्यार करती है।

जीव, मन, वाणी से इस प्रकार की समानता के जो पक्षपाती हैं, उन्हीं के लिए मैंने सौ वर्ष तक (भोगने के लिए) समस्त ऐश्वर्यों को दिया है।

इससे अच्छा 'सं-भूति' का दूसरा कौन-सा प्रमाण हो सकता है। गुणों के बन्धन में बँधने से 'शिव' की प्राप्ति तो होती ही है।

प्रियः देवानां भूयासं, प्रियः प्रजानां भूयासं ।
प्रियः पशूनां भूयासं, प्रियः समानानां भूयासं ॥ (अथर्व, १७।१।२—५)

देवताओं के लिए, प्रजा (जनसाधारण) के लिए, पशुओं के लिए और समानों (अपने जैसों) के लिए प्रिय तभी कोई हो सकता है, जब वह सबके लिए अपना उत्सर्ग कर सके। जो सबके लिए है, वही सबका है, सबका प्यारा है, सभी उसके अपने हैं।

अधिक उद्धरणों की आवश्यकता नहीं है। सारा वैदिक वाङ्मय ऐसे प्रमाणों से भरा हुआ है कि समानता का व्यवहार करो। मानव-मात्र का कल्याण हो, यही ऋषियों की कामना थी—स्वस्तिर्मानुषेभ्यः (शतपथ, अ० ९, ब्रा० २)।

स-जन्य

'सब कुछ सबके लिए'—एक पुराना सिद्धान्त, जो युगों से भारत को अमर बनाता रहा, आज भी किसी-न-किसी रूप में हमारे आन्तरिक गठन को प्रभावित कर रहा है। कई

विचारकों का ऐसा मत है कि अपने विकास की आरंभिक अवस्था में आर्य, सामुदायिक भावना की पृष्ठभूमि में, आत्महित सोचते थे।[१] अपनी उन्नति-मात्र उतना महत्त्व नहीं रखती, यदि वह ऐसी हो कि उससे समुदाय का हित-साधन—प्रत्यक्ष या प्रकारान्तर से न होता हो। सच्चा और पवित्र पुरुषार्थ आत्महित के साथ ही समष्टि का हित साधने में है। 'ऊपर उठना और आगे बढ़ना प्रत्येक जीव का लक्ष्य' माना गया है।

आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्। (अथर्व, ५।३०।७)

यह तो प्रकृति का मुख्य गुण है कि उसने प्रत्येक द्रव्य को, प्रत्येक चेतन या अचेतन को पूर्णता तक पहुँचने का पूर्ण अधिकार दे रखा है। प्रकृति में ही विकसनशीलता की शक्ति भरी है। इसी विकासोन्मुखता के परिणामस्वरूप विश्व-प्रपंच अस्तित्व में है। अथर्व के ऋषि ने इस रहस्य को समझकर ही यह घोषणा की है कि सबको समान भाव से आत्मविकास करने का पूर्ण अधिकार है। यह तो नैसर्गिक अधिकार है; किन्तु इसे तत्कालीन समाजनिर्माताओं ने भी 'बोलकर' स्वीकार कर लिया है। इस अधिकार की स्वीकृति के साथ ही आन्तरिक एकसूत्रता को भी बल मिल गया। सामुदायिक रूप में ही इस अधिकार का उपभोग और उपयोग होना चाहिए, ऐसा मत भी ऋषियों का था—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ (अथर्व, १२।१।४५)

निश्चय ही, यह पृथिवी अनेक भाषाओं के बोलनेवाले, अनेक धर्मों के माननेवाले विविध प्रकार के जन को धारण करनेवाली है। भाषा और धर्म ये दो ऐसे तत्त्व हैं, जो मनुष्य को एक से अधिक भागों में बाँट देते हैं। सारे विश्व की एक ही भाषा और एक ही धर्म हो, यह संभव नहीं। प्रकृति में ही विकृति होती है। अपनी साम्यावस्था में प्रकृति 'परा' है। विकृतावस्था में ही उसने निर्माण का शुभारंभ किया। ऐसी अवस्था में विषमता, विकृति या असमानता को अनिवार्य मानना ही होगा; किन्तु ज्यों-ज्यों गहरे उतरते जाते हैं, इस विषमता, विकृति और असमता में कमी होती जाती है और हम ऐसा 'बिन्दु' पा लेते हैं, जिसमें साम्यावस्था की शक्ति होती है—यहीं हम बाह्य विविधता का त्याग करके एक साथ सभी ठहर जाते हैं। सभी स्थितियों या अवस्थाओं के भीतर कहीं-न-कहीं यह 'बिन्दु' रहता ही है, जिसे गहरे डूबनेवाले, विचारक, ऋषि खोज निकालने में समर्थ होते हैं। जब वे इस 'ठौर' को पा लेते हैं, तब कहते हैं—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (यजु० ३१।१८)

उस आदित्य-स्वरूप प्रकाशमान परमात्मा को मैं जानता हूँ, अतः उसी के साक्षात्कार से मुक्ति प्राप्त होती है। इसके सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं है।

यही है वह केन्द्रबिन्दु, जहाँ धर्म, भाषा आदि विभाजक तत्त्वों का अन्त हो जाता है और 'स्व'-'पर' की विभाजक रेखाएँ भी मिट जाती हैं; 'साम्यावस्था' यहीं से प्राप्त होकर जीवन में फैल जाती है। केवल भौतिक आधारों पर टिके रहने से साम्यावस्था संभव नहीं।

१. 'उरू प्रथस्व' (शतपथ, अ० २, ब्रा० ४)।

ईशोपनिषद् का पहला मंत्र और भी स्पष्ट करता है कि 'सब ईश से आच्छादित है, सब ईश ही है, किसी की धन-सम्पत्ति का लालच मत करो।'

जब सब कुछ एक ही सत्ता की अनेकरूपता है, तब फिर ग्रहण कैसा और त्याग का अर्थ क्या—कुछ भी नहीं। यही सोचकर, इतना ज्ञान प्राप्त करके ऋषि कहते हैं—

सऽओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु। (यजु० ३२।८)

इसके बाद—

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ (ऋग्वेद, १०। १९१। ३-४)

समान मंत्र, समान समिति, समान मन, सबके लिए समान मंत्र—अभिमंत्रित, समान हवि से अग्निहोत्रादि यज्ञ, सबकी प्रेरणा समान, सबके हृदय समान, सबके मानस समान, अतः सबकी (इस समानता के स्तर पर) समान स्थिति।

इससे उदात्त साम्यावस्था या 'स-ज़न्य' दूसरा क्या हो सकता है? इस मंत्र में 'हविषा, जुहोमि' ये दो शब्द आये हैं, जिन्हें व्यापक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। यह कोरा होम-हवन नहीं है।

इतना दिव्य और पवित्र 'स-जन्य' की स्थिति का चित्र शायद ही किसी देश के साहित्य में मिले। सामुदायिक भावना का यह उज्ज्वल उदाहरण है। यहाँ भावना शब्द हम 'परिनिष्ठित बुद्धि' के अर्थ में रख रहे हैं। 'दर्शन' के अनुसार जब शुद्ध बुद्धि इतनी परिपक्व या परिनिष्ठ हो जाती है कि किसी विषय पर उसे अधिक या कुछ भी विचार करने की आवश्यकता नहीं रहती, तब ऐसी बुद्धि को 'भावना' कहकर 'दर्शन' ने स्वीकार किया है। शुभ भावनाएँ समाज का विकास करने में शक्ति का काम करती हैं।

सं-वावृधुः

सामुदायिक कर्म। जो कुछ अबतक कहा गया है, उसी में इस विषय का भी पूर्ण चित्र आ गया। सामुदायिक जीवन का परिणाम ही होगा सामुदायिक कर्म। दो-चार शब्द कहकर हम इस विषय को समाप्त करने का प्रयास करेंगे।

वेदों में 'सत्रयज्ञ' का वर्णन आया है। हम 'सत्र' शब्द पर विचार करें, तो इस शब्द का अर्थ स्पष्ट होगा कि एक साथ, मिलकर, समूह—**साकं सत्रा समं सह (अमर)।**

लोकमान्य तिलक ने 'गीता-रहस्य' के (गीता के चतुर्थ अध्याय के श्लो० ३१ के नीचे) यज्ञ[1] के प्रसंग में टिप्पणी लिखते हुए कहा है—

...यज्ञ शब्द का व्यापक अर्थ लेकर, इस सामाजिक तत्त्व का भी इसमें पर्याय से समावेश हुआ है कि कुछ अपनी प्यारी बातों को छोड़े विना न तो सबको एक-सी सुविधा मिल सकती है और न जगत् के न्याय ही चल सकते हैं।

१. यज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति 'यज्' धातु से की जाती है—यज+नङ् (पाणिनि, ३।३।९०)।

इससे स्पष्ट होता है कि 'प्रत्येक का दूसरे के हित में त्याग करना।'[१] यदि समुदाय इसी विचार से कर्म करे, तो उसका नाम होगा **सत्रयज्ञ**। सत्र का अर्थ है, एक साथ मिलकर वह त्याग, जो सबके हित में हो। यज्ञ का व्यापक अर्थ लोकमान्य के उद्धरण में स्पष्ट है।

अब हम सामुदायिक कर्म की चर्चा करेंगे। यजुर्वेद (३।५०) का एक मंत्र इस प्रकार है—

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे। निहारं च हरासि मे निहारं हराणि ते॥

तू मुझे दे और मैं तुझे दूँ। उत्तम गुण तू मुझे दे और मैं तुझे दूँ। मैं यह लेता हूँ, यह तू प्राप्त कर।

इस मंत्र से पता चलता है कि जब आदान-प्रदान में इतना खुला और संतुलित व्यवहार था, तब सभी सबके लिए कार्य भी करते होंगे। इतनी उदारता सहकर्मी या सहयोगी (सह + योगी) के लिए ही हो सकती है, न कि ऐसे व्यक्ति के लिए, जो उल्टे प्रकार का हो। आत्मवान् व्यक्ति ही समत्व-भावना के आधार पर जीवन की गति को प्रभावशाली बनाने की क्षमता रखता है। ऐसा व्यक्ति, जिसकी बुद्धि प्रतिबिम्ब ग्रहण करके, उस प्रतिबिम्ब के ही आधार पर अपना निर्णय देने का कार्य करती है, वह सदा सत्य से दूर ही रहता है। सत्य से दूर रहने का अर्थ होता है, अमृतत्व से दूर रहना और भवचक्र का दासत्व स्वेच्छया स्वीकार कर लेना। यह स्पष्ट है कि 'दासों' से न तो स्वराज्य की स्थापना हो सकती है और न उसका सर्वतोमुखी विकास या संरक्षण संभव है। जो प्रकृत्या अपना स्वामी नहीं है, वह दूसरे का आदमी है, वह दूसरे का 'दास' है। आत्मवान् होने का अर्थ ही है अपना स्वामी बन जाना। शाश्वत आत्मपुरुष, जो वस्तुतः हम हैं, जब हमारे शरीर और इन्द्रियों पर शासन करने लगता है, तब हम स्वतन्त्रता की स्थिति में होते हैं। हमारे भीतर का 'आत्मराज' जितना पूर्ण होगा, बाहर का स्वराज्य उतना ही विकसित और सबल होगा। ऋषियों ने इस तथ्य को समझकर ही श्रेय को प्रेय से अलग किया था—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते॥ (कठ० १।२।२)

यह भी स्पष्ट है कि हम कैसा बनना चाहते हैं—हमारा 'चाहना' हमारे बनाने में बहुत योग प्रदान करता है। श्रेष्ठ व्यक्तियों से श्रेष्ठ परिवार, श्रेष्ठ परिवारों से श्रेष्ठ समाज और श्रेष्ठ समाजों के राष्ट्रीयता के आधार पर मिलने से श्रेष्ठ और अजेय राष्ट्र बनता है। श्रेष्ठ राष्ट्र अपने अभ्युदय, श्रेय और सिद्धि के लिए या अपनी श्रेष्ठता की रक्षा के लिए अपने-आपको जिस घेरे में रखता है, वह राज्य होता है। श्रेष्ठ राज्य तभी संभव है, जब उस राज्य की शासन-प्रणाली भी श्रेष्ठ हो और श्रेष्ठ शासन-प्रणाली का ही प्रचलित नाम 'स्वराज्य' है। व्यक्ति की श्रेष्ठता विकसित होते-होते

---

१. ऐतरेयब्राह्मण, ३।११।

कहाँ-से-कहाँतक पहुँच जाती है, यह अचरज की बात नहीं । व्यासदेव ने (**महाभारत, शान्ति० १८०।१२**) कहा है कि मनुष्य से श्रेष्ठ कोई नहीं है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि । नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ।।

अतः, अच्छा हो कि हम सोचने का एक क्रम बना लें । पहले व्यक्ति को अपने सामने रखिए और देखिए कि वेद के ऋषियों ने इस सम्बन्ध में क्या कल्पना की है ।

मनुष्य, जो कुछ वह है या उसके सामने जो कुछ है, वह जिस स्थिति या अवस्था में है, उसी से संतोष नहीं कर लेता । ऐसा होना चाहिए, हम ऐसा बनाकर छोड़ेंगे आदि संवेगात्मक शक्ति मानव को ऊपर उठाती चली जाती है । मानव कल्पनाशील[1] प्राणी है । वह केवल कल्पना करना नहीं जानता, 'संकल्प' भी करता है । भगवान् शंकराचार्य ने 'संकल्प' शब्द की व्याख्या (**छान्दोग्योपनिषद्, खं० ४, मं० १ पर शंकर का भाष्य**) की है, जो इस प्रकार है—**कर्त्तव्याकर्त्तव्यविषयविभागेन समर्थनम्** । कर्त्तव्याकर्त्तव्य विषयों के विभागपूर्वक समर्थन को 'संकल्प' कहा जाता है ।

मानव कल्पनाशील प्राणी है, वह संकल्पप्रधान भी है----यही हमने कहा है । वह कल्पना करता है, यानी 'सृष्टि' करता है । इसके पूर्व, कर्त्तव्याकर्त्तव्य विषयों का विभागपूर्वक समर्थन 'संकल्प' द्वारा करके आगे बढ़ता है । मानव स्वभावतः मुक्त प्राणी भी है । अध्यासादि बन्धनों से स्मृति का लोप हो जाना ही इसके बन्धन का कारण है । फिर भी, यह उभरने के लिए जोर मारने में आलस्य (प्रमाद) नहीं करता । ऋषियों ने जो प्रकाश दिया है, वह एक साथ ही मानव की बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की मुक्ति के लिए है । **यजुर्वेद (२०।२१)** का ऋषि कहता है—

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ।।

अज्ञानान्धकार से प्रकाश की ओर, ज्ञानज्योति की ओर उत्तरोत्तर बढ़ते हुए अपने को समुन्नत करने का संकल्प और कल्पना मानव के अतिरिक्त और कौन कर सकता है ! अज्ञानान्धकार घोर संकीर्णता है । भीतर और बाहर के अन्धकार में जब हम अपने अंगों को भी नहीं देख पाते, तब दूसरों को (सत्य और जगत् को) देखना कैसे संभव है । प्रकाश से ही हमारी दृष्टि व्यापक बनती है । हीनता से श्रेष्ठता की ओर जाने की इच्छा और वेग दोनों इस या ऐसे मंत्रों में मिलते हैं ।

प्रजा ही 'राष्ट्र' बनाती है (**ऐतरेयब्राह्मण, ८।२६**) । कहा गया है—**राष्ट्राणि वै विशः**; अतः राष्ट्र प्रजा का पुत्र है, प्रजा उसकी माँ है—धारण करनेवाली, जन्म देनेवाली, पालन करनेवाली । प्रजा में, गुणरूप में राष्ट्र अन्तर्निहित रहता है, जो उसकी (प्रजा की) राष्ट्रीय चेतना के रूप में, अस्तित्व में (स्थूल अस्तित्व में) आता है; जैसे 'घट' घटत्व के रूप में सदा मिट्टी में रहता ही है । जनसमूह राष्ट्र की उपाधि किन गुणों के आधार पर धारण करता है, भीड़ अनुशासित सेना के रूप में किन गुणों के आधार पर

---

१. यहाँ 'कल्पना' शब्द 'सृष्टि करने' के अर्थ में रखा है । 'क्लृप्' धातु का आश्रय लिया गया है । यह अर्थसंगत है । —ले०

परिणत होती है, इसपर ऋषियों ने अच्छी तरह प्रकाश डाला है। अभी हम 'व्यक्ति' के सम्बन्ध में विचार कर रहे थे।

शतपथब्राह्मण (१।१।१।४) का ऋषि मनुष्य के प्रति अविश्वास प्रकट करता है। वह कहता है—**सत्यमेव देवाः अनृतं मनुष्याः।** स्वभाव से ही देवता सत्याचरणवाले और मनुष्य अनृताचरणवाले होते हैं। देवताओं और मनुष्यों के बीच यह एक विभाजक रेखा खींची गई। किन्तु, इस रेखा को मानव पार करने के लिए कृतसंकल्प नजर आता है। **यजुर्वेद (१।५)** की घोषणा है—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयम्......

इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।

हे व्रतों के स्वामी अग्निदेव, मैं अनृत का त्याग करके सत्य को प्राप्त करना चाहता हूँ। तुम्हारे अनुग्रह से इसे पूरा कर सकूँ, यही मेरा व्रत है। यहाँ यह जान लेना चाहिए कि यह 'अग्निदेवता' बाहर प्रज्वलित होनेवाली आग-मात्र नहीं है। हमारा निर्माण अग्नि-तत्त्व और सोम-तत्त्व के योग से हुआ है। जब हमारे भीतर किसी संघात के कारण प्रज्वलित विचार का स्पन्दन[१] पैदा होता है, तब भीतर का अग्नि-तत्त्व[२] क्षुब्ध हो उठता है। इसी 'देवता' को लक्ष्य करके कहा गया है कि 'मैं अनृत का त्याग करके सत्य को प्राप्त करना चाहता हूँ।'

वह सत्य क्या है, जिसे मानव प्राप्त करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध है—वह 'ऋत' है। **यजुर्वेद (७।४५)** का आदेश है—**ऋतस्य पन्था प्रेत।**

जैसा हमने आगे कहा, श्रेष्ठ व्यक्ति ही श्रेष्ठ परिवार का निर्माण कर सकता है। श्रेष्ठत्व को धारण करने के लिए किन गुणों की आवश्यकता होती है, इसका वर्णन प्रार्थना के रूप में मिलता है, जो इस प्रकार है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि॥

बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि॥

मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि॥ (यजुर्वेद १९।९)

तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु (**औचित्य के अनुसार होनेवाला क्रोध**) और सहस्वान् (**विरोधी पर विजय पाने में समर्थ शक्ति और बल**)—इन दुर्लभ गुणों के लिए ही व्यक्ति प्रार्थना करता है।[३] इन गुणों को धारण कर लेने के बाद ही कहा जायगा कि वह सभी प्राणियों की अपेक्षा ईश्वर के अत्यन्त समीप है—

पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्। (शतपथ, २।५।१।१)

---

१. 'प्राणो वै समञ्चनप्रसारणं'—शतपथ, ८।१।४।१०।

२. मैत्रायणी उपनिषद् (६।३) में कहा है—'जो ज्योति है, वही आदित्य है; जो आदित्य है, वही आत्मा है।' आत्मा का सर्वोत्तम प्रतीक है सूर्य—'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'।

३. और भी देखिए ऋग्वेद, १।३६।१४; ६।५२।५; ३।७५।१८ आदि।

यजुर्वेद, ४।२८; १।५; ३९।४; २०।११-१२; १८।५; १९।४३; ३।१७; ३२।३३ आदि।

अथर्व, ६।१९।२; ६।५८।३; १२।१।५४; १९।६०।१-२ आदि।

व्यक्ति का व्यक्तित्व ही ऊपर उठते-उठते विश्वमय बन सकता है और व्यक्तित्व का विकास यदि 'सत्य' की ओर हुआ, तो वह चरम लक्ष्य को सहज ही प्राप्त कर लेगा; क्योंकि **पुरुषो वै यज्ञः (शतपथ, अ० ३, ब्रा० २)**।

वेदों में सदा इस तथ्य पर जोर दिया गया है कि व्यक्ति जो कुछ भी आत्मविकास करे, वह जीवन की पूर्णता के लिए, जिससे वह अपने को सदा 'बहुजनहिताय' की कर्म-भूमि में देखे, न कि पहाड़ की गुफा में या निर्जन वन के किसी पुराने वृक्ष के नीचे। ऋषि पलायनवाद का समर्थन नहीं करते। वे कर्म-कोलाहल का नेतृत्व करते हैं, उससे भागते नहीं।[1] ऋषि चाहते हैं कि मानव अपने शुभकर्ममय ऐहिक जीवन को ही परिष्कृत करके नित्य शान्ति का अनायास ही वरण कर ले। कठोपनिषद् (२।२।१२) में ऋषि का वचन है—

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषा शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥

सामान्य में ही विशेष का अन्तर्भाव (छान्द०, खं० ४, अ० ७, मं० १) होता है। सामान्य मनुष्य में ही विशेष देवत्व का अन्तर्भाव है—

देवाश्च मनुष्याश्च देवमनुष्या मनुष्मा एव वा
देवसमा देवमनुष्याः शमादिगुणसम्पन्ना मनुष्या
देवस्वरूपं न जहतीत्यर्थः ॥ (छान्द०, खं० ६, मं० १, शांकरभाष्य)

व्यक्ति अपने गुणों से विश्वमय बन सकता है, ऐसी आशा ऋषियों को थी और उन्होंने अपने उपदेशों में इस बात को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है। मानव महान् है, आत्मस्वरूप है।

[अगले अंक में समाप्य]

आर० ब्लॉक, पटना-१

१. 'श्रमेण ह स्म वै तद्देवा जयन्ति यदेषां जय्यमास।'—शतपथब्राह्मण, अ० २, ब्रा० २।

पाठ-विकृतियाँ और पाठ-संबंध-निर्धारण में उनका महत्त्व

श्रीविमलेशकान्ति वर्मा

मुद्रण-कला के अभाव के कारण प्राचीन ग्रंथ आज हमें हस्तलिखित प्रतियों के रूप में प्राप्त हैं। यह हस्तलिखित प्रतियाँ भी मूल ग्रंथ नहीं हैं, वरन् प्रतिलिपियों की प्रतिलिपियाँ हैं। यह प्रतिलिपियाँ किसी मशीन के द्वारा न होकर मनुष्यों के द्वारा होती थीं, अतः इनमें आदर्श (Examplar) पाठ नितांत असंभव है। अति प्राचीन काल में भी लिपिकारों को यह भली भाँति विदित था कि आदर्श की प्रतिलिपि यथावत् नहीं हो पाती, कुछ-न-कुछ अशुद्धियाँ रह ही जाती हैं। लिपिकारों का कहना है—

अदृश्यभावान्मतिविभ्रमाद्वा पदार्थहीनं लिखितं मयात्र।
तत्सर्वमार्यैः परिशोधनीयं कोपं न कुर्युः खलु लेखकेषु॥
मुनेरपि मतिभ्रंशो भीमस्यापि पराजयः।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयताम्॥

कभी-कभी लिपिकार सब अशुद्धियाँ लेखक के सिर मढ़ देते थे—

यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा तादृशं लिखितं मया।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न विद्यते॥

अतः, प्रतिलिपि में पाठ-विकृतियों का आ जाना नितान्त स्वाभाविक है। पाठालोचन की नींव इन्हीं अशुद्धियों पर आधृत है। यदि ये पाठ-विकृतियाँ न होतीं, तो पाठालोचन की आवश्यकता ही न पड़ती। अतः, पाठालोचन के मूल में हम इन अशुद्धियों को मान सकते हैं। इन अशुद्धियों को दूर करने के लिए आवश्यक है कि इनसे हम परिचित हों, जिससे पाठ-निर्माण (Recension) तथा पाठ-सुधार (Emendation) में हम अशुद्धियों को दूर कर कवि के मूल पाठ तक पहुँच सकें।

जहाँतक पाठ-विकृति की परिभाषा का प्रश्न है, हम कह सकते हैं—"उन समस्त पाठों को विकृत पाठ की संज्ञा दी जायगी, जिनके मूल लेखक द्वारा लिखे होने की किसी प्रकार भी संभावना नहीं की जा सकती और जो लेखक की भाषा, शैली और विचारधारा के पूर्णतया विपरीत पड़ते हैं।" विद्यमान पाठों (Extant Mss.) में यह विकृतियाँ बड़े महत्त्व की होती हैं और इन्हीं के सहारे पाठालोचक कवि के मूल पाठ-निर्धारण में समर्थ होता है।

पाठ-विकृतियों का वर्गीकरण, उनकी प्रकृति तथा उनके मूल कारणों का विवेचन तथा विश्लेषण करने के पूर्व कुछ बातें ध्यान में रखना आवश्यक है। प्रथम तो इन विकृतियों का कोई निश्चित वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। द्वितीय, इन विकृतियों के मनोविज्ञान की ओर संकेत तो किया जा सकता है; किन्तु निश्चित रूप से इसका उद्घाटन नहीं किया जा सकता और अंत में इनकी निश्चित संख्या भी नहीं बताई जा सकती।

प्रत्येक ग्रंथ, उसके प्रतिलिपिकार और लेखन-सामग्री आदि के आधार पर नवीन विकृतियों का बराबर पता लग सकता है। इन उपर्युक्त सीमाओं को ध्यान में रखते हुए हम पाठ-विकृतियों के मूल कारण तथा वर्गीकरण का प्रयत्न करेंगे।

यों तो पाठ-विकृतियों के अनेक कारण हैं, किन्तु कुछ, पाठ-विकृतियों के मूल कारण हैं, जिनसे प्रतिलिपियों में पाठ-विकृतियाँ बहुधा हो जाया करती हैं। ये मूल कारण इस प्रकार हैं—

१. कुछ पाठ-विकृतियाँ मूल पाठ से ही आ सकती हैं। अच्छे-से-अच्छे लेखकों की रचनाओं में शैलीदोष, व्याकरणदोष, अस्पष्टता आदि दोष मिल सकते हैं। लिपिकार के संबंध में तो इनकी और भी अधिक संभावना है।

२. सामग्री के खंडित होने के कारण अथवा अस्पष्टता के कारण प्रतिलिपि में दोष आ सकते हैं।

३. यदि रचना बड़ी है, तो संभव है कि उसकी प्रतिलिपि विभिन्न प्रतिलिपिकार थोड़े-थोड़े अंशों की करें। इसके साथ यह भी संभव है कि इन विभिन्न प्रतिलिपिकारों के आदर्श भिन्न हों, जिसके कारण प्रतिलिपि में कई स्तर देखे जा सकते हों।

४. अन्य प्रतियों के मिलान द्वारा अथवा कवि द्वारा संशोधित होने पर पाठ-विकृति प्रतिलिपियों में आ जाती है।

५ विभिन्न व्यक्तियों द्वारा किये जानेवाले पाठ-सुधार के कारण भी पाठ-विकृतियाँ आ सकती हैं।

६. अधिक काल बीतने पर लिपि की अज्ञानता के कारण पाठ-विकृतियाँ आ सकती हैं।

पाठ-विकृति के इन उपर्युक्त मूल कारणों के आधार पर हम यहाँ उनके वर्गीकरण का विवेचन करेंगे।

पाठ-विकृतियों का एक वर्गीकरण पोस्टगेट (Postgate) ने इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में दिया है। इन्होंने पाठ-विकृतियों के दो वर्ग किये हैं:

क. बाह्य विकृतियाँ—(External Corruption)

ख. अंतरंग विकृतियाँ—(Internal Corruption)

बाह्य विकृतियों के अंतर्गत उन समस्त विकृतियों को लिया गया है, जिनका संबंध लेखन-सामग्री से है। इसके अन्तर्गत पन्ने के फट जाने, पन्नों के खो जाने, स्याही फैल जाने तथा कीट-विद्धता आदि के कारण जो विकृतियाँ हो जाती हैं, उनका परिगणन कराया है। प्राप्त प्रतियों में इस प्रकार की विकृतियाँ हमें बहुलता से मिलती हैं। अधिकतर यह देखा गया है कि जितनी भी प्राचीन प्रतियाँ हैं, सभी में पन्नों के जीर्ण-शीर्ण होने के कारण ऐसी अनेक विकृतियाँ हो गई हैं। बीसलदेवरास की प्रतियाँ बाह्य विकृतियों का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। इस ग्रन्थ की कई शाखाओं से प्रतीत होता है कि इनका मूलादर्श अत्यंत छोटे पन्नों पर था, जिनपर आधे-आधे छंद लिखे थे। इन पन्नों के क्रम-परिवर्त्तन होने के कारण, विभिन्न शाखाओं में, छंद के आधे-आधे अंशों का

दूसरे छंदों के साथ जोड़ हो गया है और इस प्रकार अनेक पाठ-विकृतियाँ उपस्थित हो गई हैं।

पोस्टगेट अंतरंग विकृतियों को लिपिकार द्वारा की गई विकृति मानते हैं। इनका संबंध लेखन-सामग्री से बिलकुल नहीं हैं। ये विभिन्न प्रकार की होती हैं और इनको कई दृष्टिकोणों से कई वर्गों में बाँटा जा सकता है। जैसे, पाठ-विकृति के मूल में प्रतिलिपिकार की सचेष्टता के आधार पर (क) सहज, (ख) अर्धसचेष्ट और (ग) सचेष्ट। इसी को यदि हम चाहें, तो केवल सहज और सचेष्ट दो ही वर्गों में रख सकते हैं। इसके अतिरिक्त अंतरंग विकृतियों का वर्गीकरण विकृतियों के रूपों के आधार पर भी हो सकता है; जैसे प्रक्षेप, वर्णभ्रम, अंकभ्रम आदि।

पाठ-विकृतियों का एक अन्य वर्गीकरण प्रतिलिपिकार के मनोविज्ञान के आधार पर है। इसमें पाठ-विकृतियों के दो वर्ग किये जाते हैं—दृष्टिप्रमाद (Visual) और मनोवैज्ञानिक (Psychological)। दृष्टिप्रमाद के अंतर्गत पाठह्रास, पाठवृद्धि तथा पाठ-परिवर्त्तन आते हैं। मनोवैज्ञानिक विकृतियों का आधार मस्तिष्क के द्वारा आदर्शमय ढंग से सोचने की प्रवृत्ति में है। इसमें मस्तिष्क अपनी विकृतियों को ठीक-ठीक पढ़ जाता है, अथवा आदर्श के अशुद्ध पाठ को भी अंदाज से ठीक रूप में पढ़ जाता है। ऐसी विकृतियाँ प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की प्रतिलिपि में बहुत हो जाती हैं। यह विकृति इस कारण होती है कि प्रतिलिपिकार प्रतिलिपि करते समय प्रत्येक वर्ण की प्रतिलिपि नहीं करता, वरन् प्रत्येक शब्द अथवा अर्धपंक्ति की प्रतिलिपि करता है।

पाठ-विकृतियों का एक अन्य वर्गीकरण F. W. Hall ने 'कम्पेनियन टु क्लासिकल टेक्स्ट्स' में दिया है। इसमें पाठ-विकृतियों के तीन वर्ग किये गये हैं—

क. भ्रम तथा उनको दूर करने के उपाय; ख. पाठह्रास और ग. पाठवृद्धि।

(क) भ्रम तथा उनको दूर करने के उपायवाले वर्ग के अन्तर्गत हाल ने १३ प्रकार की अशुद्धियों की गणना की है :

१. समान अक्षरों या अक्षर-संबंधी भ्रम। २. समान सादृश्य के कारण शब्दों का गलत लिखा जाना। ३. संकोचों की अशुद्ध व्याख्या। ४. गलत एकीकरण अथवा पृथक्करण। ५. शब्दरूपों का समीकरण और समीपवर्त्ती रचना को आश्रय देना। ६. अक्षरों अथवा वाक्यों का व्यत्यय। ७. संस्कृत का प्राकृत, या भाषा अथवा प्राकृत का संस्कृत में गलत ढंग से प्रतिलिपि होना। ८. उच्चारण-परिवर्त्तन के कारण अशुद्धि। ९. अंकभ्रम। १०. व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में भ्रम। ११. अपरिचित शब्दों के स्थान पर परिचित शब्दों का प्रयोग। १२. प्राचीन शब्दों के स्थान पर नवीन शब्दों का प्रयोग। १३. प्रक्षेप अथवा अज्ञातभाव से की गई भूलों का सुधार।

(ख) पाठ-ह्रास :

१. आदि-अन्त के साम्य के कारण दो अक्षरों या शब्दों में किसी एक का लोप हो जाना और २. किसी प्रकार का साधारण लोप।

(ग) पाठवृद्धि :

१. परवर्त्ती अथवा पार्श्ववर्त्ती सन्दर्भ के कारण पुनरावृत्ति। २ पंक्तियों के बीच अथवा हाशिये पर लिखे पाठ का समावेश। ३. मिश्रित पाठांतर। ४. सदृश लेख के प्रभाव के कारण वृद्धि।

पोस्टगेट के वर्गीकरण के बाद जितने भी वर्गीकरण हैं; उनमें पाठ-विकृतियों के केवल एक ही पक्ष को लिया गया है, जो पोस्टगेट के, अंतरंग विकृतियों के, वर्ग में समाविष्ट हो जाते हैं। इन सभी वर्गीकरणों में बाह्य विकृतियाँ छोड़ दी गईं हैं। उसके अतिरिक्त यह समस्त वर्ग एक दूसरे से पृथक् नहीं है। इनकी सीमाएँ एक-दूसरे से घुली-मिली हुई हैं। इन वर्गीकरणों की यह सबसे बड़ी त्रुटि है।

उपर्युक्त वर्गीकरणों की कमियों को ध्यान में रखते हुए प्रसिद्ध पाठविज्ञानी डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने पाठ-विकृतियों का एक अलग ही वर्गीकरण किया है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार पाठ-विकृतियाँ निम्नलिखित वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं—

१. सचेष्ट पाठ-विकृति, २. लिपिजनित, ३. भाषाजनित, ४. छंदोजनित, ५. प्रतिलिपि-जनित, ६. लेखनसामग्री-जनित, ७. प्रक्षेप-जनित और ८. पाठांतर-जनित।

१. सचेष्ट पाठ-विकृति

इस वर्ग के अन्तर्गत वे समस्त पाठ-विकृतियाँ आ जायेंगी, जिन्हें लिपिकार जान-बूझकर करता है। इस वर्ग की पाठ-विकृति का सबसे रोचक उदाहरण 'श्रावण कुंज' अयोध्या में सुरक्षित 'मानस' की प्रति है। इस प्रति की पुष्पिका में १६९१ (सोलह सौ इक्यानब्बे) तिथि दी हुई थी, जिससे सिद्ध था कि यह प्रति लेखक की मृत्यु के बाद की है और यह लेखक का स्वहस्त-लेख नहीं है। इससे प्रतिलिपिकारों ने इस प्रति को लेखक के स्वहस्त-लेख का महत्त्व दिलाने के लिए इस प्रति की पुष्पिका में दी हुई तिथि को बदल दिया और ६ में ऊपर रेफ लगाकर तथा ९ में ६ के समान रेफ लगाकर और ६ की तरह नीचे का भाग बनाकर तिथि को १६६१ बना दिया। यह पाठ-विकृति सचेष्ट पाठ-विकृति के अंतर्गत आयगी। सचेष्ट पाठ-विकृति के अंतर्गत पाठ-व्यत्यय भी आयगा। यथार्थ में यह पाठ-विकृति पाठह्रास बचाने के कारणस्वरूप आ जाती है। यदि प्रतिलिपि करते समय प्रतिलिपिकार कोई अंश छोड़ जाता है, तो वह छूटे अंश को पन्ने के नीचे या हाशिये में रख देता है तथा जिस स्थल का यह पाठ होता है, वहाँ काकपद बना देता है। अब यदि इस प्रति से प्रतिलिपिकार काकपद न देखे, तो उस अंश को वह दूसरी जगह उतारकर पाठ-व्यत्यय कर देगा। इसके अतिरिक्त यह पाठ-व्यत्यय किसी क्रम को ठीक करने के निमित्त हो जा सकता है। उदाहरणार्थ, 'पद्मावत' में बारहमासे का प्रारंभ प्रचलित रूप में रखने के कारण छंदों का स्थान बदल गया है।

२. लिपिजनित

इस वर्ग के अंतर्गत पाठ-विकृति की एक बड़ी संख्या आती है। इन सब विकृतियों का संबंध लिपि, उसकी विशेषता, लिपि-साम्य, लिपि-प्रज्ञान आदि से होता है। कुछ प्रमुख उदाहरण दिये जा रहे हैं :

(क) **वर्ण-भ्रम**—एक लिपि में कई ऐसे वर्ण रहते हैं, जिनमें भ्रम होने की संभावना है। आधुनिक नागरी-लिपि में ही कुछ वर्णों में भ्रम की अत्यधिक संभावना है। यथा :

म, भ, प, य, घ, ध
ब, व
क, र

'महावीरचरित' से कुछ उदाहरण दिये जाते हैं, जो वर्णभ्रम के कारण हो गये हैं :

स्वस्याय > स्वच्छाय; महादोसो > महादासो; वाक्यनिष्यंद > वाक्यनिष्पंद; कल्पापाय > कल्याणाय।

यदि प्रतिलिपि प्राचीन लिपि से की गई, तब तो भ्रम की और भी अधिक संभावना है। उदाहरणार्थ, पहले उ की मात्रा जैसे आजकल र में लगती है, उसी प्रकार लगाई जाती थी। ऐसी स्थिति में 'मु' को 'झ' पढ़ लेना स्वाभाविक है।

यदि हम किसी अन्य अपरिचित लिपि से प्रतिलिपि कर रहे हैं, और यदि उस लिपि में कुछ ऐसे अक्षर-चिह्न हों, जो हमारी ज्ञात लिपि के अक्षर-चिह्नों से मिलते हों (यद्यपि उनका उच्चारण भिन्न हो), तो इस बात की संभावना है कि हम अपनी ज्ञात लिपि के अक्षर को उन स्थान पर रख दें। शारदा-लिपि से अपरिचित लिपिकार ने १७८३ की कश्मीरी पोथी (महाभारत) में ऐसी ही गलती की थी।

उर्दू-लिपि में तो शोशे नुकते न लगने के कारण बहुत भ्रम होता है और प्रतिलिपिकार भ्रम के क़ारण कुछ-का-कुछ लिख जाते हैं। 'मधुमालती' और 'जायसी-ग्रंथावली' के संपादन में अनेक ऐसी त्रुटियाँ सामने आई हैं। 'मधुमालती' के कुछ उदाहरण :

१. बे को पे समझने के कारण : **बियापिउ** > **पिआपीउ** (मधु० ४४९·७)

२. चे को जीम पढ़ने के कारण : **उचाहा** > **उजाहा** (मधु० ५३५·१)

३. गाफ़ को काफ़ पढ़ने के कारण : **थिगथिग** > **थकथक** (मधु० २९९·५)

(ख) **संक्षिप्त अंशों को गलत समझना**—कभी-कभी दोहा-चौपाई को संक्षिप्त करके दो०, चौ० लिख देते हैं। इसको गलत समझकर अक्सर प्रतिलिपिकारों ने मूल में मिला लिया है।

(ग) **अंकों का भ्रम कर जाना**—कोई अंक किस स्थल पर किसलिए लिखा हुआ है, यह न समझ सकने के कारण भी बहुत भ्रम हुआ है। उदाहरणार्थ, पंचतंत्र का एक प्रति में मोविला ३ लिखा हुआ है। यह ३ प्लुत का चिह्न है। इसे न समझ सकने के कारण प्रतिलिपिकार तीन बार मोविला, मोविला, मोविला लिख गया है।

(घ) **लिपिसाम्य के कारण वर्ण, शब्द तथा पंक्ति की हानि**—यह एक अत्यंत स्वाभाविक पाठ-विकृति है। इस प्रकार की विकृतियाँ हम प्रतिदिन के लेखों में किया करते हैं। उदाहरणार्थ, मानस की पंक्तियाँ—

जलधि अगाध मौलि बह फेनू > जल अगाध मौलि बह फेनू।

राम कृपा ते पारबति > रामकृपारबति। यहाँ 'तेपा' छूट गया है।

मरकत कनक बरन बरजोरी > मरकत कनक बरजोरी । यहाँ 'नबर' छूट गया है ।

(ङ) चिह्न का पाठ में स्वीकार—राजस्थानी प्रतियों में इस प्रकार की विकृतियाँ हुई हैं । उदाहरणार्थ, राजस्थानी-ग्रन्थों में हाइफन का चिह्न खड़ी पाई है । इसे आकार की मात्रा में लिया गया है । झल । हल = झलाहल ।

(च) उच्चारण-भिन्नता के कारण—जैसे, ऋषि > रिशि, षडानन > खडानन, नयन > नैन, बयन > बैन । इस बात को न जानने पर दूसरी लिपि में पाठ उतारने से भ्रम की संभावना है ।

(छ) एक शब्द का दो बार लिख जाना—प्रतिलिपि में इस प्रकार की भी अनेक विकृतियाँ मिलती हैं, जिनमें शब्द, वर्ण तथा पंक्तियों की पुनरुक्ति हो गई है । उदा० हास्य-रूपेण शंकरः > हास्य हास्य रूपेण शंकरः । इसी प्रकार, 'मानस' में अनेक त्रुटियाँ हुई हैं ।

(ज) सदृश या असदृश पर्यायों अथवा विपर्ययों का स्थानान्तरण—इस विकृति के उदाहरण हैं—

> शशि पोषक सोषक समुझि > शशि सोषक पोषक समुझि ।
> सुमिरत समन सकल जगजाला > सुमिरत सकल समन जगजाला ।

'कबीर-ग्रन्थावली' में इस विकृति के बड़े रोचक उदाहरण मिलते हैं । इस विकृति का एक उदाहरण 'पद्मावत' में दोहा १५३ की दूसरी पंक्ति का पाठ है—

> आगि जो उपनी ओहि समुंदा । लंका जरी ओहि एक बुन्दा ।।
> बिरह जो उपना ओह हुत जाढ़ा । खिन न बुझाय जगत तस बाढ़ा ।।

पाँच-छह हस्तलिखित प्रतियों में 'आगि जो उपनी' तथा 'बिरह जो उपना' और 'गाढ़ा बाढ़ा' शब्दों को स्थानान्तरित कर दिया गया है । फलस्वरूप, उक्त दोनों पंक्तियों का पाठ इस प्रकार हो गया—

> बिरह जो उपना ओहि समुंदा । लंका जरी ओहि एक बुंदा ।।
> आगि जो उपनी ओह हुत बाढ़ा । खिन न बुझाय जगत तस गाढ़ा ।।

३. भाषाजनित

इस वर्ग में भाषा को सुधारने तथा भाषा के कारण होनेवाली सभी विकृतियाँ आती हैं । इस वर्ग के मुख्यतया तीन उपवर्ग किये जा सकते हैं :

(क) शब्दों का गलत विभाजन—हिंदी में लिपिकार शब्द सटा-सटाकर लिखते थे । आजकल की प्रणाली के अनुसार यदि प्रतिलिपिकार अथवा कोई अन्य संपादक इसे अलग-अलग करके लिखना चाहे, तो संभावना है, वह शब्दों का गलत विभाजन कर जा सकता है । उदाहरणार्थ, तिआगी > ते आगे । इस प्रकार की विकृति कबीर के पाठ में बहुत हुई है ।

कुछ उदाहरण :

१. जा बन में की लाकड़ी
दाझत है बन सोई
} जा बन में कीला करी
दाझत है बन सोई

२. ऊँडा चित अरू सम दसा
साधू गुन गंभीर
} ऊँडा चित अरु समंद सा
साधू गुन गंभीर

(ख) शब्दों को तत्सम रूप देना—इस विकृति का दायित्व पंडित-वर्ग पर है। पंडित-वर्ग ने तद्भव शब्दों को तत्सम बनाकर बहुत पाठ-विकृति की है। जैसे : समुंद > समुद्र, नैन > नयन।

(ग) भाषा को सुधारने के लिए शैली को टकसाली बनाना—इसमें अप्रचलित शब्दों को हटाकर प्रचलित शब्द रख दिये जाते हैं।

४. छंदोजनित

इसमें यदि कवि के छंदों में मात्रा आदि अधिक रहती है, तो उसे सुधारकर यति को ठीक करने का प्रयत्न किया जाता है। जायसी के अधिकांश दोहों में ऐसी ही विकृतियाँ हुई हैं। उदाहरणार्थ, जायसी का एक छंद—

सेवरा खेवरा बान परस्ती, सिध साधक अवधूत।
आसन मारि बैठ सब जारि आतमा भूत॥ (पद्मावत, ३०)

यहाँ प्रथम चरण में मात्राधिक्य है, जिससे छंदोदोष होता है। इस छंदोदोष को हटाने की इच्छा से प्रतिलिपिकारों ने 'बान परस्ती' के स्थान पर 'बान पर' और कहीं 'बान सिख' कर पाठ-विकृति की है।

५. प्रतिलिपि-जनित

प्रतिलिपि करते समय सहज रूप से अक्षर-लोप, शब्द अथवा पंक्ति का दुहरा जाना इसमें आता है। प्रतिलिपि करते समय हाशिये की वस्तुओं का समावेश भी इसमें आ जाता है। उदाहरणार्थ, बाढ़हि असुर अधम अभिमानी > बाढ़हि असुर अधरम अभिमानी।

६. लेखनसामग्री-जनित

इसके अंतर्गत पोस्टगेट के External Corruptions आयेंगे। प्रति का प्रयोग करते-करते टूट जाने के कारण विकृति, और स्याही फैल जाने, या मिट जाने के कारण या कीट-विद्धता के कारण हुई विकृतियाँ इसी वर्ग के अंतर्गत आयेंगी। बीसलदेवरास की प्रति के पन्ने उलट-पुलट जाने के कारण हुई विकृति इसी के अंतर्गत आयेगी।

७. प्रक्षेप-जनित

'प्रक्षेप' का अर्थ है 'पॉलिश'। यह पाठ-विकृति पाठ को और अधिक चमत्कृत करने की दृष्टि से की जाती है। इसमें किसी वर्णन को विस्तार देने की प्रवृत्ति रहती है। उदाहरणार्थ, रासो में आखेट-युद्ध आदि के वर्णन में प्रक्षेप-वृत्ति है। पद्मावत में भी पकवान और नारियों आदि के वर्णन को प्रतिलिपिकारों ने बढ़ा-चढ़ाकर लिखा है।

८. पाठांतर-जनित

यह पाठ-विकृति दूसरी प्रतियों के पाठांतरों को आदर्श मानकर अपने पाठ को शुद्ध करने के कारण होती है। यह पाठांतर अधिकतर हाशिये में रहते हैं, अतः यह भी मूलपाठ में मिला लिये जाते हैं। इस विकृति से अक्सर मिश्रित प्रतियों का निर्माण होता है।

उपर्युक्त विवेचन में पाठ-विकृतियों की परिभाषा, कारण तथा वर्गीकरण पर विचार के बाद पाठ-विकृतियों के ही आधार पर पाठालोचक प्रतियों का पाठ-संबंध निर्धारित कर कवि के मूल पाठ तक पहुँचने का जो प्रयत्न करता है, उसका विवेचन दिया जा रहा है।

पाठालोचन में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य प्रतियों का पाठ-संबंध-निर्धारण है। प्रतियों का पाठ-संबंध एक बार जान लेने पर पाठ-समस्या एक बड़ी सीमा तक सुलझ जाती है। प्रतियों का पाठसंबंध-निर्धारण, प्रतियों का वंशवृक्ष-निर्माण करके किया जाता है। प्रतियों का यह पाठसंबंध-निर्धारण हम विकृतियों के माध्यम से करते हैं।

प्रतियों के वंशवृक्ष-निर्माण या पाठसंबंध-निर्धारण की पद्धति को समझने के पूर्व आवश्यक है कि हम प्रतियों की विकास-प्रक्रिया को समझ लें। यह हमने पहले कहा कि आज हमें मूल ग्रंथ प्राप्त नहीं हैं, वरन् प्रतिलिपियों की प्रतिलिपियाँ प्राप्त हैं और ऐसी प्रतिलिपियाँ कभी पाठशुद्धता में अपने आदर्श की बराबरी नहीं कर सकती हैं। इनमें पाठ-विकृतियों का आ जाना नितान्त स्वाभाविक है। प्रतिलिपियों की प्रतिलिपियाँ पाठ-शुद्धता में उत्तरोत्तर मूल पाठ से दूर होती जाती हैं और आज हमें ऐसी ही अन्तिम प्रतिलिपियाँ मिलती हैं, जिनमें अनेक पाठ-विकृतियाँ हैं और उन्हीं के आधार पर हमें मूल पाठ-निर्माण करना है। प्रतियों के विकास-क्रम को यदि उदाहरण से स्पष्ट करें, तो विषय और स्पष्ट होगा

कल्पना कीजिए, 'क' एक ग्रंथ की मूल-प्रति है। इसकी चार प्रतिलिपियाँ ख, ग, घ और ङ की गईं। ये प्रतिलिपियाँ भिन्न-भिन्न प्रतिलिपिकारों ने समय-समय पर कीं। फलस्वरूप, प्रत्येक प्रतिलिपि में अपनी विशेष अशुद्धियाँ आ जायेंगी। जैसे—
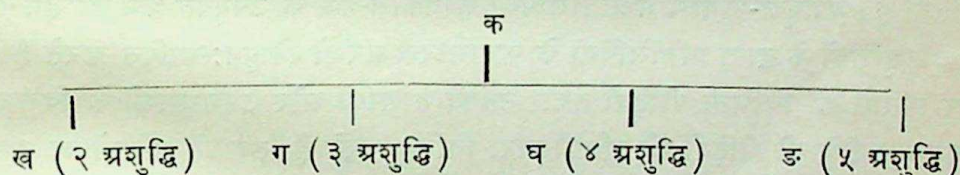
अब यदि हम मान लें कि 'ख' प्रति से तीन प्रतिलिपिकारों ने अलग-अलग समय पर एक-एक प्रति, 'ग' से किन्हीं दूसरे प्रतिलिपिकारों ने दो प्रतिलिपि तथा घ से किसी एक प्रतिलिपिकार ने एक प्रतिलिपि की। इनके नाम क्रमशः च, छ, ज; ञ, ट; तथा ठ हैं। इनमें प्रत्येक प्रतिलिपि में अपने आदर्श के पाठ के साथ-साथ प्रतिलिपि की कुछ नई अशुद्धियाँ आ ही जायेंगी। इस प्रकार, प्रत्येक प्रति में अपनी अशुद्धियों के अतिरिक्त अपने आदर्श की भी अशुद्धि रहेगी। इस विकास-क्रम को निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है —
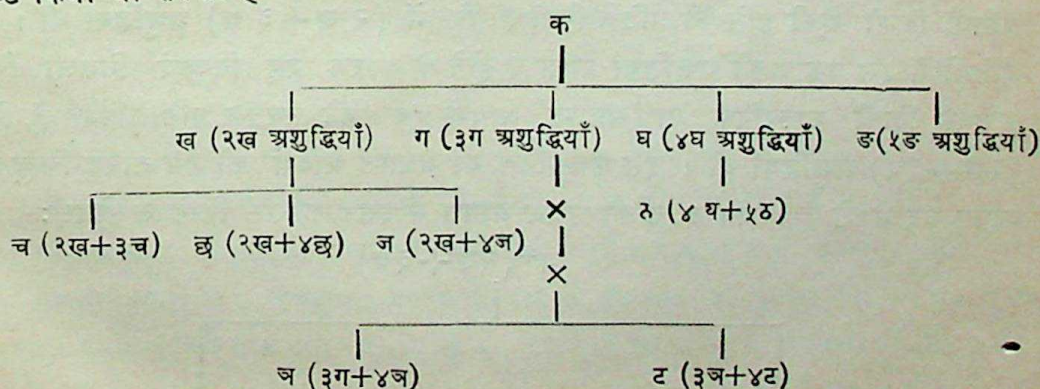
प्रतियों के विकास-क्रम की इस दूसरी पीढ़ी में सभी प्रतियों में अपने उपादर्श 'ख' अथवा 'ग' अथवा 'घ' की अशुद्धियाँ तथा अपनी नवीन अशुद्धियाँ आ गईं। प्रतियों के विकास की तीसरी पीढ़ी में अथवा उत्तरोत्तर का पीढ़ी-दर-पीढ़ियों में अशुद्धियों की संख्या बढ़ती ही जायगी और सभी में अपनी-अपनी अशुद्धियों के अतिरिक्त अपने आदर्श की सभी अशुद्धियाँ आ जायेंगी :
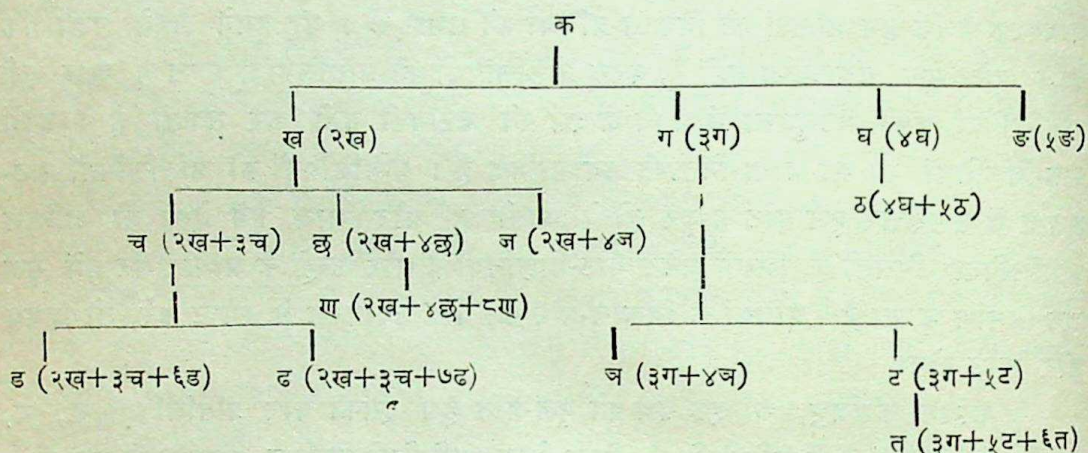
आज हमें ऐसी ही पीढ़ी-दर-पीढ़ियों की प्रतियाँ मिलती हैं, जिनके पाठों में अनेक विकृतियाँ हैं। वंशवृक्ष-निर्माण में प्रतिलिपियों के विकास-क्रम के उपर्युक्त क्रम को हम नीचे से समान अशुद्धियों के द्वारा प्रतिलिपियों के पारस्परिक संबंधों को पुनःस्थापित करते हैं। इस प्रकार प्रतियों की विभिन्न पीढ़ियों तथा उनकी शाखाओं और उपशाखाओं के विकास-क्रम को जब हम नीचे की पीढ़ियों की प्रतियों द्वारा निर्मित करते हैं, तब इसे प्रतियों का वंशवृक्ष-निर्माण कहते हैं। इस वंशवृक्ष के निर्माण के द्वारा हम मूल पाठ की निकटतम पाठ-स्थिति की तथा स्वतंत्र शाखाओं की प्रतियों को छाँटकर मूल पाठ का निर्धारण कर पाते हैं।

अब मान लीजिए, हमारे पास ड, ढ, ण, छ, ज; त, ट, ञ; घ, ठ, ङ; ये ग्यारह प्रतियाँ हैं और इनका पाठ-संबंध स्थापित करना है। पाठसंबंध-निर्धारण करने लिए सर्वप्रथम हम इनकी पाठ-विकृतियों को मिलायेंगे। इन प्रतियों को मिलाने पर ज्ञात होता है कि ड, ढ प्रतियों में समानता है। इनमें (२ ख + ३ च) अशुद्धियाँ समान हैं; पर इनके अतिरिक्त ६ ड और ७ ढ अलग-अलग अशुद्धियाँ हैं। इससे यह निष्कर्ष निकला कि ये प्रतियाँ किसी ऐसी प्रति की प्रतिलिपियाँ हैं, जिनमें (२ ख + ३ च) अशुद्धियाँ थीं। अन्य प्रतियों में इस प्रकार की अशुद्धियाँ प्राप्त न होने के कारण यह निष्कर्ष निकला कि ये प्रतियाँ किसी काल्पनिक या अप्राप्त आदर्श 'च' की स्वतंत्र प्रतिलिपियाँ हैं, जिनमें (२ख + ३च) अशुद्धियाँ थीं। इस काल्पनिक या अप्राप्त आदर्श को हम तारक-चिह्न द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। अब ड, ढ का संबंध आपस में इस प्रकार से निश्चित होगा :
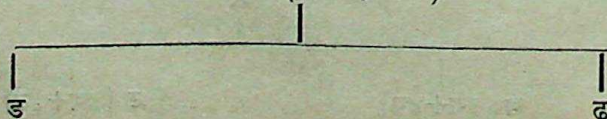
इसी प्रकार छ ण, ट, त, घ और ठ प्रतियों के पाठ-विकृतियों को मिलाने पर मालूम पड़ा कि ण, त, ठ में क्रमशः छ, ट, घ की सभी पाठ-विकृतियाँ मिलतीं है, जबकि ण, त, ठ की अशुद्धियाँ छ, ट, घ में नहीं मिलतीं। इससे तात्पर्य यह निकला कि ण, छ की; त, ट की तथा ठ, घ की प्रतिलिपि है और इनका संबंध निम्नांकित रूप में हुआ :

कल्पित आदर्श च*, छ, ज के पाठ के मिलाने पर पता चलता है कि सभी में कुछ समान अशुद्धियाँ (२ ख) हैं। पर, इसके अतिरिक्त सबमें अपनी-अपनी अलग अशुद्धियाँ भी हैं, जो औरों में नहीं हैं। इससे सिद्ध होता है कि इनमें समान अशुद्धियाँ किसी अन्य प्रति से आई हैं और ये परस्पर उसी प्रति से संबद्ध हैं। अन्य प्राप्त प्रतियों में यह समान अशुद्धियाँ नहीं हैं, अतः वे इनसे अलग हैं। अब ड, ढ, ण, छ, त, ट, घ, ठ और च* का निम्नांकित संबंध बना। ख* भी अप्राप्त प्रति है। इसका निर्माण च* छ तथा ज उपशाखाओं द्वारा होगा।
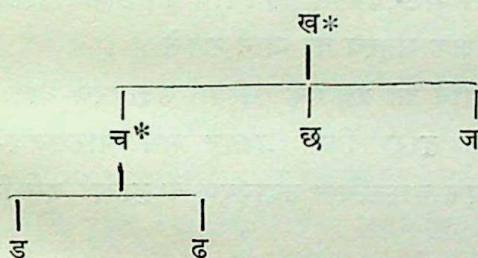
प्रति 'ञ', 'ट' तथा 'त' में हम देख ही चुके हैं कि 'ट' की प्रतिलिपि त है, पर 'ट' और 'ञ' आपस में एक-दूसरे की प्रतिलिपियाँ नहीं हैं; क्योंकि न तो 'ट' में 'ञ' की समस्त विकृतियाँ मिलती हैं और न 'ञ' में 'ट' की; किन्तु 'ञ' और 'ट' दोनों में ही कुछ सामान्य अशुद्धियाँ (३ ग) प्राप्त हैं। इससे यह पता चलता है कि 'ञ' और 'ट' किसी एक आदर्श की प्रतिलिपियाँ हैं, जो अब प्राप्त नहीं है। यह काल्पनिक आदर्श 'ग' हुआ।
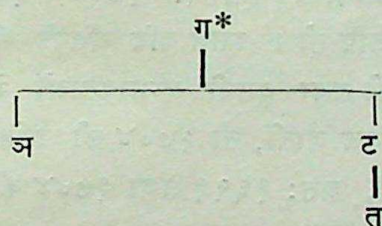
घ और ठ का संबंध हम देख ही चुके हैं कि ठ घ की प्रतिलिपि है।

ङ का अन्य प्रतियों से मिलान करने पर कोई समानता नहीं मिलती, अतः वह एकदम स्वतंत्र लगती है। उपर्युक्त प्रकार के पाठ से हम ख, ग, घ, ङ तक के पाठ तक पहुँच गये। इनके अंतिम बार पाठ-मिलान से हम देखते हैं कि सभी में अपने-अपने प्रकार की

अशुद्धियाँ हैं, जो सभी में नहीं मिलतीं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन चारों का संबंध स्वतंत्र रूप से मूल प्रति क* से है और इनकी सहायता से उसका पाठ प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार ड, ढ, छ, ण, ज, ञ, ट, त, घ, ठ, ङ प्रतियों का पाठ-संबंध पाठ-विकृतियों के आधार पर निम्नलिखित वंशवृक्ष के रूप में दिखाया जा सकता है।
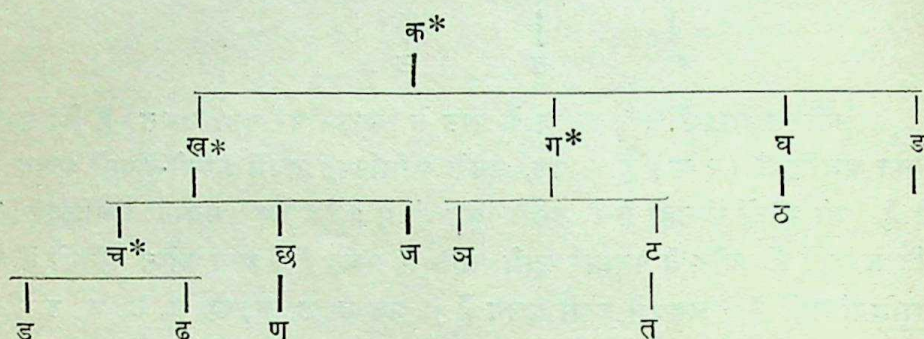
इस वंशवृक्ष के निर्माण के द्वारा हम मूल ग्रंथ के पाठ तक पहुँच सकते हैं। यह क्रिया 'क' की प्रतिलिपि के द्वारा पाठ-विकास की विधि की ठीक उल्टी है। इस वंशवृक्ष के द्वारा ही हम प्रतियों के सापेक्षिक महत्त्व को जान सकते हैं।

पाठ-संबंध-प्रक्रिया समझाने का यह एक कल्पित उदाहरण था, जिसके माध्यम से हमने देखा कि पाठ-विकृतियों के द्वारा किस प्रकार हम पाठसंबंध-निर्णय कर कवि के मूल तक पहुँचते हैं। अब हम एक वास्तविक उदाहरण के द्वारा इस विधि को और स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

'मानस' की यथासंकेतित प्रतियाँ प्राप्त हैं—१. सं० १६९१, २. सं० १७०४, ३. सं० १७८१, ४. सं० १७६२, ५. छक्कनलाल-समूह, ६. मिर्जापुर-समूह, ७. कोदवराय और ८. स्फुट प्रतियाँ।

इन प्रतियों में सं० १६९१ तथा सं० १७०४ की प्रतियों में यथेष्ट अशुद्धि-साम्य है। ऐसी स्थिति में तीन बातें हो सकती हैं— १. १६९१, और १७०४ की प्रतियाँ सामान्य आदर्श की प्रतिलिपि हों, २. १७०४, १६९१ की प्रतिलिपि हो या ३. १६९१, १७०४ की प्रतिलिपि हो। इसमें यदि प्रतियों की तिथि ठीक है, तो तीसरी संभावना असम्भव है। पहली तथा दूसरी सम्भावनाओं में यदि १७०४ की प्रति में १६९१ की समस्त अशुद्धियाँ मिल जातीं, तो १७०४ की प्रति १६९१ की प्रतिलिपि हो सकती थी। किन्तु, ऐसा नहीं है, अतः १६९१ तथा १७०४ की प्रति एक अप्राप्य आदर्श की प्रतिलिपि है।

इसी प्रकार सं० १७२१ तथा सं० १७६२ की प्रतियों के मिलान से हम देखते हैं कि सं० १७६२ की प्रतिलिपि में सं० १७२१ की प्रति की समस्त अशुद्धियों के अतिरिक्त अपनी अशुद्धियाँ भी हैं, जबकि सं० १७२१ की प्रति के संबंध में यह स्थिति नहीं हैं; अतः सिद्ध है कि सं० १७२१ की प्रति सं० १७६२ की प्रति की प्रतिलिपि है।

पुनः सं० १६९१ तथा सं० १७०४ के सामान्य आदर्श की तथा १७२१।१७६२ की उपशाखा में भी अशुद्धि-साम्य मिलता है। ऐसी स्थिति में पुनः पिछली प्रकार की तीन संभावनाएँ हो सकती हैं।

किन्तु, कोई भी गण एक-दूसरे की प्रतिलिपि सिद्ध नहीं होता; क्योंकि दोनों में सामान्य अशुद्धियों के अतिरिक्त भी अशुद्धियाँ हैं। अतः, इनका संबंध एक अप्राप्य आदर्श से है, जिसे इस प्रकार दिखा सकते हैं :
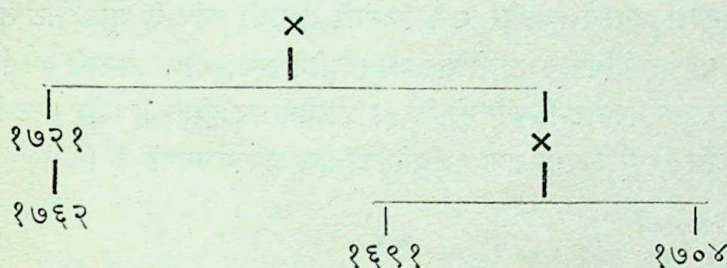
यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि इन प्रतियों का सामान्य आदर्श मूलग्रंथ हो। किन्तु, यह संभव नहीं; क्योंकि इस आदर्श में ऐसी अशुद्धियाँ (पंक्तियों का छूट जाना) हैं, जिन्हें कवि नहीं कर सकता; अतः यह मूलादर्श नहीं है।

इसके बाद छक्कनलाल, मिर्जापुर-समूह की प्रतियाँ आती हैं। इन प्रतियों में तथा उपर्युक्त चार प्रतियों में कोई प्रतिलिपि-संबंध नहीं है, अतः पाठांतर के आधार पर यह स्वतंत्र शाखा की कही जा सकती हैं। छक्कनलाल तथा मिर्जापुर-समूह की प्रतियों में एक सामान्य आदर्श से संबद्ध प्रतिलिपि है। इसी प्रकार, कोदवराय तथा स्फुट समूह की प्रतियों की भी अलग-अलग शाखा पाठांतर के आधार पर बनती है।

इन समस्त शाखाओं का संबंध पाठांतर के आधार पर इस प्रकार है—
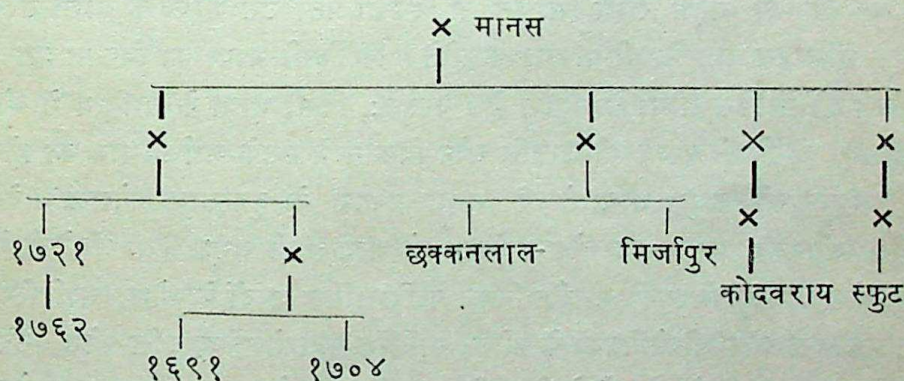
इसी प्रकार यदि प्राप्त प्रतियों में प्रक्षेप-संबंधी पाठ-विकृतियाँ बहुत हैं, तो हम प्राप्त प्रतियों का पाठ-संबंध प्रक्षेपों के आधार पर भी कर सकते हैं। इस प्रकार के संबंध के आधार पर हम विभिन्न शाखाओं के उस आदर्श पर पहुँचेंगे, जो मूलादर्श से नीचे का होगा। जिन प्रतियों में यह संबंध नहीं होगा, वे स्वतंत्र शाखा की होंगी तथा पाठांतर के अनुसार वे मूलग्रंथ से सम्बद्ध होंगी। इसके अतिरिक्त हमें यह भी देखना होगा कि एक

शाखा की प्रतियों में प्रतिलिपि-संबंध है कि नहीं। यदि यह प्रतिलिपि-संबंध भी मिलता है, तो उसके अनुसार उस शाखा की प्रतियों की स्थिति के विषय में और अधिक निश्चित हो जायेंगे। डॉ० गुप्त ने पद्मावत की प्रतियों का संबंध-निर्धारण, प्रतिलिपि, प्रक्षेप तथा पाठांतर तीनों आधार पर किया है।

उपर्युक्त समस्त विवेचन से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि पाठ-विकृतियों का वंशवृक्ष-निर्माण में कितना महत्त्व है। वंशवृक्ष बन जाने पर पाठालोचक को ज्ञात हो जाता है कि किस प्रति का कितना महत्त्व है और उसे कितनी सामग्री कवि के मूल पाठ तक पहुँचा सकती है। वंशवृक्ष बन जाने पर पाठालोचक महत्त्वहीन तथा गौण सामग्री का निराकरण कर देता है। यह सारा कार्य पाठ-विकृतियों के ही आधार पर होता है और पाठ-विकृतियों की सहायता से ही कवि के मूल पाठ तक पहुँचने का हम प्रयत्न करते हैं।

●●

४२२, नया मुट्ठीगंज
जमुना स्कूल के समीप, इलाहाबाद—३

हिन्दी में कोश-निर्माण की समस्याएँ

प्रो० श्रीगोपाल राय

कोश-ग्रन्थ किसी भी भाषा की समृद्धि के वास्तविक मानदंड होते हैं। भाषा की शब्द-सम्पत्ति कितनी महार्घ है, उसकी साहित्यिक इयत्ता कितनी व्यापक है, उसमें ज्ञान-विज्ञान की कितनी बड़ी राशि संचित है, इसका पता उस भाषा के कोशों से ही चल सकता है। कोश इस बात के भी परिचायक होते हैं कि किसी भाषा का विकास व्यापक और विविध दिशाओं में किस सीमा तक हुआ है। वस्तुतः, किसी भाषा के साहित्य में कोशों का वही स्थान है, जो किसी राज्य की उन्नति और विकास में उसके अर्थ-विभाग का होता है। इसलिए, संसार की समृद्ध भाषाओं में नाना प्रकार के बृहत्काय कोश-ग्रंथ देखने को मिलते हैं। अँगरेजी भाषा का कोश-साहित्य तो अत्यन्त ही समृद्ध है। अँगरेजी में नाना प्रकार के कोश, जैसे विश्वकोश, वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों के कोश, साहित्यिक पदों के कोश, मुहावरों और लोकोक्तियों के कोश, साहित्य-महाकोश, व्युत्पत्ति-कोश, संसार की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं के अँगरेजी-पर्याय बतानेवाले कोश, सामान्य शब्दकोश आदि पाये जाते हैं। रूसी, जर्मन, फ्रेंच, जापानी आदि भाषाओं में भी कोश-साहित्य का प्राचुर्य दिखाई पड़ता है।

कोश-निर्माण की समस्या बहुकोणात्मक है। हिन्दी-भाषा को समृद्ध बनाने के लिए ऐसे शब्दकोशों के निर्माण की आवश्यकता है, जिनकी सहायता से हम विश्व की विभिन्न भाषाओं में प्राप्त ज्ञानराशि को हिन्दी में ला सकें। यहाँ स्थिति यह है कि अन्य भाषाओं

की बात तो अलग रहे, अँगरेजी-हिन्दी और हिन्दी-अँगरेजी का भी सर्वथा निर्दोष कोश हिन्दी में सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। 'भार्गव अँगरेजी-हिन्दी-कोश', 'द ओथेण्टिक सीनियर डिक्शनरी' (एंग्लो-हिन्दी) जैसे दो-एक कोश हिन्दी में विद्यमान तो हैं; किन्तु ये आज की आवश्यकता को देखते हुए संतोषजनक नहीं कहे जा सकते।

अँगरेजी-हिन्दी कोश के दो प्रकार हैं। एक सामान्य कोश और दूसरा पारिभषिक कोश। हिन्दी में इस तरह के उत्तम अँगरेजी-हिन्दी-कोशों की नितांत आवश्यकता है। इस दिशा में श्रीरामचन्द्र वर्मा ने अपनी 'हिन्दी-कोश-रचना' नामक पुस्तक में कुछ उत्तम सुझाव दिये हैं। उन्होंने ठीक ही प्रतिपादित किया है कि इस प्रकार के अँगरेजी-हिन्दी-कोश के निर्माण के लिए शब्दों के व्यक्तित्व और प्रकृति का महत्त्व समझना अनिवार्य है। शब्दों के व्यक्तित्व का ज्ञान हमें तबतक नहीं हो सकता, जबतक हम उसकी आत्मा और प्रकृति को न पहचानें। अच्छे कोशकार को शब्द के मुख्य अर्थ, आशय, मूल्य और वजन को समझकर दूसरी भाषा से उसका समानार्थी ढूँढ़ना पड़ता है। अतः, इस तरह का कोश-निर्माण-कार्य दोनों भाषाओं के गहन और व्यापक ज्ञान की अपेक्षा रखता है।

प्रायः सभी समृद्ध भाषाओं में शब्दों के अनेकानेक परिवार होते हैं और एक परिवार के विभिन्न शब्द ऊपर से समानार्थी प्रतीत होते हुए भी विभिन्न अर्थच्छाया प्रदान करते हैं। कोश-निर्माण में इन सूक्ष्म अर्थभेद रखनेवाले शब्दों को पहचानना अत्यन्त आवश्यक होता है। एक परिवार के ऐसे अनेकानेक शब्दों के लिए हिन्दी में आज प्रयोग करने वालों को उपयुक्त पयार्यवाची शब्द नहीं मिल पाते। प्रायः ऐसा भी होता है कि भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक अँगरेजी शब्द के लिए भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द स्थिर कर लेते हैं, जिससे भाषा में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस समस्या के समाधान के लिए आज प्रामाणिक अँगरेजी-हिन्दी-कोश की बड़ी जरूरत है। डॉ० हरदेव बाहरी ने, हाल में, एक बृहद् अँगरेजी-हिन्दी-कोश का निर्माण किया है, जो हिन्दी के वर्त्तमान कोशों की त्रुटियों से रहित है तथा हिन्दी में वर्त्तमान आवश्यकताओं के अनुरूप है। इस कोश के द्वारा एक उल्लेखनीय अभाव की पूर्त्ति हुई है, यह निर्विवाद है। किन्तु, आवश्यकता की तात्कालिक पूर्त्ति हो जाने पर भी इस क्षेत्र में प्रयास का द्वार बिलकुल बन्द हो गया, ऐसा नहीं समझना चाहिए। डॉ० बाहरी के कोश में एक अँगरेजी शब्द के अनेक हिन्दी-पर्याय विना उनके सूक्ष्म अर्थभद का ध्यान रखे दे दिये गये हैं। प्रस्तावित कोश को इस दोष से रहित होना चाहिए। इस बृहद् अँगरेजी-हिन्दी-कोश को ऐसा होना चाहिए, जिसमें अँगरेजी के सभी मुहावरों, लोकोक्तियों, जटिल वाक्य-खण्डों आदि के सटीक हिन्दी-पर्याय उपलब्ध हो सकें।

हिन्दी में इस ढंग के कोश-निर्माण का कार्य सरकार द्वारा अनुदान-प्राप्त किसी संस्था के तत्त्वावधान में होना चाहिए; क्योंकि अब एक व्यक्ति द्वारा कोश-निर्माण के दिन लद गये। कोश-निर्माण का कार्य बड़ा कठिन और व्ययसाध्य होता है। वेब्स्टर-शब्दकोश (अँगरेजी) का निर्माण २५ सम्पादक, ९ सहायक सम्पादक और २०७ विशेष सम्पादकों ने कई वर्षों तक लगातार परिश्रम करके किया था, जो सन् १९२४ ई० में १३ लाख

डालर के व्यय से तैयार हुआ। नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) अथवा बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद् जैसी संस्थाओं द्वारा ही ऐसे कार्य की पूर्त्ति कराई जा सकती है।

पारिभाषिक शब्दकोश-निर्माण की समस्या सम्प्रति एक विवाद्य विषय बन गई है। अँगरेजी-प्रेमी विद्वानों का एक ऐसा वर्ग, है जो अन्तरराष्ट्रीयता के नाम पर अँगरेजी के पारिभाषिक शब्दों को ज्यों-का-त्यों हिन्दी में प्रयुक्त करने का अभिलाषी है। उदारता का यह उदाहरण संसार में अकेला है। विश्व की कोई भी भाषा ऐसी नहीं है, जिसके सारे-के-सारे पारिभाषिक शब्द किसी विदेशी भाषा से ले लिये गये हों।

हिन्दी की अपनी पारिभाषिक शब्दावली हो, यह एक युक्तिसंगत माँग है। इस क्षेत्र में कतिपय व्यक्तिगत और संस्थागत प्रयोग किये भी गये हैं। उदाहरणतः, महापंडित राहुल सांकृत्यायन का 'शासन-शब्दकोश' श्रीसुखसम्पत्ति राय भंडारी का 'दि ट्वेंटिएथ सेंचुरी इंगलिश हिन्दी डिक्शनरी', ऑल इण्डिया रेडियो द्वारा प्रकाशित 'एयरलेक्सिकन' आदि। पर, इस दिशा में अबतक जितने प्रयत्न हुए हैं, उनमें सबसे अधिक व्यापक और विराट् आयोजन डॉ० रघुवीर का है। उन्होंने अनेक विद्वानों की सहायता से एकाधिक शब्दकोश, जैसे—A Dictionary of Administrative Terms, An Elementary English-Indian Dictionary, A Consolidated Great English-Indian Dictionary, Hindi-English Dictionary of Technical Terms, A Dictionary of Statistics, A Glossary of Logic आदि तैयार किये। इन कोशों के शब्दों का चयन और निर्माण प्राचीन साहित्य की छान-बीन, भाषाविज्ञान तथा व्याकरण के सिद्धान्तों और संस्कृत-शब्दों के आधार पर इस रूप में हुआ है कि वे न केवल हिन्दी, किन्तु समस्त भारतीय भाषाओं में व्यवहृत हो सकते हैं। यद्यपि डॉ० रघुवीर के पारिभाषिक कोश की आलोचना विविध रूपों में की गई है, किन्तु इससे उसके महत्त्व में कोई कमी नहीं आती। इधर सरकारी प्रयत्न से भी दिल्ली में पारिभाषिक शब्दकोश का निर्माण किया जा रहा है; किन्तु उसके जो कुछ थोड़े से अंश प्रकाशित हुए हैं, वे हमें विशेष आशान्वित नहीं करते। इसमें शब्द-निर्माण के संबंध में जो सैद्धान्तिक मनमानी बरती जा रही है, वह डॉ० रघुवीर के शब्दकोश में अपवादस्वरूप ही दिखाई पड़ती है। मेरी निश्चित धारणा है कि कुछ अल्प परिवर्त्तन और परिष्कार से डॉ० रघुवीर का कोश हिन्दी का आदर्श पारिभाषिक कोश हो सकता है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत का संबंध संसार के उन देशों के साथ भी घनिष्ठतर होता जा रहा है, जहाँ की भाषा अँगरेजी नहीं है और ज्यों-ज्यों उन देशों से इसका राजनीतिक और सांस्कृतिक संपर्क बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों साहित्य तथा भाषाविषयक आदान-प्रदान की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही है। भारत के लोगों के मन में व्यर्थ ही यह भ्रम घर कर गया है कि ज्ञान-विज्ञान का सारा भांडार केवल अँगरेजी में है। पर, बात ऐसी नहीं है। यदि ऐसी बात है, तो प्रतिवर्ष संसार की अन्यान्य भाषाओं में लिखित असंख्य पुस्तकों के अँगरेजी में अनुवाद करने की क्या आवश्यकता थी? संसार

की अन्य समृद्ध भाषाओं—विशेषत: रूसी, जर्मन, फ्रेंच, जापानी आदि में भी प्रतिवर्ष काव्य, दर्शन और ज्ञान-विज्ञान की ऐसी उत्तम पुस्तकें रची जाती हैं, जिनके अनुवाद से हिन्दी लाभान्वित हो सकती है। किन्तु, इस प्रकार के अनुवादों का सबसे उपयोगी साधन हैं—शब्दकोश। इसलिए, संसार की प्रमुख भाषाओं के शब्दों के हिन्दी-पर्याय बतानेवाले शब्दकोशों की आज नितांत आवश्यकता है। सम्प्रति, हिन्दी में अँगरेजी के और 'रूसी-हिन्दी-शब्दकोश' के अतिरिक्त संसार की अन्य किसी भाषा का कोश उपलब्ध नहीं है।

विदेशी भाषा के शब्दों के हिन्दी-पर्याय बतानेवाले कोशों के साथ-साथ ऐसे कोशों के निर्माण की भी आवश्यकता है, जो हिन्दी-शब्दों के हिन्दीतर पर्याय बता सकें। जैसे : हिन्दी-अँगरेजी, हिन्दी-रूसी, हिन्दी-फ्रेंच, हिन्दी-जर्मन, हिन्दी-जापानी, हिन्दी-चीनी आदि-आदि शब्दकोश। इससे विदेशियों को हिन्दी सीखने में तथा भारतीयों को विदेशी भाषानुवाद में बड़ी सुविधा होगी। इस प्रकार के कोशों से विश्व की अन्यान्य भाषाओं से हिन्दी का घना सम्पर्क स्थापित होने में सहायता मिलेगी।

हिन्दी को राजभाषा के दायित्व के लिए अन्य क्षेत्रीय भाषाओं से सम्पर्क स्थापित करना आवश्यक है। इसके लिए आवश्यक है कि इन सभी क्षेत्रीय भाषाओं के हिन्दी-पर्याय और इसके विपरीत अर्थ बतानेवाले कोश तैयार किये जायँ। इस दिशा में उल्लेखनीय प्रयत्न 'देवनागरी-उर्दू-हिन्दीकोश' को कहा जायगा, जिसका निर्माण श्रीरामचन्द्र वर्मा ने किया है तथा जिसका प्रकाशन सन् १९३६ ई० में हुआ था। यह कोश आकार में बहुत छोटा तो है ही, उर्दू के लेखकों द्वारा प्रयुक्त अरबी, फारसी, तुर्की आदि के कठिन शब्द भी इसमें प्राय: नहीं मिलते हैं। दूसरा प्रयत्न श्रीहरिशंकर शर्मा का है, जिसका प्रकाशन 'हिन्दुस्तानी कोश' के नाम से हुआ है।

इस आवश्यकता की योग्यतम पूर्त्ति श्रीमुहम्मद मुस्तफाँ खाँ 'मदार' (अहमक) ने 'उर्दू-हिन्दी शब्दकोश' का संकलन और संपादन करके की है। इस कोश की एक विशेषता यह है कि इसमें अरबी-फारसी के शब्दों की नागरी के साथ-साथ उर्दू-वर्त्तनी भी दे दी गई है। अहमक साहब ने अपने कोश के प्राक्कथन में यह भी घोषित किया है कि 'यदि मेरे जीवन ने कुछ और साथ दिया, तो एक तुर्की-हिन्दी, एक आधुनिक अरबी-हिन्दी, एक आधुनिक फारसी-हिन्दी-कोश और लिखूँगा।' भगवान् 'अहमक' साहब को दीर्घायु करें।

श्रीगोपालचंद्र चक्रवर्त्ती वेदान्तशास्त्री ने भी एक 'बँगला-हिन्दी-शब्द-कोश' का निर्माण करके इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है। इन्होंने एक हिन्दी-बँगला-कोश का भी निर्माण किया है। दक्षिण-भारत-हिन्दी-प्रचार-सभा (मद्रास) से हिन्दी-तेलगु-कोश, हिन्दी-तमिल-कोश हिन्दी-मलयामल-कोश तथा हिन्दी-कन्नड़-कोश जैसे महत्त्वपूर्ण कोश प्रकाशित किये गये हैं। श्रीकृष्णलाल वर्मा तथा राहामन बाई पेणकर द्वारा सम्पादित 'हिन्दी-मराठी-कोश' भी उपलब्ध है। पर, ये सभी कोश हिन्दीतर भाषा-भाषियों के अधिक लाभ के हैं। इनके साथ-साथ ऐसे कोश भी अनिवार्य हैं, जो भारत की क्षेत्रीय

भाषाओं के शब्दों के हिन्दी-पर्याय बता सकें; जैसे तेलुगु-हिन्दी-कोश, मराठी-हिन्दी-कोश, भोजपुरी-हिन्दी-कोश आदि।

उपर्युक्त ढंग के हिन्दीतर-हिन्दी और हिन्दी-हिन्दीतर कोशों के अतिरिक्त आज हिन्दी के अपने प्रामाणिक और सर्वांगपूर्ण कोश की भी नितांत आवश्यकता है। इस क्षेत्र में प्रथम और एकमात्र प्रयास काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने सन् १९०९ ई० में 'बृहत् हिन्दी-शब्दसागर' की रचना का आरंभ करके किया था। सन् १९२९ ई० में यह कोश पूरा हुआ। इस शब्दकोश में कुल एक लाख दस हजार शब्द हैं। सभा का यह 'बृहत्-हिन्दी-शब्दसागर' हिन्दी में ही नहीं, बल्कि समस्त भारतीय भाषाओं के शब्द-कोशों में सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु, हिन्दी के बहुविध विकास और आवश्यकताओं को देखते हुए अब यह बहुत पिछड़ गया है। व्युत्पत्ति तथा कोशशिल्प-संबंधी इसके बहुत-से दोष हिन्दी के विद्वानों को खटकने लगे हैं। इधर हाल में हिन्दी में ऐसे अनेक नये शब्द आये हैं और अनेक पुराने शब्दों में नये अर्थ जुड़े हैं, जिनका उल्लेख 'शब्दसागर' में नहीं है। अतः, ऐसे बृहत् कोश या शब्दसागर के परिवर्त्तित और संवर्द्धित संस्करण की आवश्यकता है, जिसमें कोश-निर्माण की आधुनिक प्रविधियों और व्युत्पत्ति-शास्त्र के नियमों के आधार पर हिन्दी में प्रयुक्त समस्त शब्दों का अर्थ और व्याख्या सोदाहरण उपलब्ध हो सकें। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, वर्ष ६३, अंक १ में प्रकाशित अपने एक निबंध में ऐसे कोश की रूपरेखा और शब्द-सामग्री के संकलन के संबंध में विस्तृत तथा उपयोगी प्रकाश डाला है। उन्होंने अपने निबंध में उन स्रोतों का भी सविस्तर उल्लेख किया है, जिनसे प्रस्तावित 'बृहत् हिन्दी-कोश' के लिए शब्द-चयन किया जा सकता है। उनका सुझाव है कि 'आरम्भ से लेकर अंत तक जितना भी प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दी भाषा का गद्य और पद्य में साहित्य है, जो कहीं भी प्रकाशित या अप्रकाशित रूप में उपलब्ध है, सबकी एक विवरणात्मक सूची सर्वप्रथम तिथिक्रम के अनुसार बन जानी चाहिए। यह वह मूल सामग्री समझी जायगी, जिसका कोश में सन्निवेश करना आवश्यक होगा।' सच पूछें, तो हिन्दी का यह एक ऐसा अभाव है, जिसकी पूर्त्ति यथाशीघ्र होनी चाहिए। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने त्रैमासिक 'साहित्य' (जुलाई, १९६० ई०, पटना) के अंक में हिन्दी के सूफी-साहित्य की एक ऐसी सूची प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। आचार्य नलिनविलोचन शर्मा के सत्प्रयत्न से 'साहित्य' के विभिन्न अंकों में इस प्रकार की कई विस्तृत और प्रामाणिक साहित्य-सूचियाँ प्रकाशित की गई हैं। पर, इस प्रकार के छिटपुट प्रयत्न महत्त्वपूर्ण होते हुए भी समस्त हिन्दी-साहित्य को देखते हुए नहीं के बराबर हैं।

प्रस्तावित 'बृहद् हिन्दी-कोश' की अर्थ-संपत्ति के लिए हिन्दी-संस्कृत के पुराने-नये कोश और लोक-साहित्य तो बहुत महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं ही, हिन्दी के प्राचीन-अर्वाचीन प्रसिद्ध कवियों द्वारा प्रयुक्त शब्दों के कोश भी तैयार किये जाने चाहिए। इस दिशा में कुछ छिट-पुट प्रयत्न भी हुए हैं। जैसे तुलसी-शब्दसागर, व्रजभाषा-सूरकोश, प्रसाद-साहित्य-कोश, प्रसाद-काव्यकोश आदि। पर ये प्रयत्न अत्यल्प हैं। यद्यपि इनमें 'तुलसी-शब्द-सागर'

एक स्तुत्य प्रयास है, तथापि इसकी सीमाएँ स्पष्ट हैं। इसमें तुलसी द्वारा प्रयुक्त सभी शब्दों का समावेश नहीं हो पाया है, जिसका स्वीकरण भूमिका में स्वयं किया गया है। 'व्रजभाषा-सूरकोश' और 'प्रसाद-साहित्यकोश' सामान्यतः संतोषजनक हैं; किन्तु 'प्रसाद-साहित्यकोश' की उपयोगिता के संबंध में मेरे मन में संदेह है। इस प्रकार के काव्य-कोशों में आँख मूँदकर किसी शब्द के विभिन्न अर्थ दे देना उचित नहीं है। इनमें किसी शब्द का वही अर्थ सोदाहरण दिया जाना चाहिए, जो कवि को अभिप्रेत था या जिस अर्थ की संगति कविता में बैठती हो। इसके अधिकांश शब्दार्थ 'हिन्दी-शब्दसागर' से ही उड़ाये गये हैं और कवि के अभिप्रेत अर्थों से बिलकुल भिन्न हैं। इस प्रकार के काव्य-कोश 'बृहद् हिन्दी-कोश' के निर्माण में सहायक के बदले बाधक बनेंगे।

इधर भारत-सरकार के योजनानुसार विभिन्न विश्वविद्यालयों के तत्त्वावधान में हिन्दी के प्रमुख प्राचीन-नवीन कवियों की शब्दानुक्रमणियाँ तैयार की जा रही हैं। यह कार्य संपन्न हो जाने पर इस प्रकार के कोशों का कार्य आसान हो जायगा। इस प्रकार के कोशों में, जैसा संकेत किया गया है, किसी कवि के द्वारा किसी शब्द के जितने अर्थों में प्रयोग किये गये हैं, उन सबके उल्लेख के साथ-साथ कविता की मूल पंक्ति भी उद्धृत की जानी चाहिए। विना उद्धरण के किसी शब्द का कोई भी अर्थ दिया जाना उचित न होगा।

प्रस्तावित 'बृहद् हिन्दी-कोश' तबतक सर्वांगपूर्ण नहीं कहा जा सकता, जबतक इसमें सम्मिलित संपूर्ण शब्दों की प्रामाणिक व्युत्पत्ति न दी जाय। आजतक हिन्दी में जितने शब्दकोश निर्मित हुए हैं, सभी इस दृष्टि से अपर्याप्त और अंशतः प्रामाणिक हैं। नागरी-प्रचारिणी सभा का 'हिन्दी-शब्दसागर' भी इस दृष्टि से असंतोषजनक है। प्रथम तो उसमें सभी शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं दी गई है; दूसरे, उसमें दी गई अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति भ्रमोत्पादक है। इसके सम्पादकों ने भूमिका में बतलाया है कि कटोरा, कामद, गाजर, गेह, द्वार, डोम आदि शब्द अन्य शब्दों के विकृत रूप हैं; किन्तु 'वाचस्पत्य' आदि कोशों के अनुसार ये संस्कृत के शब्द हैं और अपने वर्त्तमान अर्थों में ही संस्कृत-ग्रंथों में प्रयुक्त हुए है। श्रीरामचन्द्र वर्मा ने अपने 'प्रामाणिक हिन्दी-कोश' की भूमिका में 'हिन्दी-शब्दसागर' की व्युत्पत्ति-संबंधी एतादृश बहुत-सी भूलें दिखाई हैं।

हिन्दी-शब्दों की व्युत्पत्ति का प्रश्न बड़ा कठिन है। हिन्दी के अधिकांश शब्द संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा से आये हैं। पर, ऐसे शब्दों की संख्या भी कम नहीं है, जो देशभाषा, अरबी, फारसी, पश्तो, पहलवी, तुर्की तथा दक्षिण की द्रविड-भाषाओं से आये हैं। इन शब्दों के मूल तक पहुँचने के लिए इन सब भाषाओं के कोशों की सावधानी के साथ छान-बीन और परीक्षा आवश्यक है। अपने मन्तव्य की पुष्टि में डॉ० वासुदेव-शरण अग्रवाल का कथन भी उद्धरणीय है—"जबतक प्राचीन साहित्य का, देशी जनपदीय शब्दों का, अपभ्रंश के समस्त उपलब्ध साहित्य का एवं तुर्की, फारसी, पश्तो और अरबी के कोशों का अच्छा अध्ययन नहीं कर लिया जाता और एक स्वतंत्र शास्त्र की तरह व्युत्पत्ति-शास्त्र को भी निरूपित नहीं किया जाता, जिसके कि अपने निश्चित नियम हैं, तबतक इस

क्षेत्र में अराजकता बनी ही रहेगी और व्युत्पत्ति के नाम पर बहुत-सा ओखा माल भी चोखे की भाँति खपता रहेगा।''

हिन्दी के इस प्रस्तावित 'बृहत् कोश' का निर्माण आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति पर होना चाहिए। आधुनिक कोशों में प्रत्येक शब्द का क्रमबद्ध पूरा इतिहास देना अपेक्षित होता है। अक्षर-क्रम से पहले शब्द, फिर उसका उच्चारण, व्युत्पत्ति, व्याकरण, सोदाहरण अर्थ और मुहावरे दिये जाते हैं। बृहत् कोशों में समय-समय पर होनेवाले परिवर्त्तनों की भी सूचना दी जाती है। कोई शब्द किसी भाषा में किस समय प्रविष्ट हुआ और उसके अर्थों का विकास किस समय और क्या हुआ, इसका पूर्ण परिचय कोश से मिलना चाहिए। हिन्दी में अभी तक इस प्रकार का एक भी कोश उपलब्ध नहीं है। हिन्दी-कोशों में शब्दों का उच्चारण बताना आवश्यक नहीं समझा जाता। लोग जैसे मान बैठे हैं कि हिन्दी जैसी लिखी जाती है, वैसी पढ़ी भी जाती है; पर यह एक विशुद्ध भ्रम है। नागरी-लिपि की वैज्ञानिकता संस्कृत में चाहे जितनी सुरक्षित हो, हिन्दी में इस वैज्ञानिकता का दावा नहीं किया जा सकता। अतः, हिन्दी-कोशों में शब्दों का उच्चारण देना आवश्यक हो गया है। हिन्दी के कोश अब केवल हिन्दीवालों के उपयोग के लिए ही नहीं हैं। हिन्दीतर भाषा-भाषी-समुदाय हिन्दी के कोशों का अवलोकन करता है, तो वह शब्दों का उच्चारण भी जानना चाहता है। हिन्दी के आधुनिक कोशों में इस आवश्यकता की पूर्त्ति अपेक्षित है।

हिन्दी के प्रस्तावित बृहत् कोश का निर्माण एक विशाल अनुष्ठान माना जा सकता है। इसके सम्पन्न होने के लिए प्रचुर धन, प्रशिक्षित व्यक्ति, विद्वान् और समय अपेक्षित है। विना सरकार की सहायता के यह कार्य सम्पन्न किया ही नहीं जा सकता और सरकार का यह दायित्व भी है। पर, यह कार्य धीरे-धीरे ही होगा। हिन्दी में एक प्रामाणिक कोश की, जिसमें ८० हजार से १ लाख तक शब्द हों तथा जिसका मूल्य भी २०-२५ रुपये से अधिक न हो, तत्काल आवश्यकता है। बृहद् हिन्दी-कोश तो पुस्तकालयों में सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में रहेगा, सामान्य जनता का कार्य इस सामान्य कोश से ही सिद्ध होगा। हिन्दी में सम्प्रति जो कोश प्रचलित हैं, उनमें से 'संक्षिप्त हिन्दी-शब्द-सागर', 'प्रामाणिक हिन्दी-कोश' 'बृहद् हिन्दी-शब्दकोश', 'नालंदा अद्यतन कोश' आदि उल्लेखनीय हैं। पर, इनमें से किसी को भी पूर्णतः प्रामाणिक और समयानुरूप नहीं कहा जा सकता। पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में हिन्दी में जो नये शब्द प्रयुक्त होने लगे हैं और पुराने शब्दों में जो नये अर्थ प्रविष्ट हुए हैं, उनका समावेश इन कोशों में नहीं हुआ है। नये कोश में इन सब नये शब्दों और अर्थों का निर्देश होना चाहिए।

हिन्दी-शब्दों के उच्चारण देने की चर्चा 'प्रामाणिक हिन्दी-कोश' की भूमिका में की गई है। अन्य कोशकारों ने इस तरफ ध्यान ही नहीं दिया है। 'प्रामाणिक हिन्दी-कोश' में कुछ शब्दों के उच्चारण देने का प्रयत्न भी किया गया है, किन्तु वे पर्याप्त और निश्चित वैज्ञानिक पद्धति पर नहीं हैं। प्रस्तावित हिन्दी-कोश में शब्दों का उच्चारण देना कितना आवश्यक है, इसका संकेत किया जा चुका है। जैसे : हम लिखते हैं, 'ऋषि' और बोलते हैं 'रिशि'; लिखते हैं 'भात', 'दाल,' 'मकान'; किन्तु पढ़ते हैं 'भात्', 'दाल्', 'मकान्'।

यह हिन्दीतर भाषाभाषियों को चक्कर में डालनेवाला है। कोई भी आधुनिक हिन्दी-कोश, जो शब्दों का उच्चारण नहीं बतलाता, निश्चय ही अधूरा कहा जायगा।

व्युत्पत्ति के मामले में हिन्दी के सभी कोश अपर्याप्त हैं। इनपर पर्याप्त विचार किया जा चुका है। व्याकरण के संकेतों के संबंध में भी हिन्दी के वर्त्तमान कोश प्रामाणिक नहीं हैं। रामचन्द्र वर्मा ने वर्त्तमान कोशों की एतद्विषयक त्रुटियाँ अपने 'प्रामाणिक हिन्दी-कोश' की भूमिका में दिखाई है। 'संक्षिप्त हिन्दी-शब्दसागर' में 'सरपट' शब्द क्रिया-विशेषण बताया गया है; किन्तु उसका अर्थ संज्ञा के रूप में दिया गया है। एक कोशकार ने अपने कोश में क्रिया के अकर्मक-सकर्मक भेदों को दिखाना आवश्यक ही नहीं समझा है। पर, अधिकतर कोशों में क्रिया के दो भेद दिखाये गये हैं। इस सम्बन्ध में कहीं-कहीं भूलें भी दिखाई पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, 'पतियाना' शब्द अकर्मक है, पर कई कोशों में उसे सकर्मक बतलाया गया है। इसी प्रकार, 'छीजना', 'बराना' आदि क्रियाओं के संबंध में भ्रांति दिखाई पड़ती है। शब्दों के लिंग-निर्देश के संबंध में तो सर्वाधिक भ्रम के दर्शन होते हैं। पर, यह भ्रम हिन्दी के व्याकरण की अव्यवस्था के कारण है। हिन्दी में अभी तक बहुत-से ऐसे शब्द हैं, जिनके लिंगों के बारे में मतैक्य नहीं है। इस संबंध में शीघ्र किसी निर्णय पर पहुँच जाना अनिवार्य है। प्रस्तावित कोश को इन दोषों से सर्वथा मुक्त होना चाहिए।

वर्त्तमान कोशों में, पर्याय रूप में शब्द भर देने की प्रवृत्ति पाई जाती है। प्रस्तावित कोश को इस प्रवृत्ति से बचना अपेक्षित है। क्योंकि, केवल पर्याय बहुधा भ्रामक होते हैं और उनके कारण शब्दों की ठीक-ठीक मर्यादा निश्चित नहीं होने पाती। उपस्थित और वर्त्तमान, ग्राम्य और ग्रामीण, दुस्तर और दुर्लंघ्य, दुर्लभ और दुष्प्राप्य, उन्मत्त और विक्षिप्त, मांस और आमिष, पूजा और उपासना जैसे हजारों शब्द अभी पर्यायवाची शब्द माने जाते हैं, पर हिन्दी के प्रस्तावित कोश में इनके सूक्ष्म अर्थभेदों का उल्लेख होना अपेक्षित है। इस कोश में शब्दों के पर्यायों की संख्या यथासाध्य कम, किन्तु शब्दों की व्याख्या स्पष्ट और ऐसी हो कि उसका यथार्थ आशय या भाव समझ में आ जाय। उपर्युक्त सुझावों के आधार पर निर्मित एक ऐसे हिन्दी-कोश की, जिसका उपयोग सभी लोग कर सकें, तत्काल आवश्यकता है।

रामचन्द्र वर्मा ने अपनी 'हिन्दी-कोशरचना' नामक पुस्तक में 'आधारिक हिन्दी-कोश' के निर्माण का भी सुझाव दिया है। 'आधारिक हिन्दी' की कल्पना 'बेसिक इंगलिश' के अनुकरण पर की गई है। 'बेसिक इंगलिश' अँगरेजी भाषा का सरलीकृत रूप है। अँगरेज विद्वानों की एक समिति ने संपूर्ण अँगरेजी भाषा से ८५० शब्दों की एक ऐसी सूची निर्मित की, जिससे अँगरेजी का सामान्य ज्ञान अल्पकाल में ही हो सके। इन शब्दों में ६०० संज्ञाएँ और २५० क्रियाएँ, क्रिया-विशेषण, विशेषण, अव्यय इत्यादि रखे गये। इन्हीं शब्दों की सहायता से अनेक छोटी-छोटी पुस्तकें अँगरेजी में लिखी गईं। बाद, इस शब्द-सूची में २०० पारिभाषिक शब्द जोड़कर भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक विषयों पर भी पुस्तकें लिखी जाने लगीं। अँगरेजी सीखनेवाले वयस्कों के लिए यह 'बेसिक इंगलिश' बहुत काम की सिद्ध होती है।

हिन्दी जबसे राजभाषा घोषित हुई है, तबसे बहुत-से लोग हिन्दी सीखने का प्रयत्न कर रहे हैं। यदि 'बेसिक इंगलिश' की तरह 'आधारिक हिन्दी' का भी स्वरूप निश्चित किया जा सके, तो हिन्दी सीखने का कार्य बहुत सरल हो जायगा। हिन्दी के शीघ्र और व्यापक प्रचार के लिए एक 'आधारिक हिन्दी-कोश' का निर्माण बहुत आवश्यक है। इस हिन्दी में किसी एक शब्द के अनेक समानार्थी शब्दों में जो सर्वाधिक सामान्य हो, उसे चुन लिया जायगा और उसी से काम चलाया जायगा। जैसे, एक 'अच्छा' शब्द ले लिया जाय, और उसीसे उत्कृष्ट, उत्तम, श्रेष्ठ आदि शब्दों का काम लिया जाय। इस हिन्दी में अवधी, व्रज, बुंदेलखंडी, राजस्थानी आदि भाषाओं के शब्दों के लिए स्थान नहीं रहेगा। इसमें केवल परिनिष्ठित खड़ी बोली के शब्द होंगे। 'आधारिक हिन्दी' का स्वरूप स्थिर करने के संबंध में वर्माजी ने सुझाव दिया है कि संस्कृत के अनेक शब्द, जो न केवल हिन्दी में, बल्कि गुजराती, बँगला, मराठी, कन्नड़, तेलुगु, मलयालम आदि भाषाओं में भी प्रचलित हैं, 'आधारिक हिन्दी' में काम आने पर उसी प्रकार गिनती में नहीं आयेंगे, जिस प्रकार 'आधारिक अँगरेजी' में वैज्ञानिक विषयों के पारिभाषिक शब्दों की गिनती नहीं होती।

'आधारिक हिन्दी' के स्वरूप-निश्चय के लिए विद्वानों की ऐसी समिति की आवश्यकता है, जो आवश्यक शब्द-चयन के साथ-साथ उन शब्दों की सहायता से सरल साहित्य प्रस्तुत कर सके। 'आधारिक हिन्दी-कोश' में किसी शब्द के अनेक पर्याय देने के बदले उसके प्रमुख अर्थों की व्याख्या करना विशेष उपयुक्त होगा। रामचन्द्र वर्मा ने इस प्रकार के कोश का एक मानक अपनी पुस्तक 'हिन्दी-कोशरचना' में प्रस्तुत किया है।

हिन्दी में एक प्रामाणिक पर्यायदर्शी कोश की आज नितांत आवश्यकता है। हिन्दी में बहुत-से शब्दों की अर्थसीमा अभीतक निश्चित नहीं हो पाई है और लोग एक शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में करते हैं। उदाहरण के लिए, आलोचना, समीक्षा, विवेचन आदि शब्दों का प्रयोग बहुधा एक ही अर्थ में किया जाता है। आशय, अभिप्राय, सारांश, भावार्थ आदि शब्दों के अर्थों में सूक्ष्म अंतर है; पर लोग इनका प्रयोग समान अर्थ में करते हैं। इसी प्रकार के शब्द 'वेदना, 'विषाद', 'पीडा', 'संताप', 'शोक' आदि हैं, जिनका भ्रमवश 'दुःख' के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। हिन्दी में ऐसे शब्द बहुत हैं, जो एक परिवार के हैं और जिनमें सूक्ष्म अर्थभेद होता है; किन्तु लोग प्रमादवश उनका प्रयोग समान अर्थ में कर देते हैं। ऐसे शब्दों की एक लम्बी सूची रामचन्द्र वर्मा ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी-कोशरचना' में प्रस्तुत की है।

संसार की समस्त विकसित भाषाओं में एक तरह के, एक परिवार के एकाधिक शब्द होते हैं, जिनमें ऊपरी समानता दृष्टिगोचर होने पर भी उनके अर्थों में सूक्ष्म अंतर होता है। उदाहरण के लिए, अँगरेजी के ये शब्द लिये जा सकते हैं--intention, goal, end, purpose, aim, target, motive आदि। संस्कृत में समान अर्थों के लिए इस प्रकार के शब्द पाये जाते हैं—अभिप्राय, इष्ट, ध्येय, प्रयोजन, लक्ष्य, लक्ष, हेतु। अँगरेजी और संस्कृत-भाषाओं की विशेषता यह है कि इनके शब्दों की अर्थ-सीमाएँ प्रायः सुनिश्चित हैं। आज अँगरेजी से हमारा परिचय निकट का हो गया है, इसलिए उसके शब्दों

के सूक्ष्म अर्थभेद हमें ज्ञात रहते हैं; किन्तु दुर्भाग्यवश संस्कृत के शब्दों से आज हम दूर जा पड़े हैं, इस कारण जब कभी किसी अँगरेजी शब्द के लिए हमें हिन्दी-पर्याय ढूँढ़ना पड़ता है, तब उस परिवार का जो शब्द सामने आ जाता है, उसी को हम चुन लेते हैं। इसका परिणाम होता है—भाषा के क्षेत्र में अराजकता। अतः, आज हिन्दी में एक ऐसे पर्याय-दर्शी कोश की नितांत आवश्यकता है, जिसमें एक परिवार के सूक्ष्म अर्थभेद रखनेवाले शब्दों का पार्थक्य स्पष्टतापूर्वक दिखाया गया हो। यों हिन्दी में किताब-महल, इलाहाबाद से प्रकाशित 'बृहत् पर्यायवाची कोश' जैसे कुछ पर्यायदर्शी कोश देखने को मिलते हैं, किन्तु इन कोशों की एक त्रुटि यह है कि इनमें वर्ग के विभिन्न शब्दों के सूक्ष्म अंतरों या अर्थच्छायाओं का विवेचन करके उनका भेद नहीं दिखाया गया है। इनमें समान अर्थ रखनेवाले शब्दों की सूची-भर प्राप्त हो जाती है। आज हिन्दी में एक ऐसे पर्यायदर्शी कोश की आवश्यकता है, जो एक परिवार के विभिन्न शब्दों के अर्थों की सम्यक् सीमा निर्धारित करके उनका पारस्परिक अंतर बतलाये। अँगरेजी में इस प्रकार के एकाधिक सुन्दर कोश हैं: जैसे क्रैब्ब (Crabb)-कृत 'इंगलिश सिनॉनिम्स', फर्नाल्ड (Fernauld)-कृत 'इंगलिश सिनॉनिम्स ऐण्ड एण्टोनिम्स', वेब्स्टर-कृत 'डिक्शनरी ऑफ सिनॉनिम्स' आदि। इन कोशों में अँगरेजी के एक परिवार के शब्दों का पूरा विवरण और विवेचन दिया गया है।

हिन्दी में मुहावरों, लोकोक्तियों और कहावतों के कोशों की भी आवश्यकता है। इस क्षेत्र में कुछ प्रयत्न किये गये हैं। उदाहरणार्थ, रामनारायण लाल, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी-मुहावरा-कोश' (ले० प्रो० आर० जे० सरहिन्दी), हिन्दी-पुस्तक-एजेंसी, बनारस से प्रकाशित 'हिन्दी-मुहाविरे' (ले० श्रीब्रह्मस्वरूप दिनकर शर्मा), ग्रन्थमाला-कार्यालय, बाँकीपुर का 'हिन्दी-मुहावरे' (सं० पं० रामदहिन मिश्र, काव्यतीर्थ), किताब-महल, इलाहाबाद का 'हिन्दी-मुहावरा-कोश' आदि। पर, ये सभी कोश संतोषजनक नहीं हैं। आज एक ऐसे मुहावरा-कोश की आवश्यकता है, जिसमें मुहावरों के आधारों का विश्लेषण और उनकी व्याख्या भी दी गई हो। बहुत-से मुहावरे शरीर के अंगों के आधार पर बने होते हैं, बहुतों के पीछे कोई कथा रहती है, कुछ जीवन के सामान्य अनुभव पर आधृत होते हैं, कुछ वनस्पतियों और पशुओं पर आधृत हैं। इन आधारों का समुचित विवेचन और इनके आधार पर मुहावरों का वर्गीकरण हिन्दी के मुहावरा-कोश में बहुत आवश्यक है। इसी प्रणाली पर हिन्दी में लोकोक्तियों और कहावतों का कोश-निर्माण भी अपेक्षित है।

हिन्दी में विश्वकोश-निर्माण का शुभारम्भ नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी के तत्त्वा-वधान में किया गया है और इसका प्रथम खंड सन् १९६० ई० में प्रकाशित हो चुका है। इस खंड में १४०० लेख हैं तथा इसकी पृष्ठ-संख्या ५०४ है। सम्पूर्ण 'हिन्दी-विश्वकोश' इस प्रकार के दस खंडों में प्रकाशित होगा तथा प्रत्येक खंड में लगभग ५०० पृष्ठ होंगे। यह विश्वकोश 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' के आदर्श पर निर्मित किया जा रहा है। यह हिन्दी-विश्वकोश अभी एक आरंभिक प्रयास है। अँगरेजी में अनेक दीर्घकाय विश्व-कोश हैं। अकेले 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' के वर्त्तमान संस्करण में २४ भाग हैं और जिनमें से प्रत्येक में लगभग १००० पृष्ठ हैं। इसकी तुलना में 'हिन्दी-विश्वकोश' अभी एक

शिशु है। वास्तव में, विश्वकोश एक संस्था बन जाता है तथा इसके समुचित विकास के लिए समय और स्थायी साधनों की अपेक्षा होती है। 'ब्रिटैनिका' का प्रथम संस्करण सन् १७६८ ई० में केवल तीन भागों में प्रकाशित हुआ था। पर, आज इस विश्वकोश ने बृहद् रूप धारण कर लिया है। इसे देखते हुए 'हिन्दी-विश्वकोश' के लिए अभी बहुत श्रम तथा समय अपेक्षित है। इधर पिछले पचास-साठ वर्षों में हिन्दी का बहुमुखी विकास हुआ है। हिन्दी का कविता-साहित्य तो वैसे काफी समृद्ध है, इधर बीसवीं शती में साहित्य के अन्य अंगों का भी उल्लेखनीय विकास हुआ है। उपन्यास, नाटक, समालोचना अनुसंधान आदि सभी क्षेत्रों में हिन्दी-साहित्य की प्रचुर उन्नति हुई है। किन्तु, साहित्य के इन विभिन्न रूपों और अध्ययन-अनुसंधान का संक्षिप्त और सार रूप प्रस्तुत करनेवाले सन्दर्भ-ग्रन्थों का हिन्दी में जबरदस्त अभाव है। संसार की समृद्ध भाषाओं में ऐसे अनेक सन्दर्भ-ग्रन्थ पाये जाते हैं, जिनमें साहित्य का सम्पूर्ण उपयोगी ज्ञान संक्षिप्त रूप में उपलब्ध रहता है। हिन्दी में इस अभाव की पूर्त्ति ज्ञानमण्डल (वाराणसी) अपने 'हिन्दी-साहित्य-कोश' के प्रकाशन से कर रहा है। इस कोश में प्राचीन और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र; साहित्य के विविध वाद, प्रवृत्तियाँ तथा रूप; हिन्दी-साहित्य के इतिहास के विभिन्न काल, युग तथा धाराएँ; साहित्यिक सन्दर्भ में प्रयुक्त दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक तथा समाजशास्त्रीय सिद्धान्त; लोक-साहित्य, आधुनिक भारतीय भाषाओं तथा संस्कृत, फारसी और अँगरेजी के साहित्य का इतिहास; हिन्दी-भाषा, उसकी जनपदीय बोलियों, प्राचीन तथा भारतीय आर्यभाषाओं और संबद्ध आर्यभाषाओं का परिचयात्मक विवरण आदि विषयों की पारिभाषिक और विशिष्ट शब्दावली सम्मिलित की गई है। किन्तु, जैसा सम्पादकों ने स्वीकार किया है, आकार-वृद्धि के भय से प्रस्तुत कोश की परिधि सीमित रखी गई है। हिन्दी में एक ऐसे कोश की आवश्यकता है, जिसमें हिन्दी-साहित्य के लेखकों, रचनाओं, प्रधान पात्रों तथा पौराणिक कथा-सन्दर्भों का परिचय प्राप्त हो। उपर्युक्त कोश के सम्पादकों ने इस आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए 'हिन्दी-साहित्यकोश'[१] की एक प्रशंसार्ह योजना बनाई है।

हिन्दी में कुछ ऐसे कोशों की भी आवश्यकता है, जिनसे हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अंगों का सम्पूर्ण परिचय तात्कालिक रूप में प्राप्त हो जाये। जैसे हिन्दी-उपन्यासकोश, हिन्दी-नाटककोश, हिन्दी-कहानीकोश, हिन्दी-काव्यकोश, हिन्दी-निबंधकोश आदि विभिन्न कोशों का निर्माण अनिवार्य और आवश्यक है। इनमें से 'हिन्दी-उपन्यासकोश' के निर्माण में प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक सन्नद्ध है और निकट भविष्य में उसकी पूर्त्ति हो जाने की आशा है।

●●

हिन्दी-विभाग, पटना-कॉलेज
पटना

१. इसे भी ज्ञानमण्डल प्रा० लि०, वाराणसी ने प्रकाशित कर दिया। इस तरह का 'भारतीय-चरिताम्बुधि' नामक कोश आज से लगभग ४४ वर्ष पूर्व नवलकिशोर प्रेस (लखनऊ) ने सन् १९१९ ई० में प्रकाशित किया था। इस कोश के लेखक प्रसिद्ध साहित्यिक श्रीनारायण चतुर्वेदी के स्वर्गीय पिता चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा थे। —सं०

कवि मृगेन्द्र का एक प्राचीन अप्रकाशित बारहमासा

श्रीशाकिर पुरुषार्थी

विगत वर्ष आकाशवाणी (जालंधर) से मुझे जब **पंजाब के दरबारी** हिन्दी-कवि नामक एक वार्त्ता प्रसारित करने का अवसर मिला, तब पंजाब के विभिन्न राजकीय, सार्वजनिक एवं निजी पुस्तकालयों की छान-बीन करनी पड़ी। फलस्वरूप, प्रचुर मात्रा में गुरुमुखी-लिपि में हिन्दी-साहित्य के हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त हुए। इन साहित्यों को देखकर आश्चर्य होता है कि विभाजन-पूर्व का अँगरेजी-शासनाधीन पंजाब जिस समय हिन्दी-दुश्मनी के लिए सतत-प्रयत्नशील था, उसी समय पंजाब की रियासतों (पटियाला, नाभा, मालेर कोटला, जींद-संगरूर, फरीदकोट, कपूरथला आदि) के राजाओं और उनके आश्रित कवियों ने हिन्दी की उतनी बड़ी सेवा की। आज जब हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो चुकी है, तब इस बात की आवश्यकता है कि गुरुमुखी-लिपि में रचित, विगत दो शतियों के इस विपुल साहित्य-भाण्डार के उद्धारार्थ हिन्दी-जगत् का इससे परिचय कराया जाय। अगले पृष्ठों पर जिस 'बारहमासा' के कुछ अंश हम इस लेख में उद्धृत कर रहे हैं, उसके प्रणेता संगरूर-नरेश श्रीरघुवीर सिंह के दरबारी कवि **साहबसिंह मृगेन्द्र** हैं, जिन्होंने हिन्दी में विपुल साहित्य की रचना की है।

कवि मृगेन्द्र की जीवन-सम्बन्धी विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती; किन्तु उनकी रचनाओं में प्रायः सभी के रचनाकाल का संकेत परम्परानुसार पोथियों के अन्त में मिल जाता है। गुरुमुखी हस्तलिखित ग्रन्थों की जो सूची श्रीशमशेर 'अशोक' ने संपादित की है, उसमें कवि मृगेन्द्र की केवल पाँच रचनाओं का उल्लेख है; किन्तु मेरी दृष्टि से उनकी बहुत-सी रचनाएँ गुजरी हैं, जिनमें कोई भी अभी तक प्रकाशित न हो पाई है। अबतक प्राप्त, विभिन्न पुस्तकालयों में संरक्षित इनकी रचनाओं की विस्तृत सूची इस प्रकार है—

१. अष्टमहल, २. रानी राजेन्द्रमती-चरित्र, (लाहौर-दरबार का इतिहास), ३. मनुमानस-प्रवाह (मनुस्मृति का भाषानुवाद), ४. प्रेम-पयोनिधि, ५. सुमन-संजीवनी, ६. शब्दकुसुम-कलानिधि (लघुसिद्धान्तकौमुदी का भाषानुवाद), ७. गुरुदशम-पंचाशिका, ८. कवित्तकुसुम-वाटिका (काव्य-संग्रह), ९. कृष्ण-कौतूहल, १०. बारांमासा श्रीराधाकृष्ण, ११. रासमण्डल-लीला, १२. श्रीकृष्ण-राधिकाजी का विरहनाटक (बारांमासा), १३. फूलवंश-प्रकाश (पटियाला-दरबार का इतिहास), १४. मृगेन्द्र गुरुमुखी-मार्ग (गुरुमुखी अक्षरबोध, पाठमाला)। ये सभी हस्तलिखित ग्रन्थों के रूप में हैं, और अभी तक अप्रकाशित हैं।

सेण्ट्रल पब्लिक लाइब्रेरी (पटियाला) की प्रति-संख्या २१५५ के जिस 'बारांमासा कृत कवि मृगेन्द्र' की प्रतिलिपि मैंने की है, वह ३४ पन्नों की पक्की रेशमी जिल्द में बँधी

पोथी है। अति स्पष्ट गुरुमुखी-लिपि में लिखे इस 'बारहमासा' में चैत्र मास से फाल्गुन मास तक के राधिकादि गोपियों के विरह का मार्मिक वर्णन कवि ने 'गीत-छंद' में किया है। प्रत्येक मास के वर्णन में ८ पद हैं, और हर चार पदों के बाद कहीं एक और कहीं दो दोहे हैं। कई प्रसंगों में ये दोहे अन्य कवियों के हैं या अति प्रचलित हैं, जो उद्धृत किये गये हैं। कवि के ही शब्दों में इस बारहमासा की रचना इसने संगरूर-नरेश रघुबीर सिंह और टिक्का साहब (युवराज) बलबीर सिंह के अनुरोध पर संवत् १९३० विक्रमी में की थी—

सम्मत उन्नीसौ उप्पर तीस बिक्रमो साजा।
जेठ बदी तिथि पंचमी बार सूरसुत आजा॥
राज करत रघुबीर सिंह रजधानी संगरूर।
टीका जी बलबीर सिंह बरबि दया भरपूर॥
तिनकी रुचि रचना करी गीत छंद छबियार।
पढ़ गुनिगाइक पाइ है राधाकृष्ण पियार॥

उक्त पोथी के अन्त में लिपिकार नारायण सिंह का हस्ताक्षर है और समाप्ति की तिथि अंकित है : इति श्री बारहमासा स्री राधाकृषन संपूरन क्रित कवि साहब मृगेंद्र—दस्तखत नारायण सिंह ग्रन्थी पलटन लंब्र (नम्बर) २ सावण बदी २ साल १९३० ॥ पूरी पोथी में महीनों के अलग-अलग वर्णन के सम्बन्ध में कहीं कोई उपशीर्षक नहीं दिया गया है। शब्दों के बीच कोई अंतराल नहीं छोड़ा गया है। केवल पदों की समाप्ति पर पूर्णविराम-चिह्न लाल स्याही में दिया गया है। 'दोहरों' का उल्लेख भी लाल स्याही में दिया गया है। मोटे-पीले कागज पर संख्या, पन्नों के हिसाब से, दी गई है।

बारहमासा का छंद और अभिव्यक्ति-शैली मुझे बड़ी रोचक लगी, इसीलिए मैंने इसे लिख डाला। संपूर्ण बारहमासा में बड़ा प्रवाह और गति है, और विरह-शृङ्गार के वर्णन में कवि विशेष सफल रहा है। स्थानाभाव के कारण, पाठकों के मनोरंजनार्थ, इसके चैत्र, वैशाख और अन्तिम मास (फाल्गुन) का चित्रण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं :

॥ अथ बारांमासा क्रित कवि साहब मृगेंद्र ॥

दोहरा : चेतर चितवत ग्वारनी चिर लायो बलबीर।
कल मृगेंद्र कहु क्यो परै मछरी को बिनु नीर॥

गीत छंद : चेत्र मैं चिंता करत सुधि बुधि भीय भूलन लगी।
रितु पाय बन बन डारीयाँ बनबारीयाँ फूलन लगी॥
गुंजत भंवर कुंजन मैं बैरिन कोकिला कूकन लगी।
मैं विरहु दाधी छीन छिनछिन स्यामबिन सूकन लगी॥१॥
झलराय अंबा मौलसु मत पुखलत लहरावती।
हिय चीर जात समीर सीतल फिरहुं मै तरफावती॥

मन उमग बेलरीयाँ पीया तरु कंठ लपटाने लगीं।
मैं बिरहु बेधी नैन भरभर रोय मुरझाने लगी ॥२॥
मौलत बनावल कौल फूले बेलि चंपा केतकी।
कुंजन खगन झंकरलाई दुख देत मोरे हेत की ॥
चंपा अनार गुलाब चटकत दिपत दीपन डारीयाँ।
किंसुक नहीरीये पलास डारिन पै दमक अगियारीयाँ ॥३॥
चेत रे अब हेत हरि संग कवि बिधि लूटन बनै।
आए न धाए मधुपरी मधुमास बीतौ पी बिना ॥[१]
सूना भवन भय देत भारी कौन फल अब जीवना ॥४॥

दोहा : चल्यो महीना चेत कौ चितवन मिटी न मोर ॥
मन म्रिगेंद्र कल क्यो गहै मिल्यो नहीं चित चोर ॥

दोहा : चेत कहै सुन री सखी देत कह मुहि दोस ॥
मौसम थी जब मिलन की तब क्यो करी न होस ॥

गीत छंद : सुन री सुहागनि सुंदरी जब पीय थे तोरी सेज पै।
तब पीठ दै दै बैठती भरि मान ही के मजेज पै ॥

गुंजत भंवर उतकुंज बन बसि मै तेरत थे पिया।
तब जाय तैं हस बोलि मिल माननिन क्यों आदर दीया ॥१॥
चंपक चंबेली खेलि कलियाँ गूंद गजरे ल्यावते।
रच हार सुमन सिंगार के मनुहार करि पहिरावते ॥
अंबर अतर तर करि गचित अभरन अनूप जराव के।
भर मुकत मांग सिंधूर बैनी गूंदते संग भाव के ॥२॥
रुचि रुचि सुमन की सेज पंखी पानदान आगे धरे।
गुन रूप जोबन मान माती तू न कुछ खातर करे ॥
अब जौं गए तज कै पिया तब तूं तिया पछतावती।
हिय बिरहु जलन सरीर तावत नैन नीर बुझावती ॥३॥
अब याद आवत दिवस वे जब सेज निज सूनी लगी।
कुवरी कलंकन कामनी की दाह दिल दूनी लगी ॥
बीती न आवत हाथ पियारी जोबन जल दरियाव का।
कहि चेत चाल्यो ने बस अब कौन फल पछुताव का ॥४॥

दोहरा : आछे दिन पाछे गए हरि सों कीया न हेत ॥
अब पछुताए होत क्या चिरीयाँ चुग गी खेत ॥

दोहरा : बिनती करत बिसाख मैं बिरह बिंधी ब्रिज नार ॥
कब घर आवहिगे पीया बीती जात बहार ॥

---

१. यह पद अधूरा लिखा है, संभवतः लिपिकार की गलती से रह गया हो।—ले०

गीत छंद : आयो बिसाख बसंत रितु बन बिहंगम बोलते।
फूली लता फुलवारि डारिन मैं भंवर गन डोलते॥
करि करि सिंगार सुहागनी बडभागनी पिय पियारीयाँ॥
मदरूप जोबन रंगरती देख फिरज फुलवारीयाँ॥१॥
सुख सेज रंग रलीयाँ करत पीय के लपट उरि सोवती।
देखो हमारी करम गति हम आंसुवों उरि धोवतीं।
जब के पीया परदेस छाए संग सकल सुख ले गए।
दिनरात की तरफन तपन के दाग दुख दिल दे गए॥२॥
कीजै जतन अब कौन सजनी जो पीया आवहि घरै।
पूरन करहि चितचाह कौ दिलदाह हमरी कौ हरै॥
छल बल कीयो हमसो छली गयो छाडयौं छतीयाँ छुभैं।
कमजाति कुबरी चेट किनि चेरी की चुरचा चित चुभैं॥३॥
सुनीयो बिथा रे बिसाख बीरन पीर बिपति बियोग की।
छतीयाँ मैं घालत घाव लिख लिख पठत पतीयाँ जोग की॥
चूकी मैं अवसर बास मैं संग स्याम के उठ ना गई।
स्यानप हमारी थी अयानप बहै अब बैरन भई॥४॥

दोहरा : जिन ढूंढा तिन पाइया गहरे पानी पैठ॥
मैं बौंरी बुडन डरी रही किनारे बैठ॥१॥

दोहरा : कहि बिसाख सुन राधके सुंदर सुघर सुजान॥
प्रेम परन की पंथ यहि खरी बिखम अति जान॥१॥

गीत छंद : पियारी परम बिखरी खरी यह पंथ है पन प्रेम की।
खांड़े की धार पै धावनो धारन कठिन द्रिढ़ नेम की॥
लागन निगोड़ी लाग की बिन धूम धंधकन आग की।
धूमैं न क्यों कर बसन हीय हि प्रेम डसनहि नाग की॥१॥
लागे लगाये एक से दुहुवन के सीने घाव है।
इन नैन बानन को गुमाननि यही अदभुत भाव है॥
जब थी लगन उनकौं अली तेरी गली नित आवते।
देखे बिना जल मीन ज्यौं पल एक कल नहीं पावते॥२॥
जा मन जमा कर नेह को हिय छोड़ अब मथुरा गए।
लाखों दरद दुख तावेनीके यहाँ छाबनी छा गए॥
जागी अगनि अस प्रेम की तब तौं तुमैं तरफन लगी।
दिन रैन देखे बिन थे अखीयाँ लाइ झरि बरखन लगी॥३॥
फांधी बडो यहि नेह के फंदन कठिन टूटैं नहीं।
मनमीन आली प्रेम की जाली में पर छूटै नहीं॥

क्या क्या करूँ मैं बखान पियारो प्रेम दुख को भवन है।
अब जेठ की बारी लगी सिर पर हमारे गवन है ।।४।।
दोहरा : संमन जो इस प्रेम की दमक्यहु होती सांट।
रावन हुते सुरंक नहि जिन सिर दीने काट ।।

इसके बाद वर्ष के अन्य महीनों को लेकर राधा की वियोग-स्थिति का मार्मिक निरूपण हुआ है। अन्त में 'फाग' महीने का चित्रण भी देखिए—

दोहरा : आयो सजनी फाग अबि भाग भयो अनुराग।
रंग गुलाल उड़ावतीं जिन के भाग सुहाग ।।
गीत छंद : फागन मैं फाग सुहागनी खेलत पिया मिल संग री।
गावत चलावत कुमकुमे छिरकत हैं केसर रंग री ।।
घर घर बगर बाजार बीची कीचमिच रही रंग की।
छुटती छहर पिचकारियाँ भीजत भरी हैं उमंग की ।।१।।
ऊधो हमारी बिरहु की बिरथा कहहु हरि पास ही।
बिरहनि बिचारी क्यौं बचै बीतै है बारह मास ही ।।
मैं करी थी मान की बतीयाँ पीया से भूल के।
माफ कर पियारे तजो तुम मानदिन दुख भूल के ।।२।।
आवहु दिखावहु दरस मनमोहन सबै हम हारियाँ।
कीजै छिमा गति क्या लखै तुमरी निकारी नारीयाँ ।।
पावत न सुरनरमुनि तपीसर गति तिस अनंत गुबिंद की।
दीन बांधव भगत वतसल बिनति मानी मृगिंद की ।।३।।
दीजै दरस अब रोस तज गोपी सभै तुम सरन है।
जनम सफल सुधारीए तुम हाथ जीवन मरन है ।।
बीत फागन चल्यो अब प्रीतम तुमारी आस है।
पूरन करो मन साधीया पूरन ए बारा मास है ।।४।।
दोहरा : देख चल्यों सो भाखीयो हरि सो हम संदेस।
आवन की आसा लगी हो रही रावल भेस।
दोहरा : फागन अनुरागन भरे ऊधो आ हरि पास।
बिरह बिथा गोपीन की करी आन अरदास ।।
गीत छंद : सुनते ही राधे की बिथा रह ना सके सब प्रीत के।
ब्रिज को चले रथ बैठ कर दुख ना सहत निज मीत के ।।
प्रेम के बस है सदा भगतन के प्राण समान है।
दीन हीन अधीन बस गावत जु बेद पुरान है ।।१।।
माता की कर गोदी गरम पर चरण बाबा नंद के।
गुवाल बाल गरे लगा दुख काट बिरहों फंद के ।।

मिले राधा सों प्रिय भेंटी सबै ब्रिज नारीयाँ।
प्राननों तन तन परेम बहोसु असरु धारीयाँ ॥२॥

दोहरा : पूरन गुरु पूरन कृपा पूरन करयो प्रबंद।
बाराँमासा म्रिगेंद्र कवि रसदाइक बरछंद ॥

दोहरा : संमत उन्नी सौ उप्पर तीस विक्रमी साजा।
जेठ बदी तिथि पंचमी बार सूरसुत आजा ॥
राज करत रघुबीर सिंह रजधानी संगरूर ॥
टीका जी बलबीर सिंह बरबि दया भरपूर ॥
तिन की रुचि रचना करी गीतछंद छबियार।
पढ़ गुनि गाइक पाइ हैं राधाकृष्ण पियार ॥

॥ इति श्री बारहमासा स्री राधाकृषन संपूरन क्रित कवि साहब मृगेंद्र ॥

जगराओं, लुधियाना
(पंजाब)

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : व्यक्तित्व और कृतित्व

डॉ० श्रीलक्ष्मीनारायण दुबे, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

'नवीन' जी का व्यक्ति-तत्त्व उनके युग-तत्त्व की ही उपज है। युग ने ही उनके व्यक्ति को गढ़ा और युग तथा व्यक्ति—दोनों का प्रतिबिम्ब उनके काव्य में दिखाई पड़ा।

इस अपराजेय योद्धा में मालवा की मस्ती के साथ उत्तरप्रदेश की कर्मठता अपना अद्भुत मिश्रण ढालती है। बालकृष्ण के वैष्णवी बाल्य-संस्कार, उसे अमित निधि प्रदान करते हैं। ये संस्कार उसके काव्य, संगीत तथा दर्शन की बृहत्त्रयी को प्राणान्वित करते हैं। वैष्णव गीतों तथा वातावरण ने 'नवीन' के कवित्व को स्फुरित किया, काव्य-संगीत को शास्त्रीय तथा परिपाटी-गत रूप से संयोजित किया और भक्ति तथा अध्यात्मपरक रचनाओं के मूल को भी उत्प्रेरित किया। नवीन के ये ही संस्कर कभी गांधी की ओर उन्मुख हो जाते हैं और कभी विनोबा के। इन्हीं से ही कभी उसकी भक्ति उमड़कर ऊर्मिला के चरणाम्बुजों में जा विराजती है और कभी गणेशशंकर विद्यार्थी के बलिदान का महिमामय रूप प्राप्त होता है, जिसमें भी कवि का श्रद्धा-निर्झर सतत प्रवहमाण दिखाई पड़ता है।

कवि की बाल्य-दरिद्रता एवं विधुर जीवन जहाँ उसे 'हम अनिकेतन' का गायक बनाती है, 'मस्त फकीर' तथा 'जोगी' की दुनिया में ले जाती है, वहाँ शृंगारिक रचनाओं का भी हृदय खोलती है। कवि के यौवन का उन्मेष तथा वय:प्राप्ति से उत्पन्न चिन्तन-परक दृष्टिकोण भी, उसके काव्य-व्यक्तित्व पर अपने अमिट चिह्न छोड़ गये हैं।

'नवीन' के व्यक्तित्व के तीन सूत्र हैं : भावुकता, करुणा एवं विद्रोह । भावुकता ने कवि के समग्र काव्य पर अपना आसन जमाया है. इसी कारण उसका शिल्प-पक्ष कमजोर दिखाई देता है । उसकी भावुकता कभी गरीबों, आर्त्तों तथा पीडितों का पक्ष लेती हैं, कभी अन्याय या अनाचार के विरुद्ध ललकार बनकर उद्घोषित हो जाती है और कभी विनम्रता एवं श्रद्धा के रूप में शान्त प्रतिमा बन जाती है । भावुकता के कारण ही, कवि कभी ईश्वर को चुनौती देने लगता है और कभी सुकवि की किसी मर्मस्पर्शी रचना को सुनकर, उसके चरणों में गिर पड़ता है । यही भावुकता राष्ट्रीय गीत को अनल-गीत में परिणत कर देती है और रहस्यवादी प्रवृत्तियों को भक्ति एवं रोचक अभिव्यक्ति में ढाल देती है । इसी भावुकता के कारण भाषा अनगढ़ हो जाती है, छंद उच्छृंखल बन जाते हैं और कलात्मक परिष्कृति मन मसोसकर रह जाती है ।

करुणा ने कवि-व्यक्तित्व को अमिट रंगावेष्टित किया है । वह ओजस्वी रचनाओं में दीन-हीन व्यक्तियों तथा पराभूत भारत की स्थिति से उत्पन्न शोक की तीव्र प्रतिक्रिया के रूप में विद्यमान रहती है और प्रिय के प्रति निवेदनों में अनुनय-विनय तथा दार्शनिक काव्य में भक्ति की आत्मदीनता तथा समर्पण के रूप में दृष्टिगोचर होती है । उसका गहरा पुट उसके प्रबन्ध-काव्यों में भी आँका जा सकता है ।

कवि ने आजीवन **विद्रोह** किया । उसकी ऊर्मिला, लक्ष्मण, राम आदि सभी विद्रोह-तत्त्व की आशंसा करते हैं और उसे जीवन में वरेण्य मानते हैं । इस जन्मजात विद्रोही तथा मस्तमौला ने गौरांग महाप्रभुओं के विरुद्ध विद्रोह किया । न्याय तथा निष्ठा के प्रश्न पर 'नवीन'जी विप्लव करने में कभी आगा-पीछा नहीं देखते थे । सामाजिक अनाचार तथा आर्थिक दुरवस्था से उनका व्यक्ति और कवि जूझता ही रहा । गान्धीजी के परम अनुयायी होने पर भी, हिन्दी के प्रश्न पर, कवि उनसे भी विद्रोह कर बैठा । नेहरूजी के निष्ठापूर्ण अनुगत होने पर भी, राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर, उनसे भी अपनी स्पष्ट तथा प्रखर असहमति प्रकट कर दी । 'नवीन'जी की कहानी ही विद्रोह की जबानी सुनने को मिलती है । काव्य के कलापक्ष में भी उनके विद्रोह ने अपना 'कूचा' ही अलग बना लिया, जिसका 'रंग' ही अनोखा है ।

'नवीन'जी के व्यक्तित्व में उनके 'संक्रान्ति-काल' के 'समन्वय' का सूत्र कार्यरत है । वे विरोधी गुणों के विचित्र तथा अनूठे समुच्चय हैं । ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी, दोनों ही रूप उनमें देखे जा सकते हैं । बलिवेदी के गायक तथा मधुवादी काव्य-प्रवृत्तियों के पोषक के रूप उनमें द्रष्टव्य हैं । वे विनीत तथा उद्धत, श्रद्धालु तथा विरोधी, विनम्र एवं प्रखर, सभी रूपों में सामने आये । वे प्रणय और चिन्तन दोनों के आवरणों को खोलते हैं । मधुपान तथा गरल-पान, दोनों को ही उन्होंने एक-सा ममत्व प्रदान किया । वे झुककर भी चले और ललकार भी उठे । उन्होंने प्रेम के आगे माथा टेका और बन्दूक के सामने छाती खोल दी । उनकी छाती चौड़ी थी, परन्तु हृदय संवेदनशील । उनकी बाहुएँ बलिष्ठ थी, परन्तु अन्तः-करण बड़ा ही करुणार्द्र । वे 'प्रेय से श्रेय' की ओर बढ़े । ससीम में असीम को ढूँढ़ा । पार्थिव को अपार्थिव की दीप्ति प्रदान की । उनका कवि-व्यक्तित्व समन्वय की मंजूषा है ।

उन्होंने वियोग में योग के दर्शन किये। 'प्राणार्पण' में सार्वभौमिक मानवता के अनूठे रूप का पिरोया। स्थूल में सूक्ष्म के समन्वय की साधना की। आकर्षण तथा समर्पण की गाँठ बाँधी। रति-निष्ठा से यति बन गये।

हम कह सकते हैं कि रति तथा यति, मसि एवं असि को पचाकर समरसता का निदर्शन करनेवाला ऐसा व्यक्तित्व हिन्दी में शतियों के बाद उत्पन्न हुआ। वह अपनी दो ही सानी रखता है : उधर कबीर और इधर 'निराला'। युग के वडवानल को जितने पौरुष तथा मस्ती के साथ 'नवीन'जी ने पिया, वह एक निराली ही कहानी है, जिसे इतिहास भूलने का साहस नहीं कर सकता। विषपान को कवि ने अपना युगधर्म एवं आत्मकर्त्तव्य माना। गरीबी, दुःख, विपत्ति, कुटिल, नियति, दमन, दासत्व, सामाजिक असंतोष, संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व, प्रणय, असफलता, वियोग-व्यथा, 'अहि आलिंगित जीवन' के क्षण, शारीरिक कष्ट आदि के हलाहल को वे सस्मित पान कर गये। उन्होंने अग्निपान किया और हाथों से अग्नि को दबोच दिया। उनके हृदय की प्रणयाग्नि उन्हें सालती रही और आत्माग्नि की तृप्ति के लिए उनका 'हंसा' निर्मुक्त गगन में अपने डैने फैलाकर, 'क्वासि' तथा 'कस्त्वं कोऽहं' की ध्वनि को गुंजायमान करने लगता था। उन्होंने मन तथा आत्मा, दोनों की टीस तथा दंश का सहन-वहन किया। उन्होंने रुदन, गायन, दोनों को ही, अपना सहयोगी बनाया। वे विजय-पराजय, दोनों में ही झूलते रहे। उन्होंने सब कुछ समर्पण कर दिया—अपनी मस्ती के लिए, राष्ट्रमाता के लिए, हिन्दी-भारती के लिए और वाणी की आराधना के लिए। वे झुके नहीं। उन्होंने सिर दिया; परन्तु सार नहीं। कबीर की भाँति, उन्होंने सब कुछ लुटाकर 'मौन लगी आग' की स्थिति को उत्पन्न कर और अनिकेतन की वीतराग वृत्ति ग्रहण कर चौराहे पर खड़े हो गये। वह एक ऐसा चौराहा था, जहाँ उनकी राष्ट्रीय आन्दोलन की कहानी, पत्रकारिता की ऊर्जस्विता, काव्य की महिमामयी निधि तथा ममतामय मानव की विह्वलता अपने-आप ही एक हो जाती थी। वे राष्ट्रीय संग्राम के जीवन्त तथा घनीभूत प्रतिरूप थे और थे कविता की साकार प्रतिमा। इस गरल-संगीत के प्रणेता, हलाहल-धर्म के प्रवर्त्तक और हिन्दी के नीलकण्ठ ने युग के हलाहल का पान करके, उसे अमृत बनाकर, काव्य-कुम्भ में उड़ेल दिया। इसलिए कवि यह गा सका—

> **उन्नत होकर बनते मनोवेग प्रबल शक्ति,**
> **संयम ही से ही खिलती हिय की रागानुसक्ति,**
> **तुम्हें नहीं देती है शोभा यह त्वेष-भक्ति,**
> **तुमने तो रक्खा है अपना चिर धीर नाम,**
> **रोको, हे, रोको, निज क्रोध-अनल एक याम।**
> **... ... ...**
> **तुम तो हो नीलकण्ठ, विकट हलाहलधारी।**[1]

यह गरल-वेदी का गायक, विषपान करके भी अपने व्यक्तित्व को अमृतमय ही बनाये रखा। उसका भौतिक व्यक्तित्व ऋतुराज तथा रसराज से समन्वित था और

१. 'स्मरणदीप', २०वीं कविता।

अमृतमयी दीप्ति से भास्वर। उसका व्यक्तित्व हिन्दी के श्रेष्ठ सम्पन्न कवियों की पंक्ति की शोभा को द्विगुणित कर सकता था। कवि चिरनवीन बना रहा। उसके जीवन के त्रिजत्व प्राप्त कर लेने पर भी, उसका काव्य-तत्त्व चिरनवीन तथा चिरकालिक है। उसका काव्यरूपी यशःशरीर ही युग-युगान्तर तक अपनी वाणी निःसृत करता रहेगा।

युग तथा व्यक्ति-तत्त्व के दाम्पत्य जीवन ने ही काव्य-तत्त्व को जन्म दिया है। श्रीप्रभागचन्द्र शर्मा ने लिखा है कि कवि 'नवीन' मोटे रूप से तीन भागों में विभक्त होता है: राष्ट्रीय जागरण का गायक, प्रणेता और लोकोतर तृषा की अकुलाहट का आकलनकर्त्ता। 'नवीन' जी का राष्ट्रीय कवि, कर्मभूमि के घात-प्रतिघातों की संवेदना से जनमा, उनका प्रेमगीत-गायक उनकी मनोभूमि के रंगीन सौन्दर्यबोध की उपज है और उनका 'कस्त्वं कोऽहं' वाला श्रेयस् उनकी अवचेतन श्रद्धा-भक्ति की परम्परा से उद्भूत हुआ है।[1]

इस प्रकार, 'नवीन' जी की काव्यधारा, राष्ट्रीय, प्रेम एवं दार्शनिक प्रवृत्तियों में से प्रवेश करके बहती है। इसके अतिरिक्त, उनके प्रबन्ध में, कवि का प्रबन्धकार अपनी प्रतिभा विकीर्ण करता है। इस प्रकार कवि ने गीत एवं प्रबन्ध-काव्य के दो पों को अपनी वाणी का वर्चस्व प्रदान किया। 'नवीन' जी के काव्य में अनुभूति-तत्त्व की प्रधानता है। उसमें संगीत तथा सूक्ति की बहुलता दृष्टिगोचर होती है। उनका भाव-पक्ष जितना समृद्ध एवं प्रखर है, उतना शिल्प-पक्ष नहीं। 'नवीन' जी के राजनीतिक जीवन, कार्य-व्यस्तता, समयाभाव एवं भौतिक संघर्षों ने उन्हें प्रचुर काव्य-साधना करने के अवसर नहीं प्रदान किये। इसीलिए, उनके काव्य में परिष्कार का पक्ष दुर्बल रह गया। कवि ने यद्यपि थोड़ा परिमार्जन यत्र-तत्र करने का प्रयास किया था, परन्तु वह सागर का नौका-संतरण ही कहलायगा। वास्तव में भाषा, अलंकार, छंद आदि को कवि ने कभी अपना इष्ट नहीं माना। वह बात कहना जानता था और कह देता था। यही उसका अभीष्ट था। साज-सज्जा की अपेक्षा कवि ने भावों के प्रेषण को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया। इस तथ्य के होते हुए भी, कवि का फक्कड़पन, अनगढ़ भाषा तथा शैली की अपनी दीप्ति है, जिसमें नैसर्गिकता, आर्जव तथा प्रभावोत्पादकता परिप्लावित हैं। उनमें ओज की प्रगल्भता अपने उत्कर्ष पर है। 'नवीन' जी जीवन तथा प्रत्यक्ष प्रेरणाओं के कवि रहे हैं; अतएव उन्होंने काव्य में उसके व्यावहारिक तथा वास्तविक रूप को ही स्थान दिया है, जिसके फलस्वरूप, उनकी भाषा तथा शैली भी देशज शब्दों एवं उर्दू-शैली से ओत-प्रोत हो गई है। कवि उत्तरोत्तर संस्कृत एवं संस्कृतमयी शब्दावली की ओर उन्मुख होता चला गया, जिसके परिणामस्वरूप उसकी दार्शनिक अभिव्यक्ति के समान, उसकी भाषा-योजना भी संस्कृतनिष्ठ होती चली गई। अपने युगधर्म की माँग ने भी कवि को संस्कृतमयी भाषा, चिन्तनपरक रचनाओं, विश्वमानवतामयी कृतियों तथा गाम्भीर्य की ओर उन्मुख किया।

---

१. आकाशवाणी-वार्त्ता, इन्दौर; प्रसारण-तिथि ५ दिसम्बर, १९६० ई०।

इस प्रकार, 'नवीन' जी के काव्य-तत्त्व में क्रमशः विकास तथा प्रौढि के दर्शन होते हैं और कवि ने अपने काव्य की परिणति अध्यात्मविषयक कृतियों में की। उनका काव्य, हृदय से आत्मा की ओर, सूक्ति से संगीत की ओर तथा गीतों से प्रबन्ध की ओर उन्मुख होता है। उनकी काव्य-साधना का पाट पर्याप्त विस्तृत एवं प्रशस्त है, जिसमें अनेक सोपानों के दर्शन किये जा सकते हैं।

कवि के, हिन्दी-वाङ्मय के प्रदेय, गरिमा तथा साहित्य में स्थान-निर्धारण के हेतु, तीन उपादानों के आधार पर, उसका अनुशीलन करना उचित होगा—

क. गरिमांकन, ख. महत्त्वांकन और ग. मूल्यांकन।

उपरिलिखित तीन तत्त्व ही उसके काव्यश्री तथा नूतन योगदान की भली भाँति विवेचना करने में समर्थ हो सकेंगे। 'बृहत्त्रयी' ने जहाँ उसके काव्य-व्यक्तित्व की पीठिका तथा काव्य-विश्लेषण का अंकन किया है, वहाँ 'महत्त्रयी' उसकी गरिमा-महिमा, ऐतिहासिक मूल्य, हिन्दी-काव्य को अभिनव देन और उसके कवि-व्यक्तित्व के गौरव-सूत्रों को उद्घाटित करने का प्रयास करती है। यहाँ हम गरिमांकन के आधार पर उनकी कृतियों की थोड़ी परीक्षा करना चाहेंगे।

कवि के काव्य की गरिमा तथा महिमा के अंकन के हेतु, उसे दो वर्गों में विभाजित करना समुचित प्रतीत होता है—

१. 'नवीन' का प्रदेय और २. 'नवीन' द्वारा नव प्रवर्त्तन।

१. नवीन का प्रदेय—'नवीन' जी के हिन्दी-काव्य के प्रदेय के विश्लेषण के समय अनेक विषय अपने महिमा-गाथा कहते उभर आते हैं। उनकी बहुविध रचनाओं में मानव-जीवन की नाना प्रकार की वृत्तियों, चित्रों, घटनाओं और वृत्तों को स्थान मिला है। वे राष्ट्रीय काव्य के पुरस्कर्त्ता हैं, यौवन के मदभरे गायक हैं और रहस्य को गूँथनेवाले चिन्तक कलाकार। उनका प्रबन्धकार नूतन साज-सामग्री को अपने आख्यानों में स्थान प्रदान करता है। इस प्रकार, उनका सतत सर्जनाशील व्यक्तित्व, हिन्दी-वाङ्मय की शाश्वत सेवा में आजीवन रत रहा।

'नवीन' जी के राष्ट्रीय-सांस्कृतिक रचनाओं ने हिन्दी में नूतन भाव-भूमिकाओं को जन्म दिया है। वे योद्धा तथा कवि दोनों थे, अतएव इस काव्य में युग की लहरें अपना क्रोड पाती हैं। 'नवीन' जी का राष्ट्रीय काव्य एक ओर क्रान्तिकारियों एवं उग्रपंथियों की वाणी के ओज को अपने में आत्मसात् करता है, तो दूसरी ओर गान्धीजी के अपार्थिव मूल्यों को भी अपना स्नेह प्रदान करता है। कवि के प्रत्यक्ष द्रष्टा ही नहीं, प्रत्युत प्रत्यक्ष भोक्ता होने के कारण, उसके राष्ट्रीय काव्य में जो जीवन के स्पन्दन आते हैं और वाणी का जो उभार मिलता है, वह हिन्दी के राष्ट्रीय काव्य में अपना सानी नहीं रखता। कवि ने अपने काव्य में घटनाओं तथा तथ्यों को प्रतिक्रियात्मक एवं भावपरक रूप प्रदान करके उसको अत्यधिक सामयिकता के मोह से वंचित कर दिया है, जो शाश्वत काव्य के लिए अत्यावश्यक है। उसकी राष्ट्रीयता भावुकतामयी है और उसमें वस्तुपरक बिम्ब न आकर, प्रवृत्तिपरक प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होते हैं।

हिन्दी की राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा में कवि ने नवीन अध्याय को संलग्न किया है। यह आशावादिता, उत्कटता, ओजस्विता, क्रांति तथा विप्लव के सुदृढ़ पृष्ठों से संयुक्त है। 'नवीन' जी के राष्ट्रीय काव्य की अवहेलना करना एक युग तथा उसकी मार्मिक काव्यात्मक धरोहर से काव्यश्री को वंचित करना होगा। कवि ने राजनीति की धारा की अपेक्षा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को अधिक प्राश्रय दिया है, जिसके कारण उसके काव्य में स्थायित्व तथा उच्चतर मूल्यों के तत्त्व प्राप्त होते हैं। इसी उत्स से ही, उसका स्वातन्त्र्योत्तर विश्वमानवतावादी एवं महर्षि विनोबा के व्यक्तित्व की सांस्कृतिक व्याख्या आदि के अवयव उत्पन्न हुए हैं।

कवि के राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य की सर्वाधिक महान् उपलब्धि है—'प्राणार्पण'। इसका अनेक दृष्टियों से कवि-जीवन में महत्त्व है। कवि प्रायः अपने राष्ट्रीय काव्य में अथवा कारागृह-प्रसूत रचनाओं में देश की राजनीतिक उथल-पुथल के प्रत्यक्ष चित्रण से विरक्त रहा है। इस काव्य ने कवि को राष्ट्रीय जन-जीवन के स्पन्दन का प्रत्यक्ष अनुगायक प्रमाणित कर दिया है। युग-चेतना का जितना सम्यक्, विस्तृत एवं प्रभावपूर्ण आकलन इस कृति में हुआ; वह उसके काव्य में ही नहीं, अपितु उस युग की अत्यल्प कृतियों में ही पाया जाता है। हुतात्मा गणेशजी के महिमा-मंडित व्यक्तित्व पर अर्पित समग्र साहित्यिक प्रसूनों में, 'प्राणार्पण' का प्रसून सर्वाधिक प्रभावपूर्ण तथा सुवासयुक्त है। युग की पृष्ठभूमि एवं गणेशजी के व्यक्तित्व का ऐसा प्रखर, गम्भीर, उदात्त एवं भव्य विश्लेषण अन्यत्र दुर्लभ है। यह कवि 'नवीन' की हिन्दी-काव्य को दूसरी महान् देन है। यह इस परिपाटी की सिरमौर कृति है। विषय तथा काव्य, दोनों ही दृष्टिकोणों से, इसका हिन्दी-काव्य के इतिहास में अपना पृथक् तथा वन्दनीय स्थान है।

'नवीन' जी का प्रेमकाव्य अपने युग की छायावादी प्रवृत्तियों के अनुकूल है। उसमें विप्रलम्भ-शृंगार रस का प्रधानत्व है, जिसके कारण वे वियोग के सुष्ठु कला-स्रष्टा हैं। 'नवीन' जी ने प्रेम, रूप, सौन्दर्य, यौवन, विरहानुभूति आदि के जो मांसल एवं मर्मस्पर्शी चित्र प्रदान किये हैं, वे हिन्दी की शृंगार-परम्परा की श्रीवृद्धि ही करते हैं। उन्होंने प्रणय को भी अपनी जीवन्त अनुभूति से मण्डित किया है, जिसके कारण वह जीवन की धड़कनों से आपूर्ण है।

'नवीन' जी के दार्शनिक काव्य में उनका भारतीय दर्शन, संस्कृति एवं काव्य-परम्परा का रूप ही समृद्ध हुआ है। उनकी दार्शनिक रचनाएँ उन्हें ईश्वरवादी, भक्त एवं भावुक दार्शनिक के रूप में ही प्रस्तुत करती हैं। उन्होंने निवृत्ति-मार्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति-मार्ग को ही अपनाकर, अपने जीवन-दर्शन की सामाजिक उपादेयता तथा आधार-भूमि की भी शोभा बढ़ाई है। उनका दार्शनिक काव्य हमारे अध्यात्मपरक काव्य-साहित्य की सम्पदा को विपुल बनाता है और आधुनिक काव्य के इतिहास में अपनी निराली छाप छोड़ जाता है।

'नवीन' जी का 'मरण-गीत' आधुनिक हिन्दी-काव्य ही क्या, समग्र हिन्दी-वाङ्मय की अभिनन्दनाय कृति है। आधुनिक काल में किसी भी कवि ने उनके जैसे आस्थामय

एवं गम्भीर प्रतिपादनामय गीत नहीं लिखे। 'नवीन' जी का यह हिन्दी-भारती को सर्वथा नूतन, मौलिक एवं प्रौढ प्रदेय है, जिसकी समकक्षता सम्भव नहीं।

'ऊर्मिला' 'नवीन'जी का इकलौता महाकाव्य है। इसमें कवि ने ऊर्मिला के चरित्र की काव्यगत उपेक्षा तथा विस्तृत रूप की सुन्दर तथा महान् व्यंजना की है। 'ऊर्मिला' का जैसा विस्तृत, सांगोपांग एवं नूतन उद्भावनाओं से युक्त चित्र 'नवीन' जी ने प्रदान किया है, वह अन्यत्र अप्राप्य है। राम-वनयात्रा का सांस्कृतिक अनुदर्शन कर कवि ने इस काव्य की पीठिका को सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्त्वों से भी परिपुष्ट कर दिया है। ऊर्मिला की सरस अवतारणा, मौलिक प्रसंगोद्भावना, नूतन चरित्र-सृष्टि, हास-परिहास के दृश्य, राम-रावणवाद की अभिनव व्याख्या, ललित प्रकृति-चित्रण एवं कल्पना-वैभव की दृष्टि से राम-काव्य की परम्परा में इसका अनुपमेय स्थान है। इसने रामकथा के अंगों की सम्पूर्त्ति की है। एतदर्थ, इसे 'पूरक काव्य' की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। इसमें राम-सीता की कथा न होकर ऊर्मिला-लक्ष्मण की गाथा है। रामायणी कथा को कवि ने नहीं ग्रहण किया। उसके प्रमुख अंशों का ही सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। यह काव्य अद्भुत मौलिकता तथा विशिष्टताओं से परिप्लावित है। 'ऊर्मिला' जहाँ 'नवीन'-काव्य की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति है और कवि की यशःपताका एवं चिरन्तन काव्य-वैभव की अक्षय वाटिका है, वहाँ यह हिन्दी-काव्य की महती तथा सारगर्भ उपलब्धि है। इधर के कतिपय वर्षों में प्रकाशित प्रबंध-कृतियों में उसने अपना अप्रतिम स्थान बना लिया है। यह रचना कवि की वाणी का वरदान है, जो युग-युगांतरों तक हिन्दी-काव्य-संसार में गुंजायमान रहेगा। 'नवीन' जी का एकमात्र यह प्रदेय ही, उनको हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों की पंक्ति में शोभायमान करने के लिए पर्याप्त है।

'नवीन' जी ने अपने शास्त्रीय राग-रागिनियों से बद्ध गीतों के द्वारा विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास, मीराँबाई, नन्ददास आदि की परिपाटी की आभा भी बढ़ाई है। उसके प्रगीत, आधुनिक हिन्दी-प्रगीतों की सहज आत्माभिव्यंजना एवं संगीत-पक्ष का मार्दव उनकी सुष्ठु उपलब्धि है। उनकी, परिगणना हिन्दी के प्रौढ तथा मार्मिक गीतकारों में की जा सकती है।

'नवीन' जी ने हिन्दी के शब्दकोश की अभिवृद्धि की है और उसे सर्वसाधारण तक का काव्य बनाने के लिए पर्याप्त स्थानीय एवं देशज प्रयोग किये हैं। यह भी उनकी पृथक् उपलब्धि ही मानी जायगी।

राष्ट्रीय काव्यधारा का पुरस्कर्त्ता यह कवि अपने काव्य में खड़ी बोली तथा व्रजभाषा के समन्वित प्रयोग को दरसाकर, इन दोनों भाषाओं के सेतु का कार्य सम्पन्न करता है। इससे उसके मूल्यग्राही व्यक्तित्व तथा समन्वयकारी प्रवृत्तियों के दर्शन प्राप्त होते हैं। उसने नूतन मनोवृत्ति के साथ ही प्राचीन मनःसंस्कारों की भी विवेचना की है। आधुनिक युग में अभिव्यक्ति के प्राचीन माध्यम एवं छन्द अपनाकर, कवि ने अपनी अनुपमेय विशेषता का ही उद्घाटन किया है।

इस प्रकार, 'नवीन' जी ने हिन्दी-भाण्डार की श्रीवृद्धि में बहुमूल्य, मर्मस्पर्शी एवं चिरन्तन प्रदेय दिया है, जो हमें गौरवान्वित ही करता है।

२. 'नवीन' द्वारा नव प्रवर्त्तन—'नवीन' जी मौलिक प्रतिभा-सम्पन्न और सर्वतोमुखी विधान के स्रष्टा कवि थे। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व ने अनजाने ही अनेक नूतन पदार्थों को गढ़ा, मार्गों को प्रशस्त किया, लता-गुल्मों को सजाया-सँवारा और धाराओं के उत्स को प्रवाहित किया।

वर्त्तमान हिन्दी-काव्य में जो आधुनिक विभूतियों तथा महात्मा गान्धी, प्रेमचन्द आदि पर प्रबन्ध-काव्य लिखे जा रहे हैं, उस परिपाटी के मूल में हम 'नवीन' जी के 'प्राणार्पण'-काव्य को रख सकते हैं और तदुपरान्त इस परम्परा का मूल्यांकन किया जा सकता है।

कई समीक्षकों ने आधुनिक हिन्दी-काव्य में 'नाशवाद', 'विप्लववाद', 'प्रगतिवाद' एवं 'हालावाद' के प्रवर्त्तन का श्रेय 'नवीन' जी को ही प्रदान किया है।

'नवीन' जी ने राष्ट्रीय संग्राम के उत्तेजना-प्रधान क्षणों में विद्रोहमयी कविताओं का सर्जन किया था। उनकी, इस प्रकार की कई कविताओं में विध्वंस का तत्त्व प्रखरता-पूर्वक विद्यमान है। उन्होंने हिन्दी में 'नाशवाद' की इस काव्यधारा को जन्म प्रदान किया। इस प्रसंग में, श्रीप्रकाशचन्द्र गुप्त ने लिखा है कि 'नवीन' जी की कविता में राष्ट्रवाद का क्रन्दन गहरा हो गया है और नजरुल के नाशवाद का प्राथमिक हिन्दी-रूप भी हमें इन्हीं की रचना में मिलता है।[1] आधुनिक हिन्दी-काव्य में क्रांति एवं विप्लव के गीत जितनी तेजस्विता तथा प्रभावोत्पादकता के साथ 'नवीन' जी ने गाये, उसका सानी नहीं दिखाई पड़ता।

'नवीन' जी की क्रान्तिपरक रचना में सामाजिक तथा आर्थिक, दोनों ही क्षेत्रों में, क्षोभ एवं परिवर्त्तन की वृत्ति, प्रखरतम रूप में, दृष्टिगोचर होती है। इसी आधार पर ही उन्हें 'प्रगतिवाद' का भी उन्नायक माना गया है। श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री ने लिखा है कि 'नवीन' जी ने आर्थिक वितरण की अनुचित पद्धति पर भी दृष्टि फेंकी है और देश की गरीबी को देखकर ऐसा स्वर भी फूँका है, जिससे यह मालूम हो कि वह वर्गयुद्ध चाहते हैं। अगर आज के प्रगतिवाद का आधार और कारण आर्थिक है, तो यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि उसका पहला बीज हिन्दी में 'नवीन' ने बोया।[2] श्रीदेवीशरण रस्तोगी ने भी लिखा है कि प्रगतिवाद का पहला सोपान विप्लववाद था। उनकी 'विप्लव-गान' नामक कविता इसी प्रथम सोपान की प्रतिनिधि रचना है। उनकी 'जूठे पत्ते' नामक रचना की भी प्रगतिवादी काव्य-धारा के विकास में ऐतिहासिक महत्त्व है।[3]

हिन्दी में 'हालावाद' के प्रवर्त्तन का श्रेय डॉ० 'बच्चन' को दिया जाता है। परन्तु, ऐतिहासिक क्रम से, 'नवीन' जी ने ही सर्वप्रथम मधुवाद की काव्य में अवतारणा की। उनकी 'साकी' नामक कविता और 'ऊर्मिला' के कतिपय अंश इस तथ्य के साक्षी हैं। इन रचनाओं में मधुवाद का प्रौढ रूप भी पाया जाता है। डॉ० राजेश्वर गुरु ने कवि के

---

१. 'हिन्दी-साहित्य की जनवादी परम्परा'—पृ० १२५।

२. श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री : 'साहित्यदर्शन', हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय धारा, पृ० १२०-१२१।

३. 'हिन्दी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास', पृ० ३२३।

जीवन-काल में ही लिखा था कि "हिन्दी के आलोचक यदि क्षमा करें, तो मेरा यह दावा है कि हिन्दी में मधुवाद के उन्नायक 'बच्चन' नहीं, 'नवीन' जी हैं। जब शायद 'बच्चन' के किशोर हाथ प्याला थामने में हिचकते या सकुचाते थे, तब नवीन का कवि कहता था—**कूजे दो कूजे में बुझनेवाली मेरी प्यास नहीं।**"[१] कवि की मृत्यु के पश्चात्, अपने एक संस्मरण में डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने भी लिखा है कि यही नहीं, 'बच्चन' के जिस हालावाद ने दो दशकों तक पाठकों को मदमस्त बनाया, उसका सर्वप्रथम उत्स नवीन के उफनाते प्याले से ही छलका था।[२] डॉ० 'बच्चन' ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।[३]

इन सब तथ्यों के होते हुए भी, 'नवीन' जी ने मधुवाद के प्रवर्त्तक होने का कभी दावा नहीं किया। उन्होंने अपनी 'साकी' कविता को अपनी मस्ती में ही लिखा है, जो उनके व्यक्तित्व का प्रमुख अंग थी। 'नवीन' जी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार, अपने को किसी वाद के कठघरे में नहीं बाँधना चाहते थे। प्रगतिवादी दर्शन से उनका मतभेद था। श्रीप्रकाशचन्द्र गुप्त के मतानुसार 'नवीन' जी अपनी प्रवृत्ति में तो प्रगतिशील हैं, किन्तु सिद्धांत में नहीं।

इस प्रकार, 'नवीन' जी ने अपनी तप:पूत लेखनी तथा भावुक हृदय से हिन्दी-वाङ्मय को जो अक्षय धरोहर दी है, वह चिर अभिनन्दनीय है।

हिन्दी-विभाग, सागर-विश्वविद्यालय
सागर (म० प्र०)

●●

---

१. साप्ताहिक 'नवराष्ट्र', 'कोमल अभिव्यंजना के कवि नवीन', दीपावली-विशेषांक, सन् १९५७ ई०।

२. साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान', २० मई, १९६२ ई०, पृ० ६।

३. 'नये-पुराने झरोखे', पृ० २१।

राष्ट्रभाषा हिन्दी और व्रजभाषा में फारसी से आये दो प्रत्ययों की तुलना

डॉ० श्रीअम्बाप्रसाद 'सुमन'

१. मानव की विचाराभिव्यक्ति का माध्यम वाक्य है और वाक्य सार्थक पदों की सार्थक संहिता है। पदों के मूल में शब्द निवास करते हैं। शब्द से शब्द भी बना करते हैं और शब्द से पद[1] भी बनते हैं। एक शब्द से जब दूसरा शब्द बनता है, तब वह सम्बन्धतत्त्वात्मक शब्दांश व्युत्पत्तिमूलक प्रत्यय कहलाता है। इसे हम शब्दसाधक प्रत्यय भी कह सकते हैं। 'मनुष्य' शब्द में 'ता' प्रत्यय के योग से 'मनुष्यता' एक पृथक् शब्द बना है। अतः, 'ता' को हम शब्दसाधक प्रत्यय कहेंगे। किन्तु, 'मनुष्य' का कारकीय परसर्ग-सहित बहुवचनीय रूप 'मनुष्यों' (सं० मनुष्याः) होता है। 'मनुष्य' और 'मनुष्यों' में वास्तव में अर्थभेद नहीं है; वचनद्योतक रूपभेद है। 'मनुष्य' पद एकवचन है, तो 'मनुष्यों' पद बहुवचन। 'मनुष्यों' का अन्तिम 'ओं' वास्तव में पद-प्रत्यय, अर्थात् रूप-साधक प्रत्यय है। 'शब्द'[2] तो अपना पृथक् अस्तित्व ही स्वतंत्र रूप में रखता है; किन्तु 'पद' तो वास्तव में पूर्ण वाक्य का एक खण्डमात्र ही है, जिसके रूप को वाक्य की अन्विति में ही समझा जा सकता है। जैसे—"इस देश के **मनुष्यों ने** बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं; तुम अपने देश के **मनुष्यों को** देखो, तब पता चलेगा कि उनमें कितनी **मनुष्यता है**?"

२. कुरु-जनपद और शूरसेन-जनपद[3] (व्रज-मंडल) प्राचीन काल में प्रसिद्ध थे। कुरु-प्रदेश के सामान्य जन-जीवन की बोली ही परिष्कार एवं प्रांजलता प्राप्त करके साहित्यिक मंच पर राष्ट्रभाषा हिन्दी के नाम से पुकारी जाने लगी है। अपनी प्राणवती प्रकृति के कारण इसने अपने में अरबी, फारसी, अँगरेजी, तुर्की आदि अनेक भाषाओं की शब्दावली को आत्मसात् किया है। यही तो इसका राष्ट्रीयत्व है। उत्तरी भारत में अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ आदि के शासन-काल में व्रजभाषा को भी ऐसा ही गौरव प्राप्त था। शूरसेन-जनपद की इस भाषा ने उस समय राष्ट्रभाषा का भी स्वरूप प्राप्त कर लिया था।

३. कुरु-प्रदेश की भाषा को, अर्थात् वहाँ की बोली को हम 'कौरवी' कह सकते हैं। इसी का दूसरा नाम 'खड़ी बोली' है। खड़ी बोली का विकसित साहित्यिक रूप ही आज राष्ट्रभाषा हिन्दी के नाम से विख्यात है। यह भाषा अपनी प्रकृति में आकारान्त है, अर्थात् इसके संज्ञा-शब्द तथा विशषण-शब्द प्रायः आकारान्त होते हैं; जैसे —

---

१. 'सुप्तिङन्तं पदम्'—पाणिनि, अष्टा० (१।४।१४)।

२. 'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः...'—पतंजलि।

३. "कुरुक्षेत्रञ्च मत्स्याश्च, पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ॥"—मनु० २।१६।

कसाला, फावड़ा, मसाला, गाना, थाना, धोखा, नाता, रिश्ता, साफा, हल्ला, बड़ा, छोटा, काला आदि।

४. शौरसेन जनपद, अर्थात् व्रज-प्रदेश की भाषा की संज्ञाएँ और विशेषण प्रायः औकारान्त पाये जाते हैं। जैसे—कसालौ, पामरौ, मसालौ, गानौ, थानौ, धोकौ, नातौ, रिस्तौ, स्वापौ, हल्लौ, बड़ौ, छोटौ, कारौ आदि।

५. उपर्युक्त उदाहरणों को देखकर यह अर्थ न निकालना चाहिए कि राष्ट्रभाषा हिन्दी और व्रजभाषा में अकारान्त, आकारान्त, इकारान्त, ईकारान्त आदि संज्ञा-शब्द हैं ही नहीं। दोनों भाषाओं में अन्य प्रकार के भी पर्याप्त संज्ञा-शब्द हैं। यहाँतक कि व्यंजनान्त संज्ञाएँ भी हैं।

६. राष्ट्रभाषा हिन्दी में निम्नांकित हलन्तवाली संज्ञाएं पाई जाती हैं—

व्यंजनान्त संज्ञाएँ—ईख् , राम् , मोहन् , श्रीमान् , विद्वान् , माल् , ताल् , जान् , दम् , रँग् ।

अकारान्त संज्ञाएँ—लट्ठ, मर्द, पत्त, पन्थ, कृत्य, झड्ड, दल्ल[1], पतंग।

आकारान्त संज्ञाएँ—कपड़ा, गधा, घोड़ा, कोड़ा, मोढ़ा, कसाला, फावड़ा, माला, मसाला, गाना, थाना, धोखा, नाता, रिश्ता, साफा, हल्ला, दगा, दावा, चिड़िया, छड़िया, छल्ला, गुस्सा, किनारा।

इकारान्त संज्ञाएँ—मति, गति, मुक्ति, भक्ति, शक्ति, पति।

ईकारान्त संज्ञाएँ—कसाई, काई, खाई, दाई, नाई, भाई, गाँती, पाँती, दही, माली, पानी, लड़की, हथिनी, रानी, धोती, मोती।

उकारान्त संज्ञाएँ—राहु, बाहु, भानु, केतु, हेतु, सेतु आदि।

ऊकारान्त संज्ञाएँ—आलू, चाकू, बालू, भालू, डाकू, बहू, डमरू, पड़रू, बछरू।

एकारान्त संज्ञाएँ—चौबे, दुबे, पाँड़े।

ऐकारान्त संज्ञाएँ— ...

ओकारान्त संज्ञाएँ— ...

औकारान्त संज्ञाएँ— ...

व्रजभाषा में निम्नांकित हलन्तवाली संज्ञाएँ पाई जाती हैं—

व्यंजनान्त संज्ञाएँ—आँगन् , भाङ् , स्वाङ् , चाल् , हाल् , माल् , ताल्, जान्, दम्, रँग्।

अकारान्त संज्ञाएँ—टल्ल, गप्प, भद्द, लद्द-पद्द, झड्ड, दल्ल, गुट्ट, लट्ठ, पतिंग[2]।

आकारान्त संज्ञाएँ—गद्दा, गधा, घोड़ा, कपड़ा, लत्ता, मठा, माला, झब्बा, दगा, सजा, दबा, छला, गुस्सा।

इकारान्त संज्ञाएँ—मेंठि, सेठि, ब्यारि, मानि, सौंठि, रासि, कानि, मूठि।

---

१. दल्ल = प्रबल धार के रूप में पानी का प्रवाह।

२. हिं० पतंग, व्रज० पतिंग = गुड्डी, चंग। संस्कृत में पक्षी के अर्थ में 'पतंग' शब्द है। उड़ने के कारण गुड्डी को भी 'पतंग' नाम मिल गया। पतंगबाज = पतंग उड़ानेवाला।

ईकारान्त संज्ञाएँ—धोबी, पानी, माली, मोती, रानी, छोरी, धोबती।

उकारान्त संज्ञाएँ—धीउ, पीउ।

ऊकारान्त संज्ञाएँ—आलू, चक्कू, बारू, डांकू, बहू, डौरू।

एकारान्त संज्ञाएँ—दुबे, पाँड़े।

ऐकारान्त संज्ञाएँ—बै, परै, सरै, बजै, कल्है।

ओकारान्त संज्ञाएँ— ...

औकारान्त संज्ञाएँ—खौ, बौ, पौ, रौ, कसालौ, खुरपा, किनारौ, पामरौ, मसालौ, गानौ, थानौ, दानौ, धोकौ, नातौ, रिस्तौ, स्वापौ, मुड़ाइसौ और हल्लौ।

७. उपर्युक्त उदाहरणों में आये हुए संज्ञा-शब्दों में से कुछ स्त्रीलिंग भी हैं। अधिक संख्या में तो पुल्लिग संज्ञाओं के ही उदाहरण हैं। फारसी से आये हुए 'बाज़'[१] और 'दार'[२] प्रत्यय 'वाला' अर्थ के द्योतक हैं। जिन संज्ञा-शब्दों के पीछे ये लगते हैं, उनके मूल रूप में क्या परिवर्त्तन कर देते हैं, यही यहाँ द्रष्टव्य है।

८. राष्ट्रभाषा हिन्दी की व्यंजनान्त स्त्रीलिंग संज्ञाएँ—

व्यंजनान्त संज्ञा		प्रत्यय		सप्रत्यय संज्ञा
जान्	+	—दार्	=	जान्दार्
ताल्	+	—बाज़्	=	तालबाज़्
चाल्	+	—बाज़्	=	चाल्बाज़्

व्रजभाषा की व्यंजनान्त स्त्रीलिंग संज्ञाएँ—

जान्	+	—दार्	=	जान्दार्
ताल्	+	—बाज्	=	ताल्बाज्
चाल्	+	—बाज्	=	चाल्बाज्

राष्ट्रभाषा हिन्दी की अकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञाएँ—

दल्ल	+	—दार्	=	दल्लदार्
झड्ड	+	—बाज़्	=	झड्डबाज़्
पतंग	+	—बाज़्	=	पतंगबाज़्

व्रजभाषा की अकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञाएँ—

दल्ल	+	—दार्	=	दल्लदार्
गप्प	+	—बाज्	=	गप्पबाज्
झड्ड	+	—बाज्	=	झड्डबाज्
पतिंग	+	—बाज्	=	पतिंगबाज्

राष्ट्रभाषा हिन्दी और व्रजभाषा के उपर्युक्त उदाहरण यह सिद्ध कर रहे हैं कि शब्दसाधक प्रत्यय—'दार्' और 'बाज्' के योग से उपर्युक्त मूल संज्ञाओं में कोई अन्तर नहीं आया है।

---

१. फारसी में 'बाज़' एक संज्ञा-शब्द भी है, जिसका अर्थ है, एक शिकारी चिड़िया।

२. फारसी में 'दार' एक संज्ञा भी है, जिसका अर्थ है 'सूली'।

९. अब आकारान्त से औकारान्त तक स्त्रीलिंग संज्ञाओं पर भी प्रभाव देखिए—

राष्ट्रभाषा हिन्दी की आकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञाएँ—

चिड़िया + —दार् = चिड़ियादार्

दग़ा + —बाज़् = दग़ाबाज़्

व्रजभाषा की आकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञाएँ—

चिड़िया + —दार् = चिड़ियादार्

दगा + —बाज् = दगाबाज्

गुस्साँ + —बाज् = गुस्साँबाज्

राष्ट्रभाषा हिन्दी की इकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञाएँ—

हिन्दी में इकारान्त संज्ञाएँ प्रायः तत्सम हैं। अतः उनमें 'दार्' और 'बाज़्' प्रत्यय नहीं लगते हैं।

व्रजभाषा की इकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञाएँ—

कानि + —दार् = कानिदार्[१]

सौँठि + —दार् = सौँठिदार्

मूठि + —बाज् = मूठिबाज्[२]

राष्ट्रभाषा हिन्दी की ईकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञाएँ—

पेटी + —दार् = पेटीदार्

काई + —दार् = काईदार्

धोती + —बाज़् = धोतीबाज़्

व्रजभाषा की ईकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञाएँ—

पेटी + —दार् = पेटीदार्

काई + —दार् = काईदार्

धोबती + —बाज् = धोबतीबाज्

१०. राष्ट्रभाषा हिन्दी की उकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञाएँ—

हिन्दी में उकारान्त संज्ञाएँ प्रायः तत्सम हैं। अतः, उनमें 'दार्' और 'बाज़्' प्रत्यय नहीं लगते।

११. व्रजभाषा की उकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञाएँ—

इसमें उकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञा-शब्द नहीं मिलते हैं, पर 'खाजु', 'प्याजु' आदि संज्ञापद मिलते हैं। इनमें 'दार' और 'बाज' लगने पर उकार हट जाता है। जैसे, प्याजु+दार् = प्याज्दार्। 'प्याजु' और 'खाजु' पदों का अंतिम 'उ' वास्तव में विभक्ति-प्रत्यय है—जो कर्त्ता तथा कर्मकारक का एकवचन सूचित करता है।

१२. राष्ट्रभाषा हिन्दी की ऊकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञाएँ—

बहू + —बाज = बहूबाज्

---

१. कानिदार—टेढ़ा, वक्र।

२. मूठिबाज्—मुट्ठी चलाने में कुशल।

यही शब्द व्रजभाषा में भी प्रचलित है।[1]

१३. राष्ट्रभाषा हिन्दी में एकारान्त, ऐकारान्त, ओकारान्त और औकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञाएँ नहीं मिलती हैं। केवल पुल्लिग एकारान्त संज्ञाएँ हैं।

१४. व्रजभाषा में ऐकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञाएँ मिलती हैं, जिनमें 'दार्' और 'बाज़्' के योग से कोई परिवर्त्तन नहीं होता—

बै[2] + — दार् = बैदार्
बजै[3] + — दार् = बजैदार्
कल्है[4] + — बाज़् = कल्हैबाज़्

१५. व्रजभाषा में हमें केवल चार ही संज्ञा-शब्द औकारान्त स्त्रीलिंग मिलते हैं, और वे हैं—'खौ', 'बौ', 'पौ', 'रौ'। 'बौ' लम्बाई की नाप-विशेष के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसका रूप भी अक्षुण्ण रहता है—

बौ + —बाज़् = बौबाज़्।

'उषा' के लिए 'पौ' शब्द है। यह संभवतः सं० 'प्रभा' से व्युत्पन्न है। नदी आदि की 'बाढ़' के लिए व्रजभाषा में 'रौ' शब्द है। भूसा आदि रखने के लिए अरहर की लकड़ियों का घेरा 'खौ' कहलाता है। 'दार्' और 'बाज़्' के योग से इनके रूप अक्षुण्ण ही बने रहते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष यह निकला कि स्त्रीलिंग संज्ञा-शब्द 'दार्' और 'बाज़्' प्रत्ययों के योग से भी अक्षुण्ण ही रहते हैं।

१६. अब पुल्लिग संज्ञा-शब्दों पर भी इन प्रत्ययों के प्रभाव की परीक्षा करनी चाहिए।

राष्ट्रभाषा हिन्दी और व्रजभाषा के व्यंजनान्त पुल्लिग शब्द—

हिन्दी		**प्रत्यय**		**सप्रत्यय शब्द**	**परिवर्त्तन**
नम्बर्	+	— दा्	=	नम्बर्दार्	कोई परिवर्त्तन नहीं
माल्	+	— दार्	=	माल्दार्	,, ,, ,,
दम्[5]	+	— दार्	=	दम्दार्	,, ,, ,,
रँग्	+	— बाज़्	=	रँगबाज़्	,, ,, ,,
व्रजभाषा		**प्रत्यय**		**सप्रत्यय शब्द**	**परिवर्त्तन**
लम्बर्	+	— दार	=	लम्बरदार्	कोई परिवर्त्तन नहीं
माल्	+	— दार्	=	माल्दार्	,, ,, ,,
दम्	+	— दार्	=	दम्दार्	,, ,, ,,
रँग्	+	— बाज़्	=	रँग्बाज़्	,, ,, ,,

१. व्रजभाषा में 'बऊ' भी ('बहू' के 'हू' का ह् लुप्त हो जाता है)।

२. बै (सं० वयस्=जाल—मोनियर विलियम्स : संस्कृत-इँगलिश-डिक्शनरी)=करघे में काम आनेवाला एक जाल। दे० लेखक का ग्रन्थ—'कृषक-जीवन-संबंधी व्रजभाषा-शब्दावली' (द्वितीय खंड), हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, पृ० २४७।

३. बजै = शैली, सौन्दर्य (अ० वज़अ)।

४. कल्है = लड़ाई-झगड़ा (सं० कलह)।

५. दम् = प्राण, शक्ति, साँस।

दोनों भाषाओं के व्यंजनान्त संज्ञा-शब्दों में 'दार्' और 'बाज़्' के योग से कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ है।

१७. राष्ट्रभाषा हिन्दी और व्रजभाषा के अकारान्त पुल्लिंग संज्ञा-शब्द—

हिन्दी		प्रत्यय		सप्रत्यय शब्द	परिवर्त्तन
पर्त्त	+	— दार्	=	पर्त्तदार्	कोई परिवर्त्तन नहीं
लट्ठ	+	— बाज़्	=	लट्ठबाज़्	,, ,, ,,

व्रजभाषा		प्रत्यय		सप्रत्यय शब्द	परिवर्त्तन
गुट्ट	+	— बाज़्	=	गुट्टबाज़्	कोई परिवर्त्तन नहीं
लट्ठ	+	— बाज़्	=	लट्ठबाज़्	,, ,, ,,
पर्त्त	+	— दार्	=	पर्त्तदार्	,, ,, ,,

बहुत-से लट्ठोंवाले व्यक्ति के लिए व्रजभाषा में '**लट्ठन्**बाज़्' कहा जायगा।

दोनों भाषाओं की उक्त अकारान्त पुल्लिंग संज्ञाओं में प्रत्ययों के योग से कोई परिवर्त्तन नहीं होता।

१८. राष्ट्रभाषा हिन्दी और व्रजभाषा की आकारान्त पुल्लिंग संज्ञाएँ—

हिन्दी		प्रत्यय		सप्रत्यय शब्द	परिवर्त्तन
कसाला	+	— दार्	=	कसालेदार्	आ का ए
मसाला	+	— दार्	=	मसालेदार्	,, ,, ,,
रिश्ता	+	— दार्	=	रिश्तेदार्	,, ,, ,,
गुस्सा	+	— बाज़्	=	गुस्सेबाज़्	,, ,, ,,
धोखा	+	— बाज़्	=	धोखेबाज़्	,, ,, ,,

कई प्रकार के मसालोंवाली वस्तु के लिए हिन्दी में 'मसालोंदार' कहा जायगा।

व्रजभाषा		प्रत्यय		सप्रत्यय शब्द	परिवर्त्तन
छला[1]	+	— दार्	=	छलादार्[1]	कोई परिवर्त्तन नहीं
झब्बा[2]	+	— दार्	=	झब्बादार्[2]	,, ,, ,,
मठा	+	— दार्	=	मठादार्	,, ,, ,,
गद्दा	+	— दार्	=	गद्दादार्	,, ,, ,,
रसा	+	— दार्	=	रसादार्	,, ,, ,,
गुस्सा	+	— बाज़्	=	गुस्साबाज़्	,, ,, ,,
स्वापा	+	— बाज़्	=	स्वापाबाज़्	,, ,, ,,

१. व्रजभाषा में—एक० छलादार् बार्; बहु० छलन्दार् बार्।
हिन्दी में—एक० छल्लेदार बाल्, बहु० छल्लोंदार बाल्।
'मोल **छला** के लला न बिकइहौ।'—(व्रजभाषा)
... ...
'साँवला सलोना सिरताज सिर कुल्लेदार।'—(हिन्दी)

२. 'मेरी पतरी कमरि नारौ झब्बादार लइयौ।'—(व्रजभाषा)

१९. हिन्दी के आकारान्त पुल्लिग संज्ञा-शब्द 'दार्' और 'बाज़्' के योग से एकारान्त हो जाते हैं। अर्थात्, एकारान्त रूप में 'दार्' या 'बाज़्' लगता है। किन्तु, व्रजभाषा के आकारान्त पुल्लिग संज्ञा-शब्दों में जब वे प्रत्यय लगते हैं, तब उनमें कोई परिवर्त्तन नहीं होता। अर्थात्, वे आकारान्त ही बने रहते हैं। हिन्दी और व्रजभाषा की इन संज्ञाओं का ऐसा परिवर्त्तन तथा अपरिवर्त्तन ध्यान देने योग्य है।

२०. हिन्दी और व्रजभाषा की इकारान्त पुल्लिग संज्ञाएँ—

हिन्दी	**प्रत्यय**	**सप्रत्यय शब्द**
पति	...	...

व्रजभाषा	**प्रत्यय**	**सप्रत्यय शब्द**
सेठि	...	...

इनमें 'दार्' और 'बाज़्' प्रत्यय नहीं लगते।

हिन्दी और व्रजभाषा की ईकारान्त पुल्लिग संज्ञाएँ—

हिन्दी		**प्रत्यय**		**सप्रत्यय शब्द**	**परिवर्त्तन**
पानी	+	—दार्	=	पानीदार्	कोई परिवर्त्तन नहीं
दही	+	—दार्	=	दहीदार्	,, ,, ,,

२१. उपर्युक्त शब्द व्रजभाषा में भी हैं। व्रजभाषा में प्रत्ययों के योग से मूल शब्द भी अक्षुण्ण रूप में ही रहता है। उकारान्त, ऊकारान्त, एकारान्त और ऐकारान्त पुंलिग संज्ञा-शब्द भी अक्षुण्ण ही रहते हैं। केवल व्रजभाषा के औकारान्त पुल्लिग संज्ञा-शब्द उपर्युक्त दोनों प्रत्ययों के योग से एकारान्त हो जाते हैं। हिन्दी के पुल्लिग संज्ञा-शब्द औकारान्त नहीं होते। इसलिए उनका प्रश्न ही नहीं उठता।

व्रजभाषा		**प्रत्यय**		**सप्रत्यय शब्द**	**परिवर्त्तन**
कसालौ	+	— दार्	=	कसालेदार	औ का ए
मसालौ	+	— दार्	=	मसालेदार	,, ,,
रिस्तौ	+	— दार्	=	रिस्तेदार्	,, ,,
धोका	+	— बाज़्	=	धोकेबाज़्	,, ,,

कई प्रकार के मसालोंवाली वस्तु के लिए व्रजभाषा में **'मसालेन्दार्'** कहा जायगा।

२२. सारांश यह कि इन दो शब्दसाधक प्रत्ययों के योग से हिन्दी के आकारान्त पुल्लिग संज्ञा-शब्द और व्रजभाषा के औकारान्त पुल्लिग संज्ञा-शब्द एकारान्त हो जाते हैं। शेष संज्ञा-शब्दों में कोई परिवर्त्तन नहीं होता। 'दार्' और 'बाज़्' प्रत्यय 'वाला' (सं० पालक > बालअ > वाला) प्रत्यय के ही साथी हैं। 'दार' और 'बाज' की भाँति हिन्दी का 'वाला' या व्रजभाषा का 'बारौ' प्रत्यय भी ठीक उसी प्रकार के परिवर्त्तन किया करता है। ये प्रत्यय संज्ञा के बहुवचनीय रूपों में भी लगते हैं। किन्तु, वे बहुवचनीय रूप कारकीय परसर्ग-सहित होते हैं।

●●

८/७ हरिनगर, अलीगढ़

सूफ़ी प्रेम-दर्शन

श्रीनर्मदेश्वर चतुर्वेदी

सूफ़ीमत इस्लाम का होकर भी केवल इस्लाम का नहीं है। इसपर अन्यान्य बाह्य प्रभाव भी पड़े हैं। यह अल्लाह की मंजिल तक पहुँचने का मार्ग है। जीवन-यापन करने का शैली-विशेष है, जिसका लक्ष्य खुदा तक पहुँचने का रास्ता ढूँढ़ निकालना है। एक बार पथ का पता चल जाने पर सूफ़ी गन्तव्य स्थान तक पहुँचकर ही विश्राम लेता है। सूफ़ियों के लिए अल्लाह ही सब कुछ है। उसी एक के अस्तित्व में सबका अस्तित्व है।[1] वह सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि सुन्दर है। भौतिक सौन्दर्य उसकी छाया-मात्र है। स्वयं सौन्दर्य ने अपनी अभिव्यक्ति चाही, अतएव दृश्यमान जगत् अस्तित्व में आया।

जीवात्मा अहं के चक्कर में फँसकर अपने को विश्वात्मा से वियुक्त अनुभव करने लगता है और अहं से मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय 'प्रेम का मार्ग' है, जिसका अनुसरण करके सूफ़ी खुदा के साथ तादात्म्य अनुभव करने लगता है। परन्तु, इस स्थिति तक पहुँचने के पूर्व उसे कई मंजिलों को पार करना पड़ता है। सर्वप्रथम उसे अपने चित्त को एकाग्र भाव से खुदा की ओर उन्मुख करना पड़ता है। फिर, खुदा के नूर को वह अपने हृदय में स्थित करता है। उसके बाद प्रेम-मार्ग द्वारा उसे खुदा की उपलब्धि होती है। इस प्रकार सूफ़ी खुदा के साथ एकात्मकता अनुभव करने लगता है। सूफ़ी के लिए प्रेम वरदान-स्वरूप है, अर्जित की गई वस्तु नहीं। जिसपर खुदा का प्रेम है, वही उसका प्रेमी है। उसे पा लेना सबके वश की बात नहीं है। उसके हृदय में जो प्रेम अनुभूत हुआ करता है, वह उसके प्रेम की छाया-मात्र है, निज का कुछ नहीं। एक प्रकार से उसके रंग में अपने को रँग-भर देना है और यह तभी संभव है, जब अहं मिलन-मार्ग का रोड़ा न बन सके। उसके लिए प्रेम, वास्तव में खुदा का पर्याय है। पूर्णता प्राप्त करने का मार्ग यही है। यद्यपि यह मार्ग कण्टकाकीर्ण तथा रपटीला भी है। अल् फ़राबी के अनुसार, "खुदा स्वयं प्रेमस्वरूप है। प्रेम के ही कारण सृष्टि-रचना हुई है। सृष्टि की समस्त इकाइयाँ प्रेम, जो सर्वोपरि सौन्दर्य तथा सर्वश्रेष्ठ भी है, के ही सहारे प्रेम के उद्गम से बँधी हुई है।"[2]

प्रेम को शब्दों में व्यक्त करने के लिए समय-समय पर विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विविध परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं। परन्तु, शेख हसन सुहरवर्दी ने एक ही वाक्य में सबका सार सुरक्षित कर दिया है : **सौन्दर्य के गहरे चिन्तन के प्रति हृदय का रुझान ही प्रेम है।**[3]

सौन्दर्य ही प्रेम का उद्गम-स्थल है, अतएव सच्चे प्रेम के लिए स्थायी सौन्दर्य की आवश्यकता हुआ करती है, जो अकेले खुदा में ही संभव है। परन्तु, भ्रान्त मानव को

---

१. पामर : 'ओरियएटल मिस्टिसिज्म', पृ० १९।

२. शुस्त्री : 'आउट लाइन ऑव इस्लामिक कल्चर', पृ० ३११।

३. क्लार्क : '[illegible]', पृ० [illegible]।

इस संसार में ही सौन्दर्य का स्रोत दिखाई देता है, जो अपने-आप में स्थिर तथा टिकाऊ नहीं होता।[1] फिर भी, शिखर तक पहुँचने के लिए वह सीढ़ी का काम दे जाता है। अल् ग़ज़ाली ने एक स्थल पर जुलेख़ा से यूसुफ़ के प्रति कहलवाया है : **मैं जबतक ख़ुदा को नहीं जानती थी, तबतक तुमसे प्रेम करती थी। अब ख़ुदा के इश्क ने मेरे हृदय में स्थान प्राप्त कर लिया है। उस स्थल पर मैं अन्य किसी को स्थानापन्न नहीं कर सकती।**

इस सन्दर्भ में एथेंस की एक बहुत पुरानी घटना याद आती है। एक बार वहाँ विचारकों की एक गोष्ठी आयोजित हुई, जिसका विषय था 'प्रेम'। बारी-बारी से उपस्थित विचारकों ने अपना-अपना मत प्रकट करना आरम्भ किया। फेडरस ने कहा : **प्रेम देवों का देव है। वह सर्वोपरि है। सर्वाधिक शक्तिशाली है। यह वह वस्तु है, जो साधारण मनुष्य को वीर बना देती है। यदि मुझे ऐसी सेना दी जाय, जिसमें केवल प्रेमी ही प्रेमी हों, तो मैं निश्चय ही विश्व-विजय प्राप्त कर लूँ।**

इसके बाद पासनियस बोला—**बात बिलकुल सच है। किन्तु, आपको विदित है कि पार्थिव प्रेम, रूपासक्ति, चमड़ी के सौन्दर्य पर मुग्ध मन की यह दशा होती है कि यौवन के अन्त होते-न-होते उसके पंख निकल आते है और वह उड़ जाता है। परन्तु, परमात्मा का प्रेम शाश्वत होता है और उसकी गति निरंतर विकासोन्मुख ही रहती है।**

अन्त में प्रार्थना किये जाने पर सुकरात ने कहा—**प्रेम ईश्वरीय सौन्दर्य की भूख है। विद्या, पुण्य, यश, श्रद्धा, शौर्य, विश्वास और उत्साह ये सब उस सौन्दर्य के ही विविध रूप हैं। आत्मिक सौन्दर्य ही परम सत्य है और सत्य वह मार्ग है, जो परमात्मा तक पहुँचा देता है।** परन्तु, भौतिक सौन्दर्य रूप-सापेक्ष है, जो एक दूसरे से परस्पर घट-बढ़-कर भी हो सकता है; रूपासक्ति मोह का भी कारण बन जाया करती है। ईश्वरीय सौन्दर्य इन सबके परे है। इसमें इधर से उधर जाने की आशंका नहीं है। यहाँ एक में ही सब समाहित है। 'आवारिफुल मारिफ़' में एक कथा आती है। हुज्विरी ने लिखा है कि एक बार एक स्त्री ने प्रेम-निवेदन किये जाने पर अपने प्रेमी से कहा कि मेरी एक बहन है, जिसकी मुखाकृति मुझसे अधिक सुन्दर है। वह सौन्दर्य में पूर्णता प्राप्त है। फिर, प्रेमी का उस ओर झुकाव होते देखकर उस स्त्री ने उसे झिड़कते हुए कहा—**ऐ पाखण्डी, जब मैंने पहले-पहल तुम्हें देखा, तब समझा कि तुम बुद्धिमान् हो। जब तुम पास आये, तब मैंने समझा कि तुम प्रेमी हो। परन्तु, अब पता चल गया कि तुम न तो बुद्धिमान् हो, न प्रेमी।**"

प्रिय से मिलन की उत्कट अभिलाषा सूफ़ी शब्दावली में 'शौक़' कहलाकर प्रसिद्ध है और उससे मिल जाना अभीष्ट की सिद्धि है। इसकी पूर्त्ति अहं की तिलांजलि देकर ही की जा सकती है। राबिया के अनुसार, "मेरा अस्तित्व समाप्त हो गया है। मेरा अहं नहीं रह गया है। मैं प्रिय के साथ एकाकार हो गई हूँ और पूर्ण रूप से उसकी हो गई हूँ।" उसने अन्यत्र यह भी कहा है—**मेरे रोग का निवारण तभी हो सकेगा, जब मेरा**

---

१. इश्क हाये कज़् पैये रंगे बुवद। इश्क न बुवद आकबत नंगे बुवद॥ —रूम
[अर्थात्, जो प्रेम रूप और रंग का आश्रित है, वह प्रेम नहीं है; क्योंकि वह तो कुछ ही दिनों के बाद [illegible] सिद्ध हो जाता है।]

प्रियतम से मिलन होगा। परन्तु, सूफ़ियों के लिए मिलन से भी बढ़कर विरह की अवस्था है, जहाँ प्रेम की तीव्र अनुभूति हुआ करती है और प्रेमी का प्रत्येक पल प्रिय की स्मृति में ही व्यतीत होता है। प्रेम विरहगर्भ होता है। जायसी के शब्दों में—**प्रेमहिं मांह विरह रस रसा, मैन के घर मधु अमृत बसा।** वास्तव में, विरह का मूल स्रोत सृष्टि के आरम्भ में ही निहित है। अपनी स्थिति का वास्तविक ज्ञान होते ही मनुष्य अपने को असमंजस की स्थिति में पाने लगता है—

हुता जो एकहि संग, हौं तुम काहे बिछुरा?
अब जिउ उठे तरंग, मुहम्मद कहा न जाइ किछु॥

प्रेम का मार्ग तलवार की धार पर चलने जैसा है। परन्तु, सूफ़ी इस मार्ग की कठिनाइयों से न तो घबराता है, न विचलित होता है। इसके विपरीत वह उसमें सुख अनुभव करता है। वह प्यार और तिरस्कार दोनों का ही स्वागत करता है। वह निरन्तर कष्ट झेलकर भी उससे विमुख नहीं होना चाहता। इस भाव को विषय का रूप देकर फारसी साहित्य में 'इश्किया मसनवियाँ' तक लिखी गई हैं। हिन्दी में लिखे गये सूफ़ी प्रेमाख्यानों में भी मिलन-मार्ग की बाधाओं की प्रचुर मात्रा में चर्चा पाई जाती है। सूफ़ी इस संसार को अपनी आँखों से देखता है अवश्य, किन्तु उसे अपनी बुद्धि से नहीं, अपने हृदय से समझता है। इश्क ही उसका मजहब है। इसलिए, खुदा के प्रति उसका प्रेम सबके लिए है। वह भेदभाव को प्राश्रय देना नहीं चाहता। इब्नुल अरबी के अनुसार—**मेरा हृदय प्रत्येक रूप को स्वीकार करनेवाला बन गया है। यह हरिणों के लिए चरागाह तथा पादरियों के लिए गिरजाघर है। मूर्त्तियों के लिए मन्दिर है। हज्ज करनेवालों के लिए काबा है। तौरेत के लिए तख्तियाँ है। कुरान के लिए मुसहफ है। मैं इश्क के मजहब पर चलता हूँ।** सूफी साधक जब सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है, तब उसमें समदर्शिता का गुण आ जाता है।

'कश्फुल महजूब' में लिखा है—"आपको जानना चाहिए कि प्रेम का दार्शनिकों ने तीन प्रकार से प्रयोग किया है। प्रथम प्रकार में प्रेमास्पद के प्रति यह अनवरत लालसा, रुझान और आसक्ति के रूप में प्रयुक्त होता है, जिसका सम्बन्ध सांसारिक वस्तुओं एवं प्राणियों तथा उनके पारस्परिक प्रेम से होता है। परन्तु, उसे ईश्वरीय प्रेम नहीं कह सकते। ईश्वरीय प्रेम बहुत ऊँची चीज है। द्वितीय प्रकार के प्रेम का अर्थ ईश्वरीय अनुग्रह है, जो ईश्वर द्वारा किसी व्यक्ति को सुलभ होता है। ऐसे लोगों को ईश्वर पूर्ण साधुता-सम्पन्न बनाता है और अपने अपूर्व अनुग्रह से उसे विशिष्ट पद प्रदान करता है। तृतीय प्रकार का प्रेम वह होता है, जिसमें ईश्वर व्यक्ति को शुभ कर्मों के लिए सद्गुण द्वारा विभूषित करता है।

कदाचित् इन्हीं जैसी बातों से प्रेरित होकर जामी ने कहा है—**सांसारिक प्रेम को छककर पियो, ताकि तुम्हारे होंठ और अधिक शुद्ध प्रेम का सुरापान कर सकें।**

जैनकवि केशव-रचित भमरबत्तीसी

श्रीअगरचन्द नाहटा

'परिषद्-पत्रिका' के गत अक्टूबर '६३ के अंक में श्रीजवाहरलाल चतुर्वेदी का एक लेख 'हिन्दी का भँवरगीत-साहित्य : एक परिचय' शीर्षक प्रकाशित हुआ है। उसमें "भ्रमर-गात : केशव (सं० १७३५ वि०; मेड़ता, राजस्थान)" का उल्लेख भी किया गया है। टिप्पणी में भ्रमरगीत का नाम 'भ्रमर बतीसी' भी मिलता है, ऐसा लिखा गया है। वास्तव में, इस रचना का नाम 'भ्रमरगीत' नहीं, 'भमरबत्तीसी' ही है। सन् १९०२ ई० की खोज-रिपोर्ट में इस रचना का विवरण प्रकाशित हुआ था। उक्त खोज-रिपोर्ट तो मुझे प्राप्त नहीं हो सकी; पर उसका जो सारांश 'हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' नामक ग्रन्थ के पृ० ३० और १०७ में प्रकाशित हुआ है, उसमें लिखा है : **केशवदास—ये राजपुताने के जान पड़ते हैं, इनके विषय में कुछ ज्ञात नहीं। भ्रमरबतीसी दे० (ग-३४)। भ्रमरबत्तीसी—केशवदास-कृत; लि० का० सं० १८४४; वि० अन्योक्ति अलंकार में ज्ञानोपदेश। दे० (ग-३४)।**

वास्तव में, यह रचना हिन्दी के भ्रमरगीत-साहित्य की शैली की नहीं है और न कवि का समय संवत् १७३५ और न स्थान मेड़ता ही है। कवि केशव खरतरगच्छ के जैन विद्वान् थे। उनकी अन्य भी कई रचनाएँ हमें प्राप्त हैं और 'भमरबतीसी' की दो हस्तलिखित प्रतियाँ भी हमारे संग्रह में हैं, जिनमें एक संवत् १७१९ की लिखी हुई है। खोज-रिपोर्ट में उल्लिखित कवि का नाम केशवदास तो जन्मनाम है। खरतरगच्छ में दीक्षा लेने के बाद इनका दीक्षा-नाम वर्द्धनकीर्त्ति रखा गया। खरतरगच्छ की आद्यपक्षीय शाखा, जिसकी गद्दी पाली (राजस्थान) में है, के आचार्य जिनहर्ष सूरि के शिष्य दयारत्न सूरि के ये शिष्य थे। इन्होंने सुप्रसिद्ध 'सदयवत्स सावलिंगा' की प्रेमकथा पर एक चौपाई की रचना की, जो हमारे 'शार्दूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर' से 'सदयवत्स वीरप्रबन्ध' के परिशिष्ट-सं० २ में प्रकाशित हो चुकी है। इसकी रचना संवत् १६९७ की विजयादशमी के दिन हुई थी। इसी प्रति में संवत्-सूचक शब्दांक 'मुनि-निधि' की जगह 'निधि-मुनि' पाठ भी मिलता है और उसके अनुसार रचनाकाल संवत् १६७९ मुद्रित संस्करण में प्रकाशित हुआ है। पर, कवि की अन्य रचनाएँ, जिनमें रचनाकाल का उल्लेख है, संवत् १७०३-१७०४ की हैं। इसलिए, 'सदयवत्स सावलिंगा' चौपाई का रचनाकाल संवत् १६९७ मानना ही ज्यादा उपयुक्त है। कवि के गुरु दयारत्न की दो रचनाएँ संवत् १६९१ और १६९५ की प्राप्त हैं :

१. हरिबल चौपाई—सं० १६९१; जोधपुर; पद्य ५८१।

२. कापरहेड़ा रास—सं० १६९५ (प्रकाशित, ऐतिहासिक रास-संग्रह, भाग ३)।

भमरबत्तीसी के कर्त्ता मुनि केशव या कीर्त्तिवर्द्धन-रचित निम्नोक्त राजस्थानी और हिन्दा-भाषा की रचनाएँ हमें प्राप्त हुई हैं—

१. सदयवत्स सावलिंगा चौपाई; सं० १६९७: विजयादशमी।
२. चतुरप्रिया (नायक-नायिकाभेद); सं० १७०४; चैत सुदि १०।
३. सुदर्शन चौपाई; सं० १७०३ (मुनि कान्तिसागर-संग्रह)।
४. जन्मप्रकाशिका; (ज्यौतिष); जैसेलमेर।
५. भमरबत्तीसी ; दोहा ४८; हमारे संग्रह में।
६. दीपकबत्तीसी ; दोहा ३४ ; ,, ,,
७. प्रीतछत्तीसी ; दोहा ५२ ; ,, ,,

भमरबत्तीसी नाम के असुसार तो इसमें मूलतः ३२ दोहे ही होने चाहिए थे; पर जिस तरह प्रीतछत्तीसी में ३६ दोहों की जगह ५२ दोहे प्राप्त हैं, उसी तरह सम्भव है, कवि ने भमरबत्तीसी में कुछ दोहे और जोड़ दिये हों। इसकी एक अन्य प्रति में तो ५ दोहे और अधिक मिलते हैं। अतः, कुल दोहों की संख्या ५३ हो जाती है।

अब पाठकों को मूल रचना का परिचय कराने के लिए प्राप्त ५३ दोहे नीचे दिये जा रहे हैं—

अथ भमरबत्तीसी रा दूहा

भमर उमाह्यौ भेटिवा, विधि-विधि री वणराइ।
का छंडै का आदरै, का परखै चितलाय ॥१॥
भमरा मांझले वाडीयां, मन लाये गुण जोइ।
कबही मन लागां पछै, मति पछतावो होइ ॥२॥
बैठो भमरो देखिनै, के सू फूल डहक्क।
जोयो जीव लगाइनै, (ताइ) माहे नही महक्क[1] ॥३॥
भाव म बांधे भमरला, देखि सुरंगो फूल।
पदमिणि जांणि न पांतरे, गुण बाहिरो गहूल ॥४॥
विणगम[2] फूली वाडीयां, छीपि म भमर छयल्ल।
गाडौ किम आघो गिडै, जो गलियार वयल्ल ॥५॥
भूली म जाये वाडीयां, देखे दिसो दिसीह।
भमर अखै सांसे भरै, की जांणी जै किसीह ॥६॥
डहके[3] भमरा मत भुलै,[4] सुन्दरि रूप सचोप।
देखण हीं काला डय[5], आव लहंदी ओप ॥७॥
भूलो भूलो भमरलो, दीठो फूल सुरंग।
देख्यो अवसर वासरै, ज्युं कीधो मन भंग ॥८॥

---

१ डहक्क। २ विहगम। ३ महिकै। ४ डुलै। ५ डए, डहै।

भमर सुरंगी वेलीयां, देखी महोप दीण ।
उपरी फूल डहक्कडो[१], पिण आखरा फल हीण ॥९॥
भमरा वे फल[२] परहरे, नीस वद लाख[३] कठोर ।
की राता दीसै नहीं, ज्युं लायणीय बोर ॥१०॥
कंटाली तो केतकी, भमरा भरम न भूलि ।
पिण उण ज्युं औ ताहरे, हाथ न आवै फूल ॥११॥
भमरा तेथी[४] विलम्बिजै, जेथि लहीजे जीव ।
जीव विहुणो जांणिणै, सेवै कवण सदीव ॥१२॥
डोले जीव डुलाइनै, भमरा कहूं म खेल ।
किण किण रो मन राखसी, वार विचाले वेल ॥१३॥
जल थोड़ो कद्दम घणो, दोली बहुती रेलि ।
चतुर भमर किम करि चढै, बीच सरोवर वेलि ॥१४॥
फूले तुं विनि फूलड़ै, दीठै भमर. म डुल्ल ।
निगुण निगंधा नेह विण, निस वादा ए कुल्ल[५] ॥१५॥
मत लोभावे महक्क इण, आवौ भमरा ऊठि ।
की तोडीजै ताफ्रणो, काठ तुरि की पूठि ॥१६॥
भमर बहु दिन बोलिया, आयो मास बसन्त ।
अजहुं न जाकी वासना, उवा तो निगुणी अन्त ॥१७॥
कहै भमरौ सुणी केतकी, इण वसंत रिति मांहि ।
दव दाधा हो पालवै, तू जन फूलै कांहि ॥१८॥
जाइ तुमिणी जाति मै, एण वसंत हरित्त ।
नींव जिसा हो मोरीयां, पोखण लांमा इत्त ॥१९॥
बारे वरसे अंब पिण, फलीयौ आज दिखाइ ।
तूंज सुहागिण किम रहे, एकलड़ी किम[६] जाइ ॥२०॥
भमरी दिन केतले, का मासे वरसेह ।
भमर[७] न फूले वेलड़ी, रूपी सासर सेह ॥२१॥
नां दीहे ना पखड्डो[८], ना आसे वरसेह ।
भमर न फूले वेलड़ी, बिठासुं मत तरसेह ॥२२॥
भमरा धजुं गहिर पणि, अवसरि आयै अंत ।
फुट्टे छुट्टे वासना, सो वेली गुणवंत ॥२३॥
भमरा जो लख तड़फ है, निरगुण सगुण न होइ ।
काली ऊनन कालपण, छौंडै देखो धोइ ॥२४॥

---

१ डहकड़ौ । २ [illegible] । ३ [illegible] । ४ तेथि । ५ [illegible] । ६ [illegible] । ७ [illegible] । ८ पखड़ौ ।

आपेही परगट हुए, गुण विण लीधइ नाम ।
भमरा देखि खुलाइकै[1], कस्तूरी को ठाम ॥२५॥
लख तलफे लालच करै, नीगुण गारी नेटि ।
तू है सगुणो आदमी, भमर भलेरी भेटि ॥२६॥
ऊम जमारो ओलगे, ना. खल हुव न तैल ।
भमर कछै फूलै फलै, निगुणी नागर बेलि ॥२७॥
दीठ न जोड़े दीव सूं, मुँह टीलै मिली चांह ।
भमर म जाऐ चूलरी, गुण हीनीं गलीयांह ॥२८॥
रहु रहु भमर विसूरिआं, छौल परेरी[2] छड्डि ।
चंगी पणि चाहे नही, चंपा कली मचड्डु ॥२९॥
भमर वेली सगुण है, रुंधी धणे लणेह ।
हाथ विकांणी पारकै, विणथी दूरि टलेह ॥३०॥
राकण रंगी वेलीरो, भमर न छांडे संग ।
पिण तिण रो आसंगो, किसो जिका घड़ी घड़ी रे रह रंग ॥३१॥
तूं सांधै तोड़े घणां, चंग[3] विहूंणो वास ।
भमरा किम पूरी पड़ै, जिका पराये सास ॥३२॥
सुणि भमरा भमरि कहि, किसू विसूरो कंत ।
जां लगी फूले केतकी, ताम्हां हो[4] करि खंति ॥३३॥
भमर भमंतो देखिही, मुखि मुलकै जो मीति ।
मन विकसै तन उल्लसै, तो जाणी जें प्रीति ॥३४॥
आइ रिति वसंत की, दिव[5] दोहरा दसवीस ।
भमर भलेरी भेटि ज्यो, जब तूसै जगदीस ॥३५॥
झूरै पूरै विरह सूं, झुके जू तरुवरु[6] संग ।
भमरो ओमण कारणे, रैण करै खिण अंग ॥३६॥
पदमिणी तेरे कारणे, भमर कलाप करंत ।
अध बलि मोसो हुई रह्यो, आधौ अजे रहंत ॥३७॥
पोइन भमर पयम्पही, क्यो न कहो मन बात ।
आध मूओं जीवावणो, किमपूरी करणां घात ॥३८॥
मो इण जेहा सज्जना करंक लावै खोड़ि ।
भमर जमंतर बालहो, तिण सु तोणि म तोड़ि ॥३९॥
पदमिणि के मन पूरिजे भमर तणि मनि खंति ।
कोइल हो वाचा खुलै आयौ मास वसंत ॥४०॥

---

१ फुलाइकै । २ परहेरी । ३ चंगवंग । ४ सु । ५ दिन । ६ तरु-तरु ।

तरवर बेली सहु तजी पदमिणि तेरो काजि
राखि सुहागिण तूँ हिवै भमरा केरी लाज ॥४१॥
पदमिणि तूं उपआर करि मेटि हमारा दाह
हम पखेरू थिर नहीं, भमर भमंते लाह ॥४२॥
भमर म झुरि सभ म भमिसि, करिर हदै करार
पोइण परि उतरिसी सरब सोहागिणि नारि ॥४३॥
जो ए पदमिणि जेहवी, उणरी साची आस
सुहडै सूरि जिसां मिलो अंतर भमर निवास ॥४४॥
करि धीरिज पोइण कहै तूं चिरजीवो नाथ
सिरजण सिरजिया, हम तुम एको साथ ॥४५॥
भमरबत्तीसी पढवी सुगुण मणी सुगणेह
धन ते केसवदास मुनि, चितहित वधे सनेह (सुन्न नेह) ॥४६॥
सज्जन की समझावणी, सज्जन ही के काम[1] ।
कीनो केशवदास मुनि, भमरबत्तीसी नाम ॥४७॥
वेरागी वेरागरस, श्रृंगारी श्रृंगार ।
हयै सुख ल्यो सहु हुनिको भमरबत्तीसी धारि ॥४८॥
भमरा अफल नवि लीजिये जे चाख्या धणे जणेह ।
भमरा असज्जन नवि कीजिये ज्यारै जण जणसू नेह ॥४९॥
भमरा फूल सूरंगो देखि करि, मत ललचावै जीव ।
भावल फूल डहक है, सेवे कवण सदैव ॥५०॥
भमरा वेलि सुरंगिया देखण के सु चंग ।
विण गंधै डहकज करै समवल फुल्ल उत्तंग ॥५१॥
भमरा बाट विचालै केतकी, जिण-२ छोडी चख्य ।
रस चूको गंधज गयौ, विण सुनेह मंदख्य ॥५२॥
भमरा तिण वेलै रस किसो, जणजण चुंटै आय ।
तिण सु नेह किया थकां, प्रापति नहीं ज काय ॥५३॥

खचांजी-संग्रह के गुटके में उपर्युक्त पाँच पद्य अधिक हैं । उनको मिलाने से कुल पद्य ५३ हो जाते हैं ।

नाहटों की गवार
बीकानेर

---

१ अरु आतम कै काम ।

हेराक्लिटस और भारतीय चिन्तना

श्रीहृदयप्रसाद

महर्षि श्रीअरविन्द ने कहा है : 'यूनानी सूत्रकार-दार्शनिक हेराक्लिटस से ज्यादा विचारोद्दीपक दर्शनकार कदाचित् ही कोई हो।'

नीट्त्से का कथन है : 'संसार को सर्वदा सत्य की आवश्यकता है और उसे सदा हेराक्लिटस जैसे दार्शनिकों की अपेक्षा है।'

हेराक्लिटस की गणना विश्रुत यूनानी तत्त्ववेत्ताओं में की जाती है। यूनानी संस्कृति ने आजतक जगत् को जो भी दान किया है, उसमें हेराक्लिटस का प्रमुख स्थान है। हमारे वैदिक ऋषियों की तरह इन्होंने भी अग्निदेव का साक्षात्कार किया था और किया था उनकी महिमा का प्रतिपादन। किन्तु, ऐसे प्रसिद्ध दार्शनिक के जन्म-निधन की तिथियों से भी हम अवगत नहीं हैं। विश्वकोश भी इस विषय में कुछ ज्यादा बताने में असमर्थ है। बहुमत है कि इन्होंने ईसा के पूर्व, छठी शती में एशिया-माइनर के प्रांगण को अपने प्रादुर्भाव से पवित्र किया था। अपने से पूर्व होनेवाले पीथागोरस के विचारों की इन्होंने कटु आलोचना की थी। किंतु, हेराक्लिटस के अनंतर प्रादुर्भूत होनेवाले पैरमिनाडेस ने इनके ठीक विपरीत मत चलाया था।

यह इसवी-पूर्व छठी शती विश्व-दर्शन के इतिहास में अनोखी-अपूर्व शती रही है। इसी शती में एक नवीन ज्ञान और नवीन चेतना वसुमती की गोद में संस्फुरित हुई थी। भारत में भी महावीर और बुद्ध का प्रादुर्भाव करके यह शती मानव-मुक्ति के पथ का निर्माण कर रही थी। कनफ्यूशियस भी इसी शती में चीनवासियों को नैतिक पाठ की शिक्षा दे रहा था। रोम में भी विधान की विख्यात द्वादश नियम-शिलाओं का उद्धार हो रहा था और यूनान में हेराक्लिटस अपनी सूक्ष्म अनुभूति द्वारा नवीन मार्ग के अन्वेषण में पूर्ण संलग्न था। इसके कुछ पूर्व फारस में जरथुश्त का आविर्भाव हुआ था। यही छठी शती यूनानी साहित्य के विकास के लिए भी स्वर्णयुग मानी जाती है।

तत्त्ववेत्ता हेराक्लिटस की अमूल्य कृतियों के कुछ स्फुट अंश ही उपलब्ध होते हैं। इनके समकालीनों ने इनकी उक्तियों को बहुत ही गहन, रहस्यमय और प्रतीकात्मक माना है। अतः, हेराक्लिटस के उद्देश्य को न समझ पाना और इनकी भाषा को दुरूह कहना नैसर्गिक था। फ्रांसीसी विद्वान् 'निकोला सेग्युर' के शब्दों में 'फिर भी हम उनके लब्धांशों में पाते हैं—कविता की अभिव्यंजना, कविता की गहनता, कविता का सौंदर्य और सौष्ठव।' उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ देखिए—

सभी पदार्थ एक हैं।
देव मर्त्य है, मानव अमर्त्य।
सब कुछ परिवर्त्तनशील है।

आरोहण और अवरोहण—एक ही पथ है ।
युद्ध सबका जनक है, है सबका राजा ।
एक से बहु, और बहु से एक ।
साम्राज्य शिशु के लिए है ।
आत्मा की सीमा तू नहीं ढूँढ़ सकता ।

ये रहस्यमय सूक्तियाँ हमें चिन्तन-सागर में गोते लगाने को बाध्य करती हैं । पाश्चात्य मनीषी इसे शब्दाडम्बर कहेंगे । पर, भारतीयों के लिए यह सहज अधिगम्य है । 'दियोजेन लाएरस' नामक विद्वान् ने इनपर भाष्य लिखा है । । उनका कहना है—" ये उक्तियाँ हमें गहन अंधकार में फेंक देती हैं । यदि कोई पथ-प्रदर्शक, कोई दीक्षक मिल जाय, तो ये उक्तियाँ उत्तप्त सूर्य से भी अधिक आलोकमय बन जायँ ।"

हेराक्लिटस प्रथम यूनानी दार्शनिक हैं, जिन्होंने 'गति' के आदितत्त्व का अनुसंधान किया था । 'Nomos'—'Law' की इन्होंने एक नूतन दृष्टिकोण से परिभाषा की थी । 'नोमोस' शब्द का उपयुक्त पर्याय संस्कृत-भाषा के अतिरिक्त अन्यत्र मिलना दुर्लभ है । 'धर्म' शब्द से इसका आशय सुगमता से मालूम हो सकता है । 'नोमोस'—'धर्म' अग्नि की तरह शाश्वत है । वह अक्षय्य, अविकल्प, सनातन है और सब कुछ परिवर्त्तनशील है । इसी 'नोमोस' का—'धर्म' का, गीता के 'स्वधर्म' का आविष्कार ही मानव का चरम और परम लक्ष्य होना चाहिए । ऐसा कहने में हेराक्लिटस जरा भी संकोच नहीं करते और तब यूनान का यह चिन्तक औपनिषद ऋषियों के पार्श्व में स्वयं को पाता है ।

हेराक्लिटस ने किसी स्वतंत्र मत का प्रतिपादन नहीं किया । पर हाँ, सबपर अपनी तीक्ष्ण आलोचनात्मक दृष्टि डाली है । इनकी उड़ान इतनी उदात्त होती थी कि कोई उसका पार न पाता था । काटिलस ने, जिसे प्लेटो के गुरु होने का गौरव मिला था, इनके पद-चिह्नों पर चलने की चेष्टा की थी : "मेरी बात मत सुनो । 'लोगोस' की सुनो । अपने अंदर पैठो । वहाँ तुम 'लोगोस' को पाओगे, जो स्वयं सत्य है । जो प्रकृति अपने मर्मों की गुह्यता को प्रच्छन्न किये रहती है, उससे युद्ध करना, उसके गुप्त रहस्यों को अनावृत करना; जो 'कारण' सबको अनुशासित करता है, उसके अन्दर प्रवेश करना—यही हमारा लक्ष्य होना चाहिए और हमारे जीवन का उद्देश्य भी ।" यह है—इनकी अमर वाणी ! मानों ब्राह्म मुहूर्त्त में गुरु शिष्यवृन्द को सदुपदेश दे रहे हों ।

'लोगोस' एक यूनानी शब्द है, जिसका अनुवाद विज्ञों ने नाना प्रकार से किया है, जो वस्तुतः अननुवाद्य है । जैसे 'ब्रह्म' का भाषांतर करना अनर्थ होगा, वैसे ही 'लोगोस' का उल्था सार्थक नहीं हो सकता । जर्मन-दर्शनकार विल्हेलम कापेल का कहना है कि 'लोगोस' शब्द का अनुवाद कदापि नहीं करना चाहिए । हेराक्लिटस कहते हैं—" 'लोगोस' नित्य और अनित्य है । वह क्षर भी है, अक्षर भी । वह स्थिर भी है, अस्थिर भी । वह सक्षय होते हुए भी अक्षय है ।" ऐसे गुह्य शब्द का अनुवाद करना अनर्थ नहीं तो और क्या होगा ? वस्तुतः, 'लोगोस' का अर्थ है 'शब्द', जिसे लैटिन में 'वैरबुम' कहते हैं ।

बाइबिल में 'लोगोस' का बहुत ही तत्त्वपूर्ण वर्णन है। सेण्ट जॉन अपने ग्रंथ में मंगलाचरण के रूप में लिखते हैं—ऐन आरखे ऐन हो 'लोगोस', काय हो 'लोगोस', ऐन प्रोस टोन तेओन, काय ते ओस ऐन हो 'लोगोस'। अर्थात्, सृष्टि के पूर्व 'शब्द' था, और वह 'शब्द' भगवान् के समीप विराजमान था, और 'शब्द' ही भगवान् था। इसी को हम कहते हैं 'शब्द-ब्रह्म'—'ओम्'। श्रीअरविन्द के शब्दों में—"ओम् एक विशेष मंत्र है, ब्रह्म-चेतना को उसके चारों प्रदेशों में—तुरीय से स्थूल स्तर तक में—प्रकट करनेवाला ध्वनि-प्रतीक है।" उपनिषद् कहती है—ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् तस्योपव्याख्यानम्, भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। 'ओम्' अनश्वर, अव्यय 'शब्द' है, 'ओम्' विश्वमय है। यह 'ओम्' का विवृति है। भूत, वर्त्तमान, भविष्य जो था, है और होगा, सब 'ओम्' ही है।

भारतीय निगम-आगम 'ओङ्कार'-मंत्र को हृदय में धारण कर, उसपर मनःसंयम कर ध्यान करने की शिक्षा देते हैं। हेराक्लिटस कहते हैं—'लोगोस' ही एकमात्र हमारा आभ्यंतर पथ-प्रदर्शक है। 'लोगोस' ही मानव को अपने परम वांछित लक्ष्य के उपलब्ध्यर्थ प्रेरित करता है। अपने अन्दर निभृत 'लोगोस' की गवेषणा करो, उसकी ही सुनो। हमारे ऋषि विश्वास करते थे कि 'ओम्' के ध्यान में मानव परम सत्य की ओर उन्मुक्त हो सकता है, सत्य से अमृतत्व लाभ कर सकता है।

'सभी प्रवहमाण हैं।'—यह है एफेजियन ऋषि की विश्व-विख्यात उक्ति। सचमुच, कुछ भी तो यहाँ चिरस्थायी नहीं। सब क्षणिक हैं, नश्वर हैं। हेराक्लिटस का विश्वास था कि यह विश्व अनवरत गतिमान् है, अतः अहर्निश विकार्य है। 'एक ही नदी में हम दो बार डुबकी नहीं लगा सकते।' 'न मनुष्य ने और न देवता ने विश्व-ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है। किन्तु, यह प्रदीप्त जीवंत अग्नि सर्वदा थी, और है और रहेगी।' हेराक्लिटस के लिए अग्नि सृष्टि का प्रतीक है। अग्नि का अस्तित्व अक्षुण्ण है और यही है वह स्वर्गिक आधारभूत तत्त्व, जो सृष्टि की रचना करती है। अनायास ही हमारी दृष्टि भारत में अग्नि-परम्परा की ओर अभिमुख हो उठती है। पेरू, फारस, मिस्र, रोम सर्वत्र अग्नि की पूजा होती रही है।

हमारे यहाँ भी अग्नि—पावक—पवित्रकर्त्ता का अखण्ड राज्य है। अग्नि सृष्टि-शक्ति है, स्रष्टा की अनलस तथा कर्मोद्यत शक्ति है। गुह्यरूपेण सर्वभूतेषु वह प्रज्वलित है। प्रत्येक गृह में वह प्रस्थापित है; पूजित है। उसके विना हमारी ऋद्धि-सिद्धि निष्फल हैं। अग्नि ही जीवन में पदार्पण करने की दीक्षा देती है। श्रीअरविन्द के शब्दों में वह मनुष्य और वस्तु में 'अन्तर्निहित अमर रहस्य' है। हमारे ऋषि भी ब्रह्मवेला में निमीलितनयन हो 'ज्वलन्त अग्नि' की उपासना में निरत मंत्रोच्चारण करते हैं—

तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः।
तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे॥

अर्थात्, हे अग्नि! हम तेरे ही आह्वान और हवि हैं; तेरा ही पवित्रीकरण और यज्ञ-विधान है, तेरा ही शोधन है, तू सत्य के अन्वेष्टा के लिए अग्न्याहर्त्ता है। प्रशासन तेरा ही है, तू यात्रा-कर्म का पुरोहित है, तू शब्द का ऋत्विक् है और हमारे घर में गृहपति है।

हमारे यहाँ कोई भी शुभकार्य अग्नि की अनुपस्थिति में सम्पन्न नहीं हो सकता। ऋषियों के लिए अग्नि न केवल सृष्टि का कारण है, वरन् आध्यात्मिक जीवन का प्ररोह भी वही है। अग्नि अन्वेष्टा की अभीप्सा है, पवित्र करनेवाली ज्वाला है।' अग्नि शुभ्र-ज्वालाओंवाला एक रथ है, जिसमें आसीन हो जिज्ञासु आध्यात्मिक जीवन के 'क्षुरस्य धारा' सम पथ के सुधीर-वीर यात्री बनते हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन और यूनानी दर्शन में एक गम्भीर अनुरूपता है। सर विलियम जोन्स का कहना है कि सांख्य आर पीथागारियन दर्शन में सादृश्य है। औपनिषद तत्त्व और यूनानी चिन्तन-धारा में एक साम्य पाया जाता है, ऐसा कारवे तथा कोलब्रुक का भी अभिमत है। कितनों की तो यह धारणा है कि भारतीय दर्शन से यूनानी दर्शन की उत्पत्ति हुई है। हाँ, इतना तो असंदिग्ध है कि पुराकाल में दोनों संस्कृतियों में आदान-प्रदान हुआ था। दोनों जातियों की चेतना 'परम' की उपलब्धि में सतत प्रयत्नशील थी। सत्य-दर्शन ही दोनों का लक्ष्य था।

परन्तु, दोनों के दर्शन की अभिव्यक्ति में भिन्नता है। एक है बुद्धिप्रधान और सुव्यवस्थित तथा दूसरा है आस्थात्मक, भावनात्मक और अंतर्ज्ञात। एक दर्शन की दृष्टि बहिर्मुखी, दूसरे की अंतर्मुखी। श्रीअरविन्द लिखते हैं—

"The Philosophy and thought of the Greeks is perhaps the most intellectually stimulating, the most fruitful of clarities the world has yet had. Indian philosophy was intuitive in its beginnings, stimutative rather to the deeper vision of things,—nothing more exalted and profound, more revelatory of the depths and the heights, more powerful to open unending vistas has ever been conceived than the divine and inspired word, the Mantra of Veda and Vedanta."

अर्थात् "विश्व में आज तक जितने भी विशद तत्त्वज्ञान आविष्कृत हुए हैं, उनमें संभवतः यूनानी दर्शन एवं चिन्तन सर्वाधिक बौद्धिक तथा विचारोत्तेजक है और ज्ञान की विशदता को जन्म देनेवाला है। भारतीय दर्शन अपनी आरंभिक दशा में अंतर्ज्ञानात्मक एवं वस्तुओं के अन्दर गम्भीरतर बैठनेवाली अंतर्दृष्टि का उद्दीपक था। आजतक ऐसी किसी भी वाणी की कल्पना नहीं की गई है, जो दिव्य और अन्तःप्रेरित शब्द, अर्थात् वेद और वेदांत के मंत्र की अपेक्षा अधिक उदात्त और गहन हो। गहराइयों और ऊँचाइयों की अधिक उद्भासक तथा सीमाहीन दृग-विस्तार को उन्मुक्त करने में अधिक सक्षम हो।"

वैचित्र्य ही तो है प्रकृति का प्रकृत गुण। दोनों की चिन्तन-अभिव्यक्ति की दो राहें हों, तो वह अस्वाभाविक नहीं। दोनों दर्शनों में एकरूपता न होने पर भी साम्य तो है ही। इसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते। अंतर्ज्ञान की प्रबल प्रेरणा ही हेराक्लिटस के चिन्तन का उद्भव है।

द्वारा—श्रीजगन्नाथजी
श्रीअरविन्दाश्रम, पाण्डिचेरी

मनसा परिक्रमा या षड्गुण-सम्पत्ति

डॉ० श्रीमुंशीराम शर्मा 'सोम'

पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्यौ का निर्माण करनेवाली तम, रज और सत्त्व के परमाणुओं की सामग्री ब्रह्माण्ड-भर में व्याप्त है। एक-एक अण्ड और पिण्ड में भी जो निर्मिति पाई जाती है, उसका भी कारण वही है। विश्व की त्रिगुणराशि उसी में प्रतिष्ठित है। हमें तम पर पैर रखना है, रज को हाथ में लेना है और सत्त्व की प्रतिष्ठा सिर में करनी है। यह अनागस् बनने की प्रणाली है।

आगस् क्या है? प्रकृति के दूषित अंश को अपनाना और परिणामस्वरूप बार-बार जन्म-मरण के चक्र में फँसना। अनागस् का अर्थ है—मर्त्य से अमृत बनना। पूर्ण अनागस् तो परमदेव प्रभु ही हैं, पर जो प्राकृत पाशों के परित्याग का प्रयत्न करता है और अमृत-स्वरूप एवं स्वभावत: 'अनागस्' प्रभु की संगति एवं उपासना करता है, वह भी अनागस् बन जाता है। ऋग्वेद (३-१-१६) के अनुसार जो साधक प्रभु की शोभन प्रणीति या प्रणाली का अनुगमन करते हैं और उसके समीप अपना निवास बनाते हैं, उनके अन्दर निखिल सद्गुण-सम्पत्ति निहित हो जाती है। वे वीर्य एवं ऐश्वर्य से संयुक्त हो जाते हैं। प्राकृतिक दृष्टि से वे छीजते हैं; पर अध्यात्म-दृष्टि से पुष्ट बनते हैं। प्रकृति का यह त्याग और प्रभु की संगति—दोनों उन्हें इतना समर्थ बना देते हैं कि वे आक्रमण की इच्छा रखने-वाले राक्षसों को दबा देते हैं। असुरत्व पर सुरत्व की विजय ही 'अनागस्' बनना है।

अथर्ववेद (२-११-१५) में लिखा है कि आत्मा शुद्ध (शुक्र) है; भ्राज, अर्थात् तेजोरूप है; स्व:, अर्थात् सुखस्वरूप है और ज्योति है। उसमें इन्द्रत्व, वरुणत्व, मित्रत्व आदि सभी कुछ हैं। प्राकृतिक पाशों के कारण वह अपने इस दिव्यरूप से पराङ्मुख हो जाता है। अपने रूप को पहचानने के लिए प्रभु ही उसे उद्बोधन देते हैं। आत्मा सुपर्ण है, उड़नेवाला है। प्रकृति के आवरण उसे चारों ओर से ऐसा जकड़ लेते हैं कि वह उड़ नहीं पाता। वह गौरवशाली है; पर प्रकृति का साथ उसे ओछा बनाता है। उद्बुद्ध होकर जब आत्मा प्रकृति या पृथिवी की पीठ पर बैठ जाता है, प्रकृति उसका वाहन बन जाती है, तब वह अपनी आभा से अन्तरिक्ष को ओत-प्रोत कर देता है, ज्योति से द्यौ को ऊपर उठा देता है और तेज से दिशाओं को दृढ कर देता है।

विकास-दशा में आत्मा के अन्दर जिन सद्गुणों का संचार होता है, उनमें से प्रथम तेज है। तेज अग्नि का गुण है। प्रार्थना में इसलिए कहा जाता है: **मयि मेधां मयि प्रजां मयि अग्निस्तेजो दधातु।** अग्नि मेरे भीतर तेज की स्थापना करे। तेज आत्मा को लुभावने मोहक दृश्यों से बचाता है; आत्मा पतन के पथ से मुड़ती है, तो तेज के कारण। प्राणपुञ्ज पुरुष की आग्नेयता के सम्मुख निम्नगा प्रवृत्ति तथा मूढता हतप्रभ ही नहीं, भस्म भी हो जाती है। जबतक यह तेज नहीं आता, तबतक प्रमाद पीछे पड़ा रहता है और

मानव पद-पद पर लोभ, मोह एवं स्वार्थ का शिकार बनता रहता है। इनसे बचने का एकमात्र उपाय है—तेजस्वी बनना, अग्निदेव की शरण जाकर उनसे तेज प्राप्त करना। मनसा परिक्रमा के मन्त्रों में इसीलिए सर्वप्रथम अग्निदेव आते हैं। वे प्राची दिशा के अधिपति हैं। उन्हीं की चिनगारियाँ प्रज्वलित होकर प्रकाश देती हैं। वे अंधकार से हमारी रक्षा करते हैं। पृथ्वीस्थ प्राणियों के लिए अग्नि का ही सहारा है। सूर्यदेव कहीं बारह, कहीं दस और कहीं दो-तीन घण्टों के ही लिए प्रकाश देकर तिरोहित हो जाते हैं। कहीं छह-छह महीने तक उदय नहीं लेते; पर अग्निदेव पृथ्वी पर सदैव हमारे साथ हैं। उनका तेज प्रदीप्त होकर हमारी रक्षा करता रहता है। यजुर्वेद (१९-९) में प्रभु का सर्वप्रथम जो गुण हमारे सामने आता है, वह तेज ही है। प्रभु तेजोरूप हैं, मेरे अन्दर भी वे तेज स्थापित करें। पाठक सोचेंगे कि तेज तो अग्नि का गुण है, वह प्रभु का गुण कैसे बन गया? इसके समाधान में हमें ध्यान रखना होगा कि यहाँ जो कुछ श्रीमत्, ऊर्जित तथा विभूतिमय है, वह प्रभु के तेजोऽश से ही उत्पन्न हुआ है। वह अग्नि, विद्युत्, सूर्य सभी का चक्षु है। ऋग्वेद (१-१६४-४६) में इसीलिए उसे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है।

तेज कैसे आता है? आग्नेयता के सम्पादन का क्या साधन है? मुखमण्डल पर आभा कब आती है? वाणी आदि इन्द्रियों में तेज की उत्पत्ति कैसे होती है? इन प्रश्नों का उत्तर एक ही है। जबतक अन्दर से शक्ति का स्खलन होता रहेगा, आय के स्थान पर व्यय होता जायगा, तबतक न शरीर में कान्ति दिखाई देगी, न इन्द्रियों में तेज; और जब इस शक्ति के बाह्य प्रवाह या व्यय को रोक दिया जायगा, शक्ति का संचय किया जायगा, तभी वह आन्तरिक शक्ति मुख की प्रदीप्ति और इन्द्रियों की बलवत्ता में झलकने लगेगी। यह शक्ति क्या है? उद्दालक ऋषि के अनुसार, जो भोजन हम प्रतिदिन करते हैं, उसके तीन भाग हैं—पार्थिव, जलीय और आग्नेय। इन तीन के अतिरिक्त श्वास एवं प्रश्वास के साथ प्रतिपल वायु का पर्याप्त अंश अन्दर जाता रहता है। उपर्युक्त तीन भागों के भी तीन-तीन भाग हैं। पार्थिव तत्त्व का स्थूल एवं व्यर्थ भाग उत्सर्ग की इन्द्रिय द्वारा बाहर निकल जाता है। उसके सूक्ष्म अंश से मांस बनता है और सूक्ष्मतम अंश से मन। जल का भी अनुपयोगी भाग प्रस्वेद, मूत्र आदि के रूप में बाहर निकल जाता है। उसके सूक्ष्म अंश से रक्त और सूक्ष्मतम अंश से प्राण का निर्माण होता है। आग्नेय तत्त्व के स्थूल अंश से अस्थि, सूक्ष्म अंश से मेद और सूक्ष्मतम अंश से वाणी का निर्माण होता है।[१] चरक और सुश्रुत के अनुसार भोजन की जो सामग्री हमारे आमाशय में जाती है, वह प्रथम रस में परिणत होती है और उसका व्यर्थ का भाग बाहर निकल जाता है। रस के उपरान्त रक्त, फिर क्रमशः मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र की उत्पत्ति होती है। शुक्र भोजन का सारतत्त्व है। प्रकृति के तीन गुणों को लेकर भोजन की परिणति पर विचार करें, तो उसका निकृष्ट तमोगुण भाग बाहर निकल जाता है, उपयोगी तमोगुण अंश से चर्म आदि का निर्माण होता है, जो शरीर का आधार है। रजोगुण अंश से रक्त आदि बनते हैं। उसका

१. छान्दोग्योपनिषद्, अ० ६।

अन्तिम सत्त्वगुण अंश शुक्र में दृष्टिगोचर होता है। सत्त्व का रंग श्वेत है, शुक्र का भी रंग श्वेत है। यही शुक्र शक्ति है।

जिसका शुक्र सुरक्षित है, उसके अंग-अंग में स्फूर्ति रहती है। उसकी इंद्रियों में बलवत्ता एवं तेज का संचार होता है। वीर्य विरोधी शक्तियों का शरीर में साम्मुख्य एवं संहार करता है। शरीर और इंद्रियों की विशिष्ट गति का कारण वीर्य ही है। तेज का भी यही कारण है। मनसा परिक्रमा के मंत्रों में इन्द्र दक्षिण की दिशा का अधिपति है। दक्षता तथा दाक्षिण्य इन्द्र की शक्ति का परिणाम है। ऋग्वेद (१-८०-७) के अनुसार इन्द्र ही ऐसा तत्त्व है, जिसका वीर्य किसी अन्य की देन नहीं है, जो स्वयं, स्वभावतः वीर्यवान् है। इन्द्र का वीर्य ही शरीर को बल, दृढ़ता तथा विचार-शक्ति देता है। सम्मुख उपस्थित भय का विध्वंस वीर्यवत्ता ही करती है। इंद्रियाँ भोग-विलास के परिणामस्वरूप जब अशक्त हो जाती हैं, आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है, तब इन्द्रदेव ही अपने वीर्य से उस अशक्ति एवं अंधकार का विनाश करते हैं। प्रार्थना में इसीलिए कहा जाता है: **मयि मेधां मयि प्रजां मयीन्द्र इन्द्रियं दधातु।** शरीर में इन्द्रत्व इन्द्रियों की शक्ति ही है, जो वीर्य है। यही पितर है, संतति-उत्पति का कारण है और **तिरश्चिराजी,** अर्थात् वक्रगति-वाले, तिरछी चाल चलकर शरीर का विघटन करनेवाले कीटाणुओं से हमारी रक्षा करता है। यजुर्वेद (१९-९) में तेजस्वी होने के पश्चात् वीर्यवान् बनने की ही प्रार्थना की गई है। इन्द्र का धात्वर्थ ऐश्वर्यवान् है। वीर्यवत्ता ही ऐश्वर्य है। भागवतों ने ऐश्वर्य को कर्त्तृत्वशक्ति माना है, जिसका अर्थ 'पितर' शब्द में सुरक्षित है।

प्रभु तेज है, वीर्य है और बल है। बल की कल्पना कई रूपों में की जाती है। धन बल है, क्षात्रशक्ति बल है तथा ब्राह्मी शक्ति, ज्ञान भी बल है। क्षात्रशक्ति शारीरिक तथा यांत्रिक शक्ति पर अवलंबित है और उसका उच्च रूप साम्राज्य में प्रदर्शित होता है। राजा अपने शासन में चारों वर्णों को नियंत्रित रखता है। एक प्रकार से चारों वर्णों का बल उसके अधीन है। शूद्र की सेवा, वैश्य की सम्पत्ति तथा क्षत्रिय की निर्भय सामरिक शक्ति का तो वह उपयोग करता ही है, ब्राह्मण की पवित्र ज्ञानशक्ति भी उसके अंकुश से पृथक् नहीं हो पाती। आजकल के वैज्ञानिक अपने अनुसंधान राज्य-शक्ति की सहायता के विना कर ही नहीं सकते। वे अमेरिका, ब्रिटेन तथा रूस के क्रीतसेवक बने हुए हैं और शासन जैसा चाहता है, वैसा ही प्रयोग इन्हें अपने विज्ञान का करना पड़ता है। ज्ञान-शक्ति का यह अपमान है, पर इससे राज्यतंत्र की बलवत्ता असंदिग्ध रूप से स्पष्ट हो रही है। वेद ने वरुण को राजा कहा है, जिसके व्रतों और धर्मों का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। दो व्यक्ति चाहे जितना छिपकर वार्त्तालाप करें, वरुण राजा सर्वत्र और सभी समय उपस्थित होकर उसे सुन लेते हैं। वरुण के दूत पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा द्यौलोक तक विचरण करते हैं और इन्हें भी अतिक्रान्त करके उपस्थित हैं। इन दूतों के पाशों से कोई बच नहीं सकता। वे सहस्राक्ष, हजारों आँखोंवाले बनकर सबको देख रहे हैं। वरुण राजा का यह बल कितना महान् है!

वरुणदेव का प्रभाव इतना व्यापक है कि वे समस्त प्रजाओं के अन्दर विद्यमान होकर अपना शासन-सूत्र चला रहे हैं। वे धृतव्रत हैं, शोभनकर्मा हैं। उनका अस्तित्व साम्राज्य के लिए ही है (ऋ० १-२५-१०)। इन्द्र वीर्य है, तो वरुण सहस्रवीर्य (अथर्व १९-४४-८)। वरुण सुक्षत्र हैं। उनका-सा बल अन्य किसी के भी पास नहीं है। अपने इसी बल के कारण वे वर्णन करने के योग्य और वरणीय हैं। उनका वारक वज्र मानव को पाप से हटाता है, प्रजा का अनिष्ट से निवारण करता है और बल देकर आत्मज्ञान कराता है। आत्मज्ञान से जो बल उपलब्ध होता है, उसकी समता किसी भी बल से नहीं की जा सकती। मनसा परिक्रमा में वरुणदेव प्रतीची दिशा के अधिपति हैं और विषैले प्राणियों से रक्षा करनेवाले हैं। अन्न उनका बाण है। अन्न में बल है, इसे सभी स्वीकार करते हैं। जिसमें जितना ही अधिक बल है, वह उतना ही अधिक विषरूप मारक शत्रु का सफलतापूर्वक सामना कर सकता है। इसीलिए प्रार्थना में कहा गया है : 'प्रभो ! तुम बलरूप हो, मुझे भी बल प्रदान करो।'

बल से भी ऊपर ओज का स्थान है। तेज शरीर और इन्द्रियों से सम्बन्ध रखता है, तो ओज आत्मा से। ओज शुक्र का भी छना हुआ सार है। वीर्य एवं बल से विहीन व्यक्ति ओज पाने के अधिकारी नहीं हैं। यह ओज आत्मा की ही शक्ति है, उमा है। आत्मा को इसी आधार पर सोम कहते हैं। सोम उमा के साथ सदैव रहते हैं। वे उत्तर की दिशा के अधिपति हैं। ओजस्वी व्यक्ति उत्तरायण पथ के पथिक बनते हैं। वीर्यवान् पितर हैं, तो ओजस्वी देव। एक चन्द्रलोक तक जाकर पुनः लौट आते हैं, तो दूसरे द्यौलोक के निवासी बनते हैं।

वीर्य विशेषरूप से इन्द्रिय-जगत् को प्रभावित करता है; पर ओज का क्षरण बाह्य तथा आभ्यन्तर सभी इंद्रियों की क्यारियों को सिंचित कर उन्हें हरीतिमा की आभा से मंडित बनाता है और बुद्धि के उच्च-से-उच्च स्तर प्रज्ञा तक को पल्लवित करता है। ओज की जगमगाहट में कुटिलता ठहर नहीं पाती, सरलता खिलखिलाने लगती है तथा समग्र जीवन सत्य वाणी, सत्य व्यवहार, श्रद्धा और तप से समन्वित हो जाता है (ऋ० ९-११३-२)।

प्रभु का ओज शाश्वत है। वे निरन्तर रस से तृप्त हैं और अनवरत रसवर्षा की धाराओं से इस ब्रह्माण्ड को जीवन-दान दे रहे हैं। भक्तों का हृदय इसी रस को पाकर सरस बनता है। बल के उपरान्त साधक इसीलिए प्रभु से प्रार्थना करता है—'प्रभो ! तुम ओजरूप हो, मुझे भी अपने ओज से ओजस्वी बना दो। शारीरिक तेज के साथ मेरे अन्दर आत्मिक तेज भी प्रदीप्त हो।'

आत्मिक तेज ही पाप को भस्म करता है। ओज के हाथ में ही वह वज्र-चक्र रहता है, जिससे स्वतः अपने-आप, अकारण, दूसरों से द्वेष करनेवाले, अहम्मन्य व्यक्तियों का अहंकार चकनाचूर होता है। ओज ही मन्यु को उत्पन्न करनेवाला है। मन्यु द्वारा मननपूर्वक, सोच-समझकर, पापीयसी प्रवृत्तियों का दलन तथा सत्प्रवृत्तियों का रक्षण किया जाता है। पौराणिकों ने इस प्रकार के मन्यु का समावेश विष्णु में किया है। विष्णु ध्रुव दिशा के अधिपति हैं। व्यक्ति और जाति की ध्रुवता अथवा स्थिरता विष्णुत्व से ही संभव है, जिससे

असत् का अपनयन और सत् का संरक्षण होता रहता है। विष्णु ही वामन हैं, ऐसा शतपथकार याज्ञवल्क्य कहते हैं। वामन बौना, अल्प, छोटा, एक इकाई हैं; तो विष्णु व्यापक, समग्र और महान् हैं। एक व्यक्ति का वामनत्व विष्णु के गुणों का धारण कर अपने अन्दर निहित अन्याय, असत्य तथा अज्ञान का विध्वंस करता है, तो समग्र का विष्णुत्व समग्र में से अधर्म के कारण बढ़ती हुई धर्मग्लानि को दूर करता है। इसी प्रवृत्ति से दुष्कृतियों का विनाश तथा सज्जनों का परित्राण होता है। मंत्र में विष्णु को कल्माषग्रीवों से बचानेवाला कहा गया है। ये कल्माषग्रीव चित्र-विचित्र ग्रीवावाले, अपनी माया से दूसरों को चकाचौंध में डालकर ठगनेवाले, बहुरुपिये, शोषक तथा व्यक्ति एवं समाज के शत्रु होते हैं। इनका दमन वीरुध् द्वारा किया जाता है। वीरुध् वनस्पति है, जो जीवन के विरोधी तत्त्वों का विशेषतया अवरोध तथा पोषक तत्त्वों का पूर्णतया पोषण करती है। यह अपनी सेवा में आनेवालों का पालन करती है। पुराणों के शब्दों में कहना चाहें, तो जो विष्णु की शरण में पहुँच गया, वह बच गया। रावण जैसे मायावी असुर का संहार विष्णुशक्ति के धनी राम द्वारा ही हुआ था।

यहाँ जिसने भी दानवता का दमन तथा मानवता का संत्राण किया, वही विष्णु-शक्ति का धनी माना गया। मन्यु का भी यही गुण है। मन्यु साधारण भाषा में क्रोध का पर्यायवाची है, पर इसमें प्रलयंकर महाकाल का रुद्रत्व नहीं, राम का विष्णुत्व है।

मन्यु के उपरान्त प्रभु से सहनशक्ति की प्रार्थना की गई है। प्रभु स्वयंसह—सब कुछ सहन करनेवाले हैं, परमधीर हैं, तप की साक्षात् मूर्त्ति हैं। **तपः द्वन्द्वसहनम्**—'तप द्वन्द्वों के सहन को कहते हैं। प्रभु तप ही नहीं, अभीद्ध तप हैं—ऐसा तप, जो सतत जाज्वल्यमान रहता है, कभी विराम का नाम नहीं लेता। ऐसा ही तप पूर्ण सहनशक्ति को अपने गर्भ में रखता है। संसार सत् एवं असत् के द्वन्द्व से समाक्रान्त है, पर प्रभु इस विराट् द्वन्द्व को कैसे चुपचाप अपने गर्भ में लिये अविचल बैठे हैं! इसका अर्थ यह नहीं है कि यहाँ असत् पनपता रहता है। प्रभु असत् को बढ़ते हुए देखते रहते हैं, पर जैसे ही वह अपनी सीमा का उल्लंघन करने लगता है, वैसे ही उसे तोड़ देते हैं। प्रभु के न्याय की चक्की शान्त गति से चलती रहती है, जिसमें अन्यायी निश्चित रूप से पिसकर न्यायवान् बनता है और न्याय की रक्षा होती रहती है। प्रभु सत् एवं असत् दोनों से परे हैं, इसी हेतु वे द्वन्द्व का सहन करते हुए सत् का उद्धार तथा असत् का दलन करने में समर्थ बने हुए हैं।

मनसा परिक्रमा में यह रूप बृहस्पति का है, जो ऊर्ध्व दिशा के अधिपति हैं। जो सबसे ऊर्ध्व है, सबके ऊपर है, वही सब कुछ सहन कर सकता है। प्रभु बृहत्-से-बृहत् जगतों के अन्तर्यामी होकर भी उनसे पृथक् हैं। वे उनके पालक तथा द्रष्टा दोनों ही हैं। वे सबके अन्दर बैठे हुए, सबका संचालन कर रहे हैं और सबके ऊपर पृथक् अनासक्त होकर न्याय-तुला पर सबको तौलते भी रहते हैं। सहः के ये दोनों अर्थ हैं। सहः सहनशीलता है; पर साथ ही सबसे बड़ी शक्ति भी है, जिसके सामने प्रबल-से-प्रबल शक्तियों को झुकना पड़ता है। इस शक्ति की लहरें ओज की धाराओं से भी अधिक बलवती और व्यापक हैं। तेज, ओज आदि धाराएँ हैं, तो यह सहः साक्षात् स्रोत है, वर्षा है, जो आत्मा पर पड़े हुए अखिल

ग्रावरणों के कोढ को धोकर साफ कर देती है। सहः अभीद्ध तप के निकट का तप है, जो आत्मा का साथी बनकर उसे ऊर्ध्वलोकों में ले जाता है, जहाँ जाकर फिर च्युति नहीं होती—एकरस, समरस, अनासक्त अवस्था बनी रहती है। वेद कहता है—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥ (ऋ० ९-८३-१)

बृहस्पति ही ब्रह्मणस्पति हैं। वे सबसे बड़े रक्षक हैं, सहःशक्ति के धनी हैं और परम पवित्र है। पाप की सेना उनपर आक्रमण नहीं कर सकती। उनकी पवित्रताकारिणी शक्तियाँ चारों ओर फैली हुई हैं। वे ब्रह्माण्ड के एक-एक गात्र को सब ओर से घेरे हुए हैं और पवित्र कर रही हैं। व्यक्ति के अन्दर सहःशक्ति का धारण करके आत्मा इतनी पवित्र हो जाती है कि वह स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण तीनों शरीरों के एक-एक अवयव को अपनी प्रभविष्णु पवित्र शक्तियों द्वारा पवित्र कर देती है। जिसने तप नहीं तपा, तप की भट्ठी में डालकर अपने को कुन्दन नहीं बना लिया, वह कच्चा है, पका नहीं। सहःशक्ति का संपादन तपस्या के विना संभव ही नहीं है। पके हुए, तपस्या से कुन्दन बने हुए सहन-शक्ति के धनी साधक ही पवित्र बनते हैं और अपनी पवित्रता से अपने संपर्क में आनेवालों को पवित्र करते हैं।

भगवान् के ये छह गुण—तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु और सहः—एक-दूसरे के पूरक हैं और प्रभु की उपासना करनेवाले, उनकी समीपता में रहनेवाले साधकों को भी प्राप्त हो जाते हैं। सन्ध्या के मनसा परिक्रमावाले मन्त्रों में अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम, विष्णु और बृहस्पति के रूपों में क्रमशः यही अभिव्यक्त हुए हैं—ऐसा उपर्युक्त पंक्तियों में विचार किया गया है। भागवतों ने भी भगवान् के छह ऐश्वर्य या गुण माने हैं। उनकी गणना दो स्थानों पर दो प्रकार की है। अहिर्बुध्न्य-संहिता के अध्याय दो में लिखा है कि परब्रह्म प्राकृतिक गुणों से हीन होने पर भी अपने षड्गुणों से युक्त हैं। वह ज्ञान, शक्ति, कर्त्तृत्व (ऐश्वर्य), बल, वीर्य और तेज से मण्डित हैं। वह वस्तुतः ज्ञानमय हैं। उनके अन्य पाँच गुण ज्ञान के ही विशेषण हैं। पुनः अध्याय पाँच में लिखा है कि ब्रह्म के ज्ञान और बल से संकर्षण का, ऐश्वर्य और वीर्य से प्रद्युम्न का तथा शक्ति और तेज से अनिरुद्ध का जन्म हुआ है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि रचना-विकास में संकर्षण जीव, प्रद्युम्न मन तथा अनिरुद्ध अहंकार है। 'श्रीमद्भागवत' के अनुसार ये छह गुण इस प्रकार हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥ (३-३१-३३)

ऐश्वर्य नियंत्रणा और कर्त्तृत्व का सामर्थ्य है। वीर्य विरोध-निरसन की शक्ति है। यश सार्वत्रिक कल्याण-गुण प्रथा का नाम है। श्री अक्षय समृद्धिमत्त्व की क्षमता है। ज्ञान सबका प्रत्यक्षीकरण है। वैराग्य अवाप्तसमस्तकामत्व है।

इन दो प्रकारों में ज्ञान, ऐश्वर्य और वीर्य समान हैं। बल, शक्ति और तेज के स्थान पर यश, श्री और वैराग्य हैं। वैदिक प्रार्थना के तेज, वीर्य और बल अहिर्बुध्न्य-संहिता में ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। ओज को शक्ति का पर्यायवाची माना जा सकता है।

मन्यु में मन या मति सम्मिलित है, अतः उसे ज्ञान कह लीजिए। सहः में सहन-शक्ति है, जो ऐश्वर्य के साथ निवास कर सकती है। इन प्रकारों के पूर्ण साम्य-स्थापन में कुछ कठिनता अवश्य आती है, पर दूसरे प्रकार में भगवान् के भग शब्द को लेकर जो छह विभाग किये गये हैं, वे वैदिक प्रार्थना में क्रम से ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। वेद का तेज ही श्रीमद्भागवत का ऐश्वर्य है। ऐश्वर्य ईश्वरत्व है और तेजस्वियों के तेज में ईश्वरत्व ही बसता है। वीर्य के स्थान पर वीर्य है। बल के स्थान पर यश है। यश बल का साथी है और क्षात्रशक्ति के साथ रहता है। संध्या का अंगन्यास दोनों के युग्म को लेकर चला है और बाहुओं के साथ दोनों को संबद्ध करता है। ओज के स्थान पर श्री है। ओज से ही श्री, शोभा, दीप्ति आदि की उत्पत्ति है। यह श्री ओज की ही भाँति आत्मा में आश्रय पानेवाली मूल शक्ति है। मन्यु के स्थान पर ज्ञान और सहः के स्थान पर वैराग्य है। मन्यु में ज्ञान सम्मिलित है, ऐसा हम पीछे लिख चुके हैं। वैराग्य सहन-शक्ति का निधान है। जो अवाप्तकाम है, कामनाओं से विरक्त होकर तृप्तसमस्तकाम बन चुका है, वही सब कुछ सहन कर सकता है।

वेद और भागवत में भगवान् के गुणों का यह साम्य ध्यान देने योग्य है। हमारे ऋषियों का चिन्तन अन्दर से बाहर और बाहर से अन्दर जिस व्यवस्था और पूर्णता के साथ चला है, श्रुत से अनुमान और अनुमान से प्रज्ञा तक अथवा आग्नेय तेज से आत्मिक तेज तक पहुँचा है और फिर लौटकर आत्मा से ही सबके उद्भव का प्रतिपादन करता है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। पश्चिम में दर्शन और विज्ञान का जो विकास हुआ है, वह भी अद्भुत है और अपनी उपलब्धियों में हमारे आर्ष दर्शन के निकट संभवतः पहुँच जायगा, ऐसा उसकी प्रगति को देखकर विश्वास होता है।

आचार्यनगर
कानपुर

हमारा स्वाध्याय-कक्ष

श्रीअरविन्द-चरितामृत[1]

श्रीअरविन्द का जीवन-चरित्र लिखने का कई बार प्रयास किया गया। परन्तु, उनके जीवन के बारे में इतनी कम बातें ज्ञात हैं कि लेखक के लिए एक बड़ी समस्या उपस्थित हो जाती है। वे अपने-आप तो विज्ञापनबाजी के जमाने में रहते हुए भी अपनी विरुदावली गानेवालों को पास तक न फटकने देते थे। उनका जीवन-चरित्र लिखने का प्रयास करनेवाले एक सज्जन को उन्होंने लिखा था कि मेरा जीवन ऊपरी स्तर पर नहीं रहा है, अर्थात् उनके जीवन की ऊपरी घटनाओं से उन्हें जानने का प्रयास करना उनके साथ एक अन्याय होगा। यह प्रयास ठीक वैसा ही होगा, जैसे कोई बालक समुद्र के किनारे बैठकर सिकता-कण गिन-गिनकर समुद्र के बारे में जानकारी का दावा करे। श्रीमाताजी ने हमें बताया है कि 'श्रीअरविन्द विश्व के इतिहास में जिस चीज का प्रतिनिधित्व करते हैं, वह कोई शिक्षा नहीं है, न कोई अन्तःप्रेरणा द्वारा प्राप्त ज्ञान ही है; वह तो एक सुनिश्चित कार्य है, जो सीधा परात्पर प्रभु से उद्भूत हुआ है।' ऐसे व्यक्ति के बारे में क्या और कैसे लिखा जाय? शायद उन्हें पहचानने का एकमात्र उपाय यही है कि आदमी अपने अन्तर की गहराइयों में पैठकर उनके साथ सम्बन्ध स्थापित कर सके; परन्तु इतनी प्राप्ति हो जाने के बाद उसके लिए अपने अनुभव को साधारण मानव-भाषा में व्यक्त करना असम्भव-सा हो जायगा : 'जब मैं थी तब हरि न थे, अब हरि हैं मैं नाइ।' या यूँ कहिए— 'गूँगे कैसी सरकरा, बैठा मुस्काय।'

लेकिन मुश्किल यह है कि यह सब जान लेने के बाद भी मनुष्य के अंदर उत्सुकता बनी रहती है, वह जानना चाहता है : स्थितधीः किं प्रभाषेत, किमासीत, वदेत किम्। साधारण बातें जानने की लालसा, ऊपरी जीवन की घटनाओं के बारे में कुछ जानने की उत्सुकता को सन्तुष्ट करने के लिए भी कुछ प्रयास करना ही होता है। भले सागर-तरंगों को देखकर हम सागर की अतल गहराइयों के बारे में कुछ न जान सकें, तो भी समुद्र के पास आने पर उसकी उत्ताल तरंगों को देखने के लिए किसकी इच्छा नहीं होती। कई बार ये जरा-जरा-सी चीजें ही बड़ा महत्त्व प्राप्त कर लेती हैं। यहाँ श्रीअरविन्द के जीवन की एक जरा-सी घटना देना शायद अप्रासंगिक न हो। श्रीअरविन्द उन दिनों पांडिचेरी में नये ही थे। अँगरेज-सरकार तो उनके खून की प्यासी थी, पर फ्रेंच-सरकार घर आये अतिथि को बाहर करने के लिए तैयार न थी। अँगरेजों की ओर से काफी जोर डाला गया, कहा गया, यह आदमी बड़ा भयंकर है, न जाने कब क्या कर बैठे। फ्रेंच-सरकार भी

१. लेखक : डॉ० श्रीभुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'; प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसाइटी, पांडिचेरी; पृष्ठ-सं० २५०; आर्ट पेपर पर कई चित्रों से सुसज्जित; मूल्य : पाँच रुपये मात्र।

जरा सहमी। उसने अपने कुछ अफसर इस 'भयंकर आदमी' की तलाशी लेने के लिए और उसकी थाह पाने के लिए भेजे। श्रीअरविन्द के पास छिपाने को तो कुछ था ही नहीं, उन्होंने अफसरों से कह दिया, तुमलोग जो देखना चाहो, देख लो, मकान खुला पड़ा है। अफसरों ने देखा, श्रीअरविन्द के पास लैटिन और ग्रीक की पुस्तकें रखी थीं। उन्होंने आश्चर्य से एक दूसरे की ओर देखा, फिर एक ने दूसरे से कहा, ओह, यह आदमी लैटिन जानता है, ग्रीक जानता है, यह भला कैसे खतरनाक हो सकता है। उन्होंने बड़े आदर के साथ श्रीअरविन्द से हाथ मिलाया और चले गये।

इसी प्रकार कहते हैं, जब श्रीअरविन्द अलीपुर-जेल में थे, तब एक अँगरेज अफसर ने बड़े मजे से और बड़ी लय के साथ कहा, 'आखिर तुम पकड़े गये, पकड़े गये।' श्रीअरविन्द ने भी मुस्कराते हुए उसी लय में जवाब दिया, 'मैं छूट जाऊँगा, मैं छूट जाऊँगा, मैं छूट जाऊँगा।' हमें मालूम नहीं इस प्रकार की घटनाओं का आध्यात्मिक दृष्टि से कुछ मूल्य है या नहीं, परन्तु एक मनुष्य के लिए ये अत्यन्त मनोरंजक अवश्य हैं और बड़े लोगों की छोटी-मोटी बातें भी हमारे लिए पावन होती हैं। भगवती जाह्नवी के जल की एक बूंद भले उनकी अपनी दृष्टि में कुछ भी मूल्य न रखती हो, पर हमारे लिए तो वह पतितपावनी का प्रतीक होती ही है।

शायद ऐसी ही बातों को दृष्टि में रखते हुए हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' ने श्रीअरविन्द-चरितामृत लिखने का संकल्प किया होगा। इसके पहले हम माधवजी से उनके 'सन्त-साहित्य', 'मीराँ की प्रेम-साधना' आदि में मिल चुके हैं। उनकी भाषा में एक प्रवाह होता है, उनकी शैली में एक मादकता होती है। वे पाठक को अपने साथ बहा ले जाने की क्षमता रखते हैं। भक्ति-प्रवाह में माधवजी की लेखनी सचमुच कमाल करती है। उनका दूसरा रूप हमने 'रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना' में देखा है, जहाँ वे एक गम्भीर, विद्वान् अन्वेषक हैं। परन्तु, श्रीअरविन्द-चरितामृत में उनका और ही रूप दिखाई देता है। शायद माधवजी यहाँ वैयक्तिक पत्र-व्यवहार की एक बात पाठकों के सामने रख देने की धृष्टता को क्षमा करेंगे। चरितामृत की भाषा के बारे में इन पंक्तियों के लेखक ने एक पत्र में उन्हें लिखा था कि यहाँ ऐसा लगता है, मानों लेखक पग-पग पर जागरूक रहकर इधर-उधर देखता है, चारों ओर की स्थिति को भाँपता है, अगला कदम नापता है, फिर आगे चलता और फिर यह देख लेता है कि उसने कहीं गलत कदम तो नहीं उठाया। लेखक में पूजा-भाव अधिक है, जिससे वह अपने इष्ट से कुछ दूर रहकर प्रणाम ही करता है। इन पंक्तियों के लेखक ने ये बातें कुछ उलाहने के रूप में लिखी थीं, क्योंकि उसे 'सन्त-साहित्य' की शैली बहुत पसन्द है। उसे शंका थी कि शायद माधवजी ऐसी टीका पढ़कर कुछ अप्रसन्न हो जायेंगे। परन्तु, लौटती डाक से उत्तर आया, "शली के बारे में तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है। मैं यहाँ साहित्य-सर्जन नहीं कर रहा था। मैंने प्रयास यह किया है कि इस पुस्तक में 'मैं' न घुसने पाये। मैंने चुप होकर आवाहन किया और जो कुछ आ गया, उसे लिपिबद्ध करता गया।" (ये शब्द स्मृति से लिखे गये, शब्द शायद ये न हों, पर भाव यही था)। सचमुच, इस प्रकार के विषय पर लिखने का

यही एक तरीका है। इसमें हम जितनी अधिक ऊँचाई से प्रेरणा प्राप्त कर सकें, कृति उतनी ही उत्कृष्ट होगी।

माधवजी कहते हैं—"श्रीअरविन्द का आविर्भाव भी उद्देश्य-विशेष से हुआ था और वह था, मानव-जाति को सर्वांशतः रूपान्तरित कर उसमें अतिमानसिक ज्योति की प्रतिष्ठा कराना। अबतक के महापुरुषों, आचार्यों, सुधी साधु-संन्यासियों ने मनुष्य-जीवन को माया से मुक्त कर स्वर्ग-प्राप्ति को ही चरम एवं परम लक्ष्य माना था। परन्तु, श्रीअरविन्द ने सम्पूर्ण जीवन और जगत् के रूपान्तर तथा उसमें अतिमानसिक भागवती शक्ति और ज्योति की परिस्थापना का उद्देश्य सिद्ध करने के लिए ही अवतार लिया। जबतक जगत् और जीवन भागवत संसिद्धि में बाधक माने जाते रहे थे, श्रीअरविन्द ने इनके दिव्यीकरण द्वारा इस जड समझे जानेवाले जगत् में भागवत ज्योति का अवतरण कराना ही अपनी साधना का मुख्य लक्ष्य बनाया है। जगत् के विकास-क्रम में पत्थर से वृक्ष, वृक्ष से पशु, पशु से मानव तक ही हमने देखा और माना है। मानव में भी विकास-क्रम में शरीर की अपेक्षा इन्द्रियों, इन्द्रियों की अपेक्षा मन और मन की अपेक्षा बुद्धि तक ही हमारी कल्पना सीमित तथा परिमित थी। सीमा की इस वज्र-शृंखला को काटकर श्रीअरविन्द ने मानव को 'यो बुद्धेः परतस्तु सः'—अतिमानसिक दिव्य जीवन का अनुभव कराया, अर्थात् मानव का रूपान्तर कर उसमें देवता की, स्वयं भगवान् की प्रतिष्ठा की।"

इसके कुछ आगे का एक और उद्धरण देने का लोभ संवरण करना मुश्किल है। माधवजी कहते हैं—"मृत्यु पर अमृतत्व की विजय के लिए, रूपान्तर की इस कठिन, पर दिव्य प्रक्रिया को सांगोपांग पूरा करने के लिए स्वयं श्रीअरविन्द को करुणावश होकर उन तमाम प्रयोगों से स्वयं गुजरना पड़ा और इसीलिए तो वे एक सफल प्रयोक्ता बन सके।" श्रीमाताजी के शब्दों में कहें तो "श्रीअरविन्दो ने मानव-शरीर में अतिमानसिक चेतना को मूर्त्तिमान् किया। उन्होंने न केवल उस पथ के स्वरूप को तथा उसका अनुसरण करने की पद्धति को हमारे सामने प्रकट किया, जिसमें कि हम लक्ष्य तक पहुँच जायँ, बल्कि अपनी व्यक्तिगत सिद्धि के द्वारा हमारे सामने उसका उदाहरण भी रखा। उन्होंने हमें इस बात का प्रमाण दे दिया है कि वह कार्य किया जा सकता है और उसे करने का समय अब आ गया है।"

माधवजी ने बचपन, बड़ौदा-काल तथा वंगभंग के जमाने के जीवन का इतिवृत्त बड़े रोचक ढंग से दिया है। उन्होंने बड़ी जागरूकता के साथ प्रयास किया है कि सत्य का दामन छूटने न पाये। परन्तु, मुश्किल तो यह है कि राजनीति में काम करते हुए भी श्रीअरविन्द ने हमेशा यही प्रयास किया कि उनका बायाँ हाथ तक यह न जानने पाये कि दायाँ हाथ क्या कर रहा है। सैकड़ों युवक उनके नेतृत्व में काम करते थे, परन्तु वे भी आपस में एक दूसरे के काम से अपरिचित थे। हाँ, सबसे अधिक जानकारी किसी को थी, तो सरकार के गुप्तचर-विभाग को। तभी तो उन दिनों के वायसराय के निजी सचिव ने लिखा था कि 'यह आदमी (श्रीअरविन्द) सबसे अधिक भयंकर है। अगर सब अराजकतावादी और सरकार-द्रोही ... जायँ और यह आदमी स्वतंत्र रहे, तो

यह फिर से पूरा दल खड़ा कर लेगा।' उन दिनों के सरकारी कागजों में बहुत कुछ नय मसाला मिल रहा है, पर वह गहरी छानबीन के बाद ही प्रामाणिकता का पद पा सकेगा

इसके बाद आता है पांडिचेरी-काल। यहाँ आते ही वाणी मूक हो जाती है यहाँ तो कबीर के शब्दों में :

हम में रहे सो मानवा, बेहद रहै सो साधु।
हद-बेहद दोनों तजै, तिनका मता अगाधु॥

यहाँ पर श्रीअरविन्द क्या कर रहे थे, कैसे कर रहे थे, यह कौन कह सकता है हाँ, उसका कुछ आभास उनकी बीसियों पुस्तकों और हजारों पत्रों तथा उनकी औ श्रीमाताजी की प्रयोगशाला (श्रीअरविन्द-आश्रम) को देखने से मिल सकता है। माधवजी ने भी यही किया है। उन्होंने श्रीअरविन्द के साधना-पथ, उनकी शिक्षा और उनके आश्रम क संक्षिप्त परिचय दिया है। इसके बारे में कहा जा सकता है :

हम वासी उस देश के, जहँ जाति वरन कुल नाहिं।
शब्द मिलावा होय रहा, देह मिलावा नाहिं॥
हम वासी वा देश के, जहँ पारब्रह्म का खेला।
दीपक जरै अगम्य का बिन बाती बिन तेला॥

एक वाक्य में कहना हो, तो 'श्रीअरविन्द-चरितामृत' इस खेल को देखने की इस अगम्य के दीपक तक पहुँचने की लालसा उत्पन्न कर देती है। पुस्तक को बन्द करते करते पाठक कह उठता है—'बस इतना ही लिखा।' हम आशा करते हैं कि अगले संस्करण में और अधिक सामग्री देने का प्रयास किया जायगा।

—श्रीरवीन्द्र

०

जप-संहिता[1]

प्रस्तुत ग्रन्थ सिक्खों के प्रमुख धर्मग्रन्थ 'जपजी' का पंजाबी से हिन्दी में अनुवाद है जिसमें संस्कृत-श्लोकों के उद्धरण भी पर्याप्त संख्या में हैं। आरम्भ की विस्तृत भूमिका कई दृष्टियों से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इसमें श्रीगुरुनानकदेव से श्रीगुरुगोविन्द सिंह तक सभी सिक्ख गुरुओं का बड़ा ही भव्य एवं मनोहारी परिचय के साथ-साथ सिक्खों के अवान्तर भेद, निर्मल साधु-सम्प्रदाय, गुरु-सम्प्रदाय, गुरु-सम्प्रदाय का गुरुमन्त्र तथा मालामन्त्र, गुरु-सम्प्रदाय की धर्मपुस्तक आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर ग्रन्थकर्त्ता ने बहुत ही अच्छा और प्रामाणिक प्रकाश डाला है। 'विशेष वक्तव्य' में प्राकृत भाषा और संस्कृत भाषा पर बहुत ही मनोयोगपूर्वक विवेचन किया गया है।

इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें 'जपजी' का व्याख्या में वेदों और उपनिषदों के मन्त्रों का यथास्थान प्रचुर मात्रा में उद्धरण दिया गया है, जिससे सिक्ख धर्म और हिन्दू-धर्म का परस्पर समन्वय स्वयंसिद्ध है। ग्रन्थकार की दृष्टि विशुद्ध वैदिक

१. लेखक : श्रीस्वामी हरिप्रसाद 'वैदिक मुनि'; प्रकाशक : विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर (पंजाब); पृष्ठ-सं० २७७; सजिल्द मूल्य : पाँच रुपये पचहत्तर नये पैसे मात्र।

और इसलिए वह अपने विशिष्ट ध्येय के प्रति सतत जागरूक है। यह जागरूकता पूरे ग्रन्थ में आद्यन्त भास्वर है।

प्रत्येक धर्म में जपयोग का एक विशेष महत्त्व है। भगवान् श्रीकृष्ण ने 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' कहकर अपना परिचय गीता के दसवें अध्याय में दिया। हमारे सम्पूर्ण शास्त्रों में जप की बड़ी महिमा गाई गई है और जप की यह प्रक्रिया वैखरी से मध्यमा, परा, पश्यन्ती होते हुए समाधि में पर्यवसित हो जाती है। ईसाई और इस्लाम धर्म-साधनाओं में भी जप का विशेष स्थान है। परन्तु, सिक्खों की धर्म-साधना में नामस्मरण की बहुत बड़ी महिमा है और एक प्रकार से वहाँ नाम-साधना समस्त साधनाओं का प्राण या आत्मा ही है। इस महान् ग्रन्थ का पंजाबी से हिन्दी में अनुवाद कर तथा वेदों और उपनिषदों के उद्धरणों से सजाकर प्रस्तुत करने में लेखक को अद्भुत सफलता मिली है और इसके लिए वह बधाई का पात्र है।

इस ग्रन्थ में केवल नाम-जप की महिमा का ही वर्णन नहीं, अपितु साधक के जीवन के अन्तरंग और बहिरंग का भी सुन्दर विश्लेषण है। विश्वास है, यह ग्रन्थ हिन्दू और सिक्ख-धर्मसाधना में सेतु का काम करेगा तथा सभी धर्मों के साधकों में इसे विशेष आदर का स्थान प्राप्त होगा। विश्वेश्वरानन्द-संस्थान ने इसे नित्यानन्द-विश्वग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित कर अपनी सेवाओं से समस्त साधना-जगत् को उपकृत किया है, जिसके लिए वह हमारे साधुवाद का पात्र है। पुस्तक की छपाई-सफाई, गेटप आदि सहज ही सुंदर एवं आकर्षक हैं।

—**प्राणगोपाल गोस्वामी**

०

मूक सत्संग और नित्ययोग[1]

वृन्दावन का मानव-सेवासंघ आध्यात्मिक साधना के साहित्य के प्रकाशन में अपने ढंग की एक अनूठी संस्था है। संघ ने अबतक १२ ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं, जो एक-से-एक हैं और जिनमें संत-समागम, साधन-तत्त्व, जीवन-पथ, मानवता के मूल सिद्धान्त, दर्शन और नीति और दुःख का प्रभाव के साधना-क्षेत्र में विशेष सम्मान हुआ है। इन ग्रन्थों में एक अनुभवी संत का (जिनका नाम संघ प्रकाशित नहीं करना चाहता, इसीलिए हम भी उनका नामोल्लेख न करने से विवश है) अपना सहज अनुभव बड़ी ही चुटीली, परन्तु सूत्रात्मक भाषा में अभिव्यक्त हुआ है और कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि यह सारा-का-सारा प्रकाशन अमृतोपम है और साधन-पथ में प्रवेश पाने तथा उसमें उत्तरोत्तर विकास के लिए इन ग्रन्थों का स्वाध्याय एवं आचरण बड़े ही लाभ का सिद्ध होगा, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ उक्त महात्मा के अनुभवों के प्रकाश से जगमग है। मूक सत्संग का अर्थ है श्रमरहित होकर सत् का संग करना। सत् का संग, अर्थात् अविनाशी का संग, जो 'है', उसका संग। इस प्रकार, मूक सत्संग के द्वारा नित्ययोग प्राप्त करना ही वास्तविक

१. लेखक : अप्रकाश्य; प्रकाशक : मानवसेवा-संघ, वृन्दावन (मथुरा); पृष्ठ-सं० २१०; मूल्य : एक रुपया, पचहत्तर नये पैसे मात्र।

'सत्संग' है। नित्ययोग का अर्थ है अविनाशी योग। नित्ययोग की प्राप्ति का अर्थ है नित्य जीवन, नित्य जागृति एवं नित्य नवप्रियता की प्राप्ति। इस प्रकार, मूक सत्संग सजगता का आरंभ है और नित्ययोग उसकी अन्तिम परिणति। मूक सत्संग श्रमसाध्य प्रयोग नहीं है, अभ्यास नहीं है। भीतर-बाहर से शान्त हो जाना है और अपनी ओर से कुछ नहीं करना है। बलपूर्वक निवृत्ति सत्संग नहीं है। सहज भाव से श्रमरहित हो जाना मूक सत्संग है। श्रमरहित होना सबके लिए समान रूप से सुलभ है।

इस प्रकार, यह सम्पूर्ण ग्रन्थ आरंभ से अन्त तक मौलिक विचारधाराओं से ओत-प्रोत है। यह ग्रन्थ ऐसा नहीं है कि आप उपन्यास की तरह इसका आनन्द ले सकें। इसके एक-एक वाक्य, एक-एक शब्द पर ठहर-ठहरकर, उसे चबा-चबाकर ही पूरा-पूरा रस लिया जा सकता है। हम अपने पाठकों से इस सुन्दर सद्ग्रन्थ के स्वाध्याय के लिए आग्रह करते हैं। साधना के क्षेत्र में इतनी साफ-सुथरी भाषा में ऐसा मौलिक चिन्तन बहुत विरल है।

—विजयकृष्ण पन्त

o

एकत्व-दर्शन[1]

प्रस्तुत ग्रन्थ सर्वदानन्द-विश्वग्रन्थमाला का ४३वाँ पुष्प है। इस ग्रन्थमाला के सम्पादक विश्वबन्धु शास्त्री एम्० ए०, एम्० ओ० एल्० हैं। इस ग्रन्थ का मूलाधार है ईशोपनिषद् का सातवाँ मन्त्र—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

अर्थात्, जिस स्थिति में सम्पूर्ण प्राणी एकमात्र आत्मा ही हो चुकते हैं, उस अवस्था में एकता का निरन्तर साक्षात्कार करनेवाले पुरुष के लिए कौन-सा मोह, कैसा शोक?

यह एकत्व-दर्शन ही भारतीय साधना क्या, समस्त साधनाओं की चरम परिणति है। यह किसी विशिष्ट धर्म-सम्प्रदाय में आबद्ध नहीं है। यह 'जीवन-ज्योति' है, जो सभी देश, सभी काल और मानव-मात्र के लिए है। इस एकत्व-दर्शन में जगत् की पीडा का अन्त होगा।

इस 'एकत्व-दर्शन' की संसिद्धि के लिए लेखक ने छोटे-छोटे, परन्तु सारगर्भ २१ अध्यायों में अपने ग्रन्थ को पूरा किया है, जिसका सारतत्त्व यह है कि जिस ज्योति के उद्गम की हमें ईप्सा है, वह प्रत्येक मानव के भीतर ही विद्यमान है, और उसपर के परदे को हटा देने पर वह रू-ब-रू साक्षात्कार का विषय बन जाता है। लेखक ने बड़ी तन्मयता की शैली में अपने विषय का प्रतिपादन किया है और इस पुस्तक को पढ़ते समय स्वामी रामतीर्थ के साथ सत्संग का आनन्द आता है। पुस्तक की भाषा बड़ी ही चुटीली और हृदयावर्जक है। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि लेखक अपनी उद्देश्य-सिद्धि में सर्वथा सफल हुआ है।

—स्वामी आनन्दतीर्थ

o

१. लेखक : प्रो० निर्मलचन्द्र : प्रकाशक : विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर (पंजाब); पृष्ठ-सं० ८[illegible]; मूल्य : एक रुपया, पचास नये पैसे मात्र।

जीवन-धर्म[1]

प्रस्तुत पुस्तक सर्वदानन्द-विश्वग्रन्थमाला का ४४वाँ पुष्प है। इस पुस्तक में १८ अध्याय हैं और अन्तिम अध्याय 'जीवन ही धर्म है', लेखक के हृदय की वाणी है, जो आदि से अन्त तक अनुस्यूत है। इस छोटे-से ग्रन्थ में लेखक के विचारों का केन्द्र-बिन्दु है—जीवन का उद्देश्य क्या है? जीवन की सफलता और पूर्णता किस बात में है? हम यहाँ किसलिए हैं? परस्पर मिलकर जीने के मौलिक तत्त्व क्या हैं?

लेखक ने बड़ी ही सारगर्भ और परम पवित्र शैली में अपने विचारों का प्रतिपादन किया है और आपका दृढ विचार है कि जबतक हम स्वयं यथार्थतः मनुष्य न हो जायँ, तबतक हम मानवोचित सृष्टि की रचना नहीं कर पायेंगे। संसार को आदर्शानुरूप बनाने के पूर्व अपने को बदलना नितान्त आवश्यक है—हमें सर्वप्रथम स्वयं होना होगा, तभी हम स्वजीवन में स्वधर्म का पालन कर सकेंगे। जैसे सूर्योदय होने पर समस्त कृत्रिम दीपक अनावश्यक हो जाते हैं, वैसे ही जीवन-ज्ञान की दिव्य ज्योति परम्परागत अनेक मतों को अर्थहीन बना देती है। जीवन भगवान् का दिया हुआ वरदान है—हमें जीने की कला जाननी चाहिए। कुल मिलाकर यह पुस्तक संतुलित व्यक्तित्व के निर्माण में बहुत ही सफल सहायक सिद्ध होगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

मत और धर्म की व्याख्या करते हुए एक स्थान पर लेखक अपना विचार व्यक्त करता है —"मत सुलाता है वास्तविकता के प्रति, धर्म जगाता है तथ्यता की ओर। मत दायित्वहीन बनाता है, धर्म दायित्व की शिक्षा देते हुए कहता है कि तुम अपनी सृष्टि के लिए उत्तरदायी हो। मत कहता है कि तुम क्षुद्र जीव हो। धर्म कहता है कि तुम आप ही अनन्त स्रष्टा हो, अपने-आप भाग्य-विधाता हो। मत भूलो, अपने अत्यन्त छोटे आकार पर। जाओ अपनी अनन्त आत्मा में। जीवन की पूर्णता दूसरों से अलग-अलग सिद्धि प्राप्त कर लेने में नहीं, बस सबके साथ मिलकर जीने में है। संसार और समाज से भागकर ईश्वर की ओर दौड़ना छाड़कर अपने-आप में आकर स्थितप्रज्ञ हो जाओ। अपनी सत्ता में डुबकी लगाओ। तब तुम समस्त जगत् तथा जगदीश्वर दोनों को अपने अंदर पाओगे। तुम ही सब कुछ हो—'तत्त्वमसि'।"

ग्रन्थ में आदि से अन्त तक स्वामी रामतीर्थ की शैली का आनन्दोल्लास है—वही बेखुदी, वही बहार, वही बहाव, वही अलमस्ती का आलम! पाठक एक बार डुबकी लगाकर बाहर आना नहीं चाहेगा—ऐसी है यह पुष्करिणी।

—प्रणवानन्द सरस्वती

०

१. लेखक-प्रकाशक : उपरिवत्; पृष्ठ-सं० ९६; मूल्य : एक रुपया, पचास नये पैसे मात्र।

ऊर्ध्वरेता[1]

ऊर्ध्वरेता भीष्म पितामह के जीवन का आधार लेकर निर्मित एक खण्डकाव्य है और इसमें कवि ने अपने वर्ण्य विषय के साथ पूरा-पूरा न्याय किया है। कवि की दृष्टि बड़ी ही प्राञ्जल है और काव्य के विषय के उपयुक्त ही उसकी काव्य-शैली भी सशक्त और पौरुषपूर्ण। इस ग्रन्थ के बहाने कवि ने वर्त्तमान युग के अनुरूप वीरता को ललकारा है और देश के लिए, धर्म के लिए, अपनी आन पर मर मिटने के लिए आह्वान किया है।

भीष्म ने किन परिस्थितियों में प्रतिज्ञा की, यह सर्वविदित है और किस दृढता के साथ अपनी प्रतिज्ञा को निबाहा, यह भी सर्वविदित है। भीष्म का चरित्र महाभारत के चरित्रों में अनेक कारणों से सर्वोत्कृष्ट है और उसी सर्वोत्कृष्ट चरित्र का आधार लेकर श्रीउमेशचन्द्र मिश्र ने इस काव्य-ग्रन्थ का निर्माण किया है। वीरकाव्य की पंक्ति में इस ग्रन्थ का एक आदरणीय स्थान होना चाहिए। कवि का यह खण्डकाव्य अपने उद्देश्य में सर्वथा सफल है और कवि काव्यप्रेमियों के धन्यवाद और बधाई का पात्र भी। —मधुसूदन शास्त्री

०

नृतत्त्व तथा समाजदर्शन[2]

अखिलभारतीय दर्शन-परिषद् के तत्त्वावधान में श्रीयशदेव शल्य बहुत ही यशस्वी कार्य कर रहे हैं, जिनमें से एक है प्रस्तुत पुस्तिका का प्रकाशन। 'इण्टरनेशनल काउंसिल फॉर फिलासफी ऐण्ड ह्यूमनिटिक स्टडीज़' के तत्त्वावधान में निकलनेवाली 'डायोजीन्ज़' नामक त्रैमासिक पत्रिका एक साथ अँगरेजी, फ्रेंच, स्पेनिश तथा अरबी भाषाओं में प्रकाशित होती है। इस पत्रिका का उद्देश्य मानव-सम्बन्धी विभिन्न अध्ययनों में निहित अन्तः-सम्बन्ध को व्यक्त करना तथा भौतिक विज्ञानों की मानवसापेक्षता को प्रदर्शित करना है।

इसी 'डायोजीन्ज़' के कुछ विशिष्ट लेखों का संकलन कर उनका हिन्दी-अनुवाद अधिकारी विद्वानों द्वारा कराकर प्रस्तुत संग्रह में प्रकाशित किया गया है। ये लेख विभिन्न विषयों पर हैं—कला, साहित्य, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र इत्यादि। अनुवादकों में श्रीयशदेव, डॉ० दयालशरण वर्मा, डॉ० रमेश कुन्तलमेघ और श्रीसीताराम गोयल हैं। विषय-सूची से ही विषयों की विविधता स्पष्ट है—१. भारत में दार्शनिक विचार, २. भारत की सभ्यता टायनबी की दृष्टि में, ३. इतिहास की विश्वदृष्टि में क्रान्ति, ४. भारतीय लोकगीतों में आधुनिक सामाजिक शक्तियाँ, ५. प्राचीन सभ्यताओं का उद्भव तथा टायनबी के सिद्धान्त, ६. आर्थिक प्रवृद्धि का स्वरूप, ७. अर्थशास्त्र तथा व्यवहारात्मक विधाएँ : एक बीहड़ प्रान्त, ८. कर्मकार, सर्वहारा और बुद्धिजीवी, ९. मनोविश्लेषण तथा समाजशास्त्र, १०. विकासवादी मनोविज्ञान और ज्ञानमीमांसा। इनमें प्रथम तथा चतुर्थ निबन्ध के लेखक भारतीय हैं, शेष सभी विदेशी विचारक हैं। लेखों

---

१. रचयिता : श्रीउमेशचन्द्र मिश्र; प्रकाशक : काव्य-मंदिर, निघवाँ (गया); पृष्ठ-सं० २११; मूल्य : चार रुपये मात्र।

२. संगृहीत; प्रकाशक : अखिलभारतीय दर्शन-परिषद्, फरीदकोट (पंजाब); मूल्य : आठ रुपये।

के पढ़ने से पता चलता है कि सभी अपने-अपने विषय के मँजे हुए पण्डित हैं। टायनबी के विचार-संबंधी दोनों निबन्ध बहुत ही उद्बोधक और विचारोत्तेजक हैं। प्रो० सच्चिदानन्दमूर्त्ति ने भारतीय दर्शन के सम्यक् ज्ञान, सम्यक् आचरण और सम्यक् दृष्टि पर विशेष बल देते हुए इसकी समग्रता को वैशिष्ट्य माना है। 'मानव-समष्टि की आकांक्षाओं की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति' को ही वे भारतीय दर्शन का निजी स्वतंत्र रूप मानते हैं।

प्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी ने दस खण्डों में अपना 'बृहत् इतिहास का एक अध्ययन' प्रस्तुत किया है। विश्व के अन्य सभ्य देशों के साथ वहाँ भारत के इतिहास का भी जगह-जगह उल्लेख और व्याख्या है। श्रीलूई रेनो ने 'भारत की सभ्यता टायनबी की दृष्टि में' शीर्षक अपने लेख में इस अंश का पर्यालोचन किया है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में लूई रेनो लिखते हैं—"यह निर्विवाद है कि इसमें नई समस्याओं के प्रति जागरूकता है, मेधावी दृष्टिकोणों का एक संयोजन है, परिकल्पनाओं तथा प्रदत्तों की एक सम्पूर्ण गतिशील दुनिया है, जो पाठक में, वह चाहे या न चाहे, यह भाव उत्पन्न करेगी कि उसकी आँखों के सामने मानव-संस्कृति का तथा इतिहास का एक कायाकल्पित, समृद्ध प्रतिरूप विद्यमान है।"

'भारतीय लोकगीतों में आधुनिक सामाजिक शक्तियाँ' डॉ० रमेश कुन्तलमेघ द्वारा अनूदित एक बड़ा ही भव्य एवं मनोहारी निबन्ध इस संग्रह की शोभा को अनन्तगुना बढ़ा रहा है। एक बुन्देलखण्डी लोकगीत में अनाज की कीमतों के गिरने से उत्पन्न मुसीबतों का वर्णन देखिए—

> **पोत लाग रहा महाराज जुनरिया हो गई मन भर की**
> **मुनसी आये, पटवारी आये, आये तौसीलदार**
> **होने लगी कुरकी जुनरिया हो गई मन भर की**
> **लाँगा बिक गयो, लँगरा बिक गयो**
> **बिक गई अँगिया तन की, जुनरिया हो गई मन भर की**
> **राजा के बाँधन को सेला बिक गयो, फजिअत हो गई घर-घर की**
> **जुनरिया हो गई मन भर की।**

एक भोजपुरी लोकगीत में ब्रिटिश राज के विलोप की घोषणा इस प्रकार हुई है—

> **गांधी के लड़इयाँ नाहिँ जितबै फिरंगिया**
> **चाहे करू केतनो उपाइ**
> **भल भल भजता उड़ौले एहि देसवा में**
> **अब जइहैं कोठिया बिकाइ।**

लेखक ने अपने लेख के अंत में आधुनिक मशीन-युग के प्रभाव के कारण लोकगीतों के क्रमशः ह्रास पर खेद प्रकट करते हुए लिखा है—"गाँवों तक में मशीन की चक्की लग चुकी है। स्वभावतः 'जँतसार' समाप्त हो रहा है। बच्चे अस्पतालों में पैदा होते हैं, इसलिए 'सोहर' समाप्त हो रहा है। धीरे-धीरे शहराती हवा देहातों में चली गई और फिल्मी वातावरण वहाँ भी छा गया है। बिजली-संचालित आटे की मिलें अनाज पीसने के साथ-साथ जाँत के गीतों को भी पीसे डाल रही हैं। इसी तरह कोल्हू से गन्ने पेरते समय के

गीत भी विस्मृत होते जा रहे हैं। तेजी से बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप लोकगीत अपने को अभियोजित नहीं कर पाये। संशोधित होने के बजाय वे विलुप्त हो रहे हैं।

रेमोण्ड एरोन का 'कर्मकार, सर्वहारा और बुद्धिजीवी' शीर्षक लेख बहुत-ही विचारोद्बोधक है, जिसमें लेखक ने इन तीनों प्रकार के व्यक्तियों का सामाजिक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। अभी तक पश्चिमी सभ्यता के अन्तर्गत सर्वहारा से किसी उत्कृष्ट धर्म का उदय नहीं हुआ और यदि ऐसा कोई धर्म प्रकट होता है, तो वह बौद्धिक सृष्टि न होगा।

ज्यॉर्जेज़ फ्रीडमान ने अपने निबंध 'मनोविश्लेषण तथा समाजशास्त्र' में कई एक प्रस्तुत प्रश्नों की एक प्रस्तावना का सफल प्रयास किया है, जिसमें मनोविश्लेषण तथा समाजशास्त्र के सम्पर्क में जन्म पानेवाली कुछ समस्याओं का निरूपण किया है तथा कुछ ऐसे प्रसंगों का उल्लेख किया है, जिनको समाजशास्त्री आत्मसात् नहीं कर सकते।

प्रस्तुत संग्रह के सभी लेख पठनीय एवं मननीय हैं और पाठकों से गम्भीर चिन्तन की अपेक्षा रखते हैं। अखिलभारतीय दर्शन-परिषद् इस अनमोल प्रकाशन के लिए बधाई की पात्र है। —आनन्दमोहन अवस्थी

०

साहित्य-शास्त्र[1]

लेखक के नाम के पूर्व जो विशेषण आये हैं, वे प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक द्वारा नहीं, स्वयं लेखक द्वारा प्रयुक्त हैं। खेद है, पुस्तक से इस विशेषण की सार्थकता सिद्ध नहीं होती।

विवेच्य पुस्तक में काव्य के विविध पक्षों से संबद्ध ५२ निबंध हैं। विवेचन का स्तर सामान्य और प्रारंभिक स्तर का है। काव्यशास्त्र के गंभीर जिज्ञासुओं को इसे पढ़कर निराश और क्षुब्ध ही होना पड़ेगा। पुस्तक के मुखपृष्ठ पर इसकी अन्य विशेषताओं का उल्लेख करने के साथ-साथ यह भी लिखा हुआ है कि 'एम्० ए० के हिन्दी-विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।' एक विश्वविद्यालय में हिन्दी-प्राध्यापक होने के नाते यह बात साधिकार कह सकता हूँ कि इसे पढ़कर एम्० ए० के छात्रों की बात तो दूर रहे, स्नातक (सम्मान) के छात्र भी अच्छे अंक नहीं प्राप्त कर सकते।

अपनी बात मैं उदाहरणों से स्पष्ट कर दूँ। 'काव्य का स्वरूप' शीर्षक निबंध को लिया जाय। इस निबंध की पहली ही पंक्ति है—"काव्य में शब्द होते हैं। उन शब्दों में अर्थ होते हैं। तो क्या काव्य सार्थक शब्दों का समूह है? नहीं, यह तो गद्य में भी होता है। काव्य को गद्य से पृथक् करनेवाला तत्त्व काव्य का पद्यात्मक होना है।" साहित्य का साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि काव्य केवल पद्य में ही नहीं होता। यदि ऐसा हो, तो समस्त श्रव्य काव्य को काव्य की सीमा से बाहर कर देना होगा। 'कादम्बरी', 'हर्षचरित', 'दशकुमारचरित' में से कोई भी काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं रह

---

१. प्रणेता : प्रसिद्ध मनीषी आचार्य डॉ० मुंशीराम शर्मा; प्रकाशक : भारत भारती प्रा० लिमिटेड, १, अनसारी रोड, नया दरियागंज; दिल्ली-६; पृष्ठ-सं० २१८; मूल्य : सात रुपये, पचास नये पैसे मात्र।

जायगा। यदि यह बात कोई परीक्षार्थी उत्तर-पुस्तिका में लिख दे, तो उसे कितनी क्षति होगी, यह सहज अनुमान का विषय है। इसी निबंध में पृष्ठ ५२ पर भट्टलोल्लट को भरतकृत नाट्यशास्त्र का टीकाकार बताया गया है, जो सर्वथा निराधार है। 'विचार' शीर्षक निबंध में एक स्थान पर (पृ० ८७) निम्नलिखित वाक्य आया है, जिसकी असंगति स्वतः स्पष्ट है—"विचार काव्य में वह सामग्री है, जिसे कवि अपने पाठकों तक पहुँचाना चाहता है। वाल्मीकिरामायण या रामचरितमानस में यह सामग्री राम का वृत्त है।"

'रसनिष्पत्ति' शीर्षक निबंध में रस का विवेचन इतना संक्षिप्त, अस्पष्ट और अपर्याप्त है कि इससे बी० ए० के छात्रों का भी काम नहीं चल सकता, एम्० ए० के छात्रों की बात तो दूर रहे। 'शब्द-शक्तियाँ' शीर्षक निबंध में भी शब्द-शक्तियों का विवेचन अस्पष्ट और अपर्याप्त है।

विवेच्य पुस्तक में विषय-संबंधी व्यापकता के बावजूद क्रमबद्ध विवेचन का भी नितांत अभाव दीख पड़ता है। विषयान्तरों के कारण स्पष्ट बात भी स्थान-स्थान पर उलझ जाती है। 'काव्य का स्वरूप' शीर्षक निबंध में अँगरेजी आलोचकों द्वारा प्रदत्त लक्षणों का संकलन कर दिया गया है। लेखक ने इन परिभाषाओं की युक्तियुक्तता पर विचार नहीं किया है। एक निबंध का शीर्षक दिया हुआ है 'बहिरंग' (पृ० १३८), जो समझ से सर्वथा बाहर है। एक दूसरे निबंध का शीर्षक है 'साइंस और साहित्य'। हिन्दी में 'विज्ञान' शब्द खूब प्रचलित है। पता नहीं, लेखक ने 'विज्ञान' के स्थान पर 'साइंस' शब्द का प्रयोग करके किस नवीन अर्थ को व्यंजित करने का प्रयत्न किया है।

इस पुस्तक में संकलित एक ही निबंध ('शैली') विषय का स्पष्ट विवेचन होने के कारण छात्रोपयोगी है।

पुस्तक की पृष्ठ-संख्या और सामग्री को देखते हुए इसका मूल्य आवश्यकता से अधिक है।

कुल मिलाकर पुस्तक नितांत असंतोषजनक है।

०

साहित्य-चिन्तन[1]

समीक्ष्य पुस्तक नौ स्फुट निबन्धों का संकलन है। इसके दो निबन्ध—'साहित्य और इतिहास' तथा 'स्थायी साहित्य और उसके मानदंड'—सैद्धान्तिक और शेष सात निबन्ध—'मानतावाद और हिन्दी-कविता,' 'प्रेमचंद और गोर्की', 'अपनी खबर : आत्म-कथात्मक कृति'; 'गीत-काव्य, बच्चन और उनके परवर्त्ती गीतकार', 'उर्मिला' : एक विश्लेषण', 'उर्वशी : नवयुग की प्रतिनिधि रचना,' 'नवोदित गीतकार : उपेन्द्र'—आलोचनात्मक या समीक्षात्मक हैं। जहाँतक इन निबन्धों के स्तर का प्रश्न है, दोनों ही सैद्धांतिक निबन्ध साहित्य के गंभीर छात्रों के लिए असंतोषप्रद हैं। 'साहित्य और इतिहास'

१. लेखक : श्रीनरेशचन्द्र चतुर्वेदी ; प्रकाशक : साहित्यायन, कानपुर ; प्रमुख वितरक : प्रत्यूष प्रकाशन, रामबाग, कानपुर ; पृष्ठ-सं० १४२; मूल्य : पाँच रुपये, पचास नये पैसे मात्र।

शीर्षक निबन्ध में साहित्य और इतिहास के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन बहुत सतही है। साहित्य के सत्य और इतिहास के सत्य के अंतर तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा भी इस निबन्ध में की गई है। 'स्थायी साहित्य और उसके मानदंड' शीर्षक निबन्ध में भी अपेक्षित गांभीर्य का अभाव है।

किन्तु, इस अभाव की क्षतिपूर्त्ति कर दी है इस पुस्तक में संकलित आलोचनात्मक और समीक्षात्मक निबन्धों ने। इन निबन्धों में आलोचक की निर्व्याज सहृदयता, सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और भावकोचित उदारता के दर्शन सर्वत्र होते हैं। दिनकर की 'उर्वशी' पर पिछले दिनों अनेक समीक्षाएँ प्रकाशित हुई हैं, पर मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ आलोच्य पुस्तक में संकलित 'उर्वशी'-विषयक निबन्ध उनमें प्रथम पंक्ति का अधिकारी है। 'गीत-काव्य, बच्चन और उनके परवर्त्ती गीतकार' शीर्षक निबन्ध में भी विषय का व्यापक, सूक्ष्म और सहृदयतापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस संग्रह के दो निबन्ध— 'उर्मिला : एक विश्लेषण' तथा 'नवोदित गीतकार : उपेन्द्र' सर्वथा नवीन और मौलिक हैं। कुल मिलाकर, विवेच्य पुस्तक एक अच्छी पुस्तक कही जा सकती है। इसे खरीदकर और पढ़कर किसी को निराश नहीं होना पड़ेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रूफ-सम्बन्धी भूलें पुस्तक में हैं। गोकि लेखक ने प्रारम्भ में ही इन भूलों को स्वीकार कर लिया है; पर प्रथम पृष्ठ में ही जब मुद्रण-संबंधी भद्दी भूलें मिलती है, तब पाठक का मन खट्टा हो जाता है। प्रथम पृष्ठ की प्रथम पंक्ति का 'घनिष्ट' शब्द और अंतिम पंक्ति का पूर्ण विराम (।) किसी पाठक को क्षुब्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। यदि इस प्रकार की मुद्रण-संबंधी भूलें नहीं रहतीं, तो पुस्तक और भी उपयोगी बन पाई होती।

प्रूफ-सम्बन्धी भूलों को यदि छोड़ दिया जाय, तो मुद्रण को सुरुचिपूर्ण कहा जा सकता है।

—प्रो० गोपाल राय

०

साहित्य की मान्यताएँ[1]

इस पुस्तक में श्रीभगवतीचरण वर्मा ने विचारक के आसन पर बैठने का प्रयास किया है। यों वर्माजी का प्रिय क्षेत्र रचनात्मक साहित्य है, जिसके अन्तर्गत इन्होंने कविता, उपन्यास, कहानी, स्केच, रेडियो-रूपक, सिनारियो इत्यादि का प्रणयन किया है। रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी वर्माजी उपन्यासकार और कवि के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। किन्तु, प्रस्तुत पुस्तक में 'भैंसागाड़ी' के कवि और 'चित्रलेखा' उपन्यास के लेखक को हम एक नये रूप में पाते हैं, जिसे हम आलोचक या विचारक का रूप कह सकते हैं। वर्माजी का यह नया रूप अभिनन्दनीय है; क्योंकि इस पुस्तक के विचारात्मक निबन्धों में स्वतंत्र चिन्तन और स्वानुभूत मान्यताओं को अभिव्यक्ति दी गई है। इन निबन्धों में लेखक ने शास्त्र, परम्परा, वाद-प्रवाद, चर्वित-चर्वण इत्यादि की अपेक्षा अपनी सूझ-बूझ

१. लेखक : श्रीभगवतीचरण वर्मा; हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद; पृष्ठ-सं० १७०; मूल्य : ३ रुपये, पचहत्तर नये पैसे मात्र।

और ईमानदार अनुभूति को अधिक प्राश्रय दिया है। अतः, ये निबन्ध इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि इनमें लेखक ने—मधुकण, प्रेमसंगीत, मानव, त्रिपथगा, चित्रलेखा, तीन वर्ष, टेढ़े-मेढ़े रास्ते, आखिरी दाँव, भूले-बिसरे चित्र, इंस्टालमेण्ट, दो बाँके इत्यादि के लेखक ने अपनी सुदीर्घ साहित्य-साधना से प्राप्त स्वानुभवों और धारणाओं को बौद्धिक धरातल पर उपस्थित किया है। वैसे, शास्त्रीय या 'एकेडेमिक' आलोचना की दृष्टि से ये निबन्ध कुछ स्थलों पर किसी 'सखुनसंज' शायर की गद्यात्मक वार्त्ता के समान लग सकते हैं। किन्तु, इस दृष्टि से भी लेखक ने पाठकों को ठगने की चेष्टा नहीं की है; क्योंकि उसने पहले ही अपनी सीमाओं का उल्लेख कर दिया है—"मैं न पण्डित हूँ और न दार्शनिक हूँ।...मैं तो केवल अपने अनुभवों पर ही स्थित हूँ" (पृष्ठ १)। इस तरह इन निबन्धों को उपस्थित करते समय लेखक ने ईमानदारी का निर्वाह किया है।

यह सच है कि विचारक बनने के मोह में भगवती बाबू ने कहीं-कहीं ऐसे अति-व्याख्यापेक्षी सूत्रों को उपस्थित कर दिया है, जो गुरुपाक होकर भी अर्थगर्भत्व नहीं रखते। अतः, इस पुस्तक में जहाँ हमें चिन्तन और रचनात्मक साहित्य की रसोच्छलता का समन्वय मिलता है, वहाँ हमें कुछ खोखले स्थल भी मिलते हैं। जैसे, 'भाव और भावना' शीर्षक निबन्ध चिन्तन का बढ़िया स्वांग उपस्थित करता है। किन्तु, इन विरल दोषों के रहने पर भी यह स्वीकार कर लेना उचित है कि प्रस्तुत पुस्तक आधुनिक हिन्दी-साहित्य में रचनात्मक आलोचना और स्वतंत्र चिन्तन की परम्परा को सबल बनाती है। इसके कुछ निबन्ध तो विचारोत्तेजकता की दृष्टि से बहुत अच्छे हैं। अट्ठारहवें परिच्छेद के अन्तर्गत नाटक पर लिखा गया निबन्ध उक्त टिप्पणी को प्रमाणित करता है। इसमें नाट्य-कला पर यांत्रिक उपकरणों का प्रभाव, रेडियो-रूपकों के द्वारा नाटकों के दृश्य-पक्ष का अपहरण, टेलीविजन के संभावित प्रचार से रेडियो-रूपक के शिल्प-तंत्र को नई चुनौती, पठित साहित्य के रूप में नाटकों का परिसीमन इत्यादि अनेक ऐसे प्रश्न उठाये गये हैं, जो हमें नये ढंग से सोचने के लिए बाध्य करते हैं। इसी तरह लेखक ने रेखाचित्र और शब्दचित्र पर भी कई अच्छी बातें लिखी हैं। यद्यपि रचनात्मक साहित्य की प्रतिभा रखने के कारण भगवती बाबू के लिए उच्च कोटि की आलोचना-पुस्तक अथवा शास्त्रीय ग्रन्थ का प्रणयन 'प्रांशुलभ्य फल' है, तथापि यह पुस्तक आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विचारकों के द्वारा समादृत होगी, इतना निश्चित है।

—प्रो० कुमार विमल

०

शारदी[1]

अमूर्त्त को मूर्त्त बनाकर काव्य लिखने की परिपाटी आर्षकालीन है। यह परिपाटी हिन्दी में, 'प्रसाद'-काल में आकर परिणतवय बनी। फलतः, प्रसादजी के अनेक गद्य, पद्य और नाटक इस दिशा में आधारादर्श हो गये। प्रस्तुत आलोच्य पुस्तक 'शारदी' इसी

१. रचयिता : श्रीरामसंजीवन सिंह; प्रकाशक : प्रबोध-प्रकाशन, रसलपुर जिलानी, मुजफ्फरपुर; मूल्य : एक रुपया, पच्चीस नये पैसे मात्र।

कोटि की एक लघुकाय काव्य-पुस्तक है, जो प्रसादजी के भावगन्ध से अभिभूत है। जहाँ तक कथानक का—शरद् ऋतु और पवन के प्रेम का—प्रश्न है, कवि मौलिकता का दावा कर सकता है, फिर भी उसके लिए अपनी इस कृश कृति में परम्परा-स्पर्श की बात से इनकार करना सम्भव नहीं होगा।

हिन्दी-काव्यों में सर्वस्वीकृत एवं बहुप्रचलित मात्रिक छन्द पज्झटिका में निबद्ध प्रस्तुत काव्य छह नातिदीर्घ सर्गों में विभक्त है। इनमें मुख्यतः शारदी, पवन और जूही इन तीन पात्रों के चरित्र को मनोद्वन्द्वात्मक उदात्त रिरंसा की ग्रन्थिलता के बीच ले जाकर उभारने की सतर्क चेष्टा की गई है जरूर, लेकिन बात कुछ खास बनी नहीं है—कुल मिलाकर कथावस्तु विचारों की पंकिलता में उलझकर रह गई है, अपेक्षित रूप में निखर नहीं पाई है। अन्त में जाकर तो रानी शारदी शिशिरा हो गई है!! द्रष्टव्य :

> **जाती हूँ मैं, विदा मुझे दो, भेजूँगी माधव को,**
> **प्राण-शिराओं में गति स्पंदन नया चाहिए भव को।**
> **हुई शारदी अन्तर्हित, गिरते थे सूखे पल्लव;**
> **दूर देश में पड़ा सुनाई कोकिल का कू-कू रव।**

शिशिर-शीर्णा यदि मधुमासवाली को भेजती, तो बात बहुत हद तक सटीक होती। कविवर दिनकर ने इस प्रसंगाहति से अपने को स्पष्ट बचा लिया है : 'मैं शिशिरशीर्णा चली अब जाग ओ मधुमासवाली!' अच्छा होगा, कवि अपने इस कृशकाय काव्य के परिवेश को परिबृंहित कर स्वीकृत पात्रों के चरित्र को समुचित और अधिकाधिक विकास का अवसर देगा।

यत्र-तत्र शब्द-प्रयोग चिन्त्य होते हुए भी मुद्रण और आवरण की शुद्धता और स्वच्छता गर्हित नहीं। भाषा, कवि की काव्यनिबन्धन-प्रौढि के प्रकर्ष को संकेतित करती है।

—मल्लिषेण

०

...पर गूँज रह जाती है[1]

हिन्दी-जगत् में गद्यगीतों की परम्परा, हमारे खयाल से, मुक्तक कविताओं के व्यापक प्रचलन के कारण व्यवहितप्राय हो गई है। इसलिए, बहुत आकलन-संकलन के बाद भी गद्यगीतकारों की सूची नातिदीर्घ ही रह जाती है। प्रस्तुत आलोच्य कृति गद्यगीत की पुस्तकों की विरलतर सूची में निस्संदेह पांक्तेयता की अधिकारिणी है।

गद्यगीत हिन्दी-काव्य का उपेक्षितप्राय विषय होने के कारण इसके शास्त्रीय पक्ष की ओर समीक्षकों का ध्यान बहुत कम आकृष्ट हो सका और उसका कोई विशेष विवेचन-वर्गीकरण भी न हो पाया। किन्तु, प्राध्यापक श्रीनन्दकिशोर की यह काव्य-कृति रसिक पाठकों को हठात् आवर्जित तो करेगी ही, समीक्षकों को भी गद्यगीतों की स्वस्थ और सरस परम्परा के पर्यालोचन के लिए निश्चय ही उकसायगी।

---

१. रचयिता : प्रो० नन्दकिशोर, एम्० ए०, एम्० एड्०; प्रकाशक : अरुणा प्रकाशन, भागलपुर-१; मूल्य : दो रुपये, पच्चीस नये पैसे मात्र।

दो खण्डों में विभक्त प्रस्तुत पुस्तक में चार दर्जन से अधिक ही गद्यगीत संकलित हैं, जो अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों दृष्टियों से असंतुलित नहीं ही कहे जायेंगे, हालाँकि यत्र-तत्र भावों का पौनःपुन्य गद्य-स्रोतस्कों को झुँझलाहट में डाल सकता है, फिर भी ये सारे-के-सारे गद्यगीत अपनी सद्यस्कता से मन को मुग्ध करते रहेंगे, ऐसी हमारी धारणा है।

डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ने प्रस्तुत कृति पर अपना अभिमत व्यक्त करते हुए कहा है: 'इस विधा के लेखकों में श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया ने जिस मस्ती-भरे वातावरण की सृष्टि अपनी रचनाओं में की थी, उसका आपने (कवि ने) और भी विकसित रूप ग्रहण किया है।' हम डॉ० कमलेश की दलील की तरफदारी करते हुए इतना और कहें कि गद्यगीतों को ऐसा मोहक रूप देने में कवि का प्रयास सर्वथा स्तुत्य है।

प्रायशः स्वस्थ भाषा का प्रवाह अक्षुण्ण है। मुद्रण की स्पृहणीयता इसकी विशेषता है। आवरण भी भाव को प्रतीकित करनेवाला, अतएव आकर्षक है। —श्रीदेव

o

गिरिव्रज राजगृह[१]

बिहार, प्रागैतिहासिक प्रतिष्ठाप्राप्त प्रान्त है। यहाँ अनेक ऐसे स्थान हैं, जिनका पुरातात्त्विक शोध की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व है। राजगृह इन्हीं पुरातात्त्विक स्थानों में अन्यतम है, जो जैन-बौद्धकालीन भारतीय संस्कृति का निरन्तर उद्घोषक बना हुआ है।

प्रस्तुत समीक्ष्य कृति 'गिरिव्रज राजगृह' में शोधसाधु लेखक ने ऐतिहासिक, धार्मिक, पुरातात्त्विक इन तीनों दृष्टियों से राजगृह का सांगोपांग विवरण प्रस्तुत किया है, जिससे राजगृह के निमित्त उत्सुकों तथा पर्यटकों के लिए दीर्घतर संकेत और सूचनाएँ सुलभ हो गई हैं। पुस्तक का पुरातत्त्व-विषयक ऐतिहासिक पक्ष चूँकि 'एनुअल रिपोर्ट, आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया' पर विशेषाश्रित है, इसलिए पालि, प्राकृत और संस्कृत-वाङ्मय, विशेषतः पुराणों में वर्णित यथार्थ राजगृह की समीचीन सूचना और परिज्ञान रखनेवाले सुबुद्ध पाठकों को संभव है, किंचित् निराश होना पड़े। फिर भी, इतना अवश्य है कि शोधकुशल लेखक अपने आँग्लस्रोतस्क वर्णनों को भारतीय चाशनी में डुबाये रखने से कभी असतर्क नहीं हुआ है। इस दृष्टि से 'प्राचीन इतिहास-स्रोत', 'राजगृह का प्रागैतिहासिक काल', 'राजगृह का पूर्व ऐतिहासिक जरासन्ध-काल', 'ऐतिहासिक काल का आरम्भ' आदि शीर्षकोपेत अध्याय लेखक की पौराणिक विद्वत्ता के प्रति भी हमें आश्वस्त करते हैं। कुल मिलाकर, यह प्रकाशन राजगृह, जिसे पालि-वाङ्मय में गिरिब्बज (= गिरिव्रज) कहा गया है, के सम्बन्ध में अद्यावधि प्रकाशित सूचना-पुस्तकों में निश्चय ही विशेष प्रतिष्ठा का अधिकारी है।

प्रारंभ में, पटना-प्रमण्डल के प्रज्ञाप्रबल पुरातत्त्वज्ञ पण्डित श्रीश्रीधर वासुदेव सोहोनी की अनुसंधानपूर्ण विशद भूमिका से प्रस्तुत पुस्तक का वैशिष्ट्य इसलिए और

१. लेखक: श्रीरामप्रकाश शर्मा; प्रकाशक: तरुण भारत प्रेस, पटना-४; मूल्य: चार रुपये मात्र।

अधिक बढ़ गया है कि उन्होंने संस्कृत और पालि के ग्रन्थों का विस्तृत उद्धरण देते हुए राजगृह के प्रति अपनी शोधाभिरुचि और रहस्यज्ञता व्यक्त की है, साथ ही लेखक की मान्यताओं का समर्थन करते हुए आपने उन सिद्धान्तों को भी रेखांकित किया है, जो अबतक अनुद्घाटितप्राय थे ।

पुस्तक का मुद्रण-प्रकाशन श्रीहीन है । अच्छा होता, यह पुस्तक बिहार-सरकार के पर्यटन-विभाग की ओर से राजकीय स्तर पर प्रकाशित होती ।

—श्रीविद्यानन्द

o

विश्व के दार्शनिक[1]

प्रस्तुत समीक्ष्य कृति विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान की नित्यानंद विश्व-ग्रन्थमाला का चौथा पुष्प है । उक्त संस्थान ने हिन्दी में अनेक ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन किया है, जिनसे ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में विविधा और समृद्धि का समावेश हुआ है, साथ ही राष्ट्रभाषा की महनीय गौरव-वृद्धि भी हुई है । 'विश्व के दार्शनिक' उन्हीं गौरव-ग्रन्थों में अन्यतम है ।

इस पुस्तक में विश्व के प्रमुख दार्शनिकों में छब्बीस के जीवन-वृत्त उनके दार्शनिक सिद्धान्त और मान्यताओं के साथ उपस्थित किये गये हैं । भारतीय दार्शनिकों का परिचय श्रीरत्नचन्द्र शर्मा ने दिया है और भारतीयेतर दार्शनिकों से परिचित कराया है श्रीमहेन्द्र कुल-श्रेष्ठ ने, जिनमें दो चीनी दार्शनिक (कन्फ्यूसियस और लाओशियस) भी सम्मिलित हैं। निश्चय ही, यथारूप प्रस्तुत दार्शनिकों के परिचय हृदयग्राही और प्रेरक हैं । परन्तु, भारतीय दार्शनिकों के परिचय का जहाँतक प्रश्न है, उनमें विशदता का न्यूनाधिक अभाव है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता और यह भी कहा जा सकता है कि कतिपय ऐसे प्रमुख भारतीय दार्शनिक छूट गये हैं, जो हठात् गणना में भी शीर्षण्य रहते हैं और जिन्हें इस संकलन में आसानी से जोड़ा जा सकता था । उदाहरणार्थ, वर्द्धमान महावीर और महर्षि श्रीअरविन्द ।

सरल-वेगिल भाषा में निबद्ध विषय को अधिक-से-अधिक सूचनात्मक बनाने का प्रयास प्रशंस्य तो है ही, इस पुस्तक का यही सर्वातिशायी वैशिष्ट्य भी है । प्रस्तुत पुस्तक अपने पाठकों को सहज ही प्रभावित करेगी । मुद्रण शुद्ध और स्वच्छ है, साथ ही नयनाभिराम भी । जिल्द की बँधाई प्रौढ और आवरण आकर्षक । इस प्रकार की प्रकाशन-सामग्री प्रत्येक हिन्दी-प्रकाशक के लिए अनुकरणीय है ।

—आचार्य हरिभद्र

o

१. लेखक : श्रीरत्नचन्द्र शर्मा तथा श्रीमहेन्द्र कुलश्रेष्ठ; प्रकाशक : विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर (पंजाब); मूल्य : चार रुपये पचास नये पैसे मात्र ।

बौद्धसंग्रह तथा कुमारसम्भव[१]

उपर्युक्त दोनों प्रसिद्ध संस्कृत-ग्रन्थ साहित्य-अकादेमी की आँग्ल-शैली में प्रकाशित शोध-ग्रन्थों में परिगणनीय हैं। प्रथम बौद्धसंग्रह के संपादक हैं शोधमनीषी डॉ० नलिनाक्ष दत्त। इस ग्रन्थ को छह अंशों में विभक्त किया गया है, जिनमें क्रमशः संकलित हैं— बुद्धावदान, श्रावकयानधर्म, महायान-परिग्रह, महायान, महायान-दर्शन और जातकावदान। मूल संस्कृत में है, उसके साथ सामान्य शोध-संकेत अँगरेजी में दिये गये हैं। संकलन में कोई वैशिष्ट्य तो नहीं है; किन्तु संपादक की अँगरेजी-निबद्ध शोध और विद्वत्तापूर्ण भूमिका पठनीय है। इस भूमिका से अनुसन्धित्सुओं को परम्परेतर सूचनाएँ भी प्राप्त हों, ऐसी संभावना है।

द्वितीय ग्रन्थ कालिदास की प्रसिद्ध काव्यकृति कुमारसम्भव का पाठोद्धार है। इसके प्रख्यात समाक्षक सम्पादक डॉ० सूर्यकान्त ने प्रारम्भ में वैदुष्य और अनुसंधानपूर्ण अँगरेजी भूमिका में गुप्तकालीन कालिदास की विशद परिचिति प्रस्तुत की है, साथ ही तत्सम्बद्ध अनेक ज्ञातव्य विषयों और टिप्पणियों को बड़ी सरलता से उद्भावित किया है। विद्वान् संपादक ने इस पुस्तक का पाठ-निर्धारण विभिन्न शोध-संस्थानों से प्राप्त तेईस हस्तलिखित और सात मुद्रित प्रतियों से सम्पन्न किया है। पाठ-निर्धारण विवरणात्मक ही नहीं, वरन् समीक्षात्मक भी है, इस दृष्टि से इस पुस्तक का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है। कुल मिलाकर, शोध में समीक्षा का दृष्टिकोण रखने से विषय का अध्ययन बड़ा रोचक बन पड़ा है। कालिदास के प्रत्येक अधीती के लिए यह संस्करण पठनीय और संग्रहणीय है।

पुस्तक के अन्त में पूरे कुमारसम्भव के श्लोकों की अनुक्रमणी दी गई है, जिससे इसकी शोधोपयोगिता में चार चाँद लग गये हैं।

साहित्य-अकादेमी इसी प्रकार का काम यदि हिन्दी में भी सम्पन्न करे, तो उसकी यशस्विता और अधिक प्रसार पा सकेगी। फिर भी, यह संस्करण प्रत्येक शोधागार की श्रीवृद्धि करेगा, यह असंदिग्ध है।

—श्रीधामनिधि

०

संस्कृत-साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकारों का विकास[२]

आलोच्य पुस्तक, अपनी संज्ञा के अनुसार ही, संस्कृत-साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकारों के विकास का शास्त्रीयता से परम्परित बौद्धिकता-मूलक प्रखर विश्लेषण प्रस्तुत करती है। विषय से सम्बद्ध प्रत्येक प्रसंग के व्यालोचन में लेखक का पाण्डित्य चरम प्रकर्ष का स्पर्श करता प्रतीत होता है। पौरस्त्य और पाश्चात्य दोनों शैलियों से अलंकार जैसे बहुविवाद्य साहित्यिक अंग के विशद तौलनिक अध्ययन और तत्सम्बन्धी अपने

१. सम्पादक : क्रमशः डॉ० नलिनाक्षदत्त तथा डॉ० सूर्यकान्त; प्रकाशक : साहित्य-अकादेमी, नई दिल्ली; मूल्य : अनुल्लिखित।

२. लेखक तथा प्रकाशक : डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा, प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग, गवर्नमेंट कॉलेज, अजमेर; मूल्य : बारह रुपये मात्र।

निष्कर्ष के निर्भीक अभिव्यंजन में कृतविद्य लेखक को चूडान्त कृतार्थता प्राप्त हुई है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। गर्व होता है कि इस पुस्तक के मनीषी व्याख्याता ने अलंकार-शास्त्र का एकांगी अध्ययन के प्रति अभिरुचि की पिष्टपेषित पद्धति के दुर्ग्रह व्यामोह से ऊपर उठकर बहुपथीन सूक्ष्मेक्षिका से काम लिया है तथा वह चार सौ से अधिक पृष्ठों में व्याख्या के आवेश में सहज ही अनावश्यक कह जाने की असतर्कता या अस्थान पाण्डित्य-प्रदर्शन से निरन्तर निपुणतापूर्वक बचने का प्रयास कर सका है। प्रस्तुत ग्रन्थ का व्याख्येय विषय यद्यपि बहुत छोटा है, तथापि विद्वान् ग्रन्थकार की बलिहारी है कि उसने इसे गहनता एवं विसर्पता के आवरण में लपेटकर भी स्फीत नहीं होने दिया है। फिर भी, इसके सम्बन्ध में ब त सम्भव है, सुधी समीक्षक यह भी राय बनाने को बाध्य हों कि पण्डित लेखक अलंकारों की सादृश्यमूलकता के विवेचन से कहीं अधिक केवल 'सादृश्य' से ही परिचय कराने में अनेक अमूल्य पृष्ठ व्यय किये हैं, साथ ही प्रबुद्ध पाठकों की यह भी धारणा बन सकती है कि निबन्धकार को अपने स्वीकृत विषय के मूल्यांकन से कहीं बढ़कर विश्वविद्यालयीय 'महानिबन्ध' की तथाकथित मेदस्विता के आग्रह ने अधिक विवश किया हो। प्रस्तुत समीक्षा-पंक्तियों के लेखक के उदग्र मन में उठनेवाले इन अनायास तर्कों के बावजूद वह, राजस्थान-विश्वद्यालय द्वारा पी-एच्० डी० के लिए स्वीकृत तथा प्रकाशन-साहाय्यप्राप्त इस 'थीसिस' की वरेण्यता के समर्थकों की कमी न होगी, ऐसा विश्वास रखता है।

इस पुस्तक का एक वैशिष्ट्य यह भी माना जायगा कि महानिबन्ध की स्वीकृत परिपाटी के अनुसार मूल से अधिक पादटिप्पणियों के समावेश की अस्वस्थ प्रवृत्ति से यह आक्रान्त नहीं होने पाई है। हाँ, नितान्त बौद्धिकता के कारण औसत पाठकों को भाषा-प्रवाह कहीं-कहीं बोझिल अवश्य लगेगा, परन्तु वे निराश होंगे, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

यह पुस्तक जिस विद्वान् को समर्पित की गई है, उसने समर्पण-स्वीकार, स्वीकृत शिष्टता के प्रतिकूल मौन भाव की उपेक्षा मुखर होकर किया है। अच्छा होता, गुरु अपने शिष्य को केवल हृदय से ही प्राक्कथित करते।

पुस्तक का मुद्रण पुष्ट और स्वच्छ है। जिल्द साधारण।

—आचार्य यशोविजय

●●

विचार-विनिमय

शोधकार्य की समस्याएँ : विभिन्न प्रतिक्रियाएँ*

[१]

'परिषद्-पत्रिका' का नवीन (अक्टूबर '६३) अंक मिला। उसमें श्रीसहृदयजी की वह टिप्पणी देखी, जो शोध-प्रबन्धों के विषय में लिखी गई है।

विगत ७-८ वर्षों से हिन्दू-विश्वविद्यालय एवं अन्य दो संस्थाओं की ओर से परीक्षा के लिए 'डॉक्टरेक्ट' के ८-१० निबन्ध मेरे पास आये हैं। मुझे उनमें ऐसी मौलिकता या अध्ययनशीलता के दर्शन नहा हुए, जो इस 'डिग्री' के अनुकूल हो। प्रायः टाइप किये हुए २५०-३०० पृष्ठ भरे रहते हैं, परन्तु उद्धरणों को सिर्फ शृंखलाबद्ध करने भर का श्रम होता है। वह भी सुसंगत नहीं। कई बार मन में आया कि उनके महज एक अध्याय पर पूरा निबन्ध स्वतन्त्र रूप से लिखा जा सकता है। उनमें मौलिकता बहुत ही अल्पतम मात्रा में होती है। यह स्थिति बड़ी दयनीय है। इसपर भी सिफारिशें चलती रहती हैं।

वस्तुतः, विषयों का ठीक निर्वाचन ही नहीं होता। घिसे-पिटे विषय ले लिये जाते हैं, वे भी ऐसे, जिनपर दस-पाँच पुस्तकें उपलब्ध हों, उन्हीं को माध्यम बनाकर निबन्ध-रचना हो जाती है। ये ग्रन्थ यदि भ्रामक, अप्रामाणिक और अनर्गल धारणाओं पर आधृत हैं, तो निबन्ध भी उन्हीं को 'माइल-स्टोन' मानकर चलता है। क्योंकि, स्वयं की प्रज्ञा, चिन्तन और उचित निर्देशन का प्रश्न ही कहाँ है ?

निर्देशक यह समझकर सहज स्वीकार करता है कि श्रम के विना ही वह अनेक 'डॉक्टरों' के निर्माता का गौरव ग्रहण कर रहा है। यहाँतक कि जिस भाषा और विषय का स्पर्श भी जिस प्राध्यापक को नहीं होता, वह भी साहस के साथ उनका निर्देशकत्व स्वीकार कर लेता है और असली जानकारों को इसलिए निर्देशकत्व नहीं मिल पाता कि वे प्राध्यापक या 'डॉक्टर' नहीं हैं। यह एक 'मोनापोली' बन गई है।

मैं अपनी ही बात कहता हूँ कि चाहे मैं पी-एच्० डी० का परीक्षक क्यों न मान लिया गया हूँ, पर निर्देशक इसलिए नहीं बन सकता कि मुझे कोई विश्वविद्यालयीन डिग्री नहीं है। हालाँकि, पचास से ऊपर निबन्ध-लेखकों को यथाशक्ति पूरा सहयोग देता आया हूँ। आगरा, लखनऊ, बनारस और सागर के कई शोधकर्त्ताओं का मुझसे सम्बन्ध रहा है।

मेरा यह अभिमत हो गया है कि धीरे-धीरे 'डॉक्टरेट' की प्रतिष्ठा घटती जा रही है। यह उस दिन से अधिक हुआ, जिस दिन से यह 'डिग्री' 'वेतन-वृद्धि' का माध्यम बन गई। स्वार्थ से जुड़ते ही इसका ज्ञान, अध्ययन और मौलिकता से रिश्ता छूटता जा रहा है। यह

* 'परिषद्-पत्रिका' के वर्ष ३, अंक ३ में 'शोधकार्य की समस्याएँ' शीर्षक से एक सम्पादकीय टिप्पणी छपी थी। उसपर हमें कतिपय शोध-विद्वानों के जो महार्घ विचार प्राप्त हुए हैं, वे यहाँ यथावत् प्रस्तुत हैं।—सं०

आवश्यक नहीं होना चाहिए कि प्रत्येक डॉक्टर को उच्च वेतन का पात्र बनाया जाय। जबतक उसकी मौलिक अन्वेषण की विशेषता विदित न हो, केवल 'डॉक्टर' होने पर ही पद या पैसे का अधिकारी मान लिया जाय !

आज यदि प्रत्येक प्रदेश के विश्वविद्यालय अपने प्रदेश की भाषा और साहित्य के विभिन्न अंगों में 'भावात्मक एकता' को ही अपने शोध-प्रबन्ध का विषय बनायें, तो विभिन्न भाषा-साहित्य से एक सुन्दर वस्तु प्रस्तुत हो सकती है। नई बातों की सूझ का मानों अभाव होता जा रहा है। और, डिग्रियाँ अब इतनी सस्ती, सरल एवं सुलभ हो रही हैं कि वे अपने-आपका मूल्य घटाती ही जा रही हैं। बड़ा दुःख होता है !

—पं० श्रीसूर्यनारायण व्यास

भारती-भवन, उज्जैन

[२]

'शोधकार्य की समस्याएँ' शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी के सारांश से मैं सहमत हूँ कि हिन्दी में शोधकार्य का मानदण्ड ऊँचा उठाने और उसकी मर्यादा बनाये रखने पर सबको ध्यान देना चाहिए। जहाँतक हिन्दी में पिछले २० वर्षों के शोधकार्य का इतिहास है, उससे भविष्य के लिए निराश होने की कोई बात नहीं है। हिन्दी में अन्य सब प्रादेशिक भाषाओं की अपेक्षा अधिक ठोस और व्यापक शोधकार्य हुआ है। नये-नये क्षेत्र सामने आये हैं। अध्ययन की नई दिशाएँ प्रकाश में आई हैं। भाषाशास्त्र, इतिहास, आलोचना, सम्पादन, कोशविद्या, दार्शनिक अनुशीलन, जनपदीय साहित्य, लोकवार्त्ता-शास्त्र, इन विषयों में हिन्दी की प्रगति के बढ़ते हुए डग देखकर मैं तो सचमुच मुग्ध हो गया हूँ। लगता है, मानों हिन्दी-क्षेत्र में साहित्य के किसी भगवान् त्रिविक्रम का अवतार हो गया है। आपने जिन त्रुटियों की ओर ध्यान दिलाया है, उनका निराकरण भी अवश्य होना चाहिए। किन्तु, हिन्दी-वाङ्मय का शरीर नये रक्त से स्वस्थ है, ऐसा मैं समझता हूँ।

काशी-विश्वविद्यालय —डॉ० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल

[३]

'सहृदयजी' का नोट मार्के का है और मैं उन्हें उनकी स्पष्टवादिता पर बधाई देता हूँ। सचमुच, आज हिन्दी की थीसिसें बाजारू बन गई हैं और उनमें बहुधा वही बातें दुहराई जाती हैं, जो पहले भली भाँति लिखी जा चुकी हैं। फिर, इनकी हिन्दी भी तो न केवल लचर, अपितु इतनी भ्रष्ट होती है कि उसे पढ़ना भी भारी हो जाता है।

इस पतन के लिए छात्र एवं प्राध्यापक दोनों समान रूप से उत्तरदायी हैं। ये बातें सभी विषयों की थीसिसों पर लागू होती हैं, किन्तु हिन्दी की थीसिसें तो इन बातों के लिए आज आदर्श बन गई हैं।

आपका प्रयास सफल होगा, यदि आप किसी प्रकार इस अधःपात को रोकने की दिशा में अग्रसर हो सके।

—डॉ० श्रीसूर्यकान्त

संस्कृत-विभागाध्यक्ष

अलीगढ़-विश्वविद्यालय

[४]

'परिषद्-पत्रिका' में प्रकाशित 'सहृदय'-लिखित 'शोधकार्य की समस्याएँ' टिप्पणी पर अपने विचार प्रकट करते थोड़ा संकोच इसलिए अवश्य हो रहा है कि मैं पटना-विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि से विभूषित हूँ और शोधकर्त्ताओं का निर्देशक भी। संतोष इसी बात का है कि 'सेवावृत्ति का थर्मामीटर' न मुझे लगा और न मैं दूसरों को लगाता हूँ। सहृदयजी ने 'शोधकार्य में अनाचार और भ्रष्टाचार का उपाख्यान' वर्णित कर शोधकर्त्ता और शोध-निर्देशक—दोनों को अपना अन्तर्निरीक्षण करने का अवसर दिया है। भारतीय समाज में नैतिकता के प्रति सामान्यतया जो अनास्था आ गई है, उससे ये दोनों अछूते रह गये हैं, ऐसा कोई नहीं कहता। दोषों का निवारण अनिवार्य है और शोध में किसी प्रकार की भी रुचि रखनेवाले को उनका परिहार करना ही होगा। सहृदयजी का शोध की वर्त्तमान स्थिति पर क्षोभ कुछ अंश तक उचित ही है; परन्तु उनसे थोड़ी और सहृदयता की आशा की जा सकती थी।

इस अर्थप्रधान वैज्ञानिक युग में **निष्कारणो षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च** के दिन लद चुके। गीता के निष्काम कर्म का आचरण विशिष्ट साधकों से ही अपेक्षित हो सकता है। 'अर्थकरी विद्या' का उपार्जन करने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। हाँ, इस प्रयास में अध्यवसाय, शुद्ध आचरण और व्यवहार अपेक्षित ही हैं। विद्वन्मण्डली बड़ी सरलता से गंभीर और पल्लवग्राही पाण्डित्य में अन्तर कर लेती है; भले ही राजनीति के परिवेश से संकुल कुछ तथाकथित शोध-निर्देशक या शोधकर्त्ता स्वल्प समय के लिए परिस्थिति का लाभ उठाकर चमक लें। वस्तुतः, शोध की वैसी भयंकर और दयनीय स्थिति नहीं है, जैसी सहृदयजी ने चित्रित की है। उनकी टिप्पणी 'खतरे से सावधान' अवश्य है।

हिन्दी-साहित्य को इस शोध-परिपाटी से अनेक अमूल्य प्रबन्ध मिल चुके हैं। गेहूँ के साथ भूसी अवश्य रहती है। भूसी के डर से गेहूँ को छोड़ नहीं दिया जा सकता। स्वल्प प्रयास से भूसी को दूर किया जा सकता है। 'डॉक्टरेट' के लोभ ने—यदि इसे लोभ कहा जाय—कोई बड़ा अपकार नहीं किया है। इससे साहित्य का उपकार ही हुआ है। अनेक अज्ञात लेखकों, कवियों, ग्रन्थों और विषय-क्षेत्रों पर प्रकाश पड़ा है। कभी-कभी चर्वित-चर्वण भी हो जाता रहा है, पर इससे डरने की आवश्यकता नहीं।

शोधकार्य की मर्यादा और 'डॉक्टरेट' की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए सहृदयजी ने जो सुझाव दिये हैं, उनमें सामान्यतया कोई मतभेद का स्थान नहीं। अनेक विश्वविद्यालयों में बहुत कुछ इस प्रकार के नियम बने भी हुए हैं। नियमों के बन्धन से शिकायतें दूर कम हुआ करती हैं। कार्यनिष्ठा ही एकमात्र उसका प्रतीकार है। शोधक्षेत्र में प्रवेश करनेवालों से भी इसी निष्ठा की आशा की जाती है।

हिन्दी-विभागाध्यक्ष
भागलपुर-विश्वविद्यालय
—डॉ० श्रीवीरेन्द्र श्रीवास्तव

[५]

'परिषद्-पत्रिका' (वर्ष ३, अंक ३) में 'शोध-कार्य की समस्याएँ' टिप्पणी लिखकर श्रीहवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' ने महत्त्व के एक सामयिक प्रश्न की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। आशा है, इस विषय पर अन्यान्य अधिकारी विद्वानों द्वारा प्रकाश पड़ता रहेगा और निकट भविष्य में ही शोध-समस्याओं का उचित समाधान हमें मिल सकेगा।

वस्तुतः, शोध-सम्बन्धी उपाधियाँ जबसे अर्थोपार्जन का माध्यम बन गई हैं, तबसे इनका उद्देश्य भी परिवर्त्तित हो गया है। ऐसा लगता है कि शोधकर्त्ताओं की दृष्टि अधिकतर शोधकार्य की उपलब्धियों से अधिक उसके द्वारा प्राप्त उपाधि के परिणामों पर केन्द्रित रहने लगी है। इसलिए, वे येन केन प्रकारेण उपाधि प्राप्त कर उपयुक्त नौकरियों की खोज में उसकी सार्थकता आजमाने लगते हैं। जहाँतक आर्थिक हित की बात है, इसके लिए उन्हें हम कदापि दोषी नहीं ठहरा सकते; किन्तु उपलब्धि के नाम पर ऐसे शोधकार्य चिन्त्य बन जाते हैं। फलस्वरूप, जब कोई विद्यानुरागी किसी शोध-ग्रन्थ को पढ़ने के लिए उत्सुकतापूर्वक हाथ में लेता है, तब अधिकतर उसे क्षोभ अथवा ग्लानि का शिकार बनना पड़ता है। ज्ञान-गौरव पर धन-मान का प्रभुत्व उसे असह्य हो जाता है।

आज हमें विचार करना है कि शोध के विषय क्या हो सकते हैं और उनके शोध-कर्त्ताओं को किन गुणों से समन्वित होना चाहिए। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि शोधकर्त्ताओं के गुणों की भाँति उनके निर्देशकों की निजी विशेषताओं की ओर भी ध्यान जाना चाहिए। यदि नौकरियों के लिए शोध-उपाधियों को अस्वीकार करना संभव न हो, तो उनके उपाधि-निरपेक्ष अतिरिक्त शोधकार्यों को ही अनिवार्य करके कसौटी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। ऐसे कार्यों की संख्या निर्धारित की जा सकती है। इस प्रकार, शोधकर्त्ताओं की बाढ़ पर एक सीमा तक नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है।

उत्तम उपाय तो यह हो सकता है कि शोध-विभाग का पृथक् अस्तित्व स्वीकार कर उसके निर्देशक की नियुक्ति अस्थायी अथवा अल्पकालीन कर दी जाय। उसका कार्य-काल उसके अपने शोधकार्यों के आधार पर ही बढ़ाया जाय। इस प्रकार का अनिवार्य प्रतिबन्ध शोधकार्य के अनुकूल वातावरण बनाये रखने में समर्थ होगा और शोधकार्य के वास्तविक उद्देश्य की पूर्त्ति संभव होगी।

भारती-भण्डार, प्रयाग **—श्रीनर्मदेश्वर चतुर्वेदी**

[६]

'परिषद्-पत्रिका' के वर्ष ३, अंक ३ में प्रकाशित संपादकीय टिप्पणी 'शोधकार्य की समस्याएँ' में जो विचार व्यक्त किये गये हैं, वे मेरे विचार से सुविचारित हैं। हिन्दी में जो शोधकार्य हो रहा है, उसपर मैं अपने विचार 'भारतीय हिन्दी-परिषद्' (दिल्ली) की बैठक में—जिसमें श्रीधीरेन्द्र वर्मा का, पदनिवृत्त होने पर, सम्मान किया गया था—निबंध-गोष्ठी के अध्यक्ष के नाते संक्षेप में व्यक्त कर चुका हूँ। शोधकार्य के संबंध में फैली हुई

धाँधली किस प्रकार कम की जाय, इसपर गंभीरता से विचार करने की अपेक्षा है। विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष यदि सचाई के साथ दोष का परिमार्जन करना चाहें, तभी कुछ हो सकता है। मुझसे जो कुछ हो सकेगा, उक्त सुझावों को ध्यान में रखते हुए करने का प्रयास करूँगा।

—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

हिन्दी-विभागाध्यक्ष
मगध-विश्वविद्यालय, गया

[७]

'परिषद्-पत्रिका' का नव्यांक हस्तगत हुआ। मौलिक और ज्ञानवर्द्धक सुचिन्तन को प्रवृत्त करनेवाली सामग्री की पुनः-पुनः किन शब्दों में सराहना करूँ? पर, शोधकार्य की समस्याएँ वाली टिप्पणी तो ऐसी लिखी है, जैसे लगता है, मेरी बात ही छीन ली हो। सचमुच, अन्वेषक और निर्देशक की दशा बहुत ही दयनीय है। मेरे खुद के पास रामकुमारजी वर्मा, जगदीशजी गुप्त, दीनदयालजी गुप्त आदि विशिष्ट विद्वानों के शिष्य शोध के लिए आते हैं। उनको गाइड की ओर से कह दिया जाता है कि विषय तुम चुनकर ग्रन्थसूची और रूपरेखा बनाकर हमें बता देना, रजिस्टर्ड हम करवा देंगे। ऐसे उत्तरदायित्व का अनुभव करनेवाले निर्देशकों की 'सहृदयजी' ने जो खबर ली है, वह सर्वथा उपयुक्त ही है। और की बात तो क्या कहूँ, अभी डॉ० सावित्री सिन्हाजी की थीसिस मेरे देखने में आई और 'हिन्दी-साहित्य का बृहद् इतिहास' (भाग ६, सं० डॉ० नगेन्द्र) भी। दोनों में इतनी अशुद्धियाँ और भोंड़ी भूलें भरी हैं कि मुझे एक स्वतन्त्र निबंध द्वारा परिमार्जन प्रस्तुत करना पड़ रहा है। महानिबंध का काम इतना सस्ता न होना चाहिए। सहृदयजी को मेरी हार्दिक बधाई!

५४, भूपालपुरा, उदयपुर —पं० श्रीमुनि कान्तिसागर

पं० श्रीजवाहरलाल चतुर्वेदी का एक पत्र

मथुरा : २३। १०। ६३

मान्यवर श्रद्धेय श्री 'माधव' जी,

सादर वंदे।

पत्रिका का नया अंक (अक्टूबरवाला) मिला। देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। आपकी देखरेख में, उसमें नया-नया निखार उभरता आ रहा है। सभी तरह से वह दर्शनीय और वंदनीय एवं संग्रहणीय होती जा रही है। चाँद में मैल भी होता है, फलतः इस अंक में भी वह मौजूद है। 'सनेहलीला के रचयिता' शीर्षक लेख के लेखक डॉ० श्रीसियाराम तिवारी ने प्राप्त प्रतियों के सहारे जो भी सोचा-विचारा है, वह भ्रामक है। श्रीहरिराय (ज० सं० १६४७ वि०) वल्लभ-संप्रदाय के एक विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य थे। संस्कृत और व्रजभाषा पर आपका समान अधिकार था। सच तो यह है, संप्रदाय में आप-जैसी संस्कृत-व्रजभाषा की ललित रचनाएँ अन्य कोई

आचार्य नहीं कर सका—अष्टछाप के कवि भी नहीं। संस्कृत में आपने लगभग १७० (एक सौ सत्तर) छोटे-छोटे ग्रंथों की एवं व्रजभाषा गद्य-पद्य में भी ५० (पचास) ग्रन्थों के लगभग रचना की। यह सब साहित्य आपका मुद्रित हो चुका है—कई बार, कई स्थानों से। इनके अतिरिक्त आपने गुजराती, राजस्थानी एवं पंजाबी में भी रचनाएं की हैं, जो सांप्रदायिक 'कीर्त्तन-संग्रह'-ग्रन्थों में विभूषित हैं। श्रीहरिरायजी की नित्यलीला, सनेहलीला, दानलीला, गोवर्द्धनलीला, दामोदरलीला, श्याम-सगाई आदि तो इतनी प्रसिद्ध हैं कि उनके हजारों ही हस्तलिखित एवं मुद्रित संस्करण मिलते हैं—खोजने की जरूरत है। श्रीमान्, कुआँ सागर नहीं कहा जा सकता। व्रज-साहित्य-सागर के लिए 'काशी-करबट' ही पर्याप्त नहीं, फिर वह भी अधूरी। यदि लेखक महोदय काशी में ही और खोजते; चौखंभा-संस्कृत-पुस्तकालय में ही पूछते, तो उन्हें सैकड़ों प्रतियाँ इसकी मिल जातीं। क्योंकि, श्रीहरिरायजी की सनेहलीला वैष्णव घरों में नित्य पाठ की वस्तु है। मधुरता और सुन्दरता में वह अपना सानी नहीं रखती। श्रीहरिरायजी की व्रजभाषा-रचनाओं में—'रसिक, रसिकदास, रसिकपीतम, रसिकराय और रसिकशिरोमणि' उपनाम मिलते हैं, जो सब उन्हीं के हैं। लेख-लेखक के अनुसार—'जनमोहन, मोहनदास, विष्णुदास ही नहीं, मुकुंददास' नाम भी श्रीहरिरायजी की केवल 'सनेहलीला'—नामांतर 'उद्धवलीला' के साथ रचयिता-रूप में मिलते हैं। किन्तु, ये सभी जनमोहन, मोहनदास आदि नाम उनकी प्रसिद्ध रचना 'सनेहलीला' के लिपिकर्त्ता हैं, जो बरबस रचयिता बन बैठे हैं, या बनाये जा रहे हैं। नन्ददासजी की बहुप्रसिद्ध रचना रासपंचाध्यायी एवं भँवरगीत के साथ भी ये जनमुकुंद आदि नाम चिपके हुए मिलते हैं, जिन्हें आज का साहित्यिक-भ्रमर उन्हीं की रचना मान शंका करता विचर रहा है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के देखने से यह सब अपने-आप निर्मूल हो जाता है। फिर, ग्रन्थभाषा भी चुगली खाती है, कि मैं किसी दूसरे की ही वस्तु हूँ, जिसे उन्होंने बरबस अपना बना लिया। उदाहरण के लिए, लेख-प्रयुक्त ग्रंथ-विवरण यथेष्ट हैं, जो पद-पद पर अशुद्ध हैं। व्रजभाषा के पुरा गेय पद-साहित्य में तो इस प्रकार की प्रवृत्ति बहुतायत में देखने में आती है। अष्टछाप के कवि, गो० तुलसीदासजी, मीराँबाई और चद्रंसखी की कृतियाँ इसके उदाहरण हैं। न मालूम, कितने अज्ञात नामधारी रचयिताओं ने अपने-अपने नामों को ऊपर लिखे महाकवियों की कृतियों में डुबोया है। हजारहाँ इसके प्रमाण हैं। सूरदासजी की 'सूरसारावली', 'साहित्यलहरी' एवं तुलसीकृत 'मानस' के क्षेपक भी इसके काफी प्रमाण हैं।

व्रजभाषा-साहित्य पर उसके पुरा लिपिकर्त्ता एवं संपादकों के अत्याचार पुराने पड़ गये। नये 'डॉक्टर' होनेवाले भी उसे काफी प्रोत्साहन दे रहे हैं। नये सम्पादकों का भी उसमें इन डॉक्टरों से बढ़कर हाथ है, अतः उसकी चर्चा फिर कभी। विशेष क्या...।

कुआँवाली गली, मथुरा

आपका

जवाहरलाल चतुर्वेदी

एकलिपि-विस्तार-परिषद्

प्राय: पचास वर्ष पहले तत्कालीन देशहितैषी विद्वानों द्वारा 'एकलिपि-विस्तार-परिषद्' कलकत्ता में स्थापित हुई थी। उसका उद्देश्य बड़ा महत्त्वपूर्ण था। किन्तु, उस समय का वातावरण उसके लिए अनुकूल नहीं था। इसी से कुछ दिनों के बाद वह उपेक्षित होकर विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गई। परन्तु, मैं समझता हूँ कि कालचक्र के परिवर्त्तन से अब उसके लिए अनुकूल समय उपस्थित है। इस समय यदि वह आन्दोलन पुनः चलाया जाय, तो अवश्य सफल होगा और उसके द्वारा विभिन्न भाषाभाषियों के पारस्परिक विचार-विनिमय की सुविधा होने से और भी कई प्रकार के लाभ होंगे। अतएव, उन विस्मृत बातों की जानकारी करा देना उचित प्रतीत होता है।

उन्नीसवीं शती के अन्तिम भाग में लार्ड मैकाले की, सन् १८४० ई० की, भविष्य-वाणी की सार्थकता के प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वत्र दिखाई दे रहे थे। शासकों द्वारा निर्दिष्ट अधार्मिक शिक्षा-प्रणाली के प्रभाव से अधिकांश शिक्षित भारतवासियों की मनोवृत्ति बदल गई थी। अपने प्राचीन जातीय गौरव का ज्ञान न होने के कारण उनकी स्वातंत्र्य-भावना विलुप्त हो गई थी। अँगरेजों को वे देवता के समान आदरणीय समझते थे। उनकी सेवा का सुयोग-लाभ ही उनका ध्येय बन गया था। उनकी बातों को वे वेदवाक्यों की तरह प्रामाणिक मान लेते थे। उन्हें विवेक-बुद्धि की कसौटी पर परखने की आवश्यकता वे नहीं समझते थे। वे अपनी परम्परागत सभ्यता-संस्कृति को हेय दृष्टि से देखते थे। अँगरेजों के कथनानुसार वे वेदों को 'गड़ेरियों के गीत' और पुराणों को 'कल्पित कथा' मानते थे। पाश्चात्य सभ्यता के बाह्याडम्बर से विमुग्ध होकर वे वेश-भूषा, खान-पान, आचार-व्यवहार आदि सभी विषयों में अँगरेजों का अनुकरण करते थे। अपने नाम के साथ 'बाबू' के बदले 'मिस्टर' शब्द जोड़ते और 'साहब' कहलाना चाहते थे। उनकी स्त्रियाँ भी 'मेम साहब' बनना चाहती थीं।

उन्हीं दिनों कतिपय संस्कृतज्ञ अँगरेज विद्वानों ने, भारतीय पंडितों को भ्रमान्धकार में डालने के लिए दो बातों का प्रचार कर उन लोगों की सम्मतियाँ माँगी थीं। एक यह कि देवनागरी वर्णमाला भारतीयों की बनाई हुई नहीं है, उसकी उत्पत्ति सेमिटिक और फोनिशियन वर्णमालाओं से हुई है। दूसरी यह कि संस्कृत-साहित्य में अर्थशास्त्र की कोई छोटी-मोटी पुस्तक भी नहीं मिलती। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन भारतवासियों को इस उपयोगी विषय का ज्ञान नहीं था। तत्कालीन प्राय: सभी धुरंधर भारतीय पंडितों ने उनके उक्त कल्पित सिद्धान्तों का एक स्वर से समर्थन किया। किन्तु, मैसूर की ओरियण्टल लाइब्रेरी के क्यूरेटर श्रीमान् रुद्रपट्टन सामशास्त्री अँगरेज विद्वानों से सहमत नहीं हुए।

इधर बीसवीं शती के आरम्भ (सन् १९०३-४ ई०) में कलकत्ता के जस्टिस शारदाचरण मित्र, पाण्डेय उमापतिदत्त शर्मा (शाहाबाद के चिलहरी-ग्रामनिवासी) प्रभृति विद्वानों के मन में यह भावना उत्पन्न हुई कि जैसे पाश्चात्य देशों की सभी भाषाएँ एकमात्र

रोमन-लिपि में लिखी जाती हैं, वैसे ही यदि भारतवर्ष की सभी भाषाओं के लिए एक सामान्य लिपि निर्धारित हो जाय, तो विभिन्न भाषाभाषियों में पारस्परिक विचार-विनिमय की सुविधा होने से देश को कई प्रकार के लाभ होंगे। अतः, उन्होंने तत्कालीन पत्रों में इसकी चर्चा छेड़ी। प्रायः सभी भाषाभाषी विद्वानों ने उस विचार की सराहना की। किन्तु, कौन-सी लिपि इसके लिए सर्वापेक्षा उपयुक्त होगी, इस प्रश्न पर वाद-विवाद उपस्थित हुआ; सभी लोग अपनी-अपनी लिपि की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने लगे। अन्ततोगत्वा, कलकत्ता में विविध भाषाभाषी विद्वानों की एक सभा हुई। उसमें सब लिपियों की निष्पक्ष भाव से वैज्ञानिक जाँच करके विद्वानों ने देवनागरी-लिपि को ही भारतीय भाषाओं की सामान्य लिपि का गौरवान्वित पद प्रदान किया। उस सिद्धान्त का देशव्यापी प्रचार करने के लिए ही 'एकलिपि-विस्तार-परिषद्' की स्थापना हुई।

बैरगनियाँ (मुजफ्फरपुर) —श्रीनरेन्द्रनारायण सिंह

त्रैमा० 'साहित्य' (पटना) से साभार

०

महर्षि दयानन्द और हिन्दी*

जिन दिनों हमारे देश में आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द का अवतरण हुआ था, उन दिनों यहाँ सन् १८५७ ई० के विद्रोह के उपरान्त मुगल-साम्राज्य ध्वस्त हो चुका था और अँगरेजी शासन की जड़ें मजबूती से जम चुकी थीं; साथ ही महारानी विक्टोरिया की घोषणा से देश में विचार-स्वातन्त्र्य की भावना जाग्रत् हो गई थी। देश के कोने-कोने में ईसाईयों ने जगह-जगह अपने धर्म के प्रचार के लिए केन्द्र स्थापित कर लिये थे। इधर बंगाल में राजा राममोहन राय और उधर पंजाब में केशवचन्द्र सेन निरंतर 'हिन्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तान' की आवाज ऊँची कर रहे थे। दुर्भाग्यवश, उक्त दोनों महानुभाव, चूँकि संस्कृत के पण्डित न थे, इसलिए उन्होंने अपने-अपने धार्मिक आन्दोलनों की नींव पाश्चात्य जीवन-प्रणाली के आधार पर डाली। इसका परिणाम यह हुआ कि आर्यभावना-मूलक संस्कृति का प्रचार करने की दिशा में महर्षि दयानन्द ने उनका नेतृत्व किया। उक्त दोनों ही महानुभाव हिन्दी-शिक्षण और हिन्दू-संस्कृति के हिमायती थे। महर्षि दयानन्द ने देश को जहाँ आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आधार पर तैयार किया, वहाँ अपने क्रांतिकारी भाषणों से उसमें सामाजिक एवं राजनीतिक जागरण की भावना भी भरी। राजा राममोहन राय के 'ब्रह्मसमाज' और केशवचन्द्र सेन के 'देवसमाज' आदि के आन्दोलनों की अपूर्णता को देखकर ही महर्षि दयानन्द के मन में 'आर्यसमाज' की स्थापना करने का अंकुर फूटा था, इसका संकेत प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने अपने 'आर्य-समाज का इतिहास' नामक ग्रन्थ में किया है। उसी से यह भी प्रकट होता है कि उक्त दोनों महानुभावों की प्रेरणा पर ही महर्षि दयानन्द ने अपने विचारों को प्रकट करने का माध्यम हिन्दी को बनाया। इसके पूर्व वे संस्कृत में ही अपने मन्तव्य का प्रचार किया

* बिहार-राज्य द्वादश आर्य-महासम्मेलन, पटना के अन्तर्गत दि० ४ नवम्बर (सन् १९६३ ई०), सोमवार को आयोजित कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष श्रीक्षेमचन्द्र 'सुमन' के अभिभाषण का मर्मांश।

करते थे। हिन्दी को अपनाना लेने पर सबसे बड़ी और उल्लेखनीय बात यह हुई कि महर्षि दयानन्द को हिन्दी जानने और समझनेवाली जनता का काफी सहयोग मिल गया। आर्यसमाज की स्थापना के बाद उसका प्रचार पश्चिमी और उत्तरी भारत में विशेष रूप से हुआ। महर्षि दयानन्द ने जिन दिनों आर्यसमाज की स्थापना की थी, उन दिनों देश में सर्वत्र उर्दू का ही बोलबाला था। उन्होंने सर्वप्रथम 'आर्यसमाज' के माध्यम से 'हिन्दी' को 'आर्यभाषा' की गौरवपूर्ण संज्ञा से अभिहित किया। उन्होंने पुरानी फक्कड़ी हिन्दी को न अपनाकर हिन्दी-भाषा को सर्वथा नई विचार-भूमि प्रदान की। वे भाषा को साहित्यिक दृष्टि से अलंकृत नहीं करते थे। एक समाज-सुधारक का दृष्टिकोण ही उनकी भाषा में परिलक्षित होता है। एक बार जब पंजाब में उनसे किसी सज्जन ने उनके समस्त ग्रन्थों का उर्दू में अनुवाद करने की अनुज्ञा माँगी, तब उन्होंने उन्हें बड़े प्रेम से जो उत्तर दिया था, वह आज भी हिन्दी की स्थिति को अत्यन्त दृढतापूर्वक प्रस्तुत करता है—

भाई, मेरी आँखें तो उस दिन को देखने के लिए तरस रही हैं, जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक सब भारतीय एक भाषा को समझने और बोलने लगेंगे और जिन्हें सचमुच मेरे भावों को जानने की इच्छा होगी, वे इस आर्यभाषा का सीखना अपना कर्त्तव्य समझेंगे। अनुवाद तो विदेशियों के लिए हुआ करते हैं। वास्तव में, महर्षि दयानन्द की यह भावना अक्षरशः चरितार्थ हुई और देश के कोने-कोने में उनके क्रान्तिकारी विचारों को जानने तथा समझने के लिए ही हिन्दी का प्रचलन बहुत तेजी से हुआ।

पर, सही है कि देश की जनता ने सच्चे हृदय से महर्षि दयानन्द की इस भावना का आदर किया, किन्तु राजनीति से आक्रान्त वातावरण में अब भी जहाँ-तहाँ हिन्दी-विरोध के कण उठते दिखाई दे जाते हैं। जो लोग अहिन्दीभाषियों की असुविधा की दुहाई देकर 'हिन्दी' के विकास का मार्ग अवरुद्ध करते रहते हैं, वे यह कैसे भूल जाते हैं कि राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन और महर्षि दयानन्द अहिन्दीभाषी ही थे।

यह महर्षि दयानन्द का ही प्रताप है कि आज हिन्दी इस रूप में पल्लवित और पुष्पित होकर एक ऐसे सम्पन्न वटवृक्ष का रूप धारण कर गई है कि इसका साहित्य किन्हीं अंशों में भारत ही क्या, विश्व की बहुत-सी भाषाओं से आगे बढ़ गया है।

०

झाँकी

[एक कृष्णभक्त उर्दू-कवि की आन्तरिक अभिलाषा]

कदम की छाँह हो जमुना का तट हो, अधर मुरली हो माथे पर मुकुट हो।
खड़े हों आप एक बाँकी अदा से, मुकुट झोंकों में हो मौजे हवा से॥
ख़मीदा[1] नाज़ से हो क़द्दवाला, मुकुट घेरे हुए हो मह का हाला।[2]
सितारे झड़ रहे हों पीत पट से, गुथी मोती की लड़ियाँ हों मुकुट से॥
कसी नाज़ुक कमर हो काछनी से, बँधी वंशी हो जामें की तनी से।

१. टेढ़ा, वंकिम; २. चन्द्र-मण्डल;

गले में हों जड़ाऊ हार हेकल, पड़े गुलगोश[१] में हों क्रीट कुंडल ।।
भरी गजरों से हो नाजुक कलाई, बने हों वर्के गुलदस्ते[२] हेनाई ।[३]
पड़ी सिंघार की हो फूलमाला, गले में दस्ते शोके बिर्जबाला ।।[४]
बराबर हों श्रीराधाकिशोरी, मधुर सुर बांस की बजती हो पोरी ।
कमर उलझी हुई नाजुक कमर से, हो उलझा पीत पट नीलाम्बर से ।।
मुकुट से चन्द्रिका हाले से हाला, कड़ों से हार बनमाले से माला ।
लड़ी बेसर से और मुक्ता से नकतूल, लटों से क्रीट कुंडल से करनफूल ।।
इधर उलझे हुए बाजू से बाजू, उधर उलझे हुए गेसू से गेसू ।
सफ़ाये रंग से आईना हो दंग, झलकता गौर में हो श्याम का रंग ।।
तबस्सुम[५] हो दमे नज़्ज़ारा[६] बाहम[७], बहम एक छवि में हो हुस्ने दो आलम ।
जुदा होंगे बराये नाम दोनों, बने हों एक राधाश्याम दोनों ।।
बहमदीगर[८] हो अक्से हुस्ने ज़ेबा[९], कन्हैया राधा हों राधा कन्हैया ।
जो हो यों हुस्ने यकता का नज़ारा, बहारे रुये ज़ेबा[१०] का नज़ारा ।।
गिरे गर्दन ढलक कर पीत पट पर, खुली रह जाये खुद आँखें मुकुट पर ।
अगर इस छबि का आखिर में समां हो, मेरा मरना हयाते जाबेदां[११] हो ।
दुशाले की एवज़ हो बिजे की धूल, पड़े उतरे हुए सिंघार के फूल ।।
मिले जलने को लकड़ी व्रज के वन की, बने अकसीर यों फुँक कर बदन की ।
ग़रज़ इस तरह हो अंजाम मेरा, तुम्हारा नाम हो और काम मेरा ।।
ये दौलत छोड़ दूँ नादाँ नहीं हूँ, बहिश्तो मोक्ष का ख्वाँहा[१२] नहीं हूँ ।
तुम्हीं को शर्म हो जाँ के दिये की, तुम्हीं को लाज पैदा किये की ।।
रहूँ ता-अख़्तलाते आबोगिल[१३] में, रहे नक्शा इन्हीं चरणों का दिल में ।
जुबाँ जबतक दहन[१४] में हो न बेकार, पुकारा ही करूँ सरकार सरकार ।।
हमेशा बिर्द[१५] हो नामे गिरानी, हमेशा हो जुबाँ पर नामे नामी ।
इसी आनन्द में बाक़ी निबाहो, न मोहताजे अज़ीज़ो अक़रबा[१६] हों ।।
किसी के सामने फैले न दामन, न एहसाँ हो किसी का बारे गर्दन ।
रहूँ बाग़े-जहाँ में रंगो-बू से, कटें दिन जिन्दगी के आबरू से ।।
उगे सर वे सही बाला तो अच्छा, अगर हो मर्जिए बाला[१७] तो अच्छा ।
रवाँ बहरे करम[१८] हो सैल दर सैल[१९], रहे दुनियाँ की दौलत हाथ का मैल ।।
भरोसा है मुकुटधारी तुम्हारा, तुम्हारा ही है बनबारी तुम्हारा ।
ग़रज़ हो जब कभी झगड़ा मेरा तय, कहें सब बोलो राधाश्याम की जय ।।

---

१. फूल-जैसे सुन्दर कान; २. फूल की पंखुड़ी-जैसी हथेली; ३. मेंहदी लगाकर लाल की हुई; ४. व्रजबाला; ५. मृदु-मधुर हास; ६. दिव्य दर्शन; ७. परस्पर; ८. बार-बार भ्रम; ९. सौन्दर्य का मनोज्ञ चित्र; १०. मनोज्ञ, ललित; ११. शाश्वत जीवन; १२. इच्छुक; १३. मानव-जीवन; १४. मुँह; १५. जपना, रटना; १६. प्रियतम के सामीप्य से रहित; १७. प्रभु की इच्छा की श्रेष्ठता; १८. कृपा-कटाक्ष; १९. जन्म-जन्मान्तर तक ।

[पृ० ८ का शेषांश]

तीसरा, दीपावली के ही अवसर पर प्रकाशित बम्बई का प्रथित मासिक **नवनीत** का विशेषांक अपनी विविध मनोरंजक सामग्री, यथापूर्व सुमुद्रित रूप में, लेकर उपस्थित हुआ है। इस मासिक का सामान्य अंक भी विशेषांक का महत्त्व रखता है और प्रस्तुत विशेषांक का महत्त्व इसलिए साग्रह उल्लेख्य है कि इसमें रोचक सामग्री के पृष्ठ कुछ अधिक हैं, जिससे इसके कभी न अघानेवाले पाठक कुछ अधिक तृप्ति का अनुभव करेंगे। इसके विविधविषयक सुपाचित, विचारोत्तेजक तथा प्राणोन्मेषक लेखों की अपनी पार्यन्तिक विशिष्टता रहती है। हिन्दी-साहित्य से सम्बद्ध विविध विधाओं की सूचनाओं के लिए ही सही, इस पत्र की अनिवार्यता हिन्दी-क्षेत्र को बराबर बनी रहेगी।

चौथा, वेदवाणी-कार्यालय, मोतीझील, वाराणसी से प्रकाशित श्रीरामलाल कपूर-ट्रस्ट (अमृतसर) की लब्धप्रतिष्ठ मासिक पत्रिका **वेदवाणी** का **वेदाङ्क** (नवम्बर, १९६३ ई०) साज-सज्जा से रहित होते हुए भी अपनी प्रौढतर सामग्री से पांक्तेयता का अधिकारी बन पड़ा है। महर्षि दयानन्द की वैचारिक पृष्ठभूमि के पोषक इस विशेषांक में प्रकाशित वेदानुसन्धानविषयक लेख न केवल शास्त्रीयता, वरन् लोकोपयोगिता की दृष्टि से भी मननीय हैं। यों तो सामान्यतया सभी लेख और विशेषतया पं० उदयवीर शास्त्री ('वेद ईश्वरीय ज्ञान क्यों'), डॉ० सत्यकाम भारद्वाज ('वेदों में विज्ञान तथा कला-कौशल') तथा पं० अलगूराय शास्त्री ('युद्ध में विजय की कामना') के लेख साम्प्रतिक लोक-जीवन को अधिक प्रभावित करेंगे। वैदिक वाङ्मय के अनुशीलकों को इस विशेषांक में अपर्युषित विषय की उपलब्धि तो होगी ही, उन्हें कई ऐसी नव्यतम सूचनाएँ भी मिलेंगी, जिनसे वे अबतक अनवगत थे। इस पत्रिका के विद्याव्यसनी सम्पादक अपने नाम के अनुरूप वैदिक साहित्य के औसत पाठकों की जिज्ञासा-पूर्ति के प्रशंस्य प्रयास के कारण अनायास ही साधुवाद के भागी होंगे, यह निश्चित है।

पाँचवाँ, भारत-सरकार के वैज्ञानिक अनुसंधान और सांस्कृतिक कार्य-मन्त्रालय (नई दिल्ली) की ओर से श्रीसम्पन्नता के साथ प्रकाशित त्रैमासिक **संस्कृति** के **शरद्-अंक** (वर्ष ५, अंक २) की अपना मौलिकता और विशेषता है; वह इस मानी में कि इसके अधिकांश लेख समर्थ साहित्यिकों द्वारा रूपान्तरित कराकर उपस्थित किये गये हैं और प्राप्त सामग्री को 'अतिथि-सम्पादकीय', 'दृष्टिकोण', 'कला', 'विविध', 'अंजलि', 'वातायन', 'वृत्तसार', 'स्तम्भ' और 'विवेकानन्द-परिशिष्ट' स्तम्भ-शीर्षकों में वर्गीकृत किया गया है। इससे एक गुण यह आ गया है कि संकलित सामग्री धोबी की दूकान में रखे धुले कपड़ों के ढेर की तरह न लगने के बजाय अलग-अलग तहाकर रखो गई-सी लगती है, जिससे भिन्न-रुचि पाठकों को अपनी पसन्द निर्धारित करना बहुत ही आसान हो गया है। किन्तु, उत्कृष्टतर रूप में मुद्रित देवनागरी-लिपि के बीच रोमन-लिपि के अंक नयनमनोहारिणी युवती के अंग में फूटे हुए कोढ़ की तरह बीभत्स लगते हैं। फिर भी, सम्पादक-मण्डल की इस राजकीय विवशता से समानुभूति कुछ लोग प्रकट करेंगे ही। प्रौढतर ताजा सामग्री, सतर्क सम्पादन, साथ ही सुन्दरता, सचित्र सजावट, कागज, छपाई और आवरण सभी दृष्टियों से यह पत्रिका

नामानुकूल भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधित्व की अधिकारिणी है। ऐसी पत्रिकाएँ निश्चय ही हिन्दी के लिए आवश्यक और उसे धन्य करनेवाली हैं।

उल्लेख्य विशषांकों में छठा और अन्तिम है शासकीय दूधाधारी श्रीवैष्णव संस्कृत-महाविद्यालय, रायपुर की ऐंग्लो-संस्कृत-हिन्दी-शोधपत्रिका **मेधा** की ग्रन्थ-संख्या दो। प्राप्त अंक सन् १९६२-६३ ई० के वार्षिकांक के रूप में प्रकाशित हुआ है। इसमें चार लेख संस्कृत में हैं, दो अँगरेजी में तथा एक हिन्दी में। संस्कृत के सभी लेख पूर्वाग्रह-ग्रस्त और पारम्पर्य होने के कारण किसी नई दिशा का कोई खास संकेत नहीं करते। प्राध्यापक राम-निहाल शर्मा का 'काव्यपुरुष' शीर्षक हिन्दी-लेख सामान्यतः पठनीय है। अँगरेजी की श्री आर० आर० सिन्हा द्वारा लिखित 'डेमोक्रेटिक डिसेण्ट्रलाइजेशन इन मध्यप्रदेश' शीर्षक लेख अपेक्षाकृत अधिक शोध-सूचनात्मक महत्त्व रखता है। कुल मिलाकर, **मेधा** का यह वार्षिकांक पठनीयता और संग्रहणीयता दोनों दृष्टिकोणों से बौद्धिक क्षेत्र में समादरणीय होगा, ऐसी आशा दृढ होती है।

—**सूरिदेव**

●●

अभिमत

प्रिय महोदय,

आपकी भेजी हुई चार पुस्तकें मिलीं। पूर्ववत् इनका साहित्यिक स्तर और उपयोगिता अक्षुण्ण है। डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज-कृत तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि ग्रन्थ शोध का कल्पवृक्ष है।

हिन्दी-साहित्य और बिहार पुस्तक एक विराट् कल्पना का फल है। इसके पाँच खंडों में बिहार के १३ सौ वर्षों के साहित्य-सेवियों का इतिहास दिया जायगा। पहले खंड में ७वीं शती से १८वीं शती तक का इतिहास है। दूसरे खंड में सन् १८०० से १८५० ई० तक का साहित्यिक इतिहास विस्तार से लिखा गया है। आगे के तीन खंडों में सन् १८५० से १९६० ई० तक का इतिहास रहेगा। इस प्रकार, यह ग्रन्थ सूचनाओं का विश्वकोश ही है।

डॉ० श्रीरामअवध द्विवेदी द्वारा विरचित साहित्य-सिद्धान्त पुस्तक में भारतीय और पाश्चात्य दोनों दृष्टियों से साहित्य के सिद्धान्तों का स्पष्ट स्वच्छ विवेचन किया गया है।

पं० श्रीपरशुराम चतुर्वेदी ने रहस्यवाद पर जो भाषण दिये हैं, उनमें पूर्व-पश्चिम, भारतीय और इस्लामी संसार में प्रतिपादित रहस्यवाद का पाण्डित्यपूर्ण स्पष्ट विवेचन किया गया है।

भवदीय

काशी-विश्वविद्यालय डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

परिषद् के प्रकाश्यमान ग्रन्थ

१. भारतीय संस्कृति और साधना (खण्ड २) :
म० म० डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज

२. मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० श्रीशिवनन्दन प्रसाद

३. कंब रामायण (खण्ड २) :
अनु० श्री न० वि० राजगोपालन

४. भारतीय अब्दकोश (१९६४) :
अब्दकोश-विभाग द्वारा प्रस्तुत

५. कहावत-कोश : लोकभाषा-विभाग द्वारा प्रस्तुत

६. कृषिकोश : लोकभाषा-विभाग द्वारा प्रस्तुत

७. हरिचरित : ह० लि० ग्रन्थशोध-विभाग द्वारा प्रस्तुत

८. प्रा० ह० लि० पोथियों का विवरण (खण्ड ६) : ,, ,,

९. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन (द्वितीय संस्करण) :
डॉ० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना-४

प्रकाशक : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-४ :: मुद्रक : ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

परिषद्-पत्रिका

: अङ्क १ } चैत्र, २०२१ विक्रमाब्द; १८८६ शकाब्द; अप्रैल, १९६४ ई० { वार्षिक ६.०० : एक प्रति १.५०

सम्पादक-मण्डल

डॉ० श्रीलक्ष्मीनारायण सुधांशु • डॉ० श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर'

श्रीमोहनलाल महतो 'वियोगी'

★

सम्पादक

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

★

सहायक सम्पादक

हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' • श्रीरञ्जन सूरिदेव

★

प्रस्तुत अंक में

卐 卐

卐 卐 卐

परिषद्-पत्रिका

[१३]

सम्पादक-मण्डल

डॉ० श्रीलक्ष्मीनारायण सुधांशु :: डॉ० श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर'
श्रीमोहनलाल महतो 'वियोगी'

•

सम्पादक

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

•

सहायक सम्पादक

हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' :: श्रीरञ्जन सूरिदेव

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

परिषद्-पत्रिका

[साहित्य-संस्कृति-साधना-प्रधान त्रैमासिक]

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल॥ —भारतेन्दु

वर्ष ४ अङ्क १ | चैत्र, विक्रमाब्द २०२१; शकाब्द १८८६; अप्रैल, १९६४ ई० | वार्षिक ६·०० एक प्रति १·५०

ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति

यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रे
अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद, ब्रह्मैव भवति
नास्याब्रह्मवित् कुले भवति।
तरति शोकं तरति पाप्मानम्
गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥

—मुण्डक, ३।२।८-९

जिस प्रकार समुद्र की ओर बहनेवाली नदियाँ अपने नाम-रूप को छोड़कर समुद्र में लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार मुक्त ज्ञानी पुरुष नाम-रूप से छूटकर श्रेष्ठ दिव्य भाव में लीन हो जाता है।

जो उस श्रेष्ठ ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। उसके कुल में ब्रह्म को न जाननेवाला कोई पैदा नहीं होता। वह शोक और पाप से उद्धार पा लेता है तथा आभ्यन्तरिक बन्धनों से छूटकर अमर हो जाता है।

●●

टिप्पणियाँ

लिपि की समस्या

कई महीने पूर्व नई दिल्ली में 'भारती-संगम' का शिलान्यास करते हुए हमारे प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि हमारे महादेश में बोली जानेवाली विभिन्न भाषाएँ यदि देवनागरी-लिपि को स्वीकार कर लें, तो भाषाओं के परस्पर सान्निध्य का तथा विचारों के आदान-प्रदान का मार्ग बहुत सुगम और प्रशस्त हो जाय। भारत के नये शिक्षामन्त्री श्रीछागला ने भी अभी कुछ ही दिन पूर्व लिपि के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है : "देवनागरी संसार की सबसे वैज्ञानिक लिपि है—रोमन से भी अधिक वैज्ञानिक। यदि हम इस लिपि को सारे भारतवर्ष की लिपि मान लें, तो भाषा का कोई झगड़ा ही न रह जाय। मुझे पूरा विश्वास है कि जब देश की लिपि एक होगी, तब कुछ दिनों के बाद भाषाएँ भी आपसे-आप एक हो जायेंगी।"

देवनागरी-लिपि की सर्वाधिक वैज्ञानिकता तथा सरलता के सम्बन्ध में यद्यपि दो मत नहीं हो सकते, तथापि अपने देश में कुछ ऐसे शीर्षस्थ व्यक्ति मिलेंगे, जो समय-समय पर रोमन-लिपि का राग छेड़ते हैं। हालाँकि, वे स्वयं जानते हैं कि अब इस देश में रोमन-लिपि की बात करना देश को सैकड़ों वर्ष पीछे ढकेलना ही नहीं, वरन् देश की राष्ट्र-भावना के प्रति साफ-साफ गद्दारी करना भी है। रोमन-लिपि अपनी अवैज्ञानिकता, अशक्तता, दुरूहता और बोझिलपन के कारण काफी बदनाम हो चुकी है—उसमें ध्वनि, उच्चारण, विवरण आदि का सामंजस्य कहीं है ही नहीं—इसे भाषाविज्ञान का एक सामान्य विद्यार्थी भी जानता है।

हमारे महादेश की कई लिपियाँ देवनागरी के अतिनिकट हैं—मराठी तो देवनागरी में लिखी ही जाती है—गुजराती, गुरुमुखी, बँगला, उड़िया, असमिया आदि लिपियों में भी देवनागरी की प्रतिच्छवि है, इसलिए थोड़ा-सा प्रयत्न करने पर देवनागरी का चलन आसानी से इन राज्यों में हो सकता है। देश के नागरिकों में देशात्मबोध की भावना जैसे-जैसे प्रबल और प्रखर होती जा रही है, वैसे-वैसे विभिन्न भाषाएँ एक दूसरे के निकट पहुँचकर अपनी बातें कहना और दूसरों की बातें सुनना-समझना चाहती हैं। यह आज देश की माँग है। इस माँग को कोई भी शक्ति ठुकरा नहीं सकती। भेद में अभेद, विविधता में एकता का दर्शन करनेवाला यह राष्ट्र एकता के लिए—भावों और विचारों की एकता के लिए छटपटा रहा है। अभिव्यक्ति की शैलियों में विविधता तो रहेगी ही; परन्तु भाव और विचार एक होकर गूँजना चाहते हैं। इस दिशा में देवनागरी-लिपि बहुत अधिक सहायक हो सकती है, यह सर्वथा निर्विवाद है।

केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय के उपमन्त्री श्रीभक्तदर्शन ने लोकसभा में संसद्-सदस्यों के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा : "देश की विभिन्न भाषाओं के लिए देवनागरी-लिपि को एक सामान्य लिपि के रूप में अपनाने की बात सभी राज्यों के मुख्य मन्त्रियों ने प्रायः स्वीकार

कर ली है; किन्तु भारत-सरकार यह अनुभव करती है कि इसके लिए कोई निर्णय उन-पर लादा न जाय, बल्कि अहिन्दी-क्षेत्र से ही इस सम्बन्ध में पहल हो और सरकार उसे प्रोत्साहन दे।" श्रीभक्तदर्शन ने यह भी कहा कि 'अगस्त, १९६१ ई० में ही केन्द्रीय मन्त्रियों तथा मुख्य मन्त्रियों की बैठक हुई थी। उसमें इसका विचार किया गया था। सरकार इस बीच यह कोशिश कर रही है कि देवनागरी-लिपि में कुछ एसे सुधार किये जायँ, जिससे वह अन्य भारतीय भाषाओं की ध्वनियों को भी प्रकट करने की क्षमता प्राप्त कर सके।'

'अन्य भारतीय भाषाओं की ध्वनियों को प्रकट करने की क्षमता' के नाम पर जिस सुधार का संकेत उपमन्त्री महोदय ने किया है, उसका स्वागत करते हुए भी हम निवेदन करना चाहेंगे कि वैसा करना अँगरेजी-मुहावरे के अनुसार गाड़ी को घोड़े के सामने रखने की तरह ही सिद्ध होगा। देवनागरी-लिपि में कुछ नई ध्वनियों को जोड़ने के लिए केन्द्रीय सरकार ने एक समिति बनाई थी। उसका वही हाल हुआ, जो प्रायः ऐसी समितियों का होता है। व्यावहारिक यह होगा कि देवनागरी-लिपि को चालू कर देखा जाय कि कहाँ-कहाँ, किस-किस ध्वनि के उच्चारण या विवरण में इसके कारण कठिनाइयाँ आ रही हैं और तब उन कठिनाइयों का हल निकाला जाय। रोमन-लिपि हमारे देश में चल नहीं सकती, यह भली भाँति जानते हुए भी छिटपुट शीर्षस्थ नेता उसकी दुहाई देते रहते हैं, यह बड़ा ही विचारणीय विषय है। हमारी ढुलमुल नीति से जिस प्रकार राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रश्न खटाई में पड़ गया है, कहीं वही दुर्दशा देवनागरी-लिपि की भी न हो जाय, इसकी आशंका है। देवनागरी-लिपि के प्रचलन से शेष सारी लिपियाँ लुप्त हो जायेंगी, ऐसा सोचना नादानी है। सारी लिपियाँ अपनी-अपनी सीमाओं में खूब पनपें और फूलें-फलें—जहाँ अन्तरराज्यीय लिपि का प्रश्न हो, वहाँ देवनागरी-लिपि ही बरती जाय, इतना ही हमारा अभीष्ट है।

—'माधव'

हरिनारायण आपटे की जन्मशती

भारतीय इतिहास की यही कहानी रही है कि राष्ट्र के निर्माण और समाज के उन्नयन में जो सच्चे अर्थ में अग्रणी रहते हैं, उन साहित्य-निर्माताओं का उचित सम्मान, उनके जीवन-काल में, यहाँ के निवासी नहीं करते। वे मनीषी सर्वदा अर्थसंकट में आकंठ निमग्न रहे और अभावों से जूझते रहे। दूसरी ओर, राजनीतिक पुरुषों की तूती बोलती है। वे वैभव, बल, बुद्धि, विद्या और विविध कलाओं के प्रेरणा-स्रोत माने जाते हैं। किन्तु, कालचक्र बड़ा प्रबल है। एक-न-एक दिन वह दूध-का-दूध और पानी-का-पानी करके ही छोड़ता है। वह सम्राटों तक के नाम-निशान को मिट्टी में गाड़ देता है और तब वे सम्राट् अपने उद्धार के लिए साहित्यकारों की ओर दीन-दुःखियों की तरह निहारा करते हैं। कालचक्र ही एक-न-एक दिन उन उपेक्षित साहित्यकारों को बड़े ही आदर के साथ समाज में श्रेष्ठता के सिंहासन पर आसीन कराता है। वह बतलाता है कि कौन श्रेष्ठ है—कालिदास या सम्राट् विक्रमादित्य, चाणक्य या मौर्य चन्द्रगुप्त, बाणभट्ट या हर्ष, जयदेव या लक्ष्मणसेन, तुलसीदास या अकबर ?

ऐसे ही, कालचक्र के चंक्रमण-क्रम से मराठी भाषा के तेजोदीप्त उपन्यासकार हरिनारायण आपटे, लगभग ६०-७० वर्ष बाद, आज वास्तविक सम्मान के अधिकारी बन सके हैं। विगत ८ मार्च (१९६४ ई०) को, महाराष्ट्र के कोने-कोने में, इनकी जन्मशती ससमारोह मनाई गई है। यहाँतक कि सरकार ने भी अपना योगदान किया है। आपटेजी अपने जीवनकाल में एक बार चुनाव लड़कर हार चुके थे। उस अवसर पर माननीय गोखले ने आपटेजी से कहा था कि विधान-मंडल के सदस्य बनने से कहीं श्रेष्ठ है आपका उपन्यासकार।

विगत शती का उत्तरार्द्ध भारत के लिए अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण रहा है। स्वामी दयानन्दसरस्वती, राजा राममोहन राय, वंकिमचन्द्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालगंगाधर तिलक, गोखले आदि महापुरुषों ने अपने आविर्भाव और महत्कार्यों से राष्ट्र के नैतिक धरातल को समुन्नत किया। इसी काल में महाराष्ट्र ने हरिनारायण आपटे को प्रादुर्भूत कर उस हार में एक और निर्मल रत्न को पिरोया। इनका जन्म सन् १८६४ ई० के ८ मार्च को हुआ था और निधन सन् १९१९ ई० के ३ मार्च को। ऐसे महापुरुष का इतने कम समय तक जीवित रहना देश के लिए दुर्भाग्य ही कहा जायगा।

हरिनारायण आपटे यद्यपि काव्य, नाटक, उपन्यास और कहानी के श्रेष्ठ लेखक थे, तथापि ये महाराष्ट्र में उपन्यासकार के रूप में अधिक प्रतिष्ठित हुए। इन्होंने अपने श्रेष्ठ उपन्यासों के द्वारा महाराष्ट्र के समाज-सुधार तथा उन्नयन में भरपूर योग दिया। यद्यपि मराठी में इनके पहले भी उपन्यास लिखे गये, तथापि महाराष्ट्र इन्हें ही मराठी उपन्यास का जनक मानता है। इनकी लेखनी की प्रखरता और दूरदर्शी प्रतिभा का कायल इसी से होना पड़ता है कि तत्कालीन समाज में इन्होंने अपने प्रसिद्ध उपन्यास **पण लक्षात कोन घेतो** (लेकिन कोई ध्यान नहीं देता) के द्वारा नारियों के समान अधिकार का प्रश्न उठाया था। अतः, मराठी-समाज के उत्थापकों में इनका वही स्थान माना जाना चाहिए, जो बंगाल में शरच्चन्द्र का है।

आपटेजी सस्ती भावुकता के उपन्यासकार नहीं थे, वरन् ये इतिहास के, खासकर 'बखर' इतिहास के तो अन्यतम ज्ञाता थे। इसका पूर्ण प्रमाण इनके द्वारा रचित **उषःकाल** नामक उपन्यास है, जिसका रेडियो-रूपान्तर अभी इनकी जन्मशती के अवसर पर आकाशवाणी से प्रसारित हुआ है। इनकी ऐतिहासिक प्रतिभा का साक्षी इनका दूसरा उपन्यास **गड आला पण सिंह गेला** (गढ़ आया, पर सिंह चला गया) है। लोमहर्षक ऐतिहासिक घटनाओं को साहित्य के माधुर्य से मिश्रित कर, जनता के हृदय में उतारकर उसके मनोभावों को उत्तेजित करने में इनकी लेखनी को असाधारण सफलता प्राप्त थी।

ऐतिहासिक आधार का चित्र इन्होंने महाराष्ट्र में गाई जानेवाली लोकगाथाओं की भित्ति पर भी उभारा है। लोकगाथाओं की पृष्ठभूमि पर ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना करने में इनका स्थान सर्वोपरि है। अपनी इन कृतियों के अतिरिक्त दर्जनों साहित्य तैयार कर इन्होंने मराठों को पुनरुज्जीवित करने में अद्भुत चमत्कार प्रकट किया है, जिसके लिए केवल महाराष्ट्र ही नहीं, सारा देश इनके प्रति नतमस्तक है।

—'सहृदय'

०

विलम्बित, किन्तु उल्लेख्य तीन त्रैमासिक

शोध-पत्रिकाओं का प्रकाशन प्राय: अप्रत्याशित विलम्ब से हुआ करता है, हिन्दी-शोधक्षेत्र की यह घोषित बदनामी तब अधिक अनुपयुक्त लगती है, जब उन शोध-पत्रिकाओं के विलम्बित अंक के दिव्य दर्शन होते हैं और उनमें प्रकाशित महार्घ साहित्य-सामग्री को पढ़कर आत्मा परितृप्त होती है। हमारे प्रबुद्ध एवं कृतविद्य पाठक सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि शोध-सामग्री का संकलन जितना श्रमसाध्य कार्य है, उसपर लेख तैयार करना उतना ही बुद्धि-प्रतिपाद्य। कभी-कभी तो ऐसी भी स्थिति आती है कि शोध-पत्रिकाओं के सम्पादकों को शोधपूर्ण लेख की प्रतीक्षा ही अभीष्ट होती है, चाहे अंक का प्रकाशन विलम्बित हो, तो हो। सच पूछिए, तो अधुना, शोध की गतिशीलता के युग में भी, शोधपूर्ण लेख लिखनेवालों की विचेयता बनी ही हुई है। आज शोध के नाम पर शोधपत्रिका-सम्पादकों को जो लेख प्राप्त होते हैं, वे वास्तव में शोध-सामग्री नहीं होते। दुर्दशा यह होती है कि लेख-संचिका के पर्याप्त मेदस्वी होने के बावजूद सम्पादक को अपनी शोध-पत्रिका के उपयुक्त लेख नजर नहीं आते। और, तब उसकी विवशताएँ अधिक बढ़ जाती हैं। तो, ऐसी स्थिति में शोध-पत्रिकाओं का प्रकाशन तबतक विलम्बित रहेगा, जबतक शोध का स्तर उन्नीत न होगा और उच्चस्तरीय शोध-सामग्री की प्रचुरता न होगी, साथ ही शोध-पत्रिकाओं के प्रकाशक (व्यक्ति या संस्था) केवल सत्साहित्य के प्रचार का दृष्टिकोण न अपना लेंगे। उपरिनिर्दिष्ट सन्दर्भ में हम यहाँ त्रैमासिकत्रय—**भारतीय साहित्य** (आगरा), **राजस्थान-भारती** (बीकानेर) तथा **जनभारती** (कलकत्ता) की चर्चा करना चाहेंगे।

भारतीय साहित्य अपेक्षाकृत अधिक विलम्ब से प्रकाशित होकर भी सही मानी में शोधकार्यों का प्रतिनिधित्व करनेवाला पार्यन्तिक पत्र है। इसके सुधी सम्पादक डॉ० विश्वनाथ प्रसाद चूँकि स्वयं भाषाविज्ञान के अन्यतम पण्डित हैं, इसलिए सहज ही इस पत्र का लक्ष्य हो गया है भाषाविज्ञान, विशेषत: लोकभाषा-विज्ञान के क्षेत्र में हुई नव्यतम शोध-प्रगति से अनुसन्धान-जगत् को अवगत कराना। इस दृष्टि से इसकी, बहुत ढूँढ़ने पर भी, द्वितीयता नहीं मिलेगी। निस्सन्देह, **भारतीय साहित्य** का प्रत्येक अंक अपने-आप में पूर्ण तथा अवश्य संग्रहणीय होता है। आगरा-विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में संचालित क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान-विद्यापीठ का यह अनुकरणीय साहित्यिक आयास अहरह अभिनन्दनीय हो, ऐसी कामना है।

दूसरी विलम्बित पत्रिका बीकानेर के प्रामाणिक शोध-प्रतिष्ठान 'सादूल राजस्थानी रिसर्च इंस्टिच्यूट' की **राजस्थान-भारती** है। यह भी 'देर आयद दुरुस्त आयद' कहावत को अक्षरश: चरितार्थ करती है। राजस्थानी-साहित्य की विविधमुखी प्रगति से परिचित करानेवाली शोध-पत्रिकाओं में इसका स्थान अवश्य ही पांक्तेय है। अनतिदूर अतीत में ही प्रकाशित इसके दो विशेषांक (**कुम्भा-विशेषांक** तथा **पृथ्वीराज राठौड़-विशेषांक**) साहित्यप्रेमियों को राजस्थानी के विशिष्ट ऐतिहासिक वीरगाथा-विशेष के आस्वादन से आतृप्त करानेवाले हैं।

विद्वान् सम्पादक श्रीअगरचन्द नाहटा, जो प्राचीन हस्तलिखित पोथियों के ख्यात संग्रही और अध्येता माने जाते हैं, के तत्त्वावधान में निकलनेवाली उक्त इंस्टिच्यूट के सर्वथा योग्य यह पत्रिका अपने शोधपथ पर विलम्बित होकर भी कभी विघ्नित न होगी, ऐसी आशा है।

इस सन्दर्भ की तीसरी पत्रिका है—हिन्दीसेवी 'क्लासिवस' संस्था वंगीय हिन्दी-परिषद्, कलकत्ता की **जनभारती**। शोधक्षेत्र की नवीनतम दिशा-निर्देशिकाओं में कभी पश्चात्पद न रहनेवाली इस पत्रिका की उपादेयता सर्वस्वीकृत है। समय-समय पर प्रकाशित इसके विशेषांकों ने शोधार्थियों को स्वाभीष्ट सामग्री से भूरिशः उपकृत किया है। विशेषादृत **प्रसाद-अंक** के बाद सद्यःप्रकाशित इसका **हिमालय-अंक** विविध भारतीय साहित्यों में वर्णित हिमालय के वैविध्य और वैशिष्ट्य को उद्घाटित करनेवाला सिद्ध हुआ है। इस विशेषांक में हिमालय पर संकलित और सुसम्पादित सामग्री की प्रामाणिकता इसलिए असन्दिह्य है कि इसका प्रत्येक लेखक अपने विषय का अधिकारी विद्वान् है।

जनभारती का यह विशेषांक इसके आद्य सम्पादक स्व० आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल को, उनकी ६३वीं जन्मतिथि की पुनीत स्मृति में, समर्पित है, जिससे इसकी एक ऐतिहासिक महत्ता भी हो गई है। इस अंक के विशिष्ट सम्पादक-मण्डल के सभी सदस्य (डॉ० श्रीबलदेव-प्रसाद मिश्र, डॉ० श्रीकालिदास नाग, आचार्य श्रीनन्ददुलारे वाजपेयी तथा डॉ० श्रीगौरीनाथ भट्टाचार्य) सतर्क अधीती तथा मनीषी सम्पादक हैं, जिनसे इस विशेषांक का आभिधेय महत्त्व बढ़ा है। हम उन्हें अपनी विनेयता तो ज्ञापित करें ही, इस पत्रिका की प्रबन्ध-सम्पादिका प्रो० निर्मल तालवार की भी आशंसा करें, जिनके उत्साह और निष्ठा ने **जनभारती** को शोध-प्रकाशन के क्षेत्र में उल्लेख्य व्यापकता दी है। **जनभारती** सच्चे अर्थ में जन-जन की भारती बने, यही अभीप्सा है।

—सूरिदेव

•

'चम्पा' : एक अनुकरणीय प्रयास

उपर्युक्त शीर्षक मेरा अपना नहीं, वरन् वह पुण्यश्लोक आचार्य शिवपूजन सहाय का है, जिसे उन्होंने भागलपुर-विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर-विभाग से प्रकाशित होनेवाली **चम्पा** पत्रिका के लिए त्रैमासिक 'साहित्य' (वर्ष ९, अंक १) की अपनी सम्पादकीय टिप्पणी में प्रयुक्त किया था। अभी 'चम्पा' का, सन् १९६३ ई० का अंक हमारे समक्ष है। आचार्य शिवजी ने इसके प्रथमांक के सम्बन्ध में अनेक महत्त्व की आशाएँ और आस्थाएँ अभिव्यक्त की थीं और कतिपय महार्घ सुझाव भी दिये थे। हम देखते हैं कि आलोच्य अंक में अध्याचार्य प्रो० श्रीवीरेन्द्र श्रीवास्तव, विद्यावाचस्पति ने उन पुण्यात्मा के सुदुर्लभ सुझावों को स्वल्प अंश में ही सही, सक्रिय रूप देने का प्रयास किया है। आचार्यजी के सुझाव थे : विभाग में **हिन्दी के अतिरिक्त जो अन्य विषय पढ़ाये जाते हैं, उनपर अँगरेजी में ही लेख लिखे गये हैं। केवल हिन्दी के निबन्ध साहित्यिक हैं। यदि अँगरेजी में भी हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी लेख छपा करते, तो अच्छा होता; क्योंकि इस समय केवल अँगरेजी जाननेवालों को हिन्दी-साहित्य**

से परिचित कराना अत्यावश्यक है। ...यह पत्रिका यदि शोध-समीक्षाप्रधान ही रहती, तो इसकी गुरुता विशेष बढ़ जाती। ...विभाग की मर्यादा के अनुरूप पत्रिका तभी होगी, जब इसमें शोधपूर्ण सुचिन्तित निबन्ध ही प्रकाशित हुआ करेंगे।

उपर्युक्त सुझाव के उत्तरार्द्ध की सक्रियता 'चम्पा' के प्रस्तुत अंक में तो है; परन्तु पूर्वार्द्ध की सक्रियता का ध्यान इसके आगामी अंकों में रखा जायगा, ऐसा हम आश्वस्त हों।

—सूरिदेव

०

विश्वज्योति : राष्ट्रीय भावनात्मक एकता-विशेषांक

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान के तत्त्वावधान में साधु-आश्रम, होशियारपुर (पंजाब) से प्रकाशित होनेवाली मासिक **विश्वज्योति** नातिशय आत्मप्रशंसा के साथ बड़ी नियमितता और सम्पन्नता से प्रकाशित होती है। किसी प्रकार के वादविवाद या नीति-विशेष में न उलझकर केवल सत्साहित्य का व्यापक प्रचार ही इसका पवित्र और मूल उद्देश्य है। इसीलिए, इसकी ख्याति यद्यपि अनालोचनात्मक है, तथापि इसकी अकुतोभय व्याप्ति और श्रेयःप्राप्ति से इनकार नहीं किया जा सकता। ज्ञातव्य है कि सामान्य अंकों के अलावा इसके प्रतिवर्ष प्रकाशित होनेवाले विशेषांकों ने साहित्य-जगत् में अपनी एक अनुकरणीय परम्परा स्थापित की है। इसी परम्परा में सद्यःप्रकाशित मार्च, १९६४ ई० के **राष्ट्रीय भावनात्मक एकता-विशेषांक** का विशिष्ट महत्त्व है। इसकी सुसम्पादित और सुसज्जित सामग्री विभिन्न साहित्यों में प्रतिफलित भावनात्मक एकता की प्रामाणिक और व्यापक उद्भावना से अपने अभिज्ञ पाठकों को सातिशय प्रेरित-प्रभावित करनेवाली है। सभी लेख आधिकारिक हैं और इस अंक में दक्षिणभारतीय लेखकों का समधिक सहयोग देखकर उनके गम्भीर स्वाध्याय तथा सहज हिन्दीप्रेम पर हृदय गर्वोद्ग्रीव होता है।

विश्वज्योति के इस अतिसफल तथा अत्युपयोगी विशेषांक के प्रकाशन के लिए इसके अनुभवी तथा विद्याव्यसनी सम्पादकद्वय (श्रीविश्वबन्धुजी तथा श्रीसन्तरामजी) विशेष धन्यवादार्ह हैं।

—सूरिदेव

०

लेखकों से निवेदन

इस अंक के साथ आपकी यह 'परिषद्-पत्रिका' अपने जीवन के चौथे वर्ष में प्रवेश कर रही है। हम अपने कृपालु लेखकों के प्रति बहुत अनुगृहीत हैं, जिनके हार्दिक सहयोग से 'पत्रिका' का सेवाक्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत हुआ है तथा देश-विदेश में सर्वत्र इसका हार्दिक स्वागत किया गया है। महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक-वर्ग एवं छात्रवर्ग की तो यह सर्वथा निजी पत्रिका हो गई है। निश्चय ही, यह हमारे मूर्द्धन्य विद्वानों के सक्रिय सहयोग, सद्भावना एवं शुभकामना का परिणाम है। प्रभु की अहैतुकी कृपा तो सर्वोपरि है ही। हम यहाँ अपने उदार लेखकों की सेवा में कुछ आवश्यक, विनम्र निवेदन करना चाहेंगे :

१. एक बार में एक ही रचना भेजी जाय। जबतक वह छप न जाय, तबतक दूसरी रचना न भेजी जाय।

२. 'पत्रिका' त्रैमासिक है; इसलिए यथाक्रम प्राप्त लेखों के छपने की क्रमिकता पर विशेष ध्यान रखा जाता है। अतएव, हमारी सहज अपेक्षा रहेगी कि विद्वान् लेखक अपने लेख के छपने में होनेवाले विलम्ब के लिए धैर्य धारण करेंगे और इस सम्बन्ध में बार-बार तकाजे के पत्र भेजकर अपना और हमारा समय नष्ट न करेंगे।

३. रचनाओं पर हम सामान्यतः 'पत्रपुष्प' भेंट करते हैं। सरकारी तन्त्र होने के कारण रुपये की निकासी में कुछ-न-कुछ विलम्ब हो ही जाता है। इसकें लिए भी आपसे समुचित धैर्य की अपेक्षा है।

४. आपकी सेवा में नियमित रूप से 'पत्रिका' पहुँचती रहे, इसके लिए आपका 'पत्रिका' का ग्राहक बन जाना उचित है। एक लेख के बदले पारिश्रमिक के साथ-साथ 'पत्रिका' भी बराबर मिलती रहे, ऐसा सोचना 'पत्रिका' पर अनावश्यक भार देना होगा।

५. आपके छपे लेख की अनुमुद्रित प्रतियाँ ('रीप्रिंट्स') स्वयमेव आपकी सेवा में पहुँचेंगी। इसके लिए लिखा-पढ़ी व्यर्थ है।

६. अपनी रचना भेजते समय आश्वस्त हो लें कि वह अन्यत्र प्रकाशनार्थ नहीं गई है। एक रचना एक ही पत्र को भेजना चाहिए।

७. लेखों के आमूलचूल सम्पादन, परिमार्जन, संशोधन और संक्षेपीकरण का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक का रहेगा।

८. रचनाएँ सुस्पष्ट, सुवाच्य अक्षरों में, पूरा हाशिया छोड़कर कागज के एक ही ओर लिखी होनी चाहिएं। रचनाओं की प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रख लें।

९. पाद-टिप्पणियाँ या उद्धरण मूल ग्रन्थों से मिलाकर, उनके संस्करण, पृष्ठ, पंक्ति आदि के विवरण प्रामाणिक रूप में दें।

१०. अस्वीकृत रचनाएँ लेखकों को यथाशीघ्र लौटा दी जायेंगी। —सम्पादक

०

समीक्षा के लिए

'पत्रिका' में समीक्षा के लिए प्रकाशकों तथा लेखकों की ओर से पुस्तकें बहुत बड़ी संख्या में आने लगी हैं। हम चेष्टा करते हैं कि पुस्तकों की समीक्षा तत्तद् विषयों के अधिकारी विद्वानों द्वारा ही करायें। इसके लिए पुस्तकें प्रायः दूर-दूर भेजनी पड़ती हैं और वहाँ से समीक्षकों की सुविधा पर ही पुस्तकों की समीक्षा उपलब्ध हो पाती है। इसलिए, प्रकाशकों तथा लेखकों से अनुरोध है कि पुस्तक की समीक्षा में विलम्ब हो, तो क्षमा करेंगे।

किसी पुस्तक की एक प्रति मिलने पर हम केवल उसकी प्राप्ति-सूचना ही छाप सकेंगे। समीक्षा के लिए पुस्तक की दो प्रतियों का आना अनिवार्य है।

—सम्पादक

संस्कृत और हिन्दी के कुछ विस्मृत और आख्यात शब्द

डॉ० श्रीहेमचन्द्र जोशी, एम्० ए०, डी० लिट्०

जो भाषाएँ जितनी प्राचीन होती हैं, उनके कई शब्द मर जाते हैं। कारण यह है कि कुछ शब्द भूल जाते हैं, कुछ का अर्थ स्मरण नहीं रहता, इस कारण ये निरर्थक शब्द भी उन भाषाभाषियों की शब्द-सम्पत्ति से खो जाते हैं। कभी कोई शब्द प्राचीन समय से भाषा में व्यवहार में आने के कारण रह तो जाता है; किन्तु उसका आख्यात उड़ जाता है। ऐसे शब्द वैदिक और संस्कृत में कई हैं। वर्त्तमान हिन्दी का **धन** शब्द ही लीजिए, हम बहुधा **धनी, धन्ना सेठ, धनूदा** आदि कई शब्द काम में लाते हैं; किन्तु इनकी मूलधातु का, अथवा कहिए इसके आ-ख्या-त का हमको पता नहीं है। इस **धन** शब्द के विषय में हमारे कोशकार केवल इतना ही बताते हैं कि यह शब्द संस्कृत है। संस्कृत-कोश भी संस्कृत में इसका कोई आख्यात न मिलने के कारण ठीक व्याख्या नहीं कर सकते। **बाबावाक्यं प्रमाणम्** का अपने देश में बहुत अधिक प्रचार होने के कारण स्वयं संस्कृत के पंडित यही पर्याप्त समझते हैं कि उक्त शब्द का संस्कृत में बहुल प्रयोग है। इस कारण, इसका मूल ढूंढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं। इस समय हम धड़ल्ले से **धन** का अर्थ प्रायः इस प्रकार करते हैं—१. रुपया-पैसा, जमीन-जायदाद इत्यादि सम्पत्ति, द्रव्य, दौलत। २. किसी व्यक्ति के अधीन चौपायों के झुंड; गाय, भैंस आदि गोधन। ३. स्नेहपात्र, अत्यन्त प्रिय व्यक्ति, जीवन-सर्वस्व। ४. गणित में जोड़ी जानेवाली संख्या या जोड़ का चिह्न। ५. मूल, पूँजी।

किन्तु, ऋग्वेद में **धन** के अर्थ 'युद्ध में विजित सम्पत्ति, लूट का धन' आदि हैं। संस्कृत में **धन्** धातु भी है; बल्कि तीन प्रकार की **धन्** धातुएँ हैं। इनमें से एक का भी अर्थ 'सम्पत्ति अर्जन करना' नहीं है। ऋग्वेद में **प्रधन** का अर्थ है 'युद्ध'। हम जानते ही हैं कि संस्कृत में **मृत्यु** को **निधन** कहते हैं। **धन्वन्** संस्कृत में मरुभूमि' का नाम है। म भूमि उस उजाड़ और रेतीले स्थान को कहते हैं, जहाँ अन्न और जल बहुत कम दिखाई देते हैं। अकेले-दुकेले आदमी अन्न-जल न पाकर तथा भटक-भटककर मरीचिका में मर जाते हैं। इसीलिए, इसका एक नाम **मरुभूमि** भी है। इसका आख्यात **मृ** 'मरना' है। **धनुर्** और **धनुष** जीवों को मारनेवाले हथियार हैं। इन सबसे यह सिद्ध होता है कि कभी सुदूर अतीतकाल में चौथी **धन्** धातु भी संस्कृत-भाषा में वर्त्तमान होगी, जिसका अर्थ 'मरना-मारना' रहा होगा। यह धातु आदि आर्यभाषा में भी रही होगी; क्योंकि इसका प्रतिरूप ग्रीक भाषा में **थेन्** 'मरना-मारना' है। यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि ग्रीक और लैटिन का ए स्वर वैदिक और संस्कृत में अ रूप में मिलता है। हमारा **अस्ति** ग्रीक-भाषा में **एस्ति** रूप में मिलता है और **अस्मि** का **एस्मि** हो जाता है। इस खोये हुए आख्यात के मिलने से हम पर गीता में भगवान् कृष्ण द्वारा प्रयुक्त **धनञ्जय** शब्द का अर्थ भी खुल जाता है। अर्जुन धन के लोभ में कभी न भटका, न उसे जूए में धन जीतने की इच्छा थी। वह

वीर था, उसने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की थी। इस कारण, **धनञ्जय** का अर्थ है—'युद्ध में विजय प्राप्त करनेवाला और इस विजय से शत्रु की सम्पत्ति प्राप्त करनेवाला।' इस धन शब्द ने कितने चक्कर काटे होंगे कि युद्ध और लूट की सम्पत्ति से इसका एक अर्थ 'जीवन-सर्वस्व' हो गया है। प्राचीन हिन्दी, मारवाड़ी और कुँमाउनी में **धान** शब्द मिलता है, जिसका अर्थ है 'घर की लक्ष्मी, घर की जीवन-सर्वस्व, पत्नी।' इसके साथ कहीं इसका अर्थ 'स्वामी' भी होता है। इस शब्द का प्राचीन अर्थ और लुप्त आख्यात **धन्** 'मरना-मारना' हमारी आँखों को चकाचौंध में डाल देता है। शब्दों के अर्थ-विस्तार का नियम भाषाविज्ञान में महत्त्व का स्थान रखता है। गीता के **प्रमुख** शब्द का अर्थ भगवान् के मुख से 'सम्मुख' था। गीता में है—**तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः।** अर्थात्, 'धृतराष्ट्र की सन्तति और सेना हमारे सम्मुख खड़ी है।' तब के और अब के अर्थ का मिलान कीजिए, तो पता चलेगा कि इन दोनों अर्थों में आकाश और पाताल का अन्तर है।

कुछ शब्द, जिनकी व्युत्पत्ति खो-सी गई है, **गण, गणपति** तथा **ग्ना** हैं। इन शब्दों का प्रयोग स्वयं ऋग्वेद में मिलता है; किन्तु इनकी व्युत्पत्ति किस आ-ख्या-त से है, इसका पता मिलना कठिन हो रहा है। कारण स्पष्ट है। आदि आर्यभाषा का आविष्कार और संसार की आर्यभाषाओं का पता चलाना प्रायः डेढ़ सौ वर्षों से आरम्भ हुआ है। इस शोध ने आर्यभाषाओं के शब्दों के अर्थ और उनकी व्युत्पत्ति को बहुत सुलझा दिया है। स्वयं वैदिक और संस्कृत-भाषाओं के कठिन शब्दों की गुत्थियों को भी सँवार दिया है। जर्मन-महापंडित और सात बड़े-बड़े खण्डों में प्रकाशित संस्कृत के सुप्रसिद्ध 'सेंट पीटर्स बुर्गर संस्कृत-जर्मन-कोश' के संपादक रोट महाशय ने ठीक ही कहा है कि तुलनात्मक भाषाविज्ञान ने अर्थ और व्युत्पत्तियों के सुधारने के सम्बन्ध में आश्चर्यजनक काम किया है। सायण की टीका को पढ़कर हमने वेदों का अर्थ लगाना सीखा; किन्तु कुछ ही वर्षों के बाद अब हम देख रहे हैं कि केवल भारतीय आर्यभाषाओं को जानने के कारण उसकी टीका में अनगिनत भूलें हैं। यह बात, उक्त शब्दों की व्युत्पत्ति और अर्थ के सम्बन्ध में भी लागू होती है। वेदों में उक्त शब्द मिलते हैं; किन्तु उनका आख्यात नहीं पाया जाता। इस कारण, ठीक अर्थ लगाना कठिन हो जाता है। परम्परा से आया हुआ अर्थ ही लगाया जाता है। हिन्दी में **गणतन्त्र** का अर्थ 'जनतन्त्र' है, जो ठीक है। **गणपति** को **गणेश** भी कहते हैं, जो **लम्बोदर, एकदन्त** और **गजवदन** है। उसका एक नाम **गणाध्यक्ष** भी है, जो वैदिक गणपति की परम्परा में आया है। मूषकवाहन गणेश की मूर्त्ति देखकर कुछ भारतीय और योरोपीय विद्वान् बताते हैं कि यह विकटमूर्त्ति गणेश कोई अनार्य देवता रहे होंगे और आर्यों ने इस अनार्य देवता को अपना लिया होगा। **गण** का ठीक-ठीक अर्थ न समझने के कारण **गणपति** की भी दुर्दशा हो रही है। वास्तव में, यह भूल इसलिए हुई है कि भारत में **गण** का आख्यात वेदों से पहले ही नदारद हो चुका था। इस आख्यात को आदि आर्यभूमि से योरोप की तरफ जानेवाले आर्य अपने साथ ले गये और न भूले। ग्रीक-भाषा में गेन धातु का अर्थ 'जन्म देना' है। अँगरेजी जाननेवाले पाठक जानते ही होंगे कि योरोप के कई देशों में यह **गेन्, जेन्** हो गया है। अँगरेजी में एक शब्द **प्रोजेनी है,** जिसका अर्थ है

'प्रजा, सन्तति'। हमारा प्रजनन शब्द भी प्र-जेन (=भारतीय जन) 'जन्म देना' से निकला है। ग के स्थान पर स्वयं वै० और सं० में ज हो जाता है। जगाम में गगाम के स्थान पर पहले ग का ज हो गया है। जगत् भी इसी प्रकार का एक रूप है। अँगरेजी, फ्रेंच और इटालियन में g के बाद e अक्षर आने पर g का उच्चारण ज हो जाता है। इस कारण, अब ऐसी g से आरम्भ होनेवाले शब्द ज से उच्चरित होते हैं और उनका ध्वनि संस्कृत से मिलती है। फलतः, गेन् इन योरोपियन देशों में जन और जेन हो गया है। यह गेन् धातु भारत में पहुँचकर जन् हो गई; किन्तु कुछ रूप प्रारम्भिक ग के भी रह गये। उक्त रूप ऐसे ही हैं। गण का अर्थ 'एक ही वंश में पैदा होनेवाले या जाति' है। जन का अर्थ भी पहले 'एक जाति में उत्पन्न जन' ही था। बुद्ध भगवान् के समय के गणतन्त्र नाना जातियों के अपने-अपने होते थे। मल्लों का अपना गणतन्त्र था, बज्जियों का अपना। इसका आख्यात भूल जाने के कारण हम न समझ सके कि उक्त शब्दों की व्युत्पत्ति क्या है। गणपति ऋग्वेद में हमारे वर्त्तमान विनायक के रूप में नहीं हैं। वे गणतन्त्र-राज्य के एक पति या अध्यक्ष माने गये हैं। ऋग्वेद ११२।९ में कहा गया है— नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्; अर्थात् 'हे गणपति, तू गणों (गणतन्त्रों के) ऊपर अध्यक्षता कर।' (सबके ऊपर सुन्दर भाँति बैठ)। एक सूक्त का यह भी अर्थ है— 'गणों के तुझ गणपति का आह्वान करते हैं। निधियों के तुझ निधिपति को आदर के साथ बुलाते हैं। जो हमारे प्रिय हैं, उनके प्रियपति तेरा अभिनन्दन करते हैं।' इसमें पाठक वदिक गणपति का सच्चा स्वरूप देखेंगे। यहाँ गण का अर्थ 'जनतन्त्र' और गणपति का अर्थ 'राष्ट्रपति' है। ग्ना (देवताओं की स्त्री) भी इसी गेन् धातु का एक रूप है। इसका अर्थ है 'जन्म देनेवाली'। सो, धन के ग्रीक-रूप थेन् की भाँति जन का गेन् रूप भी भारत में नहीं, ग्रीक-देश में मिलता है। यह रूप भारत में विस्मृति के गर्भ में लीन पड़ा हुआ है। आर्यभाषाओं का तुलनात्मक विज्ञान हमें बताता है कि धन ग्रीक थेन् और जन आदि आर्य गेन् के रूप हैं।

उक्त धातुओं के समान ही गो 'पृथ्वी' भी आदि आर्यशब्द है, जो भारत तक पहुँचा है। इस गो को ग्रीक लोग गेओ कहते हैं, जिसे हम Geography (जीओग्रैफी) 'भूगोल' में पाते हैं। जैसा कहा गया है, अँगरेजी में g के बाद e आने से g का उच्चारण ज हो जाता है; किन्तु अँगरेजी भाषा की बिरादरी की भाषा जर्मन में उक्त अँगरेजी शब्द ही चलता है। इसका उच्चारण किया जाता है गेओग्राफी। अवेस्ता में भी यह शब्द गेउस् रूप में मिलता है। इसका अर्थ भी 'जगत्' है। इस शब्द की व्युत्पत्ति भी विस्मृति के गर्भ में लीन है। संभवतः, गो शब्द जगत् की भाँति गम् धातु का रूप हो।

उक्त विस्मृत धातुओं के साथ-साथ दो संज्ञा-शब्द भी विस्मृति के गभ में खर्राटे भर रहे हैं। कहा जाता है कि 'काश्मीर' का नाम मूल में काश्यप-मीर था। इसका अर्थ था— काश्यप ऋषि का तालाब या समुद्र। मीर शब्द एक-दो स्थान पर संस्कृत-व्याकरणों में रह गया है। यह शब्द योरोप में आज भी जीवित है। जर्मन लोग सागर को **Meer**

(मीर) कहते हैं। फ्रेंच-भाषा में भी mer का का अर्थ 'सागर' ही है। अँगरेजी में **जलसेना** को Marine कहते हैं। जहाजों के व्यापार-सम्बन्धी को 'Maritime' कहते हैं। बम्बई में मेरीन ड्राइव और मेरीन लाइन अँगरेजों के रखे हुए दो सुन्दर सड़कों के नाम हैं। रूसी में समुद्र के लिए Mora शब्द है। यह शब्द योरोप के सभी देशों में मिलता है। भारत में यह शब्द नाममात्र काम में आया है। इस समय अपने भारतीय रूप में केवल **काश्-मीर** में ही मिलता है। लैटिन में इस शब्द का रूप **मारे** है। इटालियन में आज भी समुद्र को 'मारे' कहते हैं। इससे यह मालूम पड़ा कि **मीर** शब्द आर्यों के भारत पहुँचने तक व्यवहार में आता था। आर्य इसे अपने साथ लाये। भारत में इसका प्रचलन आरम्भ से ही कम होने लगा। इस कारण, व्यवहार में इसका लोप हो गया और व्याकरणों तथा कोशों में यह मुरदा-सा पड़ा रह गया। जनता जिन शब्दों को किसी-न-किसी कारण से ठुकरा देती है, उनका विलोप होना अवश्यम्भावी है। इस कारण 'काश्मीर' के **मीर** शब्द का प्रयोग इस समय मर गया है; किन्तु कभी यह विशुद्ध आर्यशब्द भारत में भी चलता था। इसका प्रमाण काश्-**मीर** शब्द है।

चीन ने तिब्बत को पछाड़ा और तिब्बत पर अपना अधिकार जमा लिया, खम्पा बहुत दिनों तक चीन के साथ लड़ते रहे; किन्तु तिब्बत की आबादी चीन की अपार जन-संख्या के सामने चींटी के बराबर थी। इस कारण तिब्बत चौपट हो गया। तिब्बत में भारतवासियों के पवित्र तीर्थ कैलास और मानससरोवर हैं। मानससरोवर का नाम और भारतीय साहित्य में उसका बार-बार उल्लेख और आदर बताता है कि इस पवित्र सरोवर का नामकरण भारतीय आर्यों ने किया। तुलसी के 'रामचरितमानस' में इसी मानससरोवर का रूपक बाँधा गया है। अपने शास्त्रों और पुराणों में इस सरोवर की मनोहर गाथा गाई गई है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कभी यह स्थान भारत के अधीन होगा। इसके पास ही कैलास की चोटी शोभायमान है। यह **कैलास** शब्द कुछ विचित्र-सा लगता है। कभी हिन्दी की परम्परा में इस शब्द की सुरक्षा की गई थी। प्राचीन हिन्दी के कवि स्वर्ग को **कविलासू** कहते थे और इस **कविलासू** का अर्थ 'कैलास' था। धर्मप्राण हिन्दू-जनता **कैलास** को शिवजी का सिंहासन समझती थी। इस कारण, यह शिवलोक स्वर्ग ही था। यह सब हम लोगों को मालूम ही है। जायसी ने लिखा है—

सुमरौं आदी एक करतारू। जे जिव दीन्ह कीन्ह संसारू॥
कीन्हेसि प्रथम ज्योति परगासू। कीन्हेसि तिनहि प्रीति कैलासू॥

यहाँ **कैलासू** अथवा **कविलासू** का अर्थ 'स्वर्ग' है।

अब आश्चर्य देखिए कि लैटिन में आदि आर्यभाषा का एक शब्द **कएलुम** पाया जाता है, जिसका अर्थ 'स्वर्ग' है। नपुंसकलिंग होने के कारण मूल शब्द **कएल** में नपुंसकलिंग का चिह्न **उम** जोड़ दिया गया है। यह **कएल** शब्द फ्रेंच-भाषा में ciel (सिऐल) हो गया है। इस **सिऐल** का अर्थ भी 'स्वर्ग' ही है। जब आर्यजाति की एक शाखा ईरान के पहाड़ों में जीवन-निर्वाह कठिन होने के कारण भारत आई, तब वह ऊपर-ही-ऊपर पहाड़ी रास्ते से यहाँ आई। इस बात के प्रमाण प्राचीन आर्यभाषा में दिशाओं के

नाम हैं। अब देखिए, आर्य पश्चिम से आये। **पश्चिम** सूर्यास्त की दिशा है। इस पश्चिम शब्द का अर्थ 'पीछे या पीठ की ओर' है। कुँमाउनी भाषा में **पश्चिम** का **पच्छिम** होकर आजकल की कुँमाउनी में **पछिन** हो गया है। प्राकृत में संस्कृत शब्द **पश्चा** या **पश्चात्** का **पच्छा** हो गया था। इसका रूप कुँमाउनी में **पछा** 'बाद' और **पछाँ** 'पीछे, पश्चिम को' है। यह **पश्चिम** शब्द हिन्दी में **'पीछे'** हो गया है। संस्कृत में इसका एक और नाम **प्रतीची** है; इसका अर्थ 'विरुद्ध दिशा' है। अर्थात्, जब आर्य भारत को आ रहे थे, तब वे पूर्व की दिशा की ओर बढ़ रहे थे। अर्थात्, उस ओर आ रहे थे, जहाँ से सूर्य उगता है। इस कारण **प्रतीची**, अर्थात् विरुद्ध दिशा, पश्चिम का नाम पड़ा।

पार्जिटर साहब ने पुराणों का अध्ययन करके यह निदान निकाला है कि आर्य भारत में मैदान के रास्ते नहीं आये। वे उत्तर के पहाड़ी रास्ते से ही भारत पहुँचे। आर्यों का पहला दल 'काश्मीर' में रुक गया, दूसरा दल कुलू-काँगड़ा में बसा। तीसरा तथा अंतिम दल कुँमाऊ के दर्रों से आकर वहाँ के पहाड़ों में बस गया। अगर इस दृष्टि से देखा जाय, तो कुँमाऊ तक के पहाड़ों में बसे ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि मूल आर्यों की संतान हैं। यहाँ से फिर आर्य पहाड़ों के नीचे के मैदानों में जाकर बस गये।

अब और तमाशा देखिए। शब्द कभी-कभी बहुत बड़े रहस्य के भीतर छिपे हुए तथ्यों का परदा खोल देते हैं। **उत्तर** शब्द लीजिए। **उत्तर** का अर्थ है 'उत्तर दिशा'। उत्तर शब्द के दो भाग हैं। ये हैं **उद्-तर**। **उद्** का अर्थ होता है, 'ऊँचा' और **तर** का अर्थ होता है, 'उससे भी ऊँचा'। इसका अर्थ आर्यों ने यह लगाया कि हम जिस पहाड़ी रास्ते से आगे बढ़ रहे हैं, उस पहाड़ से हमारी बाँई ओर उससे भी ऊँचा पहाड़ है। उन्होंने अपने रास्ते में सर्वत्र हिमालय देखा और उसे, जिस पहाड़ी रास्ते से वे आ रहे थे, उससे बहुत अधिक ऊँचा पाया। इस कारण, इस हिमालय की ओर की दिशा का नाम रखा **उद्-तर = उत्तर**। ऋग्वेद में दक्षिण दिशा के **न्यङ्** या **अवाङ्** नाम भी दिये गये हैं। इन दोनों शब्दों का अर्थ है—'वह दिशा, जो पहाड़ों के नीचे है'। स्वयं **दक्षिण** शब्द का अर्थ 'दाहिना' है। जब आर्य आरम्भ में भारत की ओर आये, तब उनकी दाहिनी तरफ नीची भूमि थी, इस कारण इस दिशा का नाम **दक्षिण** पड़ा।

शब्दों का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण होने पर वे इतिहास की बड़ी-बड़ी गुत्थियों को भी सुलझा देते हैं और परदा खोलकर हमारी आँखों के सामने सत्य का सूर्य प्रकाशित कर देते हैं। हमें ऊपर की बातों से यह भी पता चला कि कैलास का नामकरण आर्य-भाषाभाषियों ने किया। कभी कैलास हमारा था। मुसलमान और अँगरेजों की विजय के बाद हमें कैलास की यह सुध न रही कि कैलास और मानससरोवर कभी भारतीय आर्यों के अधीन थे।

●●

द्वारा—श्रीउमेशचन्द्र पन्त
कैलास फार्मेसी, नया बाजार
हल्दवानी (उ० प्र०)

चर्यापद में वर्णित दार्शनिक तत्व*

डॉ० श्रीशशिभूषणदास गुप्त

[गतांक का शेषांश]

एक दूसरे पद (सं० ४५) में मन की उपमा एक क्रम-वर्द्धिष्णु वृक्ष से दी गई है। पंच इन्द्रियाँ ही इस मन-तरु की पाँच शाखाएँ हैं, और बहुल आशाएँ ही पत्ते और फल को धारण करनेवाली हैं। जड़ में रोजाना पानी देने से जैसे तरु बढ़ जाता है, वैसे ही शुभाशुभ की कल्पना से मन-तरु रस-संचय करता है। इस मन-तरु को छेदना ही साधक का सबसे बड़ा कर्म है। सद्गुरु के निकट उपदेश लेकर परिपूर्ण प्रज्ञारूप कुठार द्वारा (अर्थात्, चित्त के विशुद्ध प्रभास्वर स्वरूप द्वारा ही) इस मन-तरु को जड़ से काट डालना चाहिए। अर्थात्, मन को निर्बीज रूप से निरुद्ध करना चाहिए।

जयनन्दीपाद ने भी अपने एक पद में चित्त की इन दो अवस्थाओं का बड़ा अच्छा वर्णन किया है—

पेखु सुइने अदश जइसा। अन्तराले मोह तइसा॥
मोह विमुक्का जई मना। तवेँ तुटइ अवण गमणा॥
नउ दाढ़इ नउ तिमइ न च्छिजइ। पेख लोअ मोहे बलि बलि बाझइ॥
छाअ माआ काअ समाना। वेणि पाखेँ सोइ विणाणा॥
चिअ तथता-स्वभावे सोहइ। भणइ जअनन्दि फुड़ अण न होइ॥ (सं० ४६)

"देखो, स्वप्न के आदर्श (आइना) में जो रूप है, अन्तराल में भी मोह का वही रूप है। मन जब मोहविमुक्त होगा, तभी आवागमन बन्द होगा। (तब मोहशून्य प्रभास्वर चित्त) जलता भी नहीं, भींगता भी नहीं, छिन्न भी नहीं होता। (फिर भी) देखो, लोग मोह में दृढता से बँध जाते हैं। छाया, माया, काया एक समान हैं। दोनों पक्ष में एक ही विज्ञान है। चित्त 'तथता-स्वभाव' में शोभा पाता है। जयनन्दी कहते हैं, तब सब कुछ साफ है। उसमें और कुछ नहीं होता।"

मन के अन्दर जो मोह रहता है, उसका काम क्या है? स्वप्न में जिस प्रकार कुछ घटता नहीं, मगर लगता है, जैसे बहुत कुछ घट रहा है—आइने में जैसे कुछ नहीं होता, मगर बहुत कुछ दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार मन का मोह मिथ्या में जगत्-ब्रह्माण्ड की सृष्टि कर लेता है। यह मोहग्रस्त मन ही अपरिशुद्ध चित्त है। इस चित्त के मोह-विमुक्त होकर परिशुद्ध होने पर ही भवचक्र रुकता है—आवागमन का प्रबाह निरुद्ध होता है। तन का वही मोहहीन परिशुद्ध प्रभास्वर चित्त विशुद्ध विज्ञानस्वरूप है। वह सर्वगत अद्वय विज्ञान की ही विशेष अभिव्यक्ति है। वह अदाह्य, अक्लेद्य और अच्छेद्य है।

* प्रस्तुत लेख मूलतः बँगला में लिखा गया था, जिसका हिन्दी-अनुवाद श्रीश्रीनारायण पाण्डेय ने किया है।—सं०

विज्ञान में जहाँ ग्राह्यत्व एवं ग्राहकत्व तथा ज्ञेयत्व एवं ज्ञातृत्व-रूप द्वैतत्व है, वहीं एक ही विज्ञान से कितनी ही छाया-माया-काया की उत्पत्ति होती है, मगर चित्त जहाँ 'तथता-स्वभाव' में अथवा विशुद्ध अद्वय स्वभाव में प्रतिष्ठित होता है, वहाँ केवल प्रभास्वर चित्त ही प्रकट होता है और कहीं कुछ नहीं। यह प्रभास्वर चित्त ही महासुखमय सहज-स्वरूप हुआ।

साधक किस प्रकार ध्यान-विचार और योग-साधना के द्वारा इस अविद्या-चित्त का विनाश करते थे, इसका आभास बहुत-से पदों में मिलता है। शान्तिपाद ने अपने एक पद में कहा है—

तुला धुणि धुणि आँसुरे आँसू । आँसू धुणि धुणि निरवर सेसू ॥
तउसे हेरुअ न पाविअइ । शान्ति भणइ किण स भाविअइ ॥
तुला धुणि धुणि सूणो अहारिउ । शुन लइआँ अपणा चटारिउ ॥ (सं० २६)

"रूई को धुन-धुनकर रेशा-रेशा अलग किया, रेशे को धुनने पर निरवर शेष बचा। फिर भी, कारण ढूँढ़े न मिला। शान्तिपाद कह रहे हैं, और क्यों चिन्ता की जा रही है? रूई को धुन-धुनकर शून्य को प्राप्त किया। शून्य को लेकर अपने को भी उत्पाटित किया।"

यहाँ रूई हुई चित्त-रूई—इसका विश्लेषण करके देखने पर भी इसके भीतर जगत् में दिखाई पड़नेवाली वस्तु के निर्माण का कारण समझा नहीं गया। असल में, यह हेतु (कारण)-रूप चित्त का स्वधर्म नहीं, यह अविद्याश्रित आगन्तुक धर्म है। इसी से चित्त को विचार-विश्लेषण-ध्यान-धारण के द्वारा जब विशुद्ध कर लिया जाता है, तब उसे समझा जाता है। भाव्य-भावक सभी मिथ्या हैं। चित्त को धुन-धुनकर उसे शून्य में विलीन कर देना पड़ता है। चित्त के शून्य में विलीन होते ही सभी अहं-विश्वास भी अन्त में विलीन हो जाते हैं। उस समय केवल एक स्वयंसंवेद्य महा-सुखस्वरूप को छोड़कर और कुछ शेष नहीं रहता।

इस चित्त-विनाश के सम्बन्ध में भादेपाद ने कहा है—

एतकाल हाँउ आच्छिलोँ स्वमोहे । ऐबेँ मइ बूझिल सद्गुरु बोहें ॥
ऐबेँ चिअराअ भकु णठा । गअल-समुदे टलिया पइठा ॥
पेखभि दह दिह सब्बइ शूण । चिअ विहुने पाप न पुण्ण ॥
वाजुले दिल मो लक्ख भणिआ । मइ अहारिल गअणत पसिया ॥
भादे भणइ अभागे लइआ । चिअराअ मइ अहार कएला ॥ (सं० ३५)

"इतने दिन तक मैं स्वमोह में पड़ा रहा। अब मैंने सद्गुरु की दीक्षा से सब कुछ समझ लिया। अब मेरा (अविद्या-क्लिष्ट) चित्तराज नष्ट (निःस्वभावीकृत) हो गया है। अब उसने गगन-समुद्र में हिलते-डुलते प्रवेश किया है। अब देख रहा हूँ कि दसों दिशाओं में सब कुछ शून्य है, चित्त के अलावा पाप भी नहीं है, पुण्य भी नहीं है। वज्रगुरु ने हमको लक्ष्य बता दिया है। मैंने गगन में प्रवेश करके आहार (निःस्वभावीकृत) किया है। भादेपाद कह रहे हैं, अभाग (जिसका भाग न किया जा सके—अद्वय सत्य) को लेकर हमने चित्तराज का आहार किया है।"

यहाँ गगन-समुद्र शून्यता-रूप परमप्रज्ञा है; जिस प्रकार चन्द्र के समुद्र में गिर पड़ने से बिलकुल अन्धकार हो जाता है एवं साथ-साथ हमलोगों का वस्तु-बोध भी समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार चित्त-चन्द्र के शून्यता-समूद्र में डूब जाने पर सारा विषयबोध समाप्त हो जाता है। साधक केवल अद्वय-बोध में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। इस सम्बन्ध में आर्यदेवपाद ने भी कहा है—

जहि मण इन्दिअ-पवण हो णठा। ण जानमि अया कहिँ गइ पइठा ॥

० ० ०

चान्दरे चान्द कान्ति जिमि पटिभासइ। चिअ बिकरणे तहि टलि पइसइ ॥ (सं० ३१)

"जहाँ मन, इन्द्रिय और पवन नष्ट होता है, (तब) मैं नहीं जानता कि स्वयं कहाँ जाकर प्रविष्ट होऊँ।...चन्द्र जिस प्रकार चन्द्रकान्ति को प्रतिभासित करता है—चित्त-विकरण (निःस्वभावीकरण) में उसी के बीच जाकर (सब कुछ) प्रवेश करता है।" यानी, चन्द्र के न रहने पर जिस प्रकार चन्द्रकान्ति बाह्य जगत् को आलोकित नहीं कर सकती, उसी प्रकार चित्त के न रहने पर चैतसिक विकल्पादि भी वस्तु-जगत् को सम्भव नहीं बना सकते।

याद रखना होगा कि अविद्या-चित्त का विनाश करने का अर्थ ही है—उसे प्रकृति-प्रभास्वर बनाना। महासुख की अनुभूति से मत्त साधक की तुलना अनेक समय मदमत्त हाथी के साथ की गई है। काण्हपाद के एक पद में कहा गया है, जिस प्रकार एक मदमत्त हाथी, जिसे तमाम खम्भों के साथ बाँधा गया है—जिन बन्धनों से उसे बाँधा गया है, उन सबको तोड़कर वह पद्मवन में जाकर प्रवेश करता है और स्वेच्छ विलास करता है। अपने महासुख-रूप आसव में मत्त प्रभास्वर चित्त भी उसी प्रकार ग्राह्य-ग्राहकत्व के दोनों अवरोधों एवं सभी बन्धनों को तोड़कर सहज-नलिनी-वन में जाकर विलास कर रहा है :

एवं काय दृढ़ वाखोड़ मोड़िउ। विविह विआपक वान्धण तोड़िउ ॥
काण्हु विलसअ आसव माता। सहज नलिनि वन पइस निविता ॥ (सं० ६)

चित्त-गजेन्द्र की इस अवस्था का वर्णन महीधरपाद ने भी किया है—

मातेल चीअ गएन्दा धावइ। निरन्तर गअणन्त तुसें घोलइ ॥
पाप पुण्ण वेणि तोड़िअ सिकल मोड़िअ खम्भाठाना। गअण-टाकलि लागिरे चित्त पइठ निवाणा॥
महारस पाणे मातेल रे चिहुअण सएल उएखी। पच-विसअ-नायक रे विपख कोवि न देखि ॥
खर रवि-किरण सन्तापेँ रे अणंगण गइ पइठा। भणन्ति महित्ता मइ एथु वूड़न्ते किम्पि न दिठा॥
(सं० १६)

"हमारा मतवाला चित्त-गजेन्द्र दौड़ रहा है—वह निरन्तर गगन में (शून्यताबोध) हर तरह के द्वैतत्व को मथ-घोल रहा है। पाप-पुण्य की दो जंजीरों को तोड़कर, स्तम्भ को मर्दित करके गगन-शिखर में (शून्यता के अन्तिम स्तर में) पहुँचकर स्वतः निर्वाण में मिल गया है। त्रिभुवन के सब कुछ की उपेक्षा करके वह महारस के पान करने से मत्त हो उठा है। (अब वह) पंच विषयों का नायक है। उसके विपक्ष में किसी को नहीं देखा जाता। (महासुखानुभूति-रूप) रवि के प्रखर सन्ताप से वह गगनांगन (शून्यता) में जा

पहुँचा है; महीधरपाद कह रहे हैं, मैं जब उसके बीच डूब जाता हूँ, तब और कुछ नहीं देख पाता।"

यही सर्वसंकल्प-विकल्प-वर्जित प्रभास्वर चित्त प्रज्ञास्वरूप है, यही शून्यता है, और यही शून्यता ही साधक-जीवन का 'सोना' है—और अविद्या-चित्त से उद्भूत जो रूप-जगत् है, वही रूपा है। इसी को कम्बलाम्बरपाद ने बड़े अच्छे ढंग से कहा है—

सोने भरती करुणा नावी । रूपा थोइ नाहिक ठावी ॥ (सं० ८)

"शून्यता-रूप सोने से अपनी करुणा-नौका को भर लिया है। उसमें 'रूप' का रूपा रखूँ, अब इतनी जगह नहीं।"

हम बौद्धतन्त्रों में चतुःशून्य मतवाद देखते हैं। नागार्जुनपाद के नाम से प्रचलित 'पंचक्रम' नामक तान्त्रिक ग्रन्थ में इसका विशेष वर्णन मिलता है। यह चतुःशून्य शून्यतारूप प्रज्ञा के स्तरभेद द्वारा चित्त के ही चार स्तरभेद हैं। पहला स्तर है शून्य। इस स्तर में चित्तप्रज्ञा आलोकोन्मुखी है, मगर इस स्तर में चित्त के साथ अविशुद्धि के कारण शोक, भय, क्षुधा, तृष्णा, वेदना, समवेदना, प्रत्यवेक्षा, कारुण्य आदि तैंतीस तरह के प्रकृति-दोष मिले रहते हैं। दूसरा स्तर अतिशून्य है। यह पहले स्तर से ही उद्भूत होता है। इसके साथ काम, सन्तोष, सुख, विस्मय, धैर्य, गर्व आदि चालीस प्रकृति-दोष मिले रहते हैं। तीसरा स्तर महाशून्य है। यह बाकी दोनों से विशुद्ध और श्रेष्ठ है, फिर भी इसके साथ विस्मृति, भ्रान्ति, आलस्य इत्यादि सात प्रकृति-दोष मिले रहते हैं। ये प्रकृति-दोष हमलोगों के श्वास-प्रश्वास के साथ दिन-रात प्रवाहित होते रहते हैं। चौथा स्तर सर्वशून्य का है। यह हर तरह के प्रकृति-दोष से रहित है एवं यह प्रकृति-प्रभास्वर, अर्थात् आत्मप्रकृति या आत्मस्वरूप में प्रभास्वर है। यही परमविशुद्ध, परमसत्य और परमविज्ञान है। इसका आदि-अनादि नहीं, मध्य-अमध्य नहीं, अन्त-अनन्त नहीं है। यह अस्ति-नास्ति, पाप-पुण्य इत्यादि सब कुछ से परे है।

बौद्ध सिद्धाचार्यों के चर्यागीतों एवं दोहों में इस चार शून्य तत्त्व की व्याख्या विभिन्न रूपों में की गई है। काण्हपाद ने एक दोहे में कहा है—**पत्त चउट्ठ चउ-मृणाल चिअ महासुह वासें**—महासुख के आवास-स्थान में चार पत्र एवं चार मृणाल हैं। यह चार पत्र पूर्व आलोचित चतुःशून्य है। चर्यापद में ढण्ढणपाद के एक पद में कहा गया है—

टालत मोर घर नाहि पड़िवेशी । हाड़ीत भात नाहि निति आवेशी ॥
वलद विआअल गविआ बाँझे । पिटा दुहिए ए तिना साँझे ॥ (सं० ३३)

"ऊँचे टीले पर हमारा घर है, कोई पड़ोसी नहीं है; हाँड़ी में भात नहीं है, मगर प्रतिदिन आता है।...बैल बच्चा देता है, गाय वन्ध्या है, फिर भी बरतन भर-भरकर उसे तीन सन्ध्या दुहा जाता है।"

चर्यापद की मुनिदत्त की जो टीका है, उसके अनुसार व्याख्या करने पर, यहाँ हाँड़ी का भात पहले कहा हुआ प्रकृतिदोष-समूह है। इस प्रकृति-दोष के समाप्त हो जाने पर उष्णीष-कमल या महासुखचक्र में (ऊँचे टीले पर जाकर) साधक निवास करता है

एवं उसके चन्द्र-सूर्य-रूपी पड़ोसी भी (ग्राह्य-ग्राहकत्व-रूपी द्वैतत्व) चले जाते हैं। त्रिविध प्रकृतिदोष-युक्त (भासमय) चित्त ही 'बैल' हुआ—वही बच्चा देता है, अर्थात् जगत्-प्रपंच की परिकल्पना करता है, चतुर्थ शून्य या सर्वशून्यरूप गाय है। वह वन्ध्या (बाँझ) है—वहाँ और किसी भव-विकल्प की सम्भावना नहीं। इसीलिए, योगी सर्वदा इस 'पीठ' या त्रिविध प्रकृति-दोष को दुहने की चेष्टा करते हैं। दारिकपाद ने एक पद में कहा है, **विलसइ दारिक गअणत पारिमकूलें**—दारिक गगन के अपर कूल पर विलास कर रहे हैं: यहाँ गगन का अर्थ शून्य है, गगन के अपर कूल (दूसरे किनारे) का अर्थ है प्रकृतिदोष-युक्त त्रिशून्य का अपर कूल, अर्थात् सर्वशून्यरूप प्रभास्वर महासुख। काण्हपाद ने एक पद में कहा है—

सुण वाह तथता पहारी। मोह भण्डार लइ सअला अहारी॥
घुमइ न चेवइ सपरविभागा। सहज निदालु काण्हिला लाङ्गा॥
चेअण न वेअन भर निद गेला। सअल सुफल करि सुहे सुतेला॥

(सं० ३६)

"शून्यबाहु से 'तथता' द्वारा प्रहार करके सबने मोह-भाण्डार का आहार कर लिया (सब कुछ ले लिया)। अब सहज में निद्रालु नंगा जोगी काण्ह सोता भी नहीं, जागता भी नहीं, उसमें अपने और अन्य का भेदभाव भी नहीं है। उसमें चेतना नहीं है, वेदना भी नहीं है, गहरी नींद सो रहा है; सब कुछ सुफल करके सुख से सो गया है।"

यहाँ शून्य के पास ही मोह-भाण्डार है इस मोह को लूटने के लिए। इसीलिए, पहले शून्यबाहु से ही जोरों का आघात करना पड़ा है। यह शून्य पूर्ववर्णित तीन शून्य है, और इन तीन शून्यों पर आश्रित प्रकृति-दोष ही मोह-भाण्डार है। सर्वशून्य-रूप चतुर्थ शून्य 'तथता' हुई; यह 'तथता' ही पारमार्थिक अद्वय सत्ता है। इसी 'तथता' और परमविशुद्ध चतुर्थ शून्य द्वारा प्रथम शून्य पर आक्रमण कर उसको आहत कर देने से सारा प्रकृति-दोष मिट जाता है। प्रकृति-दोष के मिट जाने पर साधक की क्या अवस्था होती है, इसका वर्णन काण्हपाद ने परवर्त्ती पद में किया है। काण्हपाद ने एक और पद में जूआ खेलने के रूपक द्वारा साधना का वर्णन किया है। वहाँ उन्होंने कहा है—

फीटउ दुआ मादेसिरे ठाकुर। उआरि उएसे काण्ह निअड़ जिनउर॥
पहिले तोड़िआ वड़िआ मारिउ। गअवरें तोड़िआ पाँचजना घालिउ॥

(सं० १२)

"दो स्फीटित—निःस्वभावीकृत हुए, ठाकुर भी मर गया; उपकारिक (गुरु) के उपदेश से काण्ह ने निकट ही जिनपुर देखा। पहले को तोड़कर बड़िका को मारा, गजवर को तोड़कर पाँच जन को घायल किया।"

यहाँ पहले जिस दो की बात कही गई है, वह 'शून्य' और 'अतिशून्य' रूप में प्रकृतिदोष-युक्त आभासद्वय है। 'ठाकुर' तृतीय शून्यरूप अविद्याचित्त है। इन तीनों शून्यों के क्रमशः समाप्त हो जाने पर उपकारिक गुरु के आदेश से पास ही महासुखमय परमधाम दिखाई देता है। दूसरी पंक्ति में जिस बड़िका का उल्लेख हुआ है, टीका में

इसका अर्थ 'षष्ट्युत्तरशत प्रकृति-दोष' किया गया है। हमने देखा है कि प्रथम शून्य के साथ तैंतीस और दूसरे शून्य के साथ चालीस और तीसरे के साथ सप्त प्रकृति-दोष लगे हुए हैं। कुल मिलाकर अस्सी, दिन और रात के भेद से यह फिर दुगुना हो जाता है। इससे प्रकृति-दोष की कुल संख्या एक सौ साठ हुई। इन सबके खतम होने पर आखिर में गजवर बच रहता है, वही सर्वशून्य-रूप में 'तथता-चित्त' है। पंचस्कन्धात्मक पंचविषय के कारण जो अहंविश्वास उत्पन्न हो जाता है, उसको भी इस तथता-चित्त द्वारा दूर कर देने पर सहज-स्वरूप का साक्षात्कार होता है। शबरपाद के एक पद में—

गअणत गअणत तइला बाड़ी हिएँ कुराड़ी।
कण्ठे नैरामणि वालि जागन्ते उपाड़ी॥
० ० ०
तइला बाड़ीर पासें र जोह्ना बाड़ी उएला।
फिटेलि अन्धारि रे आकाश फुलिआ॥ (सं० ५०)

"गगन-गगन में तल्लग्न बाड़ी (घर) है। कुठार द्वारा उसको छिन्न किया गया; कण्ठ में नैरामणि बालिका जग उठने पर गृहीत होती है...तल्लग्न बाड़ी (घर) के पास ज्योत्स्ना-बाड़ी (घर) उदित हुई। आकाशकुसुम की तरह अन्धकार दूर हो गया।"

यहाँ पहला गगन शून्य, दूसरा गगन अतिशून्य और तल्लग्न बाड़ी तृतीय महाशून्य है; इन तीनों को ही 'तथता-चित्त' रूप चतुर्थ शून्य के कुठार द्वारा समाप्त करना पड़ेगा। उसके बाद ही सहजानन्द-रूपिणी नैरामणि (नैरात्मा) कण्ठ में, अर्थात् सम्भोगचक्र में जागरित होती है और तभी इस सहजानन्द की अनुभूति साधक के लिए सम्भव हो जाती है। तल्लग्न बाड़ी, अर्थात् तृतीय महाशून्य के पास की बाड़ी ही ज्योत्स्ना-बाड़ी, यानी प्रभास्वर धाम है। इस प्रभास्वर धाम के प्रकाश द्वारा जितना घोर अन्धकार चारों ओर छाया रहता है, वह मुहूर्त्त-मात्र में ही दूर हो जाता है।

उपर्युक्त सभी चर्याकार सहजिया बौद्ध थे। सहजिया बौद्धधर्म की उत्पत्ति महायान से हुई है; इसीलिए महायान बौद्धधर्म की मूल बात, अर्थात् केवल शून्यता का ही ग्रहण करने से नहीं चलेगा—शून्यता के साथ महाकरुणा को भी एक में मिला लेना होगा। यह तत्त्व चर्यापदों में विभिन्न रूपों में दिखता है। साधना के क्षेत्र में इन सहजिया साधकों ने शून्यता एवं करुणा को जिस प्रकार मिला लिया है, उसको छोड़कर भी अन्यान्य विविध रूपों में चर्यापद में इस करुणा और शून्यता के मिलन का उल्लेख मिलता है। हमलोगों ने देखा है कि कम्बलाम्बरपाद ने (पद-संख्या ८) अपनी करुणा की नाव को सोना, अर्थात् शून्यता द्वारा भर लिया है। काण्हपाद ने जहाँ जूआ खेलने के रूपक द्वारा साधना-तत्त्व की व्याख्या की है, वहाँ हम देखते हैं कि **करुणा पिहाड़ी खेलहु नअबल** : करुणा की पीढ़ी पर वे जूआ खेलने बैठे हैं, अर्थात् महाकरुणा में ही उनकी सारी साधना प्रतिष्ठित है। एक और जगह काण्हपाद ने कहा है—**निअ देह करुणा शुन में हेरी** (सं० १०)।

बौद्ध चर्यागीतों और दोहों तथा बौद्धतन्त्रों में इस करुणा का इतना प्रभाव है कि यहाँ उसकी विस्तृत आलोचना आवश्यक मालूम होती है। इस करुणा पर ही जोर देकर महायानी बौद्धों ने बोधिसत्त्व के आदर्श को प्राचीन अर्हत् के आदर्श से बड़ा करके देखा है। अर्हत् शून्यता का अवलम्बन करके निर्वाण प्राप्त करते थे; मगर महायानी निर्वाण-प्राप्ति के विरोधी थे। उनका आदर्श था कि निर्वाण-प्राप्ति के उपयुक्त होकर निर्वाण की उपेक्षा करनी होगी। पीडित प्राणियों के लिए कल्प-कल्पान्तर तक देह-धारण करके कुशलकर्म के लिए बोधिसत्त्व को रहना पड़ेगा।

भगवान् बुद्ध करुणा की मूर्त्ति थे। विश्व की सारी करुणा मानों घनीभूत होकर उनका ज्योतिर्मय दिव्य शरीर बन गई थी। उनकी इस करुणा का क्षेत्र केवल विश्व-मानव के बीच ही सीमित नहीं था, वरन् यह निखिल जीवकोटियों के बीच निःसीम भाव से परिव्याप्त था। महायानी यह मानते थे कि बुद्धदेव का अवलम्बन करके जिन जातक-कहानियों की रचना हुई है, वे बोधिसत्त्व के क णामयत्व की ही अभिव्यंजक हैं। उन्होंने करुणा-विगलित होकर युग-युग, जन्म-जन्म सभी योनियों में अवतीर्ण होकर सभी कोटि के प्राणियों में अपने वास्तविक आचरण द्वारा कुशलकर्म की महिमा का प्रचार किया है।

महायान-मत के अनुसार करुणा की आधारभूमि एक ऐसा अद्वयबोध है, जिसमें अपने को निखिल विश्व के साथ एक करके देखना पड़ता है। यह अद्वयबोध मनुष्य को क्षुद्रता के बन्धन से मुक्त करता है और उसके चित्त में विशालता लाता है। चित्त की यह विशालता ही हमलोगों को महान् बनाती है। इसी से बौद्ध 'ब्रह्मविहार' में भी करुणा को एक प्रधान उपादान माना गया है। 'ब्रह्मविहार' शब्द को अगर किसी पारिभाषिक अर्थ तक ही सीमित न रखें, तो ब्रह्म शब्द को उसके साधारण अर्थ 'बृहत्' में स्वीकार किया जा सकता है। अपने क्षुद्र अस्तित्व का अतिक्रमण कर या उसको प्रसारित कर एक बृहत् अस्तित्व में विहार करने को ही हमलोग 'ब्रह्मविहार' करना समझ सकते हैं।

महायान बौद्धधर्म में यही करुणा ही प्रधान हो उठी है। इसी करुणा की विशुद्धि के लिए ही शून्यता चाहिए, नहीं तो कुशलकर्म की प्रेरक यही करुणा ही मनुष्य को शुभाशुभ कर्म द्वारा कष्ट पहुँचायगी। किन्तु, अगर कोई करुणा को छोड़कर केवल निवृत्ति-मूलक शून्यता के पथ का ही अवलम्बन करे, तो वह विश्वविमुख होकर एकदम आत्म-केन्द्रिक हो उठेगा। यह एकान्त आत्मकेन्द्रिकता ही सबसे बड़ी हीनता हुई, इसीलिए केवल शून्यता के पथ को 'हीनयान' कहा गया है।

उसके बाद के तान्त्रिक बौद्धधर्म में देखते हैं कि यही करुणा ही सभी तान्त्रिक साधनाओं की मूलनीति के रूप में स्वीकृत हुई है। बौद्धतन्त्रों में जहाँ विभिन्न देवी-देवताओं के पूजापाठ का विधान है—यहाँतक कि यक्षों-राक्षसों, भूतयोनियों, अनिष्टकारी देवताओं के पूजापाठ की व्यवस्था भी तान्त्रिक मत में है, वहाँ सर्वत्र सब क्रियाओं के पहले साधकों को यह संकल्प करना पड़ेगा कि ब्रह्माण्ड के प्राणियोनियों के दुःख से करुणाद्रवित होकर ही वे यह सब क्रियाकाण्ड कर रहे हैं। 'जगदुद्धरण'-चेष्टा से ही सब कुछ हो रहा है। इस सारे कर्म से जो कुछ पाप-पुण्य होगा, वह जीवमात्र का प्राप्य है। गुह्य-तान्त्रिक

योगसाधना में भी योगी को यही संकल्प करना पड़ता है और इस संकल्प का दृढता से पालन करना पड़ता है। इस संकल्प में प्रतिष्ठित होने का अर्थ ही हुआ करुणा में प्रतिष्ठित होना। महाकरुणा की दृढ प्रतिष्ठा न होने पर किसी भी साधक को किसी भी तान्त्रिक साधना को करने का अधिकार नहीं प्राप्त होता।

परवर्त्ती काल के तान्त्रिक दोहाकारों के दोहों में भी इस करुणा की ध्वनि सुनाई पड़ती है। इस करुणा को नौका कहा गया है। नौका कभी अपने-आप नदी के इस पार-उस पार नहीं आ-जा सकती। वह दूसरे को भी इस पार-उस पार करती है। यही, जो सबके लिए एक, और एक के लिए सब है, सबसे श्रेष्ठ पथ है—यही महायान है। सरहपाद ने अपने दोहे में कहा है—

करुणा छड्डि जो सुण्णहि लग्गु। णउ सो पावह उत्तम मग्गु॥

"करुणा को छोड़कर जो शून्य में लगता है, वह कभी उत्तम पथ नहीं पाता।" किन्तु, ऊपर कहा है कि शून्यता को छोड़कर केवल करुणा का आश्रय लेने पर उसमें भी कुशल-अकुशल द्वारा कठिनाई पड़ने की सम्भावना बनी रहती है। इसीलिए—

अहवा करुणा केवल भावह। जन्म सहस्सहि मोक्ख ण पावह॥

"अर्थात्, केवल करुणा का जो अवलम्बन करता है, सहस्र जन्म में भी वह मोक्ष नहीं पाता।" सरह ने कहा है—

एहु सो अप्पा एहु परु जो परिभावइ कोवि।
तँ विणु वन्धे वेट्ठि किउ अप्प विमुक्कवि तोवि॥

"यह हुआ अपना और यह हुआ पराया—इस तरह जो सोचते हैं, वे मुक्त जीव विना बन्धन के ही अपने को पुनः बाँध लेते हैं।"

पर अप्पाण म भन्ति करु सअल निरन्तर बुद्ध।
एहु से निरमल परम पउ चित्त सहावेँ सुद्ध॥

"अपना और पराया की भ्रान्ति कभी मत करना, सभी निरन्तर बुद्ध (परमार्थतः) हैं। यह जो परम प्रभु-चित्त है, वह स्वभाव से (स्वरूप से) शुद्ध है।" अर्थात्, स्वरूप में सभी शुद्ध हैं, सभी एक हैं; अतएव अपने और पराये का भेद एकदम भ्रान्ति है।

अद्वय चित्त तरुअरह गउ तिहुँवणेँ वित्थार।
करुणा फुल्ली फल धरइ णाउ परत्त उआर॥

"(हमलोगों का जो) अद्वयचित्त (अद्वय में प्रतिष्ठित चित्त) है, वह एक विराट् तरुवर के समान है। वह त्रिभुवन में फैला हुआ है। (इस अद्वयचित्त तरुवर में) करुणा के फल-फल लगते हैं। इसके बाद और कुछ नहीं है (यही परमतत्त्व है)।"

सुण्ण तरुवर फुल्लिअउ करुणा विविह विचित्त।
अण्णा भोअ परत्त फलु एहु सोक्ख परु चित्त॥

"शून्य तरुवर पुष्पित हुआ है—विभिन्न तरह की करुणा। दूसरे, परत्र (परलोक) फलभोग करते हैं, इसी चित्त में ही परमसुख है।"

एक्केम्बो एक्केवि तरु तें कारणे फल एक्क ।
ए अभिण्णा जे मुणइ सो भवनिव्वाण विमुक्क ॥

"सभी एक हैं । इसी से तरु एक हुआ और इसीसे फल भी एक हुआ । इसको अभिन्न कहकर जो जानता है, वह भव-निर्वाण से मुक्त हो जाता है ।"

जो अत्थीअण ठीअउ सो जइ जाइ णिरास ।
खण्ड-सरावें भिक्ख वरु च्छड्हु ए गिहवास ॥

"जो व्यक्ति अर्थी (धनवान्) है, वही यदि निराश हो जाय, तो टूटे हुए मिट्टी के बरतन में भिक्षा भली । इस घर को छोड़ दो ।"

परउ आर ण किअउ अत्थि ण दीअउ दाण ।
एहु संसारे कवण फलु वरु च्छड्डहु अप्पाण ॥

"दूसरे का उपकार नहीं किया जाता, अर्थी को भी दान नहीं दिया जाता । ऐसे संसार में रहने से क्या फल है । इससे भला अपने को ही छोड़ दो ।"

●●

अनुवादक का पता :
त्रिवेणी देवी भालोटिया-कॉलेज
रानीगंज (बर्दवान)

भगवान् महावीर के जीवन की दो विशेष घटनाएँ

महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविश्वेश्वरनाथ रेउ

प्रथम घटना : वैसे तो महावीर (वर्द्धमान) का जन्म काश्यपगोत्रीय क्षत्रिय सिद्धार्थ और उनकी पत्नी त्रिशला से, तथा इनका विवाह कौडिन्यगोत्रीय क्षत्रिया कन्या यशोदा से, होना माना जाता है; परन्तु आचारांगसूत्र[1] से प्रकट होता है कि वास्तव में ये कोडालगोत्रीय ब्राह्मण ऋषभदत्त के पुत्र थे। उक्त सूत्र में लिखा है कि महावीर पहले कुण्डग्राम-निवासी कोडालगोत्रीय ब्राह्मण ऋषभदत्त की जालन्धरगोत्रीया पत्नी देवानन्दा के गर्भ में प्रविष्ट हुए और ८२ दिनों तक उस गर्भ में रहे। इसके बाद ८३वें दिन इन्द्र ने, यह सोचकर कि जैन तीर्थंकर का जन्म क्षत्रिय के घर में ही होता है, 'हिरणेगमेसी'[2] के द्वारा इन्हें ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ से निकलवाकर सिद्धार्थ की पत्नी क्षत्रिया त्रिशला के गर्भ में रखवा दिया। फिर, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को उक्त त्रिशला के गर्भ से इन (वर्द्धमान महावीर) का जन्म हुआ। तीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने राज्य छोड़कर तप करना प्रारम्भ किया तथा इसके बाद १३वें वर्ष वैशाख शुक्ला दशमी को इन्हें श्रेष्ठ (कैवल्य) ज्ञान प्राप्त हुआ। तदनन्तर, अपने धर्म का प्रचार करते हुए ७२ वर्ष की अवस्था में कार्तिक कृष्णा अमावास्या को पावानगर में इन्हें निर्वाण की प्राप्ति हुई।

यह घटना श्रीमद्भागवत की, बलभद्रजी के देवकी के गर्भ से रोहिणी के गर्भ में प्रविष्ट कराने की कथा की पुनरावृत्ति ही है। इसके अतिरिक्त इसकी सम्भावना भी विचारणीय प्रतीत होती है। श्रीजैकोबी इस कथन से महावीर का, जन्म के ८२ दिन बाद, गोद लिया जाना अनुमान करते हैं।

द्वितीय घटना : अपने निर्वाण के १६ वर्ष पूर्व, जिस समय महावीर, अपने पहले के शिष्य गोशालक से विवाद हो जाने के बाद, श्रावस्ती से मेंढिया ग्राम के बाहर के साणकोष्ठक चैत्य में आकर ठहरे, उस समय इन्हें पित्तज्वर और पेचिश हो गई। इसपर इन्होंने निर्ग्रन्थों को भेजकर, कुछ दूर पर तप करते हुए, अपने शिष्य सिंह अणगार को बुलवाया और उसे आज्ञा दी कि वह गाँव में जाकर गृहपत्नी रेवती से कहे कि उसने जो दो कपोत-शरीर (**दुवे कवोय सरीरा**) मेरे लिए तैयार किये हैं, वे मेरे काम के नहीं हैं। उसने जो दूसरों के लिए मार्जार-कृत कुक्कुट-मांस (**मज्जार कडए कुक्कुड मंसए**) तैयार किया है, वह दे दे। जब सिंह अणगार भिक्षा में वह वस्तु माँगकर ले आया, तब भगवान् महावीर ने, सर्प जिस तरह बिल में प्रवेश करता है, उसी तरह अनासक्ति से, उसे शरीर-

---

१. आचारांगसूत्र, श्रुतस्कन्ध २, अ० २४. ९९३ में स्वयं महावीर ने इस बात को प्रकट किया है।
२. इसके नाम के दूसरे रूप को 'नैगमेष' और 'नेजमेष' होना कहा है।

रूपी कोठे में डाल लिया। इससे इनका पीडाकारी रोग शान्त हो गया और श्रमण, देव आदि सभी प्रसन्न हुए।[१]

भगवतीसूत्र की अभयदेव सूरि-कृत टीका में इस स्थान पर लिखा है[२] कि **दुवे कवोया** इसका कुछ लोग ऊपर से सुनाई देनेवाला (मांस) अर्थ ही मानते हैं, दूसरे तो कहते हैं कि कबूतर एक पक्षिविशेष है। उसके जैसे जो फल हैं, वे रंग के एक-से होने से कबूतर, अर्थात् पेठे हैं। छोटा कपोत (कबूतर) कपोतक और उनके वनस्पति के जीव की देह होने से, उन्हें कपोतशरीर कहा है। अथवा, छोटे कबूतर के शरीर के समान धूसर (मटमैला) रंग होने से कपोतशरीर, अर्थात् पेठे के दो फल। **परि आसिए**, अर्थात् बासी—कल का रखा हुआ। 'मज्जार कडए' का भी कोई-कोई सुनाई देनेवाला (मांस) अर्थ ही लेते हैं। दूसरे अर्थ करते हैं कि मार्जार एक वायु है, उसको शान्त करने के निमित्त तैयार किया गया। अन्य लोग कहते हैं—मार्जार, अर्थात् बिडालिका नाम की खास वनस्पति, उससे तैयार किया गया 'कुर्कुटकमांसकं' (बिजौरे का कटाह)। यद्यपि जैनाचार्यों ने उपर्युक्त वचनों से प्रचलित मांस-भक्षण-प्रवाद के खण्डन के लिए और उपर्युक्त शब्दों को फलवाची सिद्ध करने के लिए वैद्यक-ग्रन्थों और कोशों के अनेक प्रमाण[३] दिये हैं, तथापि यह मानना पड़ता है कि भगवतीसूत्र के टीकाकार अभयदेव सूरि के पहले से उनके समय तक, जैनमतानुयायियों में, उक्त प्रसंग में उन शब्दों का मांसपरक अर्थ भी प्रचलित था। चूर्णिकाकार आचार्य हरिभद्र ने भी आगम-गत ऐसे शब्दों का इसी प्रकार का अर्थ सूचित किया है। फिर, इस प्रकार के पशु-पक्षियों के शरीराङ्गवाचक इतने शब्दों का एक ही स्थान पर प्रयोग और वह भी स्वयं महावीर के निज मुख से अवश्य ही विचारणीय हो जाता है।

---

१. "तुमं सीहा मेंढिय गामं नगरं रेवतीए गाहावतिणीए गिहे, तत्थणं रेवतीए गाहावतिणीए ममं अट्ठाए दुवे कवोय सरीरा उवक्खडिया तेहिं नो अट्ठो, अत्थि से अन्ने परियासियाए मज्जार कडए कुक्कुड मंसए तमाहराहिए एणं अट्ठो।...तमाहारं सरीर कोट्ठगंसि पक्खिवति, त एणं समणस्स भगवओ महावीरस्स तमाहारं आहारियस्स समाणस्स से विपुले रोगायंके खिप्पामेव उवसमं पत्ते हट्ठे जाए आरोगे बलिय सरीरे तुट्ठा समणा...।" —भगवतीसूत्र, श० १५, उद्देशा १, सूत्र ५५७, पृ० १२६१।

२. " 'दुवे कवोया' इत्यादेः श्रूयमाणमेवार्थं केचिन्मन्यन्ते, अन्ये त्वाहुः—कपोतकः पक्षिविशेषस्तद्वद् ये फले वर्णसाधर्म्यात्ते कपोते कूष्माण्डे ह्रस्वे कपोते कपोतके ते च ते शरीरे वनस्पतिजीवदेहत्वात् कपोतकशरीरे। अथवा कपोतकशरीरे इव धूम्रवर्णसाधर्म्यादेव कपोतकशरीरे। कूष्माण्डफले... 'परिआसिए' त्ति परिवासितं ह्यस्तनमित्यर्थः, 'मज्जार कडए' इत्यादेरपि केचित् श्रूयमाणमेवार्थं मन्यन्ते, अन्ये त्वाहुः—मार्जारो वायुविशेषस्तदुपशमनाय कृतं संस्कृतं मार्जारकृतम्, अपरे त्वाहुः—मार्जारो बिरालिकाभिधानो वनस्पतिविशेषस्तेन कृतं भावितं यत्तत्तथा किं तद् इत्याह कुर्कुटकमांसकं बीजपूरकटाहम्।"

३. सुश्रुत, चरक, बृहदारण्यक आदि में मनुष्य-शरीर के समान ही वृक्ष के शरीर का रहना कहकर उसके गूदे, रस, गुठली, छाल आदि की क्रमशः मनुष्य-शरीर के मांस, रुधिर, अस्थि, त्वचा आदि से तुलना की गई है। इसी प्रकार. कोशों से भी माज्जारि और मधुकुक्कुटी का क्रमशः कस्तूरी और (वैजयन्तीकोश से) बिजौरे का नाम होना सिद्ध किया है।—ले०

दशवैकालिकसूत्र के पंचमाध्ययन के श्लोक ७३-७४ में लिखा है[1]—बहुत हड्डीवाला पुद्गल (शरीर-पिण्ड), बहुत काँटोंवाला मांस (गूदा)-अस्थिक, वेल, गन्ना और शाल्मलि (सेमल) इनमें खाने लायक थोड़ा और फेंकने लायक बहुत होने से, यदि कोई देने लगे, ता मना कर दे कि यह मेरे योग्य नहीं है। यहाँ भी जब अन्य साधारण शब्दों से काम चल सकता था, तब अस्थि, पिण्ड (शरीर) और मांस को सूचित करनेवाले शब्दों का प्रयोग और कुछ नहीं, तो आश्चर्यजनक अवश्य है।

इसी प्रकार, दशवैकालिक में एक स्थान पर लिखा है—**पिट्ठिमांसं न खाइज्जा** (अ० ८, उ० २, गा० ४७) : संस्कृतच्छाया—**पृष्ठमांसं न खादेत्**। इसका स्पष्ट शब्दार्थ 'पीठ का मांस न खाय' होता है और यह 'अभक्ष्यो ग्रामकुक्कुटः' (गाँव का मुरगा न खाय) की तरह वन के मुरगे को खाने की छूट देनेवाले वचन के समान प्रतीत होता है। इसका पीछे से बुराई न करना, यह अर्थ कहाँतक उचित हो सकता है; और, यदि लेखक का वास्तव में यही आशय था, तो क्या उसके लिए कोई अन्य उपयुक्त शब्द नहीं मिल सकते थे। उसी में दूसरे स्थान पर लिखा है—**महुघयं व भुञ्जिज्ज संजए** (अ० ५, उ० १, गा० ९७)। अर्थात्, साधु आगमोक्त विधि से प्राप्त हुए भोजन को, चाहे वह मीठा, खारा या नमकीन ही हो, मधु और घी समझकर खाय। यहाँ 'मधु' का शर्करा अर्थ भी ठीक नहीं प्रतीत होता।[2]

आचारांगसूत्र में लिखा है—**बहु अट्ठियं वा मंसं वा मच्छं वा बहु कण्टयं** (श्रु० २, १, १०) इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि बहुत हड्डीवाला मांस या बहुत काँटोंवाली मछली से साधु कोई प्रयोजन न रखे। अर्थात्, जिस वस्तु का कम भाग खाने के और अधिक भाग फेंकने के लायक हो, ऐसी चीज साधु भिक्षा में न लें।[3]

छठी शती के दिगम्बराचार्य देवानन्दी ने उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थ-सिद्धि नाम की टीका लिखी है। उसमें उन्होंने आगमों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है

---

१. 'बहुअट्ठियं पुग्गलं' 'अणिमिसं वा बहुकण्टयं'।
अत्थियं तिंदुअं बिल्लं उच्छुखंडं व सिंबलिं ॥७३॥
अप्पे सिया भोयण जाए, बहुउज्झिय धम्मिए।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥७४॥
संस्कृतच्छाया :
'बह्वस्थिकं पुद्गलं', 'अनिमिषं बहुकण्टकम्'।
अस्थिकं तिन्दुकं बिल्वं इक्षुखण्डं वा शाल्मलिम् ॥७३॥
अल्पं स्याद् भोजनजातं, बहूज्झनधर्मकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥७४॥

२. मधु का सेवन जैन साधुओं के लिए वर्जित माना जाता है।—ले०

३. उक्त स्थान पर इसका संवाद-रूप में उल्लेख है—
गृहस्थ—बहुअस्थिवाला मांस आप लेते हैं ?
साधु— बहुअस्थिवाला मांस मुझे मत दो और वही देना है, तो मुद्गल (पुद्गल)—मात्र दो, अस्थि न दो।

उससे प्रकट होता है कि अमुक-अमुक सूत्रों का मांसमत्स्यादिपरक अर्थ करने से जैन समाज का एक बड़ा भाग क्षुब्ध होता है। वे यह भी कहते हैं कि मांसादि का प्रतिपादक श्रुतार्णववाद दोष है। वास्तव में, यह आक्षेप आचारांगसूत्रादि आगमों पर ही है, क्योंकि जैनेतर आगमों से यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु, तत्त्वार्थसूत्र के जिस भाग की व्याख्या करते हुए श्रीदेवानन्दी ने श्वेताम्बर-शास्त्रों के बारे में श्रुतार्णवदोष बतलाया है, उसी भाग की व्याख्या करते हुए स्वयं सूत्रकार उमास्वाति ने स्वोपज्ञ भाष्य में ऐसा कोई कथन नहीं किया है। इसी प्रकार, हरिभद्र और अभयदेव जैसे आचार्यों ने अपनी व्याख्याओं में जैनागमोक्त कुछ वाक्यों का मांसमत्स्यादिपरक अर्थ भी किया है।

यह भी विचार करने की बात है कि जैन सम्प्रदाय में इस प्रकार शास्त्रों के अर्थ के विषय में दो मत कैसे हो गये। कुछ विद्वानों का मत[1] है कि दिगम्बरों ने तो श्वेताम्बरों के आगमों का पूर्णरूप से बहिष्कार ही कर दिया, परन्तु स्थानकवासियों ने मूर्त्तिपूजा का स्पष्ट उल्लेख करनेवाले शास्त्रों का त्याग कर, अन्य भक्ष्याभक्ष्य-सम्बन्धी सूत्रों के अर्थ बदलकर उन्हें मान्य कर लिया। यह सर्वविदित है कि चुन्द के घर 'सूकरमद्दव' खाकर ही बुद्ध का निर्वाण हुआ था।[2] परन्तु, इस घटना के करीब १००० वर्ष बाद बौद्धपिटकों पर व्याख्या लिखनेवाले बुद्धघोष ने 'दीर्घनिकाय' की 'अट्ठकथा' में पालि शब्द 'सूकरमद्दव' के भिन्न-भिन्न व्याख्याताओं के लिए तीन अर्थों का उल्लेख किया है।[3] 'उदान अट्ठकथा' में उक्त शब्दों के और दो नये अर्थ[4] जोड़ दिये हैं। सम्भव है, इसी प्रकार रेवती गृहपत्नी के द्वारा महावीर को दिये गये, **'मज्जारकृत कुक्कुटमांस'** के भी दो अर्थों का प्रचलन अभयदेव ने सूचित किया हो—एक मांसपरक और दूसरा बिजौरा-परक।

द्वितीय घटना के और जैनागमों में मिलनेवाले उसी प्रकार के अन्य वचनों के यहाँ उल्लेख का उद्देश्य जैन सम्प्रदाय में मांसभक्षण के प्रचार का सिद्ध करना न होकर केवल यह प्रश्न उपस्थित करना है कि उक्त आगमों में उन स्थानों पर साधारण रूप से प्रयोग में आनेवाले शब्दों का प्रयोग न कर जान-बूझकर ऐसे निन्द्यार्थवाची शब्दों का प्रयोग क्यों किया गया है?

●●

२८००, गली आर्यसमाज
बाजार सीताराम, दिल्ली-६

---

१. पं० सुखलालजी संघवी-कृत 'निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय', पृ० १२. १३, १७।

२. अंगुत्तरनिकाय के पंचम निपात में भी उग्र गृहपति का बुद्ध को भिक्षा में सूकर-मांस देना लिखा है।

३. (१) नरम और चिकना सूकर-मांस, (२) पंचगोरस से प्रस्तुत किया एक प्रकार का कोमल अन्न और (३) एक रसायन।

४. (१) सूकर द्वारा कुचला वंशांकुर और (२) वर्षा में उगनेवाला अहिच्छत्र।

'हि-हिं' और 'इ-इँ' विभक्तियाँ

पं० श्रीकिशोरीदास वाजपेयी

हिन्दी में (और हिन्दी-संघ की अनेक भाषाओं में) 'हि-हिं' तथा 'इ-इँ' विभक्तियाँ चलती हैं। संज्ञाओं सर्वनामों तथा क्रियापदों में इनके दर्शन होते हैं। **'रामहिं' कौन निहोर** तथा **राम 'करहिं' प्रतिपालन जग को** में 'हिं' स्वरूपत: (आपातत:) एक ही चीज जान पड़ती है; परन्तु प्रयोग-भेद से स्पष्ट है कि दोनों पृथक् चीजें हैं। पिसा हुआ नमक दाल में पड़ता है और बूरा पड़ता है खीर में। दोनों का रंग-रूप एक देखकर छोटा बच्चा दोनों को एक ही चीज समझ सकता है; परन्तु समझ आने पर भेद समझ लेता है। इसी तरह नाम-सर्वनाम तथा क्रियापदों में दृश्यमान प्रकृत विभक्तियों को समझिए।

धातुओं में लगकर क्रियापद बनानेवाली 'इ-इँ' और 'हि-हिं' में भी भेद है। एक 'इ' वर्त्तमान काल की क्रियाएँ बनाती है; दूसरी 'इ' विधि आदि प्रकट करती है। **राम 'करहिं' प्रतिपालन जग को** में वर्त्तमान काल की क्रिया है। 'ह' के विना—**राम 'करइं' प्रतिपालन जग को** और (अ + इ = ऐ) सन्धि करके **राम 'करैं' प्रतिपालन जग को** में वर्त्तमान काल की क्रियाएँ हैं। **'करहि' विधाता** और **'करइ' विधाता** तथा **'करै' विधाता जग-विस्तार** में एकवचन है। अनुनासिक कर देने से बहुवचन हो जाता है। संस्कृत में 'न्' लगाकर बहुवचन होता है—'भवति'-'भवन्ति'। हिन्दी-संघ की विभिन्न भाषाओं में 'इ' को अनुनासिक 'इं' करके बहुवचन बनाते हैं। इसी में 'ह्' का आगम करके 'हि' और 'हिं' रूप हो जाते हैं। 'व्रजभाषा का व्याकरण' अब से लगभग पच्चीस वर्ष पहले मैंने लिखकर प्रकाशित कराया था। उसमें लिखा था कि 'हि'-'हिं' के 'ह्' का लोप करके 'इ-इँ' विभक्तियाँ हैं। परन्तु, 'हिन्दी-शब्दानुशासन' तथा 'भारतीय भाषाविज्ञान' लिखते समय अधिक ऊहापोह हुआ, जिससे स्पष्ट हुआ कि 'इ-इँ' में 'ह्' का आगम होकर 'हि-हिं' विभक्ति-रूप बने हैं; मूल रूप 'इ-इँ' हैं।

'भवति'-'भवन्ति' के 'ति'-'न्ति' से व्यंजन हटाकर स्वरमात्र लोकभाषाओं ने ले लिये और 'न्' को अनुनासिक रूप दे दिया। इस तरह 'इ' तथा 'इँ' विभक्ति-रूप एकवचन और बहुवचन में हुए। फिर, इनमें 'ह्' का आगम होकर 'हि-हिं' रूप।

लोकभाषाएँ प्राय: व्यंजन-लोप कर देती हैं। वैदिक भाषा में एक ताति (भाववाचक) प्रत्यय दिखाई देता है—**शिवताति:** जैसे प्रयोग होते थे। आगे चलकर संस्कृत ने 'ताति' के 'ति' का लोप करके 'ता'-मात्र प्रत्यय रखा—**'शिवता'**। अनेक लोकभाषाओं ने 'ताति' के 'ति' से व्यंजन हटाकर और स्वर दीर्घ करके अपना 'ताई' प्रत्यय बना लिया—**कासों कहौं निज 'मूरखताई'**। संस्कृत में **मूर्खता**। फिर, 'ताई' के 'ता' से भी व्यंजन-लोप करके 'आई' प्रत्यय—**सुघराई, चतुराई, ढिठाई** आदि। और, आगे चलकर 'आ' का भी वैकल्पिक लोप करके 'ई'-मात्र प्रत्यय—**सावधानी, होशियारी, चंटई** आदि।

सो, 'ति-न्ति' के व्यंजन का लोप करके 'इ-इँ' विभक्तियाँ बनीं। 'ह्' का आगम वैकल्पिक हुआ। 'और' पंजाबी में ('हौर' होकर) 'होर' हो गया है और 'एक' ('इक' होकर) 'हिक' हो गया। 'ह्' का लोप और आगम लोकभाषाओं में बहुत होता है।

ऊपर वर्त्तमान काल की 'इ-इँ' विभक्तियों की चर्चा हुई। विधि आदि प्रकट करने वाली 'इ'-'इँ' पृथक् हैं—छात्र अब **'पढैं' अपनो पाठ, छात्र अब 'पढ़ें' अपना पाठ** तथा **कोऊ 'पढ़ै' न गन्दी चीज,** पढ़े न आदि में विधि-आज्ञा आदि हैं। संस्कृत में 'इय्' का प्रयोग होता है। 'पठेत्' आदि में 'य्' का लोप है। लोकभाषाओं ने 'य्' को एकदम हटाकर 'इ'-मात्र को अपनी विभक्ति बना लिया। हिन्दी में **पढ़ + इ = 'पढ़े'** रूप; अन्यत्र पढ़ + **इ = 'पढ़ै'**। हिन्दी-संघ की कई भाषाओं में सन्धि विकल्प से होती है। कभी-कभी 'ह्' का आगम भी हो जाता है। बहुवचन में स्वर अनुनासिक हो जाता है। 'करहिं' आदि में अनुस्वार नहीं, अनुनासिक उच्चरित होता है।

वर्त्तमान काल की 'इ' विभक्ति हिन्दी (राष्ट्रभाषा) ने केवल एक धातु में ग्रहण की है—'ह' में। 'ह' सत्तार्थक धातु है; 'अस्' का वर्ण-व्यत्यय करके **'स् + अ'—'स'।** कुरु-जांगल (हरियाना) में **स + इ = 'सै'** होता है—**के करै सै।** कुरु-जनपद में 'स' को 'ह' करके **ह + इ = 'है'** रूप चलता है—**क्या करता है।** अनुनासिक रूप बहुवचन में 'हैं'। यहाँ अन्य किसी भी धातु में यह 'इ' प्रत्यय नहीं लगता। **करता है, पढ़ता है** आदि रूप वर्त्तमान के चलते हैं। 'होता है' में 'हो' धातु के साथ भी 'है' उसी 'ह' धातु का रूप है। 'भू' का रूपान्तर हिन्दी की 'हो' धातु है। प्राकृत में भी भवति > भोदि > 'होदि' देखा जाता है।

यही 'है' क्रिया हिन्दी-संघ की अन्य भाषाओं में भी चलती है; परन्तु 'सै' का 'छै' रूप राजस्थानी में तथा कई पर्वतीय भाषाओं में चलता है और सन्धि सर्वत्र अ + इ = 'ऐ' है—सै, है, छै। प्राकृतों में **अस्ति** को ही **अत्थि** आदि कर लिया गया है।

हमने 'अस्' का वर्ण-व्यत्यय से 'स' रूप माना है। वर्ण-व्यत्यय से लोकभाषाओं ने बहुत काम लिया है। संस्कृत की 'इन' विभक्ति का वर्ण-व्यत्यय से न + इ = 'ने' रूप हिन्दी में स्पष्ट है—

बालकेन **कथितम् : बालक ने कहा।**

\+ +

बालकेन **जलं पीतम् : बालक ने जल पिया।**

\+ +

देवेन **सुधा पीता : देव ने सुधा पी।**

\+ +

छात्रेण **कार्याणि कृतानि : छात्र ने कार्य किये।**

इसी तरह 'भिस्' के 'भ्' का लोप और वर्ण-व्यत्यय करके 'स् इ' रूप। 'इ' को 'ए' करके 'से' विभक्ति हिन्दी की अपनी है। इसके—

अस्माभिस्तत् **पातुं न शक्यते : हमसे वह न पिया जायगा ।**

\+ +

खड्गैस्तानि **शिरांसि छिन्नानि : तलवारों से वे सिर कट गये ।**

आदि बहुत उदाहरण हैं ।

अपादान में लगनेवाली 'से' विभक्ति 'भ्यस्' का रूपान्तर है । 'य्' को 'इ' (सम्प्रसारण) और शेष सब 'भिस्' > 'से' की तरह ।

सो, 'अस्' का वर्ण-व्यत्यय करके हिन्दी ने अपनी धातु बना ली—'स' > 'ह' । इसी 'ह्' से 'त' भूतकालिक प्रत्यय करके **हतो, हता,** हती रूप । 'हता' का वर्ण-व्यत्यय करके—'तहा' और 'त' के स्वर का लोप—त् + हा = 'था', 'थे' 'थी' ।

संज्ञा-सर्वनाम की 'इ'-'इँ' विभक्तियाँ

संज्ञा तथा सर्वनाम में लगनेवाली 'इ'–'इँ' विभक्तियाँ पृथक् हैं । अवधी तथा व्रजभाषा आदि में कर्म तथा सम्प्रदान में इनका खूब प्रयोग होता है; पर हिन्दी (राष्ट्र-भाषा) में संज्ञा के साथ नहीं, कुछ सर्वनामों के ही साथ इनका वैकल्पिक प्रयोग होता है—**इसे-इसको, उसे-उसको, इन्हें-इनको, तुम्हें-तुमको** आदि । व्रजभाषा आदि में 'ह्' का आगम भी हो जाता है—**तुमहिं, हरिहिं** आदि ।

इनका विकास संस्कृत **'नि'** विभक्ति से है । वनानि, धनानि आदि के रूप प्राकृत में **वनाइं, धनाइं** जैसे होते हैं—**'न्'** का लोप करके । यहीं से लोकभाषाओं ने 'इं' विभक्ति ले ली । 'ह्' के साथ—**आजु जो 'हरिहिं' न सस्त्र गहाऊँ; 'पूतनहिं' अपनो धाम दियो ।** कहीं निरनुनासिक प्रयोग भी होता है—**'तोहि' न लाज निगोड़े । 'मोहि' कम, 'मोहिं' अधिक चलता है ।**

वही 'नि' विभक्ति राजस्थानी में 'ने' बन गई है—**राम ने लाडू मिल्यो (राम को लड्डू मिला) ।**

कई भाषाविज्ञानियों ने राजस्थानी की इस (कर्म तथा सम्प्रदान में लगनेवाली) 'ने' विभक्ति को और हिन्दी (राष्ट्रभाषा) की (कर्त्ता कारक में लगनेवाली) 'ने' विभक्ति को एक ही समझ लिया है ! नमक ही कढ़ी में और नमक ही खीर में ! रंग-रूप एक है न !

वही 'नि' विभक्ति पंजाबी भाषा में 'नू' है; अनुनासिक रूप 'नूँ' भी बोलते हैं—**राम नूँ लड्डू दीता (राम को लड्डू दिया) ।**

कर्मकारक में—**राम नूँ वेख्या (पंजाबी); राम ने देख्यो (राजस्थानी) ।**

राम को देखा (हिन्दी); रामहिं देख्यो **(अन्य कई भाषाओं में) ।** 'रामहिं' में 'ह्' का आगम है ।

इस तरह, संक्षेप में यहाँ यह 'इ'-'इँ' की चर्चा प्रस्तुत की गई ।

●●

कनखल (हरद्वार)

'शाकुन्तल' की कुछ समस्याएँ

ज्यौतिषाचार्य पं० श्रीसूर्यनारायण व्यास

संस्कृत-साहित्य में ही नहीं, विश्व के नाट्य-साहित्य में शाकुन्तल का स्थान अद्वितीय है। कला की कमनीयता का जैसा सरस-मधुर-सुन्दर दर्शन शाकुन्तल में होता है, अन्य में नहीं। महाकवि 'गेटे' के शब्दों में 'स्वर्ग और मृत्युलोक की जैसी एकरूपता साध्य की गई है, वह अद्भुत है।' उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष का जैसा स्वाभाविक तादात्म्य शाकुन्तल में हुआ है, वैसी अन्यत्र कल्पना भी सम्भव नहीं। यद्यपि दुष्यन्त और शकुन्तला महाभारत में महर्षि व्यास की देन हैं और वे एक कथामात्र बनकर रह गये हैं। उस कथा में न तो मनोरमता है, न कोमलता ही; किन्तु कालिदास की रसस्यन्दिनी लेखनी ने उस कथा को सजीव-सप्राण और इतना आकर्षक बना दिया है कि उस लावण्यवती भुवनमोहिनी शकुन्तला को प्रत्यक्ष करने के लिए सारा मानव-समाज सतत उत्सुक बन गया है। शकुन्तला में कवि ने शब्द-देह द्वारा उसे साकार-सप्राण प्रस्तुत कर दिया है, जिसे देखकर रसविलास-मुग्ध मानव शतियों से अभिभूत होता चला आ रहा है, अपलक आँखों देखते रहने पर भी अतृप्ति अनुभव करता है।

शाकुन्तल की रचना को सर्वोत्तम मानकर भारत ने ही नहीं, भारतीयेतर देशों ने भी उसका समादर किया है, उसे अमर कृति स्वीकार किया है। विश्व-साहित्य में जिसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है, उस कृति के विषय में शंका उठाना अवश्य ही साहस करना होगा। किन्तु, जिज्ञासा और कुतूहल-शमन के लिए आवश्यक भी हो जाता है। मन में आशंका होती है कि क्या रससिद्ध कवि कोई भूल कर सकता है? अथवा हम 'भूल' समझने का दुस्साहस कर रहे हैं?

शाकुन्तल का महाकवि ऋषि-मुनियों का, आर्य-संस्कृति का प्रबल समर्थक रहा है। आश्रम और आश्रमवासियों के लिए उसके मन में परम निष्ठा रही है। कण्व के आश्रम के निकट पहुँचकर जब कवि का नायक दुष्यन्त मृगों के शिकार करने के लिए प्रत्यंचा खींचकर तीर चलाना ही चाहता है, तभी ऋषि-कुमारों के हाथ उठाकर मना करने पर कि ये 'आश्रममृग हैं, न मारें', उन साधारण ऋषि-कुमारों की अवज्ञा न कर वह मृगों को छोड़ देता है, आश्रम में पहुँचकर भी उस वातावरण के प्रति अपनी पुनीत भावना और आस्था बतलाता है; किन्तु फिर वही विकारवश हो आश्रमबाला कण्व की पालिता पुत्री शकुन्तला को ऋषि की अनुपस्थिति में सहसा 'पाणिगृहीता' बना लेने का दुस्साहस भी कर बैठता है। वह एक कामुक की तरह भय, संकोच और मर्यादा को भी तिलांजलि दे देता है। वहाँ उसका विवेक नष्ट हो जाता है। आश्रम के वातावरण में सहसा असंयम कर बैठता है।

जब देवी गौतमी और दो कण्व-शिष्यों के साथ शकुन्तला उसके दरबार में पहुँच जाती है, तब वही दुष्यन्त परमविवेकी बन चरित्रशीलता और परस्त्री के विषय में अनैतिक

भावना को मन में लाने से चौंकने का अभिनय भी करता है ! शकुन्तला को शाप से क्षण-भर के लिए न पहचानने की बात छोड़ भी दी जाय, तो जिस तरह के निर्विकार होने, चरित्रशील और विवेकी होने का प्रदर्शन वह करता है, वह कहाँतक ठीक है ? आश्रम के वासना-मलिन कामुक दुष्यन्त से, राजभवन का सम्राट् दुष्यन्त कहीं अधिक विरक्त प्रतीत होता है, क्या यह परस्पर-विरोधी नहीं है ?

इसी तरह वह दुष्यन्त परनारी के विषय में दुर्विचार मन में लाने से संकुचित होता है। शकुन्तला के रूप-लावण्य पर आकृष्ट होकर भी उसे (चाहे शापवश ही सही) परित्याग करने का साहस दिखलाता है। यह कैसी मर्यादाशीलता और नैतिकता का दाम्भिक प्रदर्शन है ? और, जो दुष्यन्त नारी के प्रति यह कहता हो कि **अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्** (पराई नारी की चर्चा करना भी उचित नहीं); वही दुष्यन्त आश्रमबाला शकुन्तला की ओर सहसा आकृष्ट हो जाता है। दुष्यन्त के इन दो रूपों (आश्रम के और राजभवन के) में कैसे सामंजस्य किया जा सकता है ?

इसके अतिरिक्त जो दुष्यन्त परनारी के प्रति देखना, उसकी चर्चा करना भी विवेकसंगत नहीं समझता, वही दुष्यन्त, शकुन्तला के राजमहल में पहुँचने पर समस्त नारी-जाति को अपमानित करनेवाली बात भी कह डालता है। वह देवी गौतमी को शकुन्तला के विषय में तथ्य सूचित करने पर भी अविश्वस्त समझ लेता है। एक तपःपूत आश्रमवासिनी गौतमी को भी वह विश्वासयोग्य नहीं मानता और शकुन्तला को भी 'पराये से गर्भ धारण करनेवाली' तक कह बैठता है और सारी स्त्री-जाति को धूर्त्त (**इदं तत्प्रत्युत्पन्नमतिस्त्रैणमिति यदुच्यते**) बतला देता है तथा 'अपना काम साध लेने-वाली ऐसी स्त्रियों की बेसिर-पैर की झूठी और मीठी बातों में केवल कामी लोग ही फँस जाते हैं' कहकर स्त्री-जाति की अवमानना भी कर देता है। हालाँकि, राजा से गौतमी यह कहती रह गई कि 'महाराज ! आपको ऐसी बातें नहीं करनी चाहिए, तपोवन में रहने-वाली यह कन्या छल-कपट क्या जाने ?' चाहे वह राजा शकुन्तला को शापवश भले ही न जाने, किन्तु एक तापसी देवी और आश्रमवासी शिष्यों के साथ आनेवाली युवती को, विशेष रूप से अपरिचितावस्था में, ऐसी बातों का एक विवेकी राजा द्वारा कहा जाना कहाँतक उचित हो सकता है ? और, विस्मय तो यह है कि जब शकुन्तला राजा को फटकार बतलाती है, तब वही दुष्यन्त, जो आश्रम में कामासक्त हो शकुन्तला का पाणि-ग्रहण—शीलहरण तक कर बैठता है, यह कहता है कि—'भद्रे ! दुष्यन्त का चरित्र तो सर्वत्र प्रसिद्ध है (**भद्रे ! प्रथितं दुष्यन्तस्य चरितम्**)। शाकुन्तल में ही दुष्यन्त का विलासी रूप देखकर कौन इसपर विश्वास करेगा कि 'दुष्यन्त का चरित्र प्रथित है !' स्पष्ट ही यह परस्पर-विरोधी बात है।

इसी तरह यह भी विचारणीय है कि जिन ऋषि-मुनियों को राजा बड़ी समादर-भावना से देखता है, उनके (कण्व मुनि के) दो शिष्यों के पहुँचने पर तथा शकुन्तला के विषय में सब कुछ कहने-सुनने पर भी वह विश्वास नहीं करना चाहता, उनके कथन को असत्य समझता है। इतना ही नहीं, उनको झिड़क भी देता है। जब राजा ने शकुन्तला

को स्वीकार करने से इनकार किया, तब शार्ङ्गरव ने राजा से ऋषि के अपमानित करने की बात बतलाई है—"आपको ऋषि का अपमान करना ही चाहिए; क्योंकि आपने उनकी कन्या को जबरदस्ती फुसलाकर उपयोग में लिया है। और, ऐसे अपराधी को ही वे कन्या दे रहे हैं : **कृताभिमर्शामनुमन्यमानः सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः** आदि ।

अन्तिम एक बात और है। शकुन्तला शापग्रस्त थी, शापवश राजा उसे विस्मृत कर सकता है। परन्तु, राजा के सतत साथ रहनेवाला, उसका नर्म-सचिव विदूषक तो अभिशप्त नहीं है? इतनी बड़ी घटना राजभवन में घटित हो और वह अनजान रहा हो, यह सम्भव नहीं। क्यों नहीं उसने (विदूषक ने) राजा को यह बतलाया कि आश्रम में आपकी शकुन्तला के प्रति आसक्ति थी और स्वयं आपने (राजा ने) मुझसे (विदूषक से) कहा भी था और यह घटना सही है। सब उलझन हो जाने, शकुन्तला को परित्यक्त कर देने तक विदूषक कैसे मौन रहा? यद्यपि कवि ने इस स्थल पर चतुराई से विदूषक को लुप्त कर दिया है। और फिर, अँगूठी मिल जाने पर वह राजा के संग दिखलाई पड़ने लगता है। यह भी एक समस्या ही है। ये ऐसी बातें हैं, जो शाकुन्तल में विचारणीय बन जाती हैं।

●●

भारती-भवन, उज्जैन

स्वराज्य

पं० श्रीमोहनलाल महतो 'वियोगी'

[गतांक का शेषांश]

परिवार

यह विषय बहुत ही व्यापक है। परिवार पर अच्छी तरह से लिखा जाय, तो विशाल ग्रन्थ लिखना पड़ेगा, अतः एक हल्की-सी झलक देना ही यहाँ सम्भव है। हमने पहले कहा है कि श्रेष्ठ व्यक्ति से श्रेष्ठ परिवार का गठन होता है। एक बात यह भी है कि श्रेष्ठ परिवार में श्रेष्ठ व्यक्ति के प्रकट होने की अधिक सम्भावना भी रहती है। परिवार बनाकर रहना या परिवार में रहना एक ही बात है। 'गृहस्थ' इसी को कहते हैं और संसार के सभी महापुरुष इसी आश्रम की देन हैं—भगवान् राम, भगवान् कृष्ण, भगवान् शंकर, भगवान् बुद्ध, राष्ट्रपिता गान्धीजी आदि-आदि प्रातःस्मरणीय देवता और देवतात्मा मानव। **अध्यात्मरामायण (सर्ग १)** में नारद ने भगवान् राम ने कहा था—इस त्रिलोक-रूपी गृह के आप गृहस्थ हैं—

लोकत्रयमहागेहे गृहस्थस्त्वमुदाहृतः ॥१२॥

गृहस्थों के लिए ही ऐश्वर्य चाहिए। गृहत्यागियों का काम तो एकमात्र ईश्वर से ही चलता है। भगवान् ऐश्वर्य के नाम पर 'दासता' करते हैं—

दासमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां तु करोम्यहम् । (महाभारत)

विभूति, भूति और ऐश्वर्य—ये एक ही हैं, जो अपने सामान्य अर्थ में गृहस्थी के लिए ही हैं। जीवन की तीनों अमूल्य निधियाँ—सद्भावना, चित्त की शान्ति और आत्मसुख—गृहस्थाश्रम में ही प्राप्त होती हैं। इन्हीं निधियों से सम्पन्न होने पर, इसी शरीर में 'निर्वाण' या 'मुक्ति' की ज्योति स्पष्ट होने लगती है। ऋषियों ने इन सारी बातों पर अच्छी तरह विचार करके श्रेष्ठ और श्रेयप्रदाता गृहस्थाश्रम का रूप स्थिर किया है—

ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण।
गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत्॥
इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः।
पूर्णा वमेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः॥
येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः॥
उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादु संमुदः।
अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन॥
उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
अथा अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः॥
सुनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः।
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन॥
इहैत स्त मानु गात विश्वारूपाणि पुष्यत।
ऐष्यामि भद्रेणा सह भूयांसो भवता मया॥

(अथर्व, ७।६०।१—७)

अर्थात्, हे वीर्य, धन, सम्पत्ति, मेधा, सुहृद्भाव और अच्छे मनवालो, आप सभी इन घरों में स्नेहपूर्वक पधारिए, झिझकिए मत। पधारनेवालों के लिए ये घर आरोग्यवर्द्धक, बलशाली, दुग्धवाले और श्रीमान् हैं। ये घर अमित धनवाले, मित्रों के साथ आमोद-प्रमोद करनेवाले और भूख-प्यास हरनेवाले हैं, अतः झिझकिए मत, पधारिए। गाय, बकरी, तरह-तरह के सरस अन्न हमारे घरों में भरे पड़े हैं। ये घर सत्यवानों, भाग्यवानों, धनियों, हँसमुखों और भूख-प्यास से रहितों के हैं, आप डरें मत! थके हुए जो पथिक इन घरों का स्मरण करते हैं, उन्हें ये घर अपनी ओर बुला लेते हैं। कहीं मत जाइए, यहीं रहिए। ये घर अनेक प्रकार से पोषण करनेवाले हैं। यहाँ ठहर जाइए। हम भी यहाँ सब प्रकार से सुखी हैं।

यह है आर्यों के घरों का वर्णन। 'पंच महायज्ञ' में अतिथि-सत्कार भी एक यज्ञ है। 'पंच महायज्ञ' तो प्रत्येक गृहस्थ को करना ही चाहिए। ऋग्वेद (१०।८५।४२) का ऋषि कहता है—

इहैवस्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥

अर्थात्, किसी से विरोध मत करो, गृहस्थाश्रम में रहो, पूर्ण आयु प्राप्त करो, पुत्र-पौत्रों के साथ खेलते हुए अपने ही घर में रहो और घर को आदर्श-रूप बनाओ।

ऊखल, सिलबट्टे, चक्की, वस्तुओं का रखना-उठाना, गाय दुहना, दूध से मक्खन निकालना आदि कार्यों की हलचल घर की शोभा है। राँधने-पकाने में लगी हुई गृहदेवियाँ, अतिथि-सत्कार, अग्निहोत्रादि पंच-महायज्ञ में लगे हुए कमाऊ, उद्यमी, वीर्यवान् पुरुष—यही घर, परिवार और समाज का स्वर्ग है।[1]

अथर्व (३।३०) के ऋषि की कामना है—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जायापत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तियाम् ।।२।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।।३।।

अर्थात्, "पुत्र पिता का आज्ञाकारी और माता का इच्छाकारी हो तथा स्त्री मधुर और शान्त वाणी में सम्भाषण करे। न तो भाई का भाई से द्वेष हो और न बहन की बहन से ईर्ष्या। सब अपने-अपने व्रत, अर्थात् मर्यादा में रहकर आपस में भद्र व्यवहार रखें।" सभी सुखी रहें—माता, पिता, भाई, पत्नी, पुत्र, पौत्र, गृहवृद्ध जैसे पितामह, मातामह, मातामही। स्नेही, मित्र, नातेदार, नौकर, कुत्त , पशु, पड़ोसी आदि भी सुखी रहें, यही सद्गृहस्थ की शुद्ध कामना है। वेदों[2] में ऐसे मन्त्रों की कभी नहीं है, जिनसे आर्यों के आदर्श गृहजीवन का स्पष्ट दर्शन होता है। संक्षेप में यही गृहस्थाश्रम का वर्णन है। एक श्रेष्ठ पुरुष द्वारा गठित परिवार स्वभावतः विकासोन्मुख होगा। और, ऐसे श्रेष्ठ परिवारों से जो समाज बनेगा, वह भी आदर्श समाज कहा जायगा। द्रव्य का गुण उसके प्रत्येक अंश में होता ही है। उद्योगप्रधान समाज से ही राष्ट्र का सर्वांगीण विकास होता है। अग्निदेव से प्रार्थना की गई है—

कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे। (ऐतरेय ब्राह्मण, २।२)

अर्थात्, 'हे अग्निदेव, हमें उद्योगशील जीवन के लिए समुन्नत कीजिए।' यहाँ इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि 'अग्नि' की खोज हो जाने के बाद से ही मानव-समाज में अशेष विकास आया। तत्त्व के रूप में हमारे भीतर जो अग्नि है, वह हमारे जीवन को सजग बनाये हुए है[3] और जो अग्नि बाहर है, वह सभी प्रकार की भौतिक उन्नतियों का कारण-रूप है। अग्नि तेज के रूप में ईश्वर का सबसे दिव्य प्रतीक है। अग्निदेव की उपासना तेजोमय पुरुष को अपने सामने मानकर करते हैं।[4] यही कारण है कि उद्योगशील जीवन के लिए ऐतरेय ब्राह्मण के ऋषि ने अग्नि से ही प्रार्थना की है, जो अत्यन्त वैज्ञानिक तथ्यों पर आधृत है।

---

१. ऋग्वेद, १।२८; अथर्व, ९९ । ५५ । ३—४; १४।२।४३; ६।५।३०; १६।६२।१; यजु० १८।४१।

२. ऋग्वेद, ७।५५।५; १०।७१।१० ; यजु० १९; १६।४६; अथर्व, ६।५।३०; १६।६२।१; ३।३०।६; ३।३०।१।

३. 'अथ यः पुरुषः सोऽग्निर्वैश्वानरः।' (मैत्रायणी उपनिषद्) तथा यजुर्वेद, अ० १२।३७; ऋग्वेद, १।७० ।२; १०।३०।४; श० ब्रा० ४।

४. संहिताओं में अग्नि-सम्बन्धी २५०० मन्त्र आये हैं। अग्नि पुरुष-शक्ति (वैश्वानरः) है; धन-विजयी (धनञ्जयः) है; ज्ञानोत्पादक (जातवेदाः) है; शरीररक्षक (तनूनपात्) है। अग्नि के सभी रूप विज्ञान-सिद्ध हैं। —ले०

समाज

व्यक्ति से परिवार और परिवार से समाज की ओर जाते हुए आर्यों को कितने मोड़ों से होकर गुजरना पड़ा होगा, यह समाजशास्त्री जानें; किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि अनेक विचारों और आचारोंवाले परिवारों को 'समाज' के संगठन में लानेवाले संयोजक कारण असाधारण रहे होंगे। बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्ति अथवा परिवार के अचेतन (unconscious) अनुकूलन को हम 'सात्म्यीकरण' शब्द से जानेंगे। दो संस्कृतियों अथवा दो प्रकार के समूह एक दूसरे से मिल जाते हैं, तो निश्चय ही एक नई व्यवस्था का क्रम से उदय होता है। एक नया वातावरण बनता है; किन्तु मानव-सभ्यता के विकास के इतिहास में ऐसा होता ही रहा है। सोचना यह है कि परिवारों के मिलने से जो समाज किसी युग में बना, उसमें बाह्य बहुरूपता के भीतर 'सात्म्यीकरण' की अचेतन शक्ति तो होगी ही, जिसने कार्य और परिणाम के आधार पर बहुत-से रंग-विरंगे परिवारों को एक सूत्र में पिरो दिया। हाँ, तो वह सूत्र कौन-सा था ?

साधारण दृष्टि से विचार करें, तो यह स्पष्ट होता है कि 'उदार भावना' ही एक ऐसी शक्ति है, जो सबको समेटकर एक स्थान पर जमा कर दे सकती है। उदार भावना से ही प्रेम और अपनापन पैदा होता है तथा 'तोड़नेवाली' प्रवृत्तियों की एक नहीं चलती। वे अचेत बनी रहती हैं। जैसा हमने कहा है, ऋषियों ने संकीर्णता के विरोध में बहुत कुछ प्रयास किया है और व्यक्ति में उदार भावना की स्थापना करके उसे परिवार से समाज तक पहुँचा दिया। यही कारण है कि प्रारम्भ में हमने जो मन्त्र (**आ यद्वामीयचक्षसा......**) उपस्थित किया है, उसमें स्वराज्य की पूर्णता के लिए 'व्यापक दृष्टि रखनेवालों' का स्मरण किया है। 'व्यापक दृष्टि' स्वयं व्यापक अर्थसम्पन्न है; किन्तु यह उदार दृष्टि 'उदार भावना' का बोधक भी है।

और बातों पर विचार न करके साधारण प्रश्नों को ही लेना अच्छा होगा। यह तो स्पष्ट हो चुका कि सबके लिए सबको सोचने और काम करने की प्रेरणा वेदों के ऋषि देते हैं; क्योंकि वे जानते थे कि दरिद्रता सुन्दर या ग्राह्य नहीं होती। वह भयानक है और उसका अन्त होना चाहिए। किन्तु, यह तभी सम्भव है, जब समाज का प्रत्येक सदस्य शुभ संकल्प प्राप्त करने के लिए सर्वथा अविचल बना रहे और उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जीवन की ओर अग्रसर हो। यजुर्वेद (२४।१४) का ऋषि कहता है—

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।

अर्थात्, हमें ऐसे शुभ संकल्प प्राप्त हों, जो सर्वथा अविचल हों, जिनको साधारण मनुष्य नहीं समझते और जो हमें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जीवन की ओर ले जानेवाले हों।

यह शुभ संकल्प, समाज की उन्नति की दृष्टि से, क्या है, यह यजुर्वेद (४०।२) का ऋषि स्पष्ट करता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

अर्थात्, मनुष्य अपने कर्त्तव्य कर्मों को करता हुआ ही पूर्ण आयु-पर्यन्त जीने की इच्छा करे। उसका कल्याण कर्त्तव्य कर्म छोड़कर भागने में नहीं है। कर्म-बन्धन से बचने का यही एकमात्र उपाय है।[१] पौरुष और श्रेष्ठत्व कर्म में ही निहित है।

ठीक इसके विपरीत है—**न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः** (ऋग्वेद, ४।३३।११), जो श्रम नहीं करता, आलसी है, उसके साथ देवता मित्रता नहीं करते। स्पष्ट है कि—

यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत्। (ऋग्वेद, ५।४४।८)

मनुष्य अपने ध्येय को श्रम से और तप से ही प्राप्त करता है। इस मन्त्र में 'तप' शब्द आया है। संकल्प और व्रतपूर्वक जिस शुभ कर्म को पूर्ण श्रद्धा-सहित अविचल भाव से किया जाय, वही 'तप' है।

यह ऋग्वेद (१०।५९।१) के इस मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है : **प्रतार्यायुः प्रतरं नवीयः**। हम नवीन से नवीनतर और उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर जीवन की ओर बढ़ें। ऐतरेय ब्राह्मण (७।३।५) में इन्द्र और रोहित-संवाद (**चरैवेति...**) आया है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि जो श्रम नहीं करता, उद्यमी नहीं है, गतिशील नहीं है, वह निकम्मा है; क्योंकि—

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ॥३॥

अर्थात्, बैठे हुए का भाग्य बैठा रहता है, खड़े हुए का खड़ा रहता है, पड़े रहनेवाले का सो जाता है और चलनेवाले का सौभाग्य चलता रहता है, गतिशील रहता है। अतः, 'चरैवेति, चरैवेति'।[२]

कर्म के सम्बन्ध में तो यहाँतक कहा गया है कि जो कुछ करना हो, तुरन्त आरम्भ कर दो, टालो मत, आलस्य मत करो; क्योंकि—

अद्धा हि तद् यदद्य। अनद्धा हि तद् यच्छ्वः॥

(शत० ब्रा० २।३।१।२८)

अर्थात्, जो आज है, वह निश्चित है और जो कल होगा, वह अनिश्चित।

श्रम पर आधृत समाज दरिद्रता से मुक्त रहता है। दरिद्रता ही अनेक विनाशक दोषों की जननी है : **अशनाया वै पाप्मा मतिः**, ऐसा ऋषि का वचन है (**ऐतरेय ब्राह्मण, २।२**)। दरिद्रता पापों को बल देती है, बुद्धि को नष्ट कर डालती है। जिस समाज में भुखमरी हो, भूखे हों, वह समाज कलह, बुराइयों और विरोधी तत्त्वों से भर जाता है। इसीलिए, महर्षि सायणाचार्य ने ऋग्वेद के रु शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—**बुभुक्षमाणः रुद्ररूपेण अर्वातिष्ठते** (ये भुखमरे ही रुद्रावतार हैं)। 'शिव' का ग्यारहवाँ रूप 'रुद्र' है, जो महाभयानक है। यही रूप 'महाकाल' है। भूखे रुद्रावतार इसलिए माने गये हैं कि इनके भीतर विनाशक तत्त्वों की प्रबलता होती है। सभी तरह से 'क्षीण' होने पर मानव मानव नहीं रह जाता, दानव बन जाता है। दरिद्रता से कहा गया है कि मनुष्य पुरुषार्थ से तेरा नाश

---

१. 'गीता' में भी भगवान् का यही आदेश है।—अ० २, श्लो० ४७।

२. विशेष जानकारी के लिए : ऐतरेय ब्राह्मण, ६।१८; ४।१३; १।१५; २।१५ आदि।

करेंगे (**ऋग्वेद, मं० १०।१५५**)। पुरुषार्थप्रधान समाज ही आदर्श समाज है। महाभारत (**उद्योगपर्व, ३६।३१**) के अनुसार जो कृषिकर्म नहीं करता, उद्योगी नहीं है, ठलुआ है, वह 'समिति' में नहीं बैठ सकता। पुरुषार्थी ही 'समिति' में बैठने का, सम्मान प्राप्त करने का अधिकारी है—**न नः समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत्कृषिम्** ।।

यहाँ कृषि शब्द से उद्योग, व्यापार आदि का भी बोध होता है। कृषिप्रधान देश होने के कारण 'कृषि' शब्द को महत्त्व दिया गया।[1] कृषि शब्द अपने सामान्य अर्थ को धारण करने के अतिरिक्त विशेष अर्थ को भी धारण करता है।

श्री से ही राष्ट्र चलता है— **श्रीर्वै राष्ट्रम्** (**शत० ब्रा० ६।७।३७**)। 'राष्ट्र' तो समाजों का गठित रूप है। स्वतः राष्ट्र **विकल्प** है। योगसूत्र (**१।९**) के अनुसार, **शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः** कहना होगा। समाज ही अभ्युदय, श्रेय और सिद्धि देनेवाला है या यों कहिए कि समाज के भीतर ही वे सारे गुण तत्त्वरूप में निहित हैं, जो समष्टि को विकास की ओर ले जाते हैं। आगे कहा जा चुका है कि प्रजा ('विश्') ही राष्ट्र है। व्यक्ति किस प्रकार अपने पराक्रम से समाज को उन्नत करता है और देश ऊपर उठ जाता है, इसका एक उदाहरण—

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम ।। (**ऋग्वेद, ९।११२।३**)

ऋग्वेद का यह मन्त्रद्रष्टा ऋषि अपने विषय में कहता है—"मैं बढ़ई हूँ, मेरा पिता वैद्य है, माता चक्की पीसती है, इस प्रकार विविध बुद्धि और कला-कुशलतावाले हम लोगों में सब हैं।" यह एक चमत्कारपूर्ण वर्णन है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि बढ़ई का काम करता है, समय का उपयोग समाज की उन्नति के लिए करता है, उसका पिता रोग-निवारण के कार्य में लगा है और माता, वह न तो मन्त्रद्रष्टा है और न विद्वान्, अतः स्त्रियों का प्रमुख कर्म चक्की चलाकर अर्जन करना है। सभी किसी-न-किसी उद्योग में लगे नजर आते हैं। सभी सब तरह के कार्य करते हैं, कोई हाथ-पर-हाथ धरे नहीं बैठा है। इसी तरह परिवार और समाज उन्नति-पथ पर अग्रसर होता है, 'स्वराज्य' सर्वांगपूर्ण बनकर स्थायित्व प्राप्त कर लेता है। सामवेद-संहिता (**उ० ३।१।६**) का मन्त्र है : **जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविः** (जागरूक व्यक्ति ही जनता की रक्षा कर सकता है)। यह एक महत्त्वपूर्ण वैदिक घोषणा है।

यजुर्वेद (**५।२४**) का एक मन्त्र हम उपस्थित करते हैं—

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा ।
जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा ।।

इस मन्त्र में चार प्रकार के राज्यों और उनके मुख्य गुणों का वर्णन है। **स्वराज्य** शत्रुओं का मारनेवाला है, **सत्रराज्य** अभिमानियों का मद हरण करनेवाला है, **जनराज्य** दुष्टों का नाश कर देता है और **सर्वराज्य** अमित्रों का उच्छेद कर देता है।

१. 'अन्नं वै विशः।'—शत० ब्रा०, ६।७।३।७।

स्वराज्य, सत्रराज्य, जनराज्य और सर्वराज्य—इन राज्यों पर अलग-अलग विचार करने से विषय इतना विस्तृत हो जायगा कि उसको समेटकर लेख को सीमित आकार देना सम्भव नहीं। सर्वराज्य, अर्थात् सार्वभौमराज्य की ओर यजुर्वेद के ऋषि का विशेष आकर्षण जान पड़ता है। वह जानता था कि खण्डराज्यों से तरह-तरह के उत्पातों को सिर उठाने की प्रेरणा मिलती रहती है, जिसका असर जन-जीवन पर पड़े बिना नहीं रहता, वह अस्तव्यस्त हो जाता है और स्वतन्त्रता का असली उद्देश्य खतरे में पड़ा रहता है।

हमारा यह विषय नहीं है कि प्राचीन भारत के राज्यों का विवेचन करें। हम तो यही निवेदन करना चाहते थे कि श्रेष्ठ व्यक्ति से श्रेष्ठ परिवार बनेगा, श्रेष्ठ परिवारों के गठन से श्रेष्ठ समाज बन जायगा और श्रेष्ठ समाजों के भीतर से 'स्वराज्य' प्रकट होगा। निश्चय ही बहुत ऊँची और गौरवपूर्ण स्थिति प्राप्त कर लेने के साथ ही बन्धनों में भी वृद्धि हो जाती है। ऐसे बन्धनों का नाम है 'अनुशासन'—भीतर और बाहर दोनों ओर अनुशासित। बुद्धदेव इसी को 'शील' कहते थे। उन्होंने कहा है—शील-प्रक्षालित प्रज्ञा है और प्रज्ञा-प्रक्षालित शील (**सोणदण्डसुत्त १**)। प्रज्ञा—स्थिर बुद्धि से प्रक्षालित शील ही वह अनुशासन है, जो जीवन को बन्धनों (भव-बन्धन और विभव-बन्धन) से मुक्त रखकर शाश्वत शान्ति प्रदान करता है। आर्य विचारकों ने शील (अनुशासन) और प्रज्ञा (स्थिर बुद्धि, प्रतिष्ठित बुद्धि) को बहुत महत्त्व दिया है (**सामण्डकसुत्त, ३७ और निष्पानसुत्त, ३७।१**)। इन्द्रियों में संयम, भोजन और उसकी मात्रा में संयम तथा जागरणशीलता ये तीन धर्म के सर्वोत्तम अंग हैं (**संयुत्तनिकाय, रतसुत्त, ३४।४।४।२**)। एक स्वतन्त्र समुदाय, जो पूर्णतः अपना स्वामी है, अजेय बल धारण करता है। वह यदि संयमशील नहीं होगा, तो न केवल दूसरे का ही अहित करेगा, बल्कि अपना नाश भी कर डालेगा।[1] जिस स्थिति में भी हम रहें, उस स्थिति का सम्यक् रीति से, अपने हित में उपयोग करना ही बुद्धि की विलक्षणता है। कोई भी स्थिति ऐसी नहीं है, जो आद्यन्त बुरी ही हो या अच्छी हो। गुण और दोषों का समवायी सम्बन्ध रहता है।

स्वराज्य-प्राप्त समुदाय अधिकाधिक उत्तरदायित्व के भार को वहन करता है और उत्तरदायित्वों का पालन करना, वह भी उदार बुद्धि से, पवित्र मन से, निष्ठापूर्वक बहुत बड़ा 'यज्ञ' है, बहुत बड़ी तपस्या है।

ऋषियों ने अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है कि पराश्रित समुदाय और आत्माश्रित समुदाय में बहुत अन्तर होता है। पराश्रित (गुलाम) समुदाय उच्छृंखल हो सकता है, बेतुका हो सकता है; किन्तु आत्माश्रित समुदाय तो उपर्युक्त तीनों धर्मों का पालन शील-प्रक्षालित प्रज्ञा के साथ करेगा ही। यदि ऐसा नहीं करता, तो वह फिर 'पराश्रित' बनकर बरबाद हो जायगा। जो जितना अपने ऊपर शासन करता है, वह उतना ही 'स्वशासित' होता है। जितने अंश में हम अपने ऊपर शासन नहीं करते, उतने ही अंश में 'दास' होते हैं, दूसरों की दया का गुलाम बने रहते हैं।

---

१. 'आचारहीनं न पुनन्तु वेदाः।'—वसिष्ठसंहिता।

यजुर्वेद के कुछ मन्त्र यहाँ उद्धृत करके इस विषय का, इस लेख का अन्त करते हैं। इन मन्त्रों में 'स्वराज्य' के बाद समाज का क्या कर्त्तव्य होता है, उसपर प्रकाश डाला गया है—

प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम् ।
ये विश्वाः परिद्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ॥ (४।२९)

अर्थात्, पुरुषार्थी होकर हमलोग (येन) जिस मार्ग से विद्वान् मनुष्य (विश्वाः) सब (द्विषः) शत्रु-सेना या दुःख देनेवाली भोग-क्रियाओं को (परिवृणक्ति) सब प्रकार से दूर करता है और (वसु) सुखी करनेवाले धन को (विन्दते) प्राप्त करता है, उस (अनेहसम्) हिंसा-रहित (स्वस्तिगाम्) सुखपूर्वक जानने योग्य (पन्थाम्) मार्ग को (प्रत्यपद्महि) प्रत्यक्ष प्राप्त हों। (टीका की भाषा उसी तरह की है, जिससे मन्त्र का एक-एक अंश ज्यों-का-त्यों स्पष्ट हो जाय) मन्त्र से आभास मिलता है कि पूर्वजों के मार्ग पर चलने की ओर प्रेरित किया गया है।

बुरी बातों, यानी परिणाम में अशुभ बातों से यदि बचा न गया, तो वे व्यक्ति से परिवार और परिवार से समाज तक को विषाक्त कर डालें, तो आश्चर्य की बात नहीं— क्रिया के बाद प्रतिक्रिया और प्रतिक्रिया से क्रिया, ऐसा दुष्टचक्र बन जायगा कि उससे त्राण पाना कभी सम्भव न होगा।

●●

आर ब्लॉक, पटना—१

केरल की परम्परागत शस्त्रव्यायाम-शिक्षा

डॉ० श्रीविश्वनाथ अय्यर

[प्राकृतिक सौन्दर्य में ही नहीं, ऐतिहासिक गौरव में भी केरल भारत के प्रान्तों में अन्यतम है। मेवाड़-मारवाड़ के समान यहाँ भी अनेक वीर हुए हैं। इन वीरों का प्रशिक्षण केरल की परम्परागत व्यायामशाला 'कळरि' में होता था। केरल में, खासकर उत्तर केरल में गाँव-गाँव में कलरियाँ थीं। अब कलरियों की प्रशिक्षण-कला तेजी से नष्ट होती जा रही है। अतएव, इनके उद्धार में कुछ संस्थाएँ तथा व्यक्ति तन-मन से लगे हैं। 'केरल कळरिप्पयट्टु संघम्' (केरल शस्त्रव्यायाम-शिक्षा-संघ) जिला और प्रदेश के स्तर पर प्रतियोगिताएँ चलाकर छात्रों को प्रोत्साहन देता है। इस लेख की सामग्री के संकलन में श्रीगोविन्दन कुट्टिनायर ने सहायता दी है, जिसके लिए लेखक उनका आभारी है। — ले०]

प्राचीन ग्रन्थों से पता चलता है कि अर्जुन और भीम दोनों भाई शस्त्रविद्याओं के पारंगत थे। वे धनुष तथा गदा के प्रयोग में अद्भुत क्षमता रखते थे। इतिहासकार सप्रमाण बतला सकते हैं कि यहाँ कितने बड़े पैमाने पर तीर, धनुष और गदा का प्रयोग संग्रामों में होता था। राजस्थान के विधर्मी विदेशियों और पड़ोसी प्रतिद्वन्द्वी भूपतियों से बल्लम-भाला तथा तलवार-ढाल से ही बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ते थे। राणा साँगा के बल्लम और प्रताप के भाले की नोंकों से ही मेवाड़ की वीरगाथा समस्त पृथ्वी के पट्ट पर लिख दी गई है। इसी तरह कटार-भाले के प्रयोग में दक्ष मराठे शिवाजी के नेतृत्व में औरंगजेब की असंख्य सेना के छक्के छुड़ाते रहे थे। उस काल में सम्पूर्ण भारत के गाँव-गाँव में अस्त्र-शस्त्रों के सफल प्रयोग का प्रशिक्षण युवकों को निरन्तर मिलता रहता था।

नवीन युद्ध-प्रणालियों के विशेषज्ञ प्राचीन भारतीय शस्त्रों को चाहे कितना भी बेकार मानें, सामूहिक उत्पात, डाकू-बटमार आदि सामाजिक अपराधियों के आक्रमण-काल में प्राचीन शस्त्रशिक्षा अत्यन्त उपयोगी प्रमाणित हो सकती है। जबतक भुजाओं में शक्ति एवं हृदय में आत्मविश्वास न हो, तबतक किसी भी आदमी के लिए निडर नागरिक बनकर किसी भी विकट परिस्थिति का सामना करना अत्यन्त कठिन होता है। इसलिए, वर्त्तमान सामरिक पृष्ठभूमि में हमारी परम्परागत व्यायाम-शिक्षा का उद्धार और प्रचार अत्यन्त आवश्यक है। इस भूमिका में केरल की पुरानी शस्त्रव्यायाम-शिक्षा का महत्त्व उल्लेखनीय है।

अंकम् (एक प्रकार का द्वन्द्व)

'कळरिप्पयट्टु' यानी प्राचीन केरलीय शस्त्रव्यायाम-शिक्षा पर लिखने के पहले केरल की एक विशेष युद्धशैली 'अंकम्' पर कुछ बातें बतलाना जरूरी है। प्राचीन केरल में दो व्यक्तियों या दलों का आपसी मतभेद समाप्त करने का अन्तिम उपाय 'अंकम्' था।

गाँव या नगर के मुखिया आदि के निर्णय से सन्तुष्ट न होनेवाले वादी-प्रतिवादी 'अंकम्' के लिए तैयार होते थे। अंकम् की लड़ाई कई अंगों की रहती थी। इसमें द्वन्द्वयुद्ध, तलवार, भाले, कटार आदि का प्रयोग विशद प्रणाली द्वारा होता था। जो सज्जन आपस में 'अंकम्' लड़ने का निर्णय करते, वे शासक, नगर के प्रधान, गाँव के मुखिया आदि को पहले से सूचना देते थे। यह सूचना अनिवार्य थी। वे युद्धकला में कुशल वीरों को अपने-अपने प्रतिनिधि के रूप में लड़ने के लिए चुन लेते थे। ये वीर मलयालम में 'चेकोन' कहलाते थे।

चेकोन व्यावसायिक वीर योद्धा होते थे और 'अंकम्' का निमन्त्रण पाने पर इनकार करना इनके लिए कलंक माना जाता था। लड़ाई में योद्धा की मृत्यु का भी खतरा रहता था। इसलिए, युद्ध करानेवाले सज्जन को पहले से रुपयों की तीन थैलियाँ लड़नेवाले आदमी की सेवा में प्रस्तुत करनी पड़ती थीं। इनमें एक थैली योद्धा के लिए, दूसरी, लड़ाई के खर्च के लिए और तीसरी, योद्धा के बंधुजनों के लिए होती थी। 'अंकम्' की लड़ाई पूर्णतः धर्मयुद्ध के नियमों के अनुसार चलती थी। 'अंकम्' के अलावा 'पोय्त्तु' नामक युद्ध-प्रणाली भी थी। इन विविध प्रणालियों में केरलीय प्राचीन शस्त्रों का ही प्रयोग होता था। वीरों के परस्पर मतभेद और विद्वेष की पूर्णाहुति प्रायः 'अंकम्' या 'पोय्त्तु' में होती थी। केरल को जब फिरंगियों से अविरत संघर्ष में लगना पड़ा, तब 'अंकम्' और 'पोय्त्तु' की प्रथा प्रायः बन्द होने लगी। उस युग के केरलीय वीरों में 'पुत्तूरम्' के आरोमल च्चेकवर, चेरिय आरोमुण्णि, पालाट्टु कोमन, तच्चोल्लि ओतेनन, कुञ्ञिच्चन्तु, उण्णियाच्चा (स्त्री) आदि की वीरगाथाएँ 'वटक्कन पाट्टुकळ्' (उत्तरी मलाबार के गीत) के नाम से गाँवों में प्रसिद्ध रही हैं। इन गीतों की एक विशेष धुन होती है। वटक्कन पाट्टुकल् का युग १३वीं से १७वीं शती तक का है। इन गीतों में प्रायः 'कळरि' के सारे प्रयोगों तथा दाँवों की चर्चा आती है।

जनश्रुति पर आधृत 'केरलोत्पत्ति' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि केरल के भिन्न-भिन्न १०८ स्थानों पर कलरियों तथा उनकी देवियों की स्थापना परशुराम ने की थी। 'कळरि' का अर्थ है—शस्त्र-शिक्षा का भवन। यहाँ का पयट्टु या प्रशिक्षण ही 'कळरिप्पयट्टु' कहलाता है। कळरि के गुरुदेव मलयालम में 'पणिक्कर' कहे जाते थे, और कहीं 'कुरुप' कहलाते थे। केरल के उत्तरी खंड मलाबार में ही कलरियाँ अधिक चलती आई हैं। सात बरस की उम्र में कळरि की शिक्षा शुरू की जाती है। यह बारहों महीने सीखने की विद्या नहीं है; जुलाई से नवम्बर तक, अर्थात् मद्धिम तापमान के दिनों में सीखने योग्य होती है। कड़ जाड़े में या भीषण गरमियों में शरीर के पुट्ठे लचीले नहीं रहते। उन दिनों कळरि का व्यायाम शरीर को अत्यधिक परिश्रम और कष्ट दे सकता है। इस व्यायाम-विद्या की खूबी यह है कि कुछ महीनों तक व्यायाम की आदत छोड़ने पर भी कोई बुरी प्रतिक्रिया नहीं होती। दुबारा शुरू करने पर थोड़े दिनों के बाद पहले की-सी सरलता व्यायाम में अनुभव होने लगती है। कळरि के छात्र प्रतिवर्ष के मौसम में शिक्षा पाते हैं। यह वर्षों तक सीखने और अभ्यास करने योग्य विद्या है।

व्यायामशाला (कळरि)

आइए, केरलीय व्यायाम-विद्या के एक भवन में चलिए । सामने जो चौकोर पर्ण-शाला-सी छोटी इमारत दीखती है, वही 'कळरि' है । प्राचीन रूढि और नियमावलि के अनुसार यह भवन बनाया गया है । मिट्टी की दीवारें हैं, नारियल या ताड़ के पत्तों से ढकी हुई छत । यह छत गरमी के आघात से कळरिवालों को बचाती है । चौकोर मण्डप की कलरियाँ साधारणतः ४२ कदम (३५ फुट) लम्बी, १७ फुट चौड़ी और १७ फुट गहरी हैं। फर्श पर लाल चिकनी मिट्टी बिछी है । 'कळरि' का चौकोर कमरा पूरब की तरफ खुला है। इसका दक्खिन-पच्छिमी कोना पूत्तरा (पूजास्थान) कहा जाता है । यहाँ अर्द्धवृत्ताकार सात सीढ़ियाँ हैं । ऊपरी सातवीं सीढ़ी पर दीखनेवाला मुकुटस्थान कळरि के देवता का आवाहन-स्थान है। कळरि के देवता हैं 'आयुधभरव' एवं 'आयुधभैरवी' । पूत्तरा के उत्तरी पार्श्व में नाग-संकल्प है, आगे उत्तर में गणपति-संकल्प होता है । पच्छिमी दिशा में यानी पच्छिमी भाग के ठीक बीच में गुरु-संकल्प है । जनश्रुति के अनुसार, परशुरामजी ने २१ गुरुओं को शस्त्रविद्या का आचार्यत्व दिया था । उत्तरी कोने में 'अन्तिवील' नामक उपदेवता का स्थान है । उत्तर-पूर्वी दिशा भद्रकाली देवी की है, तो दक्षिण-पूर्व स्थान पर 'वेट्टक्करुमकन' नामक किरातमूर्त्ति का 'संकल्प' है । पच्छिमी भाग के 'गुरु-संकल्प' के पास शस्त्र रखे हुए हैं । कळरि के दो भेद थे—प्रशिक्षण की व्यायामशाला (पयट्टुकळरि) एवं प्रतियोगिता या प्रदर्शन की व्यायामशाला (अंकंवेट्टुकळरि) दूसरे ढंग की व्यायामशाला का विस्तार पहले ढंग की व्यायामशाला के विस्तार से कहीं अधिक होता है । दूसरे ढंग की विराट् व्यायामशालाएँ अब अत्यन्त दुर्लभ हैं । प्रशिक्षण की व्यायामशालाओं की संख्या भी समय के फेर से घटती जा रही है, जो दुःख की बात है किन्तु, आज स्व० वीरश्री सी० वी० नारायणन् नायर की स्मृति में स्थापित 'सी० वी० एन्० कळरिसंघम्' इस प्राचीन विद्या के पुनर्जागरण के लिए कठिन प्रयत्न कर आ रहा है । नायरजी के सुपुत्र श्री सी० एन्० गोविन्दन कुट्टिनायर अब भी इस विद्या के प्रसार में बड़े प्रयत्नशील हैं । शस्त्रविद्या एवं व्यायाम कळरि के देवी-देवता एवं गुरुदेव की कृपा के विना सफलता से नहीं सीखे जा सकते । अतएव, इन सबकी वन्दना करके विद्या प्रारम्भ की जाती है । शरीर के सारे मर्मों और विद्याओं का ज्ञान रहस्यमय है गुरुदेव ही उसे सिखा सकते हैं । इसलिए, छात्र उनके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते हैं ।

प्रथम सीढ़ी : शरीर की तैयारी (मेय्यिरक्कम्)

पयट्टु की प्रथम सीढ़ी शारीरिक व्यायाम की है । इसे मलयालम में 'मेय्यिरक्कम्' (मेय = शरीर + इरक्कम् = लाघव) कहा जाता है । शरीर के अंग-अंग, नस-नस को पुट्ठे-पुट्ठे को अपनी इच्छा के अनुसार चलाने की कला पयट्टु के लिए अनिवार्य है । जब तक हाथ-पाँव और दूसरे अंग साँप के बदन के समान इच्छानुसार घूमने-फिरने, उछलने कूदने और झुकने-तनने में कुशल नहीं बनते, तबतक शस्त्र-प्रयोग में सफलता मिलना सम्भव नहीं । शरीर के अंगों की लघुता सिर्फ कसरत करते-करते अपने-आप नहीं आ जाती

छात्र को पहले बदन की मालिश करानी होती है। मालिश को मलयालम में 'उषिच्चिल्' कहते हैं।

उषिच्चिल् के लिए कळरि के गुरु खास प्रकार का उबटन तैयार कर लेते हैं। वे छात्र के पूरे बदन पर उबटन खूब मलकर थोड़ी देर बाद बड़ी सावधानी से मालिश शुरू करते हैं। वे शिष्य की शारीरिक प्रकृति, स्वास्थ्य आदि का पूरा ध्यान रखते हैं। मल्लविद्या में अतिनिपुण कळरि के गुरु साधारणतः वैद्यक-कला में भी प्रवीण होते हैं, अतएव असावधानी नहीं होती। छात्र को भी पथ्य आदि का आचरण करना पड़ता है। अंगों की लचक बढ़ाने के लिए पैरों से भी मालिश की जाती है। पैरों की मालिश कुछ अजीब बात-सी लग सकती है। किन्तु, यह अत्यन्त उपयोगी है। अनुभवी आचार्य टँगी हुई रस्सी की गाँठ हाथ से थामे बड़ी चौकसी से छात्र के अंगों को अपने तलुआ से दबाते हैं। छात्र को कुछ दर्द जरूर होता है, मगर सारे जोड़, नसें और पुट्ठे चुस्त और लचीले बनते हैं। उषिच्चिल् के बाद पूरा बदन हल्का मालूम पड़ता है।

मालिश के बाद शारीरिक व्यायाम (मेय्प्पयट्टु)

मालिश के बाद तैयार छात्र कळरि में प्रवेश करता है। अब वह तरह-तरह का अंग-चालन सीखने लगता है। इसकी कई प्रक्रियाएँ हैं—अंगों को घुमाना, तानना, उछालना, झुकाना आदि। कुछ दिनों तक यह अभ्यास चलता है। इसके कई दाँव भी होते हैं, जिनके प्रमुख अंश तीन होते हैं। पहला है, पूरे शरीर की शक्ति पर अधिकार पा जाना ; दूसरा है, पैरों को हर तरह से चलाने की निपुणता प्राप्त करना और तीसरा है, बचाव के साथ प्रतिद्वन्द्वी पर आक्रमण करना। शिक्षार्थियों को सरल और साधारण कोटि के दाँव ही सिखाये जाते हैं। खतरनाक और मार्मिक दाँव लायक और योग्य लोगों को ही बताये जाते हैं।

शस्त्रशिक्षारम्भ (आयुधप्पयट्टु)

शारीरिक व्यायाम का शिक्षाक्रम समाप्त करने के बाद शस्त्रों का प्रशिक्षण शुरू होता है। डंडा, भाला, कटार, तलवार, छुरिका, गदा आदि शस्त्रों के संचालन की शिक्षा क्रमशः दी जाती है। यह केवल अभ्यास पर ही आधृत विद्या नहीं है, बल्कि शास्त्रीय भी है। धनुर्वेद, योगविद्या एवं मर्मविद्या—तीनों इसके आधार हैं। इसके प्रामाणिक आचार्य मर्मज्ञानी वैद्य भी होते हैं। उनके प्रमाण-ग्रन्थ तो मलयालम में हैं। कुछ लम्बे छन्द-से वाक्यों में समूची शस्त्रशिक्षा की बातें बतलाई जाती हैं। गुरु प्रदर्शन-सहित दाँव का पूरा स्वरूप बँधे वाक्यमय सूत्र में (वाय्त्तारि) सिखाते हैं। छात्र इन सूत्रों को दुहराते हुए प्रदर्शन का अभ्यास करते हैं। इस विद्या के तत्त्व बतानेवाले मलयालम-भाषा में कुछ ही ग्रन्थ प्रकाशित हैं, शेष अप्रकाशित। मुख्य रूप से इन अट्ठारह दाँवों का पता चलता है—ओतिरं, कटकं, चट्टुलं, मंडलं, वृत्तचक्रं, सुकंकाळं, विजयं, विश्वमोहनं, तिर्यङ्मण्डलं, गदयाखेटगह्वरं, शत्रुंजयं, सौभद्रं, पटलं, पुराजयं, कायवृद्धि, शिलिखण्डं, गदाशस्त्रं और अनुत्तमं। इनमें एक-एक दाँव के लिए अलग-अलग सूत्र है। पयट्टु में तलवार-ढाल आदि

प्रयोग करने के लगभग डेढ़ सौ दाँव माने गये हैं। 'पोन्ति'[१] नामक दूसरे शस्त्र के प्रयोग के लगभग ढाई सौ दाँव होते हैं। लोकगीतों से पता चलता है कि पयट्टु के दो केन्द्र प्रमुख थे—कटत्तनाडु और तुळ नाड। दोनों उत्तर मलाबार के गाँव हैं।

डंडा (केट्टुकारि या वटिप्पयट्टु)

पयट्टु के शस्त्रों में प्रारम्भिक डंडा है। डंडे भी कई तरह के हैं। पहला 'केट्टुकारि' कहलाता है। जो आदमी सीखता है, उसके कद के अनुसार बारह बालिश्तों का डंडा, जो न बहुत मोटा, न बहुत पतला होता है, काम में लाया जाता है। प्रयोग करनेवाले की लम्बाई से डेढ़ बालिश्त अधिक लम्बाई ही इसमें होनी चाहिए। दुश्मन को हमेशा अपने शरीर से थोड़ी दूरी पर रखना, भीड़ को डंडा घुमाते हुए हटाना आदि इसके सहारे सीखा जाता है। डंडे से प्रतिद्वन्द्वी पर जैसे चोट की जाती है, वैसे ही उससे वार को रोका भी जाता है। एक दाँव है—डंडे के एक सिरे से दुश्मन के सिर पर वार करना और चूकने पर उसकी छाती पर डंडे की नोंक चुभोना।

'मुच्चाण' या 'चेरुवटि' तीन बालिश्त का डंडा है। इसका प्रयोग कई तरह के अभ्यास के बाद ही सिखाया जाता है। इस छोटे-से डंडे को लेकर कुशल व्यक्ति बड़े-बड़े दुश्मन को परास्त कर सकता है। यह इतना तेज चलाया जाता है कि मिनट-भर में सौ बार वार किया जा सकता है। इन विविध डंडों के प्रयोग की शिक्षा भाले का प्रयोग सिखाने की तैयारी में भी होती है।

भाला (कुन्तप्पयट्टु)

प्राचीन युद्ध-प्रणाली का प्रमुख शस्त्र भाला बड़ा घातक शस्त्र होता है। बेंत के लम्बे डंडे के सिरे पर भाला लगाया जाता है। इस शस्त्र का प्रयोग एक दूसरे से थोड़ी दूरी पर रहनेवाले प्रतिद्वन्द्वी ही कर पाते हैं। इसमें हमला करने और रोकने के दोनों काम भाले से ही होते हैं। भाला घुमाना, घाव करना, चुभोना आदि विविध प्रहार-भेद होते हैं। मलयालम के वीरकाव्यों में इन प्रयोग-विधाओं का विवरण मिलता है।

कटार

इसके कई भेद हैं। आम तौर पर कटार दुधार होती है, जो एक फुट से डेढ़ फुट तक लम्बी रहा करती है। डंडों के प्रयोग में दोनों भुजाएँ काम देती हैं। पर, कटार दस्ताना पहने हुए दायें हाथ से ही चलाई जाती है। कटार-प्रयोग की एक खास बात यह है कि हमला रोकने में भी कटार का ही प्रयोग होता है। इसके प्रयोग के अट्ठारह तरीके बताये गये हैं। यह कुछ खतरनाक शस्त्र है; क्योंकि जरा-सी भूल होने पर प्रतिद्वन्द्वी की कटार बदन की गहराई में पहुँचती है।

तलवार-ढाल (पुलियंकम् और छुरिका[१])

डंडा, भाला आदि के बाद तलवार-ढाल का प्रयोग प्रशिक्षणार्थी को सिखाया

१. पोन्ति = लकड़ी का बना छोटी छड़ी-सा टेढ़ा शस्त्र।
१. छुरिका = दुधार और तलवारनुमा शस्त्र।

1
माला
2
केट्टुकारि
3
मुचाण्वटि
4
ओट्टा
5
तलवार
6
ढाल
7
छुरिका
8
कटार
9
गदा
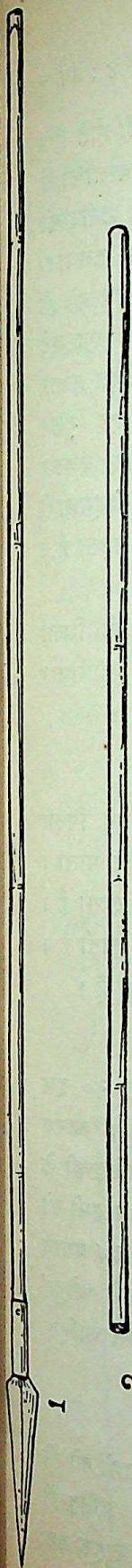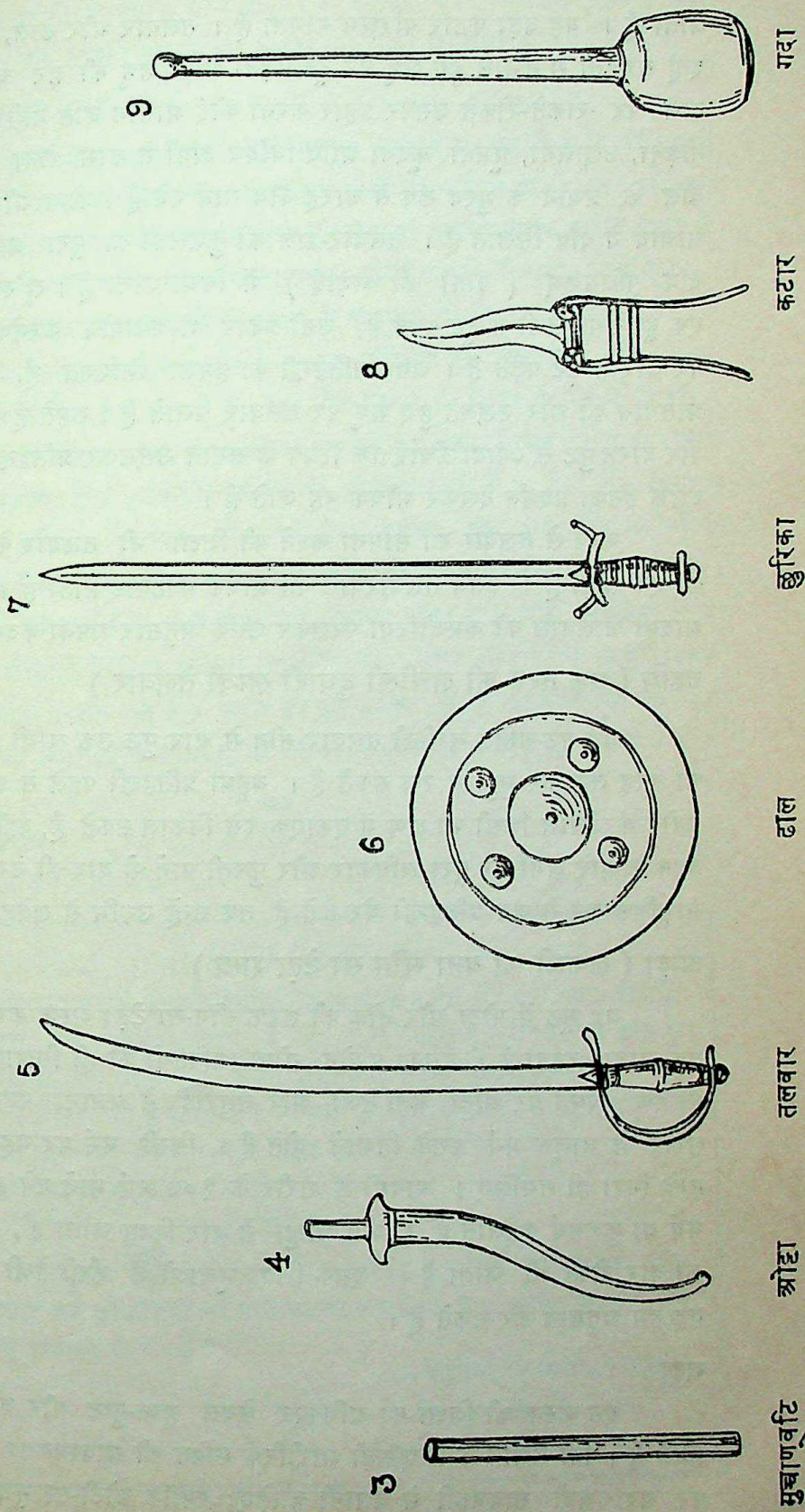
जाता है। यह बड़ा कठोर परिश्रम माँगता है। तलवार और ढाल, दोनों भारी होते हैं। इन्हें सरलता से सँभाले हुए शत्रु पर टूट पड़ना और शत्रु की हर चोट को चालाकी से ढाल पर रोकते-रोकते उसपर प्रहार करना कोई आसान बात नहीं है। इसमें शरीर को मोड़ना, उछालना, घूमना, कूदना आदि विविध दाँवों से काम लेना पड़ता है। तलवार-ढाल के प्रयोग के मुख्य रूप से बारह दाँव माने गये हैं। योग्य और सुशील छात्र को ही आचार्य ये दाँव सिखाते हैं। तलवार-ढाल की कुशलता का पूरा प्रदर्शन इसके एक बड़े दाँव-पुलियंकम् (चीतों की लड़ाई) में किया जाता है। खूँख्वार चीते जिस प्रकार एक दूसरे पर तेजी से टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार शस्त्र-प्रयोग करनेवाले वीर एक दूसरे पर जोर से टूट पड़ते हैं। अगर प्रतिद्वन्द्वी का हमला निश्चित है, तो युद्धवीर बचकर आसमान की ओर उछलते हुए शत्रु पर तलवार चलाते हैं। कहते हैं कि कुशल खड्गधारी वीर बारह फुट से ज्यादा ऊँचाई तक स्प्रिंग के समान उछलकर प्रतिद्वन्द्वी पर टूट पड़ता है। दर्शक इसका प्रदर्शन देखकर भौंचक रह जाते हैं।

भाले से तलवार का सामना करने की शिक्षा भी तलवार के प्रयोग की शिक्षा की एक सीढ़ी है। इसमें तलवारवाले को अधिक कठिनाई होती है। फिर भी, होशियार आदमी भालेवाले की कमजोरियाँ परखकर उसके अनुसार अपना कदम बढ़ाते हैं।

उरुमि (एक तरह की लचीली दुधारी लम्बी तलवार)

यह मूठ-सहित लचीली तलवार तीन से चार फुट तक लम्बी होती है। इसे फिल्म की तरह लपेटकर मुट्ठी में रख सकते हैं। बहुधा प्रतिद्वन्द्वी पहले से इसे देख नहीं पाता। प्रयोग करनेवाले किसी भी क्षण में एकाएक इसे निकाल सकते हैं, यही इन्तजार रहता है। बदन के सारे अंगों पर पूरा अधिकार और फुरती पाने के बाद ही उरुमि सीखी जाती है। सामूहिक रूप से जब प्रतिद्वन्द्वी घेर लेते हैं, तब उन्हें उरुमि से खदेड़ा जा सकता है।

ओट्टा (लकड़ी का बना सींग-सा टेढ़ा शस्त्र)

यह मूठ में मोटा और नोंक की तरफ सींग-सा टेढ़ा शस्त्र करीब १८ से २० इंच तक लम्बा रहता है। इसका प्रयोग योग्य व्यक्तियों को ही सिखाया जाता है। कारण यह कि दुश्मन पर ओट्टा बड़ी तेजी और चतुराई से चलाना पड़ता है। प्रतिद्वन्द्वी के शरीर के नाजुक मर्म इसके निशाने होते हैं। किसी मर्म पर यह लगा, तो आदमी को नीचे गिरा ही समझिए। आदमी के शरीर के १०७ मर्म माने गये हैं, जिनमें ६४ प्रधान मर्म या कुलमर्म कहलाते हैं। जैसे 'ओट्टा' से वार किया जाता है, वैसे ही उससे 'ओट्टा' का वार रोका भी जाता है। इसके लिए भुजाओं में कैसी तेजी और स्फूर्ति चाहिए, यह हम अनुमान कर सकते हैं।

गदा

इस शस्त्र की शिक्षा का अधिकार केवल हृष्ट-पुष्ट और जबरदस्त छात्रों को ही होता है। गदा चलाने के लिए बड़ी शारीरिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। प्रतिद्वन्द्वी पर गदा बड़ी सावधानी से चलानी चाहिए; क्योंकि छोटी-सा भूल जान का गाहक तक

बन सकती है। गदा काफी वजनदार चीज है। इसे उठाना और घुमाना-चलाना बड़ी मेहनत का काम है। इसे कळरिप्पयट्टु की दक्षता की सीढ़ी समझना अनुचित नहीं।

निःशस्त्र एवं सशस्त्र का द्वन्द्व

प्रतिद्वन्द्वियों से भिड़ते समय कभी ऐसी नाजुक हालत आ पड़ती है कि प्रतिद्वन्द्वी सशस्त्र है और दूसरा निःशस्त्र। ऐसी दशा में भी प्रतिद्वन्द्वी को परास्त करने का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके कई रहस्य-भरे दाँव होते हैं, जिनका कुशलतापूर्वक प्रयोग करने से प्रतिद्वन्द्वी गिरता है। ये दाँव योग्य और विश्वासपात्र छात्रों को ही सिखाये जाते हैं।

पयट्टु की पूर्वोक्त विधाओं के विवरण से स्पष्ट होगा कि गुरुदेव का व्यक्तिगत निर्देशन इस विद्या में कितना महत्त्व रखता है। इस प्रशिक्षण से अनुशासन की चेतना अपने-आप आ जाती है और इस विद्या में दक्ष लोग विरले ही विनय के पथ से विचलित होते हैं। वर्त्तमान सामाजिक जीवन में प्राचीन ढंग की इस शस्त्रविद्या का साम्प्रदायिक प्रशिक्षण कठिन अवश्य है। उसकी सुविधाएँ भी कम होती हैं। फिर भी, व्यायाम की दृष्टि से इसका प्रशिक्षण अवश्य लाभकारी है। इसका एक सत्र तीन महीनों या पाँच महीनों में पूरा किया जाता है। सत्र की समाप्ति को पद-परिवर्त्तन (चूवटुमाट्टम्) कहते हैं। एक पद-परिवर्त्तन के बाद नया सत्र प्रारम्भ होता है। यह प्रशिक्षण हमारे देश में पुलिस और सैनिकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। उत्तर केरल में कई सरकस-कम्पनियों में व्यायाम-प्रदर्शक रहे हैं। केरल की इस प्रशस्त, किन्तु क्षयशील व्यायाम-विद्या पर सम्पूर्ण भारत का ध्यान यदि जायगा, तो इसका भविष्य पुनरुज्ज्वल हो सकेगा।

●●

केरल-युनिवर्सिटी सेण्टर
एरनाकुलम् (केरल)

उर्दू-समालोचना पर एक दृष्टि*

श्रीकलीमुद्दीन अहमद (लोकशिक्षा-निदेशक, बिहार)

उर्दू में आलोचना की स्थिति महज काल्पनिक है। यह रेखागणित का कल्पित बिन्दु है, अथवा प्रेयसी की भ्रमात्मक कमर :

सनम सुनते हैं तेरे भी कमर है,
कहाँ है ? किस तरफ को है ? किधर है ?

अथवा

जुगराफि अए वजूद सारा, हरचन्द कि हमने छान मारा।
की सैर भी गर्चे बहोबर की, लेकिन न खबर मिली कमर की॥

इसी प्रकार, अन्वेषण की दृष्टि उर्दू के साहित्यिक क्षेत्र का भ्रमण करके निराश लौट आती है, किन्तु आलोचना के सुन्दर स्वरूप के दर्शन नहीं होते।

आलोचना और साहित्य में एक अनिवार्य सम्बन्ध है। आलोचना साहित्य की अनुगामिनी है। साहित्य से अलग होकर यह वायुमण्डल में साँस नहीं ले सकती। ऐसी स्थिति में इसकी दशा जल से वंचित मछली की-सी होगी। इसलिए, जिस भाषा में साहित्य का अस्तित्व न हो अथवा उसका स्तर अत्यन्त गिरा हुआ हो, तो वहाँ आलोचना का अस्तित्व भी सम्भव नह। प्रत्येक भाषा में साहित्य का आविर्भाव पहले होता है। तत्पश्चात् आलोचक साहित्य की मूल्यवान् कृतियों से कला के सिद्धान्त ग्रहण करता है। एक अरसे तक उर्दू में 'साहित्य' और 'कविता' पर्यायवाची शब्द बने रहे और कविता में अधिक-से-अधिक अंश गजलों का ही रहा। गजल की विशृंखलता सर्वविदित है। इसके रूपगत दोष के कारण किसी कलागत सिद्धान्त की व्यवस्था फरहाद के पहाड़ काटने से भी दुष्कर थी। इसलिए, किसी ने इस ओर साहस नहीं किया। दृष्टिकोण के विस्तार के साथ-साथ इस अभाव का अनुभव भी आ। किन्तु, विच्छिन्नता मानों स्वभाव का अंग बन गई थी। यह विच्छिन्नता विभिन्न रूपों में सिकन्दरी दीवार की तरह कावट डालती रही। परिणाम यह हुआ कि किसी भी आलोचक ने आधारभूत सिद्धान्तों से कोई सरोकार न रखा, मानों यह एक प्रकार का पाप था, जिससे बचकर रहना ही श्रेयस्कर था। आलोचना एक कला है। परन्तु, किसी ने भूलकर भी इसके कलात्मक स्तर का परिचय प्राप्त नहीं किया। जिस प्रकार साहित्य केवल मनोविनोद का साधन रहा, उसी प्रकार आलोचना भी केवल गप, अत्युक्ति तथा निरर्थक बकवास तक ही सीमित रही। आलोचना के तत्त्व, इसके उद्देश्य एवं प्रयोजन, इसके कलात्मक सिद्धान्त आदि में से किसी भी विषय की ओर किसी का ध्यान आकृष्ट न हुआ। अगर कभी भूल से इस ओर ध्यान गया भी,

* प्रस्तुत लेख मूलतः उर्दू में लिखा गया था, जिसका हिन्दी-अनुवाद प्रो० श्रीरामप्रसाद लाल ने किया है।—सं०

तो किसी अन्य पूर्वी या पश्चिमी भाषा से विचार उधार ले लिये गये। साहित्य के तत्त्व, साहित्य और जीवन का सम्बन्ध, काव्य का महत्त्व इत्यादि के विषय में भी इसी प्रकार के उधार लिये ए विचार मिलते हैं। किन्तु, इससे तृप्ति सम्भव नहीं। बहुधा ये विचार अत्यन्त छिछले होते हैं अथवा ओछे ढंग से ग्रहण कर लिये जाते हैं। इनमें प्रायः इतनी भी क्षमता नहीं होती कि उपयुक्त विषयों के सही अर्थ को सफलतापूर्वक व्यक्त कर सकें, तो फिर यह योग्यता कहाँ कि इन विषयों पर स्वतन्त्र चिन्तन और मनन सम्भव हो। जब मौलिक तत्त्वों का ही ज्ञान न हो, अथवा उनसे उदासीनता बरती जाय, तब फिर ब्योरों में भी सफलता सम्भव नहीं। उचित मापदण्ड न होने के कारण उर्दू में कहीं भी उच्च कोटि की आलोचनात्मक कृतियों के उदाहरण नहीं मिलते।

उर्दू-आलोचना का वही रंग है, जो मुशायरों पर छाया नज़र आता है। रशीद अहमद साहब ने मुशायरों का काल्पनिक चित्र इन मनोरंजक शब्दों में खींचा है: "जलसा शुरू हुआ। एक ने मिसरा (उर्दू-शेर की अर्द्ध पंक्ति) उठाया, सैकड़ों ने नारा लगाया और हजारों ने आसमान सर पर उठा लिया। मजमे की यह हालत हुई, जैसे बरसात में किसी के बिगड़ हुए मुँहजोर और बेलगाम रेडियो सेट पर मास्को से रूसी कौव्वाली सुनने की कोशिश की जा रही हो। खुदा-खुदा करके एक साहब की बारी आई, जिनका लहजा नकीरैन (मृतात्मा के पुण्य-पाप की जाँच करनेवाले फरिश्ते) का और जिनकी शायरी अजाबे कब्र (कब्र की यातना) के समान थी। पहले तो पढ़ने से इस लजाजत (दीनता) से अपनी असमर्थता प्रकट की, जैसे फाँसी के तख्ते पर जाने से गुरेज (पलायन) कर रहे हों। लेकिन, जब आग्रह मनोनुकूल और अत्यधिक हुआ, तब मालूम नहीं, किधर से एक रजिस्टर निकाला, जिसपर जान पड़ता था कि गदर के बाद से अबतक म्युनिसिपैलिटी के 'पैदाइश वो कौती' (जन्म-मरण) के सारे अभिलेख दिये हुए हैं। पढ़ना आरम्भ ही किया था कि सभा में एक हलचल मची। इतने में किसी मनचले ने बिजली का सिलसिला बन्द कर दिया। दूसरे ने शामियाने की रस्सियाँ काट दीं। अध्यक्ष महोदय, मन्त्री, मुशायरा, मिसर-ए-तरह (समस्या-पंक्ति) सब-के-सब शामियाने के सम्पुट में बन्द हो गये।"

आलोचना की भी यही दशा है। एक ने प्रशंसा के पुल बाँध, सैकड़ों ने उसका अनुमोदन किया और हजारों ने 'वाह! वाह!!' के नारों से आसमान सर पर उठा लिया। यदि किसी की निन्दा करना उद्देश्य रहा, तो चारों ओर से हाहाकार की ध्वनि उच्चरित हुई। बेचारे लेखक के व्यक्तित्व, उसके रूप-रंग तथा उसके बाप-दादा पर लांछन की ऐसी वर्षा हुई कि प्रस्तुत विषय पानी पर के चित्र की भाँति विलीन हो गया। मुशायरों में जो कवि स्वीकृत हैं, जिसका व्यक्तित्व प्रभावशाली है, जिसकी आवाज सुरीली है, जिसके पढ़ने का ढंग अच्छा है, वह अपने हर शेर, हर मिसरे, बल्कि अधूरे मिसरे से भी प्रशंसा के कर वसूल करता है; किन्तु यदि वह किसी कारणवश बदनाम है या उसकी आवाज़ भद्दी है या उसे पढ़ने का ढंग नहीं, तो फिर उसके शेरों की प्रशंसा के बदले अवहेलना होती है। तालियाँ बजाई जाती हैं। सारांश यह कि एक हंगामा खड़ा

हो जाता है। अर्थात्, शेरों की जाँच उसके कवित्व के आधार पर नहीं होती, बल्कि नितान्त असम्बद्ध कारणों से प्रशंसा की बौछार या शिकायत की भरमार होती है। यही दशा आलोचना की है। यदि प्रशंसा करना उद्देश्य हुआ, तो जितने प्रशंसासूचक शब्द कोश में मिल सकते हैं, सभी व्यवहार किये जाते हैं। यदि निन्दा करना लक्ष्य है, तो उचित-अनुचित सभी तरह के आक्षेप लगाये जाते हैं। प्रायः गन्दी गालियों तक की धारा बहा दी जाती है और इसी को आलोचना समझा जाता है। लेखक के मन्तव्य को समझना, उसकी रचना का मूल्यांकन करना, फिर यह देखना कि अभीष्ट-सिद्धि में उसे कहाँतक सफलता मिली है, इन बातों की ओर, जो वास्तविक आलोचना है, कभी ध्यान भी नहीं जाता। 'सुभान अल्लाह !' एक ओर तो 'इस तग्फ़ुरल्लाह !' (भगवान् क्षमा करें—घृणा-सूचक वाक्य) दूसरी तरफ, बस यही उर्दू-समालोचना की बिसात (पूँजी) है। 'आजाद', 'आबे हयात' में 'जौक' का जिक्र इन शानदार शब्दों में करते हैं : "जब वह प्रतिभाशाली व्यक्ति आध्यात्मिक संसार से बाह्य जगत् की ओर चला, तब वाग्देवी ने पुण्योद्यान के फूलों का मुकुट सजाया। उसका सौरभ जगद्विख्यात होकर संसार में फैला और रंग ने अमरत्व प्रदान करके आँखों को ठंडक पहुँचाई, वह मुकुट सर पर रखा गया, तो अमृत शीत बिन्दु बनकर उसपर बरसा, जिससे उसकी प्रफुल्लता को कुम्हलाहट का आतंक न लगने पाये। 'कविसम्राट्' का सिक्का उसके नाम से ढला और इसके राजकीय नगीने में यह अंकित हुआ कि इसपर उर्दू-कविता का अन्त हो गया।"

इस प्रकार की प्रशंसा और यथार्थ आलोचना में उदयाचल-अस्ताचल का भेद है। इसमें 'आजाद' ने केवल शिष्योचित धर्म-पालन किया है। इन प्रशंसात्मक वाक्यों और 'जौक' की कविता में कोई लगाव नहीं। ये शब्द यथार्थता पर आधृत नहीं हैं। 'जौक' 'आजाद' के गुरु न होते, तो फिर इन सुन्दर शब्दों का मुकुट भी उनके सिर पर न रखा जाता और यदि 'जौक' को इस मुकुट का पात्र मान भी लिया जाय, तो भी यह रंगीन एवं सुसज्जित, अपितु साधारण तथा अनिश्चित वर्णन-शैली यथार्थ समालोचना के प्रतिकूल है। आजकल यह रंगीन और सुसज्जित वर्णन-शैली तो सुलभ नहीं; परन्तु इसी प्रकार अपने मित्रों, अपने देशवासियों, अपने विशिष्ट समुदाय के व्यक्तियों की प्रशंसा अत्युक्तिपूर्ण होती है। इसमें पक्षपात से काम लिया जाता है। 'सज्जाद जहीर' क्रान्तिकारी कविताओं के विषय में लिखते हैं : "इन कविताओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें जीवन की झलक है। वर्त्तमान युग की सभी अवस्थाओं का ज्ञान है। इनकी विषय-वस्तु मानवता है। ये अँधेरी कोठरियों में छिपकर जीवन के तीव्र झंझावात से बचकर, निष्प्राण प्रेम एवं स्नेह का रोना नहीं रोते। इन कवियों को जीवन के संघर्ष में आनन्द आता है। ये जिन्दगी से भागते नहीं, जिन्दगी की ओर दौड़ते हुए आ रहे हैं और इस दृष्टि से उर्दू-कविता के लिए इनका अस्तित्व एक नये युग के प्रारम्भ का अग्रदूत है।"

प्रत्येक शब्द से पक्षपात टपकता है। इन क्रान्तिकारी कविताओं में जीवन नहीं, साधारण साम्यवादी विचारों की झलक अवश्य है। वर्त्तमान युग की सारी बातों का ज्ञान कहाँ, ये केवल कुछ थोड़े-से साधारण विचारों तथा भावनाओं के गोरखधन्धे

में घिरे हुए हैं। इनकी विषय-वस्तु मानवता नहीं, साम्यवाद है। प्राचीन ढंग की गजलें लिखनेवाले कवि यदि निष्प्राण प्रेम एवं स्नेह का रोना रोते हैं, तो क्रान्तिकारी कवि कतिपय साम्यवादी सिद्धान्तों की नीरस आवृत्ति करते रहते हैं। कला की दृष्टि से इनकी कविताएँ पुराने रंग की गजलों की अपेक्षा अधिक असफल हैं। अतः, इनकी वर्त्तमान कृतियों के आधार पर इनके अस्तित्व को एक नये युग के आरम्भ का अग्रदूत कहना केवल पक्षपात है।

साधारणतः, इसी रंग की छटा सर्वत्र दिखाई पड़ती है। यदि चित्र के दूसरे मुख-पृष्ठ से परदा उठाया जाय, तो इससे भी अधिक आश्चर्यजनक एवं विश्वास न करने योग्य दृश्य दिखाई देगा। 'मार्क ए चकबस्त ओ शरर' की शृंखला में जो लेख 'अवध पंच' में 'शरर' के विरुद्ध लिखे गये थे, उनसे स्पष्टतया विदित होता है कि आलोचना के बदले बहुधा केवल गन्दी भावनाओं को उत्तेजित करने का प्रयत्न किया गया है—

"किसी उस्ताद का मिसरा है—**कजा आती है चूँटी की, जब उसके पर निकलते हैं।** यही हालत आजकल 'शरर' की है। अभी कल की बात है कि हजरत 'करसी' से रेंगते-रेंगते लखनऊ पहुँचे। यहाँ कुछ रोज तक 'बेयाबानी के तकिए' की खाक छानी। रफ्ता-रफ्ता ऐसे पुरजे निकाले कि नावेलिस्ट हो गये। मगर, खैर यह थी कि अभी तक कब्र के मुरदे उखाड़ने में मसरूफ रहते थे और साहित्य-रूपी नायिका के लिए अत्युक्ति एवं शाब्दिक उलट-फेर के कफन खसोट-खसोट के पेशबाज तैयार करते रहते थे। सारांश यह कि टूइयाँ कौड़ी की तरह...गोसए आफियत में पड़े रहते थे। न कोई इनसे बोलता था, न किसी से भिड़ने की जुर्रत करते थे। किन्तु, गत मई में गरमी की शिद्दत ने जहाँ और असर पैदा किये, वहाँ यह ताजा गुल खिलाया कि 'शरर' के दिमाग की भट्ठी का टेम्परेचर बढ़ा दिया। फिर क्या था, शरावे सोखन (साहित्य-रूपी मदिरा) उबलने लगी। ऐसी उबली कि अन्ततः टोटने से टपक पड़ी। इस शराब का टपकना था कि चारों ओर पक्षपात की गन्ध उड़ी। 'करसी' की हवा ने इस बू को दूर-दूर पहुँचाया।"

अक्ल घबराकर पूछती है कि भला इन बातों से और 'शरर' के एतराजात (आक्षेपों) से क्या सम्बन्ध? परन्तु, इस नमूने की वर्णन-शैली तो अपेक्षाकृत शिष्ट है। साधारणतः, व्यक्तिगत आक्रमण किये जाते हैं। ऐसे आक्रमण, जिनमें वास्तविकता, सचाई, शिष्टता, भलमनसाहत सभी को तिलांजलि दे दी जाती है।

समालोचना कोई खेल नहीं, जिससे प्रत्येक व्यक्ति आसानी स खेल सके। यह एक कला है, एक सर्जन है। केवल एक कला ही नहीं, यह एक अत्यन्त कठिन कला है। प्रत्येक कला की भाँति इसके भी सिद्धान्त तथा नियम और उद्देश्य एवं तात्पर्य हैं। साहित्य और जीवन में इसका एक विशिष्ट एवं मूल्यवान् स्थान भी है। इसी कारण, प्रत्येक व्यक्ति एक समालोचक के कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सकता। समालोचक कवि तथा गद्यलेखक की भाँति कुछ विशेष गुणों से सम्पन्न होता है, जो उसे साधारण व्यक्तियों से पृथक् करते हैं। उसे समालोचना की कला के प्रत्येक पहलू की जानकारी होती है। कवि की तरह वह भी एक सूक्ष्मदर्शी एवं सरस हृदय का स्वामी होता है। उसकी दृष्टि विस्तीर्ण

होती है। विस्तृत दृष्टि का अर्थ केवल यही नहीं कि वह अति उत्तम साहित्यिक कृतियों अथवा विभिन्न भाषाओं के साहित्य से अवगत हो। आवश्यक बात यह है कि वह जो कुछ भी पढ़े, उससे प्रभावित होने की क्षमता रखता हो। अपनी भावनाओं को संचित रख सके और उन्हें दूसरी भावनाओं के साथ सुव्यवस्थित करके एक नवीन सुडौल एवं सुगठित सम्पूर्ण चित्र तैयार कर सके। समालोचक में यह शक्ति होती है कि कवि के मन में पैठकर उसके अनुभव के प्रत्येक तत्त्व को वह समझ सकता है। और, स्वयं समझकर दूसरों को समझा भी सकता है। वह इस अनुभव के महत्त्व एवं मूल्य को आँक सकता है। और, इस सम्बन्ध में अपने व्यक्तिगत विचारों, भावनाओं तथा मनोवृत्तियों को थोड़ी देर के लिए भुला देता है। उर्दू-समालोचक साधारणतः इन गुणों से सम्पन्न नहीं होते। प्रत्येक व्यक्ति केवल अपनी पसन्द अथवा घृणा को व्यक्त करता है और स्वेच्छया एक महान् समालोचक बन बैठता है।

उर्दू में कविचर्चाएँ तो बहुत हैं—नवीन तथा प्राचीन। अभी तक उर्दू-समालोचना तज्किरों (कविचर्चाओं) की सीमा से बाहर पाँव नहीं रखती। प्राचीन लेखक अथवा कवि सीधे-सादे ढंग से अपेक्षाकृत शान्तिपूर्वक अपना कर्त्तव्य-पालन कर देते थे। वर्त्तमान युग में बाहरी रूप भिन्न है। जोर-शोर, हंगामा और कोलाहल की भरमार है, लेकिन भीतर शून्य-ही-शून्य। सजावट और अनुपात की ओर विशेष ध्यान अवश्य अधिक है। किन्तु, समालोचना अपनी छवि दिखलाकर प्रतीक्षा करनेवाली दृष्टि को प्रमुदित नहीं करती। तज्किरों में विभिन्न कवियों का वर्णन वर्णमाला के अक्षरों के क्रमानुसार होता है। फलतः, विशृंखलता अवश्यम्भावी है। जिस प्रकार गजल में विशृंखलता होती है और नाना प्रकार की भावनाएँ तथा विचार अव्यवस्थित रूप से इकट्ठा कर दिये जाते हैं, उसी प्रकार इन तज्किरों में भी विभिन्न समय, विभिन्न रंग एवं श्रेणी के कवि एक दूसरे के निकट एकत्र हो जाते हैं। उर्दू-कविता का प्रारम्भ, उसकी प्रगति के विभिन्न स्थल, किसी प्रतिभाशाली कवि का उसके समकालीन अथवा परवर्त्ती कवियों के ऊपर प्रभाव, इन सारी बातों का अभाव है। ध्येय है तो केवल यह कि जितने कवियों से निजी जानकारी है या जिन कवियों की बातें सुनी या देखी हैं, उन सबका संक्षिप्त अथवा विस्तृत वर्णन हो और उनकी रचना का नमूना प्रस्तुत किया जाय। इस संक्षिप्त एवं विस्तृत वर्णन में न्यायप्रियता एवं निष्पक्षता से पृथक्ता ही ग्रहण की जाती है। 'गिर्देजी' अपने तज्किरे के संकलन का कारण बताते हुए कहते हैं : "मैंने समकालीन बन्धुओं के तज्किरों को, जिनमें इस युग के रेखता कहनेवाले कवियों के नाम हैं और जिनमें संकलन का उद्देश्य इन कवियों का छिद्रान्वेषण और उनपर व्यंग्य करना है, देखा, तो अपनी मन्द बुद्धि में यह बात आई कि न्याययुक्त ढंग से एक तज्किरा लिखूँ, जिसमें मुँहदेखी न हो और जो सभी प्रकार की कटुताओं एवं क्रूरताओं से मुक्त हो।" (फारसी-उद्धरण का हिन्दी-अनुवाद)

और, मजा यह कि ये स्वयं भी अन्याय और पक्षपात कर बैठते हैं। इसके सबसे अच्छे उदाहरण वे दो-तीन पंक्तियाँ है, जिनमें 'मीर' की चर्चा है : "इस दीन ने उनके शेरों को देखा, तो आँखों में आँसू भर आये। भगवान् की शपथ खाकर कहता हूँ कि

इनमें उन्होंने अद्‌भुत भाव भरे हैं और सुपरिचित भाषा का व्यवहार किया है।" इन्हीं शब्दों में 'हश्मत' की भी चर्चा होती है। इसके अतिरिक्त जहाँ 'सज्जाद' की रचनाओं का नमूना ग्यारह पृष्ठों में प्रस्तुत किया जाता है, वहाँ 'मीर साहब' का केवल एक घटिया-सा शेर उद्धृत किया जाता है। परन्तु, यह दोष प्रतिष्ठित तज्किरों में कम पाया जाता है। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण एवं सामान्य दोष यह है कि कवियों की विभिन्न श्रेणियों को स्पष्ट रूप से नहीं दिखाया जाता और उनकी एक दूसरे से तुलना भी नहीं की जाती। इसके अतिरिक्त कवियों के विषय में जो बात कही जाती है, उसमें समालोचना का तत्त्व शून्यप्राय होता है। ऐसे वर्णनों के साधारणतः तीन भाग होते हैं—कवि की जीवनी, उसके व्यक्तित्व का चित्रण और उसकी रचनाओं की समीक्षा। इन अंशों का अलग-अलग मूल्यांकन करना उचित है।

कवि की जीवनी अत्यन्त संक्षिप्त होती है। प्रायः सभी प्राचीन कविचर्चाओं में यह भाग अपने अनुचित संक्षेप के कारण सफल कृति का नमूना नहीं। बहुधा कवि का नाम भी नहीं लिखा जाता। उदाहरणार्थ, मीर साहब 'आजाद' के बारे में कहते हैं: 'वली के समकालीन थे, बड़ी सफाई से बातें करते थे', या 'मीर हसन' कहते हैं: " 'मुसाफिर' तखल्लुस था, मैं नहीं जानता कि कौन और कहाँ के हैं। केवल इतना ही जानता हूँ कि हमारे समकालीन हैं। उनका एक शेर सुनने में आया। उनकी रचनाओं में सूफीमत की झलक मिलती है", अथवा 'मुसहफी' कहते हैं: " 'इश्की' मुरादाबादी को फकीर (मैं) ने उस समय देखा था, उनकी एक पंक्ति याद है" इत्यादि-इत्यादि। बाद की कविचर्चाओं में भी इसी प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। कवि का जन्म, उसकी वंश-परम्परा, उसकी शिक्षा-दीक्षा, उसके जीवन-काल की विभिन्न घटनाएँ, उसकी रचनाएँ, उसका वातावरण, इनमें से किसी के सम्बन्ध में पर्याप्त एवं सन्तोषजनक सामग्री नहीं मिलती। अगली कविचर्चाओं में यह कमी विशेष रूप से महसूस होती है। 'मीर हसन' 'सौदा' के विषय में बस इतना ही लिखते हैं, और यह नमूना केवल 'मीर हसन' के ही ढंग का नहीं। अधिकांश चर्चाओं में यही रंग है: "उन महानुभाव का जन्मस्थान शाहजहानाबाद है, उनकी उम्र सत्तर को पहुँचती होगी। इस समय नवाब शुजाउद्दौला बहादुर के दरबार में काव्य-कला द्वारा उच्चपदस्थ हैं। संगीत-शास्त्र में भी कुशल हैं।" या 'गुलशने बेखार' में: "मिर्जा मुहम्मद रफीअ नाम, इनका मूल निवास काबुल तथा जन्मस्थान जहानाबाद है। जवानी के समय में लखनऊ चले गये और वहीं इनकी मृत्यु हुई। मृत्यु हुए बहुत दिन बीत गये। वजीरुल ममालिक नवाब आसफुद्दौला बहादुर के दरबार में उनके निकटवर्त्ती लोगों में हैं।" सारांश यह कि ये बातें अत्यन्त संक्षेप में होती हैं। किन्तु, संक्षिप्त हो या विस्तृत, तज्किरा के लेखकों में यह योग्यता नहीं कि इन घटनाओं का वर्णन इस रूप में करें कि कवि के चित्र में जान आ जाय और वह बोलने लगे। ये विवरण अत्यन्त रूखे-फीके, विशृंखल और असम्बद्ध होते हैं। अतः, इनका महत्त्व ऐतिहासिक होता है, साहित्यिक कदापि नहीं। विशेषतः, वातावरण की न्यूनता के कारण पृष्ठभूमि लुप्त हो जाती है और कवि का व्यक्तित्व वायुमण्डल में निराधार लटकता दीख पड़ता है।

जिस तरह कवि का नाम प्रायः अव्यक्त होता है, उसी प्रकार किसी कवि के व्यक्तित्व के सर्जन का उद्देश्य भी नहीं होता। 'मीर' कहते हैं : "मियाँ हसन अली, जिनका तखल्लुस 'शौक' है, शाहजहानाबाद के रहनेवाले हैं। उनका पेशा सिपाही का है। वे रेखता के कवि और खाँ साहब सिराजुद्दीन अली खाँ के शिष्य हैं। इस दास को उनकी सेवा से पूर्ण सम्बन्ध है। प्रायः भेंट हुआ करता है।" 'मीर हसन' कहते हैं : "जलालुद्दौला जलालुद्दीन मरहठों के प्रतिनिधि और नवाब इमादुलमुल्क के मन्त्री हैं।" 'मुसहफी' कहते हैं : "मोहतशिम अली खाँ 'हश्मत', 'मीर बाकी' के पुत्र हैं। इनका मूल स्थान जहानाबाद है। फारसी में बड़ी ललित कविता करते थे। कभी-कभी रेखता (उर्दू) में भी अपने विचार प्रकट करते थे।" 'शेफता' कहते हैं : "'सलाम' तखल्लुस नज्मुद्दीन अली खाँ नाम, पुत्र शर्फुद्दीन अली खाँ, जिनका तखल्लुस पयाम था, अकबराबाद के रहनेवाले हैं।" ये उदाहरण बिना किसी विशेषता के प्रस्तुत किये गये हैं। इस प्रकार के प्रमाणों से तज्किरे भरे पड़े हैं। प्रायः किसी कवि के व्यक्तित्व का वर्णन दो-चार शब्दों में कर दिया जाता है। किन्तु, ये शब्द इतने साधारण होते हैं कि इनके द्वारा किसी व्यक्ति-विशेष के व्यक्तित्व का सर्जन सम्भव ही नहीं। जैसे—'बड़े भले आदमी हैं।' 'सुबुद्ध, अल्पभाषी तथा विनम्र।' 'बड़े सदाचारी, मनुष्योचित गुणों से सम्पन्न नवयुवक हैं।' 'शिष्ट, विनम्र तथा उच्च कोटि के सद्गुणोंवाले नवयुवक।' 'अच्छे मिलने-जुलनेवाले एवं सद्गुण-सम्पन्न।' 'विनम्र तथा सुशील नवयुवक।' 'सुन्दर रूप तथा अच्छे स्वभाव से सुशोभित और सूक्ष्मदर्शिता एवं सुबुद्धि द्वारा अलंकृत।' 'धनी-मानी व्यक्ति हैं। सद्गुण-सम्पन्न तथा सुशील।' 'देखने में सुन्दर, आकर्षक तथा शिष्टाचरणवाले नवयुवक हैं। उनकी मनोवृत्ति पवित्र है। उनका बाह्य स्वरूप और अन्तःकरण समान है और अन्तर बाह्य की भाँति सुसज्जित।' प्रत्येक स्थान पर यही ढंग है। और यदि कभी किसी कवि का व्यक्तित्व बड़े प्रबन्ध तथा टीमटाम के साथ दुरुस्त किया जाता है, तो फिर शब्दों की भरमार होती है। ऐसे शब्द जो बड़े परिश्रम से चुने जाते हैं। ऐसे शब्द जो प्रभावशाली, रोबदार, गम्भीर, रंगीन, मधुर एवं सुन्दर-सजीले होते हैं। किन्तु, इतने प्रबन्ध तथा टीमटाम के होते हुए भी सफलता नहीं दिखाई पड़ती। ये शब्द स्वयं अपना ही एक महत्त्वपूर्ण रूप धारण कर लेते हैं। पाठक का ध्यान शब्दों के जाल तथा आकर्षक शैली में उलझकर रह जाता है और तात्पर्य-रूपी मोती हाथ नहीं आता। 'मीर हसन' 'दर्द' का चित्र इन रंगीन एवं भड़कीले शब्दों में खींचते हैं : "धार्मिक तत्त्वों का उद्घाटन करने के पथ पर अग्रसर तथा हृदय में विश्वास की ज्योति जगाने के हेतु कठिन परिश्रम की लीक पकड़कर चलनेवाले, उच्च कोटि के तत्त्ववेत्ता एवं आदरणीय धर्मशास्त्रज्ञ, साहित्याकाश के ऊपर सूर्य की भाँति अद्वितीय 'ख्वाजा हजरत मीर', जिनका तखल्लुस 'दर्द' है, अच्छी प्रकृति के विद्वान् एवं सद्गुण-सम्पन्न महात्मा हैं। उनकी योग्यता और पाण्डित्य का डंका तथा उनकी महत्ता एवं ऐश्वर्य की घोषणा गगनचुम्बी है। उनके गम्भीर चिन्तन की डोरियाँ सूर्य-रश्मियों की भाँति पूर्व से पश्चिम तक खिंची हुई हैं। उनके हृदय-रूपी समुद्र में अविद्ध मोतियों की राशि है। बुद्धि उनके मुँह से निकले हुए शब्दों की प्रशंसा करती है। सत्य की गुफा में समाधिस्थ

योगी और धर्मशास्त्र के मैदान के पथ-दर्शक हैं। उनका तत्त्वज्ञानी हृदय आध्यात्मिक रहस्यों का भाण्डार है। और, उनके हृदय की विमलता देवमन्दिर की-सी स्वच्छ है। 'हाल वो काल' जगत् (हृदय की वह गति, जब साधक भावोन्मत्त होकर विह्वल तथा बेसुध हो जाता है) के महाराज, तेज, प्रताप एवं शोभा-मनोहरताई से युक्त, सकलगुण-गरिष्ठ...इत्यादि-इत्यादि। अभाव तथा दरिद्रता के हाथों पीडित होकर बहुत-से लोग इधर-उधर चले गये, किन्तु ये दृढव्रत सन्तोष धारण करके अपने स्थान से न डिगे और इस समय तक जहानाबाद में ही निवास करते हैं।''

यदि शब्दों तथा शैली की रंगीनी से हटकर देखा जाय, तो तात्पर्य केवल इतना है कि 'दर्द' सूफी और सन्तोषी पुरुष थे। फिर, 'मुसहफी' कविवर 'सोज' के व्यक्तित्व पर इन शब्दों में प्रकाश डालते हैं: ''काव्य-कला में निपुणता तथा धर्म-परायणता के अतिरिक्त इन महानुभाव में अन्य बहुत-से गुण हैं। तीर चलाना, घुड़सवारी करना, नुस्तालीक तथा शफीयी लिपि का सुन्दर लिखना, मधुर-सुकोमल कविता करना, काव्य-मर्मज्ञता, राजा-महाराजाओं के सहवास में पटुता, हास्यविलास में प्रवीणता, प्रसन्नवदन रहना, दरबारदारी, जीविकोपार्जन-प्रवीणता, दूसरों के विषय में अच्छी बातें कहना इत्यादि गुणों में अपना सानी नहीं रखते। इन सब गुणों के रहते हुए भी ये बड़े निःस्पृह स्वभाव के हैं। यह बात कवित्व-शक्ति की देन है। कभी-कभी मुझ दीन से भेंट हो जाती है, तो बड़ी कृपा दरसाते हैं। प्रत्यक्ष तथा परोक्ष में मुझसे बहुत प्रसन्न रहकर निष्कपट भाव से मित्रवत् प्रशंसा करते हैं।''

यह शैली का आकर्षण अपना जाल नहीं बिछाता और इनके वर्णन में तत्त्व अधिक है। फिर भी, इससे कोई विशेष प्रभाव अपनी छाप मानस-पटल पर अंकित नहीं करता। कारण, 'मुसहफी' ने योग्यताओं की एक सूची बना डाली है। किसी जीवित प्राणी का सजन इस रूप में सम्भव ही नहीं। इन उदाहरणों से स्पष्टतया विदित है कि तज्किरों में विभिन्न कवियों के व्यक्तित्व का वर्णन अलग-अलग सुव्यवस्थित, सम्पूर्ण एवं स्पष्ट रूप से नहीं होता।

●●

अनुवादक का पता:
हरप्रसाद दास जैन कॉलेज
आरा

'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण' : आवश्यक परिमार्जन

श्रीमुनि कान्तिसागर

बिहार की साहित्यिक परम्परा का पर्यवेक्षण करते समय सन्त-परम्परा को विस्मृत नहीं किया जा सकता। इनके द्वारा स्थापित मठों का सम्बन्ध प्राचीन हस्तलिखित पोथियों से रहा है। धार्मिक सामग्री के अतिरिक्त भी महन्तों की रुचि का साहित्य भी पाया जाता है। मैं जब बिहार में था, तब फतुहा, विक्रमगंज और सहसराम के साधुओं के पास कई विषयों का साहित्य देखा था। अतः, सन्त द्वारा संरक्षित मठों में शोध करने पर पर्याप्त ग्रन्थ मिलने की पूर्ण सम्भावना है। बल्कि, स्पष्ट कहा जाय, तो बिहार की साहित्यिक समृद्धि की रक्षा में सन्तों का कम योग नहीं रहा।

प्रसंगवश, मैं यहाँ जैन संस्कृति का उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ; क्योंकि बहुत प्राचीन काल से ही बिहार से इसका सम्पर्क रहा है। पुरातन शिलोत्कीर्ण प्रशस्ति और अन्य प्राकृतादि साहित्य में इस विषय की प्रमाणभूत सूचनाएँ संकलित हैं। मध्य और अर्वाचीन काल में पटना, राजगृह, लछवाड़, इसलामपुर, आरा आदि नगरों में जैनों के ज्ञानागार रहने के उल्लेख ग्रन्थों की लेखन-पुष्पिकाओं में मिलते हैं। यद्यपि अब आरा को छोड़ अन्यत्र इस प्रकार की साहित्यिक सामग्री का प्राप्त होना असम्भव-सा ही है। क्योंकि अब वहाँ यतियों की परम्परा लगभग समाप्त ही है, जो उस ओर रहकर ज्ञानागार की रक्षा में संलग्न थे। बौद्धधर्म का सम्पर्क १३वीं शती के बाद ही विच्छिन्न हो चुका था। अतः, कलावशेषों के अतिरिक्त ग्रन्थस्थ साधन मिलना कम ही सम्भव है। 'प्रज्ञापारमिता' की प्रतियाँ बिहार में तैयार अवश्य होती थीं, पर काल का चक्र ऐसा फिरा कि अब प्राप्ति की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

बिहार का ज्ञानमूलक अतीत उज्ज्वल होने से आज भी वहाँ ज्ञानपिपासुओं की कमी नहीं है। वहाँ के विद्वान् विप्रों ने अनेक कष्ट सहकर भी संस्कृत-भाषा और साहित्य की जो रक्षा की है और आज भी कर रहे हैं, वह अभिनन्दनीय है। बहुत-से ऐसे विषय हैं जिनपर बिहार के विद्वानों का ऐकाधिपत्य रहा है। हिन्दी-भाषा को भी इनकी कृतियों ने नवमार्ग प्रदान किया है। नायिकाभेद का मूलाधार समझी जानेवाली भानुदत्त की रसमंजरी बिहारी विद्वान् की ही देन है।

उपयुक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि बिहार-प्रदेश में हिन्दी-भाषा और साहित्य की बहुत-सी मौलिक सामग्री छिपी हुई है। विशेषकर वहाँ के राज्याश्रित कवियों और सन्तों का साहित्य प्रकाशन की प्रतीक्षा में है। राजा-महाराजा और जमीन्दार के आश्रित कवियों का साहित्य, अन्यत्र न पहुँच सकने के कारण, उन्हीं के संग्रहों में मिल सकता है। सन्तों में

दरिया साहब का मूल्यवान् साहित्य उपलब्ध हो ही चुका है, जिसका प्रकाशन भी बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा किया जा चुका है।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने अपने मौलिक प्रकाशनों द्वारा जो कीर्त्ति अर्जित की है, वह उसके पूर्व गौरव के सर्वथा अनु प ही है। सन् १९५१ ई० की फरवरी से परिषद् ने नागरी-प्रचारिणी सभा के समान ही अपने प्रदेश में हिन्दी और संस्कृत आदि भाषाओं में गुम्फित साहित्य की प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का जो गवेषण-कार्य आरम्भ किया है, वह अभिनन्दनीय प्रयास है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि परिषद् को इस पवित्र कार्य में उल्लेख्य जन-सहयोग भी प्राप्त हो रहा है। परिणामस्वरूप, अच्छा खासा संग्रह भी हो चुका है। इस विभाग के प्रथम प्रधान थे बिहार के ख्यातनामा विद्वान् डॉ० धर्मेन्द्रजी ब्रह्मचारी। इन्हीं के सहयोग से परिषद् ने 'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण' के दो खंड तथा शोध-विभाग के द्वितीय अध्यक्ष स्व० नलिनविलोचनजी शर्मा के सम्पादकत्व में अन्य तीन खंड, इस प्रकार कुल पाँच खंड प्रकाशित कर न केवल विद्वज्जगत् का ही उपकार किया है, अपितु बिहार-प्रदेश की हिन्दी-भाषा और साहित्य को दी गई देन पर भी नव्य प्रकाश डाला है। इन विवरणों द्वारा कुछ प्रादेशिक साहित्यकार प्रकाश में आये हैं। परिषद् ने अपना क्षेत्र केवल हिन्दी-भाषा और साहित्य के ग्रन्थों तक ही सीमित नहीं रखा, प्रत्युत संस्कृतादि भाषा और अन्य प्राप्त लिपियों तक व्यापक रखा है।

उपर्युक्त पंक्तियों में सूचित दोनों विद्वान् अपनी गवेषणामूलक वृत्ति के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। साहित्यिक जगत् में उनका अपना स्थान है। प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण समुपस्थित करते समय उन्होंने पर्याप्त सावधानी भी रखी है, तथापि शोध का विस्तृत विषय होने के कारण या विवरण-संग्राहक की एतद्विषयक व्यापक दृष्टि के अभाव के कारण कुछ ऐसी भ्रान्तियाँ रह गई हैं, जिनसे भावी अन्वेषक भ्रान्त हो सकते हैं तथा जिन रचनाओं के विवरण संकलित किये हैं, जिन कवियों के परिचय दिये गये हैं, वे भविष्य के शोध में भी मिल सकते हैं, अतः उनके विषय में सन्दिग्ध तथ्यों का परिमार्जन नितान्त वांछनीय समझा गया। दूसरा कारण यह भी है कि ऐसे प्रयास ही तो आगे चलकर शोध-प्रबन्धों के आधार बनते हैं। भूलों की पुनरावृत्ति न हो, इसीलिए मुझे परिषद् द्वारा प्रकाशित विवरणों पर कुछ पंक्तियाँ लिखनी पड़ रही हैं।

जैसा ऊपर सूचित किया जा चुका है, विवरण का प्रथम और द्वितीय खंड श्रीधर्मेन्द्रजी ब्रह्मचारी के तत्त्वावधान में तैयार किये गये हैं। प्रथम खंड की उपयोगिता और उपादेयता का पता इसी बात से चल जाता है कि ऐसे शोधप्रधान ग्रन्थ का सीमित समय में दूसरा संस्करण निकालना पड़ा। अपेक्षाकृत कुछ ग्रन्थों का परिचय इसमें विशेष रूप से जोड़ दिया गया। पर, जैसा कि प्रथम संस्करण के 'दो शब्द' के अन्त में सूचित 'हम इस संग्रह को व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक नहीं बना सके; क्योंकि यह रिप्रिण्टों का संकलन-मात्र है और प्रयास भी प्रथम है। किन्तु, आशा है कि अगले संग्रहों को हम पूर्वनिर्द्धारित योजना के अनुसार साहित्यिक जगत् को भेंट कर सकेंगे', शब्दानुसार कुछ विशेष परिवर्त्तन-जैसा लगा नहीं, स्खलनाएँ एवं गलत निष्कर्ष यथावत् बने ही रहे। अतः, आवश्यक हो गया कि

इसका परिमार्जन किया जाय । यद्यपि इसमें मूल ग्रन्थकारों के अतिरिक्त भौगोलिक भूलें भी हैं, जैसे ढाका को मुर्शिदाबाद के निकट का नगर बताना (विवरण, खंड १, पृ० ३५) आदि; पर इनकी उपेक्षा ही की गई है। ऐसे शोधमूलक ग्रन्थों में अखरनेवाली दूसरी बात है पाठों का अशुद्ध प्रकाशन और शब्द-विन्यासों का अभाव । 'बिहारीसतसई', 'लक्ष्मी-चरित्र' आदि कृतियाँ इसके प्रमाणस्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं । तीसरी बात जो मुझे अखरी, वह यह कि जिस प्रकार हिन्दी-कवियों और लेखकों के परिचय दिये गये हैं, उसी प्रकार संस्कृत-रचयिताओं के परिचय भी क्यों नहीं दिये गये ? जिनके परिचय टिप्पणी में दिये भी गये हैं, उनसे सम्पादक को सन्तोष नहीं जान पड़ता, जैसे पृ० १५८ पर पुंजराज-कृत सारस्वतप्रक्रिया-व्याकरण का उल्लेख करते हुए सम्पादक ने केवल प्रतीति-मात्र बताई है कि इसके रचयिता कोई पुंजराज हैं । वस्तुतः, वह उन्हीं की रचना है, ऐसा उल्लेख विना किसी संकोच के होना चाहिए था । पुंजराज ने अपनी टीका की अन्य प्रतियों में अपना पूरा परिचय दिया है और सोलहवीं शती तक की प्रतिलिपीकृत प्रतियाँ प्राप्त भी होती हैं ।

विवरण में जो खंडित कृतियाँ हैं और जिनके केवल नाम ही मिलते हैं, ऐसी स्थिति में सम्पादक का कर्त्तव्य था कि वह प्रकाशित या अन्य हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर पाठ मिलाकर कर्त्ता आदि का परिचय देता । इसमें थोड़ा परिश्रम तो पड़ता है, पर काम पुख्ता हो जाता है । अज्ञात रचनाकारों की सूची भी सीमित हो जाती है । इस विषय पर अपनी ओर से अधिक कुछ न लिखकर अगामी पंक्तियों के परिमार्जन की ओर संकेत पर्याप्त होगा ।

विवरण के द्वितीय खंड का परिमार्जन 'सरस्वती', मई, १९६३ ई० में प्रकाशित किया जा चुका है ।

इसके बाद के तीन खंड स्व० मित्रवर्य श्रीनलिनजी द्वारा सम्पादित हैं । इनमें से दो तो हिन्दी-साहित्य से सम्बद्ध हैं और पाँचवाँ संस्कृत-कृतियों से । दोनों खंडों में कहीं-कहीं तो ऐसी स्खलनाएँ हैं, जिनपर मैं क्या कहूँ ? आगामी पंक्तियाँ स्वयं बोलेंगी । मुझे इसका कारण यही जान पड़ा कि श्रीनलिनजी ने अपने शोध की अपेक्षा सभा द्वारा प्रकाशित विवरण पर अधिक विश्वास किया, परिणाम विपरीत आया । उदाहरणार्थ, **गुरुप्रसाद** तथा **सूरत मिश्र** के परिचय को लिया जा सकता है । **चरणदास** के गुरु के सम्बन्ध में भी वही पुरानी सभा की भूलें दुहरा दी गई हैं । कहीं-कहीं शतियों की भी स्खलनाएँ हैं तो सामान्य, पर इसकी परम्परा गलत पड़ जाती है (द्रष्टव्य, खंड ४, पृ० १७ की टिप्पणी) ।

चतुर्थ खंड और पंचम खंड में केवल ग्रन्थसूची ही है । अच्छा होता, इनका विवरणात्मक परिचय दिया जाता, ताकि पता तो चलता कि वस्तुतः कौन-सी रचना किसकी है । विशेष कर संस्कृत-रचनाओं का विवरण तो नितान्त वांछनीय था । उदाहरणार्थ, 'बिहारीसतसई' की एक संस्कृत-टीका का उल्लेख है, पर यह नहीं बताया गया कि वह है किसकी रचित । परिचय होता, तो भले ही सम्पादक को पता न चलता, पर अन्य संग्रहकर्त्ता तो पता लगाते ही । इस पंचम खंड में भी चतुर्थ खंड के समान ग्रन्थकारों का सामान्य

(सभीपर नहीं) टिप्पणी द्वारा परिचय कराया गया है। पाठों की अशुद्धियाँ और गलत शब्द-विन्यास इस खंड में भी विद्यमान हैं।

सामान्यतः पाँचों खंड प्रकाशित हो जाने से साहित्यिक जगत् नव्य आलोक से प्रभावित हुआ है। श्रीमान् डॉ० ब्रह्मचारीजी और स्व० नलिनजी ने अनवरत श्रम कर जो परिपाक उपस्थित किया है, वह उनकी सूक्ष्मशोधक बुद्धि का परिचायक है। परिषद् शोध-कार्य भविष्य में भी जारी रखेगी और विवरण भी प्रकाशित होते ही जायेंगे, इसलिए आगे चलकर विगत भूलों को दुहराने का अवसर न आये, अन्वेषक के लिए कुछ आवश्यक बातें, जो सूझ रही हैं, यहाँ लिपिबद्ध करना अनुचित न होगा। आशा है, विद्वान् शोधक और अनुसन्धाता इसपर ध्यान देने का कष्ट करेंगे।

१. विवरण लेनेवाले विद्वान् अन्वेषक का सर्वप्रथम यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह कृति एवं कृतिकार के विषय में जो भी आवश्यक और प्रमाणभूत ज्ञातव्य देना चाहे, यथासम्भव ग्रन्थकार के शब्दों में ही समुपस्थित करे, ताकि भविष्य में भ्रम न फले और फैला आ भ्रम भी स्वयं परिष्कृत हो जाय। मान लीजिए कि किसी लेखक या कवि ने आत्मवृत्त अपनी रचना में नहीं दिया है, तो उनकी अन्य प्राप्त रचना से परिचय उद्धृत करना अपेक्षित है। परिचय देते समय विवरणकार या सम्पादक को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि कृतियों एवं कृतिकारों के सम्बन्ध में अन्यान्य जो भी आवश्यक ज्ञातव्य हों, उन्हें इस प्रकार संकलित करना होगा कि शोधक को कम-से-कम अन्यत्र खोज न करनी पड़े। पर, अद्यावधि प्रकाशित विवरणों में प्रदत्त परिचय में ऐसा देखा गया है कि ग्रन्थस्थ तथ्यों का भी पूरा उपयोग नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत मूल तथ्यों की उपेक्षा कर नवीन निराधार उद्भावना कर दी जाती है, जैसा आगामी पंक्तियों से पता चलेगा।

२. सचमुच, हस्तलिखित ग्रन्थों का विवरण लेना और उनसे लेखक का प्रमाणभूत परिचय समुपस्थित करना सरल कार्य नहीं है। एतदर्थ, पुरातन लिपि का ज्ञान नितान्त वांछनीय है। यदि अन्वेषक को कई लिपियों से परिचय हो, तब तो कहना ही क्या ? उन्हें सफलता-ही-सफलता मिलती चली जायगी। यह अनुभव किया गया है कि लिपि का समुचित ज्ञान न होने से कभी-कभी अनर्थ हो जाता है। सभा के १८वें त्रैवार्षिक विवरण में उदय कवि के प्रसंग में ऐसा ही हुआ है। अन्वेषक ने वहाँ कवि महेश की रचना को उदयकृत प्रमाणित कर दिया। बात यह हुई कि जहाँ 'उद्यम' शब्द था, वहाँ तो 'उदय' पढ़ लिया और जहाँ कवि महेश का नाम था, वहाँ 'महिमा' पढ़ लिया। परिणामस्वरूप, सम्पादक को महेश की रचना को उदयकृत मानना पड़ा। स्वल्प प्रमाद भ्रामक परम्परा का सर्जन कर डालता है। इतना अच्छा है कि अभीतक इसे उदय की रचनाओं में किसी इतिहास-लेखक ने स्थान नहीं दिया है। और भी ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं।

लिपिज्ञान जितना पुष्ट होगा, पाठ उतना ही शुद्ध लिया जा सकेगा, वर्ना विवरण कोरी प्रतिलिपि-मात्र रह जायगा। विवरणों में प्रायः देखा जाता है कि मूल पाठ एक बाँस के समान उद्धृत कर दिया है, पद-विन्यास की जैसे कोई आवश्यकता ही न हो। आलोच्य विवरणों में इस पंक्ति को चरितार्थ करने वाली सामग्री पर्याप्त है। जिनके संग्रह में मूल हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ हैं वे विवरणोद्धृत पाठों को देखकर दुःखी होते हैं और अनुभव करते हैं कि ऐसे गलत और भ्रामक पाठों के आधार पर कोई शोधार्थी या विदेशी भाषा-वैज्ञानिक शब्दों का अध्ययन करेगा, तो उन्हें कितनी असुविधाओं का सामना करना पड़ेगा। अशुद्ध पाठों के कारण ही कई बार ज्ञात कृतियाँ भी अज्ञात-कर्त्तृक रचनाओं की सूची में सम्मिलित कर दी जाती रही हैं।

प्राचीन ग्रन्थ प्रायः देवनागरी या प्रादेशिक लिपियों में मिलते हैं। जिस प्रकार एक ही भाषा प्रान्तीय भेद के कारण कई रूपों में परिवर्त्तित हो जाती है, ठीक उसी प्रकार एक लिपि होते हुए भी वह मरोड़ या हथौटी के कारण लिखावट में भिन्न प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ, एक प्रान्त की रचना किसी दूरवर्त्ती या विभाषी प्रदेश में प्रतिलिपित की जाती है, स्वाभाविक ही है, उसपर उस प्रान्त की लिपि का किंचित् प्रभाव पड़ेगा ही और असम्भव भी नहीं कि उसके पाठों पर भी वहाँ की भाषा का प्रभाव न पड़े। बल्कि, अनुभव तो यहाँतक किया गया है कि एक ही लिपि एक ही प्रान्त में कई रूप, लेखकों की कलाबाजी के कारण, धारण कर लेती है। इन सब परिवर्त्तनों का आभास अन्वेषक को होना चाहिए। शिलोत्कीर्ण और ताम्रोत्कीर्ण लेखों की वर्णमाला पर जितना विशद कार्य हुआ है, उतना तो क्या, उससे स्वल्प भी, पोथियों की लिपि के क्रमिक विकास पर नहीं हुआ। यहाँ स्मरणीय है कि यह आवश्यक नहीं कि सुन्दर लिपि का लेखक विद्वान् ही हो और वह अशुद्धि करे ही नहीं। पर, इन सब झंझावातों में से अन्वेषक को आत्ममार्ग निकालना पड़ता है।

अतः, उचित तो यह होगा कि लिपि-विभिन्नता के कारण अन्वेषक जिस प्रदेश में अपना काम करना चाहे, वह उस प्रदेश की लिपि, भाषा, इतिहास और प्रचलित साहित्य का ज्ञान अर्जित करे। जैसे, बिहार में काम करना है, तो उसे मैथिली, देवनागरी, गुरुमुखी (इसलिए कि वहाँ इस लिपि का साहित्य उपलब्ध है) कैथी और उर्दू का ज्ञान आवश्यक है। इनके वर्ण और परिवर्त्तित रूपों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। अच्छा तो यह होगा कि अन्वेषक १०वीं शती से आजतक के लिपि-विकासविषयक एक नक्शा ही बना ले; क्योंकि इस बीच की ही लिपि के ग्रन्थ मिलते हैं। कागज और तालपत्रों की लिपि का समावेश भी इसी काल में हो जाता है।

३. अन्वेषक को प्राचीन भारतीय साहित्य और भाषाओं का मौलिक ज्ञान होना चाहिए। जिस भाषा के साहित्य का विवरण लेना हो, उसका यदि समुचित ज्ञान न होगा, तो वह न तो ग्रन्थ का पूरा परिचय दे सकेगा और न ही कवि के विषय में ही वांछित ज्ञातव्य उपस्थित कर सकेगा। विषय-निर्देश की तो बात ही दूर है। अर्थज्ञान शोध के क्षेत्र में अत्यावश्यक है। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित 'हस्तलिखित पोथियों के विवरण' में कई स्थान पर कवि का हार्द न समझ सकने के कारण जहाँ परमात्मा की स्तुति के रूप में उसका नाम आया है, उसे ही विवरणकार ने कोई शासक आश्रय-दाता या कवि मान लिया है। आगामी पंक्तियों में वर्णित 'ठाकुर जुगलकिशोर', 'दीनबन्धु' और 'नन्दलाल' उदाहरण-स्वरूप विद्यमान हैं। तात्कालिक इतिहास का पर्यवेक्षण किया जाता, तो यह स्खलना न होती।

भारत के अनुकरण-प्रधान देश होने के कारण अन्वेषण के क्षेत्र में भी इसका प्रचलन रहा है। यह प्रथा तो गर्हित नहीं है, पर अनुसन्धाता को अपनी खोज को ही महत्त्व देना चाहिए। कभी-कभी अनुकरण महँगा पड़ जाता है, जैसे आलोच्य विवरणों में **गुरुप्रसाद** और **सूरत मिश्र** का परिचय ना० प्र० सभा के विवरणों के आधार पर दिया गया है। गुरुप्रसाद जिस रचना का प्रणेता मान लिया गया है, उसके रचयिता तो **मुनि मानजी** हैं और इस नाम के कर्त्ता की **रत्नसागर** कृति भी सन्दिग्ध है। सूरत मिश्र के परिचय का अनुकरण तो अत्यन्त हास्यास्पद है। अतः, यथासम्भव शोधक अपने श्रम से जो भी तथ्य निकाल सकें, निकालें। अपने निष्कर्ष का सही समर्थन अन्य उल्लेखों से प्राप्त हो, तो अनुकरण बुरा नहीं है; पर दूसरे के आधार पर अपनी खोज में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

४. भाषाज्ञान, लिपिज्ञान और ऐतिहासिक अनुभव के अतिरिक्त अन्वेषक को प्रत्येक धर्म और उसके सम्प्रदाय-उपसम्प्रदाय का भी अध्ययन करना चाहिए। साम्प्रदायिकता राष्ट्र के लिए अभिशाप है, पर अध्ययन के लिए यदि वरदान कह दिया जाय, तो अत्युक्ति न होगी। प्रत्येक सम्प्रदाय की साहित्यिक रचना-पद्धति अलग-अलग होती है। इनके गुरुओं की पाठावली का इतिहास जानना भी उपयुक्त है, ताकि कवि-परिचय देने में और रचना-समय निश्चित करने में सरलता रहे।

५. अनुसन्धान में प्रवृत्त गवेषक के लिए यह भी अनिवार्य है कि वह पूर्वप्रकाशित विवरणों का गम्भीर अनुशीलन कर ले। विना इसके काम प्रगति नहीं कर सकेगा। विवरण ही क्यों, प्रशस्ति-संग्रह, शिलालेख-संग्रह और अन्य ऐसी ही ज्ञातव्यपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री का अध्ययन अपेक्षित है। कोई लेखक या कृति ज्ञात है या अज्ञात, इसका निर्णय इस प्रकार की साधन-सामग्री द्वारा ही सम्भव है। सम्भव हो, तो भारतीय और विदेशी हस्तलिखित ग्रन्थ-

संग्रहालयों के सूचीपत्र भी देख लेना चाहिए। उपर्युक्त सूचनानुसार यथोचित पृष्ठभूमि तैयार कर शोध के लिए प्रवृत्त होनेवाला अन्वेषक आत्मकृत्य में सफलता प्राप्त करता चला जायगा। अनुभवों से वह स्वयं अपना मार्ग प्रशस्त कर लेगा।

मैं आलोच्य विवरणों के विषय में इतना निवेदन करना चाहूँगा कि अज्ञातकर्तृक रचनाओं की सूची देने की अपेक्षा तो उनका विवरण दे देना ही अधिक उपयुक्त होता है। रचनाओं की सूची के कई ग्रन्थ ज्ञातकर्तृक हैं। कभी-कभी देखा गया है कि प्रति में कृतिकार और कृति का नाम तो रहता है, पर अन्वेषक उसपर ध्यान नहीं दे पाता और उसे अज्ञात कृति घोषित कर देता है। सभा के विवरणों में कई ऐसी कृतियाँ पाई गई हैं।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने 'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण' प्रकाशित कर जो बहुमूल्य साहित्यिक नव्य सामग्री विद्वज्जगत् के समक्ष समुपस्थित की है, तदर्थ जितनी कृतज्ञता व्यक्त की जाय, कम है। विद्वान् और अनुभवी संचालक महोदय श्रीमाधवजी से आशा करें कि यह परम्परा भविष्य में भी चलती रहेगी। यदि अन्य प्रान्त भी इस प्रकार का कार्य अपने प्रदेश में करना आरम्भ कर दें, तो हिन्दी के मुख को उज्ज्वल करनेवाला अधिकाधिक भव्य सामग्री प्रकाश में आ सकती है। जितना शोधकार्य हुआ है, उससे कहीं अधिक सामग्री आज भी बिखरी पड़ी है, और वह दिनानुदिन विनष्ट हो रही है। हलवाई लोग मिठाइयों के बाँधने में प्राचीन पत्रों का निर्दयतापूर्वक उपयोग करते हैं, इसका एक ताजा उदाहरण देना चाहूँगा—

सन् '६३ ई० की बात है। जिलाधीश भीलवाडा (मेवाड़) श्रीयुत जसवंतसिंहजी सिंघवी, आइ० ए० एस्० दौरे के सिलसिले में एक छोटे-से ग्राम में पधारे। कुछ सामान मँगाने पर एक सुन्दर हस्तलिखित पत्र में वह बँधकर आया। देखने पर पता चला कि यह तो राजस्थान के महान् कवि **सूर्यमल्लजी मिश्रण-प्रणीत वंशभास्कर** है। फिर, हलवाई को बुलवाया गया और उससे कहा गया कि ऐसे और भी पत्र हैं? उसने जिलाधीश के समक्ष एक बोरा भरकर पुरातन हस्तलिखित साहित्य उपस्थित कर दिया। उसने तो एक रुपये में सारा कचरा खरीदा था। इसमें राजस्थान के राजघरानों से सम्बद्ध अनेक गोपनीय ऐतिहासिक तथ्यपूर्ण सामग्री उपलब्ध हो गई, जिसका उल्लेख तात्कालिक इतिहासों में भी नहीं मिलता। यह एक माना हुआ सत्य है कि सूर्यमल्लजी ने 'वंशभास्कर' अपूर्ण ही छोड़ दिया था। कुछ लोगों का मानना है कि इनका स्वर्गवास हो जाने से कृति उनके पुत्र द्वारा पूर्ण हुई। परन्तु, इसमें जो गुटका मिला है, जो इन्हीं के परिवार के सदस्यों द्वारा प्रतिलिपित है, उससे तो यही प्रमाणित होता है कि बूँदीपति अपने पारिवारिक कुछ सदस्यों के दोषारोपण की घटनाओं पर आवरण डलवाना चाहते थे और स्वाभिमानी कवि को यह स्वीकार न था। परिणामस्वरूप, यह निश्चय किया गया कि कृति को आगे न लिखा जाय। राजस्थान के साहित्य और इतिहास की दृष्टि से इस गुटके का कितना मूल्य है, यह तो सहृदय संशोधक ही समझ सकता है। जिलाधीश महोदय ने यह

संग्रह राजकीय वाचनालय, भीलवाडा में सुरक्षित करा दिया है। इन पंक्तियों के लेखक के साथ तो इस प्रकार आकस्मिक ग्रन्थ-प्राप्ति के कई प्रसंग जुड़े हुए हैं। बिहार-प्रदेश में भी इस प्रकार पर्याप्त सामग्री प्राप्त की जा सकती है।

इतने प्रासंगिक वक्तव्य के बाद मैं अब 'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण' खंड १, ३, ४ और ५ के परिमार्जन पर आता हूँ। परिमार्जन प्रस्तुत करने का एक-मात्र कारण यही है कि यदि आलोच्य कृतियाँ भविष्य में उपलब्ध हों, तो उनके सम्बन्ध में विगत भ्रम न दुहराना पड़े और शोध-प्रबन्ध लिखनेवाले भी सावधानी से विवरणों का उपयोग करें। सूचित चार खण्डों के परिमार्जन इस प्रकार हैं :

खंड १

३. कवि आनन्द : इनका परिचय इन शब्दों में दिया गया है—**कोकसार के रचयिता। इनकी मुख्यतः—कोकसार, कोकमंजरी, कोकबिलास और आसनमंजरीसार—चार रचनाओं का उल्लेख मिलता है।**

हिन्दी-भाषा में कामशास्त्रविषयक ग्रन्थ-प्रणेताओं में कवि आनन्द का विशेष योग रहा है। इनकी कृति का हिन्दी-जगत् में विगत तीन शतियों से अधिक आदर रहा है। शायद ही कोई ऐसा प्राचीन ज्ञानागार या वैयक्तिक हस्तलिखित संग्रह रहा होगा, जहाँ इनकी रचनाएँ उपलब्ध न होती हों। प्राचीन हस्तलिखित पोथियों के विवरणकार ने उपर्युक्त चारों रचनाओं को आनन्द-कृत बताया है, यह भ्रम है। वस्तुतः, एक ही कृति के विभिन्न नाम हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही कृति के विभिन्नविषयक अध्यायों को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार पृथक् करके अलग-अलग नाम दे दिये हैं; जैसे आसनमूलक विभाग को आसनमंजरी और सम्भोग-सम्बन्धी प्रकरण को कोकबिलास।

प्राचीन हस्तलिखित पोथियों के विवरण, खंड १, पृ० १२७, में कोकसार का जो प्रारम्भिक भाग दिया है, वह वस्तुतः मध्य भाग है, जैसा टिप्पणी में पृ० १२८ पर स्वीकार भी किया गया है कि **ग्रन्थ के आदि दस पृष्ठ खंडित हैं**। मेरे संग्रह में इस कृति की चार पूर्ण और कई खंडित प्रतियाँ हैं; पर सभा द्वारा प्रकाशित विवरणों में कोकसार आ चुका है, अतः यहाँ उद्धरण देना अनावश्यक जान पड़ा।

प्रसंगतः, मैं यहाँ अपने संग्रहस्थ अट्ठारहवीं शती के प्रतिलिपित हस्तलिखित गुटके से कवि आनन्द का एक अज्ञात पद्य उद्धृत कर रहा हूँ—

अथ दीपक वर्णन

मन्दिर को माणिक रमणी को देव कामनी को खेल यें बहाहीयें।
तिमर को नास कषे लषमी निवास करे देवता दयाल रूप आरती देषीयें ।।
भोगीकुं भुगावे वियोगीकुं रोवावे हकि कवि आनन्द परम सु पावे।
सिंघको तिलोक देष बंदना तिलोक करे टके टांक तेल तोलु दीवा न बुझाइये ।।

५. **कुंजनदास** : कवि पर टिप्पणी देते हुए विवरणकार ने निम्नांकित पद्यांश के आधार पर इन्हें दीनबन्धुदयाल नामक किसी राजा का आश्रित बताया है—

प्रभु दीनबन्धु दयाल दानी दास आपन कीजिए ।।३।।

इसी कथन को पृ० २८ पर दुहराते हुए **राजा दीनबन्धु का नाम भी पोथी के स्थलों में आया है**। पोथी मेरे सम्मुख न होने से अधिक तो मैं निवेदन नहीं कर सकता, पर उद्धृत पद्य से तो यही प्रतीत हो रहा है कि कवि ने परमात्मा की विनय ही की है। किसी के आश्रित होने की ध्वनि नहीं निकलती। कुंजनदास को विवरणकार ने सन्त माना है, तो स्वभावतः यह विचारणीय हो जाता है कि सन्त क्यों किसी संसारलिप्त राजा के आश्रय में रहने लगे।

६. कृपाराम : भागवत के एकादश स्कन्ध के अनुवादक कृपाराम होते हुए भी जाने क्यों विवरणकार ने पृ० १३६ की टिप्पणी में **इसके ग्रन्थकार कृष्णराम हैं**, लिख दिया ? खण्ड ३, पृ० १३२ पर भी इसी कृति का दूसरी बार परिचय दिया गया है। ये रामानुज-सम्प्रदायानुयायी कवि सं० १८५५ के लगभग विद्यमान थे और इनकी अन्य कृतियाँ सभा के खोज-विवरणों में आई हैं।

८. केशवदास : इनका ग्रन्थकारों के संक्षिप्त परिचय में अनुमित समय १६०० ई० दिया गया है, जब कि विवरण के पृ० १३७ पर टिप्पणी में रसिकप्रिया का रचनाकाल सं० १६४८ दिया है। जब किसी कवि का उनकी रचना से निश्चित समय प्राप्त हो जाता है, तब फिर अनुमान की आवश्यकता ही नहीं रह जाती और वह भी केशव जैसे विख्यात कवि के लिए, जिनका अस्तित्व-समय सूचित कृतिं के अतिरिक्त रामचन्द्रिका, कविप्रिया (दोनों का रचनाकाल सं० १६५८) और विज्ञानगीता (सं० १६६३) से सुनिश्चित है। कवि की जिन कृतियों का विवरण दिया गया है, उनकी प्रतियाँ भले ही खण्डित या कीटविद्ध हों, पर रचनाकाल तो अन्य प्रतियों से भी दिया जा सकता था।

११. चरणदास : ना० प्र० सभा के सभी विवरणों में इनकी रचनाओं के आधार पर इन्हें सुखदेव का शिष्य बताया गया है। वस्तुतः, वह अपने को शुकदेव का शिष्य मानते हैं, जो भागवत के विशिष्ट कथाकार थे। यद्यपि दोनों का कालिक अन्तर इतना अधिक है कि उसे बताने की शायद ही आवश्यकता रहती हो। स्वामीजी के १०८ शिष्यों में रामस्वरूपजी भी एक थे। इन्होंने गुरुभक्ति से प्रेरित होकर **गुरुभक्तिप्रकाश** नामक एक रचना की है, जिसमें सूचित किया गया है कि स्वामी चरणदास को शुकताल में शुकदेवजी ने प्रत्यक्ष दर्शन दिये थे, तभी से वह अपने को शुकदेवजी का अन्तेवासी मानते हैं। 'शुक' को 'सुख' लिख देना साधारण बात है, पर आश्चर्य तो इस बात का है कि सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों के संक्षिप्त विवरण, भाग १, पृ० १८४ पर सुखदेवजी का उल्लेख करते हुए इनका समय सं० १७६० लगभग बताया है और उसी का अनुकरण डॉ० धर्मेन्द्र जी ब्रह्मचारी ने परिचय-लेखन में किया है। सम्भव है, विद्वानों ने सुखदेव नामक किसी महात्मा की कल्पना की हो, पर **गुरुभक्तिप्रकाश** से शंका का स्वतः निरसन हो जाता है।

१६. नाभाजी : किसी लेखक के सम्बन्ध में स्वल्प साधन उपलब्ध हों, तो उसपर लेखनी चलाने में संकोच-सा अनुभव होता है और किसी प्राचीन कवि के विषय में अधिक सामग्री मिल जाय, तो भी अनुभवहीन अन्वेषक को उलझन हो जाती है। विवरण के

प्रथम खंड में नाभादासजी की भक्तमाल और उसपर प्राप्त टीकाओं ने ऐसी ही उलझन सम्पादक और विवरणसंग्राहक के सम्मुख खड़ी कर दी कि उन्हें पता ही नहीं चला कि वस्तुत: टीकाकार कौन है ? तभी तो भयंकर अनवस्था दिखलाई पड़ती है । मूल प्रतियों के समुचित निरीक्षण न कर सकने कारण ही भ्रामक परम्परा की सृष्टि हो गई । सोचने की बात है कि जहाँ मूल प्रतियों के आधार पर प्रस्तुत किये जानेवाले विवरणों की यह दशा है, वहाँ इनको आधारभूत मानकर शोध करनेवालों की क्या स्थिति होती होगी ?

प्राचीन हस्तलिखित पोथियों के विवरण, संख्या ९ में 'भक्तमाल, ग्रन्थकार नाभा स्वामी' शीर्षक से जिस प्रति का विवरण दिया गया है, वस्तुत: वह भक्तमाल का मूल न होकर टीका का अंश है । मूल पाठ तो प्रतीकात्मक-मात्र है । अन्तिम भाग में जो पद्य उद्धृत किया गया है, उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि इस टीका का प्रणेता कौन है ? विषय केवल श्रीकृष्णजीवन-सम्बन्धी प्रसिद्ध पोथी बताया गया है ।

इसपर टिप्पणी देते हुए लिखा गया है कि **इस ग्रन्थ में एक ही साथ कई टीकाकारों की टीकाएँ प्रतीत होती हैं । लेखन-शैली प्राचीन है । टीकाकार प्रियादास हैं । दूसरे टीकाकार नारायणदास हैं । ज्ञात होता है, नारायणदास ने मूल की टीका की है और प्रियादास ने उस टीका की भी टीका की है । ग्रन्थ के अन्त में लिखा है—**

अस्तुति श्री मूलकर नारायणदास जू की

छप्पै

नमो नमो महाराज नमो श्री नाभा स्वामी ।
गुण निधान सब जान काल नृप अंतर जामी ।।
भक्तमाल सुख जाल भक्तिरस अमृत भीनी ।
भगतु सिंधु को तरन धर्म नौका यह कीन्ही ।।
भागोत धर्म सब सुकथन को चतुर्वेद प्रगट्यो कही ।
जन लालदास के आस यह चरण सरण राखो सही ।।१।।

जब अनेक व्यक्तियों की संयुक्त टीका है, तब कम-से-कम उन-उन टीकाकारों के नाम और उनके उद्धरण देना चाहिए था, ताकि पता तो चलता कि इस पवित्र कार्य में किन-किन महानुभावों का योग रहा है । प्रियादास को छोड़कर दूसरे टीकाकार नारायणदास का उल्लेख है और आगे यह भी सूचित किया गया है कि नारायणदास-रचित टीका की टीका प्रियादास ने की है । सम्पादक महोदय का यह कथन सत्य नहीं है । कहीं भ्रमवश मूलकार नारायणदासजी, जो नाभाजी का ही नाम है, को तो टीकाकार नहीं मान लिया गया ? यहाँ स्पष्टता वांछनीय है कि प्रियादास ने किसी की टीका को आधार मानकर अपनी टीका नहीं लिखी, उन्होंने तो स्वतन्त्र ही अपनी टीका लिखी है, जिसका नाम है **भक्तिरस-बोधिनी**। ऊपरवाले उद्धरण से तो यही प्रमाणित होता है कि विवरणोल्लिखित टीका के प्रणेता जनलालदास ही हैं । प्रियादास और नारायणदास के नामों का समावेश व्यर्थ-सा जान पड़ता है । उपर्युक्त दोनों टीकाकार होते, तो उनके नाम के पद्य भी तो होते, बल्कि

अन्य पद्यों से तो यह ध्वनित होता है कि 'वैष्णवदास' और 'खेमदास' ने भी भक्तमाल पर टिप्पण-टीका लिखी थी। मूल प्रति का पुनर्निरीक्षण अपेक्षित है। अच्छा होता कि विवरण में शीर्षक यह रखा जाता—**भक्तमाल, मूलकर्त्ता नाभादास, टीकाकार जनलालदास।**

संख्या १० में भी **भक्तमाल, ग्रन्थकार नाभाजी** शीर्षक से जिस कृति का विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसका इस प्रकार उल्लेख होना चाहिए था—**भक्तिरसबोधिनी, टीकाकार प्रियादास।** कारण, विवरण में दिये गये शीर्षक के अनुसार वह भक्तमाल मूल नहीं है; वह तो प्रियादास-रचित भक्तमाल की टीका **भक्तिरसबोधिनी** है। मंगलाचरण के दोनों पद्य सूचित कृति के ही हैं। परन्तु, इसी विवरण में जो अन्तिम पद्य ६३२-६३३ उद्धृत हैं, वे 'भक्तिरसबोधिनी' के नहीं हैं, प्रत्युत लालदास की टीका के हैं। पर्याप्त मानसिक श्रमोपरान्त भी यह स्पष्ट न हो सका कि आदि के पद्य प्रियादास की रचना के और अन्तिम पद्य **जनलालदास** की रचना के, इस प्रकार गड़बड़ी कैसे हो गई ? मेरे संग्रह में प्रियादास की 'भक्तिरसबोधिनी' की सं० १७८० की एक प्रति प्रतिलिपित है, जिसका अन्तिम भाग निम्नांकित रूप में है। यह इसलिए भी उद्धृत करना पड़ रहा है कि विवरणकार ने इसका रचना-समय सं० १७६७ बताया है, जबकि रचना सं० १७६९ की है :

संवत प्रसिद्ध दस सात सत उन्हत्तर फाल्गुन मास वदि सप्तमी वितायकैं।
नारायणदास सुषरासि भक्तमाल जै के प्रियादास उर वसौ रहौ छायकै ॥६४३॥
अगिन जरावो लै कै जलमैं बुडावौ भावैसूलीयै चढावौ घोर रंग रल पिवायवी।
बीछु कटवावौ काटि सांप लपटावौ हाथी आगैं डरवावौ ए--तीनी उपजायवी॥
सिंघपै षवावौ चाहो भूमि गडवावौ तीषी अनीं वींघवावौ मोहो भूमि सुष नही पायवी।
व्रज जन प्रान काह्नू चलत यह कान करौ भक्त सौं विमुषता कों सुष न दिषायवी ॥६४४॥

इति श्रीभक्तमाल भक्तिरसबोधिनी टीका सम्पूर्णं ॥ सं० १७८० वर्षे माह सुदी ५ लिखतं अनीराय दीषत सनोढिया।

सम्पादक महोदय के इस कथन पर महान् आश्चर्य हो रहा है कि **पोथी के प्रारम्भ या अन्त में टीकाकार के नाम का स्पष्ट संकेत नहीं है, तथापि इसके टीकाकार लालचदासजी हैं।** उपर्युक्त पद्य-संख्या ६३३ में टीकाकार के रूप में लालदास का नाम आया है, जबकि सम्पादक ने लालचदास का उल्लेख कर दिया। सम्भवतः, यह नाम भूल से लिख दिया जान पड़ता है। कारण, लालचदास का परिचय पृष्ठ 'ढ' पर देते हुए इस कृति का सूचन नहीं किया गया है। दूसरा कारण यह भी है कि लालचदास का समय मेल नहीं खाता। विवरणकार ने इनका समय सं० १५२७ माना है और शिवसिंहसरोजकार ने सं० १६५२। भक्तमाल का समय सं० १६५७ लगभग निश्चित है। अतः, लालचदास के स्थान पर लालदास ही समझना युक्तिसंगत जान पड़ता है। फिर भी, एक प्रश्न ज्यों-का-त्यों खड़ा है और वह यह कि यदि विवरण में संख्या १० वाली कृति लालदास-कृत टीका की है, तो प्रियादास की टीका का मंगलाचरण वहाँ कैसे आ गया ? इसका स्पष्टीकरण तो तभी सम्भव है, जब प्रति का निरीक्षण किया जाय।

संख्या ११ में भी भक्तमाल टीका उल्लिखित है। टिप्पणी में कहा गया है कि पोथी के टीकाकार प्रियादास हैं। यह कथन भी सत्य नहीं है। कारण, प्राथमिक भाग जो उद्धृत है, वह प्रियादास-कृत टीका का नहीं है। प्रियादास का मंगलाचरण तो संख्या १० वाला भाग है, जबकि जिस टीका को प्रियादास-रचित बताया गया है, वह गद्य में है और प्रियादास ने तो टीका पद्य में प्रस्तुत की है। संख्या ११ वाली टीका गद्य-पद्यात्मक और विवेचनात्मक है। विषय को परिपुष्ट करने के लिए टीकाकार ने तत्त्वज्ञान के, गीता आदि ग्रन्थों के उद्धरण भी दिये हैं। मेरे विनम्र मतानुसार यह टीका महाराज सुखस्वरूपजी की जान पड़ती है। प्रियादास की टीका का नाम आया है, इसका तात्पर्य इतना ही है कि प्रियादास की रचना का उपयोग सुखस्वरूपजी ने आत्मकृति में किया है। प्रियादास-कृत टीका का 'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण', खंड ४ में उल्लेख भी किया गया है। वहाँ रचनाकाल सं० १७६७ बताया गया है, जो सभा द्वारा प्रकाशित 'हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का विवरण' भाग १, पृ० ९२ का अनुकरण है। वास्तविक रचनासमय सं० १७६९, फाल्गुन कृष्णा ७ है। इनकी अन्य रचनाओं का विवरण सभा के १४वें विवरण में उल्लिखित है। प्रसंगवश, यहाँ सूचित करना उपयुक्त जान पड़ता है कि प्रियादास की टीका की जितनी भी प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं, उन सबमें पद्य-संख्या समान नहीं है।

२६. नन्दलाल : 'रामरत्नगीता' के प्रणेता निम्नांकित दोहे के आधार पर नन्दलाल माने गये हैं—

वीनती करौं अधीन होऐ दीनबन्धु नंदलाल। (विवरण, पृ० २१)

टिप्पणी में सूचित किया गया है कि **ग्रन्थकार का नाम ग्रन्थ के आदि या अन्त में नहीं है। प्रारम्भ के पद्यों में एक स्थान पर 'वीनती करौं अधीन होऐ दीनबन्धु नन्दलाल' पद आया है। नन्दलाल भगवान् श्रीकृष्ण के लिए आया है; क्योंकि इस पद के पूर्व श्रीकृष्ण का प्रसंग है। यदि 'दीनबन्धु' से श्रीकृष्ण का बोध हो सकता है, तो यह (नन्दलाल) ग्रन्थकार के नाम की ओर संकेत कर रहा है।**

मेरे ध्यान से तो नन्दलाल प्रणेता न होकर भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में ही आये हैं। ग्रन्थ के रचयिता तो कुशलसिंह ही जान पड़ते हैं, जैसी कि आशंका परिचय में प्रकट की गई है। कुशलसिंह की अन्य रचनाओं का परिचय 'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण', खंड ३ में है।

२७. श्रीभट्ट : विवरणकार ने इन्हें निमादित्य का शिष्य, सं० १६०१ में वर्त्तमान, ठाकुर जुगलकिशोर का आश्रित और 'आभासदोहा' का प्रणेता बताया है। कविनाम के अतिरिक्त उपर्युक्त सभी बातें तथ्यहीन हैं। इन सबका निराकरण 'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण', खंड २ के परिमार्जन में किया जा चुका है। अतः, यहाँ पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं है।

३०. सूरदास : महाकवि सूरदास-कृत 'सूरसागर' का विवरण देते हुए डॉ० ब्रह्मचारीजी ने दावा किया है कि सं० १८२५ की प्रति ही उपलब्ध प्रतियों में सबसे प्राचीन है (पृ० ७६)। पर, यह सत्य नहीं है; क्योंकि १७वीं शती की कई प्रतियाँ काँकरोली,

बीकानेर, नाथद्वारा, झालरापाटन, बुरहानपुर, अलीगढ़, उदयपुर आदि अनेक स्थानों से प्राप्त हो चुकी हैं, जिनका प्रामाणिक परिचय पं० जवाहरलालजी चतुर्वेदी ने पोद्दार-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ११९—१३२ में प्रकाशित अपने 'सूरसागर का विकास और उसका रूप' शीर्षक निबन्ध में दिया है। यह हो सकता है कि बिहार-प्रान्त में उपलब्ध प्रतियों की अपेक्षा सूचित सं० १८२५ वाली प्रति सर्वप्राचीन रही हो।

प्रसंगवश, मैं यहाँ 'सूरसागर' की एक सर्वथा अनुल्लिखित प्रति का परिचय दे रहा हूँ, जो भरतपुर की 'पब्लिक लाइब्रेरी' में सुरक्षित है। ज्ञात होता है कि यह गुटकाकार प्रति तैयार करानेवाले परम कलोपासक थे। कारण, इसके हाशियों पर सुन्दर, सुशोभन और विविध भाँति के बेल-बूटे चित्रित हैं। कहीं-कहीं स्थान छोड़े हुए हैं, जो इस बात के परिचायक हैं कि वहाँ चित्र की व्यवस्था करनी थी। अन्तिम लेखन-पुष्पिका इस प्रकार है—

> **इतिश्रीभागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे सूरदास कृतौ पद संपूर्ण ॥ इदं शुभमस्तु ॥ वर्षे पौष मासे शुक्लपक्षे दुतियायां गुरुवासरे लिषितं पुस्तकं भागवत्मिदं ॥ संवत् १८६१। इदं पुस्तकं लिषितं श्री ठाकुर रत्नगोपाल पठनार्थं। महंत श्रीमहाराज रतनदासजी तिनके सिष्य महंत गोपालदासजी तिनके सिष्य श्रीचंदलदासजी। महंत श्री देवादासजी महाराज लिषापितं ॥ शुभं भवतु। संप्रदाय हरिव्यासी अषाडो निर्वान द्वारो नागावत जिनको श्री**

दोहा

भरतपुर सुवस लसै ताहां राज बलवंत।
ताकैं न्याय प्रताप तैं सुषी प्रजा सब जंत ॥१॥
दसकत सेढ़ूरांम के लिषी हरष उर धार।
भूलि चूक ज्यौं मैं लिषी, पंडित लेहु सुधार ॥२॥

कवित्त

आदिहि रतनदास बस्तिके भरथपुर प्रेम भाव रतन गुपाल कौं लड़ायौ हैं।
तिनके गोपालदास आनद निवास तिनकौ सुवास सदा चंचल कहायौ हैं॥
तिनके सुअनुज महंत देवादास राजैं जिनकौ सुजस ब्रजमंडल मैं छायौ है।
हितके बढावनकौं भक्ति उपजावन कौं सेढू वैश्य हाथ सुरसागर लिषायौ है॥

अब यहाँ उन कृतियों पर विचार किया जा रहा है, जिनके कर्त्ता के नाम कृतियों में रहते हुए भी विवरणकार और सम्पादक महोदय ध्यान न दे सके या उनकी दृष्टि में वे नाम भ्रामक सिद्ध हुए। एकाध नाम भाषान्तरकार का भी छूट गया है। जब संस्कृत में मूल और टीकाकार का नाम आता है, हिन्दी में भी आना चाहिए। उदाहरणार्थ, विवरण के पृ० ७ पर 'असज्जनमुखचपेटिका' के मूल रचयिता रामाश्रमाचार्य हैं और भाषाकार हैं श्रीमज्जानकीप्रसाद। इनका नाम स्वतन्त्र अनुवादक के रूप में आना आवश्यक था। मूल कृतिकारों का महत्त्व है, तो अनुवादक भी अपना स्थान रखता है। पृ० १८ पर 'सतनाम विहंगम' की टिप्पणी में गुरुमुखी को सिखों की भाषा कहा है, जब कि

गुरुमुखी भाषा न होकर वस्तुत: लिपि है। पृ० २४ पर 'वैद्यरत्नार्णव' का पाठ इतना भ्रष्ट छपा है कि सामान्य व्यवहार में आनेवाली ओषधियों के नाम भी शुद्ध नहीं हैं।

पृ० ३४ पर 'सुमीरन दानलीला' का उल्लेख कर रचयिता का नाम नहीं लिखा गया है और अज्ञातकर्तृक सूची में इसका समावेश करते हुए इसे कबीर-साहित्यान्तर्गत माना गया है, जो स्पष्ट भूल है। वस्तुत:, यह कृति कृष्णदास की है, जिसका विवरण खंड ३, पृ० २३ पर दिया गया है। प्रस्तुत निबन्ध में भी कृति का अन्तिम भाग अपनी प्रति से उद्धृत किया गया है। विवरणवाली प्रति में कबीर और धर्मदास का नाम उस सम्प्रदाय के व्यक्तियों ने यों ही डाल रखा है। विद्वान् अनुसन्धाताओं से अनुरोध है कि वे 'दानलीला' से तुलना करें। प्राचीन साहित्य में इस प्रकार की फेरबदल दृष्टिगोचर होती है।

१. प्रथम खंड के अज्ञात रचनाकारों में सुविज्ञात **सन्त निश्चलदास** का भी समावेश कर लिया गया है। इनकी कृति **विचारसागर** का विवरण दिया गया है। ग्रन्थकार के विषय में पृ० ६१-६२ पर विवरणकार ने विशद टिप्पणी दी है, जिसका मुख्यांश इस प्रकार है—**यह ग्रन्थ खंडित है। पुष्पिका (अन्त) के पृ० खंडित होने के कारण ग्रन्थकार; लिपिकार, टीकाकार के सम्बन्ध में तथा इनके काल आदि किसी भी बातों का संकेत नहीं मिलता। ग्रन्थ के मध्य में यथासम्भव कोई परिचयात्मक संकेत नहीं दिया हुआ है। अतः, नहीं कहा जा सकता कि इसके लेखक और लिपिकार कौन हैं और उनका समय क्या है?**

२. यद्यपि ग्रन्थकार के नाम की चर्चा न तो ग्रन्थ के आदि में और न अन्त में हुई है, किन्तु दो स्थानों में नाम मिले हैं, जो अनुसन्धायकों के लिए विवेच्य हैं। पृ० ३३ में (जामें मति की गति नही सोई निश्चलदास) और पृ० १३० के सोरठे (?) के अन्तिम चरण में (सूत्र को बनाई जाल बनको बिभाग कीन्ह करन प्रनाम ताहि निश्चल पुकारिकौ) दो बार निश्चलदास नाम आया है, जो स्पष्टतः ग्रन्थकार के नाम की ओर संकेत कर रहा है।

४. ...ग्रन्थकर्त्ता का 'निश्चलदास' नाम भी नवीन-सा प्रतीत होता है।

टिप्पणी १ से स्पष्ट है कि विवरणकार को ग्रन्थ में कहीं ग्रन्थकार आदि का संकेत तक नहीं मिला। फिर, समय आदि का तो प्रश्न ही कैसे उठता? टिप्पणी २ में ग्रन्थकार के विषय में कुछ धुँधला आभास मिला, जिसे उसने टिप्पणी ४ में ग्रन्थ के अन्तः-साक्ष्य के आधार पर कृतिकार का नाम निश्चलदास अनुमित कर लिया। अनुमित इसलिए कि यदि निश्चलदास ग्रन्थकर्त्ता निश्चित होता, तो ग्रन्थकारों की नामानुक्रमणिका, परिचय आदि में उसका उल्लेख अवश्य ही किया जाता; पर ऐसा नहीं हुआ है। विवरण-कार विद्वान् ने हर जगह इससे बचने की चेष्टा की है।

सूचित विवरण के प्रथम खंड में विवरणकार ने ना० प्र० स० द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित हिन्दी-ग्रन्थों के १४वें त्रैवार्षिक विवरण का उपयोग किया है (द्रष्टव्य, पृ० २२६), फिर भी उसकी दृष्टि सम्भवत: उसमें विवेच्य निश्चलदास (पृ० ४७०) पर नहीं पड़ी, अन्यथा न तो उसे टिप्पणी गढ़नी पड़ती और न ही यह अनर्गल होता। सभा के विवरणकार पृ० ६७ पर निश्चलदास का परिचय तो देते हैं, पर उनके अस्तित्व-समय पर

मौन हैं। वस्तुतः, **विचारसागर** दादू-सम्प्रदाय के बनवारीजी की परम्परा के निश्चलदास की ही कृति है और इनका समय सं० १८७०—१९१५ है।[1]

सभा के विवरण में 'युक्तिप्रकाश' और 'वृत्तिप्रभाकर' निश्चलदास की दो और स्वतन्त्र कृतियाँ मानी गई हैं, जब कि दोनों क्रमशः 'कठोपनिषद्' एवं 'ईशावास्योपनिषद्' की वृत्तियाँ हैं।[2]

पृ० १३७ पर **हरिदास-कृत रासलीला** का विवरण दिया गया है। यह हरिदास निम्बार्क-सम्प्रदाय के सन्त जान पड़ते हैं, जिनकी रचना का विवरण ना० प्र० सभा के पन्द्रहवें विवरण में संख्या ७७ पर आया है; क्योंकि कोई भागवत ही रासलीला का प्रणयन कर सकता है। इनका दशमस्कन्ध का अनुवाद उपलब्ध भी है, जो रासलीला का परिचायक है। इस नाम के और भी कतिपय विद्वान् हुए हैं। एक तो 'एकादशी-माहात्म्य' के रचयिता, जिनका समय सं० १६४७ है। गीता का अनुवाद भी एक हरिदास का प्राप्त है; पर पुष्ट प्रमाण के अभाव में नहीं कहा जा सकता कि सब हरिदास एक ही थे या भिन्न ? निम्बार्क-सम्प्रदाय के अति प्रसिद्ध हरिदास, जो वाणीकार के नाम से विख्यात रहे हैं, इनसे भिन्न हैं।

सम्पूर्ण विवरण को विहंगम दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि इसमें कहीं-कहीं जो मूल पाठ दिये हैं, वे इतने अशुद्ध और पद-विन्यासहीन है कि साधारण जन को अर्थ या उसके रहस्य तक पहुँचना कठिन हो जाता है। कुछ पाठों का पद-विन्यास इस बात का परिचायक है कि सम्पादक या विवरणसंग्राहक ने अर्थ पर विचार ही नहीं किया है। अन्यथा, इतनी भूल न होती।

खण्ड ३

२. **कृष्णदास** : 'दानलीला' का उल्लेख करते हुए इनका अस्तित्व-समय अट्ठारहवीं शती बताया है, जिसका आधार अज्ञात है। इसी रचना का उल्लेख विवरण के चतुर्थ खंड में, पृ० २०, संख्या ३४० पर करते हुए टिप्पणी में सूचित किया है कि अष्टछाप के **कवि, पयहारी उपनाम से प्रसिद्ध, अग्रदास के गुरु, सं० १६०७ के लगभग वर्त्तमान, ना० प्र० स० (काशी) की खोज में उपलब्ध कवि।**

विवरणकार का उपर्युक्त परिचय पर्याप्त भ्रामक है। इसका आधार ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित 'हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण', पृ० २० जान पड़ता है। यद्यपि वहाँ 'दानलीला' का उल्लेख नहीं हुआ है, तथापि **पयहारी** विशेषण दिया गया है। पयहारी और अष्टछापवाले कृष्णदास अट्ठारहवीं शती में तो निश्चित रूप से हुए ही नहीं है, प्रत्युत दोनों समान नामधारी भिन्न व्यक्ति थे। कृष्णोपासक थे अष्टछापवाले, तो पयहारीजी रामोपासक थे। समय-साम्य स्वल्प अवश्य रहा है। इसी से यह भ्रम फैला है।

अष्टछापवाले कृष्णदास वल्लभाचार्य के शिष्य और जाति के शूद्र थे। **चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता** में इनका उल्लेख आता है। शूद्र होते हुए भी अटूट कृष्णभक्ति के कारण

१-२. श्रीदादू महाविद्यालय-रजत-जयन्ती-ग्रन्थ, पृ० ८३।

ये मन्दिर के मुखिया जैसे उच्च पद पर आरूढ थे। इनके राधाकृष्ण के श्रृंगाररसमूलक पद प्रसिद्ध रहे हैं। **जुगलमानचरित्र** भी इनकी रचना है। पं० रामचन्द्रजी शुक्ल ने अपने इतिहास में सूचित किया है कि अष्टछाप के अन्य कवियों के समान इनकी कविता नहीं है। तात्कालिक वैष्णव-साहित्य में इनके सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं।

दूसरे कृष्णदास पयहारी, रामानन्दी सम्प्रदाय के अनन्तानन्द के शिष्य और अग्रदास के गुरु और रामानन्दी सम्प्रदाय की गाल्वाश्रम-गलता की गद्दी के संस्थापक थे। इनके शिष्य अग्रदास की रचनाएँ सं० १६३२ की प्राप्त भी हैं। यही अग्रदास भक्तमाल के सुप्रसिद्ध प्रणता नाभादास-नारायणदास के गुरु थे। नाभादासजी का समय सं० १६५७ लगभग निश्चित है। दोनों कृष्णदासों में इतना मान्यताविषयक मौलिक भेद रहते हुए भी समझ में नहीं आता कि दोनों को एक व्यक्ति क्यों मान लिया गया?

पयहारी कृष्णदास के वैयक्तिक जीवन पर विस्तृत प्रकाश डालनेवाली मौलिक और प्रमाणभूत सामग्री अधिक नहीं मिलती। चौमूँ-निवासी हनुमान्जी शर्मा-लिखित नाथावतों के इतिहास से पता चलता है कि ये बड़े साधक तपस्वी और योगनिष्ठ महात्मा थे। जयपुर में सूरजपोल के बाहर पूर्व की ओर पहाड़ी है, वही गाल्वाश्रम-गलताजी का स्थान है, जहाँ सन्तजी विराजते थे। कहा जाता है कि रामानन्दियों की यह गद्दी इन्हीं के प्रयत्न से स्थापित हुई थी। आमेराधिपति महाराज पृथ्वीसिंहजी की, रानी (जो बीकानेर के लूणकरण सिंह की पुत्री थी) बालाँबाई को इन्होंने मन्त्रोपदेश दे वैष्णव धर्म में दीक्षित किया था, जब कि पृथ्वीसिंह कापालिक चतुरनाथ के शिष्य थे। कृष्णदास ने इस कापालिक को अपनी अध्यात्मिक शक्ति से परास्त कर गलता की गद्दी से नाथों को सदा के लिए समाप्त किया और उस स्थान पर अपनी धूनी रमा दी। आज भी वह स्थान तीर्थ के रूप में पूजित है। इनके समय में राजस्थान में नाथ-परम्परा का **प्राबल्य** था। कृष्णदास ने जनमानस को रामभक्ति की ओर गतिमान् किया। इस घटना को सत्य मान लिया जाय, तो यह निश्चित है कि इनका समय सोलहवां शती के अन्त में पड़ता है। **अग्रदास और कील्हदास** इन्हीं के शिष्य थे। भक्तमाल के प्रणेता नाभादास-नारायणदास भी इन्हीं की परम्परा के रत्न हैं। दूध ही इनका आहार होने के कारण 'पयहारी' नाम से विख्यात हुए।

यद्यपि अद्यावधि राजस्थान की सांस्कृतिक परम्पराओं का इतिहास नहीं लिखा जा सका है, तथापि अन्यान्य तात्कालिक ऐतिहासिक साधनों से प्रमाणित है कि सोलहवीं-सत्रहवीं शतियों में वहाँ के व्यापक भूखंड पर नाथ-सम्प्रदाय का प्रभाव था। तान्त्रिकों का वर्चस्व था। वैष्णव-सम्प्रदाय का उल्लेखनीय प्रभाव सीमित ही था। नाथ योगविद्या के प्रति पूर्ण आस्थावान् थे। कृष्णदासजी ने भले ही नाथों को गलता से निकाल बाहर किया, पर वे उनकी योगसाधना की परम्परा से अप्रभावित न रह सके। बल्कि, इनकी शिष्य-परम्परा में योगनिष्ठ साधना प्रतिफलित हुई, जिससे 'तपसी शाखा' का प्रादुर्भाव हुआ। इसकी विशिष्ट सफलता पयहारी के प्रशिष्य और कील्हदास के शिष्य **द्वारकादास** द्वारा प्राप्त हुई, जिसका उल्लेख नाभादासजी ने अपनी 'भक्तमाल' में इस प्रकार किया है—

अष्टांग जोग तन त्यागीयो द्वारकादास जानैं दुनी ।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में पं० शुक्लजी ने इसका विवेचन प्रस्तुत किया है, पर वहाँ द्वारकादास की कृति का उल्लेख नहीं हैं। मेरे संग्रह में शुक्लजी द्वारा वर्णित मान्यताओं का पोषण करनेवाली एक कृति **द्वारकादास बावनी** संगृहीत है। इसका अद्यावधि प्रकाशित हिन्दी-भाषा और साहित्य के एवं सन्त-परम्पराओं के किसी भी इतिहासों में उल्लेख नहीं हुआ है। यह कृति पयहारीजी के समय की साधनामूलक परम्परा पर अभिनव प्रकाश डालती है।

'दानलीला' का विवरण जिस प्रति के आधार पर दिया गया है, वह अपूर्ण प्रतीत होता है। ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित १३वें विवरण में भी जिन हस्तलेखों के सहारे विवरण प्रस्तुत किया गया है, वे पर्याप्त पाठ-वैषम्य लिये हुए हैं। मेरे संग्रह में इसकी एक प्रति है, वह भी पाठभेद की दृष्टि से विशेष महत्त्व की प्रतीत हुई है।

५. गुरुप्रसाद : ना० प्र० सभा के १४वें विवरण में इनके विषय में जो भ्रान्ति हुई है, उसी का अनुकरण यहाँ भी हुआ है। जब कि सचाई यह है कि गुरुप्रसाद नामक ऐसा कोई कवि या व्यक्ति ही नहीं हुआ है, जिसने **कविविनोद** और **वैद्यकसार** लिखे हों। सभा के विवरण में कवि का परिचय इन शब्दों में दिया गया है—

> **इनका बनाया 'कविविनोद' नामक ग्रन्थ (रचनाकाल सं० १७४५, १६८८ ई० और लिपिकाल सं० १८२१) शोध में मिला है, जो वैद्यक से सम्बन्ध रखता है। सम्भव है, वह 'रत्नसागर' से भिन्न, जो सं० १७५५, १६६८ ई० के लगभग वर्त्तमान था, अभिन्न हो (?)। इसी विषय का दूसरा ग्रन्थ 'वैद्यकसारसंग्रह' और मिला है, जो इन्हीं का रचा जान पड़ता है।**
>
> **(खोज-विवरण, पृ० ४**

कविविनोद का विवरण देते हुए ग्रन्थकार का जो परिचय दिया गया है, वह अपेक्षित सतर्क शोधवृत्ति का परिचायक नहीं है, बल्कि स्पष्ट कहा जाय, तो इसके विपरीत इसके अनुशीलन में जो वास्तविक तथ्य थे, वे तो उपेक्षित कर दिये गये और कल्पना को पंख लगाकर ऐसी निराधार उद्भावना कर डाली, जिसका कृति से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः, 'कविविनोद' का प्रणेता गुरुप्रसाद न होकर खरतरगच्छीय आचार्य श्रीजिनचन्द्र**सूरि के** प्रशिष्य एवं **सुमतिमेरु के** शिष्य मुनि **मानजी** हैं, जो मूलतः बीकानेर के निवासी थे और जिन्होंने लाहौर में सं० १७४५, वैशाख शुक्ला ५, सोमवार को यह बनाया।

आलोच्य चौदहवें विवरण के पृ० ६७१ पर संख्या ५२३-५२४ में 'वैद्यकसार-संग्रह' का उल्लेख है। इन्हें भी गुरुप्रसाद (मानजी) की रचना मानने की कल्पना की गई है। यदि उपर्युक्त कथन में सचाई होती, तो इन रचनाओं को अज्ञात कृतियों में सम्मिलित करने की क्या आवश्यकता थी? सचाई यह है कि अनुभूत प्रयोगों के इस प्रकार के अनेक संग्रह पुरातन ज्ञानभांडारों में मिलते हैं, जिनके संग्राहक और प्रणेता का पता नहीं चलता। ऐसे १० संग्रह मेरे निजी संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

मानजी मुनि आयुर्वेद के विशिष्ट अभ्यासी और कुशल चिकित्सक थे। इनकी एक और रचना **कविप्रमोद** (रचनाकाल सं० १७४६, कार्त्तिक शुदि २) पाई जाती है। इसकी प्रशस्ति में कवि ने अपने-आपको **सुमतिमेरु** के गुरुबन्धु **विनयमेरु** का शिष्य बताया है। शिष्य चाहे किसी के भी हों, परन्तु इतना तो सत्य है कि 'वैद्यविनोद' के प्रणेता गुरुप्रसाद न होकर मुनि मानजी हैं।[1]

प्राचीन हस्तलिखित पोथियों के विवरण के तीसरे खंड में **रत्नसागर** के प्रणेता के रूप में **गुरुप्रसाद** का जो उल्लेख किया गया है, वह सभा के विवरण के आधार पर ही किया जान पड़ता है। कारण, विवरण में जो भाग उद्धृत है, उसमें कहीं भी गुरुप्रसाद का नाम निर्दिष्ट नहीं है। सम्भव है, यह रत्नसागर किसी और कवि की रचना रही हो। क्योंकि, एक ही नाम की विभिन्न कृतियाँ पाई गई हैं, यद्यपि यह कृति खंडित है और कीटविद्ध भी। पर, जहाँ प्रकरण समाप्त होता है, वहाँ तो कवि का नाम आना चाहिए। मूल प्रति को विना देखे कहना कठिन है कि विवरणोल्लिखित 'रत्नसागर' गुरुप्रसाद की रचना है।

विवरणकार की टिप्पणी से पता चलता है कि कृति कथा के द्वारा विविधविषयक ज्ञान का बोध देती है। **प्रेमनगर** रूपकात्मक नाम ज्ञात होता है। प्रारम्भिक भाग में **सुजानसिंह राजा** का नाम आता है और नगर के रूप में प्रेमनगर के बाद **रूपनगर** का उल्लेख है। कहीं सुजानसिंह से भरतपुर-नरेश सूर्यमल्लजी (जिसे सुजानसिंह भी कहते थे) का तात्पर्य तो नही हैं? और, रूपनगर से भरतपुर जिलान्तर्गत **रूपवास** का सम्बन्ध भी सम्भव है।

११. **नरहर :** इन्हें परिषद् के विवरणकार ने सर्वथा अज्ञात कवि मान लिया है, जबकि ये अत्यन्त सुविज्ञात कवि रहे हैं। यदि **अकबरी दरबार के हिन्दी कवि** नामक शोध-प्रबन्ध देख लिया होता, तो इतनी बड़ी भूल न हो पाती। यह नरहर और कोई नहीं, अकबर की सभा के कवि और असनी-निवासी **महापात्र नरहरि** ही हैं। परिषद् के प्रकाशित विवरण के खंड ३ में इनकी कृति का जो उद्धरण दिया गया है, वह इन्हीं के स्फुट कवित्तों का संकलन-मात्र है। अन्तिम पद्य तो 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि' के पृ० २३२ पर मुद्रित है। हाँ, उसमें और आलोच्य विवरण में पाठभेद है, जो स्वाभाविक है। मेरे निजी संग्रह में नरहरि के कई ज्ञात-अज्ञात छन्द सुरक्षित हैं, जिनका पाठ प्रकाशित पाठों से मेल नहीं खाता। उपर्युक्त नरहरि महापात्र की **रुक्मिणीमंगल** आदि कई स्फुट कृतियाँ प्राप्त हैं।

---

१. यहाँ स्मरणीय है कि इसी नाम के और भी १८वीं शती में तीन कवि हुए हैं। एक तो वह, जो 'संयोगद्वात्रिंशिका' (रचनाकाल सं० १७३१), 'बिहारीसतसई-टीका' तथा 'राजविलास' के प्रणेता थे। ये विजयगच्छीय राजमान्य यति थे। श्रीअगरचन्दजी नाहटा ने संयोगद्वात्रिंशिका का रचयिता इन्हीं 'मान' को न मानकर कविविनोदकार को मानने की असफल चेष्टा 'राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज', भाग २ में की है। दूसरे, मान तमाखू-पचीसी और बादसाह फरुखशियर कवित्तों के रचयिता। तीसरे, माताजी के छन्द कवित्त आदि के प्रणेता। एक अज्ञातकालिक मान का उल्लेख ना० प्र० सभा के सन् १९३२-३४ ई० के विवरण में है, जिसकी रचनाएँ (१) लक्ष्मणचरित्र, (२) नरसिंहचरित्र, (३) नखशिख और (४) हनुमानपचासा आदि मिलती हैं।—ले०

१३. (क) **नन्ददास :** इस सन्दर्भ में **अनेकार्थमंजरी** का विवरण दिया गया है और इसे **अनेकार्थध्वनिमंजरी** का एक भाग माना गया है । अपर नाम 'नाममाला' सूचित किया गया है, जबकि 'नाममाला' नन्ददास की स्वतन्त्र रचना है, जो 'मानमंजरी नाममाला' के नाम से विख्यात है । 'मानमंजरी नाममाला' को विवरणकार ने भी स्वतन्त्र कृति माना है, जिसका विवरण पृ० ४४ पर दिया गया है । विवरण के प्रथम खंड, पृ० ५ पर नाममाला का उल्लेख नन्दकोश के नाम से करते हुए टिप्पणी में कहा गया है कि यह नाममाला का प्रथम खंड है । इसके और भी कई खंड हैं । सच बात तो यह है कि नन्दकोश और अनेकार्थमंजरी एक ही कृति है । नन्ददास की रचनाओं पर तो श्रीउमाशंकर शुक्ल द्वारा वैज्ञानिक कार्य हो ही चुका है । मेरे निजी संग्रह में नन्ददास की कई ऐसी कृतियों की प्रतियाँ हैं, जिनका सम्पादन में उपयोग नहीं हुआ है ।

(ख) **प्रेमदास :** इनका समय सं० १७९१ बताते हुए हितहरिवंशजी का शिष्य होना सूचित किया है । इनका समय सं० १७९१ निश्चित ही है । 'लगभग' शब्द लगाने की गुंजाइश ही नहीं थी । कारण, इन्होंने स्वयं **चौरासी पदबन्ध टीका** की अन्तिम प्रशस्ति में सूचित किया है—

सत्रह सैं इक्यानवै संवत माघौ मास ।
यह प्रबंध पूरन भयौ सुक्ल द्वैज बुधबास ।। (मेरे संग्रह की प्रति से)

हितहरिवंशजी का जन्म सं० १५५९ में हुआ था और प्रेमदास का समय ऊपर आ ही चुका है । अतः, उनके शिष्य होने का सवाल ही नहीं खड़ा होता । मेरे संग्रह में इनकी **चौरासी पदबन्ध** टीका की हस्तलिखित प्रति है । उसमें जो पद्य पाया जाता है, उससे फलित है कि ये सुन्दरदास के शिष्य थे—

बांनी श्रीहरिवंशकी हित मंजूष अमोल ।
चेरैं सुंदरदास के प्रेमदास दियो षोलि ।।

२७. **सूरत मिश्र :** इनका परिचय पृ० 'ढ' पर इन शब्दों में दिया गया है—**शोध में नवोपलब्ध, पंजाब-निवासी कवि संतसिंह के पिता, सं० १८८१ वि० के पूर्व मोहम्मदशाह के राज्यत्व-काल में वर्त्तमान, जयपुर-नरेश सवाई जयसिंह के समकालीन । इनकी चर्चा 'गार्सां द तासी' ने की है ।**

'बैतालपच्चीसी' के प्रणेता सुप्रसिद्ध कवि और व्रजमंडल की विभूति सूरत मिश्र को **'नवोपलब्ध** बताना कितना अनुचित है । अद्यावधि प्रकाशित हिन्दी-भाषा और साहित्य का शायद ही कोई ऐसा इतिहास होगा, जिसमें सूरत का या उनकी रचनाओं का नामोल्लेख न हुआ हो । जब विवरणकार को पता है कि 'गार्सां द तासी' (यद्यपि यह उल्लेख मैंने देखा नहीं है) में इसका उल्लेख आया है, तब **नवोपलब्ध** संज्ञा स्वतः समाप्त हो जाती है।

इन्हें पंजाब-निवासी कवि संतसिंह का पिता बताना तो और भी हास्यास्पद है। सूरतजी ने अपने को आगरावासी स्वयं स्वीकार किया है—

सूरत मिश्र कनौजिया नगर आगरौ वास ।

० ० ०

नगर आगरौ बसत सौ बाकी ब्रज की छांह ।
कालिंदी कनावज हरति सदा बहति जा मांह ॥
विप्र कनावजु कुलकलश मिश्र सिंघमनि नेक ।
तिनके सुत सूरत सुकबि कीनें ग्रन्थ अनेक ॥

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि पंजाबवाले कवि संतसिंह से इनका दूर का भी रिश्ता नहीं प्रतीत होता । मुझे ऐसा लगता है कि ना० प्र० स० द्वारा प्रकाशित 'हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों के संक्षिप्त विवरण', भाग १, पृ० १८७ पर उल्लिखित सूरतसिंह के परिचय से विवरणकार भ्रान्त हो गया है ।

यह असन्दिग्ध सत्य है कि सूरत मिश्र मुहम्मदशाह (सं० १७७६—१८०५) के दरबार से सम्बद्ध और जयपुर-नरेश सवाई जयसिंह से परिचित थे । जिस बैतालपच्चीसी का विवरण दिया गया है, वह इन्हीं की आज्ञा से रची गई थी । यद्यपि उपर्युक्त तथ्यों से इनका समय स्वतः सिद्ध हो जाता है, तथापि विवरणकार इसपर मौन है । कवि ने अपनी बहुत-सी रचनाओं में प्रणयन-समय दिया है । इनकी प्रथम रचना सं० १७६६, श्रावण शुक्ला ११, बृहस्पतिवार की **अलंकारमाला** है और अन्तिम कृति सं० १८००, फाल्गुन शुक्ला ७, गुरुवार की **रसिकप्रिया टीका—जोरावरप्रकाश** है, जो महाराजा बीकानेर जोरावरसिंह के कथन से रची गई थी । अतः, इनका साहित्यसाधना-काल सं० १७६६—१८०० तक का सिद्ध है । इनके अतिरिक्त छन्दसार, रसरत्न, भक्तिविनोद, नखशिख, शृंगारसार, रसिकप्रिया की रसग्राहकचन्द्रिका टीका (शाहजहानाबाद के नसरुल्ला खाँ के लिए, सं० १७९१, माघ कृष्ण, रविवार) सरसरस, बिहारीसतसई की अमरचन्द्रिका टीका (सं० १७९४, विजयादशमी, नाडौल के भांडारी अमरेस के लिए; कतिपय विज्ञों ने इस अमरेस का तात्पर्य जोधपुर के राजा अमरसिंह से लगाया है, पर वह सर्वथा भ्रान्त है, कारण कि उस समय इस नाम का कोई राजा ही जोधपुर के राज्य में नहीं था), काव्यसिद्धान्त (सं० १७९९, कार्त्तिक शुक्ला ९), कविप्रिया सटीक, प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का अनुवाद, कृष्णचरित्र आदि कवि की दीर्घकालव्यापी सारस्वत साधना की परिणतियाँ है ।

कहा जाता है कि सिन्धिया-नरेश ने भी इनकी स्पष्टवादिता के कारण इन्हें सम्मानित किया था । प्रतिभा के धनी इस कवि को कहीं भी जमकर रहने का अवसर नहीं मिला ।

खंड ४

इस खंड में सम्पादक महोदय ने कृतियों का विवरण न देकर केवल नाम और आवश्यक टिप्पणी देकर ही सन्तोष किया है । टिप्पणियों में कहीं-कहीं पुराने भ्रमों को दुहराया है, जिनका परिमार्जन अनिवार्य है । कतिपय भ्रामक बातों का पिछले विवरणों में परिष्कार किया जा चुका है ।

विवरण के पृ० १६ पर जो १ और २ टिप्पणी है, वह एक ही व्यक्ति से सम्बद्ध है । **सुन्दरविलास** और **ज्ञानसमुद्र** के प्रणेता एक ही **सुन्दरदास** हैं, जो दादूजी के शिष्य थे ।

पर, विवरणकार ने सम्भवतः भिन्न माना है; क्योंकि एक का जन्मस्थान जयपुर बताया है और टिप्पणी-संख्या २ का द्यौसा। इनका समय सं० १७४६ सूचित किया है।

वस्तुतः, दोनों कृतियों के एक ही लेखक हैं और इनका जन्म सं० १६५३, चैत्र सुदि ९ को खण्डेलवाल वैश्यजाति में, द्यौसा में हुआ था। स्वर्गवास सं० १७४६ में, ९३ वर्ष की अवस्था में, साँगानेर में हुआ। अतः, सं० १७४६ लगभग इनका समय बताना ठीक नहीं। दादू-सम्प्रदाय में इनका विशिष्ट स्थान है। राघवदास ने अपनी 'भक्तमाल' में इनके लिए लिखा है कि **संक्राचारज दूसरो दादू के सुंदर भयो**। एक और उक्ति भी इनके लिए सम्प्रदाय में प्रसिद्ध रही है कि—

दादू दीन दयाल के चेले दोय पचास।
केई उडगण केई इंदु हैं दिनकर सुंदरदास॥

सुन्दरदास अच्छे कवि और प्रतिभासम्पन्न सन्त थे। इनकी ४६ रचनाएँ अभी तक मिल चुकी हैं। पुरोहित हरिनारायणजी ने 'सुन्दर-ग्रन्थावली' में प्रकाशित भी की हैं। शेखावाटी (राजस्थान) में इनका विशेष प्रभाव था।

ग्रन्थ-संख्या ५०३ **अष्टनायिका वरण** के प्रणेता सुन्दर कवि हैं। इसपर टिप्पणी करते हुए इसे कृष्णगढ़ की राजकुमारी सुन्दरकुँवरी की रचना बताई है और इनका समय सं० १८४५ बताया गया है। कृति को विना देखे अभिमत व्यक्त करना समुचित तो नहीं जान पड़ता, परन्तु अनुमान है कि यह कृति सुन्दरकुँवरी की शायद ही हो। कारण, अद्यावधि इनकी जितनी भी रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं, सभी भक्तिमूलक ही हैं। जो नाम दिया है, वह सुन्दर कवि का ही है। इसमें राजकुमारी का बोध नहीं होता, अतः प्रति विशेष रूप से द्रष्टव्य है। सुन्दरकुँवरी सं० १८५३ तक विद्यमान थी। कहीं ऐसा तो नहीं है कि यह रचना ग्वालियरवासी सुप्रसिद्ध शृंगारिक कवि सुन्दर की हो, जो 'सुन्दरशृंगार' के प्रणेता और शाहजहाँ द्वारा सम्मानित थे।

पृ० ४० पर क्षपणक-प्रणीत अनेकार्थध्वनिमंजरी का उल्लेख है। यह नाम सन्दिग्ध मालूम होता है। क्षपणक शब्द का व्यवहार मुख्य रूप से प्राचीन दार्शनिक साहित्य में जैन मुनि के लिए होता रहा है। विक्रम के समय तो **आचार्य सिद्धसेन दिवाकर** ही उनकी सभा के गौरव रहे हैं। पर, इनकी इस नाम की कोई रचना कर्णगोचर नहीं हुई। कवि-**शिरोमणि** द्वारा **जैनकोश** का अनुवाद उपलब्ध अवश्य है, पर वह कृति तो **धनंजय** की है। अच्छा होता, ऐसी रचनाओं का विवरण प्रस्तुत कर दिया जाता।

ग्रन्थ-संख्या ५२७ पर आनन्दकवि-कृत **कोकसार** का उल्लेख करते हुए प्रणयन-समय सं० १८२३ दिया है, जो ठीक नहीं है।

स्तोत्र-साहित्यान्तर्गत ग्रन्थ-संख्या ५३९ को गंगाराम-कृत बताते हुए टिप्पणी में ६ गंगाराम की सूचना दी गई है। मेरे संग्रह में एक अज्ञात **गंगाराम** की अनूदित कृति **भक्तामरस्तोत्र** है। ये किस शती के हैं, कहना कठिन है। एक और इस नाम के कवि जैन साहित्य में हुए हैं, जिनका समय २०वीं शती है।

विवरणकार ने **सभाभूषण** के कवि गंगाराम का समय सं० १७४४ दिया है, वह गलत है। सं० १७४० होना चाहिए। सभा के पूर्वप्रकाशित विवरण की भूल यहाँ भी दुहराई गई है।

पृ० ४७ से ५० तक अज्ञातकर्त्तृक रचनाओं की सूची दी है, पर इनमें सभी वस्तुतः अज्ञातनामा कवि-प्रणीत नहीं हैं। उदाहरणार्थ, **जगन्नाथकवि-रचित रामायण** (संख्या २२) सुविज्ञात रचना है। मेरे संग्रह में भी इसकी एक हस्तलिखित प्रति है। यह जगन्नाथ **मोहमरद राजा की कथा** और **गुरुचरित्र** के प्रणेता से कोई भिन्न कवि है। संख्या ६२ पर **विचारमाला** का उल्लेख है। यह भी न केवल ज्ञात रचना है, अपितु सभा द्वारा प्रकाशित विवरण में उल्लिखित है। इसके रचयिता हैं **अनाथदास**, जो **नरोत्तम** के मित्र थे। परन्तु, 'राजस्थान में हस्तलिखित हिन्दी-ग्रन्थों की खोज' पृ० ६० पर इसका रचयिता निम्नांकित दोहे के आधार पर **नरोत्तमपुरी** माना गया है, जो स्पष्टतः भूल है—

> **पुरी नरोत्तम मित्रवर रखो अतीत भगवान।**
> **वरनी माल विचार मैं ताकै कहै प्रमांन॥**

पद्य में स्पष्ट है कि नरोत्तम 'विचारमाला' के प्रणेता नहीं हैं।

सम्पादक महोदय ने और भी अज्ञात मानी जानेवाली कृतियों का विवरण दिया होता, तो सम्भव है और भी कर्त्तृत्वसूचक नाम निकल आते।

खंड ५

पाँचवाँ खंड संस्कृत-भाषा की रचनाओं से सम्बद्ध है। यद्यपि इसमें अधिकतर रचनाएँ सुविज्ञात हैं, तथापि कतिपय अज्ञात भी हैं। परन्तु, खेद का विषय है कि इस खंड में कृतियों की सूची-मात्र है। यद्यपि कर्त्ता आदि आवश्यक परिचय का संकलन अवश्य किया गया है, पर शोधक विद्वानों को इतने से सन्तोष नहीं हो सकता। कम-से-कम सम्पादक महोदय को चाहिए था कि वे अपने प्रान्त के नवज्ञात संस्कृत-विद्वानों का परिचय विस्तार से देते और अज्ञात कृतियों का विवरण भी प्रस्तुत करते, ताकि उनके नावीन्य और उपादेयत्व का अनुभव सबको समान भाव से होता। क्योंकि, कई ऐसी रचनाएँ भी हो सकती हैं, जो विवरण में खंडित प्राप्त हैं और अन्यत्र उनकी पूर्ण प्रतियाँ उपलभ्य हैं। मैं दो उदाहरण देना चाहूँगा। एक तो विवरणकार ने पाँचवें खंड में 'बिहारीसतसई' की संस्कृत-टीका का उल्लेख किया है, पर यह नहीं बताया है कि इसके प्रणेता कौन हैं ? यह किस काल की रचना है ? यदि विवरण रहता, तो समस्या बहुत अंशों में सुलझ जाती। कारण, एक ऐसा समय भी आया कि हिन्दी की प्रधान और विशिष्ट गुण-सम्पन्न रचनाओं पर संस्कृत-टीकाएँ लिखी गईं। ऐसी कृतियाँ राजस्थान में प्राप्त भी हैं। बिहारीसतसई पर भी लोकागच्छीय मुनि **वीरचन्द** के शिष्य **परमानन्द** ने संवत् १८६० में, बीकानेर में, संस्कृत में वृत्ति रची। नहीं कहा जा सकता कि विवरणवाली प्रति भी इसी की अनुकृति है या सर्वथा मौलिक रचना। ऐसी ही अन्य रचना **स्वरोदय टीका** है। क्या पता, स्वरोदय-शास्त्र पर यह टीका किसकी है ? क्योंकि, इस विषय पर

साहित्य स्वल्प ही उपलब्ध है। सर्वप्रथम इस विषय पर सर्वांगपूर्ण प्रकाश डालनेवाली जो कृति हमारे सम्मुख है, वह है **नरपतिजयचर्या**। यद्यपि पुराणों में इसके बीज अवश्य हैं और युद्धसरोदय पर विचार भी प्रस्तुत किये गये हैं, परन्तु 'नरपतिजयचर्या' अपने ढंग की बहुत ही उपादेय कृति है। इसपर बिहार के ही **गणेश** के पौत्र और **नरसिंह** के पुत्र **नरहरि** ने, सुन्दर और सभी आवश्यक विषयों का समावेश कर, विस्तृत टीका प्रस्तुत की है, जो मेरी विनम्र सम्मति के अनुसार संस्कृत-साहित्य में अपने विषय की एकमात्र रचना है। पर, विवरण में उल्लिखित टीका किसकी है, यह पता नहीं चलता। जैसे अन्य कवि और लेखकों पर सम्पादक ने आवश्यक ज्ञातव्य प्रकट करनेवाली टिप्पणियाँ दी हैं, वैसे ही ऐसी सन्दिग्ध कृतियों पर भी प्रकाश डालते, तो शोधकों का बहुत उपकार होता।

इसी विवरण में जयदेव-प्रणीत 'रामगीत' का भी उल्लेख किया गया है। कम-से-कम यह उनकी कुतूहलवर्द्धक कृति मानी जाती, यदि थोड़ा भी परिचय दिया जाता। परिचय के अभाव में परिमार्जन का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

५४, भूपालपुरा
उदयपुर (राजस्थान)

खिड़िया जगा-कृत 'वचनिका राठौड़ रतनसिंघ महेसदासौत री'

श्रीआलम शाह खान, एम्० ए०

'क्रिसन-रुकमणी-री वेलि' (र० का० सं० १७३७) को यदि राजस्थान-भारती की मूर्त्ति पर अर्पित पुष्प कहा जाय, तो खिड़िया जगा-कृत 'वचनिका राठौड़ रतनसिंघ महेसदासौत री' (र० का० सं० १७१५) को निश्चित ही उसके मन्दिर पर शोभित कीर्त्तिध्वज स्वीकार करना पड़ेगा। राजस्थान एवं मालव-प्रदेश में यह रचना इतनी लोकप्रिय रही है कि यदि इसे क्षत्रियों का जातीय काव्य कहा जाय, तो अनुचित न होगा। इसकी महती लोकग्राह्यता का अनुमान तो इसी से लगाया जा सकता है कि मरुभाषा-मर्मज्ञ स्व० डॉ० तेसीतोरी को यत्किंचित् प्रयास से ही इसकी ३० हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हो गई थीं, जिनमें कतिपय प्रतियों का लिपिकाल तो इसमें वर्णित धरमत-युद्ध की घटना से ३०-४० वर्ष पश्चात् का ही है।

जोधपुर के महाराजा जसवन्त सिंह और मुगल-सम्राट् शाहजहाँ के विद्रोही राजकुमारों—औरंगजेब और मुराद—के बीच धरमत (उज्जैन) में लड़े गये युद्ध (सं० १७१४) की पृष्ठभूमि पर रचित यह वचनिका एक ऐतिहासिक खण्डकाव्य है, जिसमें रतलाम-नरेश रतनसिंह के वीरत्व, त्याग एवं बलिदान को केन्द्र मानकर क्षात्रधर्म और आर्यगौरव की प्रतिष्ठा की गई है।

यद्यपि यह रचना 'वचनिका' नाम से ही प्रसिद्ध है, तथापि कवि ने इसे एक अपर नाम 'रासौरतन' से भी अभिहित किया है। यथा :

जोड़ि भणै खिड़िओ जगौ रासौ रतन रसाल।

रतलाम-नरेश रतनसिंह के जीवन-चरित्र से सम्बद्ध 'रतनरासौ' नामक एक कृति और भी है, जिसका रचियता सांहू-शाखा का चारण कवि कुम्भकरण है। कुम्भकरण और **खिड़िया जगा** दोनों समकालीन थे तथा रतनसिंह के पुत्र रामसिंह के आश्रित। ऐसी स्थिति में दोनों रचनाओं का नाम एक होने से उनकी पहचान में भ्रम होने की सम्भावना थी। सम्भवतः, इसी कारण आलोच्य कृति 'वचनिका' नाम से प्रसिद्ध की गई। 'वचनिका' नामकरण का एक कारण यह भी है कि गाडण सिवदास-रचित 'अचलदास खीची री वचनिका' (र० का सं० १४९०) की भाँति यह भी 'वचनिका-शैली'[1] में रचित है।

आलोच्य वचनिका के अबतक दो संस्करण निकल चुके हैं। प्रथम संस्करण डॉ० तेसीतोरी के सम्पादन में बंगाल की रॉयल ऐशियाटिक सोसायटी से सन् १९१७ ई० में प्रकाशित हुआ था और द्वितीय महाराज कुमार डॉ० रघुवीर सिंह एवं श्रीकाशीराम शर्मा के सम्पादन में सन् १९६० ई० में प्रकाशित हुआ है। डॉ० तेसीतोरी न अपने संस्करण में संशोधित मूल पाठ के साथ पाठान्तर, संक्षिप्त टिप्पणियाँ, शब्दार्थ एवं भाषाविषयक भूमिका दी है। रचना का साहित्यिक विवेचन उनका लक्ष्य नहीं रहा। डॉ० रघुवीर और शर्माजी ने अपने संस्करण को ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दृष्टि से सर्वांगपूर्ण बनाने का प्रयास किया है। डॉ० रघुवीर की ऐतिहासिक भूमिका एवं टिप्पणियों ने इसके महत्त्व को द्विगुण कर दिया है। किन्तु, इस अभिनव संस्करण में भी वचनिका के काव्य-सौन्दर्य का भली भाँति उद्घाटन नहीं हो सका है। अतएव, आगामी पंक्तियों में इसके काव्य-सौष्ठव पर विचार किया गया है।

वचनिका की भाषा-शैली

वचनिका गद्य-पद्यमय शैली में रचित एक वीररसात्मक काव्य है। वचनिका का कवि चारण है। उसने अपनी रचना को 'जोड़ि भणे खिड़िओ जगौ रासौ रतन रसाल' कहकर 'रासो' नाम से अभिहित किया है, फलतः इसमें चारणी काव्य-संस्कारों के साथ ही रासोकाव्य-परम्परा की विशेषताओं का भी समाहार हुआ है।

वचनिका वीरकाव्य है, वीर ही उसका अंगी रस है। अतः, कवि को मुख्यतः वीररसात्मक शैली का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ा है। कवि को अपने दिवंगत स्वामी की वीरता, तेज, पराक्रम और साहस का चित्रण करना ही अभीष्ट है। फलतः, इसकी भाषा-शैली में ओज, उत्साह, अविरल वेग आदि गुण सहज ही आ गये हैं। कवि की भावना उदात्त, अन्तस् वीर एवं वाणी विराट् और चमत्कारी है। भावना और अभिव्यंजना का

१. द्र० लेखक का 'राजस्थानी तुकान्त गद्य की दो शैलियाँ : वचनिका और दवावैत' शीर्षक निबन्ध, 'भारतीय साहित्य' (आगरा), वर्ष ६, अंक ४, अक्टूबर, १९६१ ई०।

यह मणिकांचन-संयोग देखते ही बनता है। कवि ने चाहे गद्य को अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया हो, या पद्य को, उसकी भावधारा दोनों में नैसर्गिक रूप में अप्रतिहत प्रवाहित हुई है। उसमें कहीं अवरोध नहीं—वह अभीष्ट प्रभाव-सृष्टि करने में समर्थ है। **जगा** में गद्य और पद्य दोनों में अधिकारपूर्वक रचना करने की अपूर्व क्षमता है।

यद्यपि आलोच्य रचना को 'वचनिका' की संज्ञा दी गई है, तथापि इसमें पद्य की तुलना में गद्य बहुत कम प्रयुक्त हुआ है। इसमें आसीस-वचनिका २, वार्ता १ और वचनिका ९, इस प्रकार छोटे-बड़े कुल १२ गद्यखण्ड पद्यों के बीच-बीच में आये हैं। इन्हें देखने से ज्ञात होता है कि 'अचलदास खीची री वचनिका' में प्रयुक्त राजस्थानी-गद्य इस काल तक आते-आते अपने विकास की चरम सीमा को पहुँच गया था।

जगा के गद्य में जितनी प्रासादिकता है, उतनी ही स्वाभाविकता और प्रवाहमयता भी। अनुप्रासजन्य नादध्वनि और कहीं-कहीं 'वैण-सगाई' के योग से यह प्रवाह और भी चंचल हो उठा है। कहीं डिंगल के ऊबड़-खाबड़ शब्दखण्डों में दौड़ती हुई, तो कहीं डिंगल की संस्कृत-मिश्रित पदावली में मन्थर गति से प्रवाहित वीररस की धारा ऐसी अद्भुत ध्वनि उत्पन्न करती है कि पाठक के मन में उत्साह और उमंग की लहर-सी उठने लगती है और वह कवि की भावभूमि में विचरने लगता है। यही 'ध्वनि' डिंगल-काव्य का प्राण है, जो आलोच्य कृति में अपने पूरे तेज और प्रभाव के साथ विद्यमान है।

वीरता और युद्ध का वर्णन करते समय बाहरी उपकरणों, साज-सज्जाओं आदि का लम्बा-चौड़ा विवरण देनेवाले कवि तो मध्यकाल में बहुतेरे मिल जायेंगे। पर, इन सबके अभाव में वीर-भावना चित्रित करनेवाले कवि विरले ही मिलेंगे। वीर को **काल्ही रो कलस और सती रा नालेर** कहकर कवि ने अपूर्व व्यंजना-शक्ति का परिचय दिया है, जिसका अनुकरण डिंगल के समर्थ कवि सूर्यमल तक ने अपनी 'वीरसतसई'[१] में किया है, जिससे उसके समस्त वीर-संस्कार मुखर हो गये हैं। **रूक पिआला पीअस्याँ पाइस्याँ**, **हाथिआँ सूं टला खाइस्याँ** आदि वीरोक्तियाँ जहाँ वीररस के परिपाक में सहायक हुई हैं, वहीं उनसे वर्णन सरस भी हो गया है।

वेलिकार कवि पृथ्वीराज डिंगल-भाषा के कमनीय स्वरूप के प्रयोक्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं ही, जगा ने भी अपनी 'वचनिका' में डिंगल-भाषा की कठोरता में छिपे सरसता के उत्स को प्रकट करने का—गद्य और पद्य दोनों में—सफल प्रयास किया है। कवि अवसरोपयुक्त भाषा और शैली के प्रयोग में निपुण है। रतनसिंह के दिवंगत होने के उपरान्त दैवी शक्ति से निर्मित नगर 'रतनपुर' का वर्णन करने में कवि ने डिंगल-भाषा के कमनीय स्वरूप का ग्रहण किया है। यथा :

नव लाख नाखित्र माल चिराख झालि खड़ा रहिआ छै। बारह घण मुँहडा आगै छिड़काउ करै छै। तीन प्रकार रो पवन वाजै छै। सीत मन्द सुगन्ध अनेक परिमल झोला खाइ लहिर लै छै। मुँहडा आगै आखाड़ै रम्भा पातर नट नाटिक सङ्गीत धुनि करि करि

१. अज कौ गहली रौ कलस बलती रो नालेर।
एकल पूगौ टेकली आस किसूँ धव केर ॥—वीरसतसई

दिखावै छै। ज्याँ रा मलूक हाथ पाउ कड़ि धड़। सोलह सिङ्गार किया। रङ्ग प्रेम का झड़। तेजपुञ्ज। रूप के गञ्ज। काम की कली। चख नख चीज। सुख की सिलाउ। विरह की बीज। असी उरवसी जैसी अपछरा मुँहडा आजे हाउ भाउ कटाछी थेई थेई निरत करै छै।

सामान्यतः, कवि ने वर्णनात्मक शैली का ही अनुकरण किया है; किन्तु वर्णनों में चित्रात्मकता उसका श्लाघ्य गुण है, जिससे वर्णन कोरा वाक्चातुर्य अथवा इतिवृत्त बनने से बच गया है। कवि ने वचनिका-शैली में केवल वर्णन ही नहीं किया है, वरन् उनमें कहीं-कहीं संवादों की योजना करके अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। इस प्रकार के संवाद पात्रों की वीर-भावना को व्यक्त करने के साथ ही युद्ध के लिए वातावरण-निर्माण में भी सहायक हुए हैं। यथा :

तिणि वेला दातार झूँझार राजा रतन मूछाँ कर घाति बोलै। तरुआर तोलै।... उजेणि खेत धारा तीरथ धणी रौ काम खत्री रौ धरम साचवीजै। लोहाँ रा बोह सेलाँ रा धमङ्का लीजै। खाँडा री खाटखड़ि झाटझड़ि डगडाहड़ि खेलिजै। पातिसाहाँ री गजघड़ा झड़ाँ औझड़ाँ मारि ठेलीजै। पातिसाहाँ रै छत्र घाउ कीजै। पुरजा पुरजा हुइ पड़ीजै। तौ वैकुण्ठ चढ़ीजै। क्यूँ बारहठ जसराज? हाँ महाराज रा मनोरथ श्री महाराज पूरै। अखिआति ऊबरै। महाराज रा मुँहडा आगे लड़ाँ। टूक टूक हुई पड़ाँ।

यहाँ ऐसा लगता है, जैसे एक बार सेनानायक अपनी मूँछों पर ताव देता हुआ नंगी तलवार लिये वीरता की प्रतिमूर्त्ति बना हमारे सामने खड़ा अपने सैनिकों को युद्ध के लिए ललकार रहा है। कवि की यह चित्रात्मक सर्जना अनूठी है और निश्चित ही उसे 'बड़ा कवि' सिद्ध करनेवाली है। अन्तिम दो पंक्तियाँ योद्धाओं के चारित्रिक वैशिष्ट्य को प्रकट करने के साथ ही भावी युद्ध की भीषणता की ओर भी संकेत करती हैं। गिने-चुने शब्दों में कवि का यह प्रयोग-लाघव प्रशंसनीय है।

वचनिकाओं (गद्य) में, अन्यत्र भी, संवादात्मक शैली ग्रहण की गई है। परन्तु, संवादों में पात्रों का उत्तर-प्रत्युत्तर बहुत कम हुआ है। एक पात्र की बात पूरी होने पर दूसरा बोल उठता है और यही क्रम आगे जारी रहता है। इस बात को दिखाने के लिए कवि को कहीं-कहीं स्वयं भी बोलना पड़ा है। यथा : **इतरा माहै बोलिओ रासो कुअँर। दूसरो मधुकर।** वर्णन के बीच-बीच में संवादों की योजना से उनमें एक प्रकार की नाटकीयता आ गई है। इससे पाठक ऊबता नहीं, अपितु एक नवीनता का अनुभव करता है, जो आगे आनेवाले विषय के प्रति उसमें रुचि उत्पन्न कर देती है।

जगा मूलतः कवि है। वचनिका-शैली में रचित उसके गद्य में पद्य का-सा सौन्दर्य है, जो अपने पूरे प्रभाव, निखार और मार्दव के साथ प्रकट हुआ है। उसका गद्य प्रवाहपूर्ण रम्य और प्रेषणीय है। यथा :

विरखा रित वरणी सरद रित कहणी। रिण समन्द माहै सूर कमल विकसि विराजमान हुआ। चन्दा जेही चन्दवदनी अपछरा सोलह कला सुधा नेह सम्पूर्ण उदित हुई। कैसी जैसी आसोज की पूनिम सरद रित जैसी उजली। फौजाँ ऊपराँ ऊजलाँ भालाँ रा डम्बर भल लाट करि जगाजोति जागी। जाणे बरफरा टूक हेमाचल पहाड़ माथै विराजमान हुआ।

हेमन्त रित लागी। सिसिर रित जागी। रुक रहिल वागी। काइरा नूँ ठण्डि लागी। हाथ
पग धूजे धड़ धड़। उर दाँत हाड गोडा खड़ खड़।

यह गद्यांश एक सफल गद्यकाव्य की सभी विशेषताओं से परिपूर्ण है। तन्मय भावुकता, कोमल कल्पना, ललित भाषा और आह्लादकारी सजीव शैली सभी का यहाँ सुन्दर सामंजस्य द्रष्टव्य है। ऋतु-वर्णन की परम्परा हमारे यहाँ नई नहीं, संस्कृत-कवियों ने भी इसे अपनाया है और मध्यकालीन भक्त एवं रीति-कवियों ने भी इसे ग्रहण किया है; किन्तु अप्रस्तुत का प्रस्तुत के साथ ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध-निर्वाह, वर्ण्य विषय के साथ उसका ऐसा अनूठा संयोजन चार-पाँच कवियों में ही मिले, तो मिले। रण-समुद्र में शूरवीर-रूपी कमल के विकसित रूप को चित्रित करने के साथ षोडशशृंगारमयी चन्द्रवदनी अप्सरा का उदय दिखाकर कवि ने न केवल उत्तम काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है अपितु वीरकाव्य की काव्यरूढि का निर्वाह करते हुए सन्ध्या समय कमल के संकुचित होने के साथ ही वीरगति-प्राप्त योद्धा के अप्सरा द्वारा वरण किये जाने का मार्मिक संकेत भी कर दिया है। **रुक रहिल वागी** (अर्थात् तलवारों के झपाटों की आँधी चलने लगी) वाक्य कवि की भाषागत समाहार-शक्ति का अच्छा नमूना पेश करता है। आगे **काइराँ नूँ ठण्डि लागी** कहकर कवि ने वर्णन को विषय से सम्बद्ध कर पूर्वापर का सम्बन्ध जोड़ दिया है। अन्त के दोनों वाक्य डिंगल के साधारण-से-साधारण शब्दों के ध्वन्यात्मक गुण को प्रकट करते हैं।

गद्य लिखते समय प्रायः 'वचनिका' की तुकान्त गद्यशैली ही अपनाई गई है, किन्तु तुक के प्रति कवि का दुराग्रह कहीं नहीं है। उसने भाव के मूल्य पर अन्त्यानुप्रासिकता स्वीकार नहीं की है। गद्यखण्डों में सर्वत्र तुक-निर्वाह नहीं है। बात को आगे बढ़ाने के लिए भी कवि ने तुकभंग किया है। वर्णन करते-करते जहाँ कवि अत्यधिक भावविह्वल हो उठा है, वहाँ उसने तुक का मोह एकदम त्याग दिया है और काव्य की स्वाभाविक भावभूमि पर उतरकर रचना की है। ऐसे स्थलों का काव्यत्व श्लाघ्य है। इसके लिए शरद्ऋतु-वर्णनवाला उपर्युक्त उदाहरण द्रष्टव्य है। इसमें कवि ने तुक का ताना-बाना तोड़कर अपने भावों की स्वाभाविक अभिव्यंजना की है। वचनिकाओं में कहीं-कहीं साधारण गद्य भी प्रयुक्त हुआ है। परन्तु, ऐसे उदाहरण अपवाद-स्वरूप ही हैं, अन्यथा सर्वत्र नादगुणयुक्त प्रवाहमय तुकान्त गद्य की अनोखी छटा छिटकी हुई है। कवि की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसने तुक बिठाने के लिए कहीं भी वाक्य-विन्यास के साधारण व्याकरण-नियम का भंग नहीं किया है। यही कारण है कि वचनिकाओं में दो-दो शब्दों तक के वाक्य प्रयुक्त हुए हैं।

वचनिका-शैली, अर्थात् गद्यशैली का प्रयोग कवि ने प्रायः कथाक्रम को आगे बढ़ाने अथवा कही गई बात का तारतम्य जोड़ने के लिए किया है। कहा जा सकता है कि आलोच्य रचना का गद्य काव्यत्व की दृष्टि से जितना सरल, सरस और मार्मिक है व्याकरण की दृष्टि से उतना ही प्रौढ और परिशुद्ध भी।

गद्य में हमें जिस शैली-कौशल के दर्शन होते हैं, वह पद्य में आकर अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच गया है। जैसा कहा जा चुका है, वचनिका एक वीरकाव्य है और वीरत्व ही उसका प्रतिपाद्य। कवि ने अपने प्रतिपाद्य की प्रतिष्ठा के हेतु सर्वप्रथम उसके अनुकूल वातावरण की सृष्टि की है। यह अत्यन्त आवश्यक भी है; क्योंकि 'केवल वीररस का नाम लेने से ही रसानुभूति नहीं हो पाती, वीररस का वातावरण उपस्थित किये जाने पर ही रस का सम्यक् आस्वादन किया जा सकता है।'[1]

विषयानुकूल वातावरण के निर्माण के लिए कवि प्रारम्भ से ही सचेष्ट रहा है। अपने चरितनायक की वीरवंश-परम्परा का संकेत करते हुए उसने उसके वीर-संस्कारों का ही आख्यान किया है। प्रारम्भ में ही रतनसिंह को **गजराज दिश्रण भाँजणगजाँ श्रौर रढ़राँण भाण रतन्न करतव्व भारथ क्रन्न** से सम्बोधित कर 'वीरत्व' को ग्रन्थ की टेक के रूप में स्थित कर दिया है। तदुपरान्त, जोवित **म्रित हुई साहिजहाँ श्रौर साहिजादाँ जोर** द्वारा परस्पर-विरोधी और संकटापन्न स्थिति का संकेत कर **जसौ हालिश्रौ श्रागरा हूँति ज्याराँ, लिश्राँ साहिरा डम्बराँ सब्ब लाराँ** से जसवन्तसिंह का ससैन्य प्रस्थान दिखाकर भावी युद्ध की सूचना दे दी गई है। सेना के प्रस्थान का चित्र कवि की सशक्त भाषा-शैली का प्रतीक है—

> **वहन्ती इसी पन्थि श्रोपै वहीरं, नदी हेम थी ले चाली जाणि नीरं।**
> **कताराँ कठट्ठे चलै जूँग काला, वहै वादला जाणि भाद्रव्ववाला॥**

यहाँ कवि की बिम्बग्राहिणी प्रतिभा ने जो चित्र अंकित किया है, वह अपने-आप में इतना पूर्ण प्रभावशाली और व्यंजनामय है कि पाठक के मानस-चक्षुओं के सामने अदम्य उत्साह और वेग के साथ प्रस्थान करती हुई विशाल वाहिनी का ध्वनिमय चलचित्र उपस्थित हो जाता है। प्रथम पंक्ति के प्रथम शब्द से अन्तिम पंक्ति के अन्तिम शब्द तक आते-आते ऐसा लगता है कि मदमाते सैनिकों की कई पंक्तियाँ आँखों के आगे होकर निकल गई हैं, किन्तु अभी सेना का अन्तिम छोर नहीं आया है। अप्रस्तुत के माध्यम से विषय को अभिव्यंजित करने की प्रणाली काव्य में बहुप्रयुक्त है, किन्तु प्रस्तुत और अप्रस्तुत का ऐसा गुण, धर्म और ध्वनिसाम्य अन्यत्र मिलना दूभर है। 'नदी हेम थी ले चाली जाणि नीरं' से वेगवती पहाड़ी नदी की भाँति द्रुत गति से प्रस्थान करती हुई सेना का ही चलचित्र सामने नहीं आता, अपितु अस्त्र-शस्त्रों की खड़खड़ाहट, हाथी-घोड़ों की चीख और चिंघाड़ और सैनिकों की पदचाप भी प्रतिध्वनित होती है। कवि की यह बिम्बविधायिनी शैली सीमित शब्दों में अपूर्व अभिव्यंजना-कौशल का प्रतीक है। इसी प्रकार, अन्तिम दो पंक्तियाँ भी कवि की चित्रात्मक सर्जना की प्रतीक हैं। यहाँ काले ऊँटों की सघन पंक्तियों की भाद्रमास के घटाटोप बादलों के साथ उत्प्रेक्षा अत्यन्त ही सार्थक बन पड़ी है।

कवि के काव्य-चातुर्य का एक प्रमाण यह भी है कि उसने पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों में समान रूप से वीरता और उत्साह का संचार दिखाया है। एक ओर जहाँ उसने नायक-पक्ष के क्षत्रिय योद्धाओं को महाभारत जैसे विकट युद्ध के कर्त्ताओं के रूप में चित्रित किया है, वहीं दूसरी ओर प्रतिपक्षीय यवन-सैनिकों को 'काल' के रूप में उपस्थित किया है।

१. डॉ० कन्हैयालाल सहल : वीरसतसई की भूमिका, पृ० १०१।

यदि क्षत्रिय अपने तेज के प्रताप से तलवारें तोड़ने का सामर्थ्य रखते हैं, तो यवन भी बल और वीर्य में उनसे किसी प्रकार कम नहीं। उनकी भुजाओं में भी उन्मत्त गजों के कन्धे तोड़ देनेवाला बल और मुक्की में सिंहों का वध करने की क्षमता है।

प्रतिपक्ष के बल और वीर्य का यह वर्णन जहाँ वीररस के परिपाक की दृष्टि से उचित है, वहीं मूल कथा के अनुकूल भी। प्रतिपक्ष की दुर्द्धर्षता और विकटता के प्रत्यक्ष हो जाने से नायक-पक्ष की पराजय का औचित्य सिद्ध हो गया है। यही कारण है कि पराजित हो जाने पर भी उसकी उच्चाशयता अक्षुण्ण है।

गद्य में जिस संवाद-शैली का प्रतिपादन किया गया है, उसका पद्य में भी पूर्ण कौशल के साथ निर्वाह हुआ है।

संवाद की दृष्टि से एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

रिण राभारण जिसौ रचावाँ, लड़े मराँ चँद नाम लिखावाँ।
जसवँत ग्रेम बोलिग्रौ ज्याराँ, तण माहेस अरज की त्याराँ॥
जोधाँ धणी घणा दिन जीवौ, दल सिणगार वँस चौ दीवौ।
दे सोबौ पति साह भूफ़ दल, सबली लाज मरण छलि सब्बल॥

इस प्रकार के संवादों से जहाँ वर्णन कोरे इतिवृत्त बनने से बच गये हैं, वहाँ इनसे पात्रों के आदर्शों की अभिव्यक्ति भी हुई है। संवादों की योजना में कवि ने अपनी सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दिया है।

कवि ने वीर-वर्णन में वीरों का केवल बाह्य चित्रण ही नहीं प्रस्तुत किया, अपितु उनकी अन्तःप्रकृति का भी सम्यक् उद्घाटन किया है।

कवि की वर्णन-पटुता की ओर पहले इंगित किया जा चुका है। स्थूल कथावस्तु के अभाव में कवि की प्रतिभा वर्णनों में ही उभरी है। वचनिका में इतने अधिक वर्णन आये हैं कि वे किसी भी कवि के काव्य-कौशल की कसौटी बन सकते हैं; किन्तु जगा ने अपनी कल्पना-शक्ति और अद्भुत अभिव्यंजना-कौशल से, इन विविध वर्णनों से अपने काव्य को और भी मनोहारी बना दिया है। कवि की चित्रविधायिनी शैली ने जिन चित्रों की सर्जना की है, वे चारणी-साहित्य में अपूर्व हैं।

रणक्षेत्र में रतनसिंह के धराशायी होने पर कवि ने अपनी समर्थ लेखनी से जो चित्र अंकित किया है, वह चित्रविधान की सीमा कहा जा सकता है। यथा :

वणै त्रिंण सै सर सेल्ह छवीस,
सोहै किर वंस गिरव्वर सीस।

(अर्थात्, रतनसिंह के शरीर पर तीन सौ बाण तथा छब्बीस भाले लगे हैं। वे ऐसे शोभित हो रहे हैं, मानों पर्वत-शिखर पर बाँस उगे हों।)

कवि ने यहाँ रतनसिंह की विशाल काया के लिए समूचे पर्वत को उपमान न बनाकर केवल पर्वत-शिखर को उपमान के रूप में प्रस्तुत किया है। बाणों और भालों के लिए बाँसों की उपमा भी एकदम स्वाभाविक है—भालों के दण्ड तो बाँसों के हैं ही, बाण बाँसों की

छोटी-छोटी शाखाओं के रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं, बाण बाँसों से नीचे हैं, बाँस की शाखा भी नीचे से ही फूटती है।

रणक्षेत्र में वीरगति-प्राप्त वीरों के अप्सराओं द्वारा वरण किये जाने की गति को 'अरहट घटी' की अप्रस्तुत योजना से चित्रित कर कवि ने अपनी सूक्ष्म चित्रण-कला का परिचय दिया है। यथा :

नर वर सूर निगेम भारथ मधि रीती भरी।
आवै जावै अपछरा जगि अरहट घड़ि जेम।।

यहाँ अप्रस्तुत रूप से युद्ध की त्वरा की नितान्त ही मार्मिक अभिव्यंजना हुई है।

कवि ने कहीं-कहीं वर्ण्य वस्तु का समग्र चित्रण प्रस्तुत न करके संकेत भर कर दिये हैं। इस प्रकार, कवि ने जिस वर्णनात्मक शैली को अपनाया है, उसमें वह आद्यन्त सफल है।

कवि जगा की शैली की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि वह अवसर के अनुसार द्रुत और विलम्बित हुई है। रचना के आरम्भ में हमें जिस आह्लादकारी एवं द्रुत शैली के दर्शन होते हैं, वह युद्धवर्णन में एक उफान-सा धारण करती हुई रतनसिंह की मृत्यु के चित्रण में भाराक्रान्त होकर विलम्बित हो गई है। कहाँ तो किनारे तोड़कर बहने-वाली यह द्रुत शैली—**वहन्ती इसी पन्थि ओपै वहीरं नदी हेम थी ले चाली जाणि नीरं** और कहाँ यह भाराक्रान्त शोकमय स्वर-संयोजन—**लाज रौ कोट उज्जेणि लड़ि पिड़ि रतन्नराज पड़ै** अथवा **तिणि वेला राजा रैण साहि रा तण्डल चुणि विणि लिआ। सराँ छड़ाँ सूँ दाग दिआ। नरदेह जलाई। अमर देह पाई।**

वचनिका की भाषा डिंगल है। कवि डिंगल-भाषा का पंडित है। भाषा के प्रयोग में उपयुक्त शब्दावली, नाद-सौन्दर्य, अलंकार आदि का उसने पूरा ध्यान रखा है। भाषा में बेमेल सजावट और कृत्रिमता का सर्वथा अभाव है।

कवि ने शब्द-चयन में बड़ी सावधानी से काम लिया है। शब्द अपने लाक्षणिक अर्थ को प्रकट करने के साथ ही भाव-व्यंजना में भी पूर्ण समर्थ हैं। शब्दों की ध्वनि से ही भाव स्पष्ट हो जाते हैं।

वीररस की रचना होते हुए भी वचनिका में संयुक्ताक्षर-शैली का प्रयोग बहुत कम हुआ है।[१] संयुक्ताक्षर-शब्दावली और शब्दों को विना तोड़े-मरोड़े भी कवि वीर-रस के प्रतिपादन में सफल हुआ है।

कवि ने कहीं भी 'ट'कार, 'ड'कार आदि लोमहर्षक वर्णों का अस्वाभाविक रूप में प्रयोग नहीं किया है। दो-एक स्थलों पर ऐसा आयोजन किया भी है, तो वह वातावरण के अनुरूप चित्रण के लिए अथवा वांछित ध्वन्यात्मक गुण लाने के लिए ही। कवि ने अपनी भाषा में नाद-सौन्दर्य का संचार करने के उद्देश्य से छन्द के चरण के प्रत्येक शब्द का आरम्भ प्रायः समान वर्ण से किया है।[२] यथा :

---

१. छन्द-संख्या : १०४, १०५, ११५ से ११९, २३१, २३२, २३५ और २३८।
२. डॉ० तेसितोरी : 'वचनिका रा० रतनसिंह महेसदासौत री' की भूमिका, पृ० ४।

क. गुणपति गुणे गहीरं ।
ख. रिण मो रहियाँ राज रहेसी ।

इसी प्रकार, कवि ने अपनी शब्दावली में संगीतात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए समान शब्दखण्डों की आवृत्ति भी की है ।[१] यथा

क. मारण मरण करण रण माधौ ।
ख. करण मरण पह काज ।

इतना सब कुछ करने पर भी उसने कहीं भी फालतू और अशक्त शब्दों की भरती नहीं की है । वचनिका की भाषा की यह विशेषता है कि उसमें एक ही शब्द के दसों पर्याय-वाची शब्द प्रयुक्त हुए हैं । यथा : असुरायण, किलब, खुंदालिम, खान, चकथा, चामरिग्राल, चुङ्गलाल, जवन, बंगाल, चीथा, मलेछ, मेछ, मुंगल, मुंगलाल, मेच्छाल, रवद, रौद्र, रौद्राल, रुद्रं, रौद्रायण । इसी प्रकार, हाथी, घोड़े, तलवार, आकाश आदि के लिए भी अनेक पर्यायवाची शब्द आये हैं ।

भाषा प्रसादगुण-सम्पन्न है, इसके लिए एक ही उदाहरण यथेष्ट होगा—

वनिता मुख पूँनिमचन्द वणी, भ्रिग अँहू चखाँ भ्रिग रूप भणी ।
कण्ठ कोकिल दन्त अनार कली, अग्र नक्क अलक्क कला उजली ।।

अरबी-फारसी के शब्द यथेष्ट संख्या में प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु वे सर्वत्र राजस्थानी रूप ग्रहण किये हुए हैं । कवि ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रयोग किया है, किन्तु उसकी रचना में तद्भव शब्द ही अधिक मिलते हैं ।

भाव-व्यंजना

वचनिका एक भावप्रधान वीररसात्मक काव्य है । स्थूल कथा-तत्त्व के अभाव में कवि की भावप्रवणता ही उसके काव्य-प्रणयन का आधार बनी है । कवि ने अपने आश्रय-दाता महाराजा रतनसिंह के निःस्वार्थ त्याग और बलिदानपूर्ण वीरत्व को प्रतिपादित करते हुए क्षात्रधर्म और आर्यगौरव की भावमयी अभिव्यंजना की है ।

कवि जगा स्वयं वीर क्षत्रिय था । उसने अपनी रचना में क्षत्रिय जाति के आदर्शों, विश्वासों और संस्कारों का अत्यन्त ही मार्मिक चित्रण किया है, जिससे इसमें वीररस की उद्दाम धारा फूट पड़ी है ।

वचनिका में हम 'उत्साह' की जो लहर आद्यन्त व्याप्त देखते हैं, वह क्षत्रिय योद्धाओं के जातीय संस्कारजन्य वीर-भावना से प्रेरित है । इस भावना का अभीष्ट कर्म 'युद्ध' है, जिसकी सिद्धि उत्साह से हुई है । यही भावजन्य 'उत्साह' रतनसिंह को युद्धकर्म के लिए प्रेरित करता है । इसी 'उत्साह' से उसकी रोमावली में पौरुष का संचार होता है और यही 'उत्साह' उसकी भुजाओं में हाथियों को पछाड़ने का बल भी भरता है ।

वीररस के पश्चात् वचनिका में दूसरा महत्त्वपूर्ण रस है श्रृंगार । रतनसिंह की मृत्यु के बाद रीति-कवियों के-से नखशिख-वर्णन के साथ श्रृंगार के आयोजन को देखकर पाठक को आश्चर्य होता है । **कटिसिङ्घ नितम्बजँघा कदली, वनिता मुख पूँनिम चन्दवणी,**

१. डॉ० तेस्सितोरी : 'वचनिका रा० रतनसिंह महेसदासौत री' की भूमिका, पृ० ४।

ग्रिग ग्रूँह रूप भणी आदि उक्तियों से रस-विरोध की भी शंका होने लगती है। परन्तु, वास्तव में ऐसा है नहीं।

श्रृंगार के इस आयोजन के पीछे क्षत्रिय-नारी के आदर्श का आधार है। वीर क्षत्रिय-नारी की जन्मजन्मान्तर की यही साध रही है कि उसे वीरपत्नी कहलाने का गौरव प्राप्त हो और उसे रणक्षेत्र में वीरगति को प्राप्त अपने स्वामी के साथ सती होने का अलभ्य अवसर मिले। उसे जब यह अवसर मिलता है, तब वह सोलह श्रृंगारों से सुसज्जित होकर अपने पति की धधकती हुई चिता में प्रविष्ट हो जाती है। इसी दृष्टि से कवि ने श्रृंगार की अवतारणा की है।

कवि ने सर्वत्र वीर-भावना और क्षत्रिय-धर्म के आदर्शों से प्रेरित होकर रचना की है, अतः उसने मृत्यु, संसार-त्याग आदि पर करुण या शान्तरस का प्रतिपादन नहीं किया है, फिर भी ऐसे स्थलों पर शोक और निर्वेदभाव स्वतः व्यक्त हो गये हैं। **सती उमङ्गै स्रग दिसा मोह तजे त्रितलोक** से निर्वेदभाव-जन्य शान्तरस की अभिव्यक्ति हुई है, तो हे हे **कार पुकार हुइ राम राम भणि राम** द्वारा व्यंजित शोक की धारा करुणरस का प्रतिपादन करती हुई प्रतीत होती है। युद्ध-वर्णन में कहीं-कहीं बीभत्स चित्रण भी प्रस्तुत किये गये हैं। बीभत्स के ये प्रसंग वीररस की पुष्टि के लिए ही आये हैं। अतः, इनके समावेश से बीभत्स रस की अवतारणा नहीं मानी जा सकती।

सम्भव होते हुए भी कवि ने अपनी रचना में भयानक और रौद्र रसों की सृष्टि करने का प्रयास नहीं किया है। अलबत्ता, उसने अद्भुत रस का नितान्त ही सुन्दर परिपाक दिखाया है। विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवों का कथाक्रम में समावेश, विश्वकर्मा द्वारा आयोजित रतनसिंह का अभिनन्दन-समारोह और अन्त में स्वर्गलोक में रतनसिंह और उसकी रानियों का मिलाप सभी अद्भुत हैं।

अलंकार

कवि जगा ने रीतिकाल के अलंकारवादी युग में रचना करके भी अलंकारों का अत्यन्त ही संगत और स्वाभाविक प्रयोग किया है। केवल उक्ति-चमत्कार और वक्रोक्ति-विधान कवि का लक्ष्य नहीं है। उसने भावोत्कर्ष और प्रेषणीयता को दृष्टि में रखते हुए अलंकारों का प्रयोग किया है। जहाँ कवि भावविभोर हो गया है, वहाँ उसने अलंकारों की योजना किये विना ही सफल काव्य-रचना की है।

वचनिका में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का प्रयोग हुआ है; परन्तु ये अलंकार कहीं भी प्रयत्न-प्रसूत नहीं जान पड़ते। कवि ने राजस्थानी चारण-कवियों की प्रथा के अनुसार युद्ध एवं विवाह तथा षड्ऋतु एवं सैनिकों के दो रूपक जान-बूझकर खड़े किये हैं; पर उनमें भी बेमेल बनावट और अस्वाभाविकता नहीं है। शब्दालंकारों में वृत्यनुप्रास, छेकानुप्रास, अन्त्यानुप्रास एवं श्रुत्यनुप्रास बहुलता से प्रयुक्त हुए हैं। राजस्थानी का 'वैण सगाई' अलंकार का तो प्रायः सर्वत्र निर्वाह हुआ है। पूरे ग्रन्थ में कठिनता से दस-बीस स्थल ऐसे होंगे, जहाँ 'वैण सगाई' का प्रयोग न हुआ हो।

१. वैण सगाई : यह डिंगल-कविता का अपना एक विशिष्ट अलंकार है। इसका अर्थ है वर्ण द्वारा स्थापित शब्दों की सगाई या सम्बन्ध। इसमें चरण के प्रथम शब्द के आदि वर्ण को चरण के अन्तिम शब्द के आदि में लाकर दोनों में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।[१] यथा:

मसतकि बांधे मौड़ धारे भुजा हिन्दू धरम।
मेछ धड़ा दिसि मल्हपिओ, रतनागिर राठौड़॥

'वयण सगाई' या 'वैण सगाई' साधारणतया चरण के प्रथम और अन्तिम शब्दों की ही होती है, पर कभी-कभी अन्यान्य शब्दों की भी होती है। इस दृष्टि से 'वैण सगाई' के दो भेद १. साधारण और २. असाधारण माने गये हैं।

१. साधारण वैण सगाई : इसमें चरण के प्रथम और अन्तिम के साथ सगाई या सम्बन्ध होता है।

२. असाधारण वैण सगाई : क. चरण के प्रथम शब्द की चरण के उपान्त्य शब्द के साथ अथवा ख. चरण के द्वितीय शब्द की चरण के अन्तिम शब्द के साथ सगाई होती है।[२]

जगा ने अधिकतर साधारण 'वैण सगाई' का ही प्रयोग किया है, पर यत्र-तत्र असाधारण 'वैण सगाई' के उदाहरण भी मिल जाते हैं।

साधारण : १. सुणे हाक सान्हा गजाँ दन्त सैलै।
२. विडङ्गा वणै द्रुमची के सावली।
३. ध्रुआँ धारणा चित्त औसा सधीरं।
४. भुजाँ जम्म जेहा बली खब्बभक्खी।

असाधारण : १. अरि भज्जण असि हाँस।
२. राग वड़ाला वजिआँ।

'वैण सगाई' कभी एक ही वर्ण द्वारा और कभी दो भिन्न वर्णों द्वारा स्थापित की जाती है। इस दृष्टि से 'वैण सगाई' के उत्तम, मध्यम और अधम (अधिक, सम और न्यून) ये तीन भेद होते हैं।

'वैण सगाई' को स्थापित करनेवाला वर्ण कभी अन्तिम शब्द के आदि में आता है, कभी मध्य में और कभी अन्त में। इस दृष्टि से भी 'वैण सगाई' के तीन भेद होते हैं—१. आदि मेल, २. मध्य मेल और ३. अन्त मेल।

आलोच्य कृति में यद्यपि आदि मेल का ही अधिक प्रयोग है, तथापि कहीं-कहीं मध्य मेल और अन्त मेलवाले चरण भी मिल जाते हैं।

उदाहरण

आदि मेल : १. कटि सिङ्घ नितम्ब जँघा कदली,
चित्त नित्त पवित्त मराल चली।

मध्य मेल : १. सुपह अनै पतिसाह।
२. हिन्दू तुरक बहस्सि।

१-२. प्रो० नरोत्तमदास स्वामी : 'क्रिसन-रुकमणी-री वेलि' की प्रस्तावना, पृ० ६०-६१।

अन्त मेल : १. अन्दर लई वधाइ ।

२. सती उमङ्गे खग दिसा ।

'वयण सगाई' के पश्चात् दूसरा महत्त्वपूर्ण अलंकार, जिसका प्रयोग वचनिका में हुआ है, अनुप्रास है । पूरी रचना में अनुप्रास की अनोखी छटा छाई हुई है; पर कहीं भी ऐसा भान नहीं होता कि कवि ने इस योजना में कसरत की है । प्रयोग सर्वत्र स्वाभाविक और प्रतिभा-प्रसूत है ।

वचनिका में अर्थालंकार अधिक नहीं प्रयुक्त हुए हैं, फिर भी अवसर और परिस्थिति के अनुकूल उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अनन्वय, विषम आदि अलंकारों का प्रयोग हुआ है ।

छन्दोविचार

कवि जगा ने अपनी वचनिका की रचना वीररसात्मक काव्य-पद्धति का अनुकरण करते हुए की है । अतः, इसमें वीररस के उपयुक्त छन्दों का ही ग्रहण किया गया है । वचनिका में गद्य (वचनिका) और पद्य मिलाकर कुल २६६ अवतरण हैं, जिनमें १२ प्रकार के विभिन्न छन्द प्रयुक्त हुए हैं । छन्दों की विविधता और परिवर्त्तनशीलता इस कृति की विशेषता है । छन्द वार्णिक भी हैं और मात्रिक भी ।

वार्णिक छन्दों में हणूफाल, मोतीदाम, त्रोटक, भुजंगी आदि तथा मात्रिक छन्दों में गाहा, गाहा दूमेल, गाहा चौसर, बिअक्खरी, चन्द्राइणौ, दूहा आदि उल्लेख्य हैं ।

●●

रिसर्च-स्कॉलर, महाराणा भूपाल-कॉलेज
६।४६७, भूपालवाड़ी
उदयपुर (राजस्थान)

कामायनी का आध्यात्मिक संकेत

श्रीरामदेव त्रिपाठी

कवियों के लिए बहिर्जगत् आकर्षण का केन्द्र है और दार्शनिकों के लिए अन्तर्जगत् । किन्तु, कभी-कभी एक ही व्यक्ति में कवित्व और दार्शनिकता दोनों का मणिकांचनयोग हो जाता है और फिर तो उसकी रचना में अध्यात्म का ऐसा मधुर चित्रण होता है कि वह हमारे लिए संगीत-सा मोहक होते हुए भी विश्लेषणातीत बन जाता है । इस प्रकार का काव्य ही रहस्यवादी कहा जाता है और इसमें छायावादी पद्धति का पुट अभिनय के लिए निशा के अवगुण्ठन-सा रोचकता बढ़ानेवाला प्रमाणित होता है । प्रसाद की **कामायनी** इस ढंग की कृतियों में अत्यधिक यश प्राप्त कर चुकी है ।

अन्तर्जगत् में विद्यमान रहनेवाले तत्त्वों में इच्छा, प्रयत्न और ज्ञान इन तीन को प्रधान माना गया है । गीता ने इच्छा को भक्तियोग, ज्ञान को ज्ञानयोग तथा प्रयत्न को कर्मयोग कहकर तर्कों के द्वारा दार्शनिक ढंग से इनका समन्वय कर दिखाया है । ज्ञानयोगियों और भक्तियोगियों के विरोध का चर्चा करते हुए गीता ने दोनों का एक ही लक्ष्य माना है ।

कामायनी की श्रद्धा काम और रति की पुत्री है। काम इच्छा का तथा रति आनन्द का पर्याय है। समानविषया रति शृङ्गार, लघुविषया रति वात्सल्य तथा गुरु-विषया रति भक्ति कहलाती है। भक्ति ही श्रद्धा है। इस कथा में वस्तुतः श्रद्धा का स्वरूप मूर्त्तिमती भक्ति का है। इडा बुद्धि का प्रतीक है, जिसे कवि ने अपने वर्णन से स्पष्ट कर दिया है: **उसके बाल तर्कजाल-से बिखरे हैं, दो उरोज मानों ज्ञान और विज्ञान के प्रतीक हैं।** और, मनु स्वयं मन है। इस प्रकार, यह त्रिकोण संघर्ष मन, श्रद्धा और बुद्धि में है। भक्ति या श्रद्धा स्थिर, अविचल, शान्त रहती है, अतः वह हिमालय के पास रहती है। बुद्धि या इडा सारस्वत-प्रदेश में, अर्थात् सरस्वती नदी के मैदान में राज्य करती है। चाहे सरस्वती को बुद्धि या ज्ञान की अधिष्ठात्री कहिए या बुद्धि अथवा इडा को सरस्वती-क्षेत्र की अधिष्ठात्री, संकेत एक ही है। सरस्वती नदी जिस भाँति अनिश्चित प्रवाहवाली, कहीं छिपी, कहीं प्रकट है, उसी भाँति इडा भी संशयात्मिका है। उसे पता ही नहीं कि उसका लक्ष्य क्या है: **इसे दण्ड देने मैं बैठी या करती रखवाली मैं।** मनु मन-सा ही चंचल है, असन्तोषी भी। वह मधुप-सा कई कलियों का रसास्वादन चाहता है, पर स्थिर कहीं नहीं रहना चाहता। उपर्युक्त कथनानुसार श्रद्धा भक्ति का तथा इडा ज्ञान का प्रतीक है। परिशेषात् मनु कर्म का या प्रयत्न का प्रतीक है। इसी से वह शुरू से अन्त तक कर्मठ बना रहता है। श्रद्धा के साथ सम्पर्क होने के पहले और पीछे भी वह यज्ञकार्य में व्यस्त रहता है। उसके जाने के पहले सारस्वत-प्रदेश उजड़ा हुआ-सा था, मनु के प्रयत्न से ही वह समृद्ध बना। मनु की कर्मठता से सारस्वत-प्रदेश हरा-भरा हो गया। मनु को, तीन भिन्न-भिन्न दिशाओं में दिखनेवाले तीन प्रकाशबिन्दु उन तीनों की ही छायाएँ हैं। ये इच्छालोक, कर्मलोक और ज्ञानलोक क्रमशः श्रद्धा, मनु और इडा के ही व्यापक रूप हैं। इच्छालोक की विशेषता—**यह जीवन की मध्यभूमि है, रसधारा से सिंचित होती,** श्रद्धा की भी प्रकृति है। इसका रंग लाल है। यह राग, अनुराग, रति ही तो है। कर्मलोक का वर्णन—"करते हैं, सन्तोष नहीं है, जैसे कशाघात-प्रेरित-से प्रतिक्षण करते ही जाते हैं...यहाँ सतत संघर्ष-विकलता", मनु का ही तो चरित्र है। कर्म का रंग श्याम है। मन-मधुकर को भी कवियों ने काला, कलुषित ही तो कहा है। अब ज्ञानलोक का लेखा देखिए: "सामंजस्य चले करने थे, किन्तु विषमता फैलाते हैं।" है न यह संशयात्मक इडा का कच्चा चिट्ठा? ज्ञान का रंग उज्ज्वल है तथा बुद्धि या इडा का वर्ण भी। **वह निशामुकुट-सा उज्ज्वलतम शशिखण्ड-सदृश था स्पष्ट भाल** से ठीक यही बताया गया है। श्रद्धा की मुस्कराहट से विभिन्न दिशाओं के तीन बिन्दु मिलकर एक हो गये और फिर इडा के आ जाने से श्रद्धा, मनु, इडा ये त्रिबिन्दु भी मिलकर एक हो गये। जिस प्रकार इच्छा, कर्म और ज्ञानलोक के त्रिबिन्दु श्रद्धा की मुस्कराहट से मिल जाते हैं, उसी प्रकार श्रद्धा के कारण ही श्रद्धा, मनु और इडा इन तीनों का मिलन होता है। मनु को तो उसने ही ढूँढ़ निकाला है और इडा स्वयं कहती है: "हे देवि! तुम्हारा प्यार ही मुझे यहाँतक खींच लाया है।" इस तरह दोनों मिलनों का निमित्त श्रद्धा ही है। फिर, श्रद्धा के होने पर मुस्कराहट खेलती है, और सारे संसार में आनन्दामृत की वर्षा होने लगती है, मनोहर

संगीत सुनाई देने लगता है : **चेतना एक विलसती, आनन्द अखंड घना था।** इस प्रकार, यह कथा चिन्ता के कीचड़ से निकलकर आनन्द-कमल के रूप में प्रस्फुटित हो उठती है।

किन्तु, इसमें कई त्रुटियाँ हैं। जैसा बताया गया, दार्शनिक दृष्टि से श्रद्धा, मनु और इडा ही इच्छा, कर्म, ज्ञान इस त्रिपुरी के मूर्त्त रूप हैं। कवि कहना यह चाहता है कि इन तीनों का संयोग ही क्रम से हृदय, हाथ और मस्तिष्क का संयोग है। इनके सन्तुलित समन्वय से ही व्यक्ति या विश्व पूर्ण तथा सुखी हो सकता है। **सिर चढ़ी रही, पाया न हृदय** कहकर श्लेष से श्रद्धा ने अपने को हृदय तथा इडा को सिर या मस्तिष्क ही बताया है। **तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन से** भी श्रद्धा मन-रूप मनु को सम्बोधित कर अपने को हृदय की बात ही कह रही है। मनु भी हाथ का प्रतीक है, उसकी मान्यता है : **कर्मयज्ञ से जीवन के सपनों का स्वर्ग मिलेगा।** वह कर्म का पुजारी है। इन त्रिपुरों का अलग-अलग रहना जीवन की भारी विडम्बना है।

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके,
यह विडम्बना है जीवन की।

और, इनका परस्पर एकीभाव ही कवि का चरम लक्ष्य है। यहाँतक तो सब ठीक है; पर शंकाएँ ये हैं—

१. उपर्युक्त कविता में ज्ञान, क्रिया, इच्छा से भिन्न मन भी एक पदार्थ आ गया। यह एक कठिनाई है। मनु तो क्रिया का प्रतीक है, मन का प्रतीक कौन-सा पात्र है? यदि मनु को मन का ही प्रतीक मानें, जैसा अधिकांश व्याख्याताओं ने किया है, तो क्रिया का प्रतीक कौन-सा पात्र है? यह एक अनुपपत्ति है।

२. दूसरी परशानी यह है कि मनुपुत्र मानव किसका प्रतीक है? श्रद्धा इडा के हाथों में मानव को सौंपकर कहती है : "यह तर्कमयी है, तू श्रद्धामय है, दोनों मिलकर समरसता का प्रचार करो। इससे मानवता का भाग्योदय होगा।" अतः, यह स्पष्ट है कि मानव भी श्रद्धा का ही प्रतीक है। श्रद्धा के अतिरिक्त इसका व्यक्तित्व शून्य है। यह भी नहीं कि इडा और मानव का संयोग पूर्ण हो। ये फिर श्रद्धा और मनु से मिलकर ही पूर्णता पाते हैं। यदि मानव में श्रद्धा और मन का पुत्र होने से क्रिया और विश्वास का समन्वय मानकर इडा-रूपी बुद्धि के साथ उसे छोड़ दिया जाता, वे दोनों अलग-अलग अपनी संसार-यात्रा पूरी करते, उधर श्रद्धा और मनु तप से निर्वाण पा जाते, तो शायद कथा का रूप अधिक स्पष्ट होता। किन्तु, कवि को यह भी दिखाना है कि इडा भी अकेले नहीं रह सकती। उसे मनु और श्रद्धा के पास जाना ही पड़ता है। इससे कहानी में भ्रम पैदा होता है। यह स्पष्ट नहीं प्रतीत होता कि मानव किस पदार्थ का प्रतीक है।

३. कवि ने मानससरोवर के पास इन चारों की भेंट कराई है। मानस सरोवर का नाम तो है ही, मन का पर्याय भी है। अवश्य ही कवि इस शब्द से व्यंजना के द्वारा मन का बोध कराना चाहता है। लेकिन, फिर वही कठिनाई सामने आ जाती है। मनु और

मानव के अतिरिक्त यह मानस अब किसका प्रतीक माना जायगा ? यहाँ कवि की कल्पना और भी उलझ गई है।

४. फिर, इस कहानी में धर्म-रूपी बैल की क्या उपयोगिता है ? माना कि कहानी में स्पष्ट कह दिया गया है कि श्वेत बैल धर्म का ही रूप है, परन्तु उससे इस कहानी के शरीर-निर्माण में क्या सहायता मिलती है ?

५. यद्यपि मानव कथा के विकास में सहायक है। गर्भिणी श्रद्धा को अपने भावी शिशु के स्वागत में रमा हुआ देखकर ही ईर्ष्या और क्षोभवश मनु उसे छोड़कर चल देता है। पर, यह तो घोर अभारतीय पृष्ठभूमि हो गई। कालिदास का वर्णन है : **विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत** (दिलीप और सुदक्षिणा का प्रेम नवजात शिशु रघु पर बँटकर भी आपस में और गाढतर हो गया)। पुत्रजन्म तो यहाँ दिव्य आनन्द का उत्सव माना जाता है, बल्कि **तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः।** स्त्री-जीवन का, दाम्पत्य प्रेम का उद्देश्य ही है बाल-गोपाल की प्राप्ति। मालूम होता है कि फ्रायड के अस्वस्थ मनोविज्ञान का कुप्रभाव कवि पर पड़ गया है। पुत्र से ईर्ष्या ? वह भी शिशु से ? जिसपर पशु-पक्षी भी अपना सर्वस्व निछावर करते हैं, विवेक से नहीं, स्वाभाविक प्रवृत्ति (Instinct) से ? स्वयं श्रद्धा स्पष्टतः कह भी रही है : **देखो नीड़ में विहग युगल अपने शिशुओं को रहे चूम।** लगता है, कवि यह भी भूल गया कि भारतीय परम्परा में किसी भी महाकाव्य के नायक का ऐसा अनैतिक पतन दिखाना साहित्यिक महापातक है; क्योंकि हमारा काव्य कान्तासम्मित उपदेश के लिए होता है, हम शिक्षा ग्रहण करते हैं कि हमें राम-सा आचरण करना चाहिए, रावण-सा नहीं।

६. इतना ही बड़ा, बल्कि इससे भी बड़ा अपराध कवि फिर करता है, जब मनु को वह अपनी प्रजा इडा के साथ बलात्कार करने के लिए कृतसंकल्प दिखाता है। ऐसी भी बात कहीं महाकाव्य में दिखानी चाहिए। वह भी स्वयं नायक के ही जीवन में ? अपने काव्य में क्या वह इडा को मनु की आत्मजा से भिन्न, एक स्वतन्त्र कुमारी बालिका के रूप में नहीं उपस्थित कर सकता था ? किसी भी ब्रह्मचारिणी बालिका की इच्छा के विरुद्ध उससे रति-याचना निषिद्ध हो सकती थी, उससे शिव का कोप भी दिखाया जा सकता था; फिर इस महापातक-प्रदर्शन से कथा में क्या सौन्दर्य बढ़ गया ? श्रद्धा की तरह इडा को भी मनु से असम्बद्ध ही दिखाना चाहिए।

७. काम ने स्वप्न में आकर श्रद्धा के प्रति मनु के प्रेम को प्रबलतर बना दिया, यह मनोवैज्ञानिक है। रति ने श्रद्धा को अधिक सलज्ज रहने का संकेत दिया, यह भी तर्कसंगत है। किन्तु, काम का मनु को यह कहना कि तुमने श्रद्धा के पावन प्रेम को ठुकराकर वासना की जलन को ग्रहण किया, फलतः यह शाप देना कि "अब तुम सदा व्याकुल रहोगे। तुम्हारी नवीन मानव-सृष्टि सदा भेद-भाव में फँसी रहेगी, जिसके परिणामस्वरूप सर्वत्र अशान्ति का राज्य होगा। तुम्हारा समग्र जीवन एक युद्ध बनकर रह जायगा। अन्त समय तक तुम निराशा के अन्धकार में तड़पते रहोगे"—विचित्र लगता है। काम तो स्वयं वासना का जनक है, वही तो मन को मधुप-सा क्षण-क्षण में नये-नये

प्रेम-पात्रों पर अटकने की प्रेरणा देता है, कामी बनाता है। काम के मुँह से भर्त्सना और शाप उपहासास्पद लगते हैं। भारतीय परम्परा में कामदेव काफी बदनाम है। वह सात्त्विक नहीं, राजस देव है। इन्द्र का सहायक होने से भले ही उसे देवपद मिल गया है। फिर, उसका शाप मनु के प्रति तो व्यर्थ ही होता है। अन्त में, मनु को चिर शान्ति और दिव्य सुख प्राप्त होता है। उसका पुत्र मानव भी काव्य में कभी कहीं दुःखी नहीं दिखाया गया है।

८. यह ठीक है कि प्रसाद को नारी के प्रति बड़ी श्रद्धा है। **तुम भूल गये पुरुषत्व-मोह में कुछ सत्ता है नारी की**—की चेतावनी देकर वे पुरुषों को नारी के समानाधिकार की ओर अवश्य जागरूक बनायें; किन्तु यह क्या कि काव्य के नायक पुरुष मनु को उन्होंने एक गुण्डा, आवारा, भीरु, ईर्ष्यालु, क्रोधी, निर्बल और फिसड्डी के रूप में चित्रित कर दिया? पुरुष के प्रति, अपने-आपके प्रति, यह हीनभावना क्यों? मनु का आचरण पदे-पदे अनौचित्यपूर्ण है। आरम्भ में ही वह चिन्ता से आकुल एक किंकर्त्तव्यविमूढ व्यक्ति-सा दिखाया गया है—

शैल-निर्झर न बना हतभाग्य, गल नहीं सका जो कि हिमखण्ड।
दौड़कर मिला न जलनिधि-अंक, आह वैसा ही हूँ पाखण्ड।

सचमुच, हमारे चरितनायक मनु का पूरा जीवन एक ढोंग ही बनकर रह गया है। उसे इस घोर निराशा से छुटकारा मिलता है केवल श्रद्धा के उत्साहप्रद प्रवचनों को सुनकर। श्रद्धा का अवलम्ब लेकर ही वह जीवन-यापन शुरू कर देता है; किन्तु श्रद्धा की गोद में एक पशु को भी देखकर उसमें ईर्ष्या की आग जल उठती है। फिर, श्रद्धा के समझाने पर ही यह बालोचित मूढता दूर होती है।

इसके बाद भी श्रद्धा उसे संयम का ही पाठ पढाती रहती है; किन्तु मनु के मन में वासना की तीव्र ज्वाला धधक उठती है और वह श्रद्धा के चरणों में आत्मसमर्पण करता है। मनु वासना में इतना डूब जाता है कि श्रद्धा को भी बरबस सोमपान कराता है। उस-जैसे वासना के पुतले की दलील भी कैसी है: "स्वार्थ तुच्छ वस्तु नहीं है। इस क्षणभंगुर जीवन में स्वार्थ ही सब कुछ है।" श्रद्धा उसे स्वार्थ से दूर हटकर—**अपने सुख को विस्तृत कर लो। सबको सुखी बनाओ** का उपदेश देती है। शीघ्र ही इस शराबी, स्वार्थी, कामुक मनु की वासना श्रद्धा को गर्भिणी देख नशे की तरह उतर जाती है। उसका मन आगन्तुक शिशु के प्रति वात्सल्यपरायण श्रद्धा को भविष्य की तैयारियाँ करते देख ईर्ष्या और क्षोभ से भर जाता है। श्रद्धा पुकारती रह जाती है—**रुक जाओ निर्मोही** और वह गर्भिणी पत्नी को जंगल में अकेली छोड़ चल देता है। जिस इडा ने उसे अशरण की हालत में शरण दी, सारे राज्य का प्रबन्ध देकर उसका मान बढ़ाया, उसके (इडा के) प्रति मनु ने कैसी कृतघ्नता की? शरणदात्री और पुत्री के साथ बलात्कार! मनु के वासनापूर्ण शब्द सुनकर भी इडा विचलित नहीं होती, वह उसे सावधान करती है—"सँभलो। यह तुम्हारी प्रजा है और तुम इसके प्रजापति।" किन्तु, मनु उसे भुजाओं में बलात् कस लेता है। संघर्ष में भी मनु की पराजय होती है, इडा फिर भी उसपर दया दिखाती है, उसे मरने से बचाती है। तबतक परित्यक्ता श्रद्धा अपने पुत्र मानव को लेकर आदर्श भारतीय सती की तरह

मनु को ढूंढ़ते-ढूंढ़ते सारस्वत-प्रदेश में चली आती है। उसकी यह दशा देख-सुन निर्दोष इडा को भी पश्चात्ताप होता है। किन्तु, मनु उसे देखते ही अपने जघन्य कृत्य की ग्लानि से इतना भर जाता है कि फिर उससे मुँह चुराकर रात में ही उठकर भाग जाता है। श्रद्धा अपने एकमात्र पुत्र मानव को इडा के हाथों सौंप फिर अपने जीवन-सर्वस्व मनु को ढूंढने चल देती है। श्रद्धा से मिलने के बाद मनु को महादेव की ज्योति दिखती है। वह उस ज्योति तक पहुँचना चाहता है, पर अशक्तिवश श्रद्धा का सम्बल ढूंढ़ता है : **बस, तू ले चल उन चरणों तक, दे निज संबल।** श्रद्धा उसे बालक की तरह हाथ पकड़कर ले चल रही है, आगे-आगे श्रद्धा, पीछे-पीछे मनु। फिर भी, मार्ग की कठिनाइयों से मनु इतना हतोत्साह हो उठता है कि बालक-सा मचल पड़ता है : **लौट चलो इस वातचक्र से, मैं दुर्बल अब लड़ न सकूँगा।** श्रद्धा बहुत उत्साह दिलाकर उसे आगे बढ़ाती है। आगे जब प्रकाश के तीन बिन्दु दिखने लगे और मनु ने उनका कुछ अर्थ नहीं समझा, तब श्रद्धा ने समझाया। यहाँ भी मनु बिलकुल अज्ञ है और श्रद्धा विज्ञ। इन बिन्दुओं की व्याख्या कर श्रद्धा मुस्करा पड़ती है और ये त्रिबिन्दु मिलकर एक हो जाते हैं। फिर, इडा भी श्रद्धा से मिलने के लिए आती है। आते ही मानव भी श्रद्धा की गोद में बैठ जाता है और इडा भी श्रद्धा के चरणों में मस्तक धर देती है। तब प्रसन्नता से श्रद्धा के होठों पर मुस्कराहट खेलने लगती है और सारे विश्व में आनन्दामृत की वर्षा तथा मधुर संगीतनाद व्याप्त हो जाता है। इस तरह, स्पष्ट ही प्रसाद का पुरुष नायक मनु स्त्री श्रद्धा और इडा के परामर्श, दया, क्षमा तथा शरण का पुतला है। ठीक ही तो है, **ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे** के पलायनवादी गायक का नायक भगोड़ा, कायर और स्त्रैण न हो, तो कैसा हो?

यह नहीं कि मैं 'प्रसाद' की कठिनाइयों से अनभिज्ञ हूँ। महाकाव्य लिखते समय वे दो शर्त्तों से बँध जाते हैं। एक तो पराधीन भारत के ही नहीं, उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचे हुए देशों के भी मनुष्यों का असन्तोष, कुटिल संघर्ष और निराशा उनके सामने है। मानवता का कृष्णपक्ष जितनी स्पष्टता से उनकी आँखों के आगे मूर्त्त हो रहा है, उसकी तुलना में उसका शुक्लपक्ष मृगतृष्णावत्, एलडोराडो (Eldorado) के राज्य-सा प्रतीत हो रहा है। फिर, वे छायावादा युग में हैं, अतः उनकी अभिव्यंजना-शैली भी अन्य रहस्यवादी कवियों से सूक्ष्मतर है। तीसरी कठिनाई यह है कि यह द्वयाश्रय काव्य है, अर्थात् इसमें स्थूल जगत् और सूक्ष्म जगत् की समानान्तर गति दिखानी है। किन्तु, इन सीमाओं के बावजूद 'प्रसाद' या तो हार्डी की तरह मानव को दैव के हाथ की तितली मानते हैं, या अपने अन्तिम उद्देश्य उपसंहार के निर्वाह में ही उनकी सारी शक्ति समाप्त हो जाती है और कथानक का सारा शरीर असन्तुलित और अस्वस्थ बन जाता है। इस तरह, वर्ण्य विषय की दृष्टि से 'प्रसाद' का महाकाव्य, यदि इसे महाकाव्य कहा जा सकता है, मुझे बड़ा असफल लगता है। वर्त्तमान विश्व की अव्यवस्था इसमें पूर्णतः प्रतिबिम्बित है।

••

नेतरहाट पब्लिक स्कूल
राँची

भारत की प्राचीन नियोग-प्रथा

डॉ० श्रीसर्वानन्द पाठक, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

नि-पूर्वक दिवादिगणीय 'युज् समाधौ', रुधादिगणीय 'युजिर् योगे' और चुरादिगणीय 'युज् संयमने' धातुओं के साथ भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय के योग से नियोग शब्द की सिद्धि होती है। व्याकरण-शास्त्र के अनुसार 'नियोग' का शाब्दिक अर्थ होता है—किसी क्रिया में संलग्नता। दुर्गादास ने 'नियोग' का अर्थ 'अवधारण' किया है।[१] महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश में निश्चय के अर्थ में 'नियोग' शब्द का प्रयोग किया है।[२] हेमचन्द्र ने 'नियोग' का शब्दार्थ 'आज्ञा' माना है।[३] आदिकवि वाल्मीकि ने भी आज्ञा के ही अर्थ में 'नियोग' शब्द का प्रयोग किया है।[४]

स्मृतिग्रन्थों में तो 'नियोग' शब्द के प्रयोगबाहुल्य का दर्शन होता है और वहाँ 'नियोग' शब्द एक पारिभाषिक अर्थ में रूढ-सा हो गया है। यथा : सन्तान के अभाव में विधवा स्त्री का गुरुजनों की अनुमति से अपने देवर, सपिण्ड या सगोत्र पुरुष के साथ पुत्र की प्राप्ति के लिए विशिष्ट एवं वैध रीति से रतिक्रिया में संलग्न होना।[५]

ऋग्वेद, निरुक्त, मनु, याज्ञवल्क्य, गौतम, वसिष्ठ, कौटिल्यार्थशास्त्र, विष्णुस्मृति, नारदसंहिता, महाभारत, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण आदि श्रौत, स्मार्त्त, ऐतिहासिक और पौराणिक आर्यवाङ्मयों में नियोग की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूपरेखा की स्पष्टास्पष्ट चर्चा मिलती है। नियोगाचरण के सम्बन्ध में विविध आचार्यों के विविध मत हैं। अतएव, सर्वप्रथम नियोग-प्रथा के उद्गम-रूप प्राचीन शास्त्रों के सिद्धान्तों का परीक्षण कर लेना औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। भारतीय आर्यवाङ्मयों के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद में भी इस प्रकार की प्रथा का अस्पष्ट उदाहरण उपलब्ध होता है। यहाँ एक ऋचा में इस प्रकार का प्रसंग आया है कि 'शयन के लिए इच्छुक विधवा स्त्री जिस प्रकार देवर का और स्त्री पुरुष का निकट में सामना करती है, उसी प्रकार तुम दोनों का कौन निकट में सामना करती है' :

को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते स्वधस्थ आ।—ऋग्वेद, १०।४०।२।

पर, इससे यहाँ यह स्पष्टीकरण नहीं होता कि उपर्युक्त मन्त्र देवर के साथ विधवा के विवाह को इंगित करता है अथवा नियोगाचरण को। किन्तु, इसमें तो सन्देह नहीं कि सायण के मत से देवर शब्द का यौगिक अर्थ 'द्वितीयवर' होता है और इसका लौकिक अर्थ 'पति का भाई' : **पत्यभावे यथैव स्त्री देवरं कुरुते पतिम्। (महाभारत, शान्ति—**

१. शब्दकल्पद्रुम, द्वितीय काण्ड, पृ० ८८७।
२. मल्लिनाथी टीका, १७।४९।
३. अभिधानचिन्तामणि, २।२७७।
४. रामायण, २।२१।४८।
५. द्र० मनु० ९।५८।६०; याज्ञ० स्मृ० १।६८।

पर्व, ७२।१२)। एक स्थल पर सत्यवती कृष्णद्वैपायन व्यास को कौशल्या (अम्बिका) का देवर निर्देशित करती हुई कहती है : 'कौशल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वामनुवेक्ष्यति (महाभारत, आदिपर्व, १०५।२)।

इस महाभारतीय उदाहरण से यह लोकविरुद्ध विचार सिद्ध होता है कि पति के ज्येष्ठ भ्राता को भी देवर अभिहित किया जा सकता है; क्योंकि सत्यवती के गर्भ से कृष्ण-द्वैपायन व्यास का जन्म विचित्रवीर्य के जन्म के पहले ही हो चुका था; किन्तु सत्यवती व्यास को अम्बिका का देवर शब्द से घोषित कर रही है। सम्भव है, उस समय पति के अग्रज और अनुज दोनों भ्राताओं के लिए 'देवर' शब्द व्यवहृत होता हो।

'दीव्यतिकर्मा' का तात्पर्य भी यही लक्षित होता है। सायण ने भी देवर का अर्थ पति का भ्राता किया है। अतएव, यदि देवर शब्द का लौकिक अर्थ ग्रहण किया जाय, तो इस मन्त्र से 'नियोग' की ही सिद्धि होती है। मेधातिथि ने मनुस्मृति (९।६६) के भाष्य में लिखा है कि ऋग्वेद (१०।४०।२) में नियोग का उल्लेख है। डॉक्टर अविनाशचन्द्र दास ने भी लिखा है कि ऋग्वेद (१०।४०।२) के अनुसार मृतभर्तृका स्त्री नियुक्त होकर और अपने देवर से सहवास कर सन्तान उत्पन्न करा सकती है।[1]

गौतमस्मृति

गौतमधर्मसूत्रों में नियोगाचार के विषय में प्रचुर विवृतियों की उपलब्धि मिलती है। यथा :

१. विधवा स्त्री, जिसको सन्तान की इच्छा हो, देवर से सन्तान उत्पन्न करे।
२. वह गुरुजनों की आज्ञा से केवल ऋतुस्नान के पश्चात् सम्भोग करे।
३. देवर के अभाव में सपिण्ड, सगोत्र, समानप्रवर अथवा सवर्ण से सम्भोग कर सन्तान उत्पन्न कर सकती है।
४. कतिपय मतानुसार देवर के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष से सम्भोग न करे।
५. दो से अधिक सन्तान उत्पन्न न करे।[2]
६. सन्तान पर अधिकार उसका है, जो उत्पत्तिकर्ता, अर्थात् बीजी है।
७. यदि (इसके विपरीत) वचन न दिया गया हो।
८. जीवित पति (की प्रार्थना पर उस) की स्त्री में (नियोग द्वारा उत्पन्न सन्तान पति की होती है)।
९. (परन्तु यदि उत्पत्तिकर्त्ता) और कोई हो, तो (सन्तान) उसकी (होती है),
१०. अथवा दोनों (बीजी और क्षेत्री) की।
११. यदि माता का पति, अर्थात् क्षेत्री (सन्तान का) पालन-पोषण करे[3] (तो उसकी होती है)।

---

१. ऋग्वैदिक कल्चर, पृ० २५५।
२. गौतमधर्मसूत्र, १८।४-८।
३. वही, १८।९-१४।

गौतमधर्मसूत्र (२८।३२) में नियोगोत्पन्न पुत्र को क्षेत्रज कहा गया है और वह क्षेत्रज पिता के रिक्थ का भागी होता है। पत्नी को 'क्षेत्र', पत्नी के पति को 'क्षेत्रिन्' या 'क्षेत्रक' और सम्भोग के द्वारा सन्तानोत्पादक को 'बीजिन्' कहा गया है।[१]

वासिष्ठ धर्मशास्त्र

वसिष्ठ-धर्मसूत्रों में नियोग की व्यवस्था के सम्बन्ध में सम्यक् रूप से प्रतिपादन मिलता है। यथा :

१. छह मास के पश्चात् स्नान कर और पिता का श्राद्ध कर, विद्या, कर्म, गुरु और योनि-सम्बन्ध को मिलाकर पिता अथवा भ्राता नियोग कराये।
२. उन्मत्त (प्रमत्त), विवश और रुग्णा स्त्री को नियुक्त न करे।
३. अधिकवयस्का स्त्री भी नियोग न करे।
४. नियोग के लिए षोडशवार्षिकी ही उत्तम है,
५. नहीं तो सन्तान रोगी होगी।
६. प्राजापत्य मुहूर्त्त में विवाह के समान ही समस्त उपचार करे—कठोर वाणी या कठोर दण्ड से नहीं, अनुकूलता से।
७. धन के लोभ से नियोग न हो इत्यादि-इत्यादि।[२]

कौटिल्यार्थशास्त्र

नियोग के सम्बन्ध में कौटिल्य का कथन है कि वह राजा, जो वृद्ध हो या असाध्य रोग से ग्रस्त हो, अपनी महिषी में मातृबन्धु अथवा तत्तुल्य गुणसम्पन्न अपने सामन्तों में किसी एक से नियोग के द्वारा पुत्र उत्पन्न कराये : **वृद्धस्तु व्याधितो वा राजा मातृबन्धु-तुल्यगुणवत्सामन्तानामन्यतमेन क्षेत्रे बीजमुत्पादयेत् (अर्थशास्त्र, १।१७, पृ० २५)।**

कौटिल्य का पुनः प्रतिपादन है कि मातृबन्धु या सगोत्र के द्वारा क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न कराये और वह रिक्थभागी हो सकता है :

क्षेत्रे वा जनयेदस्य नियुक्तः क्षेत्रजं सुतम् ।
मातृबन्धुः सगोत्रो वा तस्मै तत्प्रदिशेद्धनम् ॥

—अर्थशास्त्र, ३।६, पृ० १६३

नारदसंहिता

मानव-धर्मशास्त्र में नियोगाचार पर पर्याप्त प्रकाश-निक्षेप करते हुए कहा गया है—

१. यदि किसी निस्सन्तान स्त्री का पति मर जाय, तो वह अपने गुरुजनों की आज्ञा लेकर पुत्र की कामना से देवर के पास जाय।

२. वह (देवर) उस (स्त्री) का जबतक उसके पुत्र न हो, सहवास करे। जब पुत्र उत्पन्न हो जाय, तब उसका सहवास त्याग दे, नहीं तो यह व्यभिचार होगा।

३. उस स्त्री से नियोग करे, जिसका पुत्र उत्पन्न होकर मर चुका हो, जो प्रशंसनीय हो और जो मोह और काम के वश में न हो।

---

१. द्र० मनु० ९।३२-३३ और ५३।
२. वा० ध० सू० १७।५६-६१ और ६५।

४. नियुक्ता स्त्री से सम्भोग के समय पुरुष अपने शरीर में घृत या उत्तम तैल लगा के, अपना मुख उसके मुख से मोड़ ले और अपने अंगों का उसके अंगों से स्पर्श न होने दे :

घृतेनाभ्यज्य गात्राणि तैलेनाविकृतेन वा ।
मुखान्मुखं परिहरन् गात्रैर्गात्राण्यसंस्पृशन् ।।

—नारदसंहिता (स्त्रीपुंस०) १२।८२

५. यदि स्त्री अपने ज्ञातिजनों की आज्ञा के बिना देवर से पुत्रोत्पन्न करे, तो वेदज्ञ उस पुत्र को 'जारज' और 'अदायाद' घोषित करते हैं :

अनियुक्ता तु या नारी देवराज्जनयेत्सुतम् ।
जारजातमरिक्थीयं तमाहुर्ब्रह्मवादिनः ।।

—ना० सं० (स्त्रीपुंस०) १२।८४-८५

क्षेत्रज पुत्र को द्वितीय प्रकार का पुत्र मानकर उसको बान्धव और दायाद के रूप में स्वीकृत किया गया है तथा औरस पुत्र के अभाव में क्षेत्रज पुत्र को ही रिक्थभागी माना गया है ।[1]

विष्णुस्मृति

विष्णुधर्मसूत्र में 'क्षेत्रज' के सम्बन्ध में एक नूतन विचार का विवरण मिलता है, जो गौतम और वसिष्ठ के धर्मसूत्रों से भिन्न है । वहाँ कथन है कि 'क्षेत्रज पुत्र वह है, जो नियुक्त पत्नी अथवा विधवा में पति के सपिण्ड अथवा किसी उत्तम वर्ण (ब्राह्मणादि) से उत्पन्न हो और वह द्वितीय प्रकार का पुत्र माना गया है :

नियुक्तायां सपिण्डेनोत्तमवर्णेन वोत्पादितः क्षेत्रजो द्वितीयः ।

—वि० ध० सू० १५। ३

मनुस्मृति

मानव-धर्मशास्त्र में नियोग-सम्बन्धी विवरण तो बहुधा दृश्यमान होते हैं । यथा: १. सन्तान के अभाव में स्त्री, जिसको आज्ञा दे दी गई हो, अपने देवर या पति के सपिण्ड से नियमानुसार सन्तान उत्पन्न करा ले । २. विधवा से (सम्भोग के लिए) नियुक्त किया गया पुरुष रात्रि के समय शरीर में घृत का लेप कर मौनधारणपूर्वक एक पुत्रोत्पत्ति-पर्यन्त सहवास करे, द्वितीय सन्तान उत्पन्न न करे । ३. अन्य धर्मवेत्ता यह विचार कर कि एक ही पुत्रोत्पत्ति से दोनों के नियोग करने का तात्पर्य पूर्ण नहीं होता, कहते हैं कि धर्मानुसार स्त्री दो पुत्र तक उत्पन्न कर सकती है । ४. परन्तु, जब विधवा के नियोग करने का प्रयोजन यथाविधि पूर्ण हो गया हो, तब वे दोनों परस्पर गुरु (पिता) और पुत्रवधू के समान व्यवहार करें । ५. यदि वे दोनों नियुक्त (स्त्री-पुरुष) इस विधि को तोड़कर और कामातुर होकर सहवास करते रहेंगे, तो दोनों पुत्रवधू के साथ व्यभिचार के दोषी होंगे और गुरुपत्नीगामी के तुल्य पतित माने जायेंगे ।[2]

---

१. नारदसंहिता, १३।४५, ४७ और ४९ ।
२. मनु० ९।५९—६३ ।

इस स्मृति में क्षेत्रज पुत्र का बारह प्रकार के पुत्रों में द्वितीय स्थान है।[१] इस स्मृति के अनुसार क्षेत्रज पुत्र उसे कहते हैं, जो नियोग-विधि से धर्मानुसार मृत, नपुंसक अथवा रोगी की पत्नी से उत्पन्न किया गया हो—

> यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा।
> स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः॥
>
> —मनु० ९।१६७

याज्ञवल्क्यस्मृति

नियोग-विधि और क्षेत्रज पुत्र के विवरण में याज्ञवल्क्य ऋषि का प्रतिपादन है कि देवर, सपिण्ड या सगोत्र गुरुजनों की आज्ञा से शरीर में घृत का आलेपन कर निस्सन्तान विधवा का, उसके ऋतुकाल में ही, पुत्रोत्पादन की इच्छा से, सहवास करे। केवल गर्भ-स्थापनाकाल तक ही सहवास करे, गर्भस्थापना हो चुकने पर सहवास करने से वह पतित हो जाता है और इस नियोग के द्वारा उत्पन्न पुत्र परिणेता (पति) का क्षेत्रज माना जाता है।[२]

उपर्युक्त घृतालेपन-वचन की समीक्षा में आचार्य विश्वरूप का प्रतिपादन है कि घृतालेपन का विधान कामप्रवृत्ति-निरोधक है। इस नियोग के सम्भोग में चुम्बन, आलिङ्गन आदि क्रियाएँ विकारोत्पादक होने के कारण सर्वथा त्याज्य मानी गई हैं।[३]

याज्ञवल्क्य के मत (२।१२८) से क्षेत्रज पुत्र वह है, जो पति के सगोत्र अथवा किसी अन्य पुरुष के द्वारा उसकी पत्नी में उत्पन्न हो। यहाँ औरस और पुत्रिका-पुत्र के अभाव में क्षेत्रज को पिण्डदाता और दायाद माना गया है।[४]

उपर्युक्त विवृतियों से ध्वनित होता है कि भारतवर्ष की आर्य-संस्कृति में नियोग-प्रथा का आवश्यकतानुसार निस्संकोच प्रचलन था। नियोगाचरण के सम्बन्ध में अब किसी प्रकार के सन्देह के लिए अवकाश नहीं रह जाता। महाभारत से तो नियोग के व्यावहारिक रूप का पूरा स्पष्टीकरण हो जाता है। एक प्रसंग में विवरण है—

१. जब पृथ्वी जामदग्न्य परशुराम के द्वारा क्षत्रियविहीन हो गई थी, तब क्षत्राणियाँ सन्तान की कामना से ब्राह्मणों के पास आने लगीं। ब्राह्मण केवल ऋतुस्नान-काल में, न कि कामवश ऋतु-विपरीत काल में, उनसे सम्भोग करते थे। इस प्रकार, सहस्रों क्षत्राणियों ने गर्भ धारण किया और पुनः क्षत्रिय-कुल की वृद्धि के लिए धर्मपूर्वक अत्यन्त बलशाली क्षत्रिय-कुमारों तथा कुमारियों को जन्म दिया।[५]

---

१. मनु० ९।१५९-१६०; क्षेत्रज पुत्र के अधिकारों के सम्बन्ध में विवरण मनुस्मृति, ९।१२०-१२१, १४५-१४६; १६२—१६५, १८०-१८१, १८४ और १९० में आये हैं।

२. याज्ञ० स्मृ० १।६८-६९।

३. हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, अ० १३, पा० टी० १४१४।

४. याज्ञ० स्मृ० २।१३२।

५. महाभारत, आदिपर्व, ६४।५-७।

२. महाभारत में ही एक अन्य स्थल पर (आदि० १०४।२) सत्यवती से भीष्म कहते हैं कि किसी गुणवान् ब्राह्मण को धन देकर बुलाओ, जो विचित्रवीर्य की स्त्रियों के गर्भ से सन्तान उत्पन्न कर सके।

३. एक अन्य प्रसंग में सत्यवती अपने पुत्र पाराशर व्यास से कहती है कि तुम्हारे छोटे भाई की पत्नियाँ देवकन्याओं के समान सुन्दरी और रूपवती तथा युवावस्था से सम्पन्न हैं। उनके मन में धर्मतः पुत्रप्राप्ति की कामना है। हे पुत्र, तुम इस (कार्य) के लिए समर्थ हो। अतः, उन दोनों के गर्भ से ऐसी सन्तान को जन्म दो, जो कुल-परम्परा की रक्षा तथा वृद्धि के लिए सर्वथा सुयोग्य हो।[1]

तत्पश्चात् अपनी माता की आज्ञा के अनुसार व्यास ने यथासमय नियोग-विधि से क्रमशः अम्बिका और अम्बालिका—दो विधवा भ्रातृवधुओं का सहवास किया, जिससे क्रमशः धृतराष्ट्र और पाण्डु नामक दो जगद्विख्यात पुत्र हुए। पुनः भ्रातृवधू अम्बिका के द्वारा नियुक्त एक सुन्दरी दासी के साथ व्यासदेव ने सम्भोग किया, जिससे विदुर का जन्म हुआ।

४. एक अन्य स्थल पर (आदि० ११९।२२-२३) पितृऋण से मुक्ति पाने के लिए व्याकुल होकर महाराज पाण्डु ऋषियों से कह रहे हैं—"जिस प्रकार मैं अपने पिता के क्षेत्र में महर्षि व्यास के द्वारा उत्पन्न हुआ हूँ, उसी प्रकार मेरे इस क्षेत्र में भी किस प्रकार सन्तान की उत्पत्ति हो?"

५. राजा सौदास कल्माषपाद की पत्नी रानी मदयन्ती में नियोग-विधि के द्वारा महर्षि वसिष्ठ से अश्मक नामक राजर्षि पुत्र उत्पन्न हुआ था।

पौराणिक नियोग

विष्णुपुराण (४।१८।१३) में दीर्घतमस् ऋषि का, राजा बलि की रानी सुदेष्णा से नियोग के द्वारा पाँच पुत्र उत्पन्न करने का प्रसङ्ग है।

उपर्युक्त उदाहरणों से यहाँ भी यही संकेतित होता है कि प्राचीन भारत की आर्य-संस्कृति में विहित रीति से सन्तान-लाभ के लिए नियोगाचरण की खुली छूट थी। किन्तु, यह नियोगाचरण काम-पिपासा की शान्ति के लिए अनुमत नहीं था। इस क्रिया में कठोर नियमों के प्रतिबन्ध थे। जो देवरादि पुरुष नियमों का उल्लंघन कर मैथुनजनित आनन्दानुभूति के लिए विधवा के साथ सम्भोग करते, वे पतित समझे जाते थे तथा उस संगम से उत्पन्न सन्तान जारज मानी जाती थी।

शास्त्रीय परिशीलन से ज्ञात होता है कि आपत्तिकाल में भी नियोग के द्वारा तीन से अधिक सन्तान उत्पन्न करने की अनुमति नहीं थी। चतुर्थ सन्तान की इच्छा करनेवाला स्त्री को स्वैरिणी माना गया है और पंचम सन्तान उत्पन्न करनेवाली को कुलटा।[2]

१. महाभारत, आदिपर्व, १०४।३७—३९।
२. वही, १२२।७७।

अब यह विवेचन करना औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है कि नियोग से उत्पन्न सन्तान किसकी हो—बीजी की या क्षेत्री की अथवा दोनों की ? इस विषय में आचार्यों का मतैक्य नहीं है।

प्रथम मत : मत की विभिन्नता का प्रसंग उपस्थित करते हुए वासिष्ठ धर्मसूत्र (१७।६) में प्रतिपादन है कि नियोगज सन्तान का अधिकारी बीजी, अर्थात् उत्पादक है। किन्तु, यह सिद्धान्त तो उसी समय खंडित हो गया, जिस समय शास्त्रों में नियोगाचरण अनुशासित और प्रचलित हुआ। आचार्य यास्क को यही सिद्धान्त मान्य है—

तद्यथा जनयितुः प्रजा एवमर्थीये ऋचावुदाहरिष्यामः।—निरुक्त, ३।१

गौतम (१८।९) और मनु (९।१८१) की घोषणा है कि जिसके बीज से पुत्र उत्पन्न हों, उसी का उनपर अधिकार है, किसी अन्य का नहीं।

आपस्तम्ब-धर्मसूत्र (२।६।१३।५) का प्रतिपादन है कि ब्राह्मण-ग्रन्थ के अनुसार पुत्र के ऊपर अधिकार जन्मदाता का ही है।

द्वितीय मत : गौतमधर्मसूत्र (१८।१०-११), वासिष्ठ धर्मसूत्र (१७।८) और महाभारत (आदि० १०४।६) के अनुसार यह प्रतिपादन है कि यदि विधवा के गुरुजनों और नियुक्त पुरुष अथवा स्वयं क्षेत्री और बीजी के मध्य कोई पारस्परिक नियमबद्धता हो गई हो कि सन्तान का अधिकारी क्षेत्री होगा, तब पुत्र पति का ही होगा।[1]

तृतीय मत : इस मत के पक्ष में मनु (९।५३) का प्रतिपादन है कि यदि बीज-वपन के पूर्व ही क्षेत्री और बीजी दोनों में पारस्परिक नियमबद्धता हो गई हो कि क्षेत्री से उत्पद्यमान सन्तान दोनों की होगी, तब उत्पन्न सन्तान के अधिकारी क्षेत्री और बीजी दोनों होंगे।

मनु के ही पक्ष में अपना मत स्थापित करते हुए याज्ञवल्क्य (२।१२७) का कथन है कि पुत्रहीन देवरादि के द्वारा अन्य के क्षेत्र में नियोग के नियम स उत्पादित पुत्र धर्मानुसार क्षेत्री और बीजी दोनों का रिक्थभागी और पिण्डदानाधिकारी है। नारद(स्त्रीपुंस० ५८) भी तृतीय मत से सहमत होते हैं।

ऊपर के विवरणों के आधार पर अब यह निर्धारण करना कठिन प्रतीत होता है कि उपर्युक्त तीन मतों में कौन-सा मत उपादेयतम है। यदि प्रथम मत के अनुसार बीजी को सन्तानाधिकार देकर क्षेत्री को वंचित रखा जाता है, तो नियोगाचरण ही निष्प्रयोजन सिद्ध हो जाता है; क्योंकि नियोग-प्रथा को प्रचलित किया गया था—क्षेत्री के ही लौकिक और पारलौकिक कल्याण के लिए। इस परिस्थिति में नियोग की व्यवस्था ही व्यर्थ हो जाती है। अतएव, प्रथम मत अग्राह्य हुआ। यदि द्वितीय मत के अनुसार क्षेत्री को सन्तानाधिकार देकर बीजी को उससे वंचित रखा जाता है, तो यह भी औचित्यपूर्ण नहीं; क्योंकि संगमजनित आनन्दानुभूति से अपने को पृथक् रखकर ही नियोगाचरण में प्रवृत्त होने का आदेश है। ऐसी अवस्था में बीजी दोनों प्रकार के लाभों से प्रतारित रह जाता है—विषयजनित लौकिक सुखानुभूति से और पिण्डदानजनित पारलौकिक स्वर्गप्राप्ति आदि सुखलाभ से। अतएव, याज्ञवल्क्य (२।१२७) के

१. हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, अ० १३, पृ० ६०५।

अनुसार तृतीय मत को ही समीचीनतम और उपादेयतम मान लेना श्रेयस्कर प्रतिभात होता है; क्योंकि तृतीय मत के अनुसार बीजी और क्षेत्री दोनों लौकिक और पारलौकिक सुखोपभोगी हो जाते हैं।

निराकरण

जब कि गौतम-सदृश प्राचीन धर्मसूत्रकारों ने नियोग-प्रथा का समर्थन किया है, तब गौतम के समकालीन ही अन्य सूत्रकारों और लेखकों ने इस प्रथा का निषेध भी किया है। निषेध के पक्ष में कहा गया है कि वैवाहिक नियमों का उल्लंघन कर नियोगाचरण से पति और पत्नी नरकगामी होते हैं। अतः, नियोग के द्वारा सन्तान-प्राप्ति की अपेक्षा नियोग का निषेध ही श्रेयस्कर है—

अविशिष्टं हि परत्वं पाणेः। तद्व्यतिक्रमे खलु पुनरुभयोर्नरकः।
नियमारम्भणो हि वर्षीयानभ्युदय एवमारम्भणादपत्यात् ॥

—आप० ध० सू० २।१०।२७।५-७

आचार्य औपजंघनि के मत का उल्लेख करते हुए बौधायनधर्मसूत्र (२।२।३८) में कहा गया है कि केवल औरसपुत्र ही 'पुत्र-'पदवाच्य है। इस प्रसंग में तीन श्लोकों के उद्धरण के साथ क्षेत्री पतियों को सावधान किया गया है कि वे अपनी पत्नियों की रक्षा करें और उन्हें नियोगाचरण के द्वारा पुत्रोत्पादन के लिए अनुमति न दें; क्योंकि नियोगज सन्तान से केवल बीजी ही लाभान्वित होता है।[1]

मनु ने यद्यपि प्रथम तो नियोग के पक्ष में मत दिया है, किन्तु पीछे चलकर ओजस्वी शब्दों में नियोग का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि द्विजगण विधवा स्त्री को पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष के साथ नियुक्त कराये, तो सनातन धर्म का नाश हो जाता है; क्योंकि वैवाहिक मन्त्रों में कहीं भी नियोग या विधवा-विवाह का प्रसंग नहीं आया है। नियोगाचार केवल पशुधर्म है और विद्वानों ने इसकी निन्दा की है। राजा वेन ने कामुक-भाव से नियोग-क्रिया के द्वारा वर्णसंकरता का प्रचार किया था। उसी समय से महापुरुषों ने उस पुरुष को, जो अज्ञानतावश विधवा को पुत्रोत्पादन के लिए नियुक्त करे, दोषी निर्दिष्ट किया है।[2] नियोग के अर्थप्रकाश में मनु का प्रतिपादन है कि यदि कन्या के विवाह के लिए वाग्दान हो चुकने पर वर की मृत्यु हो जाय, तो उस मृत वर का सोदर भ्राता उस वाग्दत्ता भ्रातृजाया से विवाह कर सकता है और वह देवर वैवाहिक विधि से शुक्लवस्त्रा तथा व्रतचारिणी के रूप में उसे ग्रहण कर तबतक प्रत्येक ऋतुस्नान-काल में केवल एक बार उसके साथ सम्भोग कर सकता है, जबतक एक सन्तान उत्पन्न न हो जाय और इस विधि से उत्पन्न सन्तान मृत पति की मानी जायगी।[3]

---

१. बौ० ध० सू० २।२।३९—४१।
२. मनु० ९।६४—६८।
३. मनु० ९।६९-७०।

बृहस्पति ने नियोग-धर्म का कलियुग के लिए निषेध करके वर्जित धर्मों में इसे समाविष्ट कर दिया है। मनु के मत का उल्लेख करते हुए बृहस्पति का प्रतिपादन है कि मनुस्मृति में पहले तो नियोगाचार का समर्थन हुआ है और पीछे इस प्रथा को निषिद्ध कर दिया गया। मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूकभट्ट का कथन है कि सत्य, त्रेता और द्वापर युगों में मनुष्य तपस्वी, संयमी और ज्ञानवान् होते थे तथा दुष्कर नियमों के पालन में समर्थ। किन्तु, कलियुग की प्रजाओं में अत्यन्त शक्तिक्षीणता आ गई, अतः आधुनिक प्रजाएँ नियोगाचरण के लिए समर्थ नहीं हैं।[1]

ब्रह्मपुराण में भी कलियुग में पुत्रोत्पत्ति के लिए देवर के साथ संगम का निषेध किया गया है। यथा :

स्त्रीणां पुनर्विवाहस्तु देवरात्पुत्रसन्ततिः।
स्वातन्त्र्यं च कलियुगे कर्त्तव्यं न कदाचन ॥१९॥[2]

उपसंहरण में प्राचीन और अर्वाचीन दोनों प्रकार की विचार-परम्पराओं को ध्यान में रखकर तुलनात्मक दृष्टिकोण से समीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि नियोग-प्रथा का उपयोग और अनुपयोग देश और काल के अनुसार सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों पर निर्भर था और ये परिस्थितियाँ परस्पर एक दूसरे के साथ पूर्ण रूप से सम्बद्ध थीं।

●●

नवनालन्दा-महाविहार
नालन्दा (पटना)

उपासना : एक विवेचन

डॉ० श्रीपूर्णमासी राय, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

विवेकशील प्राणी के अन्तर्जगत् में प्रारम्भ से ही जिज्ञासा का भाव कार्य करता आ रहा है। इतना अनुमानसिद्ध है कि सृष्टि की अविकसित अवस्था में प्रकृति के रहस्यावरण को समझने की चेष्टा में मानव ने परम शक्ति का अनुभव कुछ समय के बाद किया। नाना शक्तियों की अभ्यर्थना से लौकिक समृद्धि एवं स्थिति-रक्षा की उपलब्धि आदिम मानव की सहज वृत्ति थी। किन्तु, **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति** की अनुभूति के पश्चात् उस 'एक' के निकट जाने की चेष्टा होने लगी। वस्तुतः, उस 'एक' को दो रीतियों से समझा जा सकता है—या तो उसको हम अपने से भिन्न समझें या अभिन्न। 'मैं वही हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि) का समर्थक अपने को ब्रह्म समझता है, तब तो उसके निकट जाने की बात ही नहीं उठती। ज्ञानमार्गी के चिन्तन की यही पद्धति है।

१. कुल्लूकभट्ट-टीका, ९।६८।
२. हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, अ० १३, पा० टी० १४२७।

किन्तु, भक्तिमार्गी उस सच्चिदानन्दघन परम सत्य को अपने से अलग समझकर उसके समीप जाने की चेष्टा करता है। यहीं से उपासना का श्रीगणेश होता है। उप + आसन = समीप बैठने का भाव। भौतिक दृष्टि से प्रत्यक्ष एवं स्थूल कामिनी और कंचन की उपासना से सद्यः फलप्राप्ति का आभास होता हो, किन्तु अन्ततः जीव उस सूक्ष्म के सामीप्य-लाभ से ही अक्षय आनन्द का अनुभव करता है।

उपासना के—उपासक, उपासना और उपास्य-नामक त्रिभुज से अवगत होना आवश्यक है। जिस प्रकार ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तथा प्रेमी, प्रेम और प्रेमपात्र का अपना-अपना स्थान-गौरव है, उसी प्रकार उपासना के उपर्यंकित अवयवों का भी अपना महत्त्व है। इन तीनों का पृथक्-पृथक् विश्लेषण उपासना के स्वरूप को समझने में सहायक सिद्ध होगा। उपासना का प्रथम स्तम्भ है—उपासक। ये तीन प्रकार के होते हैं: सात्त्विक, राजस और तामस। सात्त्विक उपासक निष्काम भाव से उपासना के प्रशस्त पथ पर आगे बढ़ता है। **तन से कर्म करो बिधि नाना, मन राखो जहँ कृपानिधाना** ही उसका आदर्श होता है। 'रामचरितमानस' के भरत सात्त्विक उपासकों की श्रेणी में अग्रगण्य हैं। राजस उपासक में सकाम एवं स्वार्थपर भाव प्रधान होता है। इसकी उपासना के प्रेरक-तत्त्व सहज न होकर कामानुचालित होते हैं। सुग्रीव की उपासना प्रथमतः सकाम है, उत्तरोत्तर उसमें परिष्कार हुआ है। तामस उपासकों के उपास्य, उनकी उपासना, उसका लक्ष्य सभी कुछ विलक्षण होते हैं। असुरों और राक्षसों ने जिस कोटि की उपासना की, वह भक्ति-साहित्य में तामसोपासकों के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार, इन तीनों प्रकार के उपासकों के उपास्य, उनकी उपासना-प्रणाली एवं लक्ष्य का अध्ययन अत्यन्त मनोरंजक एवं हृदयग्राही है।

उपासक के त्रिविध स्वरूप के विवेचन के उपरान्त उपासना की कतिपय विकास-सरणियों का विश्लेषण समीचीन होगा। जिस प्रकार लोक में किसी कर्म के प्रारम्भ, विकास और परिणति (चरमावस्था) तीन क्रमिक सोपान हैं, उसी प्रकार ईश्वरोपासना का ककहरा श्रद्धा से प्रारम्भ होता है। उपासक इस जगत् को भगवान् का लीलाधाम, उसकी विभूति समझकर तन्मय होता है और भगवान् के नाम, रूप, लीला और धाम में आसक्ति रखता है। वह इष्टदेव की कथा-वार्त्ता को श्रद्धा-संवलित भाव से श्रवण करता है, सत्संगति करता है, भजन-कीर्त्तन में अभिरुचि रखने लगता है, जिससे उसका चित्तगत कलमष दूर होता जाता है। फलतः, भगवान् की लीला में निष्ठा एवं रुचि का उदय होता है। क्रमशः भगवान् में आसक्ति, भावोदय एवं प्रेम का संचार होता है। आचार्य श्रीरूपगोस्वामी ने भक्ति के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—

> **आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।**
> **ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः।**
> **अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।**
> **साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः॥**

आचार्यों ने उपासना के क्रमिक विकास को अनेक पद्धतियों से निरखा-परखा है; पर यहाँ सामान्य दृष्टि से, उपासना श्रद्धा से उत्तरोत्तर विकसित होती हुई प्रेम में परिणत होती है, यही विवक्षित है।

गीता के बारहवें अध्याय में योगिराज कृष्ण ने उपासना दो प्रकार की बताई है— व्यक्त और अव्यक्त। इन्हीं को क्रम से सगुण और निर्गुण उपासना भी कहते हैं। इन दोनों में अव्यक्त की अपेक्षा व्यक्त की उपासना सुलभ बतलाई गई है। जो उस परमात्मा की उपासना अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, विभु, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, सर्वभूतात्मा के भाव से करते हैं और उसी के ध्यान में, उसी की धारणा में, इन्द्रियों को नियमों में जकड़कर, सर्वत्र समबुद्धि रखकर समस्त प्राणियों का हित करते हुए निरन्तर लीन रहते हैं, वे निर्गुण के उपासक कहलाते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने उत्तरकांड में काकभुशुंडि और लोमश के संवाद में निर्गुणोपासना को बड़े सरल ढंग से समझाया है। काकभुशुंडि को निर्गुण-मत अच्छा नहीं लगता था; किन्तु जिससे वे पूछते थे, वही 'ईश्वर सर्वभूतमय अहई' का ही उपदेश करता था। उनका प्रेम सगुण राम में था, इसलिए वे कमनीय राम के प्रत्यक्ष दर्शन में ही आनन्दानुभव कर सकते थे।

सगुण की उपासना सरल है; क्योंकि वह दृश्य है, गोचर है। निर्गुण तक शब्दों की भी गति नहीं, मन भी वहाँतक नहीं पहुँच सकता। इसीलिए, सगुणोपासना में एक इष्ट-देव अथवा आदर्श रूप के प्रति प्रेम स्थापित किया जाता है। किसी को श्रीकृष्ण के 'मोर मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल' के बानक को हृदय में बसाने की कामना रहती है और किसी का व्रत धनुर्धर राम को ही माथा नवाने का रहता है, तो किसी को भक्तिभावन भोलानाथ शंकर की भक्ति अनुकूल प्रतीत होती है। इस प्रकार, उपासक अपनी-अपनी भावना के अनुसार आदर्श की कल्पना करता है। अपने आदर्श देव में समस्त कायिक, वाचिक और मानसिक सद्गुणों का आरोप करता है। परमात्मा का सगुण रूप उसे ही मानता है। औरों के आदर्शों का निरादर या अवहेलना न करके अपने आदर्श या इष्टदेवता को व्यक्त ब्रह्म और दूसरों के आदर्श देवों को उसके अंग या उसके अन्तर्गत मानता है। अवतारी और अवतार के मूल में यही भावना क्रियाशील है।

उपासक में उपास्य-निष्ठा की अनन्यता अपेक्षित है। उपास्य-निष्ठा है क्या? बँगला के सुप्रसिद्ध चरित-ग्रन्थ 'श्रीअमियनिमाई-चरित' के पंचम खंड में उपास्य-निष्ठा का विशद विश्लेषण किया गया है। उपास्य-निष्ठा सेवकमूर्द्धन्य हनुमान्जी में अद्भुत थी। उन्होंने सीतापात राम और लक्ष्मीपति विष्णु के अभेद होते हुए भी सीतापति राम को ही अपना इष्टदेव स्वीकार किया। अतः, सगुणोपासना का प्रथम चरण है, इष्टदेव का चयन और उस स्वरूप में अनन्य निष्ठा। उपासक के जीवन का वही स्वरूप सर्वस्व है, अथ और इति दोनों है। वस्तुतः, परम सत्य उपासक-रूपी अन्धों का हाथी है। अपनी-अपनी भावना के अनुसार वह उस सत्य का दर्शन करता है : **जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।**

उपास्य के स्वरूप-निर्णय के पश्चात् उसके नाम, रूप, लीला और धाम के प्रति उपासक की आसक्ति उत्तरोत्तर विकसित होती जाती है। भगवान् का रूप भी नाम के अधीन है। नाम के बिना रूप का ज्ञान नहीं हो सकता। बिना नाम के रूप को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। बिना रूप-दर्शन के नाम-स्मरण से भी स्नेह उत्पन्न हो सकता है। वस्तुतः, निर्गुण और सगुण के बीच नाम दुभाषिये का काम करता है। इसीलिए, भाव, कुभाव और आलस्य किसी भी अवस्था में भगवन्नाम-स्मरण मंगलविधायक है। कबीर, दादू आदि निर्गुणमतानुयायियों ने भी नाम की महत्ता स्वीकार की है। भक्तिशास्त्र के आचार्य नारद ने नामासक्ति को ग्यारह आसक्तियों में प्रमुख स्थान दिया है। भक्तप्रवर सूरदासजी ने रूप और लीला में विशेष आसक्ति रखते हुए भी नामस्मरण का विस्मृत नहीं किया है। इस प्रकार, नाम-जप उपासना का प्रथम उन्मेष है, साधना का प्रथम सोपान है।

उपास्य का रूपध्यान भी तन्मयता की स्थिति लाने में समर्थ होता है अरूप की उपासना कठिन है और रूप की उपासना अपेक्षाकृत सरल। किन्तु, रूप की उपासना भी क्वचित-कदाचित् व्यामोह उत्पन्न कर देती है। भगवान् का प्रत्येक उपासक अपने आराध्य के अतिशय रुचिर रूप का ध्यान करता है, उस रसमय रूप में तन्मय होता है और फिर तद्रूप हो जाता है।

भगवान् की लीला का गान भी उपासना का एक प्रमुख सोपान है। उपासक लीला-श्रवण और लीलागान के द्वारा अपने उपास्य के निकट जाने की चेष्टा करता है। अपने इष्ट की लीला में रम जाने पर भक्त जगत् की नश्वर कथाओं को भूल जाता है। लीलागान दैन्य और विनय से अलग है। यहाँ भक्त का चित्त कातर नहीं है, प्रणत भी नहीं। भगवान् के अनुग्रह से भक्त लीलापरिकरत्व प्राप्त करता है। मध्यकालीन साहित्य का मूलस्वर ही है लीलागान। लीला भारतीय भक्तों की मनोरम कल्पना है। महाप्रभु वल्लभाचार्य के अनुसार लीला विलास की इच्छा का नाम है। इसका प्रयोजन स्वयं लीला ही है। लीला लीला के लिए है। गीतगोविन्द क्या है? मधुर लीला-गान के द्वारा हरिस्मरण। इस काव्य का महत्त्व इस बात में है कि भक्त कवि राधा की प्रेमप्लावित अन्तर्दशाओं में जाकर भगवद्रस का आस्वादन करना चाहता है। श्रीमद्भागवतमहापुराण लीला का महार्णव है। वह वेदरूप कल्पवृक्ष का पका हुआ फल है, जिसका रसास्वादन रसिक बार-बार करके परम सन्तोष का अनुभव करते हैं :

> **निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।**
> **पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥**
>
> **—भागवत, १।१।३**

भागवतकार प्रारम्भ में ही लीला के उद्भव और परिणाम की घोषणा करने को नहीं भूला है। प्रभु योगमाया से स्वच्छन्द लीला करते हैं। उस पुण्यकीर्त्ति भगवान् की लीला सुनने से भक्तों को कभी तृप्ति नहीं होती; क्योंकि रसज्ञ श्रोताओं को पद-पद पर भगवान् की लीलाओं में नये-नये रस का अनुभव (भाग० १।१।१८-१९) होता है। स्वयं गोस्वामीजी

'अब कछु करब ललित नर लीला' करनेवाले राम की लीला में विभोर हैं। लीलागान के साथ वे मर्यादापुरुषोत्तम राम के सौन्दर्य, शील और शक्ति की दिव्य आभा विकीर्ण करते हुए दिखाई पड़ते हैं। तुलसी और सूर के परवर्त्ती भक्ति-साहित्य में उपासकों ने लीलागान की ओर महत्त्व दिया। अष्टयामों की रचनाएँ होने लगीं। आठों प्रहर आराध्य की लीला के गान के द्वारा उपासक जडोन्मुख चित्त को चिन्मुख करने का प्रयास करने लगे। सीताराम का रसभक्ति-साहित्य एवं राधाकृष्ण का मधुर लीला-साहित्य लीलोपासना नहीं, तो और क्या है? ये लीलाएँ हमारे जीवन की सामान्य घटनाएँ हैं, जिन्हें भक्त भगवान् से सम्पृक्त कर अधिकाधिक रसोपेत होने की चेष्टा करता है। उपासना-जगत् में सबसे अधिक लीलागान को ही महत्त्व दिया गया।

नाम, रूप और लीला की कल्पना भी धाम के बिना असम्भव है। उपासक के लिए ये चारों अन्योन्याश्रित हैं, चिन्मय हैं। धाम और धामी अभिन्न हैं। इसीलिए, उपासकों में कुछ लोगों ने धाम में एकान्त निष्ठा व्यक्त की। गौडीय वैष्णव श्रीप्रबोधानन्द-सरस्वती ने वृन्दावन के प्रति ही अपनी अनन्य रति दिखाई है। यह निश्चित है कि धाम का स्मरण करते ही भगवान् की लीलाएँ प्रकारान्तर से प्रत्यक्ष हो जाती हैं। श्रीकृष्ण-स्वरूप के धाम 'वृन्दावन' और श्रीराम-स्वरूप के धाम 'साकेत' के वर्णन भक्ति-साहित्य में बड़े उदात्त रूप में किये गये हैं। ब्रह्मसंहिता, पद्मपुराण और ब्रह्मवैवर्त्त में भी वृन्दावन की अप्राकृत भूमि, चिन्मय स्वरूप के अनेक विशद चित्र उपस्थित किये गये हैं, जिनमें तन्त्रों की स्पष्ट छाया पारलक्षित होती है।

हिन्दी-विभाग
मगध-विश्वविद्यालय, गया

कवि की दृष्टि*

श्रीरवीन्द्र

अधिकतर कविता मन या प्राण अथवा दोनों के मिश्रण से लिखी जाती है। कहीं-कहीं मन से ऊँचे स्तरों का प्रकाश दिखाई देता है, जो कविता को उच्चतर स्तर पर पहुँचा देता है। परन्तु, ऐसे अवसर कम ही आते हैं। प्राणमय जगत् से आई हुई कविता में भावों की प्रधानता होती है। इसमें कविता मन या अन्तरात्मा को तो पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं कर पाती, पर उसके शब्द, उसकी लय और उसका विषय ये सब-के-सब या इनमें से कुछ तत्त्व पाठक के ऊपर छा जाते हैं। जिन कविताओं को सुनकर आदमी फड़क उठता है, उसका खून खौल उठता है या वह बिलकुल मस्त हो जाता है, उनमें से अधिकतर प्राणमय जगत् से आई हुई होती हैं। मन और प्राण के भी अनेक स्तर हैं और प्रत्येक स्तर की प्रेरणा भिन्न प्रकार की कविता को जन्म देती है। जब हम सुनते हैं—

* महर्षि श्रीअरविन्द की 'फ्यूचर पोएट्री' पर आधृत।—ले०

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल ।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ।।

तब, हम देख सकते हैं कि ये पंक्तियाँ किसी गहरे अनुभव से निकली हैं । ये पंक्तियाँ पढ़कर हम इनमें भाषा-सौन्दर्य, छन्द या लय की तलाश नहीं करते (यद्यपि ये चीजें अनुपस्थित नहीं हैं) । यह एक गहरे अनुभव से निकली हुई चीज है और एक निमिष-मात्र के लिए ही सही, हमें भी अपनी लाली में शराबोर करने की शक्ति रखती है ।

कई कवि भौतिक मन के उपरले स्तर से अथवा सौन्दर्य और कलामय प्राण से सीधे प्रेरणा प्राप्त करते हैं और अगर उनकी चेतना जागरित हो, तो वे उस स्तर से प्रेरणा आने की प्रक्रिया को देख भी सकते हैं; कई बार भाषा, छन्द प्रभृति भी उसी स्तर से आते हैं । कभी-कभी कवि ऐसी भाषा का उपयोग करता है, जिसे वह पूरी तरह समझ नहीं पाता; ऐसे छन्द का उपयोग करता है, जिससे स्वयं उसके कान परिचित नहीं हैं। ये चीजें कई बार मन के आन्तरिक प्रदेशों से आया करती हैं । परन्तु, यह कह सकना कि कौन-सी पंक्ति किस प्रदेश से आई है, किसी विरले जानकार का ही काम है ।

कविता का सर्जनात्मक आवेग जब अपनी अभिव्यक्ति के लिए उच्चतम शिखर पर पहुँच जाता है, तब शैली और गति की घनता भी अपने तीव्रतम रूप में प्रकट होती है। इस उच्च शिखर पर पहुँचते-पहुँचते काव्य की वाणी में उपस्थित रसवृत्ति, प्राण तथा बुद्धि के तत्त्व आध्यात्मिक तत्त्व में विलीन हो जाते हैं । काव्य-शैली की सम्पू ` सफलता तब होती है, जब सर्जन का यह उत्कृष्ट बिन्दु किसी गहन, उच्च या विशाल आध्यात्मिक दर्शन का मूर्त्त रूप बन जाता है और इस दर्शन में प्रकट होते हुए सत्य की सुन्दरता के भाव, उसके विचार-तत्त्व, प्राण और उसकी अभिव्यक्ति आदि प्रेरणा की ऊँची लहरों के शिखर पर प्रकट होकर दर्शन के आनन्द की पराकाष्ठा को पहुँच जाते हैं । ऐसे क्षण साधारण कवियों के जीवन में तो यदा-कदा ही आते हैं और जब आते हैं, तब मानों उनकी रचना में बिजली-सी कौंध जाती है अथवा ऐसा लगता है, मानों सहसा द्युलोक के दूत का अवतरण हुआ है । महाकवियों की रचना में ऐसे देवदूतों का आगमन होता ही रहता है; क्योंकि इन महाकवियों में कविदृष्टि और काव्यवाणी हमेशा जागरित रहती है। यह और बात है कि इसमें ज्वार-भाटा आता रहता है, ।फर भी इसका अभाव कभी नहीं खटकने पाता ।

एक दार्शनिक की विशेषता है, उसका विवेकपूर्ण चिन्तन और मनन । एक वैज्ञानिक की विशेषता है, उसका विश्लेषणात्मक निरीक्षण । इसी भाँति कवि की अपनी विशेषता है दृष्टि । साधारण संस्कृत में कवि शब्द किसी भी काव्यलेखक के लिए प्रयुक्त होता था और काव्य शब्द में गद्य और पद्य दोनों का ही समावेश हो सकता था; परन्तु वैदिक भाषा में कवि सिर्फ उसी को कहा जाता था, जो सत्य का दर्शन करके उसे शब्दों में प्रकट कर सके। प्राचीन आर्यों की भाषा में कवि और मनीषी में बहुत अन्तर है । मनीषी विचारक है, बुद्धि द्वारा ऊहापोह करके किन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचनेवाला; जबकि कवि बुद्धि से परे उस

ज्ञान के साथ सम्पर्क रखता है, जो सीधे, दृष्टि तथा आन्तरिक ज्योति के द्वारा वास्तविकता, मुख्य तत्त्वों और वस्तुओं के सत्य-स्वरूप का दर्शन करता है।

आज हम कवि और काव्य के इस रूप से बहुत दूर आ चुके हैं। अब हम काव्य से इतनी ही आशा रखते हैं कि वह मनोमोहक हो, कर्णमधुर हो और बहुत हुआ, तो हमारी रसवृत्ति को सन्तुष्ट कर सके। आज हम टटपुँजिया पद्य रचनेवाले को, एक के नीचे एक शब्द लिखकर एक विचित्र-सा क्रम बना देनेवाले को भी कवि मान लेते हैं; परन्तु आज भी जो सच्ची कविता है, उसके अन्दर काव्य के असली सत्य के कुछ कण तो चमकते दिखाई दे ही जाते हैं।

काव्य एक कला है तथा अन्य कलाओं की तरह इसका कार्य है हमें कुछ दिखलाना। पर, यह देखने-दिखाने का काम हमारी बाह्य इन्द्रियों का न होकर आन्तरिक चक्षु और आन्तरिक श्रोत्र आदि का है। हमारा कान तो केवल एक दरवाजा है, जिसमें से होकर कविता अन्दर प्रवेश कर पाती है। कवि ने जो देखा है, उसे वह हमारी अन्दर की आँखों के सामने लाकर खड़ा कर देता है। उसने अपनी रचना में जिस चीज का अनुभव किया है, उसे हमारे अन्दर जगा देता है, या यों कहें कि हमारी अन्दर की आँख को खोल देता है। हमारे अन्दर इसे जगाने के लिए स्वयं कवि के अन्दर यह दृष्टि पूरी तरह से खुली हुई होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, एक छोटी-सी पंक्ति ले लीजिए—

मेरे मानस के हरिण आज वनचारी।
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें, तजो भय भारी॥

जब भरत के साथ सारी अयोध्या राम से मिलने जंगल में आई, तब लक्ष्मण ने सुना कि उर्मिला बहुत ही क्षीण हो गई है, कौन जाने और कितने दिन बच पाये। वे उसे देखने के लिए उत्सुक हैं, पर डर भी लगता है कि वह प्रबल आकर्षण कहीं उनके कर्त्तव्य-पथ में बाधा न डाले। वे सहमे हुए-से दूर से देख रहे हैं, तभी उर्मिला के मुँह से बरबस उपर्युक्त पंक्तियाँ निकल पड़ती हैं। निश्चय ही, मैथिलीशरण के प्राण ने इस अनुभूति को ठोस रूप में प्राप्त किया होगा, तभी यह इतनी सजीव हो सकी है।

महान् कवि वे हैं, जिन्होंने जीवन का, मानव का या प्रकृति का कोई अपूर्व सारगर्भ तथा सहज बोध द्वारा दर्शन किया हो और जिनकी कविता इस दर्शन को व्यक्त कर सकनेवाली वाणी के साथ उद्भूत हुई हो। होमर, शेक्सपियर, दाँते, वाल्मीकि और कालिदास ये सभी ऊपर से चाहे कितने भी भिन्न क्यों न हों, पर इन सबकी महत्ता का आधार यही है। इनकी गिनती संसार के महाकवियों में इसलिए नहीं है कि इनके अन्दर विचार-बाहुल्य है, अथवा कल्पना की विपुलता अथवा भावावेश की तीव्रता है, जो हमारे अन्दर चुभती चली जाती है। हम यह नहीं कहते कि इन लोगों में ये विशेषताएँ नहीं थीं। किसी एक के अन्दर एक विशेषता अधिक है, दूसरे के अन्दर दूसरी। परन्तु, ये सब विशेषताएँ इनके काव्य का आधार न होकर इनकी अभिव्यक्ति में सहायक-भर थीं। उदाहरण के लिए, अँगरेजी-साहित्य के दो बड़े नाम ले लीजिए—शेक्सपियर और बेकन। बहुत जमाने तक यह वाद-विवाद चला कि शेक्सपियर जैसा कोई आदमी वस्तुतः पैदा ही नहीं हुआ। उसके नाटक सचमुच

बेकन के लिखे हुए थे। परन्तु, उस जमाने में नाटक लिखना बुरा समझा जाता था, इसलिए उसने अपने नाटकों पर एक जाहिल शेक्सपियर का नाम लिख दिया। परन्तु, दोनों की कृतियों को जरा ध्यान से देखिए। बेकन के एक-एक छोटे निबन्ध में इतने ठोस विचार भरे होते हैं, जितने शेक्सपियर के पूरे नाटक में भी नहीं पाये जाते। परन्तु, बेकन के सौ निबन्ध मिलकर शेक्सपियर का एक नाटक नहीं बना सकते। बेकन ने जब काव्य-रचना का प्रयास किया, तब उसके अन्दर के जन्मजात दार्शनिक और विचारक ने तथा उसकी अभिव्यक्ति ने काव्य की अभिव्यक्ति को ढक लिया। उसकी तर्कसंगत शैली काव्य में सफल न हो सकी।

इसके विपरीत, शेक्सपियर में और चाहे कितनी भी त्रुटियाँ क्यों न हों, पर उसमें जीवन-दर्शन में से निकलते हुए रूपों, विचारों और प्रतीकों का एक विपुल प्रवाह है और इसी प्रवाह ने शेक्सपियर को नाटककारों का मुकुटमणि बना दिया। कवि में दृष्टि ही सबसे बढ़कर महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। हम कह सकते हैं कि एक आदर्श मौलिक कवि वह है, जो अपने अन्दर, अपनी आत्मा के अन्दर समस्त जगत् को, भगवान् को, प्रकृति को और इनमें समाई ई प्रत्येक वस्तु को देख पाता है तथा अपने इस दर्शन को केन्द्र बनाकर वहीं से वह छन्द और वाणी के स्वरूपों के प्रवाह को उद्वेलित करता है। सचमुच, बड़े कवि वे होते हैं, जो इस आदर्श सर्जन को किसी हद तक मूर्त्त रूप दे सकें। वे कवि सत्यश्रुत होते हैं, अर्थात् कविता के प्रेरक सत्य और काव्य की सच्ची वाणी के देखने और सुननेवाले होते हैं।

आधुनिक काल में एक बड़ी कठिनाई है। हम प्रत्येक वस्तु को उपयोगिता की दृष्टि से तौलते हैं। कला यदि हमारे जीवन में आदरणीय स्थान पाना चाहे, तो उसे हमारे जीवन के लिए उपयोगी बनना पड़ेगा। केवल सौन्दर्य का दर्शन अथवा उसका चित्रण पर्याप्त नहीं है। हम प्रत्येक कविता या चित्र के पीछे छिपे हुए अर्थ को जानना-समझना चाहते हैं। निराला और महादेवी की एक-एक पंक्ति को ठोक-पीटकर उनमें से एक सन्देश खींच निकालते हैं। हमने बुद्धि और तर्क को इतना ऊँचा स्थान दे रखा है, मानों उन्हें छोड़कर जीवन-संग्राम में और किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं है। आज रवीन्द्रनाथ ठाकुर, इकबाल, गालिब और पन्त की फिलासफी के बारे में बड़े-बड़े पोथे लिखे जा रहे हैं; परन्तु यह सब ठीक वैसा ही है, जैसा हम पहले कह आये हैं कि मानों वीणावादिनी की वीणा की तन्त्रियों को काटकर आग पर चढ़ाकर अथवा अम्लों में डुबोकर संगीत का रहस्य जानना। आज का संसार कवि से यह आशा करता है कि वह मानव-जाति को ऊँचा उठायगा, उसे एक निश्चित दिशा में ले जायगा। इस दृष्टि से 'चल चल रे नौजवान' या 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' या 'बनो दृढांग मारो छलाँग' की गिनती अच्छी कविता में होनी चाहिए। परन्तु, श्रीअरविन्द के मतानुसार जब यह कहा जाता है कि कवि सत्य का द्रष्टा होता है और उसके उच्च कोटि के काव्य का उत्स भगवान्, देवता, जीवन, प्रकृति या मानव के क्रान्त दर्शन में होता है, तब उसका यह मतलब नहीं है कि उसका एक बौद्धिक दर्शन भी होना चाहिए अथवा उसे मानव-समाज के लिए कोई सन्देश

देना ही चाहिए, जिसे वह अपनी विशेष योग्यता के कारण छन्द और ताल में बाँधकर और कल्पनाओं से सँजोकर धरती को भेंट करे। इन सब चीजों से उसे कुछ प्रेरणा मिल सकती है, इनमें अपने भाव को व्यक्त करने की सामग्री मिल सकती है। परन्तु, उसके पहले इन्हें काव्य की आत्मा द्वारा काव्यमय दृश्य अथवा जीवन में परिणत होना होगा। ये तत्त्व गौण रूप में तो रह सकते हैं, परन्तु न तो काव्य की आत्मा का स्थान ले सकते हैं, न उसके उद्देश्य बन सकते हैं और न ही कविता के राज्य में आकर विधि-विधान बनाने की धृष्टता कर सकते हैं।

●●

श्रीअरविन्दाश्रम
पाण्डिचेरी

हमारा स्वाध्याय-कक्ष

श्रीकृष्णवचनामृत[1] : आलोच्य कृति 'कल्याण' के ३८वें वर्ष का प्रथमांक है, जो सर्वथा अपनी परम्परा के अनुरूप ही है। इसमें श्रीमद्भागवत, महाभारत, विष्णुपुराण, हरिवंशपुराण, जैमिनीयाश्वमेध, पद्मपुराण, गरुडपुराण, आदिपुराण, भविष्यपुराण, गर्ग-संहिता, योगवासिष्ठ, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण आदि आर्ष ग्रन्थों में आये हुए भगवान् श्रीकृष्ण के उत्तमोत्तम वचनों का संकलन कर उनका अत्यन्त सरल हिन्दी-अनुवाद दिया गया है। मूल संस्कृत-श्लोक बड़े टाइप में होने से सुवाच्य हैं। 'सम्पादकीय निवेदन' से यह पता चलता है कि इस विशेषांक की मूल प्रेरणा कई वर्ष पूर्व प्रातःस्मरणीय पूज्यचरण महामना पं० मदनमोहन मालवीयजी महाराज से मिली थी। महापुरुषों का संकल्प एवं आशीर्वाद अमोघ होता है, यह विशेषांक इसका प्रमाण है।

इस एक विशेषांक में गीता प्रेस ने सम्पूर्ण आर्ष ग्रन्थों से श्रीकृष्ण के वचनों का चयन कर, उनका सरलतम हिन्दी-अनुवाद देकर हिन्दू-संस्कृति और हिन्दी-साहित्य की जो स्तुत्य अनमोल सेवा की है, उसका मूल्यांकन करना कठिन क्या, असम्भव है। निश्चय ही, यह मानना पड़ता है कि गीता प्रेस के द्वारा स्वयं भागवत संकल्प ही अपना कार्य कर रहा है, अन्यथा आज के युग में 'कल्याण' के लगभग डेढ़ लाख ग्राहकों का होना चमत्कारी विषय नहीं, तो और क्या है ? 'कल्याण' को श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार तथा चिम्मनलाल गोस्वामी जैसे साधुहृदय सर्वस्वत्यागी सम्पादक मिल गये। इसे भी भगवान् की विशेष कृपा ही माना जायगा। इन दोनों महापुरुषों को अपना निमित्त बनाकर स्वयं श्रीकृष्ण ही अपना कार्य—'धर्म-संस्थापन' का कार्य कर रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है। साथ ही, यह भी उल्लेखनीय है कि संस्कृत और हिन्दी के प्रकांड पंडित साहित्याचार्य पांडेय श्रीरामनारायणदत्त शास्त्री का योगदान भी गीता प्रेस के लिए मंगलमय प्रभु का वरदान ही माना जाना चाहिए। आर्ष ग्रन्थों में से चयन और अनुवाद का कार्य श्रीशास्त्रीजी ने जिस तल्लीनता और समर्पण-भावना से किया है, वह सुधी-समाज के लिए श्रद्धा का विषय है। श्रीशास्त्रीजी गुपचुप अपना काम कर प्रकाशन से दूरातिदूर रहना चाहते हैं। यह देवदुर्लभ गुण आज अधिकाधिक विरल होता जा रहा है। उनके ऋण से गीता प्रेस कभी मुक्त नहीं हो सकता।

चित्रों के सम्बन्ध में दो शब्द। रेखाचित्र तो जैसे हैं, वैसे ठीक ही हैं; परन्तु रंगीन चित्रों में इतने गहरे और चटकीले रंग हैं कि आँखों को गड़ते हैं। जगन्नाथ चित्रकार का अभाव बेहद खलता है और पुराने चित्रकारों की जो सेवा गीता प्रेस को उपलब्ध थी, उनमें श्रीदेवलालीकर, श्रीकानू देसाई, श्रीदमयन्ती, श्रीसोमालाल शाह, श्रीअसितकुमार

---

१. प्रकाशक : गीता प्रेस गोरखपुर; पृ० सं० ६६२; विविधचित्र-विभूषित; मूल्य : सात रुपये पचास न० पै० मात्र।

हालदार आदि के चित्र अब 'कल्याण' को नहीं मिल रहे हैं और प्रायः नौसिखुए 'कल्याण' के इन चटकीले चित्रों पर अपना हाथ जमाना सीख रहे हैं। चित्रों के सम्बन्ध में इस बचकानी या जनानी रुचि से 'कल्याण' को ऊपर उठना चाहिए और कम-से-कम विशेषांकों के लिए विशिष्ट कलाकारों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयास भी।

o

सत्साहित्य-प्रकाशन, बम्बई के कुछ अनमोल ग्रन्थ

स्वामी अखंडानन्दसरस्वती (पूर्वाश्रम के सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पं० शान्तनुविहारी द्विवेदी) भारतीय चिन्तन-धारा के विशिष्ट विद्वानों में माने जाते हैं। श्रीमद्भागवत के तो आप अद्वितीय पण्डित हैं। भक्ति और वेदान्त पर, श्रीमद्भागवत और उपनिषद् पर आप समान अधिकार से प्रवचन करते हैं और जिन्हें आपके प्रवचनों के श्रवण का सौभाग्य प्राप्त है, वही जानता है कि कैसी दिव्य रस की वर्षा आप अपने प्रवचनों में करते हैं—यहाँ-तक कि श्रोताओं को प्रायः भाव-समाधि लग जाती है।

उन्हीं स्वामी अखंडानन्दजी के कुछ प्रवचनों का संकलन **सत्साहित्य प्रकाशन, रिज रोड, मालाबार हिल, बम्बई** से प्रकाशित हुआ है, जिनमें मुख्यतः निम्नांकित ग्रन्थों ने हमारा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया है—**भक्तिरहस्य;**[1] **श्रीमद्भागवतरहस्य;**[2] **सुगम भक्तिमार्ग;**[3] **सत्संग-साधन और फल;**[4] **ईशावास्यप्रवचन**[5] (ईशोपनिषद् की बड़ी ही मार्मिक व्याख्या); **श्रीपुरुषोत्तमयोग**[6] (गीता के पन्द्रहवें अध्याय की भावपूर्ण मीमांसा) और **सांख्ययोग** (गीता के दूसरे अध्याय का एक बड़े ही भव्य एवं व्यापक परिवेश में मार्मिक विवेचन)।

हमारे यहाँ के आध्यात्मिक तथा धार्मिक साहित्य प्रायः उपेक्षित ढंग से छपते और अन्यमनस्क भाव से, फर्ज की अदायगी की दृष्टि से, प्रकाशित होते हैं; परन्तु यह देखकर हर्ष होता है कि सत्साहित्य-प्रकाशन ने अपने प्रकाशनों का स्तर मुद्रण एवं प्रकाशन की दृष्टि से भी बहुत ऊँचा रखा है। आध्यात्मिक साहित्यप्रेमियों एवं सच्चे जिज्ञासुओं को इन ग्रन्थों से निश्चय ही विशेष प्रकाश, बल और स्फूर्त्ति मिलेगी। ऐसी सुन्दर ग्रन्थमाला के प्रकाशन का आयोजन जिन महानुभावों ने किया है, वे हमारी हार्दिक कृतज्ञता के अधिकारी हैं।

—अभेदानन्द

o

---

१. पृ० सं० १७२; मूल्य : दो रुपये मात्र।
२. पृ० सं० २७६; मूल्य : दो रुपये पचास न० पै० मात्र।
३. पृ० सं० २१६; मूल्य : दो रुपये मात्र।
४. पृ० सं० २१०; मूल्य : दो रुपये मात्र।
५. पृ० सं० ११०; मूल्य : एक रुपया पच्चीस न० पै० मात्र।
६. पृ० सं० २५४; मूल्य : दो रुपये पचास न० पै० मात्र।

मानवसेवा-संघ, वृन्दावन के कतिपय विशिष्ट प्रकाशन

वृन्दावन के मानवसेवा-संघ ने कुछ ही समय में अपने तेजस्वी प्रकाशनों के द्वारा आध्यात्मिक जगत् की बहुत बड़ी सेवा की है। पूज्य स्वामी शरणानन्दजी महाराज के प्रवचनों और पत्रों को पुस्तकाकार प्रकाशित कर संघ ने मानव-मात्र के सामने सर्वथा एक नये जीवन का उद्घाटन किया है—ऐसा जीवन, जिसमें भुक्ति, मुक्ति और भक्ति की त्रिवेणी लहरा रही है। सर्वथा मौलिक चिन्तन तथा उससे अधिक मौलिक वर्चस्वी शैली के कारण संघ के सभी प्रकाशन न केवल अध्यात्मपथ के पथिकों को, वरं जीवन-निर्माण की अभिलाषा रखनेवाले मानव-मात्र को नया आलोक प्रदान करेंगे, इसमें रंचमात्र भी सन्देह की गुंजाइश नहीं है। सम्पूर्ण प्रकाशनों में मानव की माँग का ही मुख्य स्वर है और उस माँग का विवेचन बड़े ही उदार परिवेश में प्रभावशाली ढंग से किया गया है। ये प्रकाशन सुषुप्त मानव को झकझोर कर जगा ही नहीं देते, उसे जीवन-निर्माण या साधन-निर्माण की प्रेरणा देकर सेवा, त्याग और प्रेम के पथ पर अग्रसर करने की क्षमता भी रखते हैं।

प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कैसे किसा जाय, सुन्दर समाज का निर्माण कैसे हो, बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर करने का अभ्यास कैसे पड़े, अपने प्रति न्याय और दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम का संचार कैसे हो, भावशुद्धि का स्वरूप क्या है, सुख और दुःख का सदुपयोग किस प्रकार किया जा सकता है, निर्भयता की प्राप्ति, चरित्र-निर्माण आदि अत्यन्त आवश्यक विषयों में इन प्रकाशनों ने अपना सर्वथा नवीन परन्तु चिर अनुभूत मार्ग सुझाया है। पूज्य स्वामीजी की अनुभव-प्रसूत प्रखर एवं तेजस्वी, साथ ही सूत्रात्मक शैली में, जैसे मिट्टी में भी, एक दिव्य चमक आ गई है। न केवल अध्यात्मप्रेमियों से, वरं जीवन-निर्माण के सभी जिज्ञासुओं तथा साधकों से इन अनमोल ग्रन्थों को पढ़ जाने का ही नहीं; प्रत्युत इनका स्वाध्याय कर, आत्मसात् करने का हम निमन्त्रण देंगे। कुछ ग्रन्थों की सूची पाठकों और जिज्ञासुओं के लाभार्थ प्रस्तुत है—

नाम	पृ० सं०	मूल्य
१. मानव की माँग	२७०	२.००
२. दुःख का प्रभाव	११६	१.२५
३. सन्त-समागम (भाग १)	२३८	१.५०
४. सन्त-समागम (भाग २)	३५२	२.००
५. जीवनदर्शन	३२५	२.००
६. साधनतत्त्व	९६	१.२५
७. चित्तशुद्धि	४३४	२.५०
८. सत्संग और साधन	९९	१.००
९. जीवनपथ	१४०	१.२५
१०. मानवता के मूल सिद्धान्त	१२२	००.५०
११. दर्शन और नीति	१४४	१.५०

—स्वा० कृष्णानन्द अवधूत

साहित्यिक निबन्ध[1] : समीक्ष्य पुस्तक में महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के, जो प्राचीन भारतीय वाङ्मय के निष्णात पंडित हैं, साथ ही भारतीय वैदिक संस्कृति और व्यापक हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों में जिनकी अटूट आस्था है, समय-समय पर प्रणीत २१ निबन्ध संकलित हैं। ये निबन्ध विविध विषयों के हैं; जैसे वैदिक ज्ञान, धर्म, संस्कृति, साहित्य, भाषा, आचार, नीति आदि। ये विषय ऐसे हैं, जिनपर राजनीति, समाज-दर्शन और साहित्य के सामान्य अध्येता भी प्रायः अपने विचार व्यक्त करते रहते हैं; किन्तु यहाँ संकलित निबन्धों में लेखक का गम्भीर ज्ञान, गहन चिन्तन और धार्मिक विश्वास स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। साथ ही, लेखक की संस्कृतनिष्ठ भाषा हिन्दी-वाङ्मय को निःसन्देह संवर्द्धित करनेवाली है।

इस संग्रह में कुछ ऐसे निबन्ध भी हैं, जिनमें विद्वानों के लिए भी काफी सामग्री है। हाँ, यह बात अवश्य है कि कुछ निबन्ध चलते-से हो गये हैं, जो विशेष रूप से सामान्य पाठकों और छात्रों के लिए ही लिखे गये हैं; जैसे 'गुरु का उपदेश', 'भारतीय वाङ्मय की उपदेश-शैलियाँ', 'महापुरुष', 'उन्नति-रहस्य', 'शिक्षा का उद्देश्य' आदि। अब रही बात इन निबन्धों में व्यक्त विचारों की। इस सम्बन्ध में मेरा अपना अभिमत है कि जो भी विचार इन निबन्धों में व्यक्त हो सके हैं, वे लम्बी अवधि तक सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र के भीतर गहराई तक प्रवेश करके चिन्तन और मनन करने के परिणाम हैं। शिक्षा के सम्बन्ध में चतुर्वेदीजी का यह विचार ध्यातव्य है : 'प्राणिवर्ग में जो स्वाभाविक शक्ति प्रकृति ने दी है, उसे विकसित करने की इच्छा ही शिक्षा शब्द का अर्थ है और उस प्रकृति-प्रदत्त शक्ति को पूर्ण रूप से विकास प्राप्त करा देना ही शिक्षा का उद्देश्य है।' यह बात बहुत अंशों तक सत्य है। मैं यह निःसंकोच कह सकता हूँ कि चतुर्वेदीजी जितना जानते हैं, उतना पुस्तकों के माध्यम से साहित्य-जगत् में नहीं आ सका है; फिर भी अब इस ओर उनका ध्यान लोगों ने दिलाया है, और बहुत कुछ हो भी रहा है।

इस संग्रह में 'कवि और काव्य', 'भारतीय इतिहास का मूल', 'ऋग्वेद में नदियों का उल्लेख', 'वेदों की संख्या', 'मास और दिन', 'संस्कृत और हिन्दी', 'संस्कृत और प्राकृत', 'ऋतु' आदि शोधपूर्ण निबन्ध हैं। प्रायः इन सम्पूर्ण निबन्धों में महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ हैं। चतुर्वेदीजी का यह मत सर्वांशतः सत्य है कि 'उस काल में सामान्य जनता की बोलचाल की भाषा भी संस्कृत ही थी और उसी का स्खलित या अपभ्रंश-रूप प्राकृत-भाषा थी।' इतना ही नहीं, हिन्दी के सम्बन्ध में उनकी मान्यता है कि 'संस्कृत-भाषा परम्परा-रूप से ही हिन्दी-भाषा की जननी नहीं, किन्तु साक्षात् जननी भी है।' कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि चतुर्वेदीजी की प्रायः समस्त स्थापनाएँ तर्कों और प्रमाणों पर आधृत हैं, साथ ही उनकी दृष्टि समाजहित की ओर विशेष रूप से उन्मुख दिखाई पड़ती है। निबन्धों की भाषा और शैली के सम्बन्ध में वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालय के उपकुलपति के पं० सुरतिनारायणमणि त्रिपाठीजी का यह अभिमत द्रष्टव्य है : 'यह आश्चर्य की बात है कि जीवन-भर संस्कृत-

१. लेखक : म० म० पंडित श्रीगिरिधर शर्मा चतुर्वेदी; सम्पादक : श्रीशिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी; प्रकाशक : मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी; पृ० सं० १८५; मूल्य : दो रुपये पचास न० पै० मात्र।

भाषा के क्षेत्र में कार्य करते रहने पर भी चतुर्वेदीजी के निबन्धों की भाषा पंडिताऊ या अत्यधिक संस्कृतगर्भ कहीं नहीं है। उनकी भाषा सरल, सुबोध और हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल है।'

हाँ, सभी निबन्ध नहीं हैं, अधिकांश लेख हैं। प्रूफ-सम्बन्धी भूलें पुस्तक में हैं। सम्पादक श्रीशिवदत्तजी से आग्रह है कि वे अपने पिताजी की सभी रचनाओं को शीघ्र ही प्रकाश में लायें।

पुस्तक पठनीय तथा संग्रहणीय है।

०

चतुष्पथ[1] : कविवर श्रीत्रिपाठीजी ने स्वयं स्वीकार किया है कि चतुष्पथ की रचनाएँ चार मार्गों की ही नहीं, चार युगों की भी हैं। इस कृति में विभिन्न अवसरों पर रचित कविताएँ संगृहीत हैं, इसीलिए तारतम्य की अपेक्षा नहीं की गई है। कुल मिलाकर ७५ कविताएँ हैं, जिनका वर्गीकरण इस प्रकार है : चित्-११, आनन्द-३९, सत्-१६, माया-९। इस काव्यकृति को पढ़कर पाठक अधिकांशतः निराश ही होंगे। कारण, इसमें कविता-प्रवाह नाम की कोई चीज नहीं दिखाई पड़ती। भाषा कुछ ललित अवश्य है; पर वह भी ऊँट के मुँह में जीरे के समान। कविताओं का वर्गीकरण समुचित नहीं है। गेट अप जितना रंगीन है, सामग्री ठीक विपरीत। कविता में सहज प्रवाह की जरूरत है, साथ ही सहृदय-हृदयता की भी। ये दोनों चीजें त्रिपाठी की कविताओं में हम नहीं पाते। हाँ, सस्ती भावुकता अवश्य मिलती है। प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्माजी द्वारा आशंसा लिखे जाने के कारण पुस्तक की उपयोगिता भले ही कुछ बढ़ जाय। वैसे त्रिपाठीजी की विद्वत्ता बहुचर्चित है, फिर भी इस काव्य-रचना में उसका नितान्त अभाव है। त्रिपाठीजी के परम प्रिय शिष्य श्रीजयमंगलप्रसाद सिंहजी के अथक परिश्रम से यह काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित है, जो कदाचित् शिष्य को गुरुऋण से मुक्ति दिलाने में पर्याप्त सहायक सिद्ध हो।

०

ललित निबन्ध[2] : आलोच्य संग्रह २२ व्यक्तिगत निबन्धों का प्रतिनिधि संग्रह कहा जा सकता है। श्रीभारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रो० रामेश्वरनाथ तिवारी तक व्यक्तिगत निबन्धकारों के बहुचर्चित निबन्ध इस संग्रह में समाविष्ट हैं। सम्पादकद्वय ने इस कार्य को करके हिन्दी-जगत् का बड़ा ही उपकार किया है। यह कहना बड़ा कठिन हो जाता है कि कौन निबन्ध सर्वश्रेष्ठ है। विषय की दृष्टि से सभी अपने-आप में प्रथम पंक्ति में रखने लायक हैं, फिर भी ये निबन्ध विशेष रूप से पठनीय हैं : भंग की तरंग (बालमुकुन्द गुप्त); शिरीष के फूल (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी); मेरा जीवन-बीमा (श्रीगुलाब राय);

१. रचयिता : श्रीरामदेव त्रिपाठी, प्रकाशक : श्रीजयमंगलप्रसाद सिंह, कुरमुरी (शाहाबाद); पृ० सं० १०९; मूल्य : दो रुपये पचीस न० पै० मात्र।

२. सम्पादक : प्राचार्य श्रीविश्वनाथ सिंह एवं प्रो० श्रीरामेश्वरनाथ तिवारी; प्रकाशक : अर्चना-प्रकाशन, आरा; पृ० सं० : १५५; मूल्य : तीन रुपये मात्र।

साइकिल (प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा) आदि। इस संग्रह में कुछ ऐसे भी निबन्ध हैं, जिन्हें पढ़ने पर पाठक उभचुभ हो जाता है। 'अशोक के फूल' (आचार्य ह० प्र० द्विवेदी) का पाठक यदि बेचैन है, तो 'शिरीष के फूल' को पढ़कर शान्ति पा सकता है। 'बैलगाड़ी' (डॉ० दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी) निबन्ध पढ़ने पर लगता है, बैलगाड़ी से बढ़कर दुनिया में कोई अच्छी सवारी ही नहीं है। पाठक को जहाज बेचकर भी बैलगाड़ी की सवारी करना अच्छा लगेगा। 'साइकिल' निबन्ध पढ़कर साइकिल पर ही यात्रा करने को मन करता है, कार फीकी-सी लगने लगती है। 'छात्रा' (डॉ० प्रभाकर माचवे) से बढ़कर रक्षा करनेवाली कोई चीज नहीं दिखाई पड़ती। आचार्य विश्वनाथ सिंह का 'मज्जनफल' निबन्ध पढ़ने के बाद नित्य गंगास्नान करनेवाला पाठक भी अगर गंगास्नान न छोड़ दे, तो फिर क्या? हिन्दी-निबन्ध का विषय व्यक्ति की छाप से संयुक्त होता है। इसी बात को ध्यान में रखकर सम्पादकद्वय द्वारा यहाँ उन्हीं निबन्धों का संग्रह किया गया है, जो वास्तव में निबन्धकार के व्यक्तित्व को लिये हुए हैं।

पुस्तक के प्रारम्भ में सम्पादकद्वय द्वारा लिखित १६ पृष्ठों की भूमिका बड़े काम की है। चूँकि, व्यक्तिगत निबन्ध में लालित्य-तत्त्व रहता है, यही देखकर व्यक्तिगत निबन्ध के स्थान पर 'ललित निबन्ध' नाम रखा गया है। भूमिका में सम्पादकद्वय की भाषा-शैली को दो-एक उद्धरणों के सहारे देखा जा सकता है: "हजारीप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तिगत निबन्धों में इतिहास का सांस्कृतिक वैभव और दृष्टि है। इनके निबन्धों में पाण्डित्य काव्य की धरती पर उतर आया है और इसमें वह सुजलता आ गई है, जो वंग-देश की शस्यश्यामला भूमि से उद्भूत होकर भी ठेठ हिन्दी-प्रदेश की अक्खड़ता लिये है।··· भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' ने व्रजनन्दन सहाय और माखनलाल चतुर्वेदी के भावुक निबन्धों की परम्परा को आगे बढ़ाया है। इनकी शैली में हरद्वार की हहराती गंगा का प्रवाह है, आरती की मधुर पवित्रता है और सन्त-साहित्य के अनुशीलन से छनकर आनेवाला रस-सिद्ध आत्मनिवेदन।"

निबन्ध-साहित्य का अध्ययन अपने यहाँ बहुत नाममात्र का हुआ है और व्यक्तिगत निबन्ध का तो और भी नहीं के बराबर। इस विषय पर शोध करनेवाले विद्यार्थी के लिए यह संग्रह बहुत लाभप्रद सिद्ध होगा।

हाँ, जहाँ-तहाँ प्रूफ की भूलें अवश्य है। एक जगह भूमिका में लिखा गया है कि सरदार पूर्णसिंह पाँच निबन्ध लिखकर प्रख्यात हुए; पर ऐसी बात नहीं, पाँच के स्थान पर छह की जरूरत है। सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशन तीनों स्तुत्य हैं। गेट अप बहुत ही आकर्षक है और मूल्य समुचित।

०

अगस्त्य[1] : पौराणिक पात्रों पर आधृत नाटक हिन्दी-साहित्य में बहुत अधिक नहीं लिखे गये हैं। श्रीरामेश्वरदयाल दूबेजी ने, जो एक सफल नाटककार, कहानीकार, काव्यकार और

१. रचयिता : श्रीरामेश्वरदयाल दूबे; प्रकाशक : शील प्रकाशन, राष्ट्रभाषा रोड, कटक; पृ० सं० ११५; मूल्य : दो रुपये मात्र।

संस्मरणकार हैं, इस चार अंकों के नाटक को महर्षि अगस्त्य के व्यक्तित्व को आधार बनाकर हिन्दी-जगत् में रखा है। इस नाटक के मुख्य पात्र हैं : अगस्त्य, वसिष्ठ, वृक, लोपामुद्रा, रोहिणी, मृगा। वेदों से पुराणों तक के कथा-साहित्य में अगस्त्य का जीवन-चरित्र उनकी अद्भुत पराक्रमशील घटनाओं से इस प्रकार परिपूर्ण हुआ है कि उसे सुनकर आश्चर्यचकित होना पड़ता है। इतना ही नहीं, इस ऋषि के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाएँ विविध हैं, दूरस्थ हैं, अविश्वसनीय भी हैं। फिर भी, सम्पूर्ण घटनाएँ अगस्त्य से ही सम्बद्ध मानी जाती हैं। वर्त्तमान काल में कुम्भज तथा अगस्त्य यही दो नाम प्रचलित हैं, पर प्राचीन ग्रन्थों में अन्य नाम भी मिलते हैं। मुख्य रूप से अगस्त्य और विन्ध्याचल-सम्बन्धी कथा और समुद्रपान-सम्बन्धी कथा अवलोकनीय हैं। पर, समुद्र-शोषण की इस लोकोत्तर कथा से यह अनुभव होता है कि अगस्त्य ने समुद्र को सुखाने या उसपर शासन करनेवाले कालेयक दस्युओं का समूल निपात का महान् लोकोपकारी कार्य किया था।

इस तरह के महिमा-मंडित जीवन के प्रतीक अगस्त्य को आधार-शिला बनाकर जिस प्रतिभा से दूवेजी ने इस नाटक की रचना की है, वह वास्तव में स्तुत्य कार्य है। नाटक के प्रारम्भ में 'महर्षि अगस्त्य' निबन्ध, जो १८ पृष्ठों का है, बहुत लाभकारी और सूचनात्मक है। श्रीरामेश्वरदयाल दूवेजी की यह नाट्य-रचना एक साहसी कदम है। हिन्दी-नाटक-साहित्य इस कृति से निःसन्देह समृद्ध हुआ है। पुस्तक का मुद्रण-प्रकाशन भी सन्तोषजनक है। दूवेजी भविष्य में और भी परिमार्जित कला-कृतियाँ प्रदान करेंगे, ऐसा विश्वास है।

०

श्रीहनुमानशतक[1] : प्रस्तुत रचना के लेखक श्रीनरेन्द्रनारायण सिंहजी हिन्दी के विद्यावयोवृद्ध पत्रकार तथा ग्रन्थकार हैं। यही कारण है कि इनकी हिन्दी-सेवा से प्रभावित होकर बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से सन् १९५६ ई० में वयोवृद्ध-सम्मान-पुरस्कार से इन्हें अभिनन्दित किया गया था। यह बात सर्वविदित है कि भक्त से हृदय में भगवान् और भगवान् के हृदय में भक्त का निवास होता है। भक्तों को भगवान् से मिलाने का काम श्रीहनुमान्जी सदा से करते आये है—शास्त्र और सन्त इसके साक्षी हैं। इस अणुयुग में भी हनुमान्जी की कृपा का अनुभव कितने लोग प्रतिदिन कर रहे हैं। दूसरी बात, कलियुग में पाठ का महत्त्व सर्वश्रेष्ठ माना गया है। शायद, इसी बात को ध्यान में रखकर श्रीनरेन्द्रजी ने आन्तरिक निष्ठा के साथ इस शतक की रचना की है। सही बात तो यह है कि इस शतक के पाठमात्र से हृदय में भक्ति-भावना का उद्रेक होता रहेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस रचना के सम्बन्ध में डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' के ये शब्द विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—"उसी भक्तभावन भगवान् श्रीमरुत्-नन्दन को प्रसन्न करने के लिए श्रीनरेन्द्रनारायणजी ने भावविह्वल पदों में अपने हृदय की कातर पुकार से अपने जीवन-धन को गुहराया है। ये छन्द क्या हैं, भक्तहृदय की भक्ति-परिप्लुत आतुर पुकार हैं और इस

---

१. रचयिता : श्रीनरेन्द्रनारायण सिंह; प्रकाशक : नरेन्द्र-प्रकाशन-मंडल, पो० बैरगनिया, जिला मुजफ्फरपुर (बिहार); मूल्य : पचास न० पै० मात्र।

पुकार में सिद्ध वाणी की प्रभा और सुगन्धि विद्यमान है।" पुस्तक के अन्त में 'आंजनेयाष्टक' बड़े लाभ की चीज है। भाषा में वयोवृद्ध रयचिता की काव्य-कला का निदर्शन है। मैं इस रचना के बहुल प्रचार की कामना करता हूँ।

०

प्रबोध-बारहखड़ी[1] : कवि ने अ से ह तक वर्णाक्षरों से छन्द प्रारम्भ कर भक्ति, नीति आदि विषयों पर कलम चलाई है। इसके रचयिता ने इस छोटी-सी पुस्तिका के कुल ५४ छंदों में भक्ति और नीति की वे बातें कहीं है, जो बड़े लाभ की हैं। इन्हें पढ़कर आज के युग के शोक-सन्तप्त मानव का कल्याण सम्भव है, इसमें दो मत नहीं। छन्दों की भाषा बड़ी ही चुटीली और आकर्षक है। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि कविवर श्रीनरेन्द्रजी अपनी उद्देश्य-सिद्धि में सर्वथा सफल हुए हैं। निश्चय ही, श्रद्धालु पाठकों को इससे परितृप्ति मिलेगी, ऐसा मेरा अपना विचार है।

—प्रो० लालमनोहर उपाध्याय

०

काव्यचिन्ता[2] : प्रस्तुत पुस्तक डॉ० तिवारी के समय-समय पर प्रकाशित आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह है। ये निबन्ध कृति-विशेष या कृती-विशेष की समीक्षा प्रस्तुत न कर, साहित्य के सिद्धान्तों की व्याख्या प्रस्तुत करने के प्रयत्न में लिखे गये हैं। सामान्य आलोचना-ग्रन्थों के समान इसकी दृष्टि पाठ्याभिमुख ही नहीं है, किन्तु वैसी मौलिकता या नवीनता भी नहीं दिखी, जैसी की उत्सुकता 'प्राक्कथन' पढ़कर जगी थी। तिवारीजी का कहना है—" 'काव्यचिन्ता' में काव्यविषयक मेरी धारणाएँ तथा विचारणाएँ उपनिबद्ध हुई हैं। मैं समझता हूँ, मैंन काव्य-चिन्तन के सम्बन्ध में उदार दृष्टि अपनाई है।" पर, 'मेरी धारणाएँ तथा विचारणाएँ' प्रायः नहीं हैं या विरल हैं, अधिकतर प्रमुख और प्रसिद्ध आचार्यों के मतों को ही उद्धृत कर उन्हीं के विचारों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। मैं समझता हूँ, मौलिकता का व्यामोह आज हिन्दी-आलोचक को व्यर्थ ही परेशान किये हुए है। मौलिकता विरल और मूल्यवान् वस्तु है। हर पुस्तक से, हर लेखक से उसकी आशा करनी भी नहीं चाहिए।

हाँ, उद्धरणों का प्राचुर्य भी खटका। ऋग्वेद से लक्ष्मीकान्त वर्मा तथा प्लेटो से मेडावस फोर्ड तक के उद्धरण पाठक पर रौब भले ही गालिब करते हों, वे कथ्य को स्पष्ट और दृष्टि को केन्द्रीभूत नहीं होने देते। उद्धरण यदि दिये जायँ, तो वे उच्चतर अध्ययन में सहायक हों, शायद यही उनकी सार्थकता भी है; अतः उनकी प्रामाणिकता असन्दिग्ध होनी चाहिए। अँगरेजी के अधिकांश उद्धरण ऐसे हैं, जिसमें पृष्ठ-संख्या तक का उल्लेख नहीं। विदेशी विद्वानों के नाम देवनागरी-लिपि में लिखते हुए विशेष सतर्कता नहीं बरती गई है। कई नामों के तो कई-कई रूप मिलते हैं—रिचर्ड्स

१. लेखक-प्रकाशक : पूर्ववत्; मूल्य : ३१ न० पै० मात्र।
२. लेखक : डॉ० श्रीरमाशंकर तिवारी; प्रकाशक : चौखम्भा विद्या-भवन, वाराणसी-१; मूल्य : छह रुपये मात्र।

(पृ० ६४), रिचाड् स (१३२); प्लटो (पृ० ५६), प्लेटो (पृ० २१२) आदि नामों का अक्षरी करते समय न तो अँगरेजी-उच्चारण का ध्यान रखा गया है और न महादेशीय (continental) उच्चारण का ही। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं, कोष्ठकों में प्रचलित उच्चारण तुलनार्थ दे दिये गये हैं—ईलियट (एलियट), प्राउस्ट (प्रू), आयगो (यागो), इमोगेन (इमोजेन) आदि। वैसे, 'प्राक्कथन' में लेखक ने यह कहा है कि अगरेजा-साहित्य से उसका 'व्यावसायिक सम्बन्ध' है।

'काव्य का प्रयोजन' और 'काव्य का मूल्यमापन' अप्रकाशितपूर्व निबन्ध हैं, अतः इस संग्रह के आकर्षण हैं। 'रस-निष्पत्ति और साधारणीकरण' एक उत्कृष्ट निबन्ध है, किन्तु उसके पूर्वार्द्ध में आचार्य-चतुष्टय के साथ ही गोविन्द ठक्कर और वामन झलकीकर के मतों का भी समीक्षा प्रस्तुत का जाती, तो निबन्ध की पीठिका और भी प्रौढ एवं गरिमामयी हुई होती। उत्तरार्द्ध में, अवश्य ही लेखक की कुछ निजी स्थापनाएँ और व्याख्याएँ हैं, जो ग्राह्य प्रतीत होती हैं।

भाषा में वजन है, पर सफाई नहीं; कुछ स्थलों पर पाठक उलझ सकते हैं, जैसे—"तब, काव्यानुशीलन से उपलब्ध तृप्ति जीवन को समझने के लिए मिली दृष्टि की संकुलता वा संकीणता से परिणमित होती है; जीवन-बोध इसी दृष्टि का पर्याय है; तृप्ति जितना गहरी होगी, जावन-बोध उतना ही मूल्यवान् समझा जायगा; अतएव जीवन-बोध जितना मूल्यवान् होगा, काव्य की श्र णी भी उतनी ही उत्कृष्ट समझी जायगी।"

मूल्य-निर्धारण में प्रकाशकीय महत्त्वाकांक्षा स्पष्ट है, किन्तु उसकी सार्थकता सिद्ध करने के प्रयास नहीं किये गये। ऐसे धीमान्, जो 'काव्यशास्त्रविनोदेन' काल व्यतीत करना चाहते हैं, इसे पढ़ेंगे।

०

जीवन के छींटे (पहला भाग)[1] : यह एक कहानी-संग्रह है, जिसकी इकतालीस कहानियाँ भारतीय ईसाइयों द्वारा लिखी गई हैं। अधिकांश कहानियाँ साम्प्रदायिकता से प्रेरित हैं और कलात्मकता का उनमें अभाव है। इन कहानियों की भाषा देखकर लगता है कि भारतीय ईसाई 'हिन्दी' को अब उस अर्थ में नहीं लेते, जिस अर्थ में कभी गिलक्राइस्ट और उनके सहयोगियों ने लिया था।

छपाई संजीवन प्रेस की है, अतः साफ और काफी शुद्ध है। आवरण-पट पर विशष ध्यान नहीं दिया गया है।

०

वन के फूल[2] : यह एक मौलिक उपन्यास है। कथा-प्रधान यह उपन्यास भी ईसाई-धर्म के महत्त्व-प्रतिपादन की दृष्टि से ही रचित है। इन पुस्तकों का प्रकाशन यह सिद्ध करता है कि 'हिन्दी का ईसाई-साहित्य' अभी मरा नहीं है।

---

१. प्रकाशक : आर० पी० साह, पवित्रतम हृदय-निवास, दीघाघाट, पटना; मूल्य : चार रुपये पच्चोस न० पै० मात्र।

२. लेखक : श्रीकेरूबिम बी० साहू; प्रकाशक : उपरिवत्; मूल्य : तीन रुपये मात्र।

दिल्लीवाल प्रकाशकों की देखादेखी इस पुस्तक में भी अनुस्वार-चन्द्रबिन्दु का विवेक नहीं है। पूरी पुस्तक में कहीं-कहीं ही चन्द्रबिन्दु मिला, वैसे सर्वत्र अनुस्वार-ही-अनुस्वार है।

जो कोई भी उपन्यास पढ़ लेते हैं, वे इसे भी पढ़ जायेंगे।

०

अक्षय रस[१] : सत्रहवीं शती में अखाजी (जन्म-सन् १६१५ ई० : निधन-सन् १६७५ ई०) गुजरात के एक महान् सन्त हो गये हैं, जिनकी हिन्दी-वाणियों का संग्रह प्रस्तुत पुस्तक है। अस्सी पृष्ठों की प्रस्तावना में सम्पादक ने १७वीं शती की गुजरात की राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का एक सुन्दर इतिहासपरक विवेचन प्रस्तुत किया है, जिसमें उन्होंने बतलाया है कि १७वीं शती को इतिहासकारों ने गुजरात के लिए शान्ति का युग सिद्ध किया है। पर, वस्तुतः उस समय गुजरात का दिवाला निकल चुका था, उसकी जड़ें खोखली हो चुकी थीं तथा उनमें लोनी लग चुकी थी। यदि इसे ही शान्ति कह सकें, तो इसे श्मशान की ही शान्ति कह सकते हैं। समाज के हर क्षेत्र में दरिद्रता छाती जा रही थी, जिसपर क्रान्तद्रष्टा सन्तों ने ही विचार किया, इतिहासकारों ने नहीं। गुजरात मुगल-साम्राज्य का पूर्णतः अंग बन चुका था, जहाँ इस्लाम के अनुयायियों को छोड़कर शेष जनता पशुओं का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य थी। अखा ने उन्हीं परिस्थितियों का स्पष्ट चित्रण बड़े निर्भीक एवं निर्लोभ होकर अपनी वाणियों में किया है। इस प्रकार, १७वीं शती के इस सांस्कृतिक जागरण के आन्दोलन का नेतृत्व करनेवालों में सन्त अखा का अपना विशिष्ट स्थान तथा महत्त्वपूर्ण योग है। अखा के जीवनवृत्त, गुरु-परम्परा, शिष्य-परम्परा तथा उनके दार्शनिक विचारों पर अन्य सिद्धान्तों के प्रभावों का प्रामाणिक प्रतिपादन कर सकने में लेखक को श्लाघनीय सफलता मिली है, ऐसा उसकी विवेचन-प्रणाली को देखकर सहज ही कहा जा सकता है।

गुजरात के आध्यात्मिक क्षेत्रों में अखा के प्रभाव के सम्बन्ध में लेखक का यह निष्कर्ष कि 'यदि उनकी यह वाणी प्रकाश में आई होती, तो सम्पूर्ण देश में, साहित्यिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में उसे कबीर की वाणी से कम आदर न मिलता'--श्रद्धापरक होने के साथ ही बहुत कुछ तथ्य के निकट है। कबीर तो इस पन्थ के अगुआ हैं ही, जिनका न्यूनाधिक प्रभाव बाद में आनेवाले सन्तों पर अवश्य ही पड़ा है। इसीलिए, हर सन्त की उपलब्धियों में प्रतिमान बनकर कबीर आ जाते हैं। इस दृष्टि से अखा की वाणियों का एक सुन्दर विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तावना में प्रस्तुत किया गया है, जिससे अखा एवं अखा-सरीखे अन्य सन्तों पर कबीर का प्रभाव देखनेवालों के लिए यह अंश निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा। डॉ० योगीन्द्र जगन्नाथ त्रिपाठी ने अखा को गुजराती काव्य-साहित्य में अजातवाद का निरूपण करनेवालों में सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख ठहराया है,

१. सम्पादक : श्रीकुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह; प्रकाशक : हिन्दी-विभाग, महाराजा सयाजीराव विश्व-विद्यालय, बड़ौदा; पृ० सं० ८०+३७६; मूल्य : पन्द्रह रुपये मात्र।

जिसका समर्थन प्रस्तावना-लेखक ने भी किया है। इस प्रसंग में गौडपादाचार्य से अजातवाद तथा शंकर के अद्वैतवाद की परस्पर तुलना आवश्यक हो जाती है; क्योंकि इन दोनों के सूक्ष्म भेदों का विश्लेषण किये विना अखाजी की वाणियों में परम्परागत दार्शनिक विचार-धाराओं की छाप ढूंढ़ पाना सामान्य पाठकों के लिए सहज नहीं होता। अजातवाद का विवेचन इस दृष्टि से अधिक उपादेय बन पड़ा है।

अखाजी की वाणियों की भाषा के सम्बन्ध में लेखक का यह कथन कि "कबीर की भाषा ही एक ओर 'दक्खिनी' से होती हुई आधुनिक हिन्दी की ओर विकसित हुई है, तो दूसरी ओर वही 'गूजरी' से होती हुई अखा की भाषा के रूप में दिखाई पड़ती है", हिन्दी के अन्तरप्रान्तीय व्यवहारवाले पक्ष को तो पुष्ट करता ही है, यह भी सिद्ध करता है कि इस देश को एकराष्ट्र बनाये रखने की सर्वाधिक क्षमता यदि किसी एक भारतीय भाषा में आज है, तो वह हिन्दी में ही है। भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक फैले हुए अखा-सरीखे सन्तों की वाणियों की भाषा इस सत्य का जोरदार समर्थन करती है। हिन्दी के पाठकों के समक्ष इन्हें उपस्थित करने का उचित श्रेय सम्पादक को मिलना चाहिए।

०

कल्याण-सुमन [1] : प्रस्तावना के 'दो शब्द' में इस पुस्तक के प्रकाशक ने इसके सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है कि नये कवियों की प्रथम रचनाओं से काव्य के मार्मिक गुणों की अपेक्षा न कर उनकी सरल-सरस पंक्तियों पर ध्यान दें, तो निश्चय ही पाठकों का मनोरंजन होगा। इस संग्रह की अधिकांश रचनाएँ 'कल्यान' और 'सुमन' उपनामधारी दो कवियों की हैं, जिससे इसका नाम भी 'कल्यान-सुमन' रख दिया गया है। काव्य की दृष्टि से उतना नहीं, जितना येसु-समाजियों की साम्प्रदायिक दृष्टि से यह कदाचित् 'कल्याण-कारी सुमन' सिद्ध हो। सम्प्रदायों के अपने-अपने ढंग के प्रार्थना-गीत हुआ करते हैं, जो काव्य भी हो सकते हैं। किन्तु, इस संग्रह के गीत 'पद्य'-सुमन ही बनकर रह गये हैं। कहीं-कहीं काव्य के दो-एक छींटे मिलते हैं, पर यत्र-तत्र ही। जैसे, 'दुनिया के काँटों में उलझी जो तितली थी, वह आज बागबाँ के कारण से छूट गई।' प्रयास स्तुत्य है तथा छपाई-सफाई सराहनीय।

०

सही रास्ता [2] : ख्रिस्तीय सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से लिखा गया 'प्रकाश' नामक एक ख्रिस्तीय युवक की यह कहानी है, जिसने अपने नेक स्वभाव एवं सेवा-भावना से पलामू के माधोपुर नामक गाँव के आदिवासियों की सेवा हर प्रकार से की थी और अन्त में न केवल उस गाँव के जमीन्दार की लड़की कान्ता को ख्रिस्तान बनाकर उससे विवाह ही कर लिया, वरन् सारे गाँव को ख्रिस्तान बनाकर अपने 'प्रभु' का सच्चा सेवक बन गया।

१. प्रकाशक : श्रीआर० पी० साह; पवित्रतम हृदय-निवास, दीघा, पटना; मूल्य : दो रुपये पच्चीस न० पै० मात्र।

२. लेखक : श्रीकेरुबिम बारनो साहू; प्रकाशक : सम्पादक 'प्रभात', खीस्तराजा, बेतिया; मूल्य : दो रुपये पच्चीस न० पै० मात्र।

लेखक के अनुसार यह मौलिक हिन्दी कार्थलिक उपन्यास है, पर इसे उपन्यास न कहकर एक ख्रिस्तीय नवयुवक समाजसेवक की डायरी कहना अधिक उपयुक्त होगा, जिसमें उसकी अपने कर्त्तव्य-पालन की गाथाएँ भरी पड़ी हैं। उपन्यास की कथावस्तु के संघर्ष-तत्त्व की तो इसमें छाया भी नहीं। हाँ, संघर्ष के नाम पर मार-पीट की दो-एक घटनाएँ अवश्य आ गई हैं। ईसाइयत के प्रचार के साधनों का उल्लेख बड़े जोश-खरोश से किया गया है; जैसे गरीब आदिवासियों के बीच चिकित्सालय, पाठशाला आदि खुलवाना, गिरजाघर बनवाना आदि। कुल मिलाकर, इसे आदिवासियों को ख्रिस्तान बनाने के उद्देश्य से लिखा गया प्रचारवादी साहित्य ही कहा जा सकता है। —प्रो० रामबुझावन सिंह

०

कोणार्क[1] यह पाँच सर्गों का एक खण्डकाव्य है। इसमें कोणार्क-मन्दिर के निर्माण की कहानी कही गई है। राजा श्रीनरसिंहदेव अपने जन्म की कथा याद करते हुए सूर्य का मन्दिर बनवाने का निश्चय करते हैं। राजमाता ने सूर्य की आराधना के फलस्वरूप ही उन्हें पाया था और इसलिए उनकी इच्छा थी कि राज की ओर से एक सूर्य-मन्दिर बने। जीवन-काल में राजमाता की यह इच्छा पूरी न हो सकी थी। राजा अपना निश्चय मन्त्री को बताते हैं। मन्त्री प्रसिद्ध स्थापत्यकला-विशारद विशु से जाकर मिलते हैं और उससे सूर्य-मन्दिर बनाने का वचन लेते हैं। मन्दिर तैयार हुआ, किन्तु शिखर पर कलश टिक ही नहीं रहा है। स्थापत्यकला-प्रवीण विशु हार चुका है। मन्दिर के पूर्ण होने में विलम्ब होते देखकर मन्त्री ने आज्ञा सुनाई है—नियत समय पर मन्दिर अगर पूर्ण नहीं हुआ, तो सारे कलाकारों का स्थान कारागार में होगा। साथ ही, यह राजकीय घोषणा प्रसारित होती है कि जो कोई कलश को मन्दिर के शिखर पर स्थापित कर देगा, उसको प्रभूत पुरस्कार दिया जायगा।

विशु का पुत्र धर्मपद इस घोषणा को सुनता है और वह अपनी माता से आदेश लेकर कोणार्क-मन्दिर के निर्माण-स्थल पर पहुँचता है। वह कलश को मन्दिर के शिखर पर स्थापित करने में सफल हो जाता है। विशु यद्यपि नहीं जानता है कि युवक कलाकार उसी का पुत्र धर्मपद है, जिसे वह बारह वर्ष पूर्व घर पर छोड़ आया था, तथापि वह बड़ा प्रसन्न होता है और अपने सहयोगी शिल्पियों को युवक कलाकार की आरती उतारने का आदेश देता है। द्वेषान्ध शिल्पियों पर इसकी भिन्न प्रतिक्रिया होती है। वे युवक कलाकार की हत्या करने को उद्यत होते हैं। विशु बेहोश हो जाता है। इसी बीच धर्मपद विशु के अनन्य मित्र राजीव को अपना परिचय देकर स्वयं ही प्राणत्याग करने के निमित्त वहाँ से चल देता है। विशु के रोष में आने पर राजीव उसके पुत्र का परिचय देता है और तब विशु भी धर्मपद की खोज में चल देता है। इस तरह कोणार्क के भव्य मन्दिर के निर्माता शिल्पियों का दुःखद अन्त होता है।

१. रचयिता : पं० श्रीरामेश्वरदयाल दूबे; प्रकाशक : राष्ट्रभाषा पुस्तक-भण्डार, कटक; मूल्य : एक रुपया पचास न० पै० मात्र।

इस कहानी को बड़ी साफ-सुथरी भाषा में दूबेजी ने प्रस्तुत किया है। काव्य इतिवृत्तात्मक है। सर्गों के आदि एवं अन्त में मनोहर प्रकृति-वर्णन उपलब्ध होते हैं। कथा में कहीं भी शिथिलता नहीं है।

मुद्रण शुद्ध और आवरण सुन्दर है। —डॉ॰ सियाराम तिवारी

०

आदमी का जहर[1] : 'आदमी का जहर' पाँच एकांकी नाटकों का सुन्दर संग्रह है। नाटककार सामाजिक सत्य, विशेषतः कटु सत्य को अपनी संवेदना का मूल केन्द्र बनाकर व्यक्ति-सुधार, परिणामतः समाजोद्धार का हामी है। वह 'अकारात्मक मानववाद' और 'वस्तु-सत्य से उपजी हुई मानव-दृष्टि' दोनों के विरोधाभास में झूलती हुई मानवता को बचाना चाहता है और यही कारण है, वह कविता से सशक्त माध्यम नाटक को ही मानता है। नाटकों में पुरानेपन को हटाकर, प्रायः नयेपन की प्रतिष्ठा करना चाहता है और प्रस्तुत संग्रह के माध्यम से उसने ऐसा किया भी है। यहाँ भोगा हुआ वस्तु-सत्य तटस्थ भावन के द्वारा कल्पित होकर नाटककार की सफलता का संकेत कर रहा है।

विश्लेषण की दृष्टि से समालोच्य संग्रह के प्रत्येक एकांकी का मूल कथ्य आदमी का जहर ही है। सामाजिक वातावरण इस जहर को बढ़ावा दे रहा है। नाटककार इसी से छुटकारा पाने को बेचैन दीखता है और सीमित दृष्टिकोण, बाह्य वैवाहिक बन्धन, पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, यश एवं धनलोभ आदि से संघर्ष करने को, इनपर भावुकता-रहित होकर विचार करने को, नेक सलाह देता है। एकांकियों में पूर्वदीप्ति-प्रणाली (Flash back method) का अधिकाधिक उपयोग मनोविज्ञान के प्रभाव की सूचना देता है, साथ ही इस बात को भी इंगित करता है कि आदमी अपने संस्कारों से भी प्रेरित-प्रभावित होता है और समाज के द्वारा सुविधाएँ उपस्थित किये जाने पर भी असन्तुष्ट ही रहता है। नाटककार अखण्ड विश्वास के साथ जिन्दगी के जहर को दूर कर जीने की बात कहता है। यह नाटककार की सफलता का द्योतक है।

नाटककार ने कतिपय नये प्रयोगों, नये उपमानों, नये बिम्बों का उपयोग कर अपनी जागरूकता का भी परिचय दिया है। पर, खटकनेवाली बात यही है कि भाषा में अँगरेजी, उर्दू, फारसी आदि के शब्दों का अनावश्यक प्रयोग हुआ है। पता नहीं, ये शब्द हिन्दी के भाण्डार को भरने के लिए प्रयुक्त हुए हैं या पात्रों के अँगरेजी, उर्दू, फारसी आदि के ज्ञान को प्रदर्शित करने के लिए। सम्भव है, ये पात्रों के यथार्थ मोह के भी सूचक हों। पर, मेरा विचार है, इन शब्दों के हिन्दी-पर्याय से भी काम मजे में चलाया जा सकता था।

ये नाटक आकाशवाणी के लिए लिखे हुए होने पर भी रंगमच के पूर्णतः उपयुक्त हैं और यह नाटककार की कुशलता का ही परिचायक है। उपयोगिता की दृष्टि से ये आधुनिक नाटक निस्सन्देह अभिनन्दनीय हैं।

०

---

१. लेखक : श्रीलक्ष्मीकान्त वर्मा; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; पृ॰ सं॰ १९६; मूल्य : तीन रुपये मात्र।

महाश्रमण सुनें ! उनकी परम्पराएँ सुनें !![1] : श्री 'भिक्खु' द्वारा रचित राहुल-कथा का एक यह अभिनव प्रयोग है। कथासूत्र (समीक्ष्य पुस्तक की भूमिका) में लेखक की स्वीकृति है कि आदरणीय बन्धु लक्ष्मीचन्द्र जैन के आग्रह-स्वरूप ऐतिहासिक तथ्यात्मकता और औपन्यासिक रसात्मकता के ऊपर ध्यान रखने के कारण कृति का ऐसा रूप सम्भव हो सका। यों, कृति मूलत: न तो इतिहास है, न उपन्यास ही और न कहानी ही। वस्तुत:, यहाँ उपन्यास के रूप में एक छोटी कहानी को ही जान-बूझकर बढ़ाया गया प्रतीत होता है।

बाघ नदी के तट पर शताधिक व्यक्तियों के समुदाय में शिल्पी आचार्य अहिरथ सबकी कलाओं के महत्तम अंश का दान चाहता है। शिल्पी एक-एक कर अपना परिचय देते हैं : नालन्दा का अमोघ, तक्षशिला का सुवर्णगन्ध, अमरावती का श्रीरंग, माहिष्मती का शिव, कौशाम्बी का अपलक, सरस्वती-तीर का सारस्वत, भारहुत का भारहुति असीक आदि; पर मथुरा की सुनन्दा उसके लिए विशेष आकर्षण का केन्द्र बन जाती है, सम्भवत: नारी होने के कारण। सुनन्दा के आग्रह पर अहिरथ राहुल की पूरी कथा कहता है—जन्म की, बचपन की, प्रवज्या-ग्रहण (संघ में दीक्षित होने) की, उपदेश-प्रचार की इत्यादि। असल में मानवी आकृति (शिल्प-प्रतिमा) में भगवान् की करुणा के प्रतीक का आरोपण बिना पूरी कथा के सुने सम्भव भी नहीं। अहिरथ एक ही साँस में राहुल की पूरी जीवन-गाथा सुना देता, तो कदाचित् कृति का यह औपन्यासिक विस्तार नहीं हो पाता। नन्दा की सुविधा-असुविधा पर उसका ध्यान रहता है, यों अपनी सुविधा-असुविधा पर भी वह कम ध्यान नहीं देता। लगता है, शिल्पी आचार्य अहिरथ के मुख से लेखक ही जबरदस्ती अपनी बात कहना चाहता हो।

वस्तुत:, राहुल की कथा के बहाने, लेखक यहाँ बुद्ध, धर्म और संघ नामक त्रिरत्न की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करना चाहता है और कहता है : "स्त्री जब त्रिरत्न—बुद्ध, धर्म और संघ में श्रद्धा रखती है, तब वह इहलोक और परलोक दोनों में ही सुख पाती है" (पृ० ७२)। सत्य, करुणा, अहिंसा आदि गुणों का ग्रहण तो आवश्यक है ही। उपदेशक के रूप में राहुल का प्रस्तुतीकरण लेखक की कल्पना है और यह कल्पना ऐतिह्य शंकास्पद नहीं। यों, लेखक राहुल की कथा के साथ-साथ बुद्ध की भी कथा कहता चलता है और राहुल की कथा बुद्ध की कथा की छाया-मात्र दीख पड़ती है। अहिरथ और सुनन्दा दोनों-के-दोनों पात्र लेखक की कठपुतली होने का सन्देह ही उत्पन्न करते हैं और पात्र तो जैसे नगण्य ही हैं।

लेखक की भाषा कवित्वपूर्ण और तत्सम-प्रधान है। कृति का शीर्षक महाश्रमण बुद्ध और उनकी परम्पराओं को सुनाये जानेवाले कथ्य (त्रिरत्न-तडाग में अवगाहन) की ओर संकेत करता है, जो सन्तोष का विषय है।

०

---

१. लेखक : श्रीकृष्णचन्द्र शर्मा 'भिक्खु'; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; पृ० सं० १०६; मूल्य : दो रुपये पच्चीस न० पै० मात्र।

इनसे मिलिए (रेखाचित्र)[1] : यह श्रीतरंगितजी के अट्ठारह व्यंग्यात्मक मार्मिक तथा मौलिक रेखाचित्रों का संग्रह है, जिनमें अधिकांश 'राष्ट्रदूत' (जयपुर) में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। लेखक ने, व्यवसाय की दृष्टि से इसे नहीं प्रस्तुत किया है, यह सन्तोष की बात है। इससे बढ़कर सन्तोष की बात तो यह है कि लेखक नवता की ओर उन्मुख है। हास्य-व्यंग्य की जो परम्परा अबतक दिखाई पड़ती रही है, उसमें कुछ नया विकास लेखक का लक्ष्य प्रतीत होता है। फलतः, संग्रह के पात्रों का नामकरण प्रायः गुणों के आधार पर (मानवीकरण करके) किया है। यों, प्रत्येक रेखाचित्र किसी-न-किसी प्रकार गंभीर व्यंग्य प्रस्तुत करता है। व्यक्तिगत विद्रूपता, सामाजिक असंगति तथा असम्बद्धता की ओर रेखाचित्रकार का लक्ष्य मालूम पड़ता है। शिष्ट हास्य से शिष्ट व्यंग्य की ओर रेखाचित्रकार का ध्यान अधिक सक्रिय है। दृष्टि की जागरूकता शब्दों के चयन, उपमानों के प्रयोग तथा दृष्टान्तों के व्यवहार में, यहाँ से वहाँतक दीख पड़ती है।

यों, जी० पी० श्रीवास्तव, बदरीनाथ भट्ट, 'चोंच', 'बेढब' आदि की परम्परा में होने पर भी, लेखक उस परम्परा से कुछ कटा हुआ अवश्य है। लगता है, उसे 'परस्थ' हास्य में जैसे अधिक विश्वास न हो। पुस्तक निस्सन्देह बच्चों के लिए नहीं है।

o

उल्टी गंगा (निबन्ध-संग्रह)[2] : यह कृति भी श्रीमिश्रीमल जैन 'तरंगित' के ही पन्द्रह शिष्ट हास्य-व्यंग्यपूर्ण मार्मिक, मननशील, निजी (वैयक्तिक नहीं !) निबन्धों का संग्रह है। निबन्धकार निरर्थक, काल्पनिक, हल्के स्तर, अश्लील हास्य-व्यंग्य को युगोचित नहीं मानता, फलतः इन निबन्धों में आवश्यकता से अधिक गम्भीरता का आ जाना स्वाभाविक ही है। यों, ये सभी निबन्ध जीवन के अनुभवों को ही प्रतिबिम्बित करते हैं। लेखक का शब्द-चयन, नव्य प्रतिमान और प्रयोग के प्रति मोह श्लाघ्य है। लगता है, जैसे वह जागरूक समाज-सुधारक हो। यही कारण है, उसका हृदय प्राचीन परम्पराओं को जर्जर और ध्वस्त होते देखकर कचोट उठता है।

'अपनी बात' में लेखक ने अपनी रचनाओं को जीवनव्यापी साधना का फल कहा है, जो बहुत अतिरंजित कथन नहीं कहा जा सकता।

o

चुटीले चुटकुले (चुटकुला-संग्रह)[3] : यह कृति प्रकाशक और लेखक के अनुसार गुदगुदानेवाले, मार्मिक, ओजःपूर्ण, शिष्ट, हास्य-व्यंग्यात्मक तथा मौलिक छह सौ चुटकुलों का संग्रह है। लेखक का निवेदन है : हिन्दी-साहित्य में शिष्ट हास्य-व्यंग्यात्मक साहित्य का पर्याप्त अभाव है और प्रस्तुत संग्रह उस अभाव को दूर करने की एक तुच्छ चेष्टा।

---

१. लेखक : श्रीमिश्रीमल जैन 'तरंगित'; प्रकाशक : सोहन प्रकाशन, ७४३, सरदारपुरा, जोधपुर; मूल्य : दो रुपये पचहत्तर न० पै० मात्र।

२. लेखक-प्रकाशक-मूल्य : उपरिवत्।

३. लेखक-प्रकाशक-मूल्य : उपरिवत्।

वस्तुतः, लेखक का यह निवेदन विनम्रता का परिद्योतक है। सचमुच, अन्य चुटकुला-संग्रहों की भाँति यह 'खुरचन-बटोर-मावा-मात्र' नहीं। मौलिकता भी स्थान-स्थान पर प्रतिबिम्बित है, यद्यपि मौलिकता के आग्रह में बौद्धिकता का यत्र-तत्र अतिरेक हो गया है। कदाचित्, इसका कारण लेखक के अनुसार अभिप्राय-मोह है।

यह प्रसन्नता की बात है कि नई सूझ-बूझ का उपयोग करते हुए लेखक ने इतने अधिक चुटकुलों का संग्रह एक स्थान पर किया है। यों, चुटकुलों की प्राचीनता निस्सन्दिग्ध है। ईसवी-शती के आसपास वात्स्यायन के समय तो यह सामान्य मनोविनोदन था। हाजिर-जवाब बीरबल चुटकुलों और विनोदों के लिए ही प्रसिद्ध रहा। प्रस्तुत चुटकुले प्रायः सुधारपरक होने के कारण अनुपेक्षणीय महत्त्व के अधिकारी हैं।

०

फुलझड़ियाँ (लघुकथा-संग्रह)[1] : यह कृति श्रीतरंगितजी द्वारा लिखित हास्य-व्यंग्यमय ९५ लघुकथाओं का संग्रह है, जो लेखकीय दावे के अनुसार साभिप्राय है। कारण, 'झाँकी' में लेखक की स्वीकृति है : 'निरभिप्राय हास्य में मेरा विश्वास नहीं।' वस्तुतः, ये कथाएँ आज की लघुकथाओं का द्योतक नहीं। इनमें कल्पना का गाढ़ा रंग चढ़ाया गया है। कहीं-कहीं तो लगता है, बौद्धिक तथ्य को कल्पना के काढ़े में लपेटकर रखा गया है।

कुल मिलाकर लेखक का सुधारप्रिय, जागरूक स्रष्टा अभिनन्दनीय है और प्रकाशक धन्यवाद के पात्र। हम इनके शिष्ट हास्य-व्यंग्यमय साहित्य-सर्जन एवं प्रकाशन-जन्य लक्ष्य का स्वागत करते हैं।

०

नवांकुर[2] : श्रीसरस द्वारा सम्पादित नौ नई प्रतिभाओं की कतिपय नवांकुरित रचनाओं का यह एक लघुसंग्रह है, जिसका मुख्य लक्ष्य है नये अंकुरों को प्रोत्साहन देना, उन्हें प्रकाश में ले आना। सम्पादक महोदय ने भविष्य की आशा में ही इन अंकुरों का अभिनन्दन किया है और विनम्र शब्दों में बतलाया है, अभी ये अंकुर ही हैं, पौध का रूप लेते ही इनसे साहित्य की फुलवारी सुवासित हो उठेगी, ऐसी आशा है।

वस्तुतः, इन अंकुरों में अच्छी पौध बनने की सम्भावना स्पष्टतः प्रतीत होती है। अक्षरों के क्रम से अंकुरों का स्थान-निर्धारण सम्पादकीय कौशल का द्योतक है। अंकुरों का संक्षिप्त परिचय भी साथ में दे दिया गया है, जिससे इनकी रचनाओं के मूल्यांकन में सुविधा का होना सहज सम्भाव्य है। इसमें सन्देह नहीं कि सभी अंकुर छन्दोबद्ध कविता लिख सकते हैं। इनमें छन्दोगत शैथिल्य दृष्टिगोचर नहीं होता।

—डॉ० स्वर्णकिरण

०

१. लेखक-प्रकाशक-मूल्य : पूर्ववत्।
२. सम्पादक : श्रीसुरेश दुबे 'सरस'; प्रकाशक : अन्तरराष्ट्रीय पुस्तक-केन्द्र, मन्दिरी, पटना; मूल्य : एक रुपया मात्र।

जैसे उनके दिन फिरे[1] : व्यंग्य और विनोद के नाम पर आये दिन साहित्य-द्वार पर प्रायः अवस्कर ही एकत्र किये जा रहे हैं; किन्तु श्रीहरिशंकर परसाई-लिखित आलोच्य कृति अपवाद ही उपस्थित करती है। इस पुस्तक में लेखक ने उन्नीस शीर्षकों के अन्तर्गत साम्प्रतिक समाज की अधिकांश असंगत यथार्थताओं को, जिनपर कशाघात की आवश्यकता है, कसकर लपेट लिया है।

विनोद से जहाँ चित्त-प्रसादन होता है, वहाँ विकार-विशोधन भी। व्यंग्य में शल्य-चिकित्सक की तीक्ष्ण क्षुरधार चाहिए, जिससे व्रण ठीक हो सके तथा हनुमानी आक्रोश से अनीति की अट्टालिका को भी धूलिसात् किया जा सके। प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशकीय वक्तव्य में कहा गया है कि इस पुस्तक में मनोरंजन प्रासंगिक है, वह लेखक का उद्देश्य नहीं। उद्देश्य है : युग के समाज का, उसकी बहुविध विसंगतियों, अन्तर्विरोधों, विकृतियों और मिथ्याचारों का उद्घाटन। और, यह सही है कि लेखक ने शोधकर्त्ता, साधु, धर्मात्मा, शासक, सामाजिक कार्यकर्त्ता, संन्यासी, यहाँतक कि ईश्वर की भी खबर ली है।

इन हास्य-कथाओं में नश्तर का नुकीलापन और तेजाब की छनछनाहट तो है ही, साथ ही लाख बरजने पर भी होठों पर मुस्कराहट बिछल ही जाती है, अन्तःकरण में गुदगुदाहट मचल ही उठती है। मेरा तो पूर्ण विश्वास है कि इन हास्य-कथाओं का पारायण कर पाठक प्रीत एवं प्रेरित होंगे, अवश्य। हम परसाईजी से आग्रह करेंगे कि वे गद्य में अपने कबीराना अन्दाज को हमेशा बरकरार रखें।

—डॉ० वचनदेव कुमार

०

तेलुगु की प्रतिनिधि कहानियाँ[2] : प्रस्तुत कहानी-संग्रह दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा की ओर से प्रकाशित किया गया है। उक्त सभा हिन्दी की योजनाबद्ध सेवा करनेवाली संस्थाओं में सर्वप्रथम उल्लेख्य है। यह पुस्तक सभा का २४२वाँ प्रकाशन है और दक्षिणभारती साहित्य-माला का प्रथम पुष्प। इस माला में दक्षिण की चारों भाषाओं—तेलगु, तमिल, कन्नड़ तथा मलयमल—की प्रतिनिधि कहानियाँ, एकांकी, नाटक, उपन्यास, कविता आदि के प्रकाशन की योजना है। सभा की यह पुनीत योजना निर्विघ्न हो, यही हमारी आन्तरिक कामना है।

आलोच्य कहानी-संग्रह में तेलुगु के बारह कहानीकारों की बारह कहानियों का, दक्षिणी हिन्दी-वि ानों द्वारा सरल-सुबोध हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। सभी कहानियाँ दक्षिण की सामाजिक-सांस्कृतिक जीवनधारा से परिचित करानेवाली हैं, साथ ही इस प्रकार के साहित्यिक आदान-प्रदान के द्वारा दक्षिण-उत्तर की भावात्मक एकता की समस्या का समाधान भी होता है। इस संकलन के प्रकाशन का मूल उद्देश्य भी यही है।

---

१. लेखक : श्रीहरिशंकर परसाई; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; मूल्य : एक रुपया पचास न० पै० मात्र।

२. संकलित; प्रकाशक : दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा, मद्रास; मूल्य : तीन रुपये मात्र।

संकलित प्रत्येक कहानी के प्रारम्भ में कहानीकार का परिचय भी दे दिया गया है, जिससे इस संकलन की उपयोगिता शोधार्थियों के लिए भी अनिवार्य हो गई है। प्रारम्भ में हिन्दी-तेलुगु के अधिकारी लेखक श्रीबालशौरि रेड्डी द्वारा प्रस्तुत 'तेलुगु-कहानी-साहित्य की झाँकी' पर्याप्त सूचनात्मक है, साथ ही प्रासंगिक सन्दर्भता के महत्त्व से गौरवान्वित भी। कुल मिलाकर यह प्रकाशन हिन्दी-जगत् के लिए निश्चय ही अनुपेक्षणीय है।

मुद्रण और आवरण अनुकरणीय।

०

फूल और अंगारे[1] : में आचार्य श्रीतुलसी के विनयावनत जैनमुनि श्रीनथमलजी की अध्यात्मचिन्तनपरक तथा जैनदर्शन से अभिभूत इकसठ स्फुट कविताएँ संकलित हैं। निश्चय ही, यह संकलन शास्त्रीयता से स्पृष्ट होने के कारण भावप्रवण कल्पनाशील पाठकों को दार्शनिकता के रूक्ष धरातल पर ले जानेवाला है, परन्तु सन्देह नहीं कि इससे नितान्त बुद्धिवादियों की मनीषा अवश्य ही मुग्ध होगी। प्रस्तुत काव्य-संकलन के कवि ने भावना की लहरों पर चलने के बजाय अपने को तर्क की कसौटी पर कसने की अधिक कोशिश की है। यही कारण है कि संकलित प्रत्येक कविता पर दार्शनिक विभूति की छाप दिखाई पड़ती है और पूरी पुस्तक कविता और दर्शन की गंगा-जमुनी लहरों से लबालब हो उठी है।

जैनमुनि होने के कारण कवि नथमलजी, कदाचित् 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' के पूर्वाग्रहवश, अपने कवित्व को आत्मिक दौर्बल्य या परिग्रह मानते हैं, इसीलिए उन्होंने अपनी भूमिका में सफाई पेश करते हुए कहा है कि 'कविता मेरे जीवन का प्रधान विषय नहीं है। मैंने इसे सहचरी का गौरव नहीं दिया। मुझे इससे अनुचरी का-सा समर्पण मिला है। मैंने कविता का आलम्बन तब लिया, जब चिन्तन का विषय बदलना चाहा। मैंने कविता का आलम्बन तब लिया, जब थकान का अनुभव किया।' परन्तु, ज्ञातव्य है कि कविता तो कवि के प्राक्तन संस्कार से परम्परया अनुबद्ध रहती है। वह कोई स्टेशन नहीं कि जब चाहे, बदल लिया। संकलित कविताओं—खासकर 'चिनगारी', 'नीड़ और विहग', 'चरैवेति-चरैवेति', 'कोई-कोई,' 'स्नेह और तर्क', 'मिट्टी का प्यार' आदि—से स्पष्ट है कि विद्वान् कवि में कविता का संस्कार प्राक्तनीन है और वह उसे अपने अर्जित श्रामण्य से बलात् आवृत करने में सतत असफल रहा है। अथच, यही दर्शन पर कविता की विजय का सनातन प्रमाण है।

संगृहीत कविताओं की भाषा जितनी सरल है, भाव उतना ही गहन। इसी सरल-गहनता के कारण मुनि नथमलजी के ये फूल और अंगारे अपने पाठकों की असंख्यता सहज ही प्राप्त करेंगे, ऐसा विश्वास है।

मुद्रण और आवरण स्वच्छ और सुरूप हैं।

०

---

१. रचयिता : मुनि श्रीनथमल; प्रकाशक : सेठ चाँदमल बाँठिया-ट्रस्ट, पार्श्वनाथ जैन लाइब्रेरी, जयपुर; मूल्य : तीन रुपये मात्र।

सम्बोधि[1] : सोलह अध्यायों में पूर्ण इस पुस्तक में आचार-विचारप्रधान संस्कृत-श्लोकों का गुम्फन किया गया है। सभी श्लोक सरल अनुष्टुप् छन्दों में बद्ध हैं। संस्कृत के अधिकारी विद्वान् मुनि नथमलजी ने इस स्वाध्याय-ग्रन्थ की रचना कर 'गीता' या 'धम्मपद' की परम्परा को पुनर्गति दी है। प्रत्येक सद्गृहस्थ के लिए नित्य पठनीय ऐसी पुस्तक के व्यापक प्रसार के लिए हम जोरदार सिफारिश करते हैं।

ततोऽधिक प्रसन्नता की बात यह है कि प्रत्येक मूल श्लोक के नीचे मुनि मीठालालजी ने सरल हिन्दी-अनुवाद उपस्थित किया है, जिससे संस्कृत से अपरिचित पाठकों को भी मूल के स्वारस्य तक पहुँचने में आसानी हो गई है।

पुस्तक का मुद्रण शुद्ध-स्वच्छ और आवरण सु-रंग तथा प्रतीकात्मक।

०

पथ और पाथेय[2] : में प्रसिद्ध जनाचार्य श्रीतुलसी के वैचारिक प्रवचनों का, मुनि श्रीचन्द्र 'कमल' द्वारा, श्रम और सतर्कता से चयन किया गया है। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, मैत्री, साहित्य और संस्कृति, विद्यार्थी और शिक्षा, संयम आदि विषयों पर आचार्य श्रीतुलसी की शास्त्रानुमोदित अमरवाणियाँ जीवन-पथ के पथिकों के लिए निश्चय ही पाथेय प्रमाणित होंगी। इस प्रकार के प्रशंस्य जनोपयोगी प्रयास के लिए बाँठिया-ग्रन्थमाला धन्यवादार्ह है।

मुद्रण स्वच्छ और निर्दोष है एवं आवरण आर्हत भाव को उद्रिक्त करनेवाला।

—देवसूरि

०

मांगलिका[3] : प्रो० 'दीन' के ५७ गीतों का संग्रह है। कवि दीनजी हिन्दी के अनवीन हस्ताक्षर हैं। उनके शब्दों में ये गीत १२-१३ वर्ष पुराने हैं। पर, मैं कहना चाहूँगी, इनमें जो चैतन्य और लोकोत्तर आनन्द का स्वर भास्वर है, उसकी गूँज तो चिरनवीन ही है।

मांगलिका का कवि अपने भावों को प्रांजल रूप से पाठकों तक प्रेषित करने में समर्थ हुआ है। कविताओं की भाषा साफ-सुथरी, सुलझी हुई और मर्मस्पर्शिनी है। कवि की प्रेममूलक कविताएँ भी बड़ी वेधक हैं। प्रेम के स्वस्थ और संयत स्वरूप के प्रति कवि की अभिव्यक्ति बहुत ही मधुर और संवेदनशील है।

यद्यपि, संग्रह की अनेक कविताओं में कुछ ऐसी भी हैं, जो केवल कविता शब्द से अभिहित-भर हैं, तथापि उर्दू-जमीन पर लिखे गये २२, २७ और ३३वें गीत में जो प्रवाह और माधुर्य है, उससे कवि की विधाग्राही प्रतिभा का संकेत मिलता है। —प्रकाशवती

●●

१. रचयिता : मुनि श्रीनथमल; अनुवादक : मुनि श्रीमीठालाल ; प्रकाशक : पूर्ववत्; मूल्य : अनुल्लिखित।

२. संचयिता : मुनि श्रीचन्द्र 'कमल'; प्रकाशक : पूर्ववत्; मूल्य : अस्सी नये पैसे।

३. रचयिता : प्रो० श्रीसीताराम 'दीन'; प्रकाशक : प्रभात पुस्तक-भंडार, पटना : औरंगाबाद (गया); मूल्य : दो रुपये पचास न० पै० मात्र।

विचार-विनिमय

[१]

'पत्रिका' का यह अंक (वर्ष ३, अंक ४) भी अभूतपूर्व रहा। वैसे तो इसके सभी लेख सुन्दर, सरस और पठनीय हैं ही—सहृदयजी की टिप्पणी, श्रीमूलचन्द्र 'प्राणेश' का लेख 'ढोला-मारू के कतिपय सन्दिग्ध स्थलों का अर्थ-विनिश्चय' तथा प्रो० गोपाल राय का लेख 'हिन्दी में कोश-निर्माण की समस्याएँ' बहुत ही सुन्दर हैं। ढोला-मारू की डॉ० माताप्रसादजी गुप्त द्वारा लिखित पाठ-चर्चा पढ़ी थी। वह इतनी अद्‌भुत थी कि उसपर लिखना उसे महत्त्व देना जैसा था। आजकल के हमारे ये डॉ० महानुभाव इस प्रकार की अनधिकार चर्चा करते ही रहते हैं।...

'पत्रिका' के इस अंक में प्रकाशित 'पाठ-विकृतियाँ और पाठ-सम्बन्ध-निर्धारण में उनका महत्त्व' लेख तथा 'विचार-विनिमय' शीर्षक के अन्तर्गत 'शोधकार्य की समस्याएँ : विभिन्न प्रतिक्रियाएँ' सभी पठनीय और मननीय हैं—खासकर भाई डॉ० वासुदेवशरण के विचार···। यहाँ भी वही बात है—'कथनी और करनी' में अन्तर; पर बड़ों की बातें कही नहीं जातीं। देख-सुनकर रह जाना पड़ता है...।

कुआँवाली गली, मथुरा —जवाहरलाल चतुर्वेदी

[२]

'परिषद्-पत्रिका' (वर्ष ३, अंक ४) में प्रकाशित प्रो० (अब डॉक्टर) श्रीगोपाल राय का निबन्ध 'हिन्दी में कोश-निर्माण की समस्याएँ' वस्तुतः बहुत ही विचारोत्तेजक एवं दिशा-निर्देशक प्रतीत हुआ। उपयोगिता की दृष्टि से भी, यह अविस्मरणीय है। कोश साहित्य के अनन्य सहायक होते हैं। डॉ० राय के इस कथन से कि 'कोशग्रन्थ किसी भी भाषा की समृद्धि के वास्तविक मानदंड होते हैं', शायद ही किसी को असहमति हो। मेरा तो यह अभिमत है कि कोश के अभाव में किसी भी साहित्य को ठीक-ठीक समझा ही नहीं जा सकता। यह बात दूसरी है कि कोश ऐतिहासिक साहित्य का आधार नहीं हो सकता, पर ऐतिहासिक साहित्य को समझने में सहायता तो पहुँचा ही सकता है। अँगरेजी-भाषा में कोशों का आधिक्य अँगरेजी-भाषा और उसके साहित्य को समझने में अपूर्व सहायता देता है। हिन्दी में आदर्श कोशों का अभाव निश्चय ही चिन्ता का विषय है। विद्वान् लेखक ने कोश-निर्माण की बहुकोणात्मक समस्या पर ठीक ही प्रकाश डाला है; साथ ही उन्होंने हिन्दी के उपलब्ध कोशों का ऐतिहासिक विवेचन करते हुए अपने अमूल्य सुझाव भी रखे हैं।

वस्तुतः, कोशों का प्रकाशन अत्यन्त दुष्कर कार्य है। दुष्करता सामग्री-जन्य तो है ही, अर्थजन्य भी है। यही कारण है, व्यक्तिविशेष द्वारा सर्वांगीण कोश का प्रकाशन सम्भव नहीं। संस्थाएँ सुकरतापूर्वक इस कार्य को सम्पन्न कर सकती हैं और उन्हें करना भी चाहिए। डॉ० राय ने नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी), बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

(पटना) जैसी संस्थाओं का उदाहरण दिया है, यह भी ठीक ही है। पर, कोश-निर्माण अथवा प्रकाशन में संस्थाओं को पूर्वाग्रहमुक्त होकर कार्य करना चाहिए। नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी-विश्वकोश' की समालोचना (प्रो० गुरुप्रसाद द्वारा लिखित; द्रष्टव्य : 'नईधारा', वर्ष १३, अंक ७, अक्टूबर, १९६२ ई०) देख लेने पर संस्थाओं के प्रति सन्देह भी अंकुरित होते हैं। शब्दचयन, उच्चारण, व्युत्पत्ति, शब्दपरिचय, शब्देतिहास, सोदाहरण अर्थ, मुहावरे आदि का वैज्ञानिक विवेचन तो कोशों में होना ही चाहिए। हिन्दी के अधिकांश कोश इस प्रकार के नहीं हैं; फलतः हिन्दी-पाठकों की कठिनाइयाँ तो कम नहीं होतीं, अहिन्दी-भाषाभाषी को भी विशेष सहायता नहीं मिल पाती। प्रामाणिकता तथा सम्पादन-क्रम में एक मानदंड पर ध्यान देना प्रत्येक कोश-सम्पादक अथवा सम्पादक-मंडल का अपरिहार्य दायित्व है। डॉ० राय ने हिन्दीसेवी-संसार-कार्यालय, लखनऊ से प्रकाशित 'हिन्दी-साहित्यकार-कोश' ('हिन्दीसेवी-संसार' का परिवर्त्तित-परिवर्द्धित संस्करण) का उल्लेख नहीं किया है, जिसमें न तो प्रामाणिकता पर सम्पादक महोदय ने विशेष ध्यान दिया है और न सम्पादन-क्रम में एक मानदंड को ही व्यवहृत किया है। ऐसे कोश यदि सहायता की अपेक्षा भ्रम फैलायें, तो क्या आश्चर्य! संस्था-विशेष अथवा व्यक्ति-विशेष द्वारा प्रकाशित ऐसे कोशों पर तो पुनर्विचार होना ही चाहिए, साथ ही इनसे प्रेरणा लेकर ही कोश-निर्माण अथवा प्रकाशन के कार्य में दत्तचित्त होना चाहिए। यों, हिन्दी-साहित्य में विविध विधाओं के पृथक्-पृथक् कोश (यथा : हिन्दी-उपन्यासकोश, हिन्दी-नाटककोश, हिन्दी-कहानीकोश, हिन्दी-काव्यकोश, हिन्दी-निबन्ध-कोश आदि) उपलब्ध हो जायँ, तो इससे बढ़कर गौरव की बात क्या हो सकती है। पर, मेरा विनम्र निवेदन है कि इन कोशों के निर्माण और प्रकाशन में बहुत शीघ्रता नहीं की जानी चाहिए।

किसान-कॉलेज
सोहसराय (पटना)

—डॉ० स्वर्णकिरण

[३]

हिन्दी-साहित्यकोश (भाग २)[1] सद्यःप्रकाशित (आश्विन, संवत् २०२०) एक सन्दर्भ-ग्रन्थ है, जिसके निर्माण में वर्षों का समय लगा है, लाखों रुपये व्यय हुए हैं और अनेक मूर्द्धन्य विद्वानों का श्रम-सहयोग विनियोजित हुआ है। फिर भी, इस कोश में न तो शब्दों की एकरूपता का निर्वाह हो पाया है और न भाषा की। नामों का चयन भी निराधार-सा प्रतीत होता है। इसमें जितनी प्रकार की अशुद्धियाँ हैं, सबका परिगणन श्रमसाध्य और पांडित्यापेक्षी है। मैंने यहाँ कुछ साहित्यकारों के परिचयों से अशुद्ध विवरण संगृहीत किये हैं। आशा है, कोश के भावी संस्करण में इन त्रुटियों का परिमार्जन होगा और ऐसे ग्रन्थों के द्वारा हम हिन्दी-विरोधिनी शक्तियों को प्रहार और उपहास के अन्य अवसर नहीं देंगे।

---

१. ज्ञानमण्डल प्रा० लि०, वाराणसी द्वारा प्रकाशित।

मैंने इस सन्दर्भ में जान-बूझकर उन्हीं साहित्यकारों को चुना है, जिनके सम्बन्ध में व्यक्तिगत रूप से अधिक जानता हूँ। आशा है, अन्य विद्वान् दूसरों के सम्बन्ध में भी, यदि अशुद्धियाँ हों तो, निर्देश करेंगे।

(क) श्रीअयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की मृत्यु सन् १९४१ ई० में बताई गई है।[1] वस्तुतः, 'हरिऔध' जी की मृत्यु सन् १९४७ ई० के छह मार्च को हुई थी। हरिऔधजी की निधन-तिथि कई पुस्तकों में कई तरह की मिली।[2]

(ख) डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा की पुस्तक 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' की चर्चा करते हुए कोष्ठ में (सन् १९५२ ई०) लिखा गया है।[3] यह न तो उक्त पुस्तक का रचनाकाल है और न प्रकाशन-काल। इसका प्रकाशन सं० २००० (सन् १९४३ ई०) में हुआ था। आमुख में दी गई तिथि १३-९-१९४३ है। यह टिप्पणी सम्पादक-मंडल के किसी सदस्य द्वारा लिखी गई है।

(ग) श्रीजनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' की जन्मतिथि सन् १६०४ ई० बताई गई है।[4]

'द्विज' जी जीवित हैं और हम जानते हैं कि वे ३६० वर्षों के नहीं हुए। फिर, '१६०४ ई०' को जन्मतिथि कैसे माना जाय; जन्मवर्ष कहा जाय, तो एक बात हुई। उसी टिप्पणी में आगे लिखा गया है—"१९३३ में 'अनुभूति' नाम से प्रथम काव्य-संग्रह तथा प्रेमचन्द पर एक समीक्षात्मक ग्रन्थ 'प्रेमचन्द की उपन्यास-कला' नाम से प्रकाशित हुआ।" वाक्य से भ्रम होता है कि दोनों पुस्तकें एक ही वर्ष प्रकाशित हुईं।

(घ) **डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' के परिचय[5] में लिखा हुआ है कि वे 'बिहार विधान-परिषद्' के अध्यक्ष हैं;** पर वस्तुतः वे 'बिहार विधान-सभा' के अध्यक्ष हैं।

इनकी जन्मतिथि १८ जनवरी, सन् १९०८ ई० बताई गई है, किन्तु डॉ० प्रेम-नारायण टंडन द्वारा सम्पादित एक दूसरे सन्दर्भ-ग्रन्थ[6] के अनुसार 'सुधांशु' जी का जन्म सन् १९०६ ई० के १२ दिसम्बर को हुआ था। दोनों में कोई एक ही तिथि शुद्ध होगी।

(ङ) श्रीकेदारनाथ मिश्र 'प्रभात' की एक कृति 'तप्तगीत' (प्रबन्ध, पटना-विश्वविद्यालय) का उल्लेख हुआ है।[7]

शायद, यह 'तप्तगीत' 'प्रभात' जी का 'तप्तगृह' है। फिर, 'प्रबन्ध, पटना-विश्व-विद्यालय' का क्या अर्थ? पटना-विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में उक्त पुस्तक रही है, पर

---

१. पृ० २०, टिप्पणी-लेखक : र० भ्र० (डॉ० रवीन्द्र भ्रमर)।
२. सं० २००२ ('आधुनिक कवियों की काव्य-साधना', पृ० ९९), सन् १९४७ ई० (६ मार्च); 'हिन्दी और उसके कलाकार' (पृ० ३११)।
३. पृ० १९८, 'आधुनिक कवियों की काव्य-साधना'—सं०।
४. पृ० १९१, टिप्पणी-लेखक : ल० का० व० (श्रीलक्ष्मीकान्त वर्मा)।
५. पृ० ५१५, टिप्पणी-लेखक : दे० शं० अ० (डॉ० देवीशंकर अवस्थी)।
६. हिन्दी-साहित्यकार-कोश : डॉ० प्रेमनारायण टंडन, पृ० ३४४ (विद्यामन्दिर, रानीकटरा, लखनऊ-३)।
७. पृ० १०१, टिप्पणी-लेखक : श्री० सिं० क्षे० (श्रीपाल सिंह 'क्षेम')।

टिप्पणी पढ़कर यह भ्रम होता है कि यह पटना-विश्वविद्यालय के निमित्त प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध है।

'ऋतंवरा' के परिचय से भी नहीं मालूम होता कि यह शोध-प्रबन्ध है या प्रबन्ध-काव्य। टिप्पणी-लेखक के अनुसार, **'प्रभात' जी प्रशासकीय सेवा-विभाग में रहकर साहित्य-साधना करते रहे हैं।** पर 'प्रशासकीय सेवा-विभाग' क्या है? वे पुलिस-विभाग में अवश्य एक उच्चपदस्थ अधिकारी रहे हैं, पर 'पुलिस' का अनुवाद 'प्रशासकीय सेवा' तो नहीं होता।

(च) स्व० शिवपूजन सहायजी के परिचय में जहाँ उनके द्वारा जीविकार्थ किये गये अन्य कार्यों का उल्लेख है,[1] इसकी कोई चर्चा नहीं है कि वे राजेन्द्र-कॉलेज, छपरा में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष थे। वस्तुतः, यह उनके साहित्यकार का एक बहुत बड़ा सम्मान था। पटना-विश्वविद्यालय ने पहली बार स्वयंनिर्धारित न्यूनतम योग्यता के मानदंड का उल्लंघन कर अपना गौरव-वर्द्धन किया था। उसी टिप्पणी में यह भी लिखा गया है कि **इनके संस्मरण में बिहार से 'स्मृति-ग्रन्थ' प्रकाशित हुआ है।** जहाँतक मुझे मालूम है, ऐसा कोई ग्रन्थ अबतक नहीं निकला है। उनके जीवन-काल में ऐसी एक योजना अवश्य बनी थी, किन्तु कुछ कारणों से वह ग्रन्थ अबतक नहीं निकल पाया। यह टिप्पणी जीवन-काल में ही लिखी गई होगी, **चूँकि इसमें सहायजी की मृत्यु का उल्लेख नहीं हैं; जब कि नेपाली आदि की मृत्यु का उल्लेख है।**

(छ) स्व० म० म० श्रीरामावतार शर्मा के परिचय के क्रम में **बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् को बिहार-राज्यभाषा-परिषद्** लिखा गया है। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् जैसी संस्था के सही नाम से अपरिचित होना ऐसे सन्दर्भ-ग्रन्थ के टिप्पणी-लेखक के प्रति अनादर का भाव उत्पन्न करता है।

टिप्पणी के नीचे 'श्री० व०' लिखा हुआ है; पर कोश के प्रारम्भ में दी गई लेखक-सूची से यह पता नहीं चलता कि ये 'श्री० व०' कौन हैं।[2]

(ज) डॉ० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल का परिचय भी इन्हीं 'श्री० व०' ने लिखा है।[3] उनके अनुसार, **डॉ० अग्रवाल का जन्म सन् १९०४ ई० में हुआ और सन् १९९० ई० तक मथुरा के पुरातत्त्व-संग्रहालय के अध्यक्ष-पद पर रहे।**

सन् १९९० ई० अभी आने को ही है। यदि इसे मुद्रण-दोष मानें, तो किन संख्याओं का? 'हिन्दी-साहित्यकार-कोश' (डॉ० प्रेमनारायण टंडन) के अनुसार वे मथुरा के पुरातत्त्व-संग्रहालय में सन् १९३१—३९ ई० तक रहे।[4] '३१' या '३९' के बदले कोई 'मुद्राराक्षस' '९०' लिख देगा, ऐसा असम्भव प्रतीत होता है। उसी टिप्पणी के अनुसार, **'शृंगार-हाट' का सम्पादन आपने डॉ० मोतीलाल के साथ किया है।** पर, वस्तुतः

---

१. पृ० ५६१, टिप्पणी-लेखक : र० भ्र० (डॉ० रवीन्द्र भ्रमर)।
२. पृ० ४९८, टि० ले०—'श्री० व०' (?)
३. पृ० ५२७, टि० ले०—'श्री० व०'।
४. हि० सा० कोश : डॉ० प्रे० ना० टंडन, पृ० ३५३।

डॉ० अग्रवाल के सहकारी सम्पादक डॉ० मोतीचन्द्र (क्यूरेटर, बम्बई-म्यूजियम) हैं। दोनों ही जीवित हैं और 'शृंगार-हाट' भी बाजार में उपलब्ध है।

इसी कोश में डॉ० मोतीचन्द्र के परिचय में उन्हें 'शृंगार-हाट' का सह-सम्पादक बताया गया है। (पृ० ४२९)

(झ) **स्व० गोपाल सिंह 'नेपाली' का जन्म सन् १६०२ ई० का बताया गया है।**[1] यह भी अशुद्ध है। 'नेपाली' 'वियोगी', 'द्विज' और 'दिनकर' से छोटे थे। 'हिन्दीसेवी-संसार' (द्वितीय संस्करण, १९५१) में उनका जन्म-वर्ष सन् १९०६ ई० दिया हुआ है!!

(ञ) श्रीनलिनीमोहन सान्याल के सम्बन्ध में लिखा गया है कि ८२ वर्ष की आयु में उन्होंने पी-एच्० डी० की उपाधि प्राप्त की थी।[2] यह भी अशुद्ध है। सम्भवतः, उन्होंने ५२ वर्ष में उपाधि प्राप्त की थी, नहीं तो ८२ में तो कतई नहीं।

(ट) श्रीप्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' के परिचय[3] में न जन्म-संवत् है और न उनकी सभी कृतियों का उल्लेख, जबकि सम्पादक का दावा है कि 'लेखकों की टिप्पणियों में उनकी सभी रचनाओं की चर्चा तथा विवेचन है' (भूमिका)। 'मुक्त' जी का यह परिचय पढ़कर यह भी पता नहीं चलता कि वे जीवित हैं या मृत। उनकी आकाशवाणी-सेवा का भी कोई उल्लेख नहीं है। लगता है, परिचय दशकों पूर्व का लिखा हो।

(ठ) श्रीफूलदेव सहाय वर्मा के परिचय में बताया गया है कि काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण करने के बाद 'बिहार-प्रदेश में महाविद्यालयों के निरीक्षक नियुक्त हुए।' वस्तुतः, श्रीवर्मा 'बिहार-विश्वविद्यालय' में महाविद्यालयों के निरीक्षक नियुक्त हुए; और उस समय भी बिहार-विश्वविद्यालय का क्षेत्र सम्पूर्ण बिहार नहीं था, यद्यपि तब का बिहार-विश्वविद्यालय-क्षेत्र आज से बड़ा अवश्य था।

(ड) सबसे मजेदार है 'भूल-सुधार'[4] के अन्तर्गत दी गई यह टिप्पणी— "पृ० ६१६ में पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की निधन-तिथि छूट गई है। उनका निधन अक्टूबर, सन् १९६१ ई० में, प्रयाग में हुआ था।"

'अक्टूबर, सन् १९६१ ई०' निराला का निधन-मास है, निधन-तिथि नहीं। क्या प्रयाग के व्यक्तियों द्वारा सम्पादित इस कोश में 'निराला' की सही निधन-तिथि नहीं दी जा सकती थी?

पटना-विश्वविद्यालय **—प्रो० शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव**

---

१. पृ० १३८, टिप्पणी-लेखक : श्री० सिं० क्षे० (श्रीपाल सिंह 'क्षेम')।
२. पृ० २७१, टि० ले०—सं०।
३. पृ० ३२६, टि० ले०—सं०।
४. पृ० ३३६, टि० ले०—सं०।
५. पृ० ६६४, टि० ले०—सं०।

मधु-संचय

श्रद्धा, साधक और भगवान्

श्रद्धा-आस्था चार प्रकार की होती है। मानसिक श्रद्धा सन्देहों के साथ टकराती और लड़ती रहती है और उच्च ज्ञान के प्रति उन्मुक्त होने में सहायता प्रदान करती है। प्राणमय श्रद्धा विरोधी शक्तियों के आक्रमण को अवरुद्ध करती अथवा उन्हें पराजित करती है और सच्ची आध्यात्मिक इच्छाशक्ति तथा कर्मों के प्रति उन्मुक्त होने की दिशा में सहायक होती है। शारीरिक श्रद्धा तमस्, जडता और दुःखमय स्थितियों में साधक को अविचल रखती है और वास्तविक चेतना के प्रति उन्मुक्त होने में सहायता पहुँचाती है। चैतन्य श्रद्धा प्रभु का प्रत्यक्ष स्पर्श प्राप्त करने की ओर साधक को प्रवृत्त करती है और एकता तथा आत्मसमर्पण की साधना में सहायभूत होती है।

× × ×

श्रद्धा अनुभव पर आधार नहीं रखती। अनुभव होने के पहले ही वह मानव के अन्तस्तल में विद्यमान रहती है। जब कोई साधना शुरू की जाती है, तब वह सामान्यतः अनुभूति के बल पर नहीं; बल्कि श्रद्धा के ही बल पर की जाती है। केवल योग में या आध्यात्मिक जीवन में ही नहीं, सर्वसामान्य जीवन में भी प्रायः ऐसा होता है। सभी कर्मवीर पुरुष शोधक, अन्वेषक, ज्ञान के विधायक श्रद्धा-इच्छाशक्ति के बल पर ही आगे बढ़ते हैं और प्रमाण नहीं मिलता कि जबतक निर्दिष्ट ध्येय की सिद्धि नहीं होती, तबतक निराशा, निष्फलता, प्रमाणाभाव और अस्वीकृति होने पर भी वे अपनी मंजिल पर निरन्तर आगे बढ़ते रहते हैं; क्योंकि उनके अन्तर्निहित कोई वस्तु, कोई शक्ति उन्हें कहती है कि यह सत्य है, इस वस्तु को सिद्ध करना चाहिए।

× × ×

प्रभु के प्रति हमारा विश्वास जितने परिमाण में होगा, उतने ही परिमाण में निःसन्देह भगवत्कृपा कार्य कर सकेगी और तदनुसार हमें सहायता भी प्रदान कर सकेगी। प्रभु की कृपा के विना किसी के लिए साधना करना सम्भव नहीं। प्रभु का अनुग्रह काम करने के लिए सदैव तत्पर रहता है; परन्तु साधक को उसे अपना काम करने देना चाहिए, उसके कार्य का विरोध न करना चाहिए। जिस महत्त्वपूर्ण अवस्था की आवश्यकता है, वह है श्रद्धा। यह बात सदैव स्मृति-पट पर अंकित रखो कि साधक अकेला या असहाय नहीं है; प्रभु उसके साथ है और सदैव उसे सहायता तथा मार्ग-दर्शन प्रदान करता रहता है। भगवान् एक ऐसा सच्चा साथी है, जो कभी किसी अवस्था में भी साथ नहीं छोड़ता। प्रभु ऐसा परम मित्र है, जिसका प्रेम साधक को आश्वासन और बल प्रदान करता है। भगवान् के प्रति श्रद्धा और विश्वास से ओतप्रोत रहो और देखो कि वह सब कुछ ठीक कर लेगा।

—श्री० माताजी

['श्रीवेंकटेश्वर समाचार' (बम्बई), ७ फरवरी, १९६४ ई०]

०

हिन्दी में शोधकार्य

हिन्दी-साहित्य तथा भाषा के अध्ययन-क्षेत्र में शोध की समस्याओं को लेकर अन्य अनेक प्रकार की समस्याएँ भी प्राय: हमारे सामने आती रहती हैं। शोध की समस्याओं के सम्बन्ध में प्राय: बहुमुखी दृष्टियों से विचार किया जाता है; यथा—शोध-छात्र, शोध-विषय, शोध-निदेशक, शोध-संस्थान आदि। इन सारी समस्याओं पर विचार करने के मूल में एक ही बात सन्निहित है। वह यह कि क्रमश: हिन्दी में शोधकार्य तथा अन्वेषण की दिशा दिन-प्रतिदिन हीनता की ओर क्यों अभिमुख होती जा रही है और उसे कुछ दृष्टियों से शोध की मर्यादा के अनुकूल भी नहीं कहा जा सकता। विश्वविद्यालयों में शोध-छात्रों की बाढ़-सी आ गई है और सम्भवत: वे शोध की प्रक्रिया तथा महत्ता से अपरिचित होते हुए भी शोधकार्य में सन्निविष्ट हो जाते हैं। हिन्दी के सद्य:प्रकाशित कई ऐसे शोध-प्रबन्धों को देखने से यह चिन्त्य-सा प्रतीत होता है कि इसमें शोध की मूल आत्मा ही नष्टप्राय है। कुछ शोध-प्रबन्ध तो हमारे देखने में ऐसे भी आये हैं, जो विविध पुस्तकों से गृहीत नोटों के गुम्फन के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। इसलिए, प्रश्न यह है कि क्या इसी प्रकार के अध्ययन को शोध की सीमा में परिगणित किया जा सकता है?

हिन्दी या भारतीय भाषाओं में शोधकार्य पश्चिम के विश्वविद्यालयों की अनुकृति पर होता है। आश्चर्य की बात है कि प्रारम्भ में विविध विषयों से सम्बद्ध कुछ भारतीय विद्वानों ने जो शोधकार्य बाहरी देशों में जाकर किया, स्वदेश में उसकी मान्यता मिल जाने पर भी आज वह मानदंड प्रभावशाली नहीं बन पाया, जिसकी परम्परागत अपेक्षा थी। पश्चिम की परम्परा में शोध की जो एक वैज्ञानिक मर्यादा है, उसका पालन भारतीय विश्वविद्यालयों में कई दृष्टियों से नहीं हो पा रहा है और इस दिशा में हिन्दी तो उससे अंशत: अपरिचित-सी ही है। इसके कई कारण हैं: प्रथम यह कि शोध-छात्र, शोधकर्म में अध्ययन की स्वस्थ परम्परा से प्रभावित होकर आते हैं। निश्चित रूप से उन्हें जीवन-क्षेत्र में व्यवस्थित होने की कामना रहती है और इस प्रकार की अव्यवस्था में प्राय: शोध-छात्र भटकने के समय से बचने के लिए शोध को माध्यम चुन लेता है। उसे इससे बढ़कर आरक्षक कुछ दृष्टियों से और कोई अन्य कार्य नहीं मिल पाता। यह कारण नितान्त स्वाभाविक है। एक मध्यवर्गीय परिवार के छात्र का इतने अध्यवसाय और द्रव्यसाध्य कार्य के सम्पन्न करने का साहस छूट जाता है। यदि वह लड़खड़ाते-लड़खड़ाते अपने कार्य को सम्पादित कर भी लेता है, तो उसे उसमें उस मनोयोग की कार्यस्थिति नहीं मिलती, जिसकी उस उपयोगी क्षेत्र में आज भी उच्चतम महत्ता बनी हुई है।

विश्वविद्यालयों की व्यवस्था के परिणामस्वरूप शोध-निदेशकों का निर्वाचन, उनकी रुचि-वैविध्य के कारण भी असंगतियाँ उपलब्ध कर देता है। प्राय: ऐसे शोध-निदेशकों के नाम भी सुनने में यदा-कदा आते हैं कि जो विषय से नितान्त अपरिचित होते हैं, फिर भी वे उस विषय में कतिपय छात्रों का निर्देशन करते हैं। स्वाभाविक है कि इसका परिणाम क्या होगा? छात्र दमघोट एवं अथक परिश्रम से सामग्री-संचयन कर उसका अस्तव्यस्त

रूप खड़ा करके अपने निदेशक की सिफारिश पर शीघ्रातिशीघ्र डॉक्टर बनने की अभिलाषा से युक्त हो जायगा और इस सिफारिश-युग में यह असम्भव भी नहीं है। सामान्यतया विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक, जो प्रायः स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं में अध्यापन करते हैं, शोध-निदेशक होते हैं। कभी-कभी यह भी देखने को मिलता है कि निदेशक विषय के जानकार होते हुए भी समयाभाव और अपने कार्यों के आधिक्य के कारण अपेक्षित ध्यान अपने शोध-छात्रों के प्रति नहीं दे पाते। इसके अतिरिक्त शोध-निदेशक की व्यक्तिगत अभिरुचि का ही अनुमोदन विश्वविद्यालयों में चल रहा है। कभी-कभी निदेशकों द्वारा पूर्ण विवेचना के विना विषयों के न चुने जाने के कारण उनकी उपयोगिता एवं सम्भावनाओं की उपलब्धियों के समक्ष एक प्रश्नचिह्न खड़ा हो जाता है। शोधकर्त्ता कभी-कभी इतने व्यापक विषय पर कार्य करते हुए देखे जाते हैं, जिनपर अनेक वर्षों तक कार्य करने की आवश्यकता है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में वे क्या करेंगे ?

ऐसी विषम परिस्थिति में मेरा व्यक्तिगत अभिमत तो यह है कि विश्वविद्यालयों में कम-से-कम उच्च द्वितीय श्रेणी के विद्यार्थियों को ही शोधकार्य की अनुमति दी जानी चाहिए। शोधकार्य के पूर्व उन्हें शोधपद्धति-सम्बन्धी परीक्षा पास करनी चाहिए। इसके लिए सर्वत्र नियम बना दिया जाय। सम्प्रति यह प्रणाली दिल्ली-विश्वविद्यालय में कार्यान्वित है। इस परीक्षा के दो सत्रों में छात्र एक वर्ष तो शोध-पद्धतियों का अनुशीलन करें और दूसरे सत्र में प्रस्तावित विषय पर समस्त स्रोतों का अनुशीलन। तब सम्भवतः भविष्य में उनका कार्य अधिक गम्भीरता से हो सकता है। शोध-छात्र को अधिकाधिक आर्थिक सुविधा शोध-छात्रवृत्ति के रूप में मिलनी चाहिए। इसके लिए सम्बद्ध संस्थाओं और सरकार की सहायता की आवश्यकता है। शोध-निदेशकों के सन्दर्भ में यह बात अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होती है कि उनकी संख्या भी सीमित कर दी जाय और कुछ विशिष्ट प्राध्यापक, जो भारतीय प्राच्यविद्या के साथ आधुनिक भारतीय साहित्य की कतिपय विद्याओं का अच्छी तरह से अनुशीलन किये हुए हों, उनको यह पद प्रदान किया जाय और विषय की दृष्टि से निदेशक अन्तर्विश्वविद्यालय स्तर पर परिवर्त्तनशील हों।

प्रायः देखने में आता है कि कई विश्वविद्यालयों में एक ही साथ लगभग एक ही विषय पर शोधकार्य चल रहे हैं। इस प्रकार की पुनरावृत्ति से बचने और अन्य व्यापक विषयों के चुनाव को ध्यान में रखकर विश्वविद्यालयों की ओर से अपनी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में प्रत्येक सत्र में होनेवाले शोधकार्य का विवरण प्रकाशित किया जाना चाहिए और व्यापक स्तर पर उनमें परिवर्त्तन भी विशिष्ट विभागों के माध्यम से होते रहना चाहिए। इस प्रकार के रचनात्मक माध्यमों से ही हिन्दी-शोध की गति उन्नत हो सकती है।

—सम्पादकीय ['सम्मेलन-पत्रिका' (प्रयाग); भाग ४९, संख्या २, चैत्र—ज्येष्ठ, शका० १८८५]

❁❁

परिषद् के गौरव-ग्रन्थ

साहित्य और संस्कृति

१. **श्रीरामावतार शर्मा-निबन्धावली** : ले० *म० म० श्रीरामावतार शर्मा* : स्वर्गीय शर्माजी अपनी प्रकांड विद्वत्ता के लिए विख्यात थे। इस पुस्तक में उनके ३८ महत्त्वपूर्ण निबन्धों का संग्रह है। पृ० सं० ३३६। मूल्य ८.७५।

२. **वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति** : ले० *महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधर शर्मा चतुर्वेदी* : भारतीय संस्कृति तथा वैदिक रहस्यों की गुत्थियों को सुलझानेवाला अपने विषय का यह एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है। पृ० सं० ३२६। मूल्य ५.००। **भारत-सरकार की साहित्य-अकादमी द्वारा पुरस्कृत।**

३. **कथासरित्सागर** : मूल ले० *महाकवि सोमदेवभट्ट*; अनु० *स्वर्गीय पंडित श्रीकेदारनाथ शर्मा सारस्वत* : दो खंड प्रकाशित। तीसरे खंड की प्रतीक्षा करें। प्रथम खंड के प्रारम्भ में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की लिखी २६ पृष्ठों की विद्वत्तापूर्ण भूमिका। प्राचीन कथा-ग्रन्थ के मूल संस्कृत-श्लोकों के साथ सरल हिन्दी-अनुवाद। प्रथम खंड की पृ० सं० ८४१। मूल्य १०.००। द्वितीय खंड की पृ० सं० १०१४। मूल्य १२.५०।

४. **दोहाकोश** : मूल रच० *सिद्ध सरहपाद*; हिन्दी-छायानुवादक तथा सम्पा० *महापंडित श्रीराहुल सांकृत्यायन* : इस पुस्तक में सरहपाद की उन रचनाओं का संग्रह है, जिनका श्रीराहुलजी ने तिब्बती भोट-भाषा से पुनः हिन्दी-छायानुवाद किया है। इसमें सरहपाद की कुछ मूल रचनाओं के उदाहरण भी दिये गये हैं। पृ० सं० ५५८। मूल्य १३.२५।

५. **हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन** (द्वितीय संस्करण) : ले० *डॉ० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल* : यह पुस्तक महाकवि बाणभट्ट के प्रसिद्ध ऐतिहासिक संस्कृत-गद्यग्रन्थ के आधार पर लिखी गई है। महाकवि बाण ने अपने समय के राजा, राजदरबार वैभव, सामाजिक अवस्था, महोत्सव, सेना-संचालन, गृहशिल्प आदि विषयों का बड़े ही सरस ढंग से वर्णन किया है, जिसका हिन्दी में आकर्षक और रोचक शैली में विद्वान् लेखक ने चित्र खड़ा कर दिया है। दो तिरंगे और ११८ इकरंगे ऐतिहासिक चित्र। पृ० सं० ×। मूल्य ९.५०। **भारत-सरकार और उत्तरप्रदेश-सरकार द्वारा पुरस्कृत।**

६. **काव्यमीमांसा** : मूल ले० *महाकवि राजशेखर* : अनु० *स्वर्गीय पं० श्रीकेदारनाथ शर्मा सारस्वत* : संस्कृत-साहित्य में इस पुस्तक का बहुत बड़ा सम्मान है। इसमें संस्कृत के मूल श्लोकों के साथ हिन्दी-अनुवाद दिया गया है। प्रारम्भ में अनुवादक ने २१ पृष्ठों में राजशेखर का और ३५ पृष्ठों में मूल संस्कृत-ग्रन्थ का आलोचनात्मक परिचय दिया है। पृ० सं० ४५०। मूल्य ९.५०।

७. **शिवपूजन-रचनावली** (चार खंडों में) : ले० *आचार्य श्रीशिवपूजन सहाय* : इन पुस्तकों के लेखक शब्दशिल्पी और शैलीकार के रूप में सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् में विख्यात हैं।

उन्हीं आचार्य सहायजी की समस्त प्रकाशित रचनाओं का चार खंडों में यह अभूतपूर्व संग्रह हिन्दी-जगत् के लिए एक अनुकरणीय परम्परा है। प्रथम खंड पृ० सं० ४२६। मूल्य ८·७५। द्वितीय खंड पृ० सं० ४७२। मूल्य ९·००। तृतीय खंड पृ० सं० ५२०। मूल्य १०·००। चतुर्थ खंड पृ० सं० ६६६। मूल्य ८·५०।

८. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन : ले० *आचार्य श्रीविनयमोहन शर्मा :* महाराष्ट्र के जिन प्राचीन सन्तों ने पुरानी हिन्दी में अपनी अमरवाणियों की रचना करके राष्ट्रभाषा हिन्दी को गौरवान्वित किया है, उन्हीं प्रमुख सन्तों की वाणियों, विचारों और भावों का अपूर्व संग्रह। पृ० सं० ५२०। मूल्य ११·२५।

९. रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना : ले० *डॉ० श्रीभुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' :* यह पुस्तक रामभक्ति-साहित्य के अन्तर्गत मधुर उपासकों, रसिक सन्तों और महात्माओं तथा उपासना-साहित्य का विशद परिचय प्रस्तुत करती है। यह अपने विषय पर बड़ी ही रोचक शैली में लिखित एक प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थ है। रसिक सन्तों के चुने हुए पदों का संग्रह भी दिया गया है। पृ० सं० ४७०। मूल्य १०·२५।

१०. दक्खिनी हिन्दी-काव्यधारा : ले० *महापंडित श्रीराहुल सांकृत्यायन :* इस पुस्तक के द्वारा महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने सिद्ध कर दिया है कि दक्खिन के मुसलमान कवि ही खड़ी बोली के आदिकवि हैं। ऐसे ३६ कवियों की जीवनचर्चा उनके पदों के साथ इस पुस्तक में संगृहीत है। पृ० सं० ३६९। मूल्य ६·००।

११. सन्तकवि दरिया—एक अनुशीलन : ले० *डॉ० श्रीधर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री :* इसमें सन्तकवि दरिया के अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों का शोध-समीक्षा की दृष्टि से मूल्यांकन किया गया है। अपने ढंग की शोधपूर्ण पुस्तक। पृ० सं० ५००। मूल्य १४·००।

१२. सन्तमत का सरभंग-सम्प्रदाय : ले० *डॉ० श्रीधर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री :* सरभंग-सम्प्रदाय के ऊपर यह पहली और अकेली पुस्तक है। सरभंग-पन्थ का दूसरा नाम औघड़-पन्थ भी है। पुस्तक में सरभंगी सन्तों और उनके मठों के परिचय के साथ परिशिष्टों में उनके पदों का भी संकलन किया गया है। पृ० सं० २७८। मूल्य ५·५०।

१३. जातक-कालीन भारतीय संस्कृति : ले० *पंडित श्रीमोहनलाल महतो 'वियोगी' :* जातक-कहानियों में वर्णित विषयों के आधार पर विद्वान् लेखक ने भारतीय संस्कृति का मूल्यांकन किया है। पृ० सं० ४१०। मूल्य ६·५०।

१४. हिन्दू-धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ : ले० *श्रीत्रिवेणीप्रसाद सिंह, आइ० सी० एस्० :* प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दू-धार्मिक कथाओं की लौकिक व्याख्याओं का स्पष्टीकरण, प्रामाणिकता के साथ, प्रतिपादित किया है। पृ० सं० ६२२। मूल्य ३·००।

१५. नीलपंछी (नाटक) **:** मूल ले० *मॉरिस मैटरलिंक अनु० : डॉ० श्रीकामिल बुल्के :* यह एक प्रसिद्ध फ्रेंच-नाटक का हिन्दी-अनुवाद है। पृ० सं० ८०। मूल्य २·५०।

१६. चतुर्दश लोकभाषा-निबन्धावली : यह पुस्तक भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत १४ प्रमुख भाषाओं के अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखित और परिषद् के विभिन्न वार्षिकोत्सवों में पठित १४ निबन्धों का संग्रह है। पृ० सं० १८४। मूल्य ४.२५।

१७. पंचदश लोकभाषा-निबन्धावली : इस उपयोगी और महनीय पुस्तक में निम्मांकित विभिन्न क्षेत्रों की १५ लोकभाषाओं (मैथिली, मगही, भोजपुरी, अंगिका, नागपुरी, सन्ताली, उरांव, हो, अवधी, बैसवाड़ी, ब्रजभाषा, राजस्थानी, निमाड़ी, छत्तीसगढ़ी और नेपाली) और उनके साहित्य का शोधपूर्ण प्रामाणिक परिचय अधिकारी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रन्थ भाषाविज्ञान के जिज्ञासुओं के लिए संग्रहणीय है। पृ० सं० ३१२। मूल्य ४.५०।

१८. रंगनाथ रामायण : (तेलुगु-रामायण का अनुवाद) मूल-लेखक : *राजा गोनबुद्ध* : अनु० *श्री ए० सी० कामाक्षिराव* : तेलुगु में रंगनाथ रामायण का वही आदर है, जो उत्तर भारत में रामचरितमानस का। यह ग्रन्थ हिन्दी और तेलुगु में सेतु का काम करेगा। पृ० सं० ५०२। मूल्य ६·५०।

१९. गोस्वामी तुलसीदास (पुनर्मुद्रण) : ले० *स्वर्गीय श्रीशिवनन्दन सहाय* : यह पुस्तक सन्त तुलसीदास की प्रथम प्रामाणिक जीवनी है, जो अबतक अप्राप्य थी। पृ० सं० ३७०। मूल्य ५·५०।

२०. सदलमिश्र-ग्रन्थावली : ले० *स्वर्गीय श्रीसदलमिश्र* : यह पुस्तक हिन्दी के आदि गद्यलेखक श्रीसदलमिश्रजी की कृतियों का संग्रह है। इन कृतियों की प्रतिलिपि लन्दन की इम्पीरियल लाइब्रेरी से ली गई थी। पृ० सं० २९८। मूल्य ५·००।

२१. अयोध्याप्रसाद खत्री-स्मारक ग्रन्थ : स्वर्गीय श्रीअयोध्याप्रसाद खत्रीजी ने खड़ी बोली के उन्नयन में युगनिदेशक का काम किया है। इस पुस्तक में खत्रीजी की स्वरचित तथा सम्पादित कृतियों का संग्रह है। पृ० सं० ३२०। चित्र-सं० १५। मूल्य ५·००।

२२. विद्यापति-पदावली (प्रथम खण्ड) : परिषद् के विद्यापति-अनुसन्धान-विभाग द्वारा प्रस्तुत। यह नेपाल-पदावली का परम विश्वसनीय संस्करण है। इसमें आवश्यक शब्द-टिप्पणियों और प्रामाणिक अर्थ के साथ शुद्ध और मान्य पाठभेद दिये गये हैं। आरम्भ में लगभग सवा सौ पृष्ठों की महत्त्वपूर्ण भूमिका भी है। पृ० सं० ५५०। मूल्य ७·५०।

२३. प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण (छह खंडों में) : परिषद् के हस्तलिखित प्राचीन पोथी-अनुसंधान-विभाग द्वारा प्रस्तुत। बिहार-राज्य के विभिन्न भागों में उपेक्षित-से बिखरे पड़े हिन्दी-संस्कृत-साहित्यिकों के विवरण इन छह खंडों में दिये गये हैं। प्रथम खंड पृ० सं० २००। मू० २·५०। तृतीय खंड पृ० सं० १००। मू० १·२५। चतुर्थ खंड पृ० सं० ८२। मू० १·००। पंचम खंड पृ० सं० ८०। मू० १·००। षष्ठ खंड पृ० सं० ×। मू० ×।

२४. काव्यालंकार : आचार्य भामह : भाष्यकार : *प्रो० श्रीदेवेन्द्रनाथ शर्मा* : यह ग्रन्थ काव्य का शास्त्रीय विवेचन-पक्ष उपस्थित करता है और यह संस्कृत-भाषा का अति प्राचीन ग्रन्थ है। शर्माजी ने हिन्दी-ज्ञाताओं के लिए इसका सरल, सुबोध और परिष्कृत भाष्य, पादटिप्पणी के साथ, प्रस्तुत किया है। उच्च कक्षा के विद्यार्थियों और विद्वानों—दोनों के लिए यह परम उपयोगी है। पृ० सं० २७२। मूल्य ५·००।

२५. दरिया-ग्रन्थावली (द्वितीय ग्रन्थ) : सं० डॉ० *श्रीधर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री* : दरिया साहब-लिखित २० ग्रन्थों में से ६ ग्रन्थों—दरियासागर, ग्यानरतन, ग्यानसरोदै, भक्तिहेतु, ब्रह्मविवेक ग्रार ग्यानमूल—का विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों से मिलाकर पाठभेदों के साथ, सम्पादन करके, यह भाग प्रकाशित किया गया है। सन्त-साहित्य का अनुसन्धान करनेवालों के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है। पृ० सं० ४४४। मूल्य ६.५०।

२६. रहस्यवाद : ले० *आचार्य श्रीपरशुराम चतुर्वेदी* : यह रहस्यवाद-जैसे विषय का भारतीय भाषाओं में मौलिक विवेचन करनेवाला सर्वप्रथम ग्रन्थ है। चतुर्वेदीजी जैसे मनीषी चिन्तक के सुदीर्घकालीन अध्ययन एवं अनुभव से प्रसूत यह ग्रन्थ साहित्य, साधना और विचार के क्षेत्र में अपने ढंग का अकेला ही है। पृ० सं० २०१। मूल्य ५.००।

२७. साहित्य-सिद्धान्त : डॉ० *श्रीरामअवध द्विवेदी* : यह नवीन दृष्टिकोण द्वारा भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों का तुलनात्मक विशद अध्ययन एवं सार्वभौम चिन्तन का अजस्र स्रोत प्रवाहित करनेवाला एक महार्घ ग्रन्थ है। विषय के प्रतिपादन के साथ-साथ प्रसादपूर्ण भाषा-शैली में यह ग्रन्थ पाठकों के मन को सदा प्रसन्न और प्रबुद्ध बनाये रखने में पूर्ण सक्षम है। उच्च वर्ग के छात्रों के लिए इसमें साहित्य-सिद्धान्तविषयक नई दिशा का ज्ञान-भाण्डार है। पृ० सं० २०६। मूल्य ५.००।

२८. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि : ले० *म० म० डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज* : इस ग्रन्थ में पूज्यपाद विद्यावयोवृद्ध महर्षिकल्प मनीषी लेखक डॉ० कविराजजी ने, कपिल-कणाद की परम्परा में, लुप्त तथा उपलब्ध विशाल तन्त्र-वाङ्मय में प्राप्त होनेवाली शाक्त दृष्टि का विशद विवेचन किया है। इस विषय पर यह पुस्तक अपने-आप में अद्वितीय है। पृ० सं० ३४१। मूल्य ७.५०।

२९. भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा : ले० *पं० श्रीबलदेव उपाध्याय* : विद्वान् लेखक ने इस ग्रन्थ में 'श्रीराधा' और 'श्रीराधा-तत्त्व' के सम्बन्ध में भारतीय भाषाओं के साहित्य का सप्रमाण गहन अध्ययन, गम्भीर चिन्तन एवं मनन तथा अनुशीलन के फल-स्वरूप सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है। पृ० सं० ५२३। मूल्य १०.५०।

३०. मात्रिक छन्दों का विकास : ले० डॉ० *श्रीशिवनन्दन प्रसाद* : प्रस्तुत ग्रन्थ में मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में प्रयुक्त मात्रिक छन्दों का विश्लेषणात्मक तथा ऐतिहासिक वर्णन किया गया है। विद्वान् लेखक ने शास्त्रोक्त मात्रिक छन्दों की प्रकृति का तुलनात्मक वर्णन वास्तविक काव्य-प्रयोग के आलोक में किया है। पृ० सं० ४४३। मूल्य ८.५०।

३१. हरिचरित (प्रथम खण्ड) : सं० *आचार्य श्रीनलिनविलोचन शर्मा* : यह ग्रन्थ श्रीमद्भागवत की कथा पर आधृत गोस्वामी तुलसीदास के पूर्ववर्त्ती कवि लालचदास की रचना है। पाँच हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर पाठान्तर-सहित यह पुस्तक तैयार की गई है। अवधी-काव्य-परम्परा के अनुसन्धायकों के लिए यह बड़ी ही उपयोगी है। पृ० सं० १३२। मूल्य ३.२५।

सांस्कृतिक पुरातत्त्वेतिहास

१. गुप्तकालीन मुद्राएँ : ले० *स्वर्गीय डॉ० श्रीअनन्त सदाशिव अलतेकर :* डॉ० अलतेकर पुरातत्त्व के अधुनातन लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों में मूर्द्धन्य माने जाते रहे हैं। उनका यह ग्रन्थ न केवल प्राचीन इतिहास-सम्बन्धी विषयों पर प्रकाश डालता है, वरन् गुप्त-कालीन मुद्राओं और लिपियों का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अध्ययन भी प्रस्तुत करता है। पृ० सं० २५० । मुद्राओं के चित्र-फलक २७ । मूल्य ९.५० ।

२. सार्थवाह : ले० *डॉ० श्रीमोतीचन्द्र :* पुस्तक के लेखक प्राचीन भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व के अधिकारी विद्वान् हैं । पुस्तक में प्राचीन भारत की व्यापारपथ-पद्धति पर अनेक प्रमाणों के आधार के साथ विषय का प्रतिपादन किया गया है । इसके अतिरिक्त दो दुरंगे मानचित्र भी प्रस्तुत किये गये हैं । पृ० सं० ३०२ । मूल्य ११.०० । **भारत-सरकार और उत्तरप्रदेश-सरकार द्वारा पुरस्कृत ।**

३. मध्यदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सिंहावलोकन : ले० *डॉ० श्रीधीरेन्द्र वर्मा :* लेखक ने उत्तर भारत के मध्यभाग को मध्यदेश माना है । इस भाग के प्राचीन राज्यों, विद्यापीठों, जनपदों, राजवंशों और प्रजाओं के सामाजिक जीवन की विशेषताओं एवं सभ्यता के उत्कर्ष का रोचक और ज्ञानप्रद विवरण इस पुस्तक में दिया गया है । पृ० सं० १९६ । कई रंगीन मानचित्र और ऐतिहासिक चित्र । मूल्य ७.०० ।

४. भारतीय कला को बिहार की देन : ले० *डॉ० श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसाद सिंह :* मूर्त्तिकला के विकास में बिहार-प्रदेश की कितनी पुरानी और विशिष्ट देन है, इस ग्रन्थ में देखिए । आर्ट पेपर पर १५८ चित्र । पृ० सं० २१९ । मूल्य ७.५० ।

५. प्राङ्मौर्य बिहार : ले० *डॉ० श्रीदेवसहाय त्रिवेद :* विद्वान् लेखक ने वैदिक साहित्य, काव्य, पुराण, महाभारत, बौद्धसाहित्य, जैनसाहित्य तथा आधुनिक शोधों के आधार पर प्राङ्मौर्य-काल के अस्पष्ट और धूमिल इतिहास का विशद विवरण उपस्थित किया है । पृ० सं० २३० । मूल्य ७.२५ ।

६. बौद्धधर्म और बिहार : ले० *पं० श्रीहवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' :* ऐतिहासिक कालक्रमानुसार बौद्धधर्म और बिहार-प्रदेश के २५०० वर्षों के घनिष्ठ सम्बन्ध का प्रामाणिक विवरण यह पुस्तक उपस्थित करती है । बौद्धकालीन कला, शिल्प, साहित्य आदि का विवरण पुरातत्त्व के आधार पर विस्तार से दिया गया है । पृ० सं० ४१२ । आर्ट पेपर पर ७७ ऐतिहासिक चित्र । मूल्य ८.०० । **बिहार-सरकार द्वारा पुरस्कृत ।**

७. पतंजलिकालीन भारत : ले० *डॉ० श्रीप्रभुदयाल अग्निहोत्री :* यह यथार्थतः एक व्यापक तथा बहुमूल्य शोधग्रन्थ है । इसमें पतंजलि के महाभाष्य के आधार पर भारतवर्ष का सर्वांगीण शब्दचित्र प्रस्तुत किया गया है । पृ० सं० ६३९ । सचित्र मूल्य ११.५० ।

साहित्यिक इतिहास

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल (तृतीय संस्करण) **:** ले० *डॉ० श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी :* हिन्दी के जन्म-समय से आरम्भ कर इसके विकास-काल के पहले

तक का प्रामाणिक इतिहास इस ग्रन्थ में प्रस्तुत है। पृ० सं० १३२। मूल्य ३·२५। उत्तरप्रदेश-सरकार द्वारा पुरस्कृत।

२. **हिन्दी-साहित्य और बिहार** (प्रथम खण्ड : सातवीं शती से अट्ठारहवीं शती तक) : सं० *आचार्य श्रीशिवपूजन सहाय* : आचार्यजी ने बहुत खोज और परिश्रमपूर्वक वर्षों की छानबीन के पश्चात् यह पुस्तक तैयार की है। लगभग ढाई-तीन सौ अति प्राचीन साहित्यकारों के परिचय के साथ इसकी लम्बी भूमिका और प्रस्तावना अनुसन्धायकों के लिए बड़े काम की चीज है। पृ० सं० ३२०। मूल्य ५·५०।

३. **साहित्य का इतिहास-दर्शन** : ले० *स्वर्गीय आचार्य श्रीनलिनविलोचन शर्मा* : इस पुस्तक में न केवल हिन्दी-साहित्येतिहास के सम्बन्ध में विचार किया गया है, प्रत्युत पाश्चात्य देशों के साहित्येतिहास पर भी उपलब्ध सामग्री को मथकर, अपने विचारों के साथ, लेखक ने सामूहिक साहित्यिक इतिहास-दर्शन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। पृ० सं० ३४२। मूल्य ५·००।

४. **हिन्दी-साहित्य और बिहार** (द्वितीय खंड : उन्नीसवीं शती : पूर्वार्द्ध) : सं० *आचार्य श्रीशिवपूजन सहाय* : इस ग्रन्थ में उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध (सन् १८०१ से १८५० ई० तक) में जिन बिहारवासी हिन्दी-साहित्यिकों का जन्म हुआ है, उन्हीं का विवरणात्मक परिचय दिया गया है। इसमें कई बहुमूल्य शोध-सामग्री प्रस्तुत की गई है। यह लेखक के अथक परिश्रम, मनन, चिन्तन एवं सम्पादन से प्रसूत हिन्दी-साहित्य का गौरव-ग्रन्थ है। पृ० ४१२। मूल्य ८·००।

विज्ञान

१. **वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा** : ले० *डॉ० श्रीसत्यप्रकाश* : वैदिक काल से आरम्भ करके आधुनिक काल तक के वैज्ञानिकों की देन का प्रामाणिक विवरण उपस्थित करनेवाली यह एक अन्यतम पुस्तक है। पृ० सं० २८४। मूल्य ८·००। **उत्तर-प्रदेश-सरकार द्वारा पुरस्कृत।**

२. **नीहारिकाएँ** : ले० *स्वर्गीय डॉ० श्रीगोरखप्रसाद* : इस पुस्तक में आकाश के नक्षत्र-मंडल का अत्यन्त आश्चर्यजनक वर्णन वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उपस्थित किया गया है। पृ० सं० ७२। चित्र-फलक २१। मूल्य ४·२५।

३. **ईख और चीनी** : ले० *श्रीफूलदेवसहाय वर्मा* : इस पुस्तक में ईख और चीनी से सम्बद्ध प्रत्येक अंग पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में हिन्दी-अँगरेजी तथा अँगरेजी-हिन्दी वैज्ञानिक शब्दावलियों की अनुक्रमणिका भी है। पृ० सं० १८५। चित्र-सं० १०४। मूल्य १३·५०। **बिहार-सरकार और उत्तरप्रदेश-सरकार द्वारा पुरस्कृत।**

४. **रबर** : ले० *श्रीफूलदेव सहाय वर्मा* : औद्योगिक रसायन के रबर-प्रकरण पर हिन्दी में यह सर्वप्रथम प्रामाणिक पुस्तक है। पृ० सं० २२६। चित्र-सं० ६१। मूल्य ७·५०। **उत्तरप्रदेश-सरकार द्वारा पुरस्कृत।**

५. **पेट्रोलियम** : ले० *श्रीफूलदेवसहाय वर्मा* : पेट्रोलियम की महत्ता और उपयोगिता समझने के लिए जितने प्रकार के विवरणों तथा आँकड़ों के ज्ञान की आवश्यकता है, सभी इस पुस्तक में समाविष्ट हैं। पृ० सं० ३०० । चित्र-सं० ४० । मूल्य ५.५० ।

६. **मुद्रण-कला** : ले० पं० *श्रीछविनाथ पाण्डेय* : आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली से विकसित होनेवाली उपयोगी कलाओं में मुद्रण-विज्ञान का स्थान सर्वोपरि है। आधुनिक प्रणाली के अनुसार प्रेस-सम्बन्धी सारे विषयों का विवेचन इस पुस्तक में दिया गया है। पृ० सं० ३५० । मूल्य ७.२५ ।

७. **कृषि-विनाशी कीट और उनका दमन** : ले० *श्रीशैलेन्द्रप्रसाद 'निर्मल'* : प्रगतिशील कृषकों के अतिरिक्त उच्च विद्यालयों, जहाँ कृषि की पढ़ाई पाठ्यक्रम में सम्मिलित है, तथा कृषि-विद्यालयों में यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी प्रमाणित होगी। प्रस्तुत पुस्तक में कृषि के शत्रु कीड़ों की पहचान और वैज्ञानिक तरीकों से उनको नष्ट करने के उपायों पर विस्तार से सामग्री दी गई है। पृ० सं० २०२ । चित्र-सं० ४२ । मूल्य ५.५० ।

इतिहास

१. **मध्य एसिया का इतिहास** (प्रथम और द्वितीय भाग) : ले० *महापंडित श्रीराहुल सांकृत्यायन* : इस पुस्तक के पढ़ने से मालूम होगा कि भारतीय इतिहास की घटनाओं के साथ मध्य एसिया के इतिहास का कैसा पारस्परिक सम्बन्ध है और उस सम्बन्ध से भारत की ऐतिहासिक घटनाओं पर जो प्रकाश पड़ता है, वह कितना प्रामाणिक है। **इसी ग्रन्थ पर लेखक को दिल्ली का ५००० रुपयेवाला अकादमी-पुरस्कार मिल चुका है।** प्रथम भाग की पृ० सं० ५३३ । चित्र-सं० २५ । मूल्य १२.२५ । द्वितीय भाग की पृ० सं० ६७८ । चित्र-सं० १९ । मूल्य ८.५० ।

२. **कुँवरसिंह-अमरसिंह** : ले० *प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ० कालीकिंकर दत्त* : अनु० पं० *श्रीछविनाथ पाण्डेय* : सन् १८५७ ई० की क्रान्ति के प्रसिद्ध वीर कुँवरसिंह और अमरसिंह का प्रामाणिक परिचय, अनेक गुप्त प्रमाणों के आधार पर, तैयार किया गया है। पृ० सं० ३३८ । मूल्य ५.०० ।

धर्म और दर्शन

१. **यूरोपीय दर्शन** : ले० *स्व० म०म० पं० श्रीरामावतार शर्मा* : महामहोपाध्याय श्रीशर्माजी की यह पुस्तक सन् १९०५ ई० में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई थी। उसी का यह पुनर्मुद्रण है। यह पुस्तक पाश्चात्य दर्शन के आदिकाल से आजतक के विकास-क्रम एवं स्थिति का पता देती है। पृ० सं० ११५ । मूल्य ३.२५ ।

२. **बौद्धधर्म-दर्शन** : ले० *स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेव* : आचार्य नरेन्द्रदेवजी बौद्धधर्म और दर्शन के अद्वितीय विद्वान् माने जाते हैं। उन्हीं की लेखनी का यह प्रसाद है। उनके अनुभव तथा प्रज्ञा से जाज्वल्यमान इस ग्रन्थ की ३७ पृष्ठोंवाली भूमिका में महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथ कविराज लिखते हैं—'बौद्धों के धर्म और दर्शन के तत्त्व-महत्त्व को दरसानेवाला ऐसा कोई ग्रन्थ भारतीय भाषाओं में तो क्या, किसी विदेशी भाषा में भी

नहीं है ।' यह ग्रन्थरत्न भी साहित्य-अकादमी (दिल्ली) के ५००० रुपयेवाले पुरस्कार से पुरस्कृत हो चुका है । पृ० सं० ८५० । मूल्य १७·०० ।

३. **षड्दर्शनरहस्य** : ले० पं० *श्रीरंगनाथ पाठक* : इस पुस्तक में छहों भारतीय दर्शनों के सम्बन्ध में परिचयात्मक सिद्धान्त पांडित्यपूर्ण ढंग से प्रतिपादित किया गया है। भारतीय दर्शनों की जानकारी देनेवाली यह एक प्रामाणिक पुस्तक है । पृ० सं० ३६० । मूल्य ५·०० ।

४. **भारतीय प्रतीक-विद्या** : ले० डॉ० *श्रीजनार्दन मिश्र* : विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक में भारतीय मूर्त्तिकला और चित्रकला में निहित प्रतीकों का शास्त्रीय पद्धति से बड़ा ही मार्मिक विवेचन किया है । पृ० सं० ६१२ । चित्र-सं० १६६ । मूल्य ११·०० । **बिहार-सरकार द्वारा पुरस्कृत ।**

५. **शैवमत** : ले० डॉ० *श्रीयदुवंशी* : इस पुस्तक में वैदिक काल से इतिहास-युग तक की चली आती शैवमत की परम्परा का प्रामाणिक विवरण दिया हुआ है । पृ० सं० ३५० । मूल्य ८·०० ।

६. **विश्वधर्म-दर्शन** : ले० *श्रीसाँवलियाबिहारीलाल वर्मा* : विश्व के सभी प्रमुख धर्मों और दर्शनों के इतिहास और परिचय के साथ धार्मिक सम्प्रदायों और धार्मिक ग्रन्थों का विवरण । इनके अतिरिक्त सभी धर्मों और पन्थों के मुख्य प्रवर्त्तकों तथा उन्नायकों के विवरणात्मक परिचय भी आपको इस पुस्तक में मिलेंगे । पृ० सं० ५०३ । मूल्य १३·५० ।

भाषाविज्ञान

१. **भोजपुरी भाषा और साहित्य** : ले० डॉ० *श्रीउदयनारायण तिवारी* : इस पुस्तक में भाषाविज्ञान की दृष्टि से भोजपुरी भाषा का विश्लेषण किया गया है । हिन्दी की अन्य बोलियों के वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा में यह पुस्तक नींव का काम करती है। पृ० सं० ६२५ । मूल्य १३·५० । **उत्तरप्रदेश की सरकार द्वारा पुरस्कृत ।**

२. **प्राकृत भाषाओं के व्याकरण** : ले० *डॉ० रिचर्ड पिशल* ; अनु० *डॉ० श्रीहेमचन्द्र जोशी* : यह प्राकृत भाषाओं के पाणिनि कहे जानेवाले रिचर्ड पिशल के जर्मन-भाषा में लिखे ग्रन्थ 'कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ् दि प्राकृत लैंग्वेज' (मूल जर्मन) से अनूदित है। प्राकृत शब्दशास्त्र का अथवा भाषाविज्ञान-शास्त्र का अध्ययन-अनुशीलन करनेवाले विद्वानों के लिए यह अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है । पृ० सं० १००४ । मूल्य २०·०० ।

३. **लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ् मानभूम ऐण्ड सिंहभूम** : सं० *डॉ० श्रीविश्वनाथ प्रसाद और डॉ० श्रीसुधाकर झा शास्त्री* : इस पुस्तक में मानभूम और धालभूम (सिंहभूम) की भाषाओं पर विवेचन किया गया है । इन क्षेत्रों की बोलियों और गीतों पर ध्वनि-तत्त्व के अनुसार विचार किया गया है । पृ० सं० ४३३ । मूल्य ४·५० ।

४. **मुहावरा-मीमांसा** : ले० डॉ० *श्रीओमप्रकाश गुप्त* : यह महाप्रबन्ध हिन्दी-मुहावरों का एक विचार-संयोजक अध्ययन है । हिन्दी-मुहावरों के वैज्ञानिक अध्ययन और खोज में लेखक ने कुछ भी उठा नहीं रखा है । पृ० सं० ४५४ । मूल्य ६·५० ।

लोक-साहित्य

१. **भोजपुरी के कवि और काव्य** : ले० *श्रीदुर्गाशंकरप्रसाद सिंह* : इस पुस्तक में अनेक प्राचीन भोजपुरी कवियों के जीवन-वृत्त के साथ आधुनिक काल के भोजपुरी कवियों के जीवन-वृत्त तथा उनकी हृदयग्राहिणी कविताओं के उद्धरण भी, पाद-टिप्पणी के साथ आपको मिलेंगे। भूमिका-भाग में भोजपुरी भाषा और साहित्य पर, उसके इतिहास के साथ, भाषावैज्ञानिक अध्ययन भी है। पृ० सं०४३०। मूल्य ५·७५।

२. **बाँसरी बज रही** : ले० *श्रीजगदीश त्रिगुणायत* : यह पुस्तक छोटानागपुर की मुण्डा-भाषा के लोकगीतों का सटीक संग्रह है। पुस्तक के आरम्भ में ६२ पृष्ठों में आदिवासी लोक-साहित्य के अध्ययन की जो सामग्री उपस्थित की गई है, वह भाषा-तत्त्व के अनुसन्धायकों के लिए महत्त्वपूर्ण है। पृ० सं० ४३०। मूल्य ८·००

३. **लोक-साहित्य : आकर-साहित्य-सूची** : सम्पादक : स्व० *आचार्य श्रीनलिनविलोचन शर्मा* : लोक-साहित्य के सम्बन्ध में विभिन्न स्थानों में जो निबन्ध प्रकाशित हैं, उनकी सूची, पूर्ण विवरण के साथ, दी गई है। मूल्य ००·५०।

४. **लोककथा-कोश** : सं० स्व० *आचार्य श्रीनलिनविलोचन शर्मा* : यह उपर्युक्त सूची की तरह ही लोककथा की विवरणात्मक सूची है। मूल्य ००·३२।

५. **लोकगाथा-परिचय** : सं० *स्वर्गीय आचार्य श्रीनलिनविलोचन शर्मा* : यह छोटी पुस्तिका भी गाथा-सम्बन्धी लेखों की विवरणात्मक सूची है। मूल्य ००·२५।

६. **मगही संस्कार-गीत** : सं० *डॉ० श्रीविश्वनाथ प्रसाद* : इस पुस्तक में हिन्दुओं के सोलह संस्कारों में गाये जानेवाले मगही के लोकगीतों का संग्रह है। प्रत्येक गीत के नीचे टिप्पणी दी गई है, जिसमें ठेठ मगही-शब्दों का व्युत्पत्ति के साथ अर्थ दिया गया है। गीतों का भावार्थ समझने के लिए, प्रसंग के साथ व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है। इनके अतिरिक्त विद्वान् सम्पादक ने पुस्तक की भूमिका में मगही लोकभाषा के सभी तत्त्वों पर पांडित्यपूर्ण प्रकाश डाला है। पृ० सं० ३८२। मूल्य ६·५०।

कोशग्रन्थ

१. **कृषिकोश** (प्रथम खण्ड : अ से घ तक) : सं० *डॉ० श्रीविश्वनाथ प्रसाद* : हिन्दी-जगत् का यह एक नवीन उपायन है। यह भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार बिहारी बोलियों के विविध क्षेत्रों से संगृहीत और जनसमाज में प्रचलित कृषि-सम्बन्धी शब्दों का वैयुत्पत्तिक पर्याय-सहित प्रामाणिक सचित्र अभिधान-ग्रन्थ है। पृ० सं० २००। मूल्य ३·००।

२. **पुस्तकालय-विज्ञानकोश** : ले० *श्रीप्रभुनारायण गौड़* : इस पुस्तक के दो खंडों में से पहले खंड में पुस्तकालय-विज्ञान-सम्बन्धी अँगरेजी के पारिभाषिक शब्दों के वर्णक्रम से हिन्दी-पर्याय भी दिये गये हैं। इसके दूसरे खंड में वर्णक्रम से अँगरेजी-पर्याय भी हैं। इसके अतिरिक्त जिल्दसाजी पुस्तकालय-अर्थव्यवस्था, पुस्तकालय-स्थापत्य एवं उसके उपकरण आदि विषयों की भी पारिभाषिक शब्दावली, हिन्दी-पर्याय के साथ, दी गई है।

पुस्तकालय के पारिभाषिक शब्द-सम्बन्धी ज्ञान के लिए यह एक प्रामाणिक कोश है। पृ० सं० २६६। मूल्य १·५०।

अर्थशास्त्र

राजकीय व्यय-प्रबन्ध के सिद्धान्त : ले० *श्रीगोरखनाथ सिंह* : इस पुस्तक द्वारा राज्य के प्रबन्ध की गुत्थियों को सुलझाया गया है। राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की यह अकेली पुस्तक है। पृ० सं० ४२। मूल्य १·५०।

राजनीति और दर्शन

राजनीति और दर्शन : ले० *डॉ० श्रीविश्वनाथप्रसाद वर्मा* : इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने राजनीति-शास्त्र और दर्शनशास्त्र का प्राचीन काल से अबतक के शास्त्रीय सम्बन्ध का विवरण उपस्थित किया है। राजनीति और दर्शन पर इस प्रकार की खोज तथा विद्वत्तापूर्ण यह पुस्तक हिन्दी में अकेली है। पृ० सं० ६०४। मूल्य १४·००। **बिहार-सरकार द्वारा पुरस्कृत।**

समर-नीति

प्राचीन भारत की सांग्रामिकता : ले० *पं० श्रीरामदीन पांडेय* : इस पुस्तक में प्राचीन भारत की युद्धविद्या का प्रामाणिक विवरण दिया गया है। इसमें प्राचीन भारत के अस्त्र-शस्त्र, सैनिक वेशभूषा, मोर्चेबन्दी के लिए भौगोलिक स्थिति, सैनिक शिक्षा-प्रणाली, युद्ध के झंडे, व्यूहनिर्माण-कला आदि के सम्बन्ध में सप्रमाण वर्णन है। पृ० सं० १६८। तिरंगे २७ चित्र। मूल्य ६·५०। **बिहार-सरकार द्वारा पुरस्कृत।**

मनोविज्ञान

अध्यात्मयोग और चित्त-विकलन : ले० *स्वर्गीय श्रीवेंकटेश्वर शर्मा* : मनोविज्ञान-शास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर मनुष्य की मानसिक स्थितियों का दार्शनिक विवेचन। पृ० सं० १६८। मूल्य ७·५०।

हस्तशिल्प-कला

वेणु-शिल्प : ले० *श्रीउपेन्द्र महारथी* : इस पुस्तक के लेखक श्रीमहारथीजी शिल्पकला और चित्रकला के भारत-विख्यात मर्मज्ञ हैं। पुस्तक में बाँस की कमचियों से बननेवाली सैकड़ों सामग्री का, चित्र के साथ, विवरण दिया गया है। भूमिका में वैदिक काल से आजतक की वेणु-उपयोगिता पर लेखक ने प्रकाश डाला है। पृ० सं० २४८। सैकड़ों साधारण रेखाचित्रों के साथ आर्ट पेपर पर २९ चित्र-फलक। मूल्य ११·००।

●●

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

परिषद् के नवीन प्रकाशन : अमूल्य सम्मति

●

भारतीय संस्कृति और साधना तथा **तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि :** पण्डित श्रीगोपीनाथ कविराजजी के ये दोनों तन्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ अपनी अपूर्वता, व्यापकता तथा मौलिकता के विषय में निःसन्देह अनुपम हैं। तन्त्र के गम्भीर तथ्यों तथा रहस्यों का उद्घाटन इन ग्रन्थों के माध्यम द्वारा सुधी-समाज के सामने मेरी दृष्टि में पहली बार हो रहा है। इनका प्रकाशन कर परिषद् ने तन्त्र-साहित्य के अनुसन्धित्सु जनों का जो महान् उपकार किया है, वह नितान्त महनीय है।

रहस्यवाद : पं० श्रीपरशुराम चतुर्वेदी का अपने विषय का एकदम मौलिक अपूर्व ग्रन्थ। हिन्दी में इस कोटि का ग्रन्थ दूसरा नहीं है। रहस्यवाद के सिद्धान्तों के परिचय के लिए शोध-छात्रों तथा सामान्य जिज्ञासु जनों के निमित्त उपादेय सामग्री से यह सम्पन्न है।

साहित्य-सिद्धान्त : डॉ० श्रीरामअवध द्विवेदीजी का यह समीक्षा-ग्रन्थ निःसन्देह उपादेय तथा महनीय है। यह तुलनात्मक शैली में लिखा गया है। फलतः, भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों के साथ-ही-साथ पाश्चात्य समीक्षा के तथ्यों का व्यापक, परिष्कृत तथा विशद विवरण प्रस्तुत करता है।

हिन्दी-साहित्य और बिहार (खंड २) : उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में बिहार के जिन साहित्यसेवियों ने हिन्दी-साहित्य की महती सेवा की है, उनका एकत्र सांगोपांग विवरण हिन्दी-साहित्य के लिए गौरव की वस्तु है। पुस्तक बड़ी खोज के बाद लिखी गई है।

पतंजलिकालीन भारत : डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री-रचित यह यथार्थतः एक व्यापक तथा बहुमूल्य शोधग्रन्थ है, जिसमें पतंजलि के महाभाष्य के आधार पर भारतवर्ष का एक सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत किया गया है।

भामहकृत काव्यालंकार-भाष्य : प्रो० श्रीदेवेन्द्रनाथ शर्मा द्वारा लिखित महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी ग्रन्थ। मूल ग्रन्थ का व्यापक तथा सर्वांगीण भाष्य, जिसमें मूल की ग्रन्थियाँ सुलझाई गई हैं। आरम्भ में, भूमिका में साहित्य के सिद्धान्त का सुन्दर विवेचन है।

वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालय
वाराणसी

—(आचार्य) बलदेव उपाध्याय

● ●

परिषद् के प्रकाश्यमान ग्रन्थ

* * *

१. भारतीय संस्कृति और साधना (खंड २) :
म० म० डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज

२. काशी की सारस्वत साधना :
म० म० डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज

३. भारतीय नीति का विकास : डॉ० श्रीराजबली पाण्डेय

४. यात्रा का आनन्द : आचार्य काका साहेब कालेलकर

५. सार्थवाह (द्वितीय संस्करण) : डॉ० श्रीमोतीचन्द्र

६. काव्य-मीमांसा (द्वितीय संस्करण) :
अनु० पं० श्रीकेदारनाथ शर्मा सारस्वत

७. कंब रामायण (खंड २) :
अनु० श्री न० वि० राजगोपालन

८. विद्यापति-पदावली (खंड २) :
विद्यापति-विभाग द्वारा प्रस्तुत

९. रामजन्म : ह० लि० ग्रन्थशोध-विभाग द्वारा प्रस्तुत

१०. कहावत-कोश : लोकभाषा-विभाग द्वारा प्रस्तुत

११. कृषिकोश : ,, ,, ,,

१२. अंगिका-संस्कार-गीत : ,, ,, ,,

१३. भारतीय अब्दकोश (१९६५) :
अब्दकोश-विभाग द्वारा प्रस्तुत

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना-४

प्रकाशक : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-४ :: मुद्रक : ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

साहित्य-संस्कृति-साधना-प्रधान त्रैमासिक

: अङ्क २ } आषाढ़, २०२१ विक्रमाब्द; १८८६ शकाब्द; जुलाई, १९६४ ई० { वार्षिक ६.०० : एक प्रति १.५०

आनन्दममृतं यद्विभाति

प्रस्तुत अंक में

●●

●●●

परिषद्-पत्रिका

[१४]

सम्पादक-मण्डल

डॉ० श्रीलक्ष्मीनारायण सुधांशु :: डॉ० श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर'
श्रीमोहनलाल महतो 'वियोगी'

सम्पादक

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

●

सहायक सम्पादक

हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' :: श्रीरञ्जन सूरिदेव

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

परिषद्-पत्रिका

[साहित्य-संस्कृति-साधना-प्रधान त्रैमासिक]

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल॥ —भारतेन्दु

वर्ष ४ अङ्क २ | आषाढ, विक्रमाब्द २०२१; शकाब्द १८८६; जुलाई, १९६४ ई० | वार्षिक ६.०० एक प्रति १.५०

आत्मा की उपलब्धि

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥

—मुण्डकोपनिषद्, ३।२।३-४

यह आत्मा वेदों के अध्ययन से नहीं मिलती, न बुद्धि की सूक्ष्मता से या बहुत शास्त्र सुनने से, अर्थात् अनेक विषयों की जानकारी से ही मिलती है। परन्तु, यह आत्मा जिस व्यक्ति का वरण करती है, अर्थात् जिसपर अनुग्रह करती है, उसी को इसकी प्राप्ति होती है—आत्मा उसी को अपना स्वरूप दिखाती है।

यह आत्मा अपने को निर्बल बनाने से नहीं मिलती। प्रमाद में रहने या अशास्त्रीय निरर्थक तप तपने से भी यह आत्मा नहीं मिलती। लेकिन, जब ज्ञानी पुरुष इन उपायों से उसे पाने की चेष्टा करता है, तभी उसकी आत्मा ब्रह्मपद प्राप्त कर लेती है।

●●

अमर जवाहरलाल

संयुक्तराज्य अमेरिका के विश्वविख्यात कवि राबर्ट फ्रास्ट की एक कविता की चार पंक्तियाँ जवाहरलालजी ने डायरी में अपने अन्तिम दिनों में अपने हाथ से लिखी थीं। वे हैं—

The woods are lovely, dark and deep.
But I have promises to keep,
And miles to go before I sleep,
And miles to go before I sleep!

भावार्थ है—वनपथ हैं सुहावने, घनेरे, हरे-भरे
पर मुझे निभाने हैं वचन
और सोने से पहले जाना है मीलों
और सोने से पहले जाना है मीलों

कर्मयोगी नेहरू के जीवन का ध्रुवतारा रहा है, युद्धस्व विगतज्वरः—गीता का यह वचन। कितने प्यार-दुलार में पले थे वे, कितने संघर्ष और कष्ट का जीवन, राष्ट्र की मुक्ति के लिए वर्षों जेल की यातनाएँ झेलीं, गाँव-गाँव फकीरों की तरह घूमते फिरे—पैदल, साइकिल से, इक्के से। कैसा विलक्षण देवोपम व्यक्तित्व पाया था जवाहरलाल ने। उन्हें भर आँख देखने के लिए, उनपर फूल बरसाने के लिए लाखों-लाख की भीड़ एक सामान्य बात थी—कन्याकुमारी से कश्मीर तक, द्वारका से कामरूप तक। देवानाम्प्रिय अशोक के बाद शायद ही कोई इतना लोकप्रिय प्यारा नेता देश को मिला। गांधीजी के प्रति हमारी श्रद्धा-भक्ति थी; नेहरू के प्रति प्यार का अथाह सागर उमड़ने लगता था। उस व्यक्ति में ही कुछ ऐसा जादू था, जो भी उसे देखता, देखता ही रह जाता। इसीलिए तो गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने कहा था : "जवाहरलाल वह ऋतुराज वसन्त हैं, जो यौवन और विजयपूर्ण आनन्द की ऋतु के युद्ध की अजेय भावना और स्वतन्त्रता के प्रति दृढ निष्ठा के प्रतिनिधि हैं। उनका चरित्र शानदार है। अपने धैर्यशाली संकल्प और निर्भय साहस में वे अतुलनीय हैं। अविचल नैतिक और बौद्धिक ईमानदारी में वे अपने साथियों से बहुत ऊँचे हैं। राजनीतिक उलझनों में भी उन्होंने शुद्धता का ध्वज असाधारण रूप से ऊँचा रखा है, यद्यपि इन झंझटों में धोखा और आत्मवंचना का बाजार गरम होता है। सचाई के मार्ग में खतरा होने पर भी उससे वे कभी मुँह नहीं मोड़ते। सुविधा को दृष्टिगत करते हुए झूठ के साथ समझौता करने के तरीके को वे कभी नहीं अपनाते। उनकी तेजस्वी बुद्धि उस असम्मानित नीति के मार्ग से सदा विमुख रही है, जहाँ सफलता आसान पर कमीनी हो। देश के स्वातन्त्र्य-युद्ध में सत्य का यह ऊँचा आदर्श जवाहरलाल का सर्वश्रेष्ठ योगदान है।"

अपने वसीयतनामे में जवाहरलालजी गंगा के सम्बन्ध में भावाभिभूत होकर लिखते हैं : "मैंने सुबह की रोशनी में गंगा को मुसकराते, उछलते-कूदते देखा है और देखी है शाम के साये में उदास काली-सी चादर ओढ़े हुए भेद-भरी, जाड़ों में सिमटी मन्द

गति से बहती सुन्दर धारा; और बरसात में गरजती, दहाड़ती, समुद्र की तरह चौड़ा सीना किये—सागर की ध्वंसात्मक शक्ति लिये। यही गंगा मेरे लिए निशानी है भारत की प्राचीनता की, यादगार की, जो बहती आई है वर्त्तमान तक और बहती चली जा रही है भविष्य के महासागर की ओर।"

जवाहरलालजी सिर से पैर तक प्रेम की मनोहारी मूर्त्ति थे। यदि वे राजनीति में न गये होते, तो एक महान् रोमाण्टिक कवि होते। उनके समस्त कार्य-व्यापार के मूल में यहाँ से वहाँतक था मानव के प्रति विराट् अक्लान्त अजेय प्रेम। विश्वशान्ति, निरस्त्रीकरण, संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रति सम्मान-भावना, ये सब थे उसी मूलभूल प्रेम की बाह्य एवं क्रियात्मक अभिव्यक्ति। उनके जैसा विशाल मानवतावादी व्यक्ति युगों में पैदा होता है। अपने इसी मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण ही पण्डित नेहरू विश्व की सर्वश्रेष्ठ विभूतियों में सर्वोच्च आदर और श्रद्धा के अन्यतम आदर्श हो गये थे। लोकतन्त्रीय समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता ने उनमें अपनी चरम अभिव्यक्ति पाई।

श्रीनेहरू का साहित्य अपनी ओजस्विता और प्रखरता के लिए चिरपठनीय बना रहेगा। सन् १९३४ ई० में नैनी सेंट्रल जेल में उन्होंने आत्मकथा लिखी। देहरादून-जेल से लिखी तीस चिट्ठियाँ—'लेटर्स फ्रॉम फादर टू हिज डॉटर' और 'ग्लिम्प्सेज़ ऑव वर्ल्ड हिस्ट्री'—'विश्व-इतिहास की झलक' तथा अहमदनगर-किले में लिखा 'डिस्कवरी ऑव इण्डिया' नेहरू-साहित्य की ज्योतिर्मयी निधियाँ हैं। इनमें 'डिस्कवरी ऑव इण्डिया' ऐसा ग्रन्थ है, जो लेखक को चिरकाल के लिए अमर बना देने में सक्षम है।

सच तो यह है कि नेहरू का व्यक्तित्व न केवल भारत पर, बल्कि सम्पूर्ण विश्व पर इतना अधिक छा गया (था? है) कि उनके बिना विश्व के विकास की कल्पना ही मूर्च्छित हो जाती है। जवाहरलाल और भारत एक ही भाव को व्यक्त करनेवाले दो शब्द हैं, इसलिए भले ही जवाहरलालजी की नश्वर काया हमें देखने को अब नहीं मिलेगी, परन्तु भारत की आत्मा में उनकी आत्मा अभिन्न होकर देशवासियों के उद्देश्य-पथ को चिरकाल तक आलोकित करती रहेगी। —माधव

०

शोक-प्रस्ताव

"विश्व के महान् नेता, महात्मा गांधी के योग्यतम उत्तराधिकारी, जनप्रिय जननायक तथा भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पं० श्रीजवाहरलाल नेहरू के आकस्मिक निधन से बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् मर्माहत है। श्रीनेहरू के देहावसान से भारत का एक महान् गौरवपूर्ण युग समाप्त हो गया! उनके जैसे महापुरुष को खोकर देश श्रीहीन हो गया है। त्याग, तपस्या, एकता, मानवता, मैत्री, करुणा और विश्वशान्ति के प्रबल समर्थक तथा पोषक श्रीनेहरू के बिना आज सारा विश्व शोकाकुल है।

भारत के कोटि-कोटि हृदयों के सम्राट् श्रीनेहरू के असह अभाव का सहन करने की शक्ति ईश्वर हम देशवासियों को दे, यही प्रार्थना है।"

स्वर्गीय द्विजजी

पं० श्रीजनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' का निधन हिन्दी-साहित्याकाश से एक जगमगाते नक्षत्र का टूटना है। इधर कुछ महीने से आपको आँखों का कष्ट था। आपरेशन हुआ, परन्तु असफल। आँखों की ज्योति नष्ट हो जाने से आप बहुत दुःखी और निराश हो गये थे और फलतः गत ५ मई (१९६४ ई०) को आप अपना शरीर त्याग कर अमर ज्योति में सदा के लिए लीन हो गये।

द्विजजी का जन्म सन् १९०४ ई० की २४वीं जनवरी को भागलपुर जिले के 'रामपुरडीह' नामक ग्राम में हुआ था। बचपन से ही आप बड़े मेधावी थे और अपनी अपूर्व ओजस्वी वाग्मिता के कारण असहयोग-आन्दोलन में आपने देश के प्रमुख नेताओं का अमित स्नेह अर्जित किया। असहयोग-आन्दोलन के बाद आप काशी-विद्यापीठ में आये और यहीं विद्यालय में प्रेमचन्दजी का सान्निध्य आपको प्राप्त हुआ, जो बराबर बढ़ता ही गया। विद्यापीठ में एक वादविवाद-प्रतियोगिता में आपके भाषण का प्रभाव सेंट्रल हिन्दू स्कूल के तत्कालीन प्रधानाध्यापक पं० रामनारायण मिश्र पर इतना गहरा और स्थायी पड़ा कि वे आपको आग्रहपूर्वक अपने विद्यालय में ले गये और ले ही नहीं गये, अपने पास रखा और आपके योगक्षेम का सारा भार सहर्ष स्वीकार कर लिया और अन्त-अन्त तक भली भाँति वात्सल्यस्नेहपूर्वक निबाहा।

द्विजजी का छात्र-जीवन सर्वथा आदर्श जीवन था और प्राचीन काल के ऋषियों के आश्रम के छात्र-जीवन की स्मृति जगाता था। आप अपने हाथ से अपना भोजन बनाते, बरतन साफ करते, कपड़े धोते; फिर भी कमरा इतना साफ-सुथरा चकाचक और कपड़े इतने स्वच्छ और सुव्यवस्थित कि आपको देखकर श्रद्धा भी होती थी, ईर्ष्या भी। काश, हम भी ऐसा जीवन बिताते! अपने जीवन में आप आरम्भ से अन्त तक स्वच्छता, सुव्यवस्था और स्वाभिमान की मूर्त्ति थे। सेंट्रल हिन्दू स्कूल से एण्ट्रेंस परीक्षा पास कर आप काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में आये और यहाँ अपनी वाग्मिता के कारण आप सहज ही प्राध्यापकों के निकटतम सम्पर्क में आ गये। आपको अपने-अपने विषय में लेने के लिए प्रोफसरों में होड़ मच गई थी। श्री पी० शेषाद्रि अँगरेजी-विभाग के अध्यक्ष थे और बाबू श्यामसुन्दरदास हिन्दी के तथा आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव संस्कृत के। आपकी वाग्मिता अँगरेजी और हिन्दी में समान रूप से ओजस्विनी थी। आप युनिवर्सिटी-पार्लमेंट के प्रमुख सदस्य थे और उसमें डटकर भाग लेते थे। कई अवसरों पर अन्तर्विश्वविद्यालय-वादविवाद-प्रतियोगिताओं में—क्या अँगरेजी में और क्या हिन्दी में आप प्रथम आये और एक बार तो आपके भाषण पर प्रसन्न होकर कॉलेज के प्रिंसिपल ध्रुव ने अपनी सोने की घड़ी आपकी कलाई में बाँध दी और उठाकर गले लगा लिया। उस समय का मनोहारी दृश्य अब भी आँखों के सामने झूल रहा है, जैसे कल की बात हो।

वाग्मिता में तो द्विजजी प्रखर और प्रभावशाली थे ही, लेखन-कला में भी कम कुशल नहीं थे। बोलने में क्या अँगरेजी, क्या हिन्दी और लिखने में क्या गद्य, क्या पद्य,

समान रूप से आपकी प्रतिभा अपने प्रकाश से श्रोता और पाठक को चमत्कृत और अभिभूत कर लेती थी। जिन्होंने आपके भाषण सुने हैं या आपका कवितापाठ सुना है, आजतक उसकी झंकृति ज्यों-की-त्यों उनके अन्तस्तल में बनी हुई होगी।

प्रयाग का 'चाँद' उन दिनों चढ़ती जवानी पर था और उसी का जमाना था। छायावाद का वह प्रबल समर्थक था। 'चाँद' में द्विजजी की कविताएँ और कहानियाँ छपने लगीं और फिर तो आप हिन्दू-विश्वविद्यालय के साहित्य-क्षेत्र पर, तरुण हिन्दी-साहित्यकारों पर जैसे छा गये। वहीं आपके घनिष्ठ मित्रों में श्रीसूर्यनाथ तकरू 'सौरभ' और श्रीलक्ष्मीनारायण सुधांशु की आत्मीयता प्राप्त हुई। श्रीतकरू आपके अनन्य प्रशंसक थे और सुधांशुजी सखा। श्रीतकरू भरी जवानी में चले गये, जिसका बड़ा ही मार्मिक आघात आप पर पड़ा। आप और सुधांशु की जोड़ी हिन्दी में गणेशशंकर और नवीन की जोड़ी की तरह ही अमर है।

एम्० ए० करने के बाद f जजी (और सुधांशुजी भी) हिन्दी-विद्यापीठ, देवघर में प्राध्यापक-रूप में आ गये। सन् १९३५ ई० में आप बिहारप्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के बारहवें अधिवेशन के अध्यक्ष हुए और सन् १९३८ ई०में राजेन्द्र-कॉलेज, छपरा में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष-पद पर आये और कई वर्षों तक यहाँ सफलतापूर्वक अध्यापन-कार्य करने के बाद औरंगाबाद (गया) के सच्चिदानन्द सिंह-कॉलेज के प्रिंसिपल हुए। छपरा में आचार्य शिवपूजन सहाय और प्राचार्य मनोरंजन के साहित्यिक सान्निध्य ने आपके जीवन में अमृत घोल दिया। औरंगाबाद से आप पूर्णिया-कॉलेज में प्राचार्य-पद पर आये और जीवन के अन्तिम क्षण तक प्राचार्य ही बने रहे। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के जन्म से ही आप इसके सम्मान्य सदस्य रहे और अपने सुझावों से पथ-प्रदर्शन करते रहे।

द्विजजी सहृदय कवि, सुधी समालोचक, मार्मिक कहानी-लेखक, समर्थ शब्दचित्रकार, सफल निबन्धकार तथा ओजस्वी और तेजस्वी वक्ता थे। आपमें ब्राह्मणोचित सादगी स्वाभिमान और ऐंठ थी। आपका अट्टहास बड़ा ही आक्रामक और संक्रामक होता था— लम्बी हँसी आपके अट्टहास के बाद देर तक ऐसी गूँजती रहती थी, जैसे पहाड़ी घाटियों में कोई प्रतिध्वनि। आपकी रचनाओं में कहानी-संग्रह चार हैं—'किसलय', 'मृदुदल', 'मालिका' और 'मधुमयी'; कविता-संग्रह दो हैं—'अनुभूति' और 'अन्तर्ध्वनि'; समालोचना का ग्रन्थ है—'प्रेमचन्द की उपन्यास-कला' और प्रमुख साहित्यकारों के चरित्र को शब्दों में बाँधने का सफल प्रयास 'चरित्ररेखा।'

द्विजजी अपने पीछे पुत्र-पुत्रियों से भरा-पूरा बहुत बड़ा परिवार और उससे भी बड़ा मित्रों और स्नेहियों का संसार छोड़ गये हैं। प्रभु से हमारी प्रार्थना है कि वे आपकी दिवंगत आत्मा को अपनी गोद में चिरशान्ति प्रदान करें।

—माधव

०

द्विवेदी-युग : हिन्दी का स्वर्णयुग

गत १५ मई को, इस भाग्यवती भारत-भूमि पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के मंगलमय अवतरण की एक शती पूरी हो गई। संक्रान्ति-काल में जन्म लेनेवाले कलाकारों में एक विशिष्ट ओजस्विता और अनन्य तेजस्विता रहती है। यद्यपि उनकी जीवन-धारा को अनेक शिलाखण्डों और कुशकण्टकाकीर्ण कगारों से रगड़ खाना पड़ता है, तथापि वह अपने लक्ष्य की ओर अप्रतिहत भाव से गतिशील रहती है। ऐसी स्थिति में जाने-अनजाने कितने मरुस्थल सिंचन पाकर उर्वर हो उठते हैं, कितनी रेती-परती शस्य-श्यामला हो उठती है, इसका लेखा-जोखा नहीं रहता। सामूहिक उपकार का परिमापन है भी नहीं। इसी **एकोऽहं बहु स्याम्** की मूल भावना से भावित संक्रान्तिकालीन कलाकार युग का निर्माण करने में सक्षम होते हैं और उन्हें जन-जन के मन में युगनिर्माता या युगप्रवर्त्तक होकर प्रतिष्ठित होने का समादर प्राप्त होता है।

तो, द्विवेदी-युग के प्रवर्त्तन का कुछ ऐसा ही संघर्षमय इतिहास है। द्विवेदीजी भी संक्रान्ति-काल के कलाकार थे। व्रजकाव्य की धारा निरस्तित्व हो रही थी और खड़ी बोली शनैः-शनैः देश की साहित्यिक भाषा के रूप में विकास और विस्तार प्राप्त कर रही थी। तब भी साहित्यसेवियों में यह धारणा बद्धमूल थी कि गद्य के लिए खड़ी बोली का उपयोग सम्भव है; किन्तु पद्य की भाषा व्रजभाषा ही होनी चाहिए। क्योंकि, व्रजभाषा में जो लालित्य और लोच है, वह खड़ी बोली को कदापि उपलब्ध नहीं। लेकिन, द्विवेदीजी ने साहित्यिक ब्रह्मा बनकर अपनी सर्जनशील सुदृढ लेखनी की शक्ति से खड़ी बोली में, गद्य एवं पद्य दोनों में उच्चकोटिक साहित्य का सर्जन कर यह उक्ति अक्षरशः चरितार्थ कर दी :

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथैतत्परिवर्त्तते ॥

आचार्य द्विवेदी ने खड़ी बोली में न केवल प्रचुर साहित्य का ही निर्माण किया, अपितु अनेक उच्च साहित्यकारों की भी सर्जना की। द्विवेदीजी ने ही स्व० श्रीश्रीधर पाठक, स्व० श्रीहरिऔध, श्रीमैथिलीशरण गुप्त आदि शीर्षण्य कवि-मनीषियों को व्रज की संकीर्ण रथ्या से खींचकर खड़ी बोली के प्रशस्त राजपथ पर ला खड़ा किया। सम्प्रति, खड़ी बोली के गद्य में जो साहित्यिक सज्जा एवं व्याकरण-सम्मत भाषा की प्रांजलता दीखती है, उसके प्रथम उन्नायक आचार्य द्विवेदी ही थे। आचार्य द्विवेदी की यह प्रखर सरस्वती 'सरस्वती' के माध्यम द्वारा हिन्दी-संसार में स्रोतस्वित हुई। सचमुच, द्विवेदीजी साहित्य-महारथी और पत्रकार-बृहस्पति थे।

द्विवेदी-युग निश्चय ही हिन्दी का स्वर्णयुग है। राजनयिक इतिहास में गुप्तयुग भारत का स्वर्णयुग माना जाता है। उस युग में देश धन-धान्य से परिपूर्ण था और लोग अपने घरों में ताला नहीं लगाते थे। द्विवेदी-युग में, हिन्दी-जगत् में आज की जैसी अराजकता नहीं थी, भाषा-प्रयोग में किसी प्रकार की निरंकुशता नहीं थी और न थी अपने-अपने 'गुरुडम'

फैलाने की ग्रहमहमिका। ग्राज की हिन्दी की भाषागत विषम स्थिति में ग्राचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी के अत्यन्ताभाव का स्मरण कर ग्रान्तरिक क्लेश होता है और मन में यही भावना उत्पन्न होती है कि परमपिता इस धराधाम पर फिर उस कभी न झुकनेवाला हिमालयोच्च व्यक्तित्व तथा दृप्त-दीप्त ग्रात्मा को प्रतिरूपायित करे, जिससे हिन्दी-जगत् के बिखरते ग्रणु-ग्रणु को फिर से संहित होने की द्युतिमयी ब्राह्मी शक्ति प्राप्त हो।

इस सन्दर्भ में यहाँ मैं पुण्यश्लोक ग्राचार्य शिवपूजन सहाय के, जिनका ग्राचार्य द्विवेदीजी से नेदिष्ठ सम्बन्ध था, निम्नलिखित पंक्तियों को उनकी रचनावली (खण्ड ४, पृ० १६८-६९) से उद्धृत करना प्रासंगिक समझता हूँ :

उन्होंने (आचार्य द्विवेदीजी ने) हिन्दी-गद्य को जो नया रूप और गौरव दिया है, वह जबतक हिन्दी-भाषा जीवित है, तबतक चिरस्थायी रहेगा। इस लेखक ने हरिश्चन्द्र, प्रताप (श्रीप्रतापनारायण मिश्र), भट्ट (पं० बालकृष्ण भट्ट) और व्यास (पं० अम्बिकादत्त व्यास) के गद्य-लेखों को एक बार नहीं, अनेक बार श्रद्धा और सम्मान के साथ पढ़ा है, उनकी कृतियाँ हिन्दी के साहित्यरत्नों में बहुमूल्य हैं; लेकिन उनके समय के हिन्दी-गद्य को लीजिए और आजकल के गद्य से उसकी तुलना कीजिए। आपको सहज ही में इस बात का पता लग जायगा कि तब और अब के गद्य में जमीन और आसमान का फर्क है। उस समय उसका शैशवकाल था। उसमें अब प्रौढावस्था की परिपक्वता आ गई है। इस समय हर प्रकार के भावों और विचारों को सरलता के साथ व्यक्त करने की उसमें जो शक्ति है, वह पिछले समय के गद्य में न थी। तब हिन्दी-गद्य ठीक जेठ की गंगाजी के समान था। उसके उथले जल पर हलके विचारों की छोटी-छोटी नौकाओं को कुशल साहित्यिक मल्लाह बहुत सँभालकर खेते थे। द्विवेदीजी की बदौलत, अब उसी गद्यधारा में गहराई आ गई और उसका विस्तार भी अब बहुत बढ़ गया है, जिसपर गम्भीर भावों और गहन विषयों के बड़े-बड़े जलपोत सुगमता के साथ पार हो जाते हैं। अथक परिश्रम से उन्होंने हिन्दी-गद्य के धुँधले हीरे को लेकर अपनी प्रतिभा की खराद पर बार-बार चढ़ाया और तबतक उसे चढ़ाते ही चले गये, जबतक उसके अनन्त पहलों से अभूतपूर्व आभा न जगमगाने लगी। उन्होंने हिन्दी-गद्य को परिष्कृत, परिमार्जित और संस्कृत बना दिया। उसकी शैली में अराजकता के स्थान में एक नियमित सत्ता उन्हीं के प्रयत्न से स्थापित हो गई। भावी इतिहास-लेखक सुव्यवस्थित गद्य की चिरस्थायी शैली का सबसे बड़ा और प्रतिष्ठित नायक द्विवेदी जी को ही स्वीकार करेगा।

—सूरिदेव

०

उल्लेख्य संस्कृत-त्रैमासिकी : 'अमृतलता'

सन् १९१८ ई० में संस्थापित, भारत के प्रसिद्ध वैदिक ग्रनुसन्धान-संस्थान स्वाध्याय-मण्डल, पारडी (सूरत) से नवप्रकाशित संस्कृत-त्रैमासिकी 'ग्रमृतलता' का ग्रान्तरिक हर्षोल्लास-सहित स्वागत है। 'ग्रमृतलता' का सम्पादन-प्राधान्य भारत के यशोधन महामनीषी महामहोपाध्याय पं० श्रीश्रीपाद दामोदर सातवलेकर के हाथों में होने से उसकी महत्ता ग्रौर ग्रधिक बढ़ जाती है। क्योंकि, सातवलेकर महोदय संस्कृत के चूडान्त विद्वान् होने के

साथ ही संस्कृत के सरलीकरण तथा उसके विश्वव्यापी प्रचार-प्रसार में भगीरथ-पद के अधिकारी हैं; इसीलिए हम अधिक आशान्वित हैं कि 'अमृतलता' अपने अक्षय्य अमृत के अहोरात्र अभिवर्षण से संस्कृत-भाषा को अधिकाधिक पल्लवित-पुष्पित कर उसे जन-जन के लिए व्यवहारसुलभ बनायगी। उस संस्कृत-भगीरथ तथा आर्षभारती के अखण्ड उपासक के इस पवित्र प्रयास के प्रति हम श्रद्धानत हों।

'अमृतलता' के सम्पादक श्रीश्रुतिशील शर्मा भी संस्कृत के अधीती विद्वान् हैं। महामहोपाध्यायजी से प्रभावित श्रीशर्माजी की प्रतिभा की प्राणवत्ता के प्रति हम आस्थावान् हैं और आशान्वित भी। श्रीशर्मा का सम्पादन-पथ निरन्तर निर्विघ्न और अमृतमय हो, यही कामना है।

'अमृतलता' का उद्देश्य न केवल संस्कृत-प्रचार है, वरन् संस्कृत के सत्साहित्य के परिवेषण का कार्य भी इसे प्रिय होगा, आलोच्य अंक (प्रवेशांक) के देखने से ऐसी धारणा बनती है। प्रस्तुत अंक में डॉ० मंगलदेव शास्त्री, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, श्रीभगवद्दत्त वेदालंकार, श्रीजगन्नाथ शास्त्री, स्वामी भगवदाचार्य जैसे संस्कृत-मनीषियों के लेख भी हैं, जिनसे इस अंक की गुरुता बढ़ती है; किन्तु इस अंक में यथारूप परिवेषित सामग्री की पारम्परिक महत्ता ही अधिक है, आद्यतनिक विशिष्टता कम; जैसे 'वेदोक्ता स्वराज्यशासनपद्धतिः, 'सिंहलेषु संस्कृतम्', 'प्रज्ञादर्शनम्', 'वेदविचारः' आदि-आदि। आवश्यकता तो इस बात की है कि इदानीन्तन साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, पुरातात्त्विक तथा वैज्ञानिक प्रगतियों की विविधता और व्यापकता को अधिकाधिक संस्कृत-माध्यम प्रदान किया जाय, तभी संस्कृत-पत्रिकाओं की पाठकप्रियता की प्रचुरता सम्भावित हो सकेगी। हम 'अमृतलता' की भविष्णुता और विचार-प्रगति की बलीयसी निष्ठा तथा उसके अनाग्रह आयास के प्रति साकांक्ष हैं।

गद्य-पद्य के अतिरिक्त इस अंक का परिशिष्ट सर्वाधिक उपादेय और विशिष्ट है। परिशिष्ट-रूप में इस अंक से सरलतम पाठ प्रारम्भ किया गया है। इसके स्वाध्याय से संस्कृत सीखने के अभिलाषी स्वयं ही संस्कृत सीख सकेंगे। इस पाठ को हिन्दी और अँगरेजी दोनों के माध्यम से अलग-अलग उपस्थित किया गया है। इससे बहुत बड़ा लाभ यह होगा कि केवल हिन्दी जाननेवाले या केवल अँगरेजी जाननेवाले भी संस्कृत की शिक्षा अनायास प्राप्त कर लेंगे। यह प्रणाली संस्कृत-प्रचार-प्रसार की दिशा में अधिक कृतकार्य होगी, यह सन्दिग्ध नहीं। हमारी अपनी समस्त शुभभावनाएँ 'अमृतलता' को अर्पित हैं।

मुद्रण प्रायशः निर्दोष और स्वच्छ है। आवरण प्रतीकात्मक और प्रसन्न। वार्षिक मूल्य सात रुपये और एक अंक का दो रुपये। इस पत्रिका की संचिका प्रत्येक शोध-संस्थान में अनिवार्यतः रहनी चाहिए।

—सूरिदेव

त्रयोदश वार्षिकोत्सव : प्राप्त शुभकामनाएँ

स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराज, श्रीकृष्णाश्रम, वृन्दावन (तार द्वारा प्राप्त)

"परिषद् चिरकाल तक राष्ट्र की इससे भी अधिक समर्थ सेवा करती रहे।"

स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज, मानवसेवा-संघ, वृन्दावन

"जिस भाषा को आज अपने राष्ट्र ने अपनाया है, वह स्वयं अपना एक महत्त्व रखती है, कारण कि सन्तों और भक्तों की वाणी इसी भाषा में मिलती है। सजगता और श्रद्धा ही तो विकास की भूमि है। अपनी राष्ट्रभाषा में सजगता और श्रद्धा का साहित्य भरपूर है। राष्ट्र के द्वारा भाषा का पोषण होता है, परन्तु भाषा के द्वारा राष्ट्र का सर्जन होता है। भाषा का उद्गम भाव से होता है और भाव निज ज्ञान से सत्ता पाता है। जो भाषा ज्ञान और भाव से भावित है, वही जीवनदायिनी है। सर्वसमर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से राष्ट्रभाषा-परिषद् को उत्तरोत्तर विकसित करें, इसी सद्भावना के साथ सभी को सप्रेम यथोचित। ॐ आनन्द।"

स्वामी श्रीशुकदेवानन्द सरस्वती, अध्यक्ष, अ० भा० साधु-समाज, स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश

"राष्ट्रभाषा-परिषद् की मैं उन्नति चाहता हूँ। भगवान् से यही प्रार्थना है।"

महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज, २ ए, सिगरा, वाराणसी

"परिषद् ने अपने बारह वर्षों के सेवामय जीवन में राष्ट्रभाषा के विविध विभागों में जो श्लाघनीय कार्य किया है, वह सर्वजनविदित है। उससे राष्ट्रभाषा की जो श्रीवृद्धि तथा पुष्टि हुई है, तदर्थ परिषद् राष्ट्रभाषा के प्रेमियों तथा हितैषियों की बधाई की भाजन है। आशा है, भविष्य में वह इसी प्रकार राष्ट्रभाषा की सेवा में सतत संलग्न रहेगी।"

आचार्य काका साहेब कालेलकर, सन्निधि, राजघाट, नई दिल्ली

"बारह वर्ष का एक तप पूरा करके परिषद् नये तप का आरम्भ कर रही है। ऐसे समय पर आपको डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के जैसे श्रेष्ठ विद्वान् और संशोधन-तपस्वी की सेवाएँ प्राप्त हुई हैं, इसके लिए हार्दिक अभिनन्दन।"

डॉ० सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, राष्ट्रपति, भारत, नई दिल्ली

"यह जानकर प्रसन्नता हुई कि बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् अपना त्रयोदश वार्षिकोत्सव-समारोह मना रही है। हार्दिक शुभकामनाएँ।"

डॉ० श्रीजाकिर हुसैन, उपराष्ट्रपति, भारत, नई दिल्ली

"मुझे यह जानकर खुशी है कि बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् अपने बारह वर्ष पूरे कर तेरहवें वर्ष में प्रवेश कर रही है और परिषद् का वार्षिकोत्सव-समारोह आगामी दिनांक

२७, २८ मार्च (१९६४ ई०) को सम्पन्न होना निश्चित हुआ है। ...मैं आपके इस समारोह की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ भेजता हूँ।"

डॉ० कर्ण सिंह, सदरे-रियासत, जम्मू-कश्मीर

"बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के वार्षिकोत्सव के लिए शुभकामनाएँ।"

डॉ० श्रीसम्पूर्णानन्द, राज्यपाल, राजस्थान, जयपुर

"बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् अपने जन्मकाल से ही हिन्दी की बहुत ही ठोस सेवा करती आ रही है। मैं आशा करता हूँ कि श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल के सभापतित्व में उसका जो आगामी अधिवेशन होने जा रहा है, वह हर दृष्टि से सफल होगा।"

श्रीविश्वनाथ दास, राज्यपाल, उत्तरप्रदेश, लखनऊ

"परिषद् द्वारा राष्ट्रभाषा की सेवाओं की सराहना के साथ उत्सव की सफलता के हेतु शुभकामनाएँ।"

श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित, राज्यपाल, महाराष्ट्र, बम्बई

"त्रयोदश वार्षिकोत्सव की सफलता के लिए शुभकामनाएँ।"

श्रीसत्यनारायण सिंह, सूचना-प्रसारण-मन्त्री, भारत-सरकार, नई दिल्ली

"राष्ट्रभाषा में शोध और प्रकाशन-कार्य करनेवाली संस्थाओं में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का अपना विशेष स्थान है। त्रयोदश वार्षिकोत्सव-समारोह की सफलता के लिए मेरी शुभकामनाएँ स्वीकार करें।"

डॉ० श्रीरामसुभग सिंह, कृषि-मन्त्री, भारत-सरकार, नई दिल्ली

"बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् तथा ऐसी अन्य साहित्यिक संस्थाओं की चेष्टा से हिन्दी-भाषा और साहित्य का भाण्डार शीघ्र ही विपुल तथा व्यापक हो सकेगा। वार्षिकोत्सव की सफलता की शुभकामना करता हूँ।"

श्रीराजबहादुर, परिवहन-मन्त्री, भारत-सरकार, नई दिल्ली

"परिषद् ने राष्ट्रभाषा के प्रचार में अपूर्व योग दिया है। मैं आपके प्रयास की सफलता की कामना करता हूँ।"

डॉ० सुश्री सुशीला नय्यर, स्वास्थ्य-मन्त्रिणी, भारत-सरकार, नई दिल्ली

"राष्ट्रभाषा-परिषद् के वार्षिकोत्सव की सफलता के लिए शुभकामनाएँ।"

श्रीबलिराम भगत, योजना-मन्त्री, भारत-सरकार, नई दिल्ली

"त्रयोदश वार्षिकोत्सव-समारोह की सफलता के लिए मंगलकामनाएँ।"

श्रीदिनेश सिंह, उपमन्त्री, विदेश-मन्त्रालय, नई दिल्ली

"बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् काफी समय से हिन्दी एवं जनता की सेवा करती आ रही है। हमारी शुभकामनाएँ।"

श्रीभक्तदर्शन, उप-शिक्षामन्त्री, भारत-सरकार, नई दिल्ली

"मुझे दृढ विश्वास है कि आगामी वर्षों में परिषद् और भी अधिक उपयोगी कार्य करने में सफल होगी तथा उसके द्वारा सारे प्रदेश में राष्ट्रभाषा के लिए पहले से भी अधिक अनुकूल वातावरण पैदा होगा।"

श्रीमती टी० एस्० सौन्दरम् रामचन्द्रन्, उप-शिक्षामन्त्रिणी, भारत-सरकार, नई दिल्ली

"शोधकार्य की दिशा में परिषद् ने पिछले बारह वर्षों में जो कार्य किया है, वह अभिनन्दनीय है। इससे हिन्दी-साहित्य की अनूठी सेवा हुई है और हिन्दी-जगत् की अनेक बहुमूल्य अनुपलब्ध रचनाएँ प्राप्त हो सकी हैं। परिषद् की यह प्रगति राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय साहित्य की प्रगति की सीढ़ी के समान है। परिषद् बारह सीढ़ियाँ चढ़कर तेरहवीं सीढ़ी पर कदम रख रही है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि इसी प्रकार आगे बढ़ते हुए वह अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँच सके।"

श्रीमोहनलाल सुखाड़िया, मुख्यमन्त्री, राजस्थान, जयपुर

"हिन्दी-भाषा के प्रचार और प्रसार की दिशा में आपकी परिषद् सराहनीय कार्य कर रही है। इस अवसर पर अपनी बधाई भेजता हूँ और वार्षिक सम्मेलन की सफलता की कामना करता हूँ।"

श्रीमती सुचेता कृपलानी, मुख्यमन्त्री, उत्तरप्रदेश, लखनऊ

"राष्ट्रभाषा-परिषद् निरन्तर अपने प्रयास में सफल हो, यही कामना है।"

श्रीकमलापति त्रिपाठी, वित्तमन्त्री, उत्तरप्रदेश, लखनऊ

"परिषद् ने अपने बारह वर्ष की अल्पायु में ही जो कार्य किये हैं, वे सराहनीय हैं। आशा है, परिषद् उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर रहेगी।"

श्रीमोरारजी देसाई, ७, त्यागराज-मार्ग, नई दिल्ली

"राष्ट्रभाषा की सेवा में विनम्रता बहुत आवश्यक है। विशाल दृष्टि और समभाव से हम विरोधियों को जीत सकते हैं। समारोह की सफलता के लिए शुभकामनाएँ भेजता हूँ।"

श्रीजगजीवन राम, ७, रायसीना रोड, नई दिल्ली-१

"परिषद् शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में शोध और प्रकाशन का कार्य करती आ रही है। राष्ट्रभाषा के प्रचार और प्रसार में परिषद् का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आशा है, परिषद् आगे भी इस दिशा में पूर्ण लगन के साथ कार्य करेगी।"

डॉ० श्रीकालूलाल श्रीमाली, उपकुलपति, मैसूर-विश्वविद्यालय, मैसूर

"वार्षिकोत्सव की सफलता के लिए शुभकामनाएँ।"

डॉ० श्रीबलभद्र प्रसाद, उपकुलपति, प्रयाग-विश्वविद्यालय, प्रयाग (उ० प्र०)

"राष्ट्रभाषा-परिषद् हिन्दी में अच्छी-अच्छी पुस्तकों के निकालने के प्रयत्नों में काफी सफल रही है। मुझे आशा है कि डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की अध्यक्षता में आप का उत्सव सफल होगा।"

डॉ० श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर', उपकुलपति, भागलपुर-विश्वविद्यालय, भागलपुर

"अधिवेशन की सफलता चाहता हूँ।"

श्रीसेठ गोविन्ददास, संसत्सदस्य, लोकसभा, ३३ फिरोजशाह रोड, नई दिल्ली

"बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने अपने विगत एक युग के जीवन-काल में हिन्दी की जो सेवा की है, वह स्थायी महत्त्व की और ऐतिहासिक है। विविध शोधग्रन्थों के प्रकाशन

के द्वारा परिषद् ने राष्ट्रभाषा और उसके साहित्य की श्रीवृद्धि में सतत योग दिया है। शासकीय क्षेत्र में भी परिषद् का योग सराहनीय रहा है। मुझे आशा है, आगे आनेवाले दिनों में परिषद् अधिक तेजी से अपने कार्यों के प्रचार-प्रसार की कुछ ऐसी परम्पराएँ और प्रोत्साहन अन्य संस्थाओं को देगी, जिससे हिन्दी और हिन्दी-साहित्य के उत्कर्ष में सहायता मिल सकेगी।''

श्रीरमाप्रसन्न नायक, संयुक्त सचिव, शिक्षा-मन्त्रालय, भारत-सरकार, नई दिल्ली

''परिषद् की सेवाओं से कौन परिचित नहीं ? मुझे पूरा विश्वास है कि हमेशा की तरह भविष्य में भी परिषद् हिन्दी की प्रशंसनीय सेवा करती रहेगी।''

आचार्य श्रीपरशुराम चतुर्वेदी, वकील, बलिया (उ० प्र०)

''परिषद् ने आजतक हमारी राष्ट्रभाषा की जो सेवाएँ की हैं, वे अत्यन्त सराहनीय हैं। इसकी वर्त्तमान प्रगति को देखते हुए हम इससे कहीं और अधिक की आशा कर सकते हैं। इस शुभ अवसर पर हम आपके आयोजन की पूर्ण सफलता चाहते हैं।''

ज्यौतिषाचार्य पं० श्रीसूर्यनारायण व्यास, भारती-भवन, उज्जैन

''राष्ट्रभाषा-परिषद् एक युग पूर्ण कर अपनी साहित्य-साधना के नवयुग में पदार्पण कर रही है, यह बिहार-प्रदेश के लिए ही नहीं, हिन्दी-संसार के लिए गौरव का विषय है। आशा है, अपना आगामी युग भी वह इसी प्रकार गौरवमय परम्परा से पूर्ण कर सतत प्रगति करती रहेगी। मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।''

पं० श्रीबलदेवप्रसाद मिश्र, राजनादगाँव (मध्यप्रदेश)

''मेरे अनेकानेक शुभाशीर्वाद और समारोह की सफलता के लिए अनेकानेक मंगल-कामनाएँ।''

श्रीमोहनलाल भट्ट, मन्त्री, राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, हिन्दीनगर, वर्धा

''राष्ट्रभाषा-परिषद् ने हिन्दी-साहित्य की जो महती सेवा आजतक की है, वह गौरव का विषय है। मेरी शुभकामनाएँ आपके साथ हैं।''

डॉ० श्रीहरिवंश राय 'बच्चन', १३, विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली-११

''समारोह की सफलता के लिए मेरी शुभकामनाएँ स्वीकार करें।''

●●

वार्षिक कार्य-विवरण

[अप्रैल, १९६३ ई० से मार्च, १९६४ ई० तक]

परिषद् का कार्यारम्भ सन् १९५० ई० की जुलाई के मध्य से हुआ था।

परिषद् के मुख्य उद्देश्य निम्नांकित हैं—

१. हिन्दी के अभावों की पूर्त्ति करनेवाले ग्रन्थों का प्रकाशन; २. प्राचीन पाण्डुलिपियों का शोध और अनुशीलन; ३. लोक-साहित्य का संग्रह और प्रकाशन; ४. विशेषज्ञों द्वारा विभिन्न भाषाओं के निबन्ध-पाठ का आयोजन; ५. पुरस्कार प्रदान कर साहित्यिकों को सम्मानित और प्रोत्साहित करना; ६. हिन्दी-निबन्ध-प्रतियोगिता में सफल छात्र-छात्राओं को पुरस्कृत करना; ७. महत्त्वपूर्ण प्रकाशन के लिए साहित्यिक संस्थाओं को अनुदान देना; ८. साहित्यिक शोध के लिए अनुसन्धान-पुस्तकालय संचालित करना; ९. देश-विदेश की प्रमुख भाषाओं के प्रामाणिक ग्रन्थों के हिन्दी-अनुवाद द्वारा राष्ट्रभाषा-साहित्य को समृद्ध करना तथा १०. विभिन्न विषयों के विशिष्ट विद्वानों को व्याख्यान के लिए आमन्त्रित करना और उनके भाषणों को सम्पादित कर ग्रन्थाकार प्रकाशित करना।

परिषद् के विभिन्न उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए इस वर्ष जो काम हुए, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

०

ग्रन्थ-प्रकाशन

सन् १९६३ ई० के मार्च तक ८१ बहुमूल्य ग्रन्थों का प्रकाशन किया गया था। वर्त्तमान वित्तीय वर्ष में निम्नलिखित १० ग्रन्थ और 'परिषद्-पत्रिका' (त्रैमासिक) के चार अंक प्रकाशित हुए—

१. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि—म० म० डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज।
२. हिन्दी-साहित्य और बिहार (द्वितीय खण्ड)—सं० आचार्य श्रीशिवपूजन सहाय।
३. रहस्यवाद—आचार्य श्रीपरशुराम चतुर्वेदी।
४. साहित्य-सिद्धान्त—डॉ० श्रीरामअवध द्विवेदी।
५. मात्रिक छन्दों का विकास—डॉ० श्रीशिवनन्दन प्रसाद।
६. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन (द्वि०सं०)—डॉ० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल।
७. कृषि-विनाशी कीट और उनका दमन—श्रीशैलेन्द्रकुमार 'निर्मल'।
८. हरिचरित (प्रथम खण्ड)—हस्तलिखित ग्रन्थशोध-विभाग द्वारा प्रस्तुत।
९. हस्तलिखित पोथियों का विवरण (छठा खण्ड)—" "।
१०. भारतीय अब्दकोश (सन् १९६४ ई०)—अब्दकोश-विभाग द्वारा प्रस्तुत।
११.—१४. 'परिषद्-पत्रिका' (अंक १०, ११, १२ और १३)।

उपर्युक्त प्रकाशित ग्रन्थों के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थ प्रेस में हैं, जो निकट भविष्य में प्रकाशित हो जायेंगे—

१. भारतीय संस्कृति और साधना (खं० २)—म० म० डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज।
२. कम्ब रामायण (खं० २)—अनु० डॉ० श्री एन्० वी० राजगोपालन्।
३. कहावत-कोश—लोकभाषा अनुसन्धान-विभाग द्वारा प्रस्तुत।
४. कृषिकोष (खं० २)— " " ।
५. यात्रा का आनन्द—आचार्य काका साहेब कालेलकर।

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थ भी आगामी वित्तीय वर्ष में प्रकाशनार्थ प्रेस में दिये जायेंगे—

१. काशी की सारस्वत साधना—म० म० डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज।
२. भारतीय नीति का विकास—डॉ० श्रीराजबली पाण्डेय।
३. काव्य-मीमांसा (द्वितीय संस्करण)—अनु० पं० श्रीकेदारनाथ शर्मा सारस्वत।
४. सार्थवाह (द्वितीय संस्करण)—डॉ० मोतीचन्द्र।
५. विद्यापति-पदावली (द्वितीय खण्ड)—विद्यापति-विभाग द्वारा प्रस्तुत।
६. अंगिका-संस्कार-गीत—लोकभाषा-अनुसन्धान-विभाग द्वारा प्रस्तुत।
७. रामजन्म—हस्तलिखित ग्रन्थशोध-विभाग द्वारा प्रस्तुत।
८. अब्दकोश (सन् १९६५ ई०)—अब्दकोश-विभाग द्वारा प्रस्तुत।
९.-१२. 'परिषद्-पत्रिका' (त्रैमासिक, वर्ष ४ के ४ अंक)।

०

प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थशोध-विभाग

इस अवधि में प्राचीन हस्तलिखित पोथियाँ १३, अलभ्य मुद्रित ग्रन्थ १, तथा २ दुर्लभ पत्र-पत्रिकाओं का संग्रह हुआ है। प्रारम्भ से आजतक ३,६८१ प्राचीन हस्तलिखित पोथियाँ, ४१५ अलभ्य मुद्रित पुस्तकें, ९५९ दुर्लभ पत्र-पत्रिकाएँ और १७४ अप्राप्य पंचांग संगृहीत हुए हैं। ५८ हस्तलिखित ग्रन्थों के पृष्ठक्रम ठीक किये गये हैं और २२० पोथियाँ पंजीबद्ध हुई हैं। १३८ ग्रन्थों को वर्षानुक्रम-स्कन्ध-पंजी पर अंकित किया गया है। हजारीबाग से नवोपलब्ध, १७१९ वि० में वर्त्तमान, रामगढ़ के महाराज शम्भुनाथ सिंह द्वारा रचित 'काव्यनिधिप्रकाश' ग्रन्थ का पाठाध्ययनार्थ यथादर्शचित्र (फोटो-स्टाट) लिया गया है।

इस वर्ष अवधी के अज्ञात कवि लालचदास-रचित 'हरिचरित' के प्रथम पच्चीस अध्यायों का प्रथम खण्ड, पाँच प्रतियों पर आधृत पाठभेद-सहित सुसम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है। प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण अबतक पाँच खण्डों में प्रकाशित हुआ था। इस अवधि में प्राचीन पोथियों के विवरण का छठा खण्ड प्रकाशित हुआ है।

सं० १८९२ वि० में डुमराँव (शाहाबाद) के महाराजकुमार शिवप्रकाशसिंह-लिखित नवोपलब्ध तथा अद्यावधि अप्रकाशित रामभक्ति-काव्य 'लीलारसतरंगिणी' का ४७८ पृष्ठों में प्रतिलिपीकरण हुआ है। यह ग्रन्थ यथावसर पाठाध्ययन-सहित प्रकाशित होगा।

सम्प्रति इस विभाग में सन्त सूरजदास-रचित 'रामजन्म', 'दरिया-ग्रन्थावली' का तीसरा खण्ड और बिहार के हजारीबाग-निवासी, सं० १७३८ वि० के कवि देवीदास-रचित 'पाण्डवचरितार्णव' की प्रेस-पाण्डुलिपियाँ प्रकाशनार्थ तैयार हैं।

बिहार के अन्य कवियों में हलधरदास-रचित 'सुदामाचरित', चन्द्रमौलेश्वर कवि-रचित 'उदवन्तप्रकाश' पूर्णियाँ जिले के अज्ञात सूफी कवि फादतुल्लाह-रचित 'पोथी विद्याधर' का पाठाध्ययन तथा सम्पादन-कार्य चल रहा है। यथासमय इन महत्त्वपूर्ण पोथियों के प्रकाशन की योजना है।

०

लोकभाषा-अनुसन्धान-विभाग

'कृषिकोश' के द्वितीय खण्ड में संशोधन-परिवर्द्धन करके पाण्डुलिपि प्रेस को दे दी गई है। अबतक ८८ पृष्ठों की छपाई हो चुकी है। अनुमानतः ४०० पृष्ठों की यह पुस्तक होगी।

'अंगिका-संस्कार-गीत' संशोधित-सम्पादित होकर प्रकाशन के लिए प्रस्तुत है। इसमें विधियों के कुछ गीतों को भी यथास्थान जोड़ा गया है। अगले वित्तीय वर्ष में 'लोक-साहित्य : आकर-साहित्य-सूची' (द्वितीय खण्ड) और 'अंगिका-संस्कार-गीत' की छपाई शुरू हो जायगी। 'भोजपुरी-संस्कार-गीत' के गीतों का पाण्डुलिपि प्रायः तैयार हो चुकी है। इस संग्रह के प्रत्येक गीत की अवतरणिका, पादटिप्पणी, शब्दार्थ और यथासम्भव शब्दों की व्युत्पत्ति दी जा रही है।

'कहावत-कोश' की छपाई चल रही है। अबतक इसके ४०० पृष्ठ छप चुके हैं। अनुमानतः यह ८०० पृष्ठों का ग्रन्थ होगा।

इस वित्तीय वर्ष में भोजपुरी के १५४ लोकगीत और अंगिका की २ लोकगाथाओं का संकलन हुआ है। आई हुई शेष सामग्री का क्रय अगले आर्थिक वर्ष में होगा। इनके अतिरिक्त २० सन्दर्भ-ग्रन्थों का भी संकलन हुआ है।

इस प्रकार, अबतक मगही, मैथिली, भोजपुरी, बज्जिका, अंगिका, थारू, नगपुरिया, कुरमाली और आदिवासी भाषाओं के कुल ५६,३४९ शब्द, १३,६५० लोकगीत, २९० लोककथाएँ, १०,१९२ कहावतें, २,१२३ मुहावरे, १,२३० पहेलियाँ, ५१ गाथागीत और ४ गीति-रूपक संकलित हो चुके हैं। विभागीय शोधकार्य के सम्पादनार्थ १,११७ सन्दर्भ-ग्रन्थ भी खरीदे जा चुके हैं।

०

विद्यापति-विभाग

इस अवधि में विद्यापति-पदावली (द्वितीय खण्ड) के लिए विद्यापति की भाषा के ऊपर गवेषणापूर्ण विस्तृत भूमिका लिखी गई है और सम्पादक-मण्डल द्वारा उसका निरीक्षण-परीक्षण भी किया गया है। द्वितीय खण्ड की पाण्डुलिपि प्रकाशनार्थ प्रेस में जाने को प्रस्तुत है। तृतीय खण्ड के लिए 'वैष्णव-पदावली' में उपलब्ध लगभग ५०० पदों में २५२

पदों के पाठभेद, शब्दार्थ, अर्थ और सम्पादकीय अभिमत तैयार किये गये हैं। सम्प्रति शेष पदों के ऊपर कार्य हो रहा है। पूरी पदावली चार खण्डों में प्रकाशित होगी।

•

भारतीय अब्दकोश-विभाग

वित्तीय वर्ष में सन् १९६४ ई० का अब्दकोश प्रकाशित हुआ।

०

बिहार का साहित्यिक इतिहास-विभाग

इस विभाग की ओर से वर्त्तमान वित्तीय वर्ष में 'हिन्दी-साहित्य और बिहार' का दूसरा खण्ड, जो उन्नीसवीं शती का पूर्वार्द्ध है, नवम्बर, १९६३ ई० में प्रकाशित हो चुका है। उसके बाद दिसम्बर के द्वितीय सप्ताह से श्रीअनूपलालमण्डलजी के सम्पादकत्व में उक्त ग्रन्थ के तीसरे खण्ड का सम्पादन-कार्य प्रारम्भ किया गया है, जो उन्नीसवीं शती का उत्तरार्द्ध है।

०

अनुसन्धान-पुस्तकालय

इस समय परिषद् के अनुसन्धान-पुस्तकालय में (लोकभाषा-अनुसन्धान-विभाग तथा प्रा० हु० ग्रन्थशोध-विभाग के ग्रन्थों-सहित) कुल ग्रन्थों की सं० १३,९१९ है। इस वित्तीय वर्ष में ७३१ पुस्तकें संगृहीत हुईं, जिनमें १७३ पुस्तकें भेंट में प्राप्त हुई हैं। परिषद्-सदस्य श्रीमोहनलाल महतो 'वियोगी' ने कुल ५०० ग्रन्थ भेंट-स्वरूप दिये हैं। पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों की संख्या २,६१४ है। इस अवधि में वाचनालय में आकर अध्ययन करनेवाले पाठकों की संख्या १,३४२ तथा निर्गत पुस्तकों की संख्या ४,२६२ है। परिषद् के कार्य-कर्त्ताओं को व्यक्तिगत तथा विभागीय कार्य के लिए १,५८१ पुस्तकें निर्गत हुईं।

०

राजेन्द्र-निधि

वर्त्तमान वित्तीय वर्ष में राजेन्द्र-निधि से १६ साहित्यकारों को ११,९५० (ग्यारह हजार नौ सौ पचास रुपये) सहायता-स्वरूप दिये गये।

०

अनुवाद-योजना

कथासरित्सागर (तृतीय खण्ड) का अनुवाद-कार्य सम्पन्न कराया जा चुका है, जिसके सम्पादन की व्यवस्था की जा रही है।

०

पुरस्कार-प्रदान

संकटकालीन स्थिति के कारण इस वर्ष पुरस्कार-योजना स्थगित रखी गई है। केवल आचार्य श्रीरामलोचनशरण छात्रा-निबन्ध-प्रतियोगिता में सर्वश्रेष्ठ घोषित एक छात्रा को सौ रुपये का पुरस्कार दिया जा रहा है।

••

स्वागत-भाषण

श्रीसत्येन्द्रनारायण सिंह, शिक्षा-मन्त्री, बिहार

मान्यवर डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवालजी, उपस्थित विद्वद्वृन्द, देवियो और सज्जनो !

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के इस तेरहवें वार्षिकोत्सव का सभापतित्व स्वीकार कर डॉक्टर अग्रवाल ने हमें अनुगृहीत किया है। परिषद् के जन्मकाल से ही इसके उद्देश्यों की सिद्धि में आपका अमूल्य योगदान रहा है। हम इसके पूर्व ही आपके सभापतित्व का लाभ उठाना चाहते थे, पर आपकी अस्वस्थता के कारण हमें वह सुअवसर पहले नहीं मिल सका। इस शुभ अवसर पर मैं आपके साथ ही सभी समागत देवियों और सज्जनों का हार्दिक स्वागत करता हूँ।

परिषद् के इतिहास से आप सभी परिचित हैं। सन् १९४९ ई० से ही यह संस्था राष्ट्रभाषा हिन्दी के भाण्डार को अपने बहुविध प्रयासों द्वारा भरने में यत्नशील है। अपने देश के मूर्द्धन्य मनीषियों का सहयोग पाकर यह संस्था ज्ञान-विज्ञान की नई दिशाओं का उद्घाटन करती हुई उत्तरोत्तर आगे बढ़ रही है।

परिषद् के आद्य संचालक स्वर्गीय आचार्य शिवपूजन सहायजी की संग्रही वृत्ति के कारण परिषद् में एक समृद्ध अनुसन्धान-पुस्तकालय स्थापित हुआ, जिससे परिषद् के शोध-विभागों का काम तो चलता ही है, साथ ही राज्य के स्नातकों, अध्यापकों एवं शोध करने-वाले अनुसन्धायक विद्वानों के अतिरिक्त देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में शोधकार्यों में लगे विद्वानों को भी लाभ पहुँचता है। पुरानी पत्र-पत्रिकाओं के संग्रह से भी राज्य के बाहर के अनेकानेक शोधकर्त्ताओं ने विपुल लाभ उठाया है। बिहारी बोलियों के विभिन्न उपांगों से राष्ट्रभाषा हिन्दी को समृद्ध करने की दिशा में परिषद् का लोकभाषा-अनुसन्धान-विभाग सक्रिय है। भारत के लोक-जीवन में बिखरी हुई अमूल्य निधियाँ प्राचीन हस्तलिखित पोथियों एवं दुर्लभ मुद्रित ग्रन्थों में व्याप्त हैं। उन धूलिधूसर मणियों के संग्रह में परिषद् का प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थशोध-विभाग संलग्न है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के सामने एक चुनौती थी कि राष्ट्रभाषा में ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न अंगों को पुष्ट करनेवाले प्रामाणिक ग्रन्थों का सर्वथा अभाव है। मुझे यह निवेदित करते हर्ष हो रहा है कि अल्पकाल में ही उक्त चुनौती को अंगीकार कर परिषद् ने अपने गौरवपूर्ण प्रकाशनों से समस्त हिन्दी-संसार को चमत्कृत कर दिया है। भारत के चोटी के विशेषज्ञ विद्वानों ने इस ज्ञानयज्ञ में योगदान कर परिषद् को गौरवान्वित किया है, जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। परिषद् द्वारा अबतक प्रकाशित ९१ ग्रन्थ-रत्नों का सर्वत्र समादर हुआ है।

परिषद् ने केवल प्रामाणिक ग्रन्थों का ही प्रकाशन नहीं किया, बल्कि राज्य-भर में साहित्यिक शोध-प्रकाशन करनेवाली संस्थाओं को भी अनुदान द्वारा प्रोत्साहित किया है।

विशेषज्ञ विद्वानों द्वारा विशिष्ट विषयों पर भाषण कराकर उन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया है। अपने साधन के अनुसार अनुदान देकर परिषद् ने अनेक विपन्न साहित्यकारों की सेवा-सहायता भी की है।

इधर देश पर जो बाहरी दुश्मनों का अचानक आक्रमण हुआ, उसके प्रभाव से हमारा राज्य भी अछूता नहीं रह सका। आर्थिक संकट के कारण ही परिषद् का यह वार्षिकोत्सव सामान्य रूप में ही सम्पन्न हो रहा है।

अपने गौरवपूर्ण प्रकाशनों के कारण ही परिषद् का व्यापक प्रचार हुआ है। भारतीय जनपदीय भाषाओं एवं साहित्य के सम्बन्ध में परिषद् के वार्षिकोत्सवों के अवसर पर विभिन्न विद्वानों द्वारा निबन्ध-पाठ की परम्परा रही है। इस वर्ष भी भारत के प्राचीन गणतन्त्र वृज्जि या वज्जि-जनपद की भाषा बज्जिका के सम्बन्ध में निबन्ध* पढ़ा जा रहा है, जिसका एक विशेष महत्त्व है।

साहित्याराधन में सन्नद्ध इस परिषद् को समस्त हिन्दी-संसार का स्नेह प्राप्त है। भारत-सरकार तथा अन्य पुरस्कार प्रदान करनेवाली प्रतिष्ठित संस्थाओं ने परिषद्-प्रकाशनों को पुरस्कृत कर इसे गौरवान्वित किया है। हम यह अनुभव कर रहे हैं कि परिषद्-प्रकाशनों के लिए ही एक स्वतन्त्र प्रेस सरकार खोले; क्योंकि इसके प्रकाशन उच्च स्तर के होते हैं और सचिवालय प्रेस इतना व्यस्त रहता है कि उसके लिए इसके कार्यों को बराबर अपने हाथों में लेना सम्भव नहीं है। आगे चलकर सरकारी खर्च से ही हम परिषद् के स्वतन्त्र अस्तित्व की भी कल्पना करते हैं।

एक बात और। हम पहले ही निवेदन कर चुके हैं कि बिहार के मूर्द्धन्य साहित्यकारों के सहयोग से ही परिषद् की ख्याति अल्पकाल में ही हुई है। जिन सदस्यों ने परिषद् के संचालक-मण्डल एवं सामान्य-समिति में रहकर इसकी सेवा की, उनके हम आभारी हैं। इस अवसर पर हम नवगठित संचालक-मण्डल और सामान्य समिति के मनोनीत सदस्यों का हार्दिक स्वागत करते हैं और उनसे अधिक-से-अधिक सहयोग की अपेक्षा रखते हैं। हम भूतपूर्व सदस्यों से भी आशा रखते हैं कि परिषद् के कार्यक्षेत्र से बाहर रहकर भी वे इस संस्था पर पूर्ववत् स्नेह की वर्षा करते रहेंगे।

अन्त में, पुनः एक बार हम आपलोगों का सादर सप्रेम अभिनन्दन करते हैं और इस त्रयोदश वार्षिकोत्सव के मनोनीत सभापति तपःपूत साहित्याराधक आदरणीय डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालजी से सविनय अनुरोध करते हैं कि वे इस महोत्सव के कार्यक्रम का संचालन कर हमें अनुगृहीत करें।

[२७ मार्च, १९६४ ई०]

●●

* इस वर्ष कॉमर्स कॉलेज, पटना के हिन्दी-विभाग के प्राध्यापक डॉ० श्रीसियाराम तिवारी ने 'बज्जिका भाषा और साहित्य' पर निबन्ध-पाठ प्रस्तुत किया। उक्त भाषण की मुद्रित प्रति भाषा-वैज्ञानिक शोध-विद्वानों के लिए अलग से परिषद् में निःशुल्क उपलभ्य है। —सं०

अध्यक्षीय भाषण

डॉ० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल, काशी-विश्वविद्यालय

मान्य सज्जनवृन्द !

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के अधिकारियों ने मुझे यहाँ आमन्त्रित करके जो सम्मान दिया है, उसके लिए मैं अत्यन्त आभारी हूँ। योगियाज्ञवल्क्य से महाकवि विद्यापति तक बिहार की जो दीर्घकालीन साहित्यिक प्रतिभा है, उसे अपना प्रणाम-भाव अर्पित करने की उत्कट इच्छा मुझे यहाँ ले आई है। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् आज एक गौरवशालिनी संस्था है। उसका यश देश और विदेश में जहाँतक हिन्दी का प्रचार है, वहाँ तक फैला हुआ है। परिषद् के साथ मेरा प्रथय परिचय श्रीशिवपूजनजी के द्वारा हुआ। उनसे ही मुझे 'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन' ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा मिली। इस अवसर पर मैं उनका श्रद्धापूर्वक स्मरण करता हूँ। श्रीशिवपूजनजी बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के प्राण थे। ऐसा बहुमुखी प्रतिभावान् साहित्यिक सौभाग्य से ही किसी प्रदेश या संस्था को प्राप्त होता है। श्रीशिवपूजनजी ने हिन्दी-वाङ्मय के क्षेत्र में एक अभिनव अशोक-स्तम्भ ही स्थापित कर दिया। उसके शिखर पर हिन्दी के अभ्युदय का अजित महाचक्र प्रवर्त्तित दिखाई पड़ रहा है। उस स्तम्भ की ललाट-लिपि आर्य मौर्य श्रीअशोक के वे शब्द हैं, जो उसने अपने 'धम्मलेखों' में उत्कीर्ण कराये थे—**समवाय एव साधु**। अर्थात्, सबके साथ मेल-जोल, सम्प्रीति, सहिष्णुता और समन्वय—यही उत्तम या कल्याण का मार्ग है। कहना चाहिए कि हिन्दी का मूलमन्त्र भी यही है। हिन्दी-भाषा और साहित्य की आस्था का सुधार समवाय या मेल-जोल की नीति है। हिन्दी किसी से विरोध नहीं चाहती, किन्तु वह अपना अभ्युदय अवश्य चाहती है। हिन्दी के जनायन पन्थ और राष्ट्रीय एकता सबके कल्याण की ओर बढ़ रहे हैं। राष्ट्रीय एकता का विधान इस समय का सबसे बड़ा युगधर्म है। वही हिन्दी का श्वास-प्रश्वास है। हिन्दी को सब भाषाओं के साथ मेल-जोल इष्ट है। वह समस्त भारतीय संस्कृति को अपना कार्यक्षेत्र मानकर उसका स्वागत करती है।

इस समय हिन्दी के चार महाप्रदेश हैं—उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश और बिहार। इनमें बिहार का ऐतिहासिक और साहित्यिक स्वरूप बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है। किसी समय यह प्रदेश कीकट और प्रमगन्द नामों से विख्यात था। गंगा के उत्तर विदेघ माथव और गोतम रहूगण ने आर्य-संस्कृति का सन्निवेश किया और जिसे आज मिथिला कहते हैं। यहीं यज्ञ की वेदियों में प्रथम बार अग्नि प्रज्वलित हुई। मिथिला में विदेह जनक के राजवंश ने अध्यात्मविद्या में विशेष भाग लिया। उन्होंने लोकधर्म और ब्रह्मविद्या में समन्वय का आदर्श अपनाया, जिसका वर्णन भारतीय साहित्य में अनेक स्थानों पर आता है। इसकी सबसे उत्तम सामग्री याज्ञवल्क्य और जनक के संवाद-रूप में बृहदारण्यक

उपनिषद् में सुरक्षित है। विदेह जनक की परिषद् में कुरु-पंचाल देश के वेदज्ञ ब्राह्मण भी आये थे। किन्तु, उनमें सबसे बड़े ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य ही सिद्ध हुए। जनक ने उन्हें अपना गुरु स्वीकार किया। किसी समय जनक की सभा ब्रह्मिष्ठों का केन्द्र बन गई थी। ज्ञान का यह प्रबल आन्दोलन, पार्श्वनाथ, महावीर आदि तीर्थंकरों के द्वारा परिपक्व हुआ। इसी से आकृष्ट होकर बुद्ध भी वैशाली की यात्रा किया करते थे। महाभारत में इसे शर्मक-वर्मक देश कहा है। जहाँ के ब्रह्म, क्षत्रिय कालान्तर के ज्ञातृवंशीय कहलाये। उनके वंशज आज भी 'जेत्थरिया' कहे जाते हैं। प्रज्ञा-दर्शन या जीवन में सूझ-बूझ या समझदारी का दृष्टिकोण, यह इस प्रदेश की विशेषता थी। जनक, बुद्ध और महावीर के दर्शन का मूल आधार प्रज्ञावाद ही है। यहाँ जनसत्तात्मक गणराज्यों की विशेष स्थिति थी।

इसके विपरीत गंगा के दक्षिण गिरिव्रज की पाँच पर्वत-चोटियों के बीच जरासन्ध का एकसत्तात्मक राज्य महाभारत के युग में ही स्थापित हो गया था। उसकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई और अन्त में उसी परम्परा में मगध के साम्राज्यवाद का विकास हुआ। पहले अजातशत्रु और आगे चलकर चन्द्रगुप्त मौर्य ने राजनीतिक शक्ति-विस्तार के साथ-साथ साहित्यिक परम्पराओं को भी बहुत प्रोत्साहन दिया। समस्त त्रिपिटक, पालि-साहित्य और अर्द्धमागधी, जैन-आगम-साहित्य की रचना इसी युग में हुई। कोसल और मगध—इन दो महाजनपदों की भौगोलिक सीमाएँ मिली हुई थीं। वह प्रदेश इस समय 'भोजपुर' कहलाता है और उसी की भाषा कोसली और मागधी के बीच की होने के कारण अर्द्धमागधी कहलाई, जिसमें जैन-आगमों की रचना हुई। पालि और अर्द्धमागधी-साहित्य बिहार की अनुपम देन हैं। उनमें जो साहित्य के आदर्श पाये जाते हैं, वे बिहार की अनुपम निधि हैं। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् को अपने भावी कार्यक्रम में इनके मूल और अनुवाद को एक साथ प्रकाशित करने की योजना बनानी होगी।

अजातशत्रु ने गंगा के किनारे जिस पाटलिपुत्र महानगर की स्थापना की, उसका अच्छा वर्णन महाउम्मगजातक में पाया जाता है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने महामन्त्री चाणक्य की सहायता से मगध-साम्राज्य का जैसा विस्तार किया, इसे भारतीय इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है। पाटलिपुत्र के राजादेश गन्धार और बाह्लीक तक मान्य थे। उस समय पाटलिपुत्र की साहित्यिक प्रतिष्ठा और भी बढ़ी। वेद और उपनिषदों के समय में बिहार का जो साहित्यिक स्वरूप बना था, उसे नन्दों ने और भी उत्कृष्ट रूप दिया और पाटलिपुत्र की राज्यसभा शास्त्रकारों की परीक्षा का स्थान ही बन गई थी। स्वयं भगवान् पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी यहाँ के विद्वानों के सामने रखी। मौर्ययुग में बिहार के साहित्य का और भी उत्कर्ष हुआ और स्वयं विष्णुगुप्त चाणक्य ने यहीं अपने 'अर्थशास्त्र' नामक महान् ग्रन्थ की रचना की। यहीं अशोक के समय में पाटलिपुत्र साम्राज्य-शक्ति, विद्या एवं धर्म का एक अद्‌भुत केन्द्र बन गया था। अशोक ने धर्मविजय का जो नया आदर्श रखा, उसने सारे देश को प्रभावित किया। वह आज भी मानव-मात्र के लिए अमर सन्देश है, जिसमें युद्ध की निन्दा और शान्ति की प्रशंसा की गई है। बिहार की यह मूर्द्धन्य संस्कृति हमारी दृष्टि से कभी ओझल न होनी चाहिए।

मौर्य-समुत्कर्ष के अनन्तर गुप्तयुग में बिहार की राजनीति और साहित्य ने फिर एक बार विलक्षण समुत्थान का युग प्राप्त किया। इस बार प्रतापी गुप्त-सम्राटों की छत्रच्छाया में मगध का सन्नादन-चक्र चारों दिशाओं में घूम गया। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त के नेतृत्व में पाटलिपुत्र एक सार्वभौम नगर बन गया था। ईश्वरदत्त-प्रणीत धूर्त्तविट्-संवाद नामक नाटक में कहा है: **स्थाने खलु कुसुमपुरस्यानन्यनगरसदृशी नगरमित्यविशेषग्राहिणी पृथिव्यां स्थिता कीर्त्तिः।** अर्थात्, कुसुमपुर की बेजोड़ कीर्त्ति पृथ्वी-भर में फैली हुई है और 'नगर' नाम से सर्वत्र पाटलिपुत्र का ही ग्रहण होता है। जब 'नगर' शब्द का सीधा अर्थ पाटलिपुत्र हुआ, तब 'नागरी' शब्द का अर्थ हुआ पाटलिपुत्र-सम्बन्धी। पीछे पालयुग में इस अर्थ का और भी विकास हुआ और नागरी का अर्थ हुआ उत्तर भारत की। उसी से नागरी-लिपि—इस नाम का प्रचार हुआ। वस्तुतः, पाटलिपुत्र देवनगर था और विदर्भ में दूसरा नन्दिनगर था। उसी से देवनागरी और नन्दिनागरी—ये नाम प्रसिद्ध हुए ज्ञात होते हैं। इसी ग्रन्थ में लिखा है कि बिक्री के सामान की बहुतायत तथा उसके लिए लोगों की भीड़-भाड़ के कारण पाटलिपुत्र की नाना समृद्धियों को देखकर लोग अचरज करते थे: **पण्यसमुदायाज्जनबाहुल्याच्च तांस्तान् समृद्धिविशेषान् दृष्ट्वा विस्मयते जनः।**

यहाँ के विषय में गुप्तकालीन इसी नाटक में कहा गया है—

> **दातारः सुलभाः कला बहुमता दाक्षिण्यभोग्याः स्त्रियो**
> **नोन्मत्ता धनिनो न मत्सरयुता विद्याविनीता नराः।**
> **सर्वः शिष्टकथः परस्परगुणग्राही कृतज्ञो जनः**
> **शक्यं भो नगरे सुरैरपि दिवं सन्त्यज्य लब्धुं सुखम्॥**

अर्थात्, यहाँ दान देनेवाले बहुत हैं। कलाओं का आदर है। स्त्रियों से लोग अनुकूल भाव से मिलते हैं। यहाँ के धनी मतवाले ईर्ष्यालु नहीं हैं। पुरुष यहाँ विद्या-विनीत हैं। सब लोग बातचीत में शिष्ट, परस्पर गुणग्राही और कृतज्ञ हैं। अपना स्वर्ग छोड़कर देवता भी यहाँ पाटलिपुत्र में सुख से रह सकते हैं।

गुप्तकालीन पाटलिपुत्र के विषय में और भी नई सामग्री सामने आई है—

अहो! कुसुमपुरराजमार्गस्य परा श्रीः। इह हि सुसिक्तसंमृष्टोच्चावचकुसुमोपहारा अन्यगृहाणां वासगृहायन्ते रथ्याः। नानाविधानां पण्यसमुदायानां क्रयविक्रयव्यापृतजनेन शोभन्तेऽन्तरापणमुखानि। ब्रह्मोदाहरणसङ्गीतधनुर्ज्याघोषैरन्योऽन्यमभिव्याहरन्तीव दशमुखवदनानीव प्रासादपङ्क्तयः। क्वचिदुद्घाटितगवाक्षेषु प्रासादमेघेषु रथ्यावलोकनकुतूहलाः शोभन्ते प्रमदाविद्युतः कैलासपर्वतान्तर्गता इवाप्सरसः। अपि च, प्रवरहयगजरथगता इतस्ततः परिचलन्तः शोभन्ते महामात्रमुख्याः।[1]

अर्थात्, अहो! कुसुमपुर के राजमार्ग की कैसी अपूर्व शोभा है! यहाँ की गलियाँ सुगन्धित छिड़काव, झाड़पोंछ और सब ओर फूलों के सजे ढेरों से ऐसी लग रही हैं, मानों

१. वररुचिकृत उभयाभिसारिका नाटक, चतुर्भाणी, पृ० १२५।

दूसरें घरों के सामने वासगृह हों। तरह-तरह के सामान की खरीद-फरोख्त करनेवाले ग्राहकों की भीड़ से दूकानों के अगले भाग सुन्दर लग रहे हैं। वेदाध्ययन, संगीत तथा धनुष के टंकारों से भरे हुए महल जैसे आपस में बातचीत कर रहे हैं, मानों रावण के मुख हों। कहीं मेघ-रूपी प्रासादों की खुली हुई खिड़कियों (गवाक्ष) में कैलास-पर्वत की अप्सराओं की तरह गली देखने के कुतूहल से बिजली-सी कौंधती हुई नवेली प्रमदाएँ शोभा पा रही हैं। और भी, बड़े-बड़े हाथी-घोड़ों और रथों पर सवार इधर-उधर जाते हुए महामात्रों के प्रधान कैसे भले लग रहे हैं।

स्वर्ण-युग की इस आर्थिक समृद्धि और राजनीतिक वैभव का बहुत ही अच्छा परिणाम बिहार को प्राप्त हुआ। यहाँ की साहित्यिक प्रतिभा पुनः चमक उठी, जैसा कि नालन्दा और विक्रमशिला के महान् विश्वविद्यालयों की ज्ञान-साधना और वहाँ के आचार्यों की कृतियों से ज्ञात होता है।

चीनी यात्री युवान च्वाङ्ग ने दस वर्ष तक नालन्दा में अध्ययन किया और इत्सिङ्ग ने यहाँ रहकर ५ लाख श्लोकों के ४०० संस्कृत-ग्रन्थों की प्रतिलिपि की तथा उसने नालन्दा के निम्नलिखित आठ आचार्यों का भी उल्लेख किया—

धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र तथा शीलभद्र।

यहाँ वेदशास्त्र, व्याकरण, हेतुविद्या, ज्यौतिष, गणित, आयुर्वेद आदि शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन ऊँचे स्तर पर किया जाता था। संसार के इतिहास में इस प्रकार के विशिष्ट साहित्य का कम निर्माण हुआ है। सौभाग्य से संस्कृत बौद्धदर्शन का यह विपुल साहित्य श्रीराहुलजी के प्रयत्न से पुनः पाटलिपुत्र में लौट आया है। इसमें लगभग ४०० ग्रन्थ हैं। उसके आचार्यों में कुछ नाम ये हैं—

शान्तरक्षित, जिनेन्द्रबुद्धि, रत्नकीर्त्ति, मञ्जुकीर्त्ति, मैत्रेयनाथ, यशोमित्र, रत्नाकर, शान्तिपाद, चन्द्रकीर्त्ति, शान्तिदेव, आर्यदेव, ज्ञानवज्र, समाधिवज्र, प्रज्ञाकरगुप्त, धर्मकीर्त्ति, कर्णगोमी, गुणप्रभ, मनोरथनन्दी, ज्ञानश्री, कमलशील, सर्वज्ञमित्र, रत्नमति, जयप्रभ, मातृचेट, रत्नशील।

जैसा बाण ने स्वयं लिखा है, संस्कृत-भाषा और साहित्य का लोकव्यापी अध्ययन बिहार के गाँवों में फैला हुआ था। हर्ष के यहाँ से लौटकर उसने अपने बन्धुजनों से इस प्रकार के प्रश्न पूछे—

"आपलोग इतने दिन सुख से तो रहे? यज्ञक्रिया, अग्निहोत्र आदि तो विधिवत् होता रहा? क्या विद्यार्थी समय पर पढ़ते रहे और वेदाभ्यास जारी रहा? कर्मकाण्ड, व्याकरण, न्याय और मीमांसा में आपलोगों का शास्त्राभ्यास क्या वैसा ही जारी रहा? इन प्रश्नों से ब्राह्मण-परिवारों में निरन्तर होनेवाले पठन-पाठन और शास्त्र-चिन्तन का वातावरण सूचित होता है। यह बिहार के साहित्य का स्वर्ण-युग था। उसके सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि स्वयं बाणभट्ट थे। उनकी 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' नामक रचनाएँ संस्कृत-भाषा एवं साहित्य के सर्वोच्च मानदण्ड की सूचक हैं। इनमें कादम्बरी तो निश्चय ही विश्व-

साहित्य की अनमोल कृति है। इस प्रकार की परिमार्जित रचना संस्कृत-साहित्य में भी दुर्लभ है। वह एलोरा के कैलास-मन्दिर के समान भव्य और अद्वितीय है। वाणभट्ट के बहुमुखी अध्ययन को बिहार की साहित्यिक साधना में और अधिक प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

जिस समय कि बाह्य आक्रमण के कारण बौद्धों के केन्द्रीय विश्वविद्यालय टूट गये, गाँवों के कौटुम्बिक विद्यालय उसी प्रकार जीवित रहे और आगे चलकर इनमें ही मिथिला के धर्मशास्त्र एवं नव्यन्यायशास्त्र का विकास हुआ, उस समय बिहार सारे भारतवर्ष में न्यायशास्त्र एवं हेतुविद्या का केन्द्र बन गया था।

जिस समय संस्कृत-साहित्य का स्थान अपभ्रंश-साहित्य ने लिया, उस समय भी बिहार के सिद्ध और नाथ आचार्यों ने नये स्वतन्त्र चिन्तन और निर्माण द्वारा उत्तर भारत को नया नेतृत्व प्रदान किया। उनका वह अपभ्रंश-साहित्य, दोहाकोश और चर्यापदों के रूप में नेपाल में सुरक्षित रह गया। उनमें त्रैलोक्यपाद के निरंजन-मत का दार्शनिक प्रभाव देश के अन्य प्रान्तों पर भी पड़ा एवं उत्तरकाल के निर्गुण कवि भी उससे प्रभावित हुए। साहित्यिक दृष्टि से अपभ्रंश के सिद्ध कवियों में सरहपाद सबसे अधिक प्रभावशाली थे। हर्ष की बात है कि उनके दोहाकोश की उपलब्ध सामग्री राहुलजी के सम्पादन में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने प्रकाशित कर दी है। सिद्ध और नाथ आचार्यों का मौलिक और स्वतन्त्र चिन्तन (८वीं से १२वीं शती तक) हिन्दी-साहित्य में शीतल वायु के समान था। लोकभाषाओं का सम्पर्क पाकर बिहार की साहित्यिक धारा नये वेग से प्रवाहित हुई, जिसका प्रमाण 'प्राकृतपैङ्गलम्', 'वर्णरत्नाकर' और विद्यापति की रचनाओं से प्राप्त होता है। ज्ञात होता है कि 'प्राकृतपैङ्गलम्' की टीका के कर्त्ता रविकर के पिता हरिहरब्रह्म ने 'प्राकृतपैङ्गलम्' में कुछ अपने छन्द जोड़कर उसका उद्धार किया था। विद्यापति की 'कीर्त्ति-लता' के अनुसार हरिहर, कीर्त्तिसिंह के धर्माधिकारी थे। ज्योतिरीश्वर ठक्कुर-कृत 'वर्ण-रत्नाकर' वर्णक-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है, जो १४वीं शती के पूर्वभाग में मिथिला के राजा हरिसिंहदेव के राज्यकाल में लिखा गया। यह ग्रन्थ भी अनेक प्रकार की साहित्यिक सामग्री से भरपूर है और यह आवश्यक है कि उसका एक शोधपूर्ण संस्करण, जिसमें प्रत्येक शब्द की व्याख्या हो, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित किया जाय। हाल में श्रीभोगीलालजी साण्डेसरा ने 'वर्णक-संग्रह' और श्रीअगरचन्द नाहटा ने 'सभाशृङ्गार' नामक वर्णक-साहित्य के अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। उनके साथ 'वर्णरत्नाकर' का तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिए। राजशेखर-कृत 'काव्यमीमांसा', दामोदर-कृत 'उक्ति-व्यक्तिप्रकरण', क्षेमेन्द्र-कृत 'कविकण्ठाभरण' और 'लोकप्रकाश', राजानक रुय्यक-कृत 'सहृदयहृदयदर्पण', जयमङ्गलाचार्य-कृत 'कविशिक्षा' (१२वीं शती), अमरचन्द यति-कृत 'काव्यकल्पलता' (१३वीं शती), सोमेश्वर-कृत 'मानसोल्लास' (११२४ ई०), भोजकृत 'युक्तिकल्पतरु', 'साम्राज्यलक्ष्मी-पीठिका', सूदन-कृत 'सुजानचरित' आदि इस प्रकार के ग्रन्थ हैं, जिनमें वर्णक-सामग्री के भाण्डार भरे हैं। इन सबमें ज्योतिरीश्वर की रचना मौलिक सामग्री की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य की शब्दावली को समझने के लिए उसका बहुत अधिक महत्त्व है।

संस्कृत, अवहट्ट और मैथिली भाषाओं के असाधारण महाकवि विद्यापति ने (१३६०—१४४० ई०) बिहार के मस्तक को समस्त देश में ऊँचा उठाया। उनकी अवहट्ट-कृति 'कीर्त्तिलता' और 'मैथिली-पदावली' आज भी हिन्दी-साहित्य के गौरव हैं। जायसी से १०० वर्ष और गोस्वामीजी से लगभग १५० वर्ष पूर्व के लेखक विद्यापति ने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी-साहित्य को नई शक्ति प्रदान की। उस निधि के उचित प्रकाशन की ओर ध्यान देना हमारा कर्त्तव्य है। भाषा की दृष्टि से विद्यापति बहुत ही समर्थ कवि थे, जैसा उनकी अवहट्ट-रचना 'कीर्त्तिलता' और 'कीर्त्तिपताका' से ज्ञात होता है। 'कीर्त्तिलता' का पठन-पाठन बिहार के हिन्दी-क्षेत्रों में और अधिक होना चाहिए। विद्यापति की अवहट्ट-भाषा शुद्ध अपभ्रंश से एक पग आगे बढ़ी हुई थी और वह मैथिली का पूर्वरूप थी। उसके कई सौ शब्द अभी तक ठीक प्रकार नहीं समझे गये। उसके निदर्शन के लिए यहाँ हम तीन उदाहरण देना आवश्यक समझते हैं—

सराफे सराहे भरे बे वि बाजू।
तौलन्ति हेरा लसूला पे आजू॥

—कीर्त्ति० २।१६४-६५

बाबूराम सक्सेना—दोनों ओर सराफे की दूकानें थीं। लसुन, प्याज तौला जा रहा था।

शिवप्रसाद—सड़कों के दोनों बाजू सराफों से भरे हुए थे, कहीं हल्दी, लसुन और प्याज तौल रहे थे।

उमेशमिश्र—दूनू काात में दारू सँ भरल सरबा सभ छल (?) हेर-फेर कए लहसुन ओ पिआजु तौलल जाइत छल।

संजीवनी—दोनों तरफ श्लाघनीय (सराहे) सराफे के बाजार भरे थे। वहाँ हीरा (हेरा), लहसुनियाँ (लसूलाँ), फिरोजा (पेआजू) नामक रत्न तौले जा रहे थे।

मषदूम नरावइ दोम जओ हाथ ददस दल णारओ।

—कीर्त्ति० २।१९०

बाबू०—मखदूम डोम की तरह दसों दिशाओं से हाथ में भोजन ले आता है(?)।

शिव०—मखदूम (मालिक) दसों तरफ डोम की तरह हाथ फैलाता है।

उमेशमिश्र—मखदूम डोम जकाँ दस द्वार में हाथ दैत अछि (?)।

संजी०—मखदूम नरकपति के समान माना जाता है। जब वह प्रेतात्माओं को बुलाकर हदस (अंगूठी के नग में प्रेतात्माओं का दर्शन कराना) द्वारा उन्हें जल्दी-जल्दी दिखाता है, तो देखनेवाले को डर लगता है और उन्हें पीडा पहुँचती है।

अस पष एकचोई गणिअ न होइ सरइचा सरमाणा।
वारिग्गह मंडल दिग आखंडल पट्टन परिठम भाणा॥

—कीर्त्ति० ४।१२०-२१

बाबू०—मेघ-मण्डल जैसे इन्द्र की दिशा को घेर लेता है, उसी प्रकार सारे नगर को (सेना ने) घेर लिया था।

शिव०—इन्होंने इन पंक्तियों का अर्थ नहीं दिया।

उमेशमिश्र—जेना मेघसम पूब दिसा कें घेर लेने हो तेना एहि नगर कें सेना घेरि नेने छलैक।

संजी०—आसपास में लगे हुए एकचोई, सरइचा और सरमान नामक तम्बुओं की गिनती नहीं हो सकती थी। बारिगाह और मण्डल नामक बड़े और सुन्दर शामियानों से पूर्वी दिशा की राजधानी जौनपुर का यश प्रसिद्ध हो रहा था।

विद्यापति के मूल हस्तलेखों की खोज अभी और होनी चाहिए। उनका 'गोरक्ष-विजय' नाटक हमें एक दूसरे प्रकार के साहित्य की ओर ले जाता है, जिसमें संस्कृत-प्राकृत के श्लोक एवं संवादों के साथ प्राचीन मैथिली के गीतों को भी स्थान दिया गया है। उमापति-कृत 'पारिजातहरण' और विद्यापति-कृत 'गोरक्षविजय' इस क्षेत्र की मूर्द्धन्य कृतियाँ हैं और हिन्दी-भाषा के सबसे प्राचीन नाटक हैं। बिहार में यह परम्परा लगभग ५०० वर्षों तक जीवित रही। मिथिला के पण्डितों ने नव्यन्याय के क्षेत्र में जो महान् बौद्धिक कार्य किया, उसकी छाप सारे भारतवर्ष के शास्त्राभ्यास पर पड़ी। इसके सबसे बड़े आचार्य गंगेश लगभग १३वीं शती में हुए, जिन्होंने 'तत्त्वचिन्तामणि' लिखकर 'पदार्थविवेचन' की अपेक्षा 'प्रमाणविवेचन' की एक नई पद्धति को जन्म दिया, जो १३वीं से १६वीं शती तक अनेक आचार्यों द्वारा विकसित हुई। इस परम्परा में मुख्य नाम ये हैं—

गंगेश के पुत्र वर्द्धमान (तत्त्वचिन्तामणिप्रकाश, न्यायपरिशिष्टप्रकाश, न्याय-कुसुमाञ्जलिप्रकाश आदि); पक्षधरमिश्र (१५वीं शती : तत्त्वचिन्तामणि-आलोक, द्रव्य-पदार्थ, लीलावतीविवेक); वासुदेवमिश्र (तत्त्वचिन्तामणि-टीका); रुचिदत्तमिश्र (तत्त्व-चिन्तामणिप्रकाश, न्यायकुसुमाञ्जलि-प्रकाशमकरन्द); शंकरमिश्र (तत्त्वचिन्तामणिमयूख, वैशेषिक उपस्कर); वाचस्पतिमिश्र (अनुमानखण्ड-टीका, न्यायसूत्रोद्धार); भगीरथ ठाकुर (कुसुमाञ्जलिप्रकाशप्रकाशिका) और महेश ठाकुर (आलोकदर्पण)।

मीमांसा और धर्मशास्त्र के क्षेत्र में भी मिथिला के विद्वानों ने मौलिक भाग लिया। उसमें कुमारिलभट्ट (श्लोकवार्त्तिक, तन्त्रवार्त्तिक, टुप्टीका) और उनके भगिनीपति मण्डन-मिश्र (विधिविवेक, भावनाविवेक) के नाम उल्लेख्य हैं, जिनकी ख्याति न केवल बिहार, अपितु समस्त भारतवर्ष में हुई। मीमांसाशास्त्र का यह पाण्डित्य पं० गंगानाथ झा और वैदिक साहित्य के मौलिक अनुसन्धान का पर्यवसान पण्डित मधुसूदन ओझा के रूप में इसी बीसवीं शती में हुआ। वैदिक विज्ञान के समुद्धार का जैसा कार्य पं० मधुसूदनजी ने किया, वैसा तो पिछले दो सहस्र वर्षों में कहीं देखने में नहीं आया। उन्होंने वैदिक विज्ञान, यज्ञ-विद्या और इतिहास पर लगभग दो सौ ग्रन्थ संस्कृत-भाषा में लिखे। यद्यपि उनका कार्य-क्षेत्र जयपुर रहा, तथापि वे मिथिला की ही विभूति थे। यदि सम्भव हो, तो उनके साहित्य का कुछ प्रकाशन बिहार से भी होना चाहिए।

धर्मशास्त्र एवं निबन्ध-ग्रन्थ के क्षेत्र में मिथिला के महापण्डित चण्डेश्वर ने 'स्मृति-रत्नाकर' (१४वीं शती) और वाचस्पतिमिश्र (१५वीं शती का उत्तरार्द्ध) ने 'विवाद-चिन्तामणि' की रचना की।

इस प्रकार, भारतीय साहित्य के राजमार्गों का अन्वेषण करते हुए हमें बार-बार बिहार और मिथिला की ओर लौटना पड़ता है, यह बहुत आनन्द का विषय है। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् को यथाशक्ति अपने इस उत्तराधिकार के प्रति सजग होना चाहिए। उसके उत्तराधिकार का एक चतुर्भुजी दिक्स्वस्तिक है। प्राचीन साहित्य, मध्यकालीन हिन्दी-सन्तसाहित्य, लोक-साहित्य और अर्वाचीन युग-साहित्य—ये इस कर्त्तव्य-स्वस्तिक की चार दिशाएँ हैं। ऊपर हमने बिहार के वाङ्मय-पुरुष का जो विराट् चित्र खींचा है, वह अत्यन्त गौरवमय तो है ही, हमें भविष्य के लिए कर्त्तव्य की प्रेरणा भी देता है। बिहार के साहित्यसेवियों को, चाहे वे किसी भी क्षेत्र में हों, इस साहित्यिक उत्तराधिकार के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करना चाहिए। इस दृष्टि से बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का कार्यक्षेत्र और कर्त्तव्य-भार बहुत गौरवपूर्ण बन जाते हैं। मुझे यह स्वीकार करते हुए प्रसन्नता होती है कि परिषद् के भूतपूर्व और वर्त्तमान अधिकारियों ने इसे पहचाना है।

ऊपर हमने साहित्य के रसमय पक्ष की चर्चा की; किन्तु हिन्दी-भाषा का एक दूसरा पक्ष भी है, जिसमें कुछ विवादों का समावेश भी होता है। बिहार, उत्तरप्रदेश मध्यप्रदेश और राजस्थान के लगभग बीस करोड़ जनसमुदाय की मातृभाषा, जनभाषा और राज्यभाषा हिन्दी है। इस बलिष्ठ जीवन-सत्ता के उपकरणों से हिन्दी-वाङ्मय का स्वरूप बन रहा है। भविष्य में भी यही उसका साधन होगा।

अपने देश में छुल्लक-भाषाएँ अनेक हैं। जैनशास्त्रों में उनकी संख्या सात सौ तक कही गई है, जो पदयात्री जैन साधुओं ने स्वयं देखकर निश्चित की होगी। प्रादेशिक भाषाएँ भी लगभग चौदह हैं। उन सबको जीवित रहने और पनपने का अधिकार है, किन्तु उन सबके मध्य में महाभाषा हिन्दी ही है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा इसलिए स्वीकृत किया गया है कि वैसा करना देश की अनिवार्य आवश्यकता है। हिन्दी के हित में सब प्रादेशिक भाषाओं का हित है और उनके हित में हिन्दी का हित निहित है। काश्मीरी, पंजाबी, सिन्धी, बँगला, असमिया, उड़िया, तेलुगु, तमिल, मलयालम, कन्नड, मराठी, गुजराती—इन सब भाषाओं की वृद्धि हिन्दी के सांस्कृतिक उत्तराधिकार को ही आगे बढ़ाती है। अतएव, इनके साथ हिन्दी का विरोध न पहले कभी था और न इस समय हिन्दी-क्षेत्र में कहीं है और न आगे होने का कोई कारण है। यह तथ्य भारतीय एकता और हिन्दी की हितवृद्धि का सुदृढ़ आधार है। वक्र राजनीति से राष्ट्रीय ऐक्य की रक्षा बहुत अंशों में इसी दृष्टिकोण से सकुशल रह सकेगी। आज हमारे भय का कारण भाषा या साहित्य नहीं, किन्तु राजनीति से जन्म लेनेवाले अधिकारों के लड़ते हुए दावे हैं, जो मनुष्यों के सुन्दर-स्वच्छ विचारों को मलिन धुएँ से भर देते हैं।

हमारे देश के इतिहास में भेद और एकता के दो सूत्र बटे हुए हैं। जनभेद, धर्मभेद और भाषाभेद—ये तीनों प्रकृति की ओर से ही हमें प्राप्त हैं। जैसा कि अथर्ववेद के ऋषि ने संस्कृति के उषःकाल में ही कह दिया था—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं ।
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ॥—अथर्ववेद, पृ० सू०, १२।१।४५

किन्तु, हमारी संस्कृति का भू-सन्निवेश करनेवाले ऋषियों ने इन भेदों से खिन्न न होकर इन्हें स्वीकार किया और इनके भीतर छिपी हुई एकता को अपनी प्रज्ञा के बल से ढूँढ़ निकाला—वही मातृभूमि का हृदय है। इस देश में हृदय के भावों की भाषा एक है, वही यहाँ की सांस्कृतिक निधि है। उस केन्द्र के साथ सब प्रदेश और समस्त भारतीय भाषाएँ जुड़ी हुई हैं और सांस्कृतिक एकता का पोषण करती हुई आज भी जीवित हैं।

यही हिन्दी-भाषा का महान् उत्तराधिकार है—वेदों और उपनिषदों का महान् साहित्य। इसी के साथ पुराण, रामायण, महाभारत, संस्कृत का महान् साहित्य, पालि, त्रिपिटक और अर्द्धमागधी जैनागम—इस विशाल साहित्य का उत्तराधिकार हिन्दी-भाषा को प्राप्त हुआ है। यह साहित्य विश्व के दूसरे बड़े साहित्यों के साथ स्पर्द्धा रखता है। इसे उचित रूप में नवीन भाष्य और टीकाओं के साथ प्रकाशित करना हिन्दी-साहित्य-सेवियों का आवश्यक कर्त्तव्य है। प्रसन्नता की बात है कि बिहार-प्रदेश ने अपनी कई संस्थाओं द्वारा इस कार्य का सूत्रन्यास पहले ही कर दिया है। मुझे आशा है कि निकट भविष्य में इस साहित्य के उद्धार का कार्य और भी प्रचण्ड गति से होकर रहेगा।

मेरी दृष्टि में हिन्दी का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न नये साहित्य का निर्माण और प्रकाशन है। यदि उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार और राजस्थान के चार बड़े राज्य, जो आधे यूरोप के बराबर हैं, हिन्दी के लिए ठोस साहित्य-निर्माण और साहित्य का प्रचार करना चाहें, तो वे अपनी शक्ति से सबसे आगे बढ़ जायेंगे और उनके क्रियाशील निर्णयों को कोई रोक नहीं सकेगा। यदि ये चारों राज्य हिन्दी के लिए एक-एक करोड़ रुपये का विनियोग अगले पाँच वर्षों में कर सकें और कार्य की सुसमीक्षित योजना बना सकें, तो हिन्दी के भीतर से एक बड़ी प्रेरणा उत्पन्न होगी, जो हिन्दी-साहित्य और भाषा का भविष्य उज्ज्वल कर सकेगी।

साहित्य-निर्माण और साहित्य-प्रकाशन—इन दो क्षेत्रों में बहुमुखी कार्य शीघ्र पूरा करना है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान देना होगा—

१. हिन्दी-भाषा का बृहत् इतिहास सर्वांगपूर्ण होना चाहिए। सर्वप्रथम हिन्दी-क्षेत्र के चार महाप्रदेशों का अपना-अपना इतिहास पाँच-पाँच भागों में बनना आवश्यक है। अन्त में उनके आधार पर समस्त धार्मिक, दार्शनिक और भाषागत आन्दोलनों का सूत्रात्मक इतिहास लिखा जाना चाहिए, जिसमें हिन्दी के निजी क्षेत्र की कथा भी हो और अन्य क्षेत्रों के साथ आदान-प्रदान का ठीक मूल्यांकन हो। इस योजना में (क) पूर्वयुग (आरम्भ से सप्तम शती तक) की संस्कृत और प्राकृत-भाषाओं के इतिहास की क्षेत्रीय पृष्ठभूमि का दिग्दर्शन, (ख) आदियुग (सात सौ से बारह सौ तक), (ग) पूर्व-मध्ययुग (बारह सौ से सोलह सौ तक), (घ) उत्तर-मध्ययुग (सोलह सौ से अट्ठारह सौ तक), (ङ) अर्वाचीन युग (उन्नीसवीं और बीसवीं शती)। इस प्रकार, इतिहास के पाँच खण्डों का क्रम रखा जा सकता है।

२. हिन्दी की क्षेत्रीय बोलियों के पृथक्-पृथक् कोश तथा हिन्दी-भाषा और साहित्य का एक बृहत् कोश।

३. हिन्दी-भाषा के विकास का सर्वांगपूर्ण व्याकरण।

४. हिन्दी-शब्दों का व्युत्पत्ति-कोश—इस प्रकार का व्युत्पत्ति-कोश अभी किसी भी प्रादेशिक भाषा में नहीं बना है। हिन्दी को इस विषय में प्रयत्न और पथ-प्रदर्शन करना चाहिए।

५. हिन्दी के विशाल क्षेत्र में, जो हिमालय से दक्षिण कोसल तक और राजस्थान से बिहार तक फैला है, लोकवार्त्ता, लोकसाहित्य और बोलियों का संकलन, अध्ययन और प्रकाशन।

६. हिन्दी के सर्वांगपूर्ण चार पुस्तकालयों की स्थापना, जिनके विषय में यह कहा जा सके कि हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में जो कुछ अबतक लिखा गया है, वह सब वहाँ संगृहीत है। Every thing about India under the sun is our library—यह वाक्य मेरे एक अँगरेज-मित्र ने 'स्कूल ऑव ओरियण्टल स्टडीज, लन्दन' के पुस्तकालय के विषय में मुझसे कहा था। वही सूत्र हिन्दी के पुस्तकालय के सम्बन्ध में भी लागू होता है। हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य का निर्माण और प्रकाशन—इस प्रकार के कुछ बड़े कार्य हिन्दी के सामने हैं, उनके पूरा करने से ही हिन्दी आगे बढ़ सकता है। दूसरी ओर यह देखकर प्रसन्नता होती है कि हिन्दी की साधन-सामग्री भी अन्य स्वदेशी भाषाओं की तुलना में कुछ कम नहीं है। हिन्दी-क्षेत्र में लगभग पन्द्रह विश्वविद्यालय काम कर रहे हैं। उनमें हिन्दी-अध्यापकों की संख्या सौ के लगभग है और प्रतिवर्ष छात्रों की भी बड़ी संख्या तैयार हो रही है। प्रत्येक अध्यापक और छात्र हिन्दी की बढ़ती हुई सेना का एक सैनिक है, जिसके द्वारा हिन्दी के ऊपर लिखे हुए कार्य भविष्य में पूरे कराये जा सकते हैं। इसी के साथ अन्य भाषाओं के अच्छे ग्रन्थों के अनुवाद का भी कार्य है।

इस विषय में शासन, जनता और संस्थाओं का अपना-अपना और सम्मिलित कर्त्तव्य भी है। प्रत्येक हिन्दी-प्रदेश को चाहिए कि अपने-अपने यहाँ हिन्दी का एक निदेशालय स्थापित करे, जो शासन के स्तर पर हिन्दी के सर्वेक्षण का कार्य करे और हिन्दी के संगठन, वृद्धि तथा प्रसार के लिए आवश्यक प्रेरणा देता रहे। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि प्रत्येक हिन्दी-प्रदेश से लगभग एक सहस्र अच्छे स्तर की पुस्तकें अगले पाँच वर्षों में प्रकाशित हो सकें। इस कार्य में शासन, प्रकाशन-गृह और साहित्य-संस्थाओं का सहयोग आवश्यक है। इसके लिए एक ऐसी योजना स्थिर होनी चाहिए कि जो अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित हों, उनकी दो हजार प्रतियाँ चारों हिन्दी-राज्य मिलकर ले लें। इस योजना का प्रभाव साहित्य-निर्माण के लिए चमत्कारपूर्ण होगा। शासन को न्यायोचित व्यावहारिक ढंग से अपना सहयोग देना आवश्यक होगा। शेष प्रकाशक स्वयं करेंगे। जहाँ इस प्रकार का निश्चित आश्वासन प्राप्त होने लगेगा, वहाँ लेखक और प्रकाशक दोनों के उत्साह की मात्रा में अतीव वृद्धि होगी। यदि प्रत्येक अच्छे ग्रन्थ के प्रथम संस्करण की दो सहस्र प्रतियों का विक्रय पहले से निश्चित हो, तो पाँच वर्षों में ही उसका अच्छा फल स्वयं दिखाई पड़ेगा।

हिन्दी-भाषा के कई रूप हमारे सामने हैं और उनमें से प्रत्येक के प्रति हम कर्त्तव्य के ऋण से बँधे हैं। कुछ को हम अभी सँभाल सकते हैं और कुछ संघर्ष के अधीन हैं। प्रश्न यह है कि जनता को भी अपनी भाषा के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। विशेषतः व्यापारी-वर्ग को अपने हिसाब-किताब, बैंक, बीमा, डाक-तार और रेल से सम्बद्ध कार्यवाही के लिए हिन्दी-भाषा को अपनाना चाहिए। यह तो हमारे अपने हाथ की बात है। इस क्षेत्र में हिन्दी की निरन्तर उपेक्षा का अब अन्त करना ही होगा। यहाँ व्यापारी-वर्ग को हिन्दी के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। हिन्दी की संस्थाओं को भी इस ओर सक्रिय आन्दोलन करना आवश्यक है। हिन्दी के प्रति शासन के कर्त्तव्य की चर्चा कुछ ऊपर की है। इसमें कोई सन्देह अब नहीं रह जाता कि भविष्य में प्रादेशिक शासन और लोकसभा का कार्य हिन्दी के माध्यम से ही चलनेवाला है। कुछ बुद्धिमान् अधिकारियों ने ऐसा कर भी दिया है। शेष को भी इसी मार्ग पर आना होगा। इस विषय में कड़ाई बरतने की तत्काल आवश्यकता है।

शिक्षा-संस्थाओं में अँगरेजी की अवस्था दयनीय हो चुकी है, जैसा कि हम चारों ओर देखते हैं। वहाँ कुछ लोग अँगरेजी को यथापूर्व बनाये रखना चाहते हैं। परन्तु, अब ऐसा करना असम्भव है और जनता के धन एवं छात्रों के मनोबल की व्यर्थ हानि है। हाइ स्कूल की कक्षाओं तक अब अँगरेजी हट ही जानी चाहिए; क्योंकि वह मातृभाषा के अच्छे ज्ञान में बाधक होती है। एम्० ए० तक की कक्षाओं में भी अधिकांश छात्रों के अँगरेजी-ज्ञान का बल टूट गया है। उसे फिर से पुष्ट करना एक मोह है, जिसे पुराने लोग नहीं देख पाते; किन्तु छात्रों की नई पीढ़ी एक स्वर से अब अँगरेजी को नहीं चाहती। सन्तोष की बात है कि हिन्दी-प्रदेश के अधिकांश विश्वविद्यालयों ने एम्० ए० और पी-एच्० डी० की शिक्षा के लिए हिन्दी-भाषा के माध्यम को स्वीकार कर लिया है। विशेषतः हिन्दी, विषय को लेकर इस समय व्यापक शोधकार्य हो रहा है। यह शुभ लक्षण है; क्योंकि हिन्दी में इससे नया शोध-साहित्य तो बनता ही है, भविष्य के लिए ऊँचे स्तर पर सोचने और लिखने की कला का भी विकास हो रहा है।

हिन्दी के भावी विकास के विषय में मेरा दृष्टिकोण आशावादी है। भविष्य में अँगरेजी से संघर्ष भले ही हो, पर जो अँगरेजी जा चुकी है, अब वह लौटकर आनेवाली नहीं। हाँ, केन्द्रीय शासन के द्वारा अँगरेजी को जो संरक्षण पहले से मिलता आया है, वह अभी बना है और उसी के साथ हिन्दी को जोरदार टक्कर लेनी है। पर, हमें अधीर नहीं होना चाहिए। अँगरेजी का बोझ हमारी दासता का दुष्परिणाम है। उसे हटाये बिना राष्ट्र का मस्तक ऊँचा नहीं उठ सकता। यह शोक है कि पन्द्रह वर्षों तक अधिक अन्न उपजाने का आन्दोलन हमने अँगरेजी के माध्यम से ही किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि हम अपना अभिप्राय किसान तक नहीं पहुँचा सके; क्योंकि हमने अपनी बात किसान की भाषा में कभी नहीं कही। दफ्तरों में, अस्पतालों में, सार्वजनिक कार्यालयों में सर्वत्र हमें उस महाकरुणा की आवश्यकता है, जो केवल मातृभाषा के द्वारा ही अनुभव में आ सके।

अँगरेजी के हिमायती तथ्यों को इस प्रकार रखते हैं, जैसे हिन्दी का प्रादेशिक भाषाओं से कोई विरोध हो। इस प्रकार का कृत्रिम संघर्ष उत्पन्न करके वे अँगरेजी का हित साधना चाहते हैं। बात इससे उल्टी है। हिन्दी, बँगला, गुजराती आदि स्थानीय भाषाएँ सब अँगरेजी के कारण हतप्रभ हैं; क्योंकि सबके सिर पर अँगरेजी बैठी है। इसलिए प्रत्येक भाषा अपने अधिकार-क्षेत्र में घाटे से चल रही है। हिन्दी समस्त भारतीय भाषाओं के साथ समन्वय का मार्ग ढूँढ़ती है। हिन्दी के विद्वानों की इच्छा है कि अन्य भारतीय भाषाओं का सर्वश्रेष्ठ साहित्य हिन्दी में आ जाय। इस विषय में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने अबतक बहुत अच्छा काम किया है और भविष्य में इसके और बढ़ने की आशा है। कम्बन, शंकरदेव, चैतन्य, कृत्तिवास, ज्ञानदेव, शारदादास, पोतनामात्य आदि सैकड़ों कवि और लेखक, जो भारत-भूमि में उत्पन्न हुए हैं, सभी हिन्दी के प्रिय हैं। उनके भाव हम सबके लिए सुगम हैं। अखिलभारतीय स्तर पर विश्वात्मा मानव का जन्म हो रहा है। उसी का समर्थन और सांस्कृतिक पोषण हिन्दी को अभीष्ट है। हिन्दी की जय में अन्य सभी भारतीय भाषाओं की जय का अमृत-सन्देश सन्निहित है। इसका हमें सम्प्रीति और समन्वय के मार्ग से आवाहन करना चाहिए। हम सबका श्रद्धेय देवता एक है, यद्यपि आगम अनेक हैं। वही सत्य हमारे जीवन में स्फुट भासना चाहिए, जैसा श्रीसरहपाद ने कहा था—

एक्कु देव बहु आगम दीसइ।
अप्पणु इच्छें फुड्ड पडिहासइ॥

[२७ मार्च, १९६४ ई०]

●●

भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा

"पुण्यमयी श्रीराधा के वास्तविक तत्त्वज्ञान तक पहुँचने के लिए आचार्य श्रीबलदेव उपाध्यायजी का यह सचित्र ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है। उन्होंने बड़ी विद्वत्ता के साथ अपने विषय का निर्वाह किया है। भारत की समस्त भाषाओं में प्राप्य श्रीराधा-सम्बन्धी जिस काव्य-माधुरी को उन्होंने अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है, वह एक स्तुत्य प्रयास है। ग्रन्थ हर दृष्टि से सुन्दर और संग्रहणीय बन पड़ा है। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् इतनी कलात्मक साज-सज्जा के साथ उच्च कोटि के ग्रन्थों का प्रकाशन कर राष्ट्रभाषा के भाण्डार को समृद्ध कर रही है।"

—मा० 'विश्वज्योति' (होशियारपुर); मई, १९६४ ई०

●

आचार्य नरेन्द्रदेव : एक संस्मरण

महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज

आचार्य नरेन्द्रदेव को भारत के शिक्षित समाज में कौन नहीं जानता। महात्मा गांधी द्वारा प्रवर्त्तित स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में, काशी-विद्यापीठ के उद्भव और क्रम-परिणति के इतिहास में, लखनऊ-विश्वविद्यालय तथा हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रशासन के इतिहास में, शिक्षा-संस्कार के विषय में उठे आन्दोलन के इतिहास में और भारतीय समाज-विज्ञान के चिन्ताशील मनीषियों में उनका नाम सुपरिचित है। परन्तु, मेरे साथ उनका जो परिचय था, उसका स्वरूप इन सबसे विलक्षण है।

नरेन्द्रदेवजी मेरे सहपाठी थे, यह तो सभी जानते हैं। मेरे साथ वे बनारस-क्वींस कॉलेज में एम्० ए० (षष्ठ वर्ष) में पढ़ते थे। हमलोगों ने सन् १९१३ ई० में एक ही साथ एम्० ए० पास किया; परन्तु इस विषय में जो कुछ कहना है, उसे मैं आगे कहूँगा। वास्तव में, नरेन्द्रदेव से मेरा प्रथम परिचय मार्च, १९११ ई० में आ था।

इस परिचय का एक संक्षिप्त इतिहास है। मई, १९१० ई० में, मैं राजस्थान के जयपुर महाराजा-कॉलेज से बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण होकर बनारस-क्वींस कॉलेज के एम्० ए० प्रथम वर्ष में प्रविष्ट हुआ। मेरी रुचि दर्शन, संस्कृत और भारत के प्राचीन इतिहास में अधिक थी। उस समय क्वींस कॉलेज के अध्यक्ष थे सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० आर्थर वेनिस, जो संस्कृत एवं अँगरेजी दोनों विभागों के अधिष्ठाता भी थे। उन्होंने स्वयं प्राचीन पद्धति के अनुसार वेदान्त-ग्रन्थों का महामहोपाध्याय कैलासचन्द्रशिरोमणि, महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री तैलंग मानवल्ली प्रभृति पण्डितों से अध्ययन किया था और उन विषयों में उच्च कोटि के विशिष्ट ग्रन्थों (जैसे, वेदान्तपरिभाषा, पञ्चपादिका, सिद्धान्तलेशसंग्रह, वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली प्रभृति) का अँगरेजी में निपुणता के साथ अनुवाद भी किया था। डॉ० वेनिस वर्त्तमान पाश्चात्य दर्शन के अतिरिक्त प्राचीन ग्रीक दर्शन में भी निष्णात थे। भारतीय प्राचीन इतिहास के क्षेत्र में भी वे प्राचीन शिलालेख, प्राचीन मुद्रा-विज्ञान (न्युमिस्मेटिक्स : Numismatics) प्रभृति विषयों के विशेषज्ञ थे। उनके अतिरिक्त उस समय कॉलेज में अध्यापक नार्मन, अध्यापक मालवेनी, अध्यापक रैण्डल प्रभृति विविध भाषाविद् पण्डित थे और संस्कृत-विभाग में अनेक प्रख्यातनामा विद्वान् थे। मैंने डॉ० वेनिस के निर्देशानुसार संस्कृत एम्० ए० की पंचमवर्षीय श्रेणी के बाद षष्ठ वर्ष के लिए 'डी' ग्रूप लेने का संकल्प किया। सन् १९११ ई० के मार्च महीने में पंचम वर्ष की परीक्षा देने के लिए मैं इलाहाबाद गया। यह प्रायः २२ मार्च की बात है। वहाँ जाकर मैं पहले विहारीलाल की धर्मशाला में ठहरा और परीक्षा-पर्यन्त रहने के लिए अच्छे स्थान का अन्वेषण करने लगा। इलाहाबाद में उस समय गंगाप्रताप गुप्त नाम के मेरे एक पुराने

मित्र रहते थे। वे जयपुर-निवासी थे और इसी सूत्र से मेरा उनका पुराना परिचय था। वे पहले 'मैकडानेल हिन्दू बोर्डिंग हाउस' में रहते थे, पर वे उस समय स्वतन्त्र रूप से नौ नम्बर 'लॉ होस्टल' में, कटरा के पास रहते थे। मैं जिस स्थान पर ठहरा था, वहीं से किसी आदमी के द्वारा मैंने उनको खबर भेजी। गंगाप्रतापजी ने मेरा पत्र पाकर उसी आदमी के द्वारा जवाब दिया और लिखा कि वे धर्मशाला में मेरे ठहरने से दुःखी हैं। उनका आशय यह था कि मुझे काशी से आकर सीधे उन्हीं के यहाँ ठहरना चाहिए था और वहीं से आगे का सारा प्रबन्ध हो जाता। वस्तुतः, इसके पहले ही जब मैं काशी में था, उन्होंने लिखा था कि वे इलाहाबाद में मेरे ठहरने का प्रबन्ध कर देंगे। और, उन्होंने यह सलाह भी दी थी कि मैं अप्रैल के प्रारम्भ में ही वहाँ आऊँ। यह पत्र उन्होंने मुझे प्रो० नार्मन के पते पर लिखा था। उस समय मैं डॉ० वेनिस के निर्देश के अनुसार प्रो० नार्मन के पास प्राकृत और पालि के अध्ययन के लिए रोज जाया करता था। वह पत्र मुझे यथासमय मिला था। उसमें उन्होंने मुझे यह लिखा था कि परीक्षा के समय 'लॉ होस्टल' में, जहाँ वे रहते थे, रहना ठीक नहीं होगा; क्योंकि उससे अध्ययन में विक्षेप सम्भव था। इसीलिए, उन्होंने मेरे रहने का प्रबन्ध अपने घनिष्ठ बन्धु नरेन्द्रदेव के स्थान पर किया था। वह स्थान भी कटरा के निकट ही था। वहाँ अध्ययन में विक्षेप की सम्भावना नहीं थी, चारों तरफ शान्त वातावरण था। उन्होंने यह भी लिखा था कि नरेन्द्रदेव उस समय बी० ए० की परीक्षा दे रहे हैं। वे जिस स्थान पर थे, वहाँ उनके साथी इण्टरमीडिएट के कैंडिडेट भी रहते थे। नरेन्द्रदेव की अत्यन्त प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा था कि वहीं मेरा रहना ठीक होगा। यह पत्र उन्होंने मेरे काशी में रहते समय प्रोफेसर नार्मन के छात्र स्थानीय शिक्षक भिखाजी पन्त घाणेकर के माध्यम से मेरे निकट भेजा था। घाणेकरजी भी प्रतिदिन प्रो० नार्मन के घर पढ़ने जाते थे। प्रो० नार्मन ने यह पत्र भेजते हुए मुझे लिखा था कि प्रिंसिपल के आदेश के अनुसार परीक्षा की तैयारी के लिए हमलोगों का इवनिंग क्लास बन्द रहेगा। इसीलिए, मैं पहली या दूसरी अप्रैल को इलाहाबाद जाने का अपना विचार बदलकर कुछ दिन पहले ही रवाना हो गया। खैर, मैं धर्मशाला से गंगाप्रतापजी के यहाँ पहुँचा और वहाँ से नरेन्द्रदेवजी के स्थान पर गया और उनके साथ रहने लगा। इसी सूत्र से नरेन्द्रदेवजी के साथ मेरा परिचय हुआ।

केवल परिचय ही नहीं हुआ, इसी के साथ और भी कुछ उनसे मिला—अकृत्रिम सौहार्द, जो उनके मृत्यु-समय तक विद्यमान रहा। मैं उन्हीं के साथ रहने लगा। गंगा-प्रतापजी बीच-बीच में आकर मेरा निरीक्षण करते थे और देखते थे कि किसी प्रकार की असुविधा तो नहीं है। वस्तुतः, वहाँ असुविधा की कोई बात ही नहीं थी; क्योंकि नरेन्द्रदेवजी प्रत्येक विषय में मेरे लिए चिन्तित रहते थे और जिस समय जो आवश्यकता होती थी, उसका प्रबन्ध कर देते थे। उन दिनों मेरे ऊपर कभी-कभी मलेरिया-ज्वर का आक्रमण होता था। मैं जिस समय इलाहाबाद में था, उस समय भी मुझपर उसका आक्रमण हुआ था। उस समय नरेन्द्रदेवजी के स्नेह, सेवापरायणता, चित्त का औदार्य

आदि गुणों का मुझे परिचय मिला था। मुझसे उनका पूर्व परिचय नहीं था। एक मित्र के परिचय-सूत्र से मैं उनसे परिचित हुआ था। परन्तु, उनके हृदय में जो स्वाभाविक सेवा-भक्ति का अधिष्ठान था, वह क्षेत्र पाकर कार्योन्मुख हुआ और उसने मुझे मुग्ध कर दिया।

हम दोनों भारतीय संस्कृति के अनुरागी थे। स्वदेशी आन्दोलन का स्वरूप तब कालोचित रंग से रंजित हुआ था। इस सूत्र को लेकर भी हमलोगों के अन्दर सूक्ष्म भावमय निकट सम्पर्क स्थापित हुआ था, जिसका क्रमिक विकास साहित्य-प्रवृत्तियों के माध्यम से प्रकट हुआ।

[२]

पंचम वर्ष की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर मैं षष्ठ वर्ष में प्रविष्ट हुआ। यह सन् १९११ ई० के जुलाई-मास की बात है। अकस्मात् कठिन रोग से आक्रान्त होकर मुझे कुछ महीनों के लिए चिकित्सा के हेतु बनारस छोड़कर कलकत्ता जाना पड़ा। मैं षष्ठ वर्ष में प्रविष्ट तो हुआ था, परन्तु पढ़ने का अवसर नहीं मिला। मैंने पढ़ना छोड़ दिया और दो-तीन मास कलकत्ता में रहकर अपनी चिकित्सा कराई और कुछ आरोग्य-लाभ करके वायु-परिवर्त्तन के लिए पुरी चला गया। डॉ० वेनिस की सलाह के अनुसार ही मैं कलकत्ता गया था, और एक साल के लिए अध्ययन का त्याग भी कर दिया था। पुरी में दो-तीन मास रहने से शरीर में कुछ बल आया। यह शीत का समय था। मैं कुछ स्वस्थ होकर फिर काशी लौट आया। यह सन् १९१२ ई० के जनवरी-महीने की बात है। उस साल मेरे षष्ठ वर्ष का अध्ययन स्थगित हो गया था। इधर नरेन्द्रदेवजी इलाहाबाद से बी० ए० पास करके जुलाई मास में ही एम्० ए० पढ़ने के लिए क्वींस कॉलेज (बनारस) में पंचम वर्ष में प्रविष्ट हुए थे।

पच्चीस जनवरी को नरेन्द्रदेव मुझसे मिलने के लिए मेरे घर पर आये। मैं उस समय ५३ देवनाथपुरा, बंगाली टोला, काशी में रहता था। नरेन्द्रदेव बँगला अच्छी जानते थे। बंगला-पुस्तक पढ़कर अच्छी तरह से उसका निगूढ अभिप्राय भी समझ लेते थे। मैंने उनको महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का लिखा हुआ 'वाल्मीकिर जय' नामक ग्रन्थ पढ़ने के लिए दिया। इस ग्रन्थ का नाम बहुत दिनों से उनको मालूम था और पढ़ने की इच्छा भी थी। **राम राम सेन** नामक एक लेखक ने इसका अँगरेजी-अनुवाद भी प्रकाशित किया था। यह पुस्तक बँगला-साहित्य में ही नहीं, अपितु संसार के साहित्य में एक मूल्यवान् रत्न के समान है। विश्वविश्रुत पंडित डॉ० **ब्रजेन्द्रनाथ शील** ने 'न्यू एसेज़ इन क्रिटिसिज्म' (New Essays in Criticism) नामक पुस्तक के 'न्यू रोमाण्टिक मूवमेण्ट इन बेंगाली लिटरेचर' (Neo-romantic movement in Bengali Literature) नामक अध्याय में इस ग्रन्थ की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने यूरोपीय प्राचीन साहित्य तथा मध्ययुगीन विशिष्ट साहित्य के साथ इस ग्रन्थ की तुलनात्मक समालोचना करके इसकी महत्ता प्रकाशित की है। इस प्रसंग में गेटे, रिचटर डाण्टे प्रभृति के साथ भी उन्होंने इसकी तुलना की है। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय भौतिक या जडशक्ति और वैज्ञानिक या बुद्धिशक्ति के साथ संघर्ष में नैतिक शक्ति के उत्कर्ष का प्रतिपादन था। इसमें भौतिक शक्ति का प्रतीक विश्वामित्र को माना गया है। वैज्ञानिक शक्ति के प्रतीक

वसिष्ठ हैं और नैतिक शक्ति का प्रतीक वाल्मीकि को बनाया गया है। प्रसिद्ध उपन्यासकार वंकिमचन्द्र द्वारा सम्पादित 'वंगदर्शन' में इसका प्रकाशन हुआ था। ग्रन्थ-रूप में प्रकट होते समय स्वयं वंकिम बाबू ने इसकी भूमिका लिखी थी। नरेन्द्रदेवजी इस ग्रन्थ को पाकर बहुत प्रसन्न हुए।

उस समय मेरे तथा नरेन्द्रदेवजी के एक मित्र काशी में निवास करते थे, जिनका नाम शचीन्द्रनाथ सान्याल था। इनके ज्येष्ठ पितृव्य काशी के प्रसिद्ध अध्यापक हरिकेशव सान्याल थे, जो क्वींस कॉलेज में तर्कशास्त्र के अध्यापक थे। भारतीय स्वाधीनता-संग्राम में गांधीपूर्व युग के स्वाधीनता-आन्दोलन में इस प्रदेश में शचीन्द्रनाथ का नाम अग्रगण्य था। उनके जीवन का अधिकांश समय कारागार में ही व्यतीत हुआ था। उनका 'बन्दी-जीवन' ग्रन्थ इस समय सुपरिचित है। मैं जिस समय की बात कर रहा हूँ, उस समय नरेन्द्रदेव के साथ शचीन्द्रनाथ का घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस सम्बन्ध का मूलसूत्र दोनों युवकों के हृदय में निहित देश-कल्याण की उच्चाकांक्षा थी। शचीन्द्रनाथ की विचारधारा उस समय वाममार्गी थी; परन्तु मेरे साथ शचीन्द्रनाथ का सम्बन्ध उससे भी घनिष्ठ था, पर वह दूसरे प्रकार का था। उस समय शचीन्द्रनाथ के एक सहपाठी इन्दुभूषण सान्याल सेण्ट्रल हिन्दू-कॉलेज में पढ़ते थे। इनके पिता का नाम शशिभूषण सान्याल अथवा शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द था। वे एक सुप्रसिद्ध महात्मा थे। वे गृहस्थ होने पर भी वीतराग परमहंसों के पूजापात्र थे। मैं बाल्यकाल से ही इन्हीं महात्मा के दर्शन के लिए लालायित था। परन्तु, इतने दिनों तक इनके दर्शन का मुझे सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ था। ये आर्य-शास्त्रप्रदीप, परलोक, मानवतत्त्व, भूत और शक्ति आदि अनेक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों के रचयिता थे। ये स्वामी विवेकानन्द, विशेष रूप से स्वामी अभेदानन्द अथवा काली महाराज, जो परमहंस रामकृष्ण के साक्षात् शिष्य थे, के परम अनुरागी भक्त थे। उस समय अमेरिका-प्रवासी बाबा प्रेमानन्द भारती भी इनके परम अनुरागी भक्त थे। अभेदानन्दजी ने इनके निकट बैठकर बहुत दिनों तक वेदान्तशास्त्र का अध्ययन किया था। यह मुझे मालूम था। इच्छा रहने पर भी इनके दर्शन का सुयोग मुझे पहले नहीं मिला था। बहुत बार तो बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी इनसे नहीं मिल पाते थे। शचीन्द्रनाथ के माध्यम से उनके सहपाठी बन्धु इन्दुभूषण के द्वारा इस महात्मा के प्रथम दर्शन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। मैं इस प्रसंग में यह भी कह देना चाहता हूँ कि नरेन्द्रदेव के पिता स्व० बलदेवप्रसादजी कुछ दिनों के बाद इन शिवरामकिंकरजी के परम भक्त सेवक बने थे। केवल इतना ही नहीं, इन्हीं की प्रेरणा से बलदेवप्रसादजी ने 'गायत्रीमन्त्रभास्कर' नाम से गायत्री-विषयक एक सुन्दर ग्रन्थ, शास्त्रों के आधार पर, संकलित किया था और नरेन्द्रदेवजी ने एम्० ए० पास करने के पश्चात् उसका सम्पादन कर उसे प्रकाशित किया था।

[३]

मुझे एक साल अध्ययन छोड़ना पड़ा था, यह पहले कहा जा चुका है। मैंने जुलाई, १९१२ ई० में षष्ठ वर्ष में पुनः प्रवेश किया। इधर नरेन्द्रदेवजी भी पंचम वर्ष से उन्नति करके षष्ठ वर्ष में मेरे साथ हुए। यह अच्छा ही हुआ। मैं उस समय पूर्ववत्

देवनाथपुरा में ही रहता था। बाद, वह स्थान छोड़कर क्वींस कॉलेज-बोर्डिंग हाउस में निवास लिए आया। देवनाथपुरा से क्वींस कॉलेज प्रतिदिन प्रातः तथा अपराह्न दो बार जाना और लौटना बहुत कठिन था। मैं पंचम वर्ष में ऐसा ही करता रहा। परन्तु, षष्ठ वर्ष में शरीर दुर्बल होने के कारण वह सम्भव नहीं था। डॉ० वेनिस ने भी देवनाथपुरा का स्थान छुड़वाकर मेरे लिए होस्टल में रहने की व्यवस्था करा दी। यह होस्टल कॉलेज से ही संलग्न था। हम लोगों को प्रायः दो बार कॉलेज जाना पड़ता था। प्रातः डॉ० वेनिस के क्लास में पहली बार और अपराह्न में भोजन के बाद प्रो० नार्मन के क्लास में दूसरी बार।

मुझे पहले यह मालूम नहीं था कि नरेन्द्रदेवजी उस समय उसी होस्टल में रहते हैं। जब पता चला, तब होस्टल में रहने के लिए मेरा आकर्षण बढ़ गया। मैं सन् १९१२ ई० के ९ अगस्त को सन्ध्या समय देवनाथपुरा का स्थान छोड़कर क्वींस कॉलेज-होस्टल में प्रविष्ट हुआ। पहले दिन रात्रि में नरेन्द्रदेव के अतिथि के रूप में 'गेस्ट-रूम' में रहा और दूसरे दिन १० अगस्त को मुझे नया कमरा मिल गया और मैं पृथक् रूप से रहने लगा। नरेन्द्रदेवजी का कमरा उत्तर ब्लॉक में था और मेरा कमरा पूर्व ब्लॉक में। इस प्रकार, हम दोनों में व्यवधान नहीं था। मेरे कमरे के निकट उस समय नलिनीमोहन वसु नामक क्वींस कॉलेज के एक विद्यार्थी रहते थे। ये गणित में एम्० ए० कर रहे थे और श्रीयुत डॉ० गणेश-प्रसादजी के छात्र थे। वे इलाहाबाद के इंडियन प्रेस के प्रतिष्ठाता स्व० चिन्तामणि घोष के जामाता थे। वे बड़े सज्जन थे। संस्कृत-विभाग के भी बहुत-से विद्यार्थी उस समय वहाँ होस्टल में रहते थे। अँगरेजी-विभाग के भी बहुत सारे विद्यार्थी थे। संस्कृत-कॉलेज के मुरलीधर ठक्कुर, बलदेवमिश्र, गंगाधरमिश्र, रामेश्वरदेव, गिरीशचन्द्र अवस्थी, ललिता-प्रसाद डबराल इत्यादि वहाँ साथ ही रहते थे। अँगरेजी-विभाग के मनसाराम, कालिकाप्रसाद, जानकीशरण प्रभृति बहुत-से विद्यार्थी भी रहते थे।

मैं होस्टल में षष्ठ वर्ष की परीक्षा के पूर्व तक रहा। नरेन्द्रदेव भी उतने समय तक रहे थे। वे बीच-बीच में फैजाबाद अपने घर जाया करते थे। मैंने जिस प्रकार एम्० ए० में 'डी' ग्रूप लिया था, उसी प्रकार नरेन्द्रदेव ने भी 'डी' ग्रूप लिया था। उस समय हमलोगों के साथ हरिराम दिवेकर नाम के एक महाराष्ट्री सहपाठी थे। हमलोग डॉ० वेनिस से 'इपीग्राफी', 'पैलियोग्राफी' तथा 'न्युमिस्मेटिक्स' पढ़ते थे। डॉ० वेनिस अपने बँगले के बरामदे में क्लास लेते थे। उनके साथ गवर्नमेण्ट ऑव इंडिया के आरकियोलॉजिकल डिपार्ट-मेण्ट के उच्चतम पदाधिकारियों का विशेष परिचय था। उस डिपार्टमेण्ट से शिलालेखों का इंक-इम्प्रेशन (Facsimile) आया करता था। डॉ० साहब और हम तीनों विद्यार्थी इनपर दिन-दिन भर परिश्रम करते थे। इस प्रकार, बहुत परिश्रम से उनका पाठोद्धार होता था। इसके अलावा अशोक, कनिष्क प्रभृति प्राचीन भारतीय इतिहास के विषय में जो लेख जर्मन, फ्रेंच अथवा इटालियन में प्रकाशित होते थे, उन सब लेखों पर हमलोगों का सामूहिक आलोचन चलता था। ब्राह्मी-लिपि, कुशान-लिपि, गुप्तलिपि आदि विभिन्न लिपियों के ऐतिहासिक क्रम-विकास पर भी आलोचन होता था। इस विषय में अध्ययन के लिए

निर्दिष्ट मुख्य ग्रन्थ जॉर्ज ब्यूलर का 'इंडियन पैलियोग्राफी' था। यह हमलोगों के प्रातःकालीन अध्ययन का विवरण है। अपराह्ण में प्रो० नार्मन के बँगले पर हमलोग जर्मन, फ्रेंच, प्राकृत और पालि पढ़ने के लिए जाते थे। इस पाठ में दिवेकर उपस्थित नहीं रहते थे। हमें एण्डरसन का पालि-रीडर नियमित रूप से पढ़ना पड़ता था। इसके अतिरिक्त कभी-कभी मूल पालि-ग्रन्थ भी बहुत पढ़ने पड़ते थे। प्रो० नार्मन उस समय इंगलैंड के 'पालि टेक्स्ट सोसाइटी' की ओर से धम्मपद पर बुद्धघोष की टीका अट्ठकथा प्रकाशित कर रहे थे। वे कभी-कभी इसमें से भी किसी अंश को उद्धृत कर पढ़ाते थे। प्राकृत के लिए रिचार्ड पिशल (Richard Pischel) का जर्मन-भाषा में लिखा हुआ प्राकृत-व्याकरण पढ़ाते थे। हमलोग इस ग्रन्थ का अँगरेजी में अनुवाद करके उनको सुनाते थे। प्रो० नार्मन उसको सुनकर प्रयोजन के अनुसार संशोधन करते थे। इस क्लास में नरेन्द्रदेव तो रहते ही थे, साथ ही महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री तैलंग के छोटे भाई महामहोपाध्याय लक्ष्मण शास्त्री भी रहते थे। गंगाधर शास्त्रीजी संस्कृत-कॉलेज के साहित्य के अध्यापक और डॉ० वेनिस के अन्यतम गुरु थे। अन्यतम इसलिए कि उनके मुख्य गुरु, महामहोपाध्याय कैलासचन्द्रशिरोमणि थे। लक्ष्मण शास्त्री इस समय क्वींस कॉलेज के इंगलिश-डिपार्टमेण्ट में संस्कृत के अध्यापक थे। वे भी पालि-क्लास में नियमित रूप से आते थे। नार्मन साहब की मृत्यु के उपरान्त उन्होंने पालि टेक्स्ट सोसाइटी के लिए उनके आरब्ध कार्य को समाप्त किया। धम्मपद-टीका का अन्तिम खण्ड इन्हीं के द्वारा सम्पादित हुआ था।

[४]

उस समय नरेन्द्रदेवजी के विशेष आकर्षण का विषय सोशियोलॉजी था। गिडिंग्स के समाजविज्ञान विषय पर लिखे ग्रन्थ के अलावा विभिन्न विद्वानों के समाजशास्त्र के विशिष्ट ग्रन्थों का, होस्टल में रहते हुए ही, उन्होंने अध्ययन किया था। मैं उस समय अपना विषय छोड़कर मिस्टिसिज्म पर विशेष रूप से आकृष्ट था। मैंने अपने जयपुर के प्रवास-काल में ही इस विषय पर बहुत सारे ग्रन्थ पढ़े थे। उस समय मेरा अतिरिक्त अध्ययन का विषय, अँगरेजी-साहित्य और यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों का प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य था। साहित्य-क्षेत्र में फ्रांस, जर्मनी, इटली तथा स्पेन विशेष रूप से मेरे आकर्षण के केन्द्र थे। परन्तु, क्वींस कॉलेज में प्रविष्ट होने के बाद यूरोपीय साहित्य के अध्ययन में रुचि कुछ कम हो गई। प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय इतिहास को छोड़कर मिस्टिसिज्म तथा ओकाल्ट-साहित्य (Occult Literature) पर ध्यान अधिक गया। इसी प्रसंग में मैंने थियोसोफिकल साहित्य का भी विशेष रूप से आलोचन किया था। डॉ० भगवानदास का 'सायन्स ऑव पीस' पढ़कर उस समय उनके प्रति विशेष रूप से श्रद्धा करने लगा था। उस समय नरेन्द्रदेवजी के एक प्रिय ग्रन्थकार लियो टॉलस्टॉय थे। कनफेशन्स (Confessions) और उनकी भिन्न-भिन्न अन्य रचनाओं के प्रति उनका विशेष आकर्षण था। मैं भी टॉलस्टॉय पर विशेष श्रद्धालु था।

हमलोग जिस समय बोर्डिंग हाउस में थे, उसी समय महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री महाशय राजपूताना, उज्जयिनी प्रभृति भारतीय प्रदेशों में ऐतिहासिक गवेषणा के

प्रसंग में घूमते हुए कलकत्ता लौटने के पहले डॉ० वेनिस से मिलने आये थे। डॉ० वेनिस उनके अति प्राचीन मित्र थे। जब दोनों महानुभावों का सम्मेलन तथा शास्त्रीजी के ऐतिहासिक आविष्कार-विषयक तथ्यों का आलोचन होता था, तब हमलोग भी उपस्थित रहा करते थे। जहाँतक मुझे स्मरण है, Mandasor Inscriptions के विषय में विशेष रूप से आलोचन हुआ था।

सन् १९१३ ई० के जनवरी-मास में (यह शायद १२ जनवरी होगी) डॉ० टी० के० लड्डू कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी से लौटकर बनारस आये। ये पहले क्वींस कॉलेज के छात्र थे। यहाँ के साधोलाल-ट्रस्ट द्वारा प्रदत्त फाउण्डेशन्स स्कॉलरशिप उन्हें प्राप्त हुआ था। वे विशेष अध्ययन के लिए इसी ट्रस्ट की ओर से इंगलैंड गये थे। इस ट्रस्ट के मुख्य अधिष्ठाता राजा मुंशी माधवलाल सी० एस्० आइ० थे। डॉ० लड्डू कैम्ब्रिज से लौटकर क्वींस कॉलेज में संस्कृत-अध्यापक के पद पर आरूढ हुए। काशी पहुँचने के समय हमलोग स्टेशन जाकर उनका स्वागत करें, यह राजा माधवलालजी की हार्दिक इच्छा थी। मैं भी साधोलाल-स्कॉलर था, इसीलिए उन्होंने डॉ० वेनिस से अनुरोध किया कि हमलोग स्टेशन जाकर आदरपूर्वक उनको साथ ले आयें। राजा साहब का यह पत्र ११ जनवरी को डॉ० वेनिस के पास पहुँचा था। डॉ० वेनिस ने वह चिट्ठी अपने लिखे हुए निम्नांकित पत्र के साथ मेरे पास भेज दी :

"Dear Kaviraj,

Kindly read the letter and if possible arrange with Narendra Dev and Divakar to meet our friend Dr. T. K. Laddu at the Benares Cantt Railway station to-morrow Sunday morning, as desired by the Raja Saheba.

Yours sincerely

A. Venis"

यह कहना न होगा कि राजा साहब के इस अनुरोध का हमलोगों ने पालन किया था।

मार्च मास के प्रथम भाग में परीक्षा देने के लिए इलाहाबाद जाने के सम्बन्ध में विचार किया गया। नरेन्द्रदेव की इच्छा थी कि मैं उस समय उनके साथ इलाहाबाद जाऊँ और गंगाप्रतापजी के स्थान पर जाकर रहूँ। परन्तु, मेरे लिए यह सम्भव नहीं हुआ। मैं इलाहाबाद गया, तो कुछ दिन तक मुट्ठीगंज में अपने एक पुरातन मित्र के स्थान पर और नरेन्द्रदेव गंगाप्रताप के स्थान पर ठहरे। परीक्षा यथासमय हो गई। हमलोगों की वाक्परीक्षा (Viva-voce) में जो दो परीक्षक थे, उनमें से एक डॉ० वेनिस थे और उनके अतिरिक्त द्वितीय, अर्थात् बाहर के परीक्षक डॉ० डी० आर० भण्डारकर थे। ये ऐतिहासिक क्षेत्र में विशेष प्रसिद्ध थे और वृद्ध सर आर० जी० भण्डारकर (रामकृष्ण गोपाल) के पुत्र थे। वाक्परीक्षा के समय वे हम तीनों का शिलालेख, मुद्रातत्त्व प्रभृति विषयों में, जर्मन तथा फ्रेंच-भाषाओं में भी नवप्रकाशित आलोचनाओं का प्रकृष्ट ज्ञान

देखकर सन्तुष्ट हुए थे। डॉ० भण्डारकर जर्मन में प्रकाशित, अधिकांशतः इपीग्राफी तथा पैलियोग्राफी की नवीन समालोचनाओं की भी खबर रखते थे। डॉ० वेनिस ने उनसे कहा था कि उन्हीं के निर्देश के अनुसार हमलोगों ने जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओं का अध्ययन किया था। परीक्षा समाप्त होने के बाद नरेन्द्रदेव फैजाबाद चले गये और मैं काशी लौट आया।

[५]

इसके कुछ काल बाद ही एक अति दुःखप्रद घटना घटित हुई। यह थी हमलोगों के परम श्रद्धास्पद अध्यापक नार्मन साहब का देहान्त। उनकी यह मृत्यु स्वाभाविक न थी, उन्होंने आत्महत्या कर ली थी। यहाँ इस अप्रिय विषय की आलोचना अनावश्यक है। यह घटना अप्रैल, १९१३ ई० के प्रारम्भ की है। इस आकस्मिक घटना की बात सुनकर अध्यापक नार्मन के सभी छात्र व्यथित हो उठे थे। नरेन्द्रदेवजी उसी महीने, अर्थात् अप्रैल में ही कुछ समय के लिए लखनऊ गये थे। उस समय उनका पता था, C/o सत्य-नारायण, गणेशगंज। लखनऊ से लौटकर वे फैजाबाद ही रह गये। १५ मई को मुझे फैजाबाद से लिखा नरेन्द्रदेव का एक पत्र मिला। उन्होंने लिखा था कि ब्रांकाइटिक ऐज्मा में वे प्रायः आठ दिन से बहुत कष्ट पा रहे हैं। इस रोग से उन्हें जीवन के अन्तिम मुहूर्त तक कष्ट भोगना पड़ा था। साढ़े अ तालीस वर्ष से अधिक काल तक उन्हें इस कष्ट को सहना पड़ा था।

उस समय तक परीक्षाफल प्रकाशित नहीं हुआ था। आखिर फल कैसा निकलेगा, किसी को भी पता न था। परन्तु, हमलोगों में आपस में ऐसी प्रासंगिक बातचीत होती थी कि पास हो जाने पर कौन क्या करेगा। किसकी किस दिशा में रुचि है, इसपर भी चर्चा होती थी। बीच-बीच में नरेन्द्रदेव मुझसे पूछते थे कि मैं क्या करूँगा और हमलोगों के भविष्य के बारे में डॉ० वेनिस का क्या परामर्श है।

मई मास के थोड़े दिन तक मैं काशी में बोर्डिंग हाउस में ही रहा। वहाँ कई संस्कृत के विद्यार्थी भी रहते थे। बिजनौर-निवासी पण्डित रामेश्वरदेव संस्कृत-कॉलेज के विद्यार्थी थे, वे होस्टल में ही रहते थे। वे मेरे तथा नरेन्द्रदेव के अन्तरंग मित्र थे। उस समय नरेन्द्रदेव अपने भाई के विवाह के सिलसिले में बाहर जानेवाले थे। उनकी उत्कट इच्छा थी कि मैं फैजाबाद जाकर उनके घर में उनके साथ रहूँ। जून मास के पहले नौ दिन तक विवाह के सिलसिले में उनके बाहर रहने की सम्भावना थी। इसलिए, उन्होंने लिखा था कि मैं फैजाबाद जाऊँ, तो मई महीने के अन्त में या जून के नौ तारीख के बाद ही पहुँचूं। मैं उस समय काशी में ग्रीष्म के आधिक्य के कारण किसी ठंडे स्थान में जाने का विचार कर रहा था। इसके परोक्ष में वायु-परिवर्त्तन की इच्छा भी थी। इसीलिए, मैंने निश्चय किया था कि ग्रीष्मकालीन अवकाश होने पर मैं इस साल अपने देश न जाकर किसी अच्छे स्थान में स्वास्थ्य सुधारने के लिए जाऊँ। मेरा निज स्थान पूर्वबंग में मैमनसिंह जिले में था, जो इस समय पाकिस्तान के अन्तर्गत है। मेरे इस वायु-परिवर्त्तन के संकल्प का दो-एक मित्रों ने अनुमोदन करते हुए यह कहा कि वे भी मेरे सहयात्री होंगे

पहले यह विचार हुआ था कि देहरादून होकर मसूरी जाया जाय। सन् १९१२ ई० के शीतकाल के अनन्तर गरमी के समय मैं एक बार थोड़े समय के लिए हरद्वार, कनखल होते हुए मसूरी गया था। इसीलिए, उन स्थानों की मेरे चित्त में एक अस्पष्ट धारणा थी। नरेन्द्रदेवजी का अनुरोध था कि मसूरी जाने के समय मैं कुछ समय के लिए फैजाबाद होकर जाऊँ।

लेकिन डॉ० वेनिस ने मुझसे नैनीताल चलने के लिए अनुरोध किया। डॉ० वेनिस उस समय यू० पी० के स्थानापन्न 'डायरेक्टर आॅव पब्लिक इन्स्ट्रक्सन' थे। उन्होंने कहा था कि वे उस समय नैनीताल रहेंगे, हम भी उस समय वहाँ रहें, तो अच्छा होगा। परन्तु, मैंने सोचा कि मेरे लिए वहाँ रहने का कोई प्रबन्ध तो है ही नहीं। मैंने इस बात को उनके सामने रखा, तो उन्होंने कहा कि यह भार उनके ऊपर रहा। वे स्थान का प्रबन्ध कर देंगे। मैंने जाने का निश्चय कर लिया। उस समय डॉ० वेनिस ने इसके लिए डॉ० ज्ञानेन्द्रनाथ चक्रवर्त्ती से कहा। प्रसिद्ध जी० एन्० चक्रवर्त्ती यही थे। ये उस समय बनारस के इन्सपेक्टर आॅव स्कूल्स और अत्यन्त प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठासम्पन्न अधिकारी थे, जो आगे चलकर, जब लखनऊ-विश्वविद्यालय स्थापित हुआ था, तब, उसके कुलपति हुए। डॉ० वेनिस ने मेरे लिए उनसे व्यक्तिगत रूप से अनुरोध किया। चक्रवर्त्ती महाशय के साथ इसी सूत्र से मेरा पहला परिचय हुआ। इसके बाद घनिष्ठता बढ़ने से और विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध स्थापित हुए। इसी के साथ ही उनके जामाता जगदीशचन्द्र चट्टोपाध्याय तथा रामदास खाँ से भी परिचय हुआ। ये जगदीशचन्द्र चट्टोपाध्याय ही कश्मीर-अनुसन्धान-विभाग के अधिष्ठाता और कश्मीर शैव-ग्रन्थमाला के प्रतिष्ठाता थे। चक्रवर्त्ती महाशय ने डॉ० वेनिस का अनुरोध पाकर अपने मित्र सर अतुल चटर्जी आइ० सी० एस्० से स्थान की व्यवस्था करने के लिए अनुरोध किया। अतुल बाबू एक प्रसिद्ध विद्वान् व्यक्ति थे तथा किसी समय भारत-सरकार के इंगलैंड-स्थित इंडिया गवर्नमेंट के हाइ कमिश्नर थे। उस समय वे नैनीताल में 'तारा काॅटेज' स्थान में रह रहे थे। चक्रवर्त्तीजी का अनुरोध और डॉ० वेनिस की इच्छा जानकर उन्होंने नैनीताल में मेरे लिए पुराना गवर्नमेंट हाउस में स्थान की व्यवस्था करा दी। यह अति मनोरम स्थान था, जो एक उत्तुंग शृंग पर स्थित, निर्जनता तथा सौन्दर्य का केन्द्र था। वहाँ से उत्तर दिशा में हिमालय का 'स्नो व्यू' (Snow View) दृष्टिगोचर होता था। जब पहले गवर्नमेंट हाउस इस शृंग को छोड़कर दूसरे शृंग पर स्थानान्तरित किया गया, तब से वह स्थान निर्जन आवास के रूप में ही रहा। मैं तथा मेरे साथ के दो मित्रों ने इसी स्थान पर ग्रीष्मकाल बिताया। अतुल बाबू का स्थान 'तारा काॅटेज' हमारे स्थान से थोड़ा नीचे था। अतुल बाबू कलकत्ता 'डॉन सोसाइटी' के प्रतिष्ठाता तथा 'डॉन मैगजीन' के अधिष्ठाता सुप्रसिद्ध मनीषी सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय के छात्र तथा प्रिय भक्त थे। हमारे भूतपूर्व राष्ट्रपति स्व० डॉ० राजेन्द्रप्रसाद भी इन्हीं सतीश बाबू के शिष्य थे और 'डॉन सोसाइटी' के सभ्य (सदस्य) थे। अतुल बाबू वास्तव में महान् पुरुष थे। मेरे जैसे एक साधारण विद्यार्थी के प्रति भी उन्होंने जैसा व्यवहार किया, वह अतुलनीय है। वे अपने स्थान से निरन्तर हमलोगों की देखरेख करते थे। डॉ० वेनिस उस समय नैनीताल में

'रॉयल होटल' में रहते थे। वे भी बीच-बीच में मेरी खबर लेते थे। यह सन् १९१३ ई० के जून-महीने की बात है। जहाँतक मुझे स्मरण है, मैं १३ जून को ही नैनीताल पहुँच गया था।

उस समय नरेन्द्रदेव फैजाबाद में थे। मैं उत्सुक होते हुए भी उस समय फैजाबाद नहीं जा सका और नरेन्द्रदेव के अनुरोध की रक्षा नहीं कर पाया। परन्तु, हमलोगों में पत्र-व्यवहार नियमित रूप से चलता था। उस समय राजा मुंशी माधवलाल भी नैनीताल में रहते थे। इसी बीच परीक्षाफल निकल गया। यह, जहाँतक स्मरण है, २० जून की बात है। मैं प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ। इलाहाबाद-विश्वविद्यालय स्थापित होने के बाद ही सर्वप्रथम प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ था। नरेन्द्रदेव द्वितीय विभाग में उत्तीर्ण हुए। परीक्षाफल देखकर डॉ० वेनिस, जो उस समय वहीं थे, अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने मुझे राजा साहब से मिलने के लिए कहा। क्योंकि, राजा साहब वहीं थे और मैं उनके द्वारा प्रतिष्ठित साधोलाल-ट्रस्ट का वित्तभोगी विद्यार्थी था। मेरे इस प्रकार से उत्तीर्ण होने की बात सुनकर वे सुखी होंगे, इसी आशा से डॉ० वेनिस ने वैसा करने के लिए मुझसे कहा।

अब हमलोगों के लिए अपने-अपने भविष्य के सम्बन्ध में निर्णय करने का अवसर आ गया। नैनीताल के आवास के समय ही डॉ० वेनिस के निकट टेलीग्राम द्वारा मेरे लिए दो स्थानों से अध्यापन के लिए अनुरोध आया। एक अनुरोध अजमेर-कॉलेज से संस्कृत-अध्यापक के पद के लिए आया था, दूसरा अनुरोध भी संस्कृत-अध्यापक के पद के लिए ही था, जो लाहौर-कॉलेज से आया था। लाहौर-कॉलेज के लिए डॉ० उलनर ने पहले तार से और बाद में पत्र द्वारा डॉ० वेनिस से अनुरोध किया था। प्रथम पद के लिए जयपुर के महाराजा-कॉलेज के अध्यक्ष मेरे परम श्रद्धास्पद श्रीयुत संजीवन गांगुली महाशय का सन्देश था। उन्होंने भी मेरे लिए डॉ० वेनिस को तार और पत्र दोनों से अनुरोध-ज्ञापन किया था। इन दोनों स्थानों से अनुरोध-पत्र तो आया, परन्तु मैं स्वयं कुछ निश्चय नहीं कर पाया कि इनमें से कौन-सा पद ग्रहण करूँ अथवा दोनों पदों को अस्वीकृत कर दूँ। इस विषय में स्थिर निश्चय करने के लिए मैंने डॉ० वेनिस के ऊपर सारा भार डाल दिया। मेरा अभिप्राय यह था कि डॉ० वेनिस मेरे लिए स्वयं जिस मार्ग का उचित निर्देश करेंगे, उसी को अपनाऊँगा। डॉ० वेनिस से वार्त्तालाप करते हुए मुझे पता चला कि उनकी यह बिलकुल इच्छा न थी कि मैं उस समय अध्यापक का पद ग्रहण करूँ। उनकी इच्छा थी कि मैं आगे कुछ समय तक पोस्ट ग्रेजुएट-स्कॉलर के रूप में गवेषणा-कार्य में संलग्न रहूँ और काशी छोड़कर दूसरे स्थान को जाने का संकल्प न रखूँ। उन्होंने प्रतिश्रुति की कि यदि मैं अध्यापक-पद न ग्रहण करूँ, तो वे मेरे लिए एक अच्छे स्कॉलरशिप का प्रबन्ध कर देंगे। यह सब आलोचन जुलाई महीने में हो रहा था।

डॉ० वेनिस की यह इच्छा थी कि यदि मैं अजमेर का पद ग्रहण न करूँ और यदि नरेन्द्रदेव की इच्छा हो, तो उनके लिए वे उस पद की सिफारिश कर देगें। इस विषय में पत्र द्वारा मैंने नरेन्द्रदेव से जिज्ञासा की। नरेन्द्रदेव ने उत्तर में लिखा कि उनका भी चित्त इस विषय में चंचल है। वे अभी यह स्थिर नहीं कर पाये थे कि वे आगे चलकर

कानून की शिक्षा ग्रहण करें अथवा ऐतिहासिक गवेषणा-कार्य में संलग्न हों अथवा नौकरी स्वीकार करें। उन्होंने आगे लिखा था कि यदि उनका चित्त यह निश्चय कर ले कि नौकरी करना ही उनके लिए श्रेयस्कर है, तो डॉ० वेनिस अजमेर के पद के लिए उनका प्रबन्ध कर दें। डॉ० वेनिस ने मुझसे कहा था कि नरेन्द्र से ठीक-ठीक जानकर इसका उत्तर उनको भेज दिया जाय। उस समय मैं नैनीताल से काशी लौट आया। डॉ० वेनिस १० जुलाई तक नैनीताल में ही रहे। उनका विचार था कि २४ या २५ जुलाई तक डी० पी० आइ० के पद से मुक्त होकर काशी लौटेंगे और अपना स्थान पुन: ग्रहण करेंगे। उन्होंने यह भी लिखा था कि यदि सम्भव हो, तो २४ घण्टे की पूर्वसूचना देकर नरेन्द्रदेव उनसे प्रत्यक्ष मिलें। मैंने उनका सन्देश ११ जुलाई के पत्र में नरेन्द्रदेव को भेजा और फैजाबाद से १७ जुलाई को उनका जवाब भी मिल गया। उन्होंने लिखा कि उनकी 'लॉ' पढ़ने की बिलकुल इच्छा न थी, परन्तु उनके माता-पिता दोनों ही 'लॉ' पढ़ने के लिए उनपर दबाव डाल रहे थे। उन लोगों के आदेश का उल्लंघन करना कठिन हो रहा था। यदि किसी प्रकार उनके आदेश का उल्लंघन करना सम्भव हो, तो भी उनकी इच्छा इस समय नौकरी करने की नहीं है। उनकी इच्छा यह है कि वे कुछ दिन निश्चिन्त होकर फ्रेंच और जर्मन का अभ्यास करें, और कुछ समय तक गवेषणा-कार्य में संलग्न होने के पश्चात् ही यदि आवश्यकता होगी, तो नौकरी में प्रवेश करेंगे। उनका विश्वास था कि मेरा अपना मत भी उसी प्रकार का है और उन्होंने लिखा था कि डॉ० वेनिस भी यही मार्ग पसन्द करेंगे; क्योंकि पहले उन्होंने इस विषय में इसी दिशा में चर्चा की थी।

परन्तु, यह हुआ नहीं। नरेन्द्रदेव को माता-पिता की इच्छापूर्त्ति के लिए 'लॉ' लेना पड़ा। इसके बाद फिर वे इलाहाबाद में रहने लगे। मैं उस समय विशिष्ट साधोलाल-स्कॉलर के रूप में पोस्ट ग्रेजुएट-रिसर्च-कार्य में, डॉ० वेनिस की निरीक्षकता में प्रविष्ट हुआ। उस समय भी मैं पूर्ववत् क्वींस कॉलेज-बोर्डिंग हाउस में ही रहता था। इस बार होस्टल में स्थान प्राप्त करने में थोड़ी अड़चन हुई, परन्तु अन्त में असुविधा-रहित अच्छा स्थान मिला। नरेन्द्रदेव उस समय इलाहाबाद में थे और हमलोगों में परस्पर पत्र-व्यवहार कायम था। उस समय शचीन्द्रनाथ सेण्ट्रल हिन्दू-कॉलेज में बी० ए० में भरती हुए थे। शचीन्द्र और नरेन्द्र के बीच बहुत समय तक जातीयतावाद और देशकल्याण पर पुस्तक तथा लेखों का आदान-प्रदान चलता था। नरेन्द्रदेव के पास 'पंजाबकेसरी' प्रभृति पत्रों की कतरनों का संग्रह रहता था। होस्टल-प्रवास के काल में इंगलिश-डिपार्टमेण्ट के कालिकाप्रसाद नामक एक छात्र हमलोगों से परिचित हुए थे। इनके द्वारा नरेन्द्रदेव इलाहाबाद से शचीन्द्र के लिए पुस्तक आदि भेजते थे। कालिका-प्रसादजी का शचीन्द्र से सम्बन्ध बहुत अधिक नहीं था। अत:, वे अधिकांश पुस्तकें आदि मेरे ही माध्यम से शचीन्द्र को भिजवाते थे। मैं यह सब शचीन्द्र को पहुँचा देता था और शचीन्द्र भी पढ़ने के बाद उसी क्रम से मुझे लौटा देते थे। इस समय, इस जातीयतावाद की आलोचना के सूत्र से काशी में एक और मित्र जुट गये थे, जिनका नाम विमलाचरण मुखोपाध्याय था। विमलाचरण के पिता दुर्गाचरण बाबू का अपना मकान काशी में ही था।

विमलाचरण भी हिन्दू-कॉलेज के छात्र थे। नरेन्द्रदेव इलाहाबाद से प्रायः प्रत्येक पत्र में विमलाचरण के विषय में चर्चा करते थे।

इस समय एक विषय में काशी में, विशेष कर शिक्षित-मण्डली में, काफी आन्दोलन चल रहा था। मैंने होस्टल में रहने पर भी इसका कुछ आभास पाया। और, इस विषय में मेरे मन में विशेष उत्सुकता जगी। यह आन्दोलन प्रज्ञाचक्षु धनराज के विषय में था। ये अन्धे थे, परन्तु संस्कृत में विशेष पण्डित न होने पर भी विशेष उच्चाधिकारी थे। ये सर्वत्र कहा करते थे कि उनको बहुत सारे लुप्त ग्रन्थों के बारे में जानकारी है। ये ग्रन्थ कहाँ हैं, यह भी उन्हें मालूम है। इन सब ग्रन्थों एवं उनके ग्रन्थकार तथा उनके परिमाण वे शिक्षित-समाज में प्रकट करते थे। उनका यह कथन आश्चर्यजनक था। क्योंकि, इन सब ग्रन्थों अथवा ग्रन्थकारों का नाम न तो किसी संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों के कैटलॉग में था और न उसका निर्देश **कैटेलोगस कैटेलोगोरम** में ही था। मुझे यह भी ज्ञात था कि इन सब ग्रन्थों का निर्देश या वचन-उद्धरण किसी प्रचलित अथवा अप्रचलित ग्रन्थ में नहीं हैं। धनराजजी कहते थे कि इन सब ग्रन्थों में बहुत सारे ग्रन्थ उनके देखे और पढ़े हुए हैं। इन ग्रन्थों के वचन उन्हें कंठस्थ भी हैं। इच्छा करने पर वे यह सब मनन करके लिखा भी सकते हैं। उनकी स्मरणशक्ति असाधारण थी। मैंने सुना था कि डॉ० भगवानदास इन पण्डितजी पर श्रद्धा करते थे और उनसे प्रणववाद के बहुसंख्य श्लोक लिखा लिये थे। इस लेखन-व्यापार में लिपिकार का काम कुछ दिनों तक महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा ने भी किया था। पण्डित धनराजजी इतना द्रुत बोलते थे कि साधारण लेखक उसको ठीक तरह से लिख ही नहीं पाते थे। उनका बोलने का वेग रुद्ध नहीं होता था; क्योंकि एक बार अवरोध होने पर फिर वे बोल नहीं सकते थे। इस प्रणववाद के विषय पर डॉ० भगवानदास ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ कुछ दिनों के बाद प्रकाशित किया था। मैं इन सबके बारे में अपने होस्टल-प्रवास के समय से ही कुछ ज्ञान रखता था। नरेन्द्रदेवजी भी इससे परिचित थे। सन् १९१३ ई० के १६ दिसम्बर को नरेन्द्रदेव का एक पत्र, जो इलाहाबाद से भेजा गया था, मुझे प्राप्त हुआ, जिसमें उन्होंने मुझे सूचित किया था कि प्रज्ञाचक्षु पं० धनराजजी का विवरण उस वर्ष के नवम्बर महीने के 'सरस्वती'-पत्र में प्रकाशित हुआ है। उस विवरण का सारांश उन्होंने उस पत्र में लिख दिया था। उस समय धनराजजी इटावा के वकील सूर्यनारायणजी के निकट रहते थे और स्थानीय संस्कृत और गुप्तग्रन्थप्रकाशिनी सभा के लिए वेद के ऊपर वीरायन-भाष्य लिखा रहे थे।

उस समय इलाहाबाद में जनार्दनभट्ट रहते थे। वे मेरे तथा नरेन्द्रदेवजी के मित्र थे। उस समय वृन्दावनचन्द्र भट्टाचार्य काशी में रहते थे। ये महामहोपाध्याय पण्डितराज यादवेश्वर तर्करत्न महाशय के पुत्र थे। वृन्दावन मेरे ही कॉलेज के छात्र थे, परन्तु मुझसे तथा नरेन्द्र से भी काफी जूनियर थे। ये भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास तथा लिपि-विज्ञान आदि विषयों में विशेष अनुरागी थे तथा डॉ० वेनिस और नार्मन साहब के प्रिय छात्र थे। उन्होंने उसी अवस्था में बँगला-भाषा में, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में, साहित्य,

इतिहास आदि विषयों में, बहुत-से प्रबन्ध लिखे थे। उनके पिता संस्कृत-भाषा में सुकवि थे। उनके बनाये हुए संस्कृत-काव्य संस्कृत-साहित्य में गौरव के विषय हैं।

इलाहाबाद में उस समय एक और विद्यार्थी थे। जो हमारे मण्डल के अन्तर्गत माने जा सकते हैं। इनका नाम जगद्धर गुलेरी था। ये म्योर सेण्ट्रल कॉलेज में पढ़ते थे। इनके बड़े भाई पं० चन्द्रधर गुलेरी की थोड़ी ही अवस्था में मृत्यु हो गई थी। उन्होंने उसी अवस्था में हिन्दी-साहित्य तथा प्राचीन भारतीय इतिहास के आलोचन में सविशेष प्रसिद्धि प्राप्त की थी। उन्होंने बँगला-साहित्य के बहुत-से प्रसिद्ध ग्रन्थों का अनुवाद भी किया था। चन्द्रधर तथा उनके परिवार के साथ मेरा जयपुर से ही परिचय था। जगद्धर से भी कभी-कभी नरेन्द्रदेव की खबर मिला करती थी।

इलाहाबाद में नरेन्द्र के एक और मित्र स्व० व्रजगोपाल भट्टाचार्य थे। वे मेरे भी अन्तरंग मित्र थे। उनके पिता स्व० मेघनाथ भट्टाचार्य जयपुर के महाराजा-कॉलेज के उपाध्यक्ष थे। यह सन् १९०६—१० ई० की बात है, जब मैं जयपुर में था। ये मेघनाथ बाबू प्रसिद्ध इतिहासशास्त्री महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के कनिष्ठ सहोदर थे। इनसे भी कभी-कभी नरेन्द्र की खबर मिलती थी।

इसके बाद मैंने सन् १९१४ ई० के अप्रैल महीने में डॉ० वेनिस के अनुरोध से उन्हीं के अधीन संस्कृत-कॉलेज की लाइब्रेरी 'सरस्वती-भवन' में अध्यक्ष का पद ग्रहण किया। उस समय मैंने होस्टल में रहना छोड़ दिया और क्वींस कॉलेज के निकट तेलियाबाग मुहल्ले में रहने के लिए एक स्वतन्त्र स्थान का प्रबन्ध किया। उस समय भी नरेन्द्र से पत्र-व्यवहार और कभी-कभी मुलाकात होती थी।

सन् १९१४ ई० के मई-महीने की बात है। नरेन्द्रदेव ने मुझे इलाहाबाद से नार्मन एंजिल का 'दि ग्रेट इल्युशन' (The Great Illusion) नामक एक ग्रन्थ भेजा। मैं उस ग्रन्थ को पढ़कर विशेष मुग्ध हुआ था। लेखक का विश्वास था कि सामूहिक युद्ध-विग्रह न होगा, न होने की सम्भावना भी है। परन्तु, उनका यह सरल विश्वास स्वप्नवत् प्रमाणित हुआ था; क्योंकि तीन महीने के बाद ही अगस्त मास में प्रथम महायुद्ध की घोषणा हुई।

इधर पाण्डिचेरी से श्रीअरविन्द की 'आर्य' नाम से एक सांस्कृतिक पत्रिका का प्रकाशन होने लगा। जहाँतक मुझे स्मरण है, यह उसी साल (सन् १९१४ ई०) के अगस्त की बात है। श्रीअरविन्द के स्वदेशी युग की रचनाओं के साथ मेरे ही समान नरेन्द्र का भी परिचय था। नरेन्द्रदेव श्रीअरविन्द-सम्पादित 'कर्मयोगी' के ग्राहक थे और मैं उन्हीं के द्वारा सम्पादित 'धर्म' नामक पत्रिका का ग्राहक था। श्रीअरविन्द के उस समय के दृष्टिकोण से 'आर्य'-प्रकाशनकालीन दृष्टिभंगी कुछ भिन्न थी। नरेन्द्रदेव यत्न के साथ अरविन्द के लेख पढ़ते थे। उनका ध्यान श्रीअरविन्द के 'समाजविज्ञान की मूलभित्ति'-विषयक आलोचना पर विशेष रहता था। उस समय, जहाँतक मैं समझता हूँ, नरेन्द्रदेव का अपना व्यक्तिगत दृष्टिकोण उन्मीलित नहीं हुआ था, इसलिए किसी की भी

दृष्टि उनके लिए उपेक्षणीय नहीं थी। परन्तु, अरविन्द के नवप्रचारित अतिमानस अवतरण के विषय में नरेन्द्र की बुद्धि प्रवेश नहीं कर सकती थी।

सन् १९१५ ई० के जनवरी-महीने की बात है। नरेन्द्र इलाहाबाद में थे। ११ जनवरी को लिखे उनके पत्र से पता चला कि वे इलाहाबाद में डॉ० वेनिस से मिले थे। उस समय इलाहाबाद-विश्वविद्यालय से 'पोस्ट वैदिक स्टडीज' का एक विभाग प्रतिष्ठित हुआ था। इस विभाग के प्रोफेसर-चेयर पर डॉ० वेनिस की तीन वर्ष के लिए नियुक्ति हुई थी। डॉ० वेनिस प्रारम्भिक व्याख्यान देने के लिए जनवरी में इलाहाबाद गये थे। उसी समय नरेन्द्रदेव उनसे मिले थे। उस समय उन्होंने नरेन्द्र से डॉ० आर० जी० भण्डारकर-लिखित नवप्रकाशित Wilson Philological Lectures पढ़ने का अनुरोध किया।

कुछ दिनों के बाद, जहाँतक स्मरण होता है, इस्टर (Easter) के निकटवर्त्ती समय में इस पोस्ट वैदिक विभाग में Reader के पद पर मेरा भी नियोग हुआ था। मैं सरस्वती-भवन में रहकर ही व्याख्यान देता था। काशी छोड़कर इलाहाबाद जाना नहीं पड़ता था। मुझे ट्यूटोरियल क्लास भी लेना पड़ता था, जिसे मैं वहीं सरस्वती-भवन में ही लेता था। क्वींस कॉलेज के संस्कृत एम्० ए० के विद्यार्थियों को इस क्लास में उपस्थित होना पड़ता था। यह कार्य तीन वर्ष तक चलता रहा। उस समय नरेन्द्रदेव फैजाबाद में थे। परन्तु, पत्र-व्यवहार नियमित रूप से चलता था। इस समय जिन विद्यार्थियों से अध्ययन-अध्यापन के सम्बन्ध में मेरे साथ सम्पर्क हुआ, उनमें से कई लोग नरेन्द्रदेव से भी परिचित थे। श्रीनिवास चतुर्वेदी, वी० जी० बिलोरे, जनार्दनभट्ट, ताटके प्रभृति कई नामों का इस प्रसंग में स्मरण आता है। उस समय क्वींस कॉलेज में डॉ० लड्डू, अध्यापक टर्नर आदि संस्कृत-अध्यापक थे। पोस्ट वैदिक विभाग में स्कॉलर का भी नियोग हुआ था। इस कार्य के लिए पं० श्यामसुन्दर शर्मा, जिन्होंने जयपुर से एम्० ए० किया था, नियुक्त किये गये थे।

सन् १९१६ ई० से नरेन्द्रदेव के साथ पत्र-व्यवहार पहले की अपेक्षा कम होता रहा। मुलाकात भी कभी-कभी ही होती थी। परन्तु, हम लोगों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध नरेन्द्र के मृत्यु-पर्यन्त प्रायः ४० वर्षों तक अक्षुण्ण रहा। इसके बाद, विशेष कर काशी-विद्यापीठ के साथ उनका संसर्ग होने पर, कभी-कभी शिक्षाविषयक आलोचन के लिए वे मुझसे मिलते थे। उसी समय मैं डॉ० भगवानदास और नरेन्द्रदेव द्वारा सम्पादित विद्यापीठ-पत्रिका में कभी-कभी लेख भेजता था। उस पत्रिका में प्रकाशित लेखों में एक का विषय **मधुसूदनसरस्वती का काल-निर्णय** था। दूसरे का विषय था **शंकराचार्य तथा अवैदिक ईश्वरवाद** और तीसरे का विषय था **संस्कृत-साहित्य को काशी की देन**।

बौद्धदर्शन के ऊपर नरेन्द्रदेव की श्रद्धा थी। एम्० ए० पढ़ने के समय पालि-साहित्य के अध्ययन के साथ-साथ बौद्ध दार्शनिक मत से उनका थोड़ा बहुत परिचय हुआ था। उसके बाद उन्होंने घर में बैठकर स्वाधीन रूप से बहुत-से बौद्धग्रन्थों का स्वाध्याय किया। उस समय प्रकाशित चारवस्की (Stchrbatsky) और फुंसे

(Poussin) के सभी ग्रन्थ हमलोगों ने देखे थे। वसुबन्धु-कृत जगद्विख्यात ग्रन्थ अभिधर्म-कोश (टीका-सहित) का फ्रेंच में अनुवाद फुंसे ने किया था। यह केवल अनुवाद नहीं था। इसमें बौद्धदर्शन के विषय में अनुवादक ने बहुत प्रकार से पाण्डित्य का परिचय दिया था। नरेन्द्रदेव ने इस ग्रन्थ का अँगरेजी में और उसके बाद हिन्दी में अनुवाद किया। हिन्दी-अनुवाद का कुछ अंश ही प्रकाशित हुआ है। विद्यापीठ-पत्रिका में भी उन्होंने बौद्धमत के विषय में बहुत-से प्रबन्ध लिखे थे। इसके अलावा अन्य अनेक ग्रन्थों में भी उन्होंने बौद्धधर्म के विषय में स्वतन्त्र प्रबन्ध प्रकाशित किये थे। इन सब लेखों का संग्रह उनके ख्यातिलब्ध 'बौद्धधर्म-दर्शन' नामक ग्रन्थ (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित) में हुआ है। बौद्धधर्म तथा दर्शन की प्रायः सभी बातें इस ग्रन्थ में हैं। केवल आगम या तन्त्र-विषय में कुछ नहीं था। महायानमूलक मन्त्रयान, कालचक्रयान, वज्रयान प्रभृति आगमिक सिद्धान्तों का परिचय उसमें कुछ नहीं था। इसी से उन्होंने मुझसे विशेष रूप से अनुरोध किया था कि मैं इस ग्रन्थ की एक ऐसी भूमिका लिख दूँ, जिसमें विशेष रूप से तान्त्रिक बौद्धधर्म का परिचय रहे। मैंने उनके अनुरोध की रक्षा करते हुए इसके लिए प्रयत्न किया था। मेरी यह भूमिका उनके उक्त ग्रन्थ में प्रकाशित है।

२ ए, सिगरा, वाराणसी

●●

शुद्धाद्वैतमत-मीमांसा

महामहोपाध्याय पं० श्रीविश्वेश्वरनाथ रेउ

इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्रीवल्लभाचार्यजी का जन्म वि० सं० १५३५ की वैशाख कृष्ण एकादशी को और स्वर्गवास वि० सं० १५८७ की आषाढ शुक्ल द्वितीया-तृतीया को हुआ था। ये पुष्टि (भक्ति)-मार्ग के प्रवर्त्तक थे। पुष्टिमार्ग, भक्तिमार्ग का ही पर्याय-वाची है।[1] इन्होंने अन्य ग्रन्थादिकों के अतिरिक्त 'सिद्धान्तरहस्य' नामक एक पुस्तक साढ़े आठ श्लोकों की लिखी थी। इसके प्रथम श्लोक से सूचित होता है कि (किसी समय) श्रावण मास के शुक्लपक्ष की एकादशी की अर्द्धरात्रि में साक्षात् भगवान् ने प्रकट होकर जो कुछ कहा था, उसे श्रीवल्लभाचार्यजी ने इन श्लोकों में कहा है।[2]

दूसरे श्लोक में वे कहते हैं कि ब्रह्म के साथ सम्बन्ध करने से देह और जीव के दोषों की निवृत्ति होती है। ये दोष पाँच प्रकार के माने गये हैं।[3] (यहाँ ब्रह्म से श्रीकृष्ण का तात्पर्य है।)

तीसरे श्लोक में सहज, देशज, कालज, संयोगज और स्पर्शज इन पाँच दोषों को बतलाकर इनकी अमान्यता कही है।[4]

चौथे श्लोक में ब्रह्म-सम्बन्ध के विना सब दोषों की निवृत्ति का किसी भी प्रकार न होना कहकर भगवान् को नहीं अर्पित की गई वस्तुओं का त्याग करना कहा है।[5]

पाँचवें श्लोक में ब्रह्म-सम्बन्ध किये हुए पुरुषों को, उक्त मत के अनुसार, सब कुछ भगवान् को समर्पण करके ही, ग्रहण करना कहा है। अर्द्धभुक्त वस्तु का देवदेव (श्रीकृष्ण) को समर्पण करना अनुचित बतलाया है।[6]

---

१. भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः॥ २॥
कश्चिदेव हि भक्तो हि 'यो मद्भक्त' इतीरणात्।
सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः॥ ४॥—पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः।

२. श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते॥ १॥

३. ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः॥ २॥

४. सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन॥ ३॥
(यहाँ चौथे पाद की संगति स्पष्ट नहीं प्रतीत होती)।

५. अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत्॥ ४॥

६. निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः।
न मतं देवदेवस्य साभिभुक्तसमर्पणम्॥ ५॥
(यहाँ 'निवेदिभिः' इस तृतीयान्त कर्त्ता के साथ 'कुर्यात्' क्रिया चिन्त्य है)

छठे श्लोक में, सब कार्यों में, पहले सब वस्तुओं को ईश्वर को समर्पित करना कहा है। दी हुई वस्तु का वापस लेना—यह वचन (भिन्न मार्गवालों के लिए है), और सब भगवान् का है।[1]

सातवें श्लोक में कहा है कि यह (दत्तापहारवाला) वचन अग्राह्य और भिन्न मार्गवालों के लिए है, जिससे संसार में सेवकों का कार्य सिद्ध हो।

अगले आधे श्लोक में कहा है कि उस प्रकार समर्पण करके ही ग्रहण करना चाहिए। इससे सबकी ब्रह्मता (सिद्ध) होती है।[2]

अन्तिम श्लोक में कहा है कि जिस प्रकार (गंगा में स्थित) सब दोषों (अशुद्ध जलादिकों) का गंगात्व (गंगारूप होना ही) है, और उनके गुणदोषों का वर्णन उनको गंगा मानकर ही करना होता है, उसी प्रकार यहाँ (आत्मनिवेदन में) भी करना चाहिए।[3]

परन्तु, इस 'सिद्धान्तरहस्य' के श्लोकों की रचना को देखते हुए इनको श्रीवल्लभाचार्यजी जैसे विद्वान् की रचना मानने में संकोच होता है।

पुनश्च, इस पुस्तक पर भिन्न-भिन्न विद्वानों की लिखी ११ संस्कृत-टीकाएँ हैं। इनमें एक टीका श्रीवल्लभाचार्यजी के पौत्र श्रीगोकुलनाथजी की लिखी हुई भी है। उसमें इस 'सिद्धान्तरहस्य' के छठे श्लोक के पूर्वार्द्ध में उल्लिखित 'तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्' की व्याख्या करते हुए वे (श्रीगोकुलनाथजी) लिखते हैं :[4]

क्योंकि, पहले नहीं समर्पण की हुई वस्तु से सम्बन्ध नहीं करना चाहिए, ऐसा कहा है। पीछे आधी भोगी हुई वस्तु को भी भेंट नहीं करना चाहिए, ऐसा कहा है। इसलिए, पहले, अपने उपभोग के पूर्व ही, 'सब वस्तु' पद से स्त्री-पुत्र आदि को भी भेंट करना चाहिए। विवाह के बाद अपने उपयोग के पहले ही, अपने उपयोग में लाने के लिए ही, उस (स्त्री) को भेंट कर देना चाहिए। इसी प्रकार, पुत्र की उत्पत्ति के बाद भी पुत्र आदि का समर्पण करना चाहिए। सब काम में, सब काम के लिए, उस-उस कार्य के

---

१. तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः॥ ६॥
(इस श्लोक के चतुर्थ पाद के कारण इसका सम्बन्ध आगे के श्लोक से नहीं जुड़ता)।

२. न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्ध्यति॥ ७॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।

३. गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना॥ ८।
गङ्गात्वेन निरूप्या स्यात् तद्वदत्रापि चैव हि।

४. "यस्मात्पूर्वंसमर्पितवस्तुसम्बन्धो न कर्त्तव्य इत्युक्तम्, पश्चादर्द्धभुक्तसमर्पणमपि न कर्त्तव्यमित्युक्तम, तस्मादादौ स्वोपभोगात्पूर्वमेव सर्ववस्तुपदेन भार्यापुत्रादीनामपि समर्पणं कर्त्तव्यम्। विवाहानन्तरं स्वोपभोगात्पूर्वमेव स्वोपभोगार्थमेव तन्निवेदनं कर्त्तव्यम्। एवमपि पुत्रोत्पत्त्यनन्तरमपि पुत्रादीनां समर्पणं कर्त्तव्यम्। सर्वकार्ये सर्वकार्यनिमित्तं तत्तत् कार्योपयोगिवस्तुसमर्पणं कार्यम्। समर्पणं कृत्वा पश्चात्तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीत्यर्थः।"

उपयोग में आनेवाली वस्तु का समर्पण करना चाहिए। भेंट करके, बाद में वे कार्य करने चाहिए, यह उस पद का भाव है।

श्रीगोकुलनाथजी अपनी उसी टीका में पहले ब्रह्मसम्बन्धीकरण के विषय में लिखते हैं कि 'ब्रह्मसम्बन्ध करना, इस मार्ग (सम्प्रदाय) के आचार्य के द्वारा भगवान् को समर्पण करना है।'[1]

इससे यह सूचित किया गया है कि स्वयं श्रीकृष्ण की मूर्त्ति के सामने जाकर भक्ति पूर्वक 'कृष्ण तवास्मि'[2] कहने से भी आत्मसमर्पण असफल रहता है। वह केवल स्व-सम्प्रदायाचार्य के द्वारा किये जाने पर ही फलप्रद होता है। परन्तु, श्रीवल्लभाचार्य ने ऐसा काई मत प्रदर्शित नहीं किया है।

इस विषय में हम श्रीमूलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला और श्रीधैर्यलाल व्रजदास साँकलिया[3] द्वारा संशोधित और वि० सं० १९८० में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से मुद्रित, श्रीवल्लभाचार्य के 'सिद्धान्तरहस्य' की भूमिका के (पृष्ठ ६) से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं—

"ऊपर हमने सम्प्रदाय की वर्त्तमान रीति और विश्वास का वर्णन किया है, परन्तु, हमको यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि वल्लभाचार्य के ज्ञात लेखों में यह कहीं नहीं लिखा है कि यह आत्मनिवेदन उनके या उनकी सन्तान के द्वारा होना चाहिए। वल्लभाचार्य इसपर आग्रह करते प्रतीत नहीं होते कि कोई खास पुरुष ही तुम्हारा संस्कार करे।"[4]

उनके निबन्ध में तो गुरु के विषय में कहा गया है कि कृष्णसेवारत, दम्भादि से रहित, श्रीभागवत के रहस्य को जाननेवाले पुरुष की, जानने की इच्छावाला व्यक्ति आदर से सेवा करे। ऐसे (गुरु) के अभाव में स्वयं ही किसी स्थान पर श्रीहरि की मूर्त्ति बनाकर सदा उनकी सेवा करे। उस मूर्त्ति में इसका रूप स्थित है।[5]

---

१. ब्रह्मसम्बन्धकरणं नाम एतन्मार्गीयाचार्यद्वारा भगवन्निवेदनम्।

२. अथवा—सहस्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्दतिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि तद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं, कृष्ण तवास्मि।

३. ये दोनों व्यक्ति हाइकोर्ट के एडवोकेट हैं।

४. "Above we have related the current practice and belief in the Sampradaya, but we must admit that in the known writings of Vallabhacharya it is no where mentioned that initiation should take place only through him or his descendants. Vallabhacharya does not seem to insist that any particular person should initiate you."

५. कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेज्जिज्ञासुरादरात्॥
तदभावे स्वयं वापि मूर्त्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम्॥

श्रीवल्लभाचार्य के पौत्र श्रीगोकुलनाथ की उपर्युक्त व्याख्या से इस सम्प्रदाय में जो असदाचार फैला, उसकी झलक के लिए, उपर्युक्त भूमिका से ही कुछ पंक्तियाँ और उद्धृत करते हैं :[1]

"ब्रह्म-सम्बन्ध से कृष्ण का सम्बन्ध है, न कि आचार्य या उनकी किसी सन्तान का।......वास्तव में हम इनकार नहीं कर सकते कि (इस धर्म के) अनुयायियों के कुछ वर्ग और आचार्यों में कुछ व्यक्ति नीचे नहीं गिरे हैं। ऐसा पतन किसी-न-किसी समय सब धर्मों में आता है।.........आचार्यों में कुछ व्यक्तियों द्वारा अपनाये जीवन ने उनके विरुद्ध (असदाचारी होने के) अनुमान का संकेत कर दिया है।"

इसके अतिरिक्त सन् १८६० ई० में बम्बई के हाइकोर्ट में इसी अपवाद के विरुद्ध महाराज निन्दालेख-अभियोग (Maharaja Libel Case) भी चलाया जा चुका है। इसमें न्यायाधीश ने श्रीवल्लभाचार्य के 'सिद्धान्तरहस्य', उसपर की श्रीगोकुलनाथ की टीका और उपस्थित किये गये अन्य साक्षियों के आधार पर इस सम्प्रदाय के मूल में ही दोष रहना मान लिया था।[2]

इलाहाबाद-गजेटियर में लिखा है कि कृष्ण के सायुज्य से सब प्रकार के पाप दूर हो जाते हैं।[3] इस सिद्धान्त की पुष्टि (और गुसाँइयों के देवत्व) से गोकुलनाथ के समय इस सम्प्रदाय के नाम के साथ कलङ्क पुष्ट हो गया।

---

१. "ब्रह्मसम्बन्ध has reference to Krishna and not to Acharya or any of his descendants...... of course, we are not in a position to deny that a certain section of the followers and some individual of the priestly class have degenerated. Such degeneration comes at one time or another in all the religions......."
The life led by a few of the priestly class suggested an inference against them.

२. "In the notorious Maharaja Libel Case, this work (सिद्धान्त-रहस्य) with its commentary of Gokulnathji was cited by the defendants to show that the religious tenets preached by Vallabhacharya, and his grandson sanctioned immoral practices......General ignorance of the tenets of Vallabhacharya, and a desire not to give publicity to the works of Sampradaya helped to create an atmosphere prejudicial to the reputation of Sampradaya." (Introduction to Siddhanta Rahasyam, dated Bombay, 29-4-1924, pp. 5-6)

३. "As taught by Vallabha the doctrines of the sect are unexceptional. Sins of all kinds are washed away by union with God Krishna, who is the refuge of all the scandal attached to the name of the sect is due to the development of this doctrine, apparently, in the time of Gokulnath. The Gussain identified with the divinity..." (Allahabad Gazetteer, Muttra)

उत्तर पश्चिमी सीमान्त-प्रदेश (अवध) के गजेटियर में भी गोकुलनाथजी के समय से इस सम्प्रदाय का दुर्नाम होना लिखा है।[१]

मार्टिन ने अपनी पुस्तक 'भारत के देवता' में वल्लभाचार्यजी के सम्प्रदाय के आचार्यों का अपने को कृष्ण का अवतार मानना और इसी से इस सम्प्रदाय में दुराचार फैलकर इसका पतन होना लिखा है।[२]

श्रीईश्वरीप्रसाद अपने 'मध्यकालीन भारत'[३] में इस पुष्टिमार्ग का पर्याय 'आनन्द का मार्ग' लिखते हैं और इसके अनुयायियों का स्त्रियों के-से वस्त्र पहनना तथा गुसाँइयों को ईश्वरावतार मानकर उनकी हर प्रकार की सेवा के लिए उद्यत रहना सूचित करता है।

इसी पुस्तक की पाद-टिप्पणी में श्रीईश्वरीप्रसाद ने श्रीग्राउज़ की 'मथुरा' नामक पुस्तक से उसका मत उद्धृत किया है कि 'इस समाज की बुराइयाँ इस सम्प्रदाय के साहित्य में न होकर उनके पिछले व्याख्याकारों की व्याख्याओं में हैं।'[४]

ये सब कथन कहाँतक ठीक हैं और इनमें कितनी अतिशयोक्ति है, इसका निर्णय करना इस लेख का विषय नहीं है। हमें तो यहाँ केवल दो बातें निवेदन करनी हैं। उनमें पहली बात व्यावहारिक रूप से यह है कि भगवान् को अपनी आत्मा का समर्पण

१. "The purity of his (Vallabha's) religion was degraded by his grandson Gokulnathji and since then, the sect fallen into disrepute." [N. W. Province (Oudh) Gaz. (Agra)]

२. "The spiritual teacher of the sect (Vallabha) have had the audacity to assert that they were themselves incarnations of Shri Krishna and that worship is to be paid to them by their votaries in the full and untrammelled gratification of their passions and desires. Needless to say this had led to the grossest immorality and debauchery." (Martin's Gods of India, p. 142).

३. "This Pushti Marg (way of pleasures) has naturally found many adherents, especially middle classes in Bombay Presidency. But in practice it has lapsed into grave depravity especially as the fervour of their imagination leads devotees to dress as woman and worshippers regarding their Gossains or priests as incarnation of God, to pay them the service which they believe to be done to him including sometimes even the JUS prima noctis." [Ishwari Prasad : Mediaeval India (1925), p. 560]

४. Ishwari Prasad further quotes in his foot-note : "It must be borne in mind that there is no basis for these abuses in the literature of the the sect. They are mainly due to the wealth of the followers and the grossly material interpretation put upon the doctrines of Vallabha by later exponents." (Growse : Muthura, p. 263)

करना तो बहुत ही श्रेष्ठ है, परन्तु घर की अन्य सामग्री या गाय-भस की तरह स्त्री-पुत्रादिकों का, अपनी तरफ से, समर्पण करना क्या विचारणीय नहीं है; क्योंकि वे तो अपना निज का पृथक् अस्तित्व रखते हैं।

दूसरी बात, जिज्ञासा-रूप में, यह है कि इस शुद्धाद्वैत नामवाले सम्प्रदाय में राधाजी और वह भी स्वामिनी के रूप में कैसे प्रविष्ट हुईं, जब कि वैष्णवों के परम माननीय श्रीमद्भागवतपुराण में इन (राधाजी)[१] का नाम ही नहीं है।

काँकरोली के इतिहास में लिखा है कि 'सम्प्रदाय में इस प्रकार का भी वाद प्रचलित है कि प्रारम्भिक अवस्था में इन (श्रीविट्ठलनाथजी) पर श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु के सिद्धान्त की कुछ छाप पड़ी, जिसके कारण सम्प्रदाय में राधिकाजी, किंवा स्वामिनीजी की उपासना का भाव प्रचलित हो गया, और इसीसे एतद्विषयक स्तोत्रों का भी निर्माण हुआ।'[२] 'शृङ्गाररसमण्डन' नामक ग्रन्थ की शैली इसी प्रकार की है। तात्पर्य यह कि इस सम्प्रदाय में जो कुछ भी स्वामिनी-भाव की उपासना है, वह इसी कारण है। आगे चलकर यह चैतन्य-साम्प्रदायिक प्रभाव समाप्त हो गया और विट्ठलेश्वरजी अपने पितृचरण के सिद्धान्त के अनुसार उपासना करने लगे; पर एक बार जो भाव प्रविष्ट हो गया, वह फिर सर्वांश में नहीं निकाला जा सका।[३]

श्रीराधाजी पर ऐतिहासिक विचार

आगे राधाजी के विषय में विचार[४] किया जाता है—

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर आये 'राधः'[५], 'राधांसि'[६], 'राधसा'[७], 'राधसे'[८], 'राधसः'[९], राधसां'[१०], 'राधानां'[११] और 'राधसि'[१२] शब्दों को कुछ वैष्णव विद्वान् राधा का सूचक मानते हैं। जैसे—

---

१. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के अनुसार राधाजी वृषभानु की कन्या थी। इनकी माता का नाम कलावती और पति का नाम रायाण था।

२. द्वितीय भाग, पृ० ९७: (इसके लेखक श्रीकण्ठमणि शास्त्री और प्रकाशक श्रीविद्या-विभाग, काँकरोली है। यह इतिहास श्रीव्रजभूषणलालजी, अधिनायक श्रीद्वारकाधीश का मन्दिर, काँकरोली के तत्त्वावधान में प्रस्तुत किया गया है।)

३. चैतन्य महाप्रभु का काल सन् १४७६ से १५३३ ई० और विट्ठलनाथजी का सन् १५१५ से १५८५ ई० तक था। वल्लभाचार्यजी का स्वर्गवास सन् १५३० ई० में माना जाता है। अतः, सम्भव है, इस वाद में सत्यता हो।

४. द्र० 'भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा' : पं० बलदेव उपाध्याय।

५. मं० १, सू० ९, ऋ० ५ (राधः)।

६. मं० १, सू० २२, ऋ० ८ (राधांसि)।

७. मं० ३, सू० ३०, ऋ० २० (राधसा)।

८. मं० ३, सू० ४१, ऋ० ६ (राधसे)।

९. मं० १, सू० १५, ऋ० ५ (राधसः)।

१०. मं० ८, सू० ९०, ऋ० २ (राधसां)।

११. मं० ३, सू० ५१, ऋ० १० (राधानां पते—इन्द्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त)।

१२. मं० ४, सू० ३२, ऋ० २१ (राधसि)।

भक्तविप्रः सुमतिं नदीनां प्रपिन्वध्वमिषयन्ती सुराधा ।[१] (ऋग्० ३।३३।१२)
यस्य ब्रह्मवर्द्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः । सजनास इन्द्रः ।[२] (ऋग्० २।१२।१४)
स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीरस्य ते विभूतिरस्तु सुनृता ।[३] (ऋग्० १।३०।५)

परन्तु, यहाँ राधा से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता ।[४]

इसी प्रकार, वैष्णव टीकाकार पण्डित श्रीमद्भागवत के निम्नलिखित दो श्लोकों में क्रमशः आये 'राधसा' और 'राधितो' शब्दों से पुराण में राधा के नाम का संकेत होना मानते हैं :

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते मनः ॥[५] (२।४।१४)
अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ॥[६] (१०।३०।२४)

परन्तु, पाठक स्वयं देख सकते हैं कि यहाँ राधा का संकेत रहना सिद्ध नहीं होता। इससे यही कहना पड़ता है कि श्रीकृष्ण के चरित्र से सम्बन्ध रखनेवाले मुख्य पुराण श्रीमद्भागवत में राधा का कहीं भी कोई उल्लेख नहीं है ।

राधा का उल्लेख पद्मपुराण[७], देवीभागवत[८] और ब्रह्मवैवर्त्तपुराण[९] में मिलता है।[१०]

---

१. यह नदीसूक्त का मन्त्र है।
२. यह मन्त्र इन्द्र के महत्त्व का सूचक है।
३. यहाँ 'राधानां पते' का अर्थ धन का स्वामी है ।
४. यह राधस् शब्द संसिध्यर्थक 'राध्' धातु से असुन् (अस्) प्रत्यय लगने से बना है। यास्क ने अपने निघण्टु में इसका अर्थ 'धन' दिया है (२।१०)।
५. यह कथारम्भ करने के पूर्व की शुकदेव-कृत स्तुति का एक श्लोक है। यहाँ 'राधसा' का अर्थ 'ऐश्वर्य' से है ।
६. यह रासलीला के सम्बन्ध का श्लोक है और यहाँ 'आराधितः' का अर्थ 'सेवित' है ।
७. रूपगोस्वामी ने अपनी 'उज्ज्वलनीलमणि' में और कृष्णदास ने अपने 'चैतन्यचरितामृत' में राधा के नाम का उल्लेख करनेवाला पद्मपुराण का एक श्लोक उद्धृत किया है--

   यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा ।
   सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा ॥

   परन्तु, इस समय उक्त पुराण में राधा-सम्बन्धी इतना अधिक वर्णन मिलता है कि विद्वान् इस (वर्णन) की प्राचीनता में सन्देह करते हैं।
८. इसके स्कन्ध ९, अध्याय ३ में महाविष्णु की उत्पत्ति चिन्मयी राधा से होना कहा है।
९. इसके कृष्णजन्म खण्ड, अध्याय १५ में राधा से कृष्ण का विवाह होना कहा है। इसी में राधा को वृषभानु और कलावती की कन्या और रायाण की भार्या भी लिखा है।
१०. गौडीय वैष्णव केवल पद्मपुराण और मत्स्यपुराण में राधा का वर्णन होना मानते हैं। जीवगोस्वामी ने ब्रह्मसंहिता की अपनी टीका में 'राधा वृन्दावने' यह प्रसंग उद्धृत कर मत्स्यपुराण में राधा का उल्लेख होना सूचित किया है।

भारतीय साहित्य में पहले-पहल राधा का नाम 'गाहा सत्तसई' (गाथासप्तशती) में मिलता है।[१] दन्तकथा के अनुसार प्राचीन मराठी में लिखी इस पुस्तक का कर्त्ता आन्ध्रवंशी नरेश हाल (सातवाहन) माना जाता है। मि० विन्सेण्ट स्मिथ के मतानुसार यह ई० स० ६८ (वि० सं० १२५) में विद्यमान था। उक्त सप्तशती की व्रजलीला-सम्बन्धिनी गाथाओं में एक गाथा इस प्रकार है—

मुहामासएण तं कह्न गोरऊँ राहिआए अवणेन्तो।
एताणं बलवीण अणणाणापि गोरअं हरसि॥ (१।८९)

संस्कृत-रूप

(त्वं कृष्ण राधिकाया मुखमारुता गोरजो अपनयन्।
आसाभन्यासामपि गोपीनां गौरवं हरसि॥)

धार्मिक जगत् में, कृष्ण की सहचरी के रूप में राधा के महत्त्व का श्रीनिम्बार्क के समय प्रकट होना अनुमान किया जाता है।[२] श्रीरामकृष्ण भण्डारकर इन (निम्बार्क) का जन्म सन् ११६२ ई० के निकट होना मानते हैं।

सन् १४९३ ई० (वि० सं० १५५०) के लगभग श्रीवल्लभाचार्य के द्वारा स्थापित शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय में आगे चलकर राधा का स्वामिनी के रूप में महत्त्व स्वीकार कर लिया गया।[३]

सन् १५३४ ई० (वि० सं० १५९०) के निकट श्रीहितहरिवंशजी के चलाये राधावल्लभ-सम्प्रदाय में राधाजी का महत्त्व कृष्ण से भी अधिक हो गया।

चैतन्य महाप्रभु (सन् १४७६--१५३३ ई०) के मत में राधा की भक्ति का प्रसार कृष्ण-कान्ता के भाव में हुआ। परन्तु, आगे चलकर ये स्वकीया से परकीया के रूप में ग्रहण कर ली गईं।

बंगाल के सहजिया-सम्प्रदाय में भी राधा की उपासना परकीया के रूप में ही की जाती है। गौडीय मत में राधा शक्तिरूपिणी मानी जाती है।

महाराष्ट्र के वारकरी वैष्णव-सम्प्रदाय में कृष्ण के साथ रुक्मिणी का ही प्राधान्य है।[४] इसी से पंढरपुर की बिठोवा (विट्ठल) की मूर्त्ति के वाम भाग में रुखमाबाई की मूर्त्ति विद्यमान है।

दक्षिण के विशुद्ध द्रविड़ (तमिल, तेलगु, कन्नड़ और मलयालम)-साहित्य के भक्ति-काव्य में राधा का उल्लेख नहीं है।[५]

असम देश में रुक्मिणी और सत्यभामा का ही प्राधान्य है, राधा गौण है।

२८००, गली आर्यसमाज
बाजार सीताराम, दिल्ली-६

१. परन्तु, कालिदास के काव्यों में राधा का उल्लेख नहीं मिलता।
२. द्र० निम्बार्क का दशश्लोकीस्तोत्र 'वेदान्तकामधेनु'।
३. अष्टछाप के कवियों ने भी राधामाधव की लीला का विशद वर्णन किया है।
४. वैसे वहाँ के भक्त-कवियों की कविता में राधा का भी उल्लेख मिलता है।
५. यदि कहीं है, तो भी गौणरूप से ही, जो उत्तरी भारत का प्रभाव है।

नारदस्मृति : एक अनुशीलन*

महामहोपाध्याय पं० श्रीश्रीपाद दामोदर सातवलेकर

नर शब्द का अर्थ है—'नेता या नेतृत्व करनेवाला।' और, नरों के समुदाय का नाम 'नार' है। इस नेतृत्व करनेवाले मानव-समुदाय को जो शाश्वत धर्म का उपदेश देता है, वह **नार-द** कहलाता है। यह तो हुआ नारद का सामान्य अर्थ। पर, जिसकी स्मृति का अनुशीलन हम यहाँ करना चाहते हैं, उस नारदस्मृति का कर्त्ता नारद ऋषि भारत में तथा विशेष कर पुराणों में सुप्रसिद्ध है।

इस नारदस्मृति में मानव-समाज की व्यवस्था कैसी हो, उस समाज की आर्थिक व्यवस्था कैसे सुदृढ बनाई जाय, और इन दोनों व्यवस्थाओं को उत्तमता से चलानेवाली राज्यव्यवस्था किस तरह की जाय, इन सब विषयों की बड़ी उत्तम विवेचना की गई है।

राज्यव्यवस्था

जबतक जनता अपना सारा व्यवहार सत्यनियमों के अनुसार करती रहती है, तबतक शासकों की कोई आवश्यकता नहीं होती। पर, जिस समय प्रजाओं में अधार्मिकता बढ़ जाती है, उस समय राजा की स्थापना आवश्यक हो जाती है। नारदस्मृति के अध्ययन से पता चलता है कि उसी प्रकार प्राचीन काल में भी प्रजाओं में अधार्मिकता बढ़ने पर राजा बना और राज्यशासन की व्यवस्था शुरू हुई। राजा के कर्त्तव्यों के विषय में स्मृतिकार का कथन है—

सतां अनुग्रहो नित्यं असतां निग्रहः तथा।
एष धर्मः स्मृतो राज्ञां अर्थश्चापीडयन् प्रजाः॥

अर्थात्, सज्जनों का पालन, दुष्टों को दण्ड देकर उनका निग्रह करना तथा प्रजाओं को पीडा न देते हुए धन प्राप्त करना ये राजाओं के कर्त्तव्य हैं।

श्रुतिस्मृति-विरुद्ध आचरण तथा प्रजा की अवनति करनेवाला कुव्यवहार राजा स्वयं कभी न करे और जो दूसरा कोई करे, तो उसे राजा दण्ड दे।

सहस्रदृक् राजा

राजा अपने राज्य में तथा बाहर अपने विश्वस्त गुप्तचरों से राज्यव्यवस्था का हर समाचार लेता रहे और राज्य में किसी तरह की अव्यवस्था न होने दे। इसलिए, नारदस्मृति में राजा को 'सहस्रदृक्' कहा गया है। अर्थात्, वह हजारों नेत्रों से युक्त होता है। यह गुप्तचरों की दृष्टि ही राजा के सहस्रों नेत्र हैं। गुप्तचरों की उत्तम व्यवस्था रखना उत्तम राज्यशासन की पहली सीढ़ी है।

---

* बड़ौदा-आकाशवाणी से प्रसारित म० म० पं० श्रीश्रीपाद दामोदर सातवलेकर की एक गुजराती वार्त्ता का हिन्दी-रूपान्तर। रूपान्तरकार : श्रीश्रुतिशील शर्मा ('अमृतलता'-सम्पादक)।

राजा के पाँच रूप

स्मृतिकार ने राजा के पाँच रूप बताये हैं, जो इस प्रकार हैं—

पञ्चरूपाणि राजानो धारयन्त्यमितौजसः ।
अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य यमस्य धनदस्य च ॥

अर्थात्, अत्यन्त सामर्थ्यशाली राजा अग्नि, इन्द्र, सोम, यम और कुबेर इन पाँच देवताओं के रूपों को धारण करते हैं ।

१. क्रुद्ध होने पर राजा अग्नि का रूप धारण करता है;
२. शत्रु पर आक्रमण करने के समय वह **इन्द्र** का रूप धारण करता है;
३. प्रसन्न होने पर वह आनन्ददायक **चन्द्र** बनता है;
४. दुष्टों को दण्ड देने के समय वह **यम** का रूप धारण करता है; और
५. दान देने के समय राजा **कुबेर** बनता है ।

ब्राह्मणों की सम्मति

राजा सबसे समान व्यवहार करे तथा ब्राह्मणों की सलाह से अपना राज्य-शासन चलाये ।

ब्राह्मणानुपसेवेत नित्यं राजा समाहितः ।
संयुक्तं ब्राह्मणैः क्षत्रं मूलं लोकाभिरक्षणे ॥

अर्थात्, राजा सदा समवृत्ति से रहकर ब्राह्मणों की सलाह लेकर अपने राज्यशासन का कार्य करता रहे; क्योंकि ब्राह्मणों की सम्मति से चलनेवाला राजा ही राष्ट्र का संरक्षण कर सकता है ।

राजा न्यायी हो

राज्यव्यवस्था उत्तमता से चलाने के लिए राजा का न्यायी होना अत्यावश्यक है । क्योंकि, राज्य की सारी व्यवस्था धर्ममार्ग में रहने से ही सबके लिए आनन्द देनेवाली हो सकती है । अतः, स्मृतिकार का कथन है—

धर्मश्चार्थश्च कीर्त्तिश्च लोकपक्तिरुपग्रहः ।
प्रजाभ्यो बहुमानं च स्वर्गस्थानं च शाश्वतम् ॥

अर्थात्, योग्य रीति से न्याय करनेवाला राजा धर्म, अर्थ, कीर्त्ति, लोगों का आदरभाव, प्रजा की सहायता, प्रजाजनों से सम्मान और शाश्वत स्वर्गस्थान प्राप्त करता है ।

धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र

धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र में विरोध दीखने पर राजा अर्थशास्त्र को छोड़कर धर्मशास्त्र के अनुसार ही कार्य करे । राजा धर्मशास्त्र में कुशल, सत्यवादी, कुलीन और शत्रु तथा मित्र से सम व्यवहार करनेवालों को अपनी सभा का सदस्य बनाये । यदि सभा का कोई सदस्य दूषित व्यवहार करे, अथवा रागद्वेष से, अज्ञान से या लोभ से उल्टा व्यवहार करे, तो राजा उसे दण्ड दे ।

राज्य की अर्थव्यवस्था

नारदस्मृति में धन-संग्रह के अनेक मार्ग बताये हैं। उनमें कर, जुरमाना आदि मार्ग भी बताये हैं। राजा प्रजा से योग्य कर ले; पर उस कर से प्राप्त धन को राजा प्रजा के हित में ही खर्च कर दे। राजा कभी अयोग्य रीति से धन प्राप्त न करे। अतः, स्मृतिकार का आदेश है—

धनमूलाः क्रियाः सर्वाः यत्नः तत्साधने मतः।
वर्द्धनं रक्षणं भोग इति तस्य विधिः क्रमात्॥

अर्थात्, सारे कार्य धन से होते हैं, अतः धन को कमाने का यत्न करना चाहिए। राजा धन को प्राप्त करे, धन को बढ़ाये, धन का संरक्षण करे और उस धन का उपभोग भी करे।

तीन प्रकार का धन

शुक्ल, शबल और कृष्ण रूप से धन तीन प्रकार का होता है। १. शूरता, वीरता, तप और यज्ञादि से प्राप्त धन शुक्ल होता है। २. व्याज, खेती, व्यापार और शिल्पादि से कमाया धन शबल कहा जाता है। ३. जूआ, अत्याचार, डाका आदि द्वारा कमाया धन कृष्ण कहा जाता है। राजा 'कृष्ण' धन कभी न ले। चारों वर्णों को धन कमाने का समान अधिकार है।

राजा का कर्त्तव्य है कि वह राज्य की अर्थव्यवस्था को उत्तम बनाये रखे। यदि कोई किसी से ऋण लेकर वापस न करे, तो राजा उस ऋण को वापस दिलाये; पर उस धन का बीस प्रतिशत भाग राष्ट्र के खजाने में जमा कर ले।

राज्य में चोरी न होने पाये। यदि किसी के यहाँ चोरी हो जाय और राजा चोर को न पकड़ सके, तो राजा राज्य के खजाने से उस धन के स्वामी को उतना धन दिलवाये।

दण्डव्यवस्था

राष्ट्र में शान्ति की व्यवस्था के लिए राजा अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था भी करे। दूसरों के फल, खेत के साधन आदि चुरानेवाले पर सौ मुद्राओं का जुरमाना हो। पशु, अन्न आदि की चोरी जो करे, उससे राजा पाँच सौ मुद्राओं का जुरमाना वसूल करे। जो स्त्री का अपहरण करे, उसपर बलात्कार करे अथवा दूसरों की हत्या करे, उसे राजा मृत्युदण्ड दे। जो जिस अंग से महान् अपराध करे, उस अपराधी का वह अंग कटवा दिया जाय। माता, बहन, सास, लड़की, पुत्रवधू, गुरुपत्नी, रानी और संन्यासिनी के साथ यदि कोई अवैध सम्बन्ध करे, तो उसे राजा नपुंसक करा दे।

समाजव्यवस्था

उस समय समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों में और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों में बँटा हुआ था। ब्राह्मण का कार्य ज्ञान का प्रचार करना, यज्ञ करना और धर्म का शिक्षण देना था। क्षत्रिय का कार्य राष्ट्र-रक्षा के लिए युद्ध करना, सज्जनों का पालन और दुष्टों का नाश करना था। वैश्यों का

कार्य गोरक्षा, कृषि तथा व्यापार करना था और शूद्रों का कार्य उपयुक्त तीन वर्णों की सेवा करना था।

ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य था कि वह भिक्षावृत्ति से जीविका कमाये, नीचे सोये, अपने आचार्य की सेवा करे और शिक्षा समाप्त होने पर अपने गुरु को दक्षिणा देकर तथा उसकी आज्ञा लेकर अपने घर जाय। आचार्य का भी यह कर्त्तव्य है कि वह शिष्य को अपने घर से भोजन और कपड़ा देकर उसे उत्तम शिक्षा दे। कहा है—

आचार्यः शिक्षयेदेनं स्वगृहात् दत्तभोजनम्।
न चान्यत् कारयेत्कर्म पुत्रवच्चैनमाचरेत्॥

अर्थात्, आचार्य शिष्य को अपने घर से भोजन देकर शिक्षा दे। उस शिष्य से अध्ययन के अलावा दूसरा कुछ काम न कराये तथा उसके साथ अपने पुत्र के समान व्यवहार करे।

गृहस्थों का कर्त्तव्य था कि वे सबका उत्तम रीति से पालन करें। वानप्रस्थी और संन्यासियों का कार्य देश में घूम-घूमकर सर्वत्र धर्म-प्रचार करना था! इस प्रकार, नारदस्मृति में राज्यव्यवस्था, अर्थव्यवस्था और समाजव्यवस्था की उत्तम रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।

स्वाध्याय-मण्डल, पारडी (सूरत)

वैदिक 'पञ्चजनाः' का अर्थ

पं० श्रीकिशोरीदास वाजपेयी

उस समय 'देवासुर-संग्राम' चल रहा था। आर्यों के ही दो देश आपस में तुमुल युद्ध कर रहे थे। यानी, ईरानी आर्यों के साथ इधर के आर्यों का महायुद्ध प्रवृत्त था। उधर के आर्य 'असुर' कहलाते थे और इधर के 'देव'। वहाँ असुरों के प्रमुख 'अहुरमज्द' और इधर देवाधिराज 'इन्द्र' थे। 'असुर' का ही रूपान्तर 'अहुर' है। इधर 'असुर' शब्द का गर्हणात्मक प्रयोग होने लगा था; जैसे कि अर्वाचीन फारसी-साहित्य में 'हिन्दू' शब्द का कुत्सित अर्थ में प्रयोग होने लगा!

असुरों की शक्ति बढ़ी-चढ़ी थी और उनके महान् गुरु शुक्राचार्य की राजनीति रंग ला रही थी। शुक्राचार्य केवल महान् राजनीतिज्ञ ही नहीं, कवि भी ऊँचे दरजे के थे। 'कवि' कहने से उस समय उन्हीं का बोध होता था। वे काव्यमूर्त्ति थे। यही कारण है कि 'कवि' तथा 'काव्य' शब्द उनके अभिधान बन गये थे।

शुक्र की 'संजीवनी' विद्या

कहते हैं, शुक्र को 'संजीवनी' विद्या आती थी। जो असुर मर जाते थे, उन्हें वे जिन्दा करके फिर रण में भेज देते थे। यह 'संजीवनी' विद्या है क्या चीज? शुक्राचार्य की

जीवनदायिनी वह काव्यात्मक वाणी ही 'संजीवनी' विद्या थी, जो मुरदों में भी जान डाल देती थी। रण में अभिभूत (यानी मुरदादिल) असुर-सैनिकों में उनका काव्य जान डाल देता था, एक बिजली दौड़ा देता था। शुक्र की इस 'संजीवनी' विद्या ने बड़ा काम किया। कुछ ऐसा ही काम हमारे महाकवि 'भूषण' की वाणी ने भी किया था। छत्रपति शिवाजी को जो विजयश्री प्राप्त हुई, उसमें 'भूषण' की वाणी का योग कुछ कम न था। महाराणा प्रताप को ऐसा कोई कवि प्राप्त न था।

तात्पर्य यह कि उस समर में सभी तरह की शक्तियों का प्रयोग हो रहा था। इधर के वैदिक आर्य भी जी-जान से लड़ रहे थे। सबको संघटित होकर असुरों का मान-मर्दन करना चाहिए, ऐसा आह्वान इस वेदमन्त्र में है—

तदद्य वाचः प्रथमं मंसीय येनासुराँ अभिदेवा असाम।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः 'पञ्चजनाः' मम होत्रं जुषध्वम्॥

सो, आज तो मैं वाणी का सर्वश्रेष्ठ उत्कर्ष उसे मानता हूँ, जिससे कि हम देव लोग असुरों को जीत सकें। इस समय तो भोग-विलास में लिप्त और यज्ञ आदि अनुष्ठानों में लगे हुए सभी पञ्चजनों को मेरे इस आह्वान पर ध्यान देना चाहिए। सबको समरोन्मुख होना चाहिए। यानी, मन्त्र में पहले तो वैसी वाणी का महत्त्व बतलाया गया है, जैसी कि उधर शुक्राचार्य की थी और फिर सबको संघटित होकर शत्रु का मुकाबला करने को कहा गया है।

ये 'पञ्चजनाः' कौन हैं ?

'पञ्चजनाः' का अर्थ बाद के लोगों ने दो तरह से किया है। यास्क ने दोनों मतों का उल्लेख अपने 'निरुक्त' में किया है—

पञ्चजनाः—गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके। चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः।

यास्क कहते हैं कि इस मन्त्र में आये 'पञ्चजनाः' पद का अर्थ कुछ लोग करते हैं—१. गन्धर्व, २. पितर, ३. देव, ४. असुर और ५. राक्षस। परन्तु, औपमन्यव का मत है कि आर्यों के चार वर्ण और पाँचवें 'निषाद', ये हैं 'पञ्चजनाः'।

'इत्येके' (कुछ लोग यह अर्थ लेते हैं) यह कहकर यास्क ने प्रथम मत से अरुचि प्रकट की है और 'इत्यौपमन्यवः' कहकर दूसरे मत के प्रति सम्मान प्रकट किया है : 'औपमन्यव ऐसा मानते हैं।' हम सब 'वाजपेयी' लोग 'उपमन्यु'-गोत्रीय हैं, इसलिए नहीं; प्रत्युत इस दूसरे मत में पूरी उपपत्ति है, इसलिए इसका समर्थन करता हूँ।

आर्यों का एक वर्ग अपने को 'रक्षस्' कहता था, इसलिए उसका पृथक् आह्वान माना जा सकता है—**विशेषवाचकपदसन्निधाने सामान्यवाचकपदानां तदतिरिक्तपरत्वम्।** लंका आदि में इन 'रक्षस्' आर्यों का आधिपत्य था। और, असुरों के साथ युद्ध करने के लिए इनका आह्वान सही हो सकता है। परन्तु, 'असुर' जनों का आह्वान कैसा ? असुरों के ही अभिभव के लिए तो तैयारी थी ! क्या जान-बूझकर असुरों का यह 'फिफ्थ कॉलम' अपने साथ रखकर आर्यजन अपनी मृत्यु का आह्वान कर रहे थे ? ऐसी बात नहीं।

सो, दूसरा ही अर्थ ठीक है—आर्यों के चारों वर्ण और निषाद मिलकर 'पञ्च-जनाः'। लंका में भी आर्यों के चार वर्ण थे।

'निषाद' कौन थे ?

हमने अपने 'भारतीय भाषाविज्ञान' में लिखा है कि आर्यों की जब पूर्ण समृद्धि थी, तब कहीं से उजड़कर किसी देश के पूरे जनपद इस देश (भारत) के दक्षिणी छोर पर आ बसे, जिनको हम आज 'तमिल' जैसे शब्दों से जानते हैं। चारों का सामान्य अभिधान 'द्रविड़' है। ये द्रविड़जन समुद्री मार्ग से आये और कुछ लंका में समुद्रतट पर बस गये; अधिकांश यहाँ (भारत में) समुद्रतट पर बसे और दूर-दूर तक फैल गये। इनकी अपनी व्यवस्था थी, अपना तन्त्र था। ये समुद्री व्यापार करते थे। समुद्र से ही लक्ष्मी पैदा होती है। खूब सम्पन्न थे ये लोग। कदाचित् इसीलिए बाद में आर्यजन इनके प्रदेश को 'द्रविण-प्रदेश' कहने लगे और फिर 'द्रविण' ही 'द्रविड़' बन गया। वेदों में 'द्रविड़' शब्द इनके लिए नहीं मिलता। 'निषाद' कहते हैं मल्लाहों को, जलपोत चलानेवालों को। द्रविड़जनों के व्यापारी जहाज सर्वत्र जाते रहते थे, और यों जहाजी काम करने के कारण ही इन्हें उस समय शायद 'निषाद' कहते थे। देवासुर-संग्राम के लिए इनका भी सहयोग लिया गया होगा। इसका मतलब यह हुआ कि देवासुर-संग्राम के बहुत पहले द्रविड़ लोग यहाँ आ बसे थे; पर तबतक आर्यों में ऐसे घुले-मिले न थे। द्रविणों में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था न थी। आज भी वहाँ वैश्य आदि शब्द नहीं हैं। इधर के गये 'अग्रवाल' आदि वैश्य वहाँ हैं; पर द्रविड़-परिवार के नहीं। बाद में वहाँ के अनेक राजाओं को क्षत्रिय लिखा गया; यह अलग बात है। जब द्रविड़जनों ने आर्य-संस्कृति अपनाई, तब इधर से विद्वान् और जीवट के ब्राह्मण उधर गये, जिनमें अगस्त्य ऋषि का नाम सर्वप्रथम आता है, जो दुर्गम विन्ध्यपर्वत को लाँघकर और भयंकर वनखंडों को रौंदते हुए समुद्रतट पर पहुँचे थे। उधर जाना तब मृत्यु को न्यौता देना समझा जाता था। उसे 'मृत्यु की दिशा' कहते थे। कहते थे—'उधर पैर मत करो!' आज भी वह स्मृति है। अगस्त्य ऋषि वहाँ जाकर घुल-मिल गये और उन्होंने तमिल-भाषा का व्याकरण भी बनाया। तमिल-भाषा का वह आद्य व्याकरण था। इनके अतिरिक्त और भी ब्राह्मण गये, जिन्हें उस समय सम्मान मिला; पर आज उनसे वैर बाँधा जा रहा है!

सो, द्रविड़ों में तीन ही **'वर्ग'** हैं—अभिजात वर्ग, निचला वर्ग और ये ब्राह्मण। यानी, चातुर्वर्ण्य की वैसी रूढि वहाँ नहीं है, जैसी शेष भारत में। बाहर से आये हुए ये ही उस वेदमन्त्र में 'निषाद' कहे गये हैं। 'निषाद' शब्द उनके लिए सम्मान में ही था—'समुद्री व्यापारी' जैसे अर्थ में। अन्यत्र 'निषाद' शब्द कुछ भिन्न अर्थ में भी चलता था। इधर ताल-तलैयों या नदियों में नाव-घन्नई चलाकर 'पातभरि सहरी' आदि से पेट भरनेवाले भी 'निषाद' कहलाते थे। हीरा भी पत्थर और राह का ठोकर खानेवाला टुकड़ा भी पत्थर! कालान्तर में वह भू-भाग 'द्रविण-प्रदेश' या द्रविड़-प्रदेश' कहलाने लगा। पाश्चात्य इतिहासकारों ने लिखा है कि आर्यों का द्रविणों के साथ युद्ध हुआ और आर्यों ने उन्हें समुद्र तक खदेड़ दिया। यह सब कल्पना किसी दुरभिसन्धि से की गई है; क्योंकि वेदों में 'देवासुर-

संग्राम' की तो चर्चा है, पर 'द्रविडार्य-संग्राम' का कहीं उल्लेख नहीं है, और न द्रविड़-साहित्य में ही कहीं इसकी चर्चा है कि आर्यों ने हमें काट-मारकर यहाँ समुद्रतट तक खदेड़ दिया। यदि आर्यों ने द्रविड़ों को उस तरह खदेड़कर वहाँ पहुँचाया होता, तो फिर वहाँ छोड़ न देते; एक धक्का और देकर समुद्र में ही डाल देते; चाहे जहाँ जाओ फिर। वैसे शत्रु को कोई बीच में छोड़ता है क्या? आर्य-द्रविड़ संघर्ष की कल्पना इसलिए की गई थी कि किसी समय इससे रंग आयगा; द्रविड़ लोग भड़केंगे। कुछ वह बीज अंकुरित भी हुआ, परन्तु मिट्टी नहीं, आधार नहीं कि वहाँ पनपे। अंकुर मुरझा रहे हैं।

सो, न केवल आर्य, न निषाद; सब मिलकर संघटित रूप में—'पञ्चजनाः'। और, आगे चलकर सब 'हिन्दू' और फिर 'हिन्दुस्तानी'। हाँ, हिन्दुस्तान में शतियों से रहकर भी जो लोग इस देश की भाषा में अपने नाम तक नहीं रखते, उन्हें 'पक्का हिन्दुस्तानी' कहने को मन नहीं करता! द्रविड़ों में पूर्ण भारतीयता है। अपनी भाषाएँ पृथक् होने पर भी नाम हम सबके एक हैं। हम लोग 'राधाकृष्ण' हैं, वे 'राधाकृष्णन्'। हम 'सीताराम' हैं, वे 'सीतारामय्य'। हम 'संजीव', वे 'संजीवय्य'। यों, हमसब पुराने 'पञ्चजनाः' हैं।

कनखल (उत्तरप्रदेश)

●●

हिन्दी की सरलता

प्रो॰ श्रीदेवेन्द्रनाथ शर्मा

हिन्दी के विरोध में कई बातें सुनने को मिलती हैं, जिनमें एक यह भी है कि वह कठिन भाषा है। मेरी धारणा है कि सरलता हिन्दी का सहज धर्म है और संसार की सरलतम भाषाओं में वह अन्यतम है। मेरे इस कथन के पीछे अन्धनिष्ठा नहीं, बल्कि अनुभव और विचार का बल है। लगभग एक दर्जन भाषाओं को, थोड़ा या बहुत, सीखने का मुझे अवसर मिला है और उनकी तुलना के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ।

किसी भी भाषा के सम्बन्ध में कुछ निर्णय करने के पहले उसके चार अवयवों पर विचार करना होता है। वे हैं—१. ध्वनि; २. शब्द; ३. वाक्य और ४. अर्थ। यदि भाषा का लिखित रूप विचारणीय हो, तो इनमें लिपि को भी जोड़ लेना होगा। अब आइए, इनमें से एक-एक कसौटी पर हिन्दी की परीक्षा करें।

ध्वनि

(क) हिन्दी-ध्वनियों की पहली विशेषता है **लेखानुकूल उच्चारण**। यों, वैज्ञानिक दृष्टि से कोई भी भाषा ऐसी नहीं है, जिसमें जो लिखा जाय, वही पढ़ा जाय। लेखन और उच्चारण में भेद अनिवार्य है। कारण, वाणी की जितनी भंगिमाएँ, जितनी सूक्ष्मताएँ हैं, उन सबको यथावत् अंकित करना सम्भव नहीं। लिखने में स्वर के आरोह-अवरोह

या पाठ की द्रुतता, मन्दता, आघात आदि का संकेत नहीं किया जाता, किन्तु पढ़ते समय भाव के अनुकूल उनका समावेश कर लिया जाता है। तो, बोलने और लिखने का अन्तर अपरिहार्य एवं नैसर्गिक है। फिर भी, उस भाषा को प्रशस्य मानना होगा, जिसमें यह अन्तर न्यूनतम हो। हिन्दी इस दृष्टि से निस्सन्देह प्रशस्य है; क्योंकि उसकी ध्वनियों, अंकन-पद्धति तथा उच्चारण में सर्वाधिक सामंजस्य है। उदाहरणार्थ, इन शब्दों को लीजिए—भव्य, व्यक्ति, यक्ष, दैवज्ञ, अनवरत, श्मशान, लक्ष्मी, पद्म, महात्मा, अकस्मात् और सह्य। इनमें जो ध्वनियाँ हैं, उनका यथावत् अंकन हुआ है और वैसा ही उच्चारण भी होता है। आप कहेंगे कि जैसा लिखते हैं, वैसा उच्चारण करते हैं, अतः इसमें आश्चर्य क्या है, यही तो स्वाभाविक है। स्वाभाविक तो यह है ही, पर उस स्वाभाविकता की रक्षा सर्वत्र नहीं हो पाती; हिन्दी में होती है, यही उसकी विशेषता है। अपनी बात स्पष्ट करने के लिए मैं बँगला से तुलना करूँ। ये शब्द बँगला में लिखे जाते हैं इसी तरह, पर इनके उच्चारण में प्रचुर अन्तर आ जाता है। कोष्ठकों में दिये गये उच्चारण पर ध्यान दीजिए। भव्य (भोब्ब), व्यक्ति (बोक्ति), यक्ष (जोक्ख), दैवज्ञ (दोइबोग्गँ), अनवरत (अनोबरोतो), श्मशान (शशान), लक्ष्मी (लोक्खी), पद्म (पद्दो), महात्मा (महात्ताँ), अकस्मात् (अकोश्शाँत्), सह्य (शोज्झ)। यदि आप शुद्ध बँगला बोलना चाहते हैं, तो कोष्ठकों में प्रदर्शित उच्चारणों का ही प्रयोग करना पड़ेगा। अब स्वयं निर्णय कर लीजिए कि हिन्दी अधिक सुगम और ध्वन्यात्मक है या नहीं।

(ख) हिन्दी की ध्वनियाँ (स्वर और व्यंजन दोनों) स्पष्ट एवं निश्चित हैं। एक ध्वनि का एक ही उच्चारण होता है, चाहे वह कहीं भी हो और उसके लिखने का संकेत (वर्ण) भी एक ही है। ऊपर आपने बँगला के उदाहरण देखे हैं, जिनमें लिखते कुछ हैं और पढ़ते कुछ हैं। इस दृष्टि से अँगरेजी का तो कहना ही क्या है! इधर कुछ दिनों से इस देश में अँगरेजी का मोह और आग्रह पहले की अपेक्षा भी अधिक बढ़ गया है। इसलिए, उसकी चर्चा अप्रासंगिक न होगी। अँगरेजी के अनियम की सीमा नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि आपको दीर्घ 'ई' लिखना है, तो अनेक प्रकार से लिख सकते हैं : e से जैसे theme; ee से जैसे reed; ea से जैसे lead; ie से जैसे siege; ei से जैसे receive; aey से जैसे kaey.

'उ' लिखना है, तो कोई निश्चय नहीं कि कैसे लिखें। प्रत्येक शब्द के साथ भिन्न 'उ'; जैसे put में 'u' से, to में 'o' से, cook में 'oo' से, through में 'ough' से, clue में 'ue' से, crew में 'ew' से और soupe में 'ou' से।

यदि 'क' लिखना चाहते हैं, तो पहले यह देखना होगा कि कौन-सा शब्द लिखना है। वर्ण से शब्द का निर्माण नहीं करना है, शब्द के आधार पर वर्ण का निर्धारण करना होगा। cat का 'क' c से होता है, तो king का k से; queen का q से, तो chorus का ch से और cuckoo का c और ck से। एक ही शब्द में एक 'क' c से लिखा जाय और दूसरा ck से। इससे बढ़कर बेढंगापन कुछ हो सकता है? तात्पर्य कि विना वर्त्तनी रटे आप एक शब्द भी नहीं लिख सकते और रटने पर भी सन्देह

नहीं होगा, इसका दावा तो कोई अतिमानव ही कर सकता है। हिन्दी में एक 'क' को जानने के बाद कैट, किंग, क्वीन, कोरस और कूकू किसी में कोई उलझन नहीं। यदि निश्चय रहता कि c का उच्चारण सदा 'क' होता है, तो वह भी एक बात थी; पर जो 'c' cat में 'क' कहलाता है, वही civil में चोला बदलकर 'स' बन जाता है। thin में th = थ और then में th = द; thank में थ और that में द। g कहाँ ग होगा और कहाँ ज, यह बता देना किसी के बूते की बात नहीं। gain में ग और George में ज। judge में g के साथ d का क्या प्रयोजन ? फ लिखना है, तो वर्षों पसीना बहाइए कि कहाँ f से लिखें (fish), कहाँ ph से (philosophy), कहाँ pph से (sapphire) और कहाँ gh से (laugh)। इस प्रकार, वर्ण से अनेक ध्वनियों की और अनेक वर्णों से एक ध्वनि की अभिव्यंजना अँगरेजी की ऐसी अव्यवस्था है, जिसकी कोई सीमा नहीं।

इसीसे सम्बद्ध एक दूसरा दोष भी है। लिखते समय अँगरेजी में अनेक वर्ण व्यवहृत होते हैं, जिनका उच्चारण में कोई उपयोग नहीं होता। उनके दो ही उपयोग हैं—१. व्यर्थ अधिक स्थान घेरना और २. मस्तिष्क पर अनावश्यक भार बनना। though के छह अक्षरों से उच्चारण में हाथ लगता है केवल 'दो' और उसे भी जबतक कोई गुरु से न सीखे, तबतक क्या मजाल कि सही-सही कह सके। though जब 'दो' हुआ, तो through 'थ्रू' कैसे हो गया और rough 'रू' या 'रो' के बदले 'रफ' क्यों बन गया ? subtle या debt में 'b' रखने से क्या लाभ ? उदाहरण तो अनन्त हैं, कहाँतक गिनाये जायँ ? क्या ऐसी दुर्व्यवस्था की कल्पना भी हिन्दी में सम्भव है ? फिर भी, हिन्दी कठिन कही जाती है !

(ग) हिन्दी की ध्वनियाँ अत्यन्त स्पष्ट और सरल हैं। वर्षों श्रम करने के बाद भी फ्रेंच के u, eu और oeu का या जर्मन के ü और ö का लोग शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते। फ्रेंच u के शुद्ध उच्चारण का तरीका यह बताया जाता है कि होठों को गोलाकार कीजिए, जैसा सीटी बजाते समय करते हैं, और तब 'इ' कहने का प्रयास कीजिए। तात्पर्य कि 'उ' की आकृति बनाइए और 'इ' का उच्चारण कीजिए। कितना सुन्दर व्यायाम है। अँगरेजी के संयुक्त स्वर भी विदेशियों के लिए कोई हल्के नहीं पड़ते। इन व्यायामसापेक्ष स्वरों के समानान्तर हिन्दी के स्वरों को रखकर देखिए, तो उनकी स्पष्टता और सरलता मालूम हो जाय। हिन्दी की स्वर-ध्वनियाँ हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ। इनका उच्चारण विना मुखाकृति को विकृत किये सहज भाव से होता है। व्यंजनों में भी कोई कठिनता नहीं।

(घ) उपर्युक्त विशेषताओं के साथ हिन्दी की ध्वनियों में जो व्यापकता है, वह किसी दूसरी भाषा में नहीं है। स्वरों के अतिरिक्त २५ वर्गाक्षर, ४ अन्तःस्थ (य र ल व) और ४ ऊष्म (श ष स ह) तो हैं ही, हिन्दी ने अनेक विदेशी ध्वनियों को भी अपना रखा है, जैसे अरबी से क़, फारसी से ख़, ग़, ज़, फ़, और अँगरेजी से ऑ। हिन्दी में केवल ये ध्वनियाँ ही नहीं हैं, उनके बोधक संकेत (वर्ण) भी हैं। अरबी-फारसी या अँगरेजी के सम्पर्क में भारत की भाषाएँ रहीं, किन्तु यह ग्रहणशीलता हिन्दी को छोड़ और किसी में

नहीं देखी जातीं। इसका अर्थ यह कि हिन्दी में उदारता तो है ही, अपने को समृद्धतर करने की भावना भी है। ध्वनि-सम्पन्नता में हिन्दी-वर्णमाला बहुत कुछ अन्तरराष्ट्रीय ध्वन्यात्मक वर्णमाला (International Phonetic Alphabet) के समीप है। जहाँ आइ० पी० ए० कल्पित है, वहाँ हिन्दी-वर्णमाला वास्तविक। यह उसकी उल्लेख्य विशेषता है। यदि कतिपय अन्य ध्वनियों और लिपि-संकेतों का समावेश कर दिया जाय, तो वह आसानी से आइ० पी० ए० का स्थान ग्रहण कर सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी की ध्वनियों में कोई काठिन्य नहीं है। इसके विपरीत उनके लेखानुकूल उच्चारण, निश्चितता, स्पष्टता, सरलता तथा व्यापकता जैसे दुर्लभ गुण हैं।

शब्द

आइए, अब हिन्दी के शब्दों पर ध्यान दें। किसी भाषा को सीखने का अर्थ है उसके शब्द-भाण्डार को अधिक-से-अधिक आयत्त करना। स्वभावतः, वे भाषाएँ सीखने में सरल होती हैं, जिनका शब्द-भाण्डार अपनी भाषा से मिलता-जुलता है। अँगरेजी जाननेवाले के लिए फ्रेंच सीखना आसान है; क्योंकि चालीस प्रतिशत से अधिक शब्द दोनों भाषाओं में समान हैं, किन्तु वही यदि रूसी पढ़ना चाहे, तो काफी कठिनाई होगी; क्योंकि अँगरेजी और रूसी के शब्द-भाण्डार में कोई समानता नहीं है। यही कारण है कि अँगरेज रूसी के नाम से ही काँप उठता है।

भारत में जो भाषाएँ बोली जाती हैं, वे मुख्यतः दो परिवारों की हैं—१. आर्य-परिवार की और २. द्रविड़-परिवार की। आर्य-परिवार की भाषाओं में उल्लेख्य हैं: असमी, बँगला, उड़िया, हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती और मराठी। इन सभी भाषाओं का मूल स्रोत एक है और वह है संस्कृत। इनका विकास-क्रम भी समान है—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की विभिन्न अवस्थाओं से विकसित होती हुई ये अपने वर्त्तमान रूप में पहुँची हैं; अतः पूर्ववर्त्ती भाषाओं के रिक्थ की समान अधिकारिणी हैं।

द्रविड़-परिवार की चार भाषाएँ—तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम क्रमशः मद्रास, आन्ध्रप्रदेश, मैसूर और केरल में बोली जाती हैं। इनमें तमिल को छोड़ शेष तीन भाषाओं में संस्कृत के शब्द पचास प्रतिशत के लगभग हैं और तमिल में भी उनकी संख्या बहुत बड़ी है। इस प्रकार, संस्कृत भारत की सभी भाषाओं की पोषक भाषा ठहरती है। संस्कृत का यह प्रभाव इस देश की धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं भावात्मक एकता का अनिवार्य परिणाम है—उस एकता का, जिसके इतिहास का विस्तार दशाब्दियों या शताब्दियों में नहीं, सहस्राब्दियों में अँटता है।

हिन्दी में प्रयुक्त होनेवाले शब्द चार प्रकार के हैं—तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशी। इनमें तत्सम शब्दों की संख्या प्रायः ८० प्रतिशत है। कहीं-कहीं वह इससे भी अधिक दीखती है। उसके बाद तद्भव है, देशज शब्दों की संख्या अत्यल्प है, इतनी अल्प कि उसका प्रतिशत नहीं बैठाया जा सकता। विदेशी शब्दों में मुख्यतः अरबी-फारसी और अँगरेजी से गृहीत शब्द हैं। ये विदेशी शब्द हिन्दी में बहुत-कुछ उसी अनुपात में हैं,

जिस अनुपात में आर्य-परिवार की किसी भाषा में। जिन विदेशी शासनों के फलस्वरूप इनका ग्रहण हुआ, वे सर्वसामान्य हैं। दक्षिण भारत की भाषाओं में अँगरेजी का प्रभाव तो उत्तर जैसा ही है, किन्तु अरबी-फारसी का प्रभाव अपेक्षाकृत कम है। कारण, सम्पूर्ण दक्षिण भारत मुसलमानी शासन के अधीन अधिक दिनों तक कभी नहीं रहा। तो, देशज शब्दों को, जिनकी संख्या नगण्य है, छोड़ देने पर हिन्दी का शब्द-भाण्डार प्राय: वही है, जो किसी दूसरी भाषा का। इस प्रकार स्पष्ट है कि शब्दों, विशेषत: संज्ञावाचकों को लेकर हिन्दीं में कोई कठिनाई नहीं है।

सर्वनाम

हिन्दी के सर्वनाम तो सरलतम हैं। सर्वनामों की संख्या थोड़ी है और उनमें किसी प्रकार की उलझन नहीं है। इसके साथ सबसे बड़ी सुविधा यह है कि पुरुषवाचक सर्वनामों में एकवचन-बहुवचन का झमेला नहीं है। एक के लिए भी 'हम' और अनेक के लिए भी 'हम'। (एकत्ववाची 'मैं' का प्रयोग इने-गिने लोग ही करते हैं और जो करते हैं, उनपर बिहार या उत्तरप्रदेश के पूर्वी भाग में 'बसने' का आरोप लगता है) पर, अँगरेजी में 'I' और 'We' सर्वथा अलग-अलग हैं। एक के लिए 'We' और अनेक के लिए 'I' का प्रयोग कौन करेगा? बँगला में भी 'आमि' और 'आमरा' का पार्थक्य स्पष्ट है; जानेवाला एक हो, तो 'आमरा जाच्चि' और अनेक हो, तो 'आमि जाच्चि' नहीं कह सकते। इसी तरह 'तुमि', 'तोमरा' या 'आपनि', 'आपनारा' में भी वचनकृत भेद अनुल्लंघ्य है; किन्तु हिन्दी में एक के लिए भी 'तुम' या 'आप', अनेक के लिए भी 'तुम' या 'आप'। प्रथमपुरुष में भी एक-अनेक दोनों के लिए 'वे'। 'राम के पिता घर गये हैं; वे आज आयेंगे।' 'राम के चार भाई है'; वे सभी बड़े शिष्ट हैं।' यदि हीनता न दिखानी हो, तो 'वह' की आवश्यकता शायद ही पड़े। परन्तु, अँगरेजी में Ram's father has gone home; *They* will come to-day कभी चल सकता है क्या? तात्पर्य कि दूसरी भाषाओं में जहाँ एकवचन और बहुवचन के लिए दो-दो सर्वनाम अनिवार्य हैं, वहाँ हिन्दी में एक से ही काम चल जाता है। शब्दों के अन्य रूप भी ऐसे ही सरल हैं।

कारक-विभक्ति

हिन्दी की कारक-विभक्तियाँ तो इतनी सरल हैं कि उनसे अधिक सरल की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	×	×
कर्म	को	को
करण	से	से
सम्प्रदान	को, के, लिए	को, के, लिए
अपादान	से	से
सम्बन्ध	का	का
अधिकरण	में, पर	में, पर

तो, देखा आपने कि एकवचन और बहुवचन में कोई अन्तर नहीं। फिर, कर्म का विभक्ति-चिह्न 'को' सम्प्रदान में भी है; करण का 'से' अपादान में भी है। इस तरह को, से, के लिए, का, में, पर ये कुल छह ही विभक्ति-चिह्न हैं, जिन्हें याद करने में एक मिनट भी मुश्किल से लगेगा।

यदि कहिए कि कर्त्ता का 'ने' चिह्न मैंने छोड़ दिया है, तो उसका कारण है। मैं नियम की चर्चा कर रहा हूँ, अपवाद की नहीं। 'ने' कर्त्ता का सामान्य चिह्न नहीं है—वह कर्त्ता के साथ न तो वर्त्तमानकाल में प्रयुक्त होता है, न भविष्य में। उसका प्रयोग केवल भूतकाल में होता है, भूत के भी सभी भेदों में नहीं और वहाँ भी सभी क्रियाओं के साथ नहा (अकर्मक क्रियाओं में 'ने' चिह्न नहीं लगता)। अतः, 'ने' अपवाद-चिह्न है। उसकी चर्चा सामान्य चिह्नों के बीच करना निरर्थक है।

जो लोग सम्बन्ध के चिह्न तीन (का, की, के) बताते हैं, वे भूल करते हैं। चिह्न तो एक ही है 'का'। आगे आनेवाले भेद्य शब्द के अनुसार केवल उसका रूप बदल जाता है—स्त्रीलिंग के साथ 'की' और पुं० बहुवचन के साथ 'के'; जसे विशेष्य के अनुसार 'बड़ा' या 'छोटा' विशेषण के तीन प हो जाते हैं : बड़ा, बड़ी, बड़े; छोटा, छोटी, छोटे। विशेषण का उल्लेख करते समय बड़ा या छोटा ही कहते हैं, न कि बड़ा, बड़ी, बड़े या छोटा, छोटी, छोटे। इसी तरह का चिह्न केवल 'का' है; का, की, के कहकर उसे व्यर्थ जटिल क्यों बनाते हैं ?

इन कारक-चिह्नों की सहायता से किसी भी शब्द का रूप अनायास निष्पन्न हो जाता है। एकवचन में शब्द में कोई परिवर्त्तन नहीं होता (अपवाद आकारान्त पुल्लिग शब्द हैं, जिनके आ का ए हो जाता है, जैसे 'घोड़ा को' नहीं कहकर 'घोड़े को' कहेंगे)। बहुवचन के रूपों में शब्द के बाद 'ओं' लगकर कारक-चिह्न आता है; यह 'ओं' बहुवचन का वाचक है। जैसे, बालकों को, घोड़ों को, साधुओं को।

तात्पर्य कि इन छह कारक-चिह्नों को जान लेने पर किसी भी संज्ञा, सर्वनाम या विशेषण का प्रयोग करने में कोई कठिनाई नहीं है। यह सरलता विरल है। इसके समानान्तर अँगरेजी के preposition पर ध्यान दीजिए, तो मालूम होगा कि अँगरेजी कितनी कठिन भाषा है। अच्छे अँगरेजीदाँ भी preposition के प्रयोग में भूल कर बैठते हैं। उदाहरणार्थ, 'पर' का अर्थ बताने के लिए अँगरेजी में अनेक शब्द हैं : on, at, up, over, above—इनका निर्भ्रान्त प्रयोग वर्षों के अभ्यास से ही सम्भव होता है और उसके बाद भी भूल हो जाती है। ऐसे ही under, beneath, below, down आदि अनेक शब्दों की उलझन हिन्दी के एक 'नीचे' से मिट जाती है।

थोड़े में अधिक कहना हिन्दी की ऐसी विशेषता है, जो अँगरेजी को बहुत पीछे छोड़ देती है। हिन्दी के शब्दों में ऐसी शक्ति है कि अंगरेजी में जो काम अनेक से चलता है, वह हिन्दी के एक शब्द से हो जाता है। जैसे, अँगरेजी में son, boy, child, student, bridegroom इन पाँच शब्दों का अर्थ बताने के लिए हिन्दी का एक 'लड़का' शब्द पर्याप्त है : रमेश के एक लड़का (son) है; वह लड़का (boy) मैदान में खेल रहा है; इस

कॉलेज में एक हजार लड़के (student) हैं; उन्हें अच्छा लड़का (bridegroom) मिल गया है। यह विशेषता हिन्दी की संज्ञाओं के समान विशेषणों में भी वर्त्तमान है। big, great, large, huge, इन विशेषणों को लीजिए। अँगरेजी में 'बड़ा विद्वान्' कहना हो, तो big या large scholar नहीं कह सकते; बड़ा पेड़ great tree नहीं कहला सकता। किन्तु, हिन्दी में बड़ा विद्वान्, बड़ा आदमी, बड़ा पेड़, बड़ा क्षेत्र; सबके लिए बड़ा। हिन्दी में कितना लाघव और सौकर्य है, यह इन कतिपय उदाहरणों से ही सुस्पष्ट है; यों उदाहरण तो अनन्त दिये जा सकते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि हिन्दी में शब्दों का अभाव है या उनके अर्थों में छाया (nuance) का भेद नहीं है। हिन्दी को संस्कृत के सारे पर्याय विरासत में प्राप्त हैं और पर्यायों की प्रचुरता में संस्कृत की समता करनेवाली कोई दूसरी भाषा नहीं है। अँगरेजी में पृथ्वी के लिए एक शब्द है earth, किन्तु हिन्दी में भू, भूमि, धरा, धरित्री, धरणी, क्षिति, वसुधा, वसुन्धरा, पृथ्वी, अवनि, मेदिनी, मही आदि दर्जनों शब्द भरे पड़े हैं। यहाँ मैंने उन्हीं शब्दों का उल्लेख किया है, जो पूर्णतः प्रचलित और साहित्य में प्रतिदिन व्यवहृत होते हैं; अन्यथा अप्रचलित या अल्पप्रचलित दर्जनों शब्द अभी अवशिष्ट हैं। छाया की दृष्टि से स्त्री, महिला, रमणी, कामिनी आदि शब्दों में जो अन्तर है, उसके व्यंजक शब्द कोई निकाले तो अँगरेजी से! तात्पर्य कि हिन्दी में न शब्दों की कमी है, न छाया-भेद की। उसने केवल व्यर्थ का झमेला और जंजाल नहीं रहने दिया है।

क्रिया

हिन्दी बोलने के लिए 'होना', 'करना' और 'बनाना' इन तीन धातुओं का ज्ञान पर्याप्त है। सैकड़ों धातुओं को याद करने की, उनके अनन्त रूपों को रटने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि आप संज्ञा जानते हैं, तो क्रिया भी जानते ही हैं। किसी भी संज्ञा के साथ उपर्युक्त क्रियाओं में से किसी एक का प्रयोग करने की आवश्यकता है, बस। यह विशेषता भारत की अनेक दूसरी भाषाओं में भी है, अतः हिन्दी की इस विशेषता में उनके लिए कोई नवीनता नहीं है। कठिनाई नवीनता से ही उत्पन्न होती है। स्वभावतः इस विशेषता के कारण अन्य भाषाभाषियों को हिन्दी बोलने में अतिशय सौकर्य हो जाता है। यदि कोई स्नान, भोजन, शयन, विश्राम, आराम, अध्ययन, यात्रा, बाजार आदि शब्दों को जानता है, तो इनके साथ 'करना' क्रिया का प्रयोग कर वह धड़ल्ले से काम चला सकता है : स्नान करना, भोजन करना, शयन करना, विश्राम करना, आराम करना, यात्रा करना, अध्ययन करना, बाजार करना। कितनी सरलता है? यदि ये ही बातें अँगरेजी में कहनी हों, तो अनेक क्रियाओं को जानना अनिवार्य है। जैसे, स्नान करना—to take bath (यदि स्नानागार में या कुएँ पर स्नान कर रहे हों। कहीं नदी या समुद्र में स्नान करने चले गये, तो take bath से काम नहीं चलेगा, वहाँ to bathe कहिए)। अँगरेजी में भोजन करना भी आसान नहीं है; क्रिया का प्रयोग करने के पहले यह देखना होगा कि कब भोजन कर रहे हैं और उसके अनुसार lunch, dinner, supper आदि में से किसी एक के साथ एक और क्रिया लगाकर बोलना होगा; जैसे to take lunch,

यह भोजन क्या हुआ, पूरा द्राविड़ प्राणायाम हो गया। हिन्दी में सुबह-शाम, दोपहर-रात कभी कीजिए, भोजन ही कीजिएगा। और, अँगरेजी अभिवादन में ही क्या कुछ कम बखेड़ा है? अभिवादन करने के पहले घड़ी देखिए कि क्या समय हुआ है और तब अभिवादन का शब्द चुनिए—Good morning, Good day, Good afternoon, Good evening; फिर निश्चय कीजिए कि आप किसी से मिल रहे हैं या विदा ले रहे हैं। मिलने का अभिवादन दूसरा, विदा लेने का अभिवादन दूसरा। ऐसे भारतीय कम मिलेंगे, जिन्होंने कभी-न-कभी रात को मिलने पर Good night न कह दिया हो, जो अँगरेजी शिष्टाचार के अनुसार हमेशा विदा लेने के समय पर कहा जाता है। अभिवादन जैसी सहज वस्तु में भी सदा सतर्कता से काम न लीजिए, तो अशिष्टता के दोषी मान लिये जायँ। आप-बीती ही सुना दूँ। इंगलैंड में दिसम्बर-जनवरी में चार बजे तक खासा अँधेरा छा जाता है। वहाँ गये कुछ ही दिन हुए थे। पाँच बजे के लगभग किसी अँगरेज से भेंट हुई, तो मैंने अभिवादन में कहा——Good evening; क्योंकि मेरी समझ में पूरी शाम हो चुकी थी। किन्तु, वह भला आदमी प्रत्यभिवादन में Good evening न कहकर Good afternoon बोला; क्योंकि उसके अनुसार तो शाम छह बजे के बाद होती! छह के पहले सूचीभेद्य अन्धकार भी क्यों न छा जाय, वह शाम मानने को तैयार नहीं है। उसकी शाम तो घड़ी से होगी। सूर्यदेव चाहे जब अस्त हों और उसके बाद ही वह Good evening कह सकेगा। किन्तु, हिन्दी में एक 'नमस्ते' या 'प्रणाम' काफी है, चाहे सुबह हो, चाहे शाम, मिलिए या विदा लीजिए।

अब 'बनाना' क्रिया से कितने प्रयोग बनते हैं, यह देखिए। अँगरेजी में मकान बनाना = to build a house; भोजन बनाना = to cook food; कपड़ा बनाना = to weave cloth; हजामत बनाना = to shave; बेवकूफ बनाना = to make a fool of; मुँह बनाना = to pull face आदि। मतलब कि अँगरेजी में उन्हीं क्रियाओं के लिए कहीं अधिक शब्द याद करने पड़ते हैं, जिनका काम हिन्दी में एक बनाना क्रिया से चल जाता है।

अँगरेजी विशेषणों के Comparative और Superlative रूपों का निर्माण कोई कम सिरदर्द नहीं है। यदि शब्द एक Syllable का है, तो Comparative में 'er' और Superlative में 'est' लगाइए और यदि एक Syllable से अधिक का है तो Comparative में 'more' और Superlative में 'most' लगाइए। अर्थात्, बेखटके Comparative-Superlative का प्रयोग आप नहीं कर सकते, वैसा करने के पहले बैठकर शब्दों के Syllable गिनिए! इसपर भी यह नियम सार्वत्रिक होता, तो गनीमत थी। यदि एक से अधिक Syllable रहने पर Superlative में most लगना चाहिए, तो फिर sincere का sincerest, hearty का heartiest, humble का humblest कैसे हो जाता है? और, यदि एक Syllable वाले शब्दों में est लगना चाहिए तो true से more true, most true जैसे प्रयोग क्योंकर होते हैं? ये उदाहरण तो नियम में ही व्याघात के हैं। अनियमित Comparative-

Superlative की एक लम्बी सूची जो रटनी पड़ती है, वह अलग। विना रटे good और bad का Comparative-Superlative बृहस्पति भी नहीं बता सकते! good का better-best से और bad का worse-worst से कोई ध्वन्यात्मक सम्बन्ध है ?

हिन्दी ने इस उलझन को इतना सुलझा रखा है, जिसकी सीमा नहीं। विशेषण का रूप ज्यों-का-त्यों रह जाता है, उसमें कोई परिवर्त्तन नहीं करना पड़ता; Comparative में केवल 'से' और Superlative में 'सबसे' जोड़ दिया जाता है। जैसे :

Ram is better than Shyam—राम श्याम से अच्छा है।
Ram is the best of all—राम सबसे अच्छा है।
Naresh is taller than Suresh—नरेश सुरेश से लम्बा है।
Naresh is the tallest of all—नरेश सबसे लम्बा है।
Dipti is more intelligent than Sudha—दीप्ति सुधा से तेज है।
Dipti is the most intelligent of the lot--दीप्ति सबसे तेज है।

संस्कृत के आधार पर तत्सम शब्दों में 'तर', 'तम' प्रत्यय भी जोड़े जाते हैं, किन्तु उनसे निष्पन्न शब्दों का प्रयोग साहित्यिक भाषा में ही होता है, बोलचाल की भाषा में नहीं। जैसे, 'राम श्याम से सुन्दरतर है' या 'राम सुन्दरतम है' ऐसा न कहकर 'राम श्याम से सुन्दर है' या 'राम सबसे सुन्दर है' यही प्रयोग बोलचाल में चलता है।

तो, हिन्दी में न तो शब्दों के Syllable गिनने की आवश्यकता, न er, est, या more, most की उलझन, न नियम के व्याघात और न अनियमित Comparative-Superlative की लम्बी सूची रटने में पसीना बहाने की जरूरत !

वाक्य

मनुष्य जिस ंग से सोचता है, उसी ढंग से उसकी अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् विचार-पद्धति के अनुसार वाक्य का विन्यास हुआ करता है। स्वभावत: जिस भाषा की विचार-पद्धति और वाक्य-विन्यास अपनी भाषा के अनुकूल पड़ते हैं, वह सीखने में सरल होती है, अन्यथा कठिन। इंगलैंड में रहते समय मेरी चार बरस की बच्ची जब अँगरेजी बोलती थी, प्राय: उसका वाक्य-विन्यास हिन्दी का अनुसरण करता था। एक बार मेरी एक पड़ोसिन ने उसे पावरोटी खाने को दी, तो उसने I bread not कहा। उसने शब्दों का प्रयोग ठीक किया; पर उनका अनुक्रम अँगरेजी का न होकर बिलकुल हिन्दी का हो गया। अब अँगरेजी सीखते समय शब्द सीखने के साथ यह अनुक्रम भी सीखना आवश्यक है, जो बहुत प्रयाससाध्य है।

हिन्दी की विचार-पद्धति और वाक्य-विन्यास भारतीय भाषाओं के अनुरूप हैं। शब्द-भाण्डार की समानता हम देख चुके हैं। शब्द-भाण्डार के साथ वाक्य-विन्यास का समानता हिन्दी को अत्यधिक सरल बना देती है। शब्द बहुत कुछ जाने-सुने; वाक्य-विन्यास का ढंग सुपरिचित ! फिर कठिनाई रही कहाँ ? जैसे, हिन्दी में कहेंगे : 'मैं भात खाऊँगा।' और बँगला में—'आमि भात खाबो।' किन्तु, अँगरेजी में यह क्रम उलट जायगा—

'मैं खाऊँगा भात'। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी और बँगला के वाक्य-विन्यास में जो साम्य है, वह अँगरेजी में नहीं।

वाक्य तीन प्रकार के होते हैं— १. विधि-वाक्य; २. निषेध-वाक्य और ३. प्रश्न-वाक्य। इन तीनों को ध्यान में रखकर हिन्दी पर विचार करें।

हिन्दी का वाक्य-विन्यास पूर्णतः तर्कसंगत और यौक्तिक होता है। पहले कर्त्ता, तब कर्म, तब क्रिया। इसके प्रतिकूल अँगरेजी के वाक्य-विन्यास में पहले कर्त्ता, तब क्रिया, तब कर्म। यौक्तिकता यह है कि हिन्दी में सजातीय शब्द पास-पास रहते हैं, जो उचित और स्वाभाविक है। जैसे, 'राम पुस्तक पढ़ता है।' इस वाक्य में 'राम' और 'पुस्तक' दोनों संज्ञा (सजातीय) शब्द हैं, अतः एक साथ हैं; 'पढ़ता है' क्रिया (अन्यजातीय) शब्द है, अतः दोनों के बाद है। सजातीय का साहचर्य ही निसर्गसिद्ध एवं संगत है। दूसरी चीज यह कि क्रिया व्यापार की पूर्णता का बोध कराती है, अतः पूर्णता के साधक शब्दों के बाद ही (अन्त में) उसकी स्थिति उचित है। जैसे, 'राम पढ़ता है', यह वाक्य सुनने पर आकांक्षा बनी रहती है कि क्या पढ़ता है—पुस्तक, पत्रिका या अखबार? अतः, अर्थबोध पूर्ण नहीं हो पाता। किन्तु, 'राम पुस्तक पढ़ता है' सुनने पर आकांक्षा निवृत्त हो जाती है और अर्थबोध पूर्ण। अँगरेजी का वाक्य-विन्यास इन दोनों ही दृष्टियों से सदोष है : Ram reads a book, यहाँ Ram संज्ञा, book संज्ञा और दोनों के बीच में reads क्रिया। दाल-भात में मूसलचन्द! क्या इससे भी अच्छा कोई उदाहरण मिलेगा? पर, इन दोनों से बढ़कर जो दोष है, वह यह कि भारतीय भाषाओं के वाक्य-विन्यास से यह सर्वथा भिन्न है।

विधि-वाक्य के समान ही निषेध-वाक्य भी युक्तिसंगत और सहज है। निषेध्य के पहले निषेधवाचक शब्द लगा दीजिए; फिर कुछ नहीं करना है। जैसे, 'राम नहीं पढ़ता।' यहाँ 'पढ़ता' निषेध्य है, उसी का निषेध करना है; उसके पहले 'नहीं' लग गया। कोई उलझन नहीं। किन्तु, इसी का अँगरेजी में निषेधवाचक रूप सीधे ढंग से Ram not reads नहीं होगा। विधि-वाक्य से निषेध-वाक्य और प्रश्न-वाक्य बनाना सीखने के लिए बचपन में हमें महीनों कवायद करनी पड़ी थी, यह आज बहुत लोग भूल गये हैं। तो, Ram not reads अशुद्ध; शुद्ध रूप Ram does not read! इस does की क्या जरूरत? निषेध करने चले read का, पर not इतना शक्तिहीन कि does की सहायता के बिना निषेध करने से असमर्थ!

एक दूसरा वाक्य लीजिए : He *had* to read. इसका निषेध-रूप होगा : He *did not have* to read. had के बदले did not have! सर्वस्वहरण! यह क्या एक-दो दिन में सीखना सम्भव है। जबतक do और have क्रियाओं के समग्र रूप कण्ठाग्र न हों, तबतक अँगरेजी में कोई निषेध-वाक्य का प्रयोग कर तो ले! हिन्दी की सरलता देखिए : विधि—उसको पढ़ना था। निषेध—उसको नहीं पढ़ना था।

अँगरेजी की एक दूसरी उलझन है no और not का प्रयोग-भेद। 'Will you go there?' 'तुम वहाँ जाओगे?' '*No*, I will *not* go.' 'नहीं, मैं नहीं जाऊँगा।'

'Will you go there' के बाद उत्तर में 'not' नहीं कहा जा सकता; 'no' ही कहा जायगा और उसके आगे फिर not; कहाँ no और कहाँ not होगा, इसका कोई नियम नहीं। पढ़ते-पढ़ते किसी दिन आ जायगा। नाचते-नाचते नचनियाँ हो जायेंगे। कहिए कि प्रश्न के उत्तर में 'no' कहना चाहिए; इसमें क्या कठिनाई है? तो Ram is *no match* for Shyam. यहाँ के 'no' का क्या समाधान है? तात्पर्य कि अभ्यास के अतिरिक्त इनके प्रयोग को सही-सही जानने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। पर, हिन्दी में सर्वत्र 'नहीं !

निषेध-वाक्य की तीसरी उलझन है neither और nor को लेकर। सदा neither के साथ nor लगता, तो एक बात थी; पर अनेकत्र neither के बदले not आ जाता है। जैसे, Ram will *not* go there, *nor* will Shyam—इस तरह एक और अँगरेजी के निषेध-वाक्य की उलझनों की तुलना में हिन्दी को रखकर देखिए, तो उसका रूप कितना सुलझा और सरल है, यह स्पष्ट हो जाता है।

फ़्रेंच और रूसी की भी निषेध-पद्धति कुछ कम जटिल नहीं है। फ़्रेंच में निषेध के पूर्व nes और उसके पश्चात् la लगाते हैं, तब निषेध का अर्थ पूर्ण होता है; जैसे पहाड़ पर चढ़ते समय रेलगाड़ी के आगे भी इंजन लगाते हैं और पीछे भी।

इस दुतरफा निषेध पर अधिकार करने में काफी कठिनाई होती है। रूसी निषेध-पद्धति में और जो उलझनें हैं, वे तो हैं ही, निषेध-द्वय (double negative) का प्रयोग विधि के रूप में होता है। जैसे, 'निक्तो ने ब्विल् ताम्'; No one was not there—वहाँ कोई नहीं नहीं था। पर, अर्थ होगा—वहाँ कोई नहीं था। दो निषेधों से विधि सूचित होती है (Two negatives make one affirmative)। यह नियम रूसी के ऐसे वाक्यों में नहीं लागू होता। वहाँ दो निषेध भी निषेध का ही काम करते हैं, विधि का नहीं। दो निषेधों से विधि माननेवालों के लिए यह वाक्य-भंगी कितनी दुरूह पड़ती है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

अब प्रश्न-वाक्यों को देखें। हिन्दी के प्रश्न-वाक्यों में शब्दों के क्रम में न कोई उलट-फेर होता है और न किसी अन्य क्रिया को जोड़ने की आवश्यकता पड़ती है। केवल उच्चारण में स्वर का आरोप कर देने से विधि-वाक्य ही प्रश्नवाचक बन जाता है। जैसे, 'राम घर जायगा? हाँ, राम घर जायगा।' या, और अधिक स्पष्टता लाना चाहें, तो 'क्या' जोड़ दें। जैसे, 'क्या राम घर जायगा ?' किन्तु, यदि अँगरेजी में प्रश्न-वाक्य बनाना हो, तो शब्दों के क्रम को उलटिए और फिर किसी सहायक क्रिया की सहायता लीजिए। जैसे, विधि—Ram reads the book. Does Ram read the book ? What does he do ? कितना मनोरंजक वाक्य है। भविष्यकाल में shall और will के चलते विभिन्न पुरुषों में जो गड़बड़झाला होता है, उससे पार पाना, अपने को अँगरेजीदाँ समझनेवाले बहुतों के लिए आसान नहीं होता। यों Goldsmith के The Village School Master की तरह कोई भूल को भी भूल न माने, तो और बात है।

अन्त में, अँगरेजी वाक्य-विन्यास की जो सम्भवतः सबसे बड़ी कठिनाई है, उसका भी उल्लेख आवश्यक है। वह है narration। हिन्दी में narration नाम की चीज नहीं है। 'राम ने कहा कि मैं कल आऊँगा।' इस वाक्य का विन्यास सर्वथा स्वाभाविक है, किन्तु अँगरेजी में इसे ही direct narration में कहेंगे, तो एक प्रकार से और indirect narration में कहेंगे, तो दूसरे प्रकार से। direct से indirect बनाने के नियम सुगमता से वश में आनेवाले नहीं हैं। मैं बड़े ध्यान से अँगरेजी के समर्थकों की अँगरेजी सुनता हूँ और उनके मुँह से narration की भूलें सुनकर मुझे पर्याप्त मनोविनोद होता है। narration अँगरेजी की ऐसी उलझन है, जिससे फ्रेंच और रूसी आदि भाषाएँ बोलनेवाले भी तबाह रहते हैं; क्योंकि उन भाषाओं में यह उलझन नहीं है।

इस भाँति वाक्य-विचार की प्रत्येक कसौटी पर हिन्दी की सरलता खरी उतरती है, और अँगरेजी से तो उसकी कोई तुलना ही नहीं है। विस्तार का भय न रहता, तो और भी अनेक भाषाओं से तुलना कर मैं दिखाता कि हिन्दी का वाक्य-विन्यास कितना सुगम है।

अर्थ

अर्थ की दृष्टि से हिन्दी में कोई कठिनता है ही नहीं, अतः उसपर विस्तार से विचार करना अनपेक्षित है। अर्थ में कठिनता आने का प्रधान कारण है अभिव्यंजना की सूत्रात्मकता, जो संस्कृत में है। हिन्दी की प्रवृत्ति इतनी विश्लेषणात्मक है कि उसमें कठिनता का समावेश सम्भव ही नहीं है।

लिपि

हिन्दी की सरलता का एक बहुत बड़ा आधार उसकी लिपि भी है। देवनागरी भारत की सबसे व्यापक लिपि है। हिन्दी के अतिरिक्त मराठी और नेपाली की लिपि भी देवनागरी ही है। उत्तर भारत में प्रचलित गुजराती, गुरुमुखी, बँगला, उड़िया, असमी आदि लिपियाँ देवनागरी के ही रूपान्तर हैं। स्वभावतः, उनमें परस्पर इतनी समानता है कि एक का ज्ञाता दूसरी को अनायास जान सकता है। यों, संस्कृत के ग्रन्थ बँगला, तमिल आदि लिपियों में भी मुद्रित हुए, किन्तु उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। संस्कृत की स्वीकृत लिपि देवनागरी ही मानी जाती है, अतः संस्कृत के साथ देवनागरी का प्रचार इस देश में सर्वत्र है। संस्कृत के अध्येता का काम देवनागरी के विना चल ही नहीं सकता; क्योंकि समस्त वाङ्मय प्रान्तीय लिपियों में उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार, शिक्षित वर्ग के लिए हिन्दी की लिपि का प्रश्न एक तरह से हल है और लिपि परिचित रहने पर किसी भी भाषा के अध्ययन की प्रारम्भिक कठिनता दूर हो जाती है। तात्पर्य कि तुलसीदासजी के शब्दों में हिन्दी 'कहत सुनत समुझत सब नीका।' और, हिन्दी की सरलता के पक्ष में एक सबसे बड़ी बात यह कि लज्जा और संकोच का रंचमात्र भी अनुभव किये विना, हिन्दी में कोई जितनी भी चाहे अशुद्धियाँ कर सकता है। यह सुविधा तो और किसी भाषा में नहीं।

हिन्दी-विभागाध्यक्ष,
पटना-विश्वविद्यालय

●●

ऋग्वेदीय कठशाखा : एक काललुप्त शाखा

डॉ० श्रीरामशंकर भट्टाचार्य

अष्टाध्यायी की **देवसुम्नयोर्यजुषि काठके** (७।४।३८) सूत्र की व्याख्या में **हरदत्त** ने **पदमञ्जरी** में कहा है कि ऋग्वेद की भी एक कठशाखा है : **बह्वृचानामप्यस्ति कठशाखा।** यद्यपि सामान्य रूप से इस वाक्य में कोई असंगति नहीं प्रतीत होती, तथापि यह एक विचार्य विषय अवश्य ही है; क्योंकि वेदान्वेषक पं० भगवद्दत्तजी कहते हैं—'हमें इस बात की सत्यता में सन्देह है।'[1] इस निबन्ध में ऋग्वेदीय कठशाखा की सम्भावना पर विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

पहले ही यह ज्ञातव्य है कि पाणिनि के (७।४।३८) सूत्र में जो **यजुषि काठके** पदद्वय हैं, उनके तात्पर्य में संशय हो सकता है। यजुः शब्द का मुख्य अर्थ एक मन्त्रविशेष है (ऋक्-साम शब्द की तरह), यह पूर्वमीमांसा के मन्त्रलक्षणाधिकरण (२।१।३५-३७) से स्पष्टतः ज्ञात होता है। काठक शब्द का अर्थ ही 'कठानाम् आम्नायः'[2] है, ऐसी स्थिति में सूत्र का यही अर्थ होना उचित प्रतीत होता है कि 'काठक में विद्यमान जो यजुर्मन्त्र, उसमें जो देव-सुम्न शब्द हैं, उनमें ७।४।३८ सूत्रीय कार्य हो।' यजुर्मन्त्र गद्य[3] (पादहीन) ही होता है, अतः इस अर्थ में पादहीन यजुर्मन्त्र ही उदाहरण के रूप में उल्लिखित होने चाहिए, पर काशिकादि में जो उदाहरण दिये गये हैं,[4] वे पादबद्ध ऋङ्मन्त्र हैं। सब आचार्यों का जहाँ ऐकमत्य हो, वहाँ प्रबल प्रमाणान्तर के विना उस व्याख्या को सदोष कहना असमीचीन है।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि सूत्र में जो 'यजुषि' पद है, उसका अर्थ यजुर्मन्त्र न होकर 'यजुर्वेदीय' है। **भट्टोजिदीक्षित** ने 'यजुर्वेदस्य' यही अर्थ दिखाया है; यह अर्थ **नागेशभट्ट**, सुबोधिनीकार **जयकृष्ण** आदि का भी अनुमत है। यजुर्वेद का अर्थ होगा 'मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद', केवल मन्त्र नहीं।[5] अतः 'यजुषि काठके' का अर्थ होगा—

---

१. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, द्वि० सं०, भाग १, पृ० २८६।

२. कठ-कलाप आदि चरणशब्द हैं (काशिका, ४।२।४६)। इस शब्द से 'गोत्रचरणाद् वुञ्' (४।३।१२६) सूत्र से वुञ् प्रत्यय विहित होता है, धर्म और आम्नाय—इन दो अर्थों में (चरणाद् धर्माम्नाययोरिष्यते)। वुञ प्रत्यय से 'काठकम्, कालापकम्' शब्द सिद्ध होते हैं।

३. ब्रह्माण्डपुराण १।३३।३७ में यजुर्मन्त्र के लक्षण में 'न च पादाक्षरैर्मितः' कहा गया है। 'यजुषि पादानामभावात्' (काशिका, ६।१।११७)।

४. 'देवायन्तो हवामहे; देवायन्तो यजमानाय शर्म; सुम्नायन्तो हवामहे।'

५. यजुषि की तरह 'ऋचि' पद अष्टाध्यायी ६।३।१३३ में है। नागेश ने वहाँ भी 'ऋग्वेद इत्यर्थः' कहा है, जिसका तात्पर्य ऋग्वेदीय मन्त्रब्राह्मणसमुदाय है। काशिकाकार यहाँ 'ऋचि विषये' यह अर्थ करते हैं, जिससे केवल ऋङ्मन्त्र विवक्षित होता है। उसी प्रकार ६।१।११७ में भी यजुषि पद है, जहाँ 'यजुषि विषये' अर्थ काशिका में किया गया है। ७।४।३८ में 'यजुष्' के विषय में काशिकाकार ने कुछ भी नहीं कहा है, पर ऋङ्मन्त्र (पादबद्ध) का उदाहरण दिया है।

यजुर्वेदीय कठशाखा में चूंकि कठशाखा यजुर्वेद में ही है, अतः 'यजुर्वेदीय' यह विशेषण व्यर्थ हो जाता है। इस दोष के दूरीकरण के लिए **हरदत्त** ने कहा है कि ऋग्वेद की भी एक कठशाखा है, जिसकी व्यावृत्ति के लिए पाणिनि को यह विशेषण देना पड़ा है। ऋग्वेदीय कठशाखा न उपलब्ध है और न तो उसका संकेत ही कहीं मिलता है, अतः **हरदत्त** की इस व्याख्या में संशय का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। इस संशय के समाधान के लिए निम्नोक्त तथ्य विचार्य हैं।

पहले ही यह ज्ञातव्य है कि यह संशय नहीं किया जा सकता कि एक ही शाखा-नाम दो पृथक् वेदों में कैसे सम्भव हो सकता है। शाखाकार के नामानुसार शाखा-नाम होते हैं, यह सार्वत्रिक नियम है, अतः यदि एक नाम के एकाधिक शाखाकार ऋषि हुए हैं, तो समान नामवाली एकाधिक शाखाएँ (एक या एकाधिक वेदों में) सर्वथा उपपन्न हो ही सकती हैं। हम प्रत्यक्षतः देखते हैं कि **सुमन्तु** नामक एकाधिक आचार्यों ने साम-अथर्व-शाखाओं का प्रवचन (पुराणोक्त शाखा-विवरण के अनुसार) किया है।[१] पराशर-शाखा ऋग्वेदीय भी है, शुक्लयजुर्वेदीय भी[२]; उसी प्रकार गौतम-शाखा ऋग्वेद में भी है और सामवेद में भी।[३] इस प्रकार के अन्यान्य उदाहरण भी मिलते हैं। अतएव, एकाधिक शाखा के समाननामत्व पर संशय नहीं किया जा सकता।

'कठ' नाम ऋग्वेदीय शाखा-विशेष का है, यह हेमचन्द्र-कृत कोश से भी अनुमित होता है। यहाँ कहा गया है—'कठो मुनौ स्वरऋचां भेदे तत्पाठिवेदिनोः।'[४] इस श्लोक से यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि 'ऋचां भेदे' (ऋग्वेद के भेद, अर्थात् शाखाएँ) भी कठ शब्द का अर्थ है। शाखा के लिए 'भेद' शब्द का प्रयोग उचित ही है; क्योंकि शाखा के प्रसंग में पुराणों में 'भिद्' धातु का प्रयोग बहुधा मिलता है—**बिभेद प्रथमं पैल ऋग्वेदपादपम्** (विष्णुपुराण, ३।४।१६ तथा कूर्म, १।४९।५२)। कोश में यह भी कहा गया है कि इस शाखा के पाठक और वेदिता [तु० अष्टाध्यायी, 'तदधीते तद्वेद' (४।२।५९); इस सूत्र का नेदिष्ठ सम्बन्ध वैदिक साहित्य के साथ है। **छन्दोब्राह्मणानि** (४।२।६६) सूत्र से ज्ञात होता है] भी 'कठ' कहे जाते हैं। यह बात सत्य है, जो पाणिनि के 'कठचरकाल्लुक्' (४।३।१०७) सूत्र से भी ज्ञात होता है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ऋग्वेद की कोई कठशाखा थी। यह ज्ञातव्य है कि कोशस्थ **ऋचां भेदे** का अर्थ 'ऋङ्मन्त्र का भेद' ऐसा नहीं हो

१. विष्णुपु० ३।६।२ में सामशाखाकार के रूप में सुमन्तु का नाम है और ३।६।९ में अथर्वशाखाकार के रूप में। वायु, ६०।२४-६१ तथा ब्रह्माण्ड १।३४।२४–३५ में भी वेदशाखा-प्रकरण है, यह ज्ञातव्य है।

२. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० २७७।

३. वही, पृ० २२९।

४. चौखम्बा-संस्करण, पृ० १०। मुद्रित पाठ है—'कटो मुनौ...'; पर यहाँ 'कठ' पाठ ही होगा। वस्तुतः, मुद्रण-प्रमाद के कारण 'इति द्विस्वरटान्ताः' रूप पाठ इस वाक्य के बाद हो गया है, और इसका पाठ 'जातहर्षे प्रतिहते—' इस पूर्वश्लोक के बाद ही होना चाहिए था। प्रस्तुत 'कठो मुनौ......' श्लोक 'द्विस्वरठान्तवर्ग' का सर्वादिम श्लोक होगा। मेदिनीकोश के ठद्विकवर्ग में 'कठो मुनौ...' कहा गया है, पर वहाँ वेद का प्रसंग नहीं है।

सकता; क्योंकि 'ऋक्'-मन्त्र के ऐसे किसी भेद-(प्रकार) का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता।

प्रचलित कठोपनिषद् से अन्य भी कोई कठोपनिषद् थी, ऐसा ज्ञात होता है। छान्दोग्योपनिषद् (६।३।२) की व्याख्या में 'इति हि काठके' कहकर 'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य ...' और 'आकाशवत् सर्वगतश्च...' वाक्य उद्धृत किये हैं। इनमें प्रथम वाक्य तो प्रचलित कठोपनिषद् (२।२।१२) में मिल जाता है, पर दूसरा वाक्य नहीं मिलता। यह दूसरा वाक्य भी किसी कठोपनिषद् का होना चाहिए, और हम समझते हैं कि यह वाक्य ऋग्वेदीय कठशाखान्तर्गत कठोपनिषद् का है, ऐसी सम्भावना है।[1]

ऋग्वेदीय यह कठ ऋषि कौन हैं, इसका विशिष्ट परिचय नहीं मिलता। शान्तिपर्व (३३६।९) में जो 'आद्यः कठः' वाक्य है, यह सम्भवतः इस कठ को लक्ष्य करता हो, यद्यपि इसका गमक कुछ नहीं मिलता। यदि ऐसा न माना जाय, तो यह मानना होगा कि कृष्णयजुर्वेदीय 'कठ' ही ऋग्वेदीय शाखा-विशेष के प्रवचनकारी हैं। यह असम्भव भी नहीं है; क्योंकि अथर्ववेदीय शौनक यदि बह्वृच (ऋक्शाखावित्) हो सकते हैं (जैसा पुराणों में माना गया है तथा परम्परा में भी स्वीकृत है), तो यजुर्वेदीय के द्वारा ऋक्शाखा का प्रवचन करना असम्भव नहीं है।

यदि यजुर्वेदीय कठ ही ऋग्वेदीय कठशाखा के प्रवक्ता माने जायँ, तो इस विषय में एक अन्य तथ्य भी विचार्य है। शान्तिपर्वस्थ (अ० २४६) का प्रतिपाद्य विषय याजुष कठोपनिषद् प्रतिपाद्यविषयवत् ही है। कई श्लोक भी उभयत्र समान हैं। इस अध्याय के १४वें श्लोक में कहा गया है कि दशसहस्र ऋङ्मन्त्र को मथकर यह अद्भुत ज्ञान निकाला गया है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इस श्लोक की यहाँ क्या आवश्यकता है? निश्चित ही इसका लक्ष्य ऋग्वेदीय किसी शाखा की ओर है और उस शाखा के उपनिषद्-ग्रन्थ में जो ब्रह्मविद्या थी, उसका हा प्रतिपादन शान्तिपर्व के इस अध्याय में किया गया है। ऐसा मानने पर ही इस श्लोक को यहाँ कहने की कुछ संगति लग सकती है। चूँकि शान्ति० (२४६।१३) में **रहस्यं सर्ववेदानां** कहा गया है, अतः इस निर्देश का सम्बन्ध औपनिषद भाग से ही है, यह भी सुतरां सिद्ध होता है। ऋक्शाखा-विशेष का जो परिमाण[2] यहाँ दिखाया गया है, वह इस अनुल्लिखित शाखा (अर्थात्, ऋग्वेदीय कठशाखा) का है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है, यद्यपि यह बहुत कुछ सन्दिग्ध है।

१. समान नाम के एकाधिक उपनिषदों का अन्य उदाहरण भी मिलता है। श्वेताश्वतर-उपनिषद् २।१४ के शांकरभाष्य में 'परेषां पाठे' कहकर व्याख्येय मन्त्र का एक पाठान्तर दिया गया है। पर, यह वस्तुतः पाठान्तर नहीं है, बल्कि अन्यशाखीय श्वेताश्वतर-उपनिषद् का पाठ ही है, यह 'परेषां' पद से ध्वनित होता है; वैदिक सम्प्रदाय का व्यवहार ऐसा ही है। श्वेताश्वतर-शाखा की दो मन्त्रोपनिषद् की सत्ता प्रमाणान्तर से भी सिद्ध होती है।—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० २९६।

२. इस स्थल की टीका में नीलकण्ठ 'तदुक्तं शाकलके' कहकर 'ऋचां दशसहस्राणि...उच्यते' श्लोक को उद्धृत करते हैं। यह श्लोक शौनकीय अनुवाकानुक्रमणी (४३) में मिलता है, जो शाकलशाखीय है। दोनों के पाठों में ईषत् भेद है।

क्या हम यहाँ यह कह सकते हैं कि इस ऋक्शाखा में भी याजुष कठोपनिषद्-सदृश ज्ञान (तदनुरूप शब्द-व्यवहारपूर्वक) था, जिससे यह भी सिद्धप्राय ही होगा कि यजुर्वेदीय कठर्षि ही ऋग्वेदीय कठशाखा के प्रवर्त्तक हैं। शान्तिपर्व के इस अध्याय के शब्दों के साथ कठोपनिषद् शब्दसाम्य और अध्यायान्त में ऋग्वेद का उल्लेख—ये दो अवश्यमेव कुछ-न-कुछ अन्तर्निहित बीज रखते हैं, जिसपर विद्वानों को विचार करना चाहिए।

यह भी ज्ञातव्य है कि **जयकृष्ण** ने कहा है कि सिद्धान्तकौमुदी-गत **देवाज् जिगाति सुम्नयुः** वाक्य ऋग्वेदीय कठशाखा का है (सुबोधिनी, ७।४।३८)। इनके समय यह शाखा प्रचलित थी या नहीं, यह भी विचार्य है (काशिका में 'जिगाय' पाठ है)।

इस प्रकार, यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेदीय कठशाखा की सत्ता को सर्वथा अपलापित नहीं किया जा सकता।

रिसर्च-इंस्टिच्यूट, संस्कृत-युनिवर्सिटी
वाराणसी

●●

सन्त कबीर : एक अध्ययन

['निरभैग्यान' पर आधृत]

प्रो० श्रीरामबुझावन सिंह

प्राचीन सन्त महात्माओं की तरह सन्त कबीर की भी जन्म-तिथि, जन्म-स्थल तथा जीवनवृत्त-सम्बन्धी बातें अब भी बहुत कुछ कुहेलिकाच्छन्न हैं, जिनके सम्बन्ध में तरह-तरह के मतवाद प्रचलित हो गये हैं और होते जा रहे हैं। कबीर पर बहुत सारा साहित्य देशी-विदेशी विद्वानों के द्वारा तैयार हो चुका और अब भी उनपर शोधकार्य चल रहा है, जिनसे तरह-तरह के कबीर-विषयक तथ्य हमारे सामने आ रहे हैं। तथ्य का अंश किनमें कितना है, यह तो समय ही बतलायगा। किन्तु, हमारे प्रयत्न तो तथ्यान्वेषण की दिशा में चलते ही रहने चाहिए।

सन्त कबीर के सर्वथा अधिकारी अध्येता डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में कबीर के अभी तक जितने ग्रन्थ प्राप्त हो सके हैं, उनका विवरण दिया है। उनके अनुसार अभी तक ६१ पुस्तकें प्राप्त हुई हैं, जो कबीर-रचित कही जाती हैं; पर वे सभी-की-सभी कबीर-रचित ही हैं, यह कहना कठिन है। आपने ही उनमें से 'कबीर गोरख की गोष्ठी', 'कबीरजी की साखी', 'भक्ति का अंग' तथा 'मुहम्मद बोध'—इन चार ग्रन्थों के कबीर-रचित होने में सन्देह प्रकट किया है, फलतः ५७ ग्रन्थों को कबीर-रचित तबतक तो अवश्य ही कहा जा सकता है, जबतक उनकी प्रामाणिकता के लिए निश्चित रूप से सन्देह की गुंजायश न निकल आये। इन्हीं ५७ ग्रन्थों में एक है **निर्भयज्ञान**, जिसका विवरण डॉ० वर्मा ने इस प्रकार दिया है : 'पद्य-

संख्या-७००; विषय—कबीर का धर्मदास को अपना जीवन-चरित्र बतलाना तथा ज्ञानोपदेश; विशेष—इस नाम की एक प्रति और भी है, उनकी पद्य-संख्या ६५० है और उसका निर्देश-स्थल है खोज-रिपोर्ट १९०९, १९१०, १९११ (नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी)। यह बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी प्रतिलिपि सन् १५७६ ई० की है और इससे कबीर के जीवन के विषय में बहुत कुछ ज्ञात हो सकता है।' डॉ० वर्मा के इसी संकेत के अनुसार इस लेखक ने कबीर-साहित्य के सम्बन्ध में बिहार के कुछेक कबीरपन्थी मठों की खाक छानी और दो-एक उदार साधु-सन्तों की कृपा से कबीर-साहित्य की ८-१० दुर्लभ हस्त-लिखित प्रतियाँ भी उपलब्ध हुईं, जिनमें से एक यह **निर्भयज्ञान** भी है।

इसकी पद्य-संख्या लगभग १००० है तथा ग्रन्थ के अन्त में लिपिकार ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

"इती श्री गरंथ न्रीभग्यान समापत मीती सावण समत १९३५ साल ता:-१३ ली:—रामगुलाम दास कबीरपंथी वैरागी मौजे लोदीपुर प्रगने मने सकल साध के बंदगा साहेब।"

सन् १५७६ ई० की प्राप्त प्रति से सन् १८७६ ई० (संवत् १९३५) की प्रति में ढाई-तीन सौ पदों का बढ़ जाना अधिक अस्वाभाविक नहीं; क्योंकि जब पूर्ण शिक्षित प्राचीन कवियों की कृतियों में क्षेपक न्यूनाधिक मात्रा में घुस आये हैं, तब यह तो कबीर की कृति है, जिस कबीर ने 'मसि कागद' छुआ तक नहीं था। अनन्तदास-लिखित 'श्रीकबीर साहिबजी की परचई' के आधार पर कबीरदास के जीवन की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख, डॉ० वर्मा के अनुसार इस प्रकार है—

१. वे जुलाहे थे और काशी में निवास करते थे।
२. वे गुरु रामानन्द के शिष्य थे।
३. बघेल-राजा वीरसिंहदेव कबीर के समकालीन थे।
४. सिकन्दरशाह का काशी में आगमन हुआ था और उन्होंने कबीर पर अत्याचार किये थे।
५. कबीर ने १२० वर्ष की आयु पाई थी।

'निर्भयज्ञान' में धर्मदास को कबीर ने जो अपना जीवन-परिचय दिया, उसमें ऊपर की सं० ५ वाली बात के उल्लेख को छोड़कर शेष चारों घटनाओं का उल्लेख मिलता है। इतना ही नहीं, कुछेक अन्य प्रसंगों की भी चर्चा मिलती है। 'निर्भयज्ञान' में कबीर के जीवन के प्रसंगोल्लेख इस प्रकार हैं—

१. कबीर का बलख के भूप इब्राहिम को उपदेश देना।
२. नीरू, नूमा तथा काशी का प्रसंग।
३. गुरु रामानन्द-प्रसंग।
४. जहागस्त औलिया-प्रसंग।
५. सिकन्दरशाह-शेख तकी का प्रसंग।
६. विष्णु-वरदान का प्रसंग।

७. मगहर-प्रसंग ।
८. वीरसिंहदेव और बिजुली खाँ-प्रसंग ।

'श्रीकबीर साहिबजी की परचई' की ही भाँति इसमें भी कबीर के जीवन की तिथियों का कोई उल्लेख नहीं मिलता, प्रसंगानुसार विभिन्न स्थानों के नाम अवश्य मिलते हैं; जैसे परसोतिमपुर, काशी, मक्का, मगहर, इलाहाबाद, बलख शहर, मथुरा आदि । जिन ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं घटनाओं का उल्लेख हुआ है, उनमें भी अतिरंजना से अधिक काम लिया गया मालूम होता है । इस ग्रन्थ की रचना का मूल उद्देश्य यही जान पड़ता है कि कबीर की तरह ही उनके अनुयायी साधु-फकीरों पर भी यदि किसी दिशा से आपत्ति-विपत्ति आये, किसी की ओर से अत्याचार हो, तो निर्भीकतापूर्वक सन्तों को उनका सामना करना चाहिए, किसी भी हालत में पथ-विचलित नहीं हो जाना चाहिए । अत्याचार करनेवाली शक्तियाँ अपने-आप विनष्ट हो जायेंगी और सन्त अग्नि-परीक्षा से निकले हुए स्वर्ण की भाँति दमकता हुआ प्रकट होगा । कबीर को अपने जीवन में पग-पग पर विरोधों का सामना करते रहना पड़ा । यदि वह आत्मज्ञान से पूर्णत: परिचित होकर निर्भीक न बन गये होते, तो विरोधी शक्तियाँ कब का उन्हें अपने प्रवाह में ले गई होतीं । किन्तु, यह सच्चा आत्मज्ञान ही था, जिसकी बदौलत कबीर इतना निर्भय बन सके । जिस शक्ति ने कबीर को इतना बल दिया, उसका रहस्य वे अपने शिष्यों, अनुयायियों को कैसे नहीं बतलाते ? यही कारण है कि धर्मदास को अपना जीवन-वृत्तान्त सुनाते हुए प्रत्येक घटना के अन्त में आत्मज्ञान तथा उससे उत्पन्न निर्भयज्ञान की चर्चा कबीर को करनी पड़ी है । घटनाओं के वर्णन में अतिरंजना तथा चमत्कारप्रियता जो देखने को मिलती है, उसका मूल कारण यही है कि सन्त बाधाओं से पथ-विचलित न हों । विघ्न-बाधाओं पर अपनी विजय की कथाओं में प्राय: अतिरंजना, अतिशयोक्ति आ जाती है । कबीर ने भी यदि इस पद्धति का अनुसरण किया, तो अधिक अस्वाभाविक नहीं । उनके जीवनकाल की ऐतिहासिक घटनाओं पर इसीलिए चमत्कारों का आवरण चढ़ गया है, जो है अन्ततः झीना ही, जिसके भीतर से इतिहास झाँकता नजर आता है । अनुसन्धित्सुओं के लिए 'निर्भयज्ञान' के अनुसार कबीर की आत्मकथा इस प्रकार है :

धर्मदास को अपना परिचय देते हुए कबीर कहते हैं कि वह सत्पुरुष विभिन्न युगों में विभिन्न रूप-नाम लेकर प्रकट हुआ है । सतयुग में अच्युत, त्रेता में मुनीन्द्र, द्वापर में करुणामय तथा कलियुग में कबीर नाम से सर्वप्रथम सागरतीर-स्थित परसोतिमपुर में वह प्रकट हुआ—

करुनामै द्वापर जग, कलजुग नाम कबीर ।
प्रथमै परसोतिमपुर मै प्रगटे सागरतीर ।।

वह कबीर मैं ही हूँ, जिसने अपनी अनन्त कला के विस्तार-स्वरूप कई प्रकार के चमत्कारपूर्ण कौतुक किये । परसोतिमपुर से मैं बलख शहर को सिधार गया—

ताहाते बालष सिधाएउ, पंथ मिलेउ एक बाट ।

× ×

बोलत सहर एक नगर अनूपा, इबराहिम अधम तहा भूपा ।।

मैंने इब्राहिम को उपदेश दिया कि किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए तथा साहेब का भजन-चिन्तन करना चाहिए, जिसने तुझे इतनी राजसम्पदा दी—

कोठा महल इमारत, तखत सेज सुखराज ।
गज तुरंग रथ पालकी, दिन्हो एतिक साज ।।
ऐसा जो साहेब धनी, ताहि दियो बिसराय ।
जब साहेब को पाइहो, तब को होय सहाय ।।

उसे बहुत कुछ उपदेश देकर मैं वहाँ से भी गुप्त हो गया—

हम पुनि गुप्त भए तब, इबराही बहुत पछताए ।

और, मेरी खोज में वह राजपाट छोड़कर शहर से बाहर निकल पड़ा; क्योंकि वह सत्पुरुष के प्रेमबाण से विद्ध हो चुका था । वह फकीर हो गया और संसार से विरक्त—

सब तजि साह भए फकीरा । लागेव विरह वान गंभीरा ।।
पीआ कारन तेजेब सब आसा । जगते नेह तजि भए उदासा ।।

प्रियतम के प्रेम में ही शाह ने शरीर छोड़ा—

कहे कबीर पिव कारने, साह कियो तन खाक ।
आदम ते औलिया भये, खाक मिलै भै पाक ।।

इसके बाद मैं चन्दावरी में जाकर एक तालाब में पुरइन (कमल) के पत्ते पर प्रकट आ—

प्रसाइत दिन प्रगटेउ, ताल पुरइनी पात ।
बालरूप हुलसत रहौं, जोल्हा गवन किए जात ।।

नीरू अपनी पत्नी नूमा (नीमा) को गौना कराकर उसी रास्ते अपने घर लौट रहा था कि नूमा को प्यास लगी और वह पानी पीने के लिए तालाब में उतरी । एक बालक को देखते ही वह पानी पीना भूल गई और पानी में उतरकर उसने मुझे उठा लिया । उसे बहुत हर्ष हुआ, मानों किसी रंक को पड़ा धन मिल गया हो । मुझे लेकर वह अपने स्वामी के पास गई, जिसने पूछा कि तेरी गोद में यह क्या है ? नूमा लाज के मारे कुछ बोल न सकी । नीरू ने गुस्से से पूछा, तो नूमा ने मुझे दिखला दिया । मुझे देखकर नीरू और गुस्से में आ गया और नूमा से पूछा कि यह किसका बालक उठा लाई ? इसे यहीं छोड़ दो, नहीं तो लोग तुम्हें बहुत गालियाँ देंगे और कहेंगे कि गौने में ही यह स्त्री एक बालक ले आई ! लेकिन, नूमा मुझे न छोड़ सकी । इसपर वह अपनी पत्नी का झोंटा पकड़कर उसे मारने दौड़ा, तो मैंने उस जुलाहे से कहा कि जरा अपनी पूर्वकथा का तो विचार कर—

पाछे ते बाभन रहा, चूका भक्त मझार ।
ताते तुम जोलहा कुल, धरेहु आए औतार ।।
हम तोहरे तारन कह आये । ले चलु ग्रिह का हमहि उठाए ।।

तब नीरू ने अपनी पत्नी को आज्ञा दी और उसने हर्षित होकर मुझे गोद में ले लिया । इस प्रकार, वह अपने नगर काशी मुझे ले गई—

ले गयो कासी नग्र मह, आपन ग्रिहि पगु दीन्ह ।

गौने में ही एक स्त्री को बालक के साथ देखकर सभी लोग हँसी करते हुए कहने लगे कि अरी, तूने यह क्या किया ? इस प्रकार उसकी निन्दा करते हुए पाँच-सात दिन बीत गये । इस बीच मैंने भी दूध पीना बिलकुल छोड़ दिया था । तब नीरू का चित्त बहुत ही विकल हुआ और नूमा को गाली देता हुआ बोला कि तू अच्छा सन्ताप ले आई—

दोउ कह देखेउ विकल जब, तब बोलेउ एक बैन ।
तुम कछु चिंता मत करहु, हम आहै सुख चैन ।।

मेरा नाम धरने के लिए जुलाहे ने 'बाभन' को बुलाया—

तब हम बाभन से कहा, नाम हमारा कबीर ।
और नाम मत बोलहु, सुनहु पंडित मत धीर ।।

यह सुनकर सभी को बहुत अचरज हुआ कि अरे, यह बालक तो अपना नाम आप ही बोलता है, यह देव है कि दानव ? जब सभी अपने-अपने घर चले गये, तब नीरू और नूमा दोनों मिलकर मुझसे पूछने लगे कि हे कबीर, अब तो कुछ पीओ । मैंने कहा—'एक कोरी बछिया ले आओ और एक कोरे बरतन में उसका दूध दुहो, तभी मैं पीऊँगा । उन्होंने वैसा ही किया । पर, हमेशा वे दूसरों से कहते रहे कि 'हमरे घर है अचरज पूता ।'

इस प्रकार, धीरे-धीरे मैं बड़ा हुआ और अड़ोस-पड़ोस के बालकों के संग खेलने लगा । एक दिन नीरू अपने घर मांस ले आया । उस दिन मैं घर नहीं लौटा, बाहर ही रहा । दोनों बहुत विकल होकर मुझे खोजते रहे । जब बहुत हैरान हुए, तब मैं मिला और उनसे कहा—

कहे कबीर हम उहा ने जाही । कह अभछ आनेहु घर माही ।।

नीरू-नीमा ने अपनी भूल-चूक के लिए माफी माँगी, तो मैं उनके आँगन गया । पर, अब एक दूसरा झमेला आ खड़ा हुआ । काशी के जुलाहों ने प्रपंच कर नीरू से कहा कि काजी मौलाना बुलाकर अपने बेटे का तुम सुन्नत कराओ, गौ की कुरबानी करो और शराब मँगाकर पंचों का अपने यहाँ हाथ धुलवाओ । इसपर नीरू इनकार कर गया कि गाय का गला नहीं कटवाऊँगा । पंचों ने तब नीरू पर बिगड़कर कहा--

गैनी बिना बनहिगे नाही, मुसलमान के रीत ।
पीर पैगम्मर रूठिहैं, खता खाहुगे मीत ।।

इतने पर भी जब नीरू ने न माना, तब सभी काजियों ने मिलकर एक गाय मँगवाई । खेल से जब मैं घर लौटा, तब काजियों को मैंने फटकारा—

जिसका छीर पीजिए, तिसको कहिए माय ।
तिसपर छुरी चलायहु, किन्ह ए दिन्ह दिठाय ।।

इसपर उन मुल्लाओं ने उल्टे मुझे ही नसीहत देना शुरू किया—

कलमा कहहु नबी का, छाड़ो कुफुर की बात ।
तब तुम्हनि सब गावहु, बैठहु नबी जमात ।।

मैंने कहा कि—

ए सब है सैतानी की बाजी ।
जेहि तरीक सो साहब राजी ।
सो तरीक मोहि कहिए काजी ॥

लेकिन, वे मुझे क्या कहते । वे तो खुद नहीं जानते थे कि साहेब कैसे राजी होता है। मुझी से पूछ बैठे कि किस तरीके से मुसलिम हुआ जाता है ? मैंने बतलाया—

वेद कितेब ने माने, हिन्दू तुरुक अचेत ।
काटहि गला पराआ, अपन स्वाद के हेत ॥
गला पराआ काटते, दरद न आइ जीव ।
कहै कबीर कैसे मिले, गुनहगार को पीव ॥

केवल रोजा-निमाज से कोई मुसलिम नहीं होता—

बैठि मोसल्लह सिर धुने, धरि रोजा हरचंद ।
दिल बेदिल जाने नहि, वोह दिल मूसरचंद ॥

काजी-मौलानाओं ने तब मुझसे माफी माँगी । लेकिन, उस दिन से मैं नीरू-नीमा के घर कभी नहीं गया—

तब ते वोहि घर कबहु न गयऊ । कासी पुरान तहा होए रहेऊ ॥
जोलहा जोलहिन आएउ तहा । कासी पुरान रहा हम जहा ॥

इसके बाद मेरी भेंट सिद्ध साधुओं से हुई, जिन्होंने मिलकर मुझसे पूछा कि तुम्हारे गुरु कौन हैं ? मेरे तो कोई गुरु थे नहीं, मैं क्या बतलाता ? इसपर उन्होंने मुझे साकट घोषित किया और कहा—

साकट होइ कथे बहु ग्याना । गुरु बिनु मुक्ति होए निदाना ॥

तब मैंने अपने मन में विचार किया कि ठीक है, जबतक गुरु नहीं मिलेंगे, तबतक सांसारिक द्वन्द्व नहीं मिटेगा । ऐसा सोचकर मैंने रामानन्द को अपना गुरु बनाया—

तब हम रामानन्द गुरु कीन्हा । राम नाम मारग सुन लीन्हा ॥

उसके बाद तो मैं खुलकर सभी को अपने गुरु का नाम कहने लगा । इसपर ब्राह्मण और संन्यासी मेरे गुरु के पास जाकर पूछने लगे कि क्या आपने जुलाहे को शिष्य बनाया हैं ? इसपर गुरु ने लोगों से कहा कि **हम न कबहिं जोलहि सिष कीन्हा** । यह सुनकर सब लोग मेरे पास आये और मुझे बुलाकर रामानन्दजी के पास ले गये । उन्होंने अन्तःपट देकर क्रोध करते हुए मुझसे पूछा कि 'ऐ जुलाहे, मैंने तुझे कब दीक्षा दी'—

तै जोलहा हम सीध ब्रह्मचारी । मोही तोहित कब भआ चिह्नारी ॥

मैंने विनम्रतापूर्वक उन्हें याद दिलाई—

गुरजी राम क्रिस्न तुम मेरे । रैनी पंथ पगु टेकेब तोरे ॥
तब सुभ राम नाम मोही कहि दीन्हा । मैं निज जन्म सुफल कै लीन्हा ॥

उन्होंने कहा कि उस समय तो तुम अबोध बालक थे । इसपर—

तेहि खन बालरूप देखलाए । तब गुर रामानंद पतिआए ॥

मैंने उनसे कहा—

रामानंद तुम गुर हहु मोरा। दास कबीर सेवक निज तोरा॥

इसके बाद मैंने उनसे सृष्टि, इसके सिरजनहार आदि सम्बन्धी कई प्रश्न पूछे, जिसके समुचित उत्तर दिये और मुझपर प्रसन्न होकर **निज कर दीन सुमरनी माला।** उसी समय से **हम गुर साधु अधीन हुए, भाषहि निरभै ग्यान।** उन दिनों जहागस्त नामक एक आदमी था, जो अपने को बड़ज्ञानी औलिया कहा करता था। सारे जम्बूद्वीप में वह सैर करता फिरता था। एक दिन मैंने उसके साथ एक कौतुक किया। एक दिन वह मुझसे मिलने के लिए काशी आया। मैंने पहले ही अपने द्वार पर एक सूअर मँगवा रखा था। उसे देखते ही वह भड़क उठा—

लिए हराम निकट है, कैसा है दरवेस।
सब बुजुरग मोहि भेजा, काफिर केर उपदेस॥

वह मुझपर बहुत ही क्रुद्ध हुआ और मुझे काफिर कहकर जली-कटी सुनाने लगा। मैंने कहा—

गोस्त हराम कहे सब कोई। तेहि तुम राखेहु भीतर गोई॥
इ बिस्टा को खात है, ताको कहहु हराम।
बिस्टा तोहरे ओद्र में, सो नहि करहु गुनान॥
काम क्रोध ओ तिस्ना, लोभ मोह हंकार।
इ देखो हराम है, कहे कबीर पुकार॥

मैंने उसे काफी फटकारा और कहा कि यदि तू सचमुच औलिया है, तो मक्का चलकर नमाज पढ़ो, जहाँ मुसलिम के सिरताज नबी रहते हैं। उसने कहा कि मक्का जाने में बहुत दिन लगेगा। मैंने कहा कि मेरे साथ चलो, मैं वहाँ आज ही नमाज पढ़कर यहाँ वापस आ जाऊँगा। मैंने उसे आँख मूँदकर मक्के का ध्यान लगाने को कहा और जब उसने आँखें खोलीं, तब अपने को मक्का के नबी की मजलिस में पाकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वहाँ सबके साथ नमाज पढ़कर—

पलक खोलि जो देखहि, तौ कासी चलि आए।

उसके बाद वह विनम्र हो गया। इसी प्रकार, एक बार शाह सिकन्दर के तन में बड़ी ज्वाला उत्पन्न हुई, जिससे व्याकुल होकर वह काशी आया और घोषणा की कि ऐसा कोई है, जो मेरे कष्ट को दूर कर दे। काजी पण्डितों ने मिलकर शाह से कहा कि कबीर नाम का दरवेश तो ऐसा है। मुझे शाह के निकट बुला ले जाया गया। जैसे मैं उसके सम्मुख हुआ कि उसके तन की ज्वाला दूर हो गई और मेरे सम्मान में वह उठकर खड़ा हो गया। फिर तो मुझसे उसने ऐसा प्रेम किया कि **जेव सनेह जल मीन।** शेख तकी नामक उसका एक पीर था, जो मेरे इस सम्मान को देखकर मूर्च्छित हो गया। उसने शाह से मेरी शिकायत करनी शुरू कर दी और मेरे खिलाफ उसे काफी भड़काया। काशी के पण्डितों और काजियों ने शेख तकी से मिलकर एक प्रपंच रचा कि कैसे यह फकीर कबीर मारा जाय। क्योंकि, कबीर सभी के सिर की बला सिद्ध हो रहा था। शेख तकी ने मुझे मरवा डालने का बीड़ा उठाया—

मेरा नाम है सेख तकी, मैं सिकंदर का पीर ।
देखो कैसे बचेगा, कैसा फकर कबीर ।।

यह तो हिन्दू और मुसलमान दोनों के खिलाफ जहर उगलता है—

तीरथ बरत एकादसी रोजा । और निमाज इहै जग पूजा ॥
एह सभ कछु नहिं माने, कहे एक सिरताज ।
और कछु नहि जाने, कहे सकल समाज ॥
खसी गौनी बकर, पीर को देहि सब कोए ।
सबको कह कसाइ, अैसा काफिर ना कोए ॥

शेख तकी सिकन्दरशाह के पास गया, जहाँ मुझे बैठा देखकर मन में जल उठा। उसने गुस्सा रोककर शाह से कहा कि ऐ शाह, कुशल चाहते हो, तो तुम इस फकीर जुलाहे को मार डालो, नहीं तो मैं ऐसी बददुआ दूँगा कि तुम ख़राब हो जाओगे। शाह ने शान्तिपूर्वक शेख तकी को समझाया कि रे पीर, इस फकीर पर मेरा कोई वश नहीं; क्योंकि यह मेरा रैयत नहीं है, यह तो अल्लाह की जात का है—

जो वोह होते रइयत, तो हम करते जोर ।
वे अलमस्त फकीर हैं, ताहा न फावे जोर ॥

इसलिए, उनसे रार छोड़ दीजिए। इसपर शेख तकी और आगबबूला हो गया और गुस्से के मारे अपनी टोपी जमीन पर पटक दी। शाह बड़े फेर में पड़ा—इधर पीर, उधर फकीर ! शाह की ऐसी परेशानी देखकर मैंने उससे कहा—

पीर कहै सो करहु तुम्ह, हमें नही कछु त्रास ।
हमको है एक नामबल, कहे कबीर निजदास ॥

इसपर राजी होकर शाह ने तकी से कहा कि जाओ, जो मन में आये, करो। पर, इतना समझ लो कि फ़कीर का खून करने से भला न होगा।

इसपर शेख तकी गुस्से से उठा और मेरे हाथ-पाँव बाँधकर गंगा में फेंकवा दिया—

गंगा जल पर आसन, बंद परेख हराए ।
जान कबीर सतनाम बल, निरभै मगल गाए ॥

शेख तकी ने दूसरी बार मुझे देगची में बंद कर आग पर चढ़वाया और कहा कि 'देग आच जो बाचिहौ, तौ कबीर तुम साच ।' इस बार भी मैं सकुशल देगची से बाहर निकल आया। देगची का मुँह खोला गया, तो वहाँ कुछ नहीं था। शेख तकी शाह के पास लौटा, तो उसकी बगल में मुझे बैठा पाया। शेख तकी फिर गुस्से से लाल हो गया और इस बार मुझ जलते हुए आवे में फेंकवा दिया, फिर धरती में गड़वा दिया। लेकिन, 'पुनि हम गए साहब के पासा ।' इसपर शेख तकी ने झुँझलाकर कहा कि—

एह जोलहा के पास मह, चारो गुटका आहे ।
ताते गड़े जरे नही, कहे जाए अब एहु ॥

इस बार उसने मेरे हाथ-पाँव बँधवाकर एक मतवाले हाथी के आगे फेंकवा दिया। लेकिन, 'केतनो करो महाउत, गज सनमुख नहिं आव।' तब 'कहे तकी अब तोप के, मोहरे राखि उड़ाव।' इतने पर भी जब मेरा बाल बाँका न हुआ, तब—

चले सिकंदर निजघर, हम कह लीन्हे साथ।
सेख तकी कासी रहे, साह इलाहाबाद॥

काशी के काजी और पण्डितों ने अब भी अपनी हार नहीं मानी। एक दिन मैं शाह के साथ गंगातट पर बैठा हुआ था कि एक बहते हुए मुरदे पर नजर पड़ी। शेख तकी ने बाजी लगा दी कि यदि सच्चे फकीर हो, तो इस मुरदे को जिला दो। इसपर मैंने भी दुहरी बाजी धर दी कि तुम्हीं यदि शाह के सच्चे पीर हो, तो इसे जिला दो। अब तो शेख तकी बड़े फेर में पड़ा। उसने बहुत बार पीर-अल्लाह को गुहराया, पर— मुरदा मुरदा ही बना रहा। लजाकर तकी ने मेरी ओर देखा और कहा—'अच्छा, अब तुम तो जिलाओ।' मैंने मुरदे की ओर नजर फेरी, तो वह बहता हुआ हमलोगों की ओर ही आ निकला और निकट आकर उठ बैठा—

मुरदा कह अस बोलेउ, उठ कुदरत कमाल।
कर कुबरी धरि टेकेउ, सजीव भए सवाल॥

उसने 'सुत कमाल' कहकर उत्तर दिया—

गुर सत कहि बोलु कमाला। गुर कबीर मोहि कीन्ह नेहाला॥
कहे कमाल पुकारि के, गुरु सत्त कबीर।
जिन्ह मुरदा से जिंदा किया, गंदी गली सरीर॥

शेख तकी तो मूर्च्छित हो गया और अब अपनी हार उसे माननी ही पड़ी—

तुम्ह अलाह खोदाए हौ, तुम्ह मेरे गुर पीर।

मैंने शेख तकी को बड़े स्नेह से समझाया—

कहे कबीर सुनु सेख जी, तुम्ह औलिया के जात।
रोजा निमाज करु बंदगी, बैठो नबी जमात॥
जो अलह फरमाया, सो करता नहीं कोय॥
हराम हलाल चीन्हें नहीं, कैसे मुस्लिम होय॥
दिन को राखे रोजा, साझ के कूहे गाए।
इहे खून उहे बंदगी, किस भौ खुसी खोदाए॥

इसपर शाह सिकन्दर और शेख तकी दोनों हाथ जोड़कर खड़े हो गये और अपनी भूल-चूक के लिए क्षमा माँगी। इसके बाद मैं काशी चला आया। यहाँ आने पर विष्णु ने मेरी परीक्षा ली। उन्होंने लक्ष्मी को मेरे पास सलोना रूप धारण कर भेजा। उन्हें 'माँ' कहकर पुकारा, तो वे उल्टे पाँव लज्जित होकर लौट गईं। विष्णु ने प्रसन्न होकर मुझसे वर माँगने को कहा। मैंने माँगा—

सुत बित नारि न चाहेउ, नहि बैकुंठ कैलास।
कहे कबीर एह धोखा, सब परले की रास॥

अजर धाम सो दीजिए, दीजै अजर सरीर ।
निरभै नाम लखाइए, निरभै कहहिं कबीर ।।

विष्णु वरदान देकर अपने धाम को लौट गये ।

एक बार मैंने एक और कौतुक किया । सत्संगियों को साथ लेकर एक दिन मैं काशी नगर से गुजर रहा था कि एक वेश्या पर मेरी नजर पड़ी और मैं ठिठक गया । इसी पर काजी ब्राह्मण और संन्यासियों ने यह बावेला मचाया कि 'दास कबीर साधु अस, तिन्ह बिस्वा संग लीन्ह ।' इसकी शिकायत इन लोगों ने काशिपति से जाकर कर दी । मैं राजा के निकट गया, तो राजा ने मेरी कोई आवभगत न की । मैंने अपने पाँवों पर जल ढाला और इसका रहस्य बतलाया कि जगन्नाथ के पंडे का पाँव जल रहा था, जिस-पर जल ढालकर मैंने बुझाया । राजा ने जगन्नाथपुरी (परसोतिमपुर) दूत भेजकर इसकी तसदीक कराई, तो बात सच निकली । राजा ने अपनी भूल-चूक के लिए मुझसे माफी माँगी । मैंने राजा को समझाया कि अरे, यह तो मैंने एक कौतुक-भर किया था; क्योंकि कलियुग के साधु कर्म के हीन हो रहे हैं । राजा बहुत प्रसन्न हुए । उस दिन से काशी के काजी, संन्यासी सभी मेरे अधीन हो गये । पण्डितों ने मुझसे निवेदन किया कि

अंत अवस्था सोधि के, कासी तजहु सरीर ।

क्योंकि—**कैसेहु पापी अधम होए, जो कासी तजै परान ।**
तौ तेहि निस्चे मुक्त होए, परे न जोइन खान ।।

मैंने पण्डितों से पूछा कि क्या कोई ऐसा भी स्थान है, जहाँ मरने से मुक्ति नहीं होती ? उन्होंने बतलाया कि हाँ, एक स्थान तो है—'मगहर मरि होए खर स्वाना ।' मैंने भी कहा-'हम मगहर तजब सरीर ।' हे धर्मदास, इसके बाद मैंने मगहर के लिए प्रस्थान कर दिया । राजा बीग (वीर) सिंहदेव बघेल को सतनाम में दृढ भक्ति थी । उनकी पत्नी कमलावती भी सतनाम की उतनी ही भक्त थी । पैठान राजा बिजुली खाँ ने भी मेरी शागिर्दी कबूल कर ली थी । एक दिन इसने मुझसे पूछा कि—

कौन दिन कबूल होए, जब तुम तजहु सरीर ।

मेरे हिन्दू तथा पैठान इन दोनों शिष्यों को इसी की चिन्ता थी कि मेरे मरने पर मेरी अन्त्येष्टि किस रीति के अनुसार होगी—गाड़कर या जलाकर । इन्हें क्या पता कि—

नहि हम जारे जरेब, नहि मारे मरि जाहि ।
न हम तुरुक न हिन्दू , ना हम बरन समाहि ।।

और, एक दिन मैंने शरीर-त्याग भी कर दिया । वीरसिंह बघेल तथा उसकी रानी दोनों बहुत विकल ए । उन्होंने गुरुभाई बिजुली खाँ को भी मेरी मृत्यु की खबर भिजवा दी । दोनों गुरुभाइयों में मेरी लाश को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ, और यह विवाद इस सीमा तक बढ़ा कि दोनों युद्ध करने पर उतारू हो गये । दोनों की सेनाएँ युद्ध के मैदान में आमने-सामने आ डटीं । तब मैंने अन्तरिक्ष से इस निर्भयज्ञान का भाषण दोनों को दिया कि तुम दोनों आपस में मत लड़ो । पहले मुझे देखो तो सही कि मैं कहाँ हूँ—

खोदि गोर तुम देखो, जो कह मिलै सरीर ।
तब जारहु की गाड़हु, गैबी कहै कबीर ।।

जहाँ रतना मेरी भक्तिन थी, जिसे सतनाम में दृढ़ आस्था थी। उसे उपदेश देकर हे धर्मदास, मैं तुम्हारे पास अब आया हूँ। तुम सन्त हो, इतना ही नहीं—**धरमदास तुम अगुआ मोरे, हम पुनि गुप्त प्रगट पुनि तोरे।** 'निर्भयज्ञान' में धर्मदास को बतलाया हुआ कबीर का इतना ही जीवनवृत्त है, जिसका सारांश यहाँ प्रस्तुत किया गया।

इस आत्मकथा में अधिकांश घटनाएँ तो ऐतिहासिक हैं, किन्तु दो-एक ऐसी भी हैं, जिनका ऐतिहासिकता से कोई सम्बन्ध नहीं, केवल व्यक्तिगत श्रद्धा-भावना पर आश्रित हैं। जैसे, विष्णु भगवान् का लक्ष्मी को भेजकर कबीर की परीक्षा लेना तथा उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर उन्हें वरदान देना। कहाँ निराकारोपासक कबीर और कहाँ विष्णुभक्ति की साकारोपासना-पद्धति। लगता है, कबीर की आत्मकथा का यह अंश उनके श्रद्धालु भक्तों की देन है।

इसी प्रकार, एक और घटना का बड़े विचित्र संयोग से कबीर के इस जीवनवृत्त में समावेश हो गया है, जिसकी लगभग वैसी ही चर्चा सत्रहवीं शती के सन्त धरनीदास की जीवनी में आती है। 'निर्भयज्ञान' में कबीर के जीवन की वह घटना काशिपति से मिलन-सम्बन्धी है, जिसमें काशिपति को कबीर ने एक कौतुक दिखाया। अपने पाँव पर जल ढालते हुए उन्होंने काशिपति से कहा कि जगन्नाथ के पंडे का पाँव जल रहा है, जिसपर पानी डालकर मैं बुझा रहा हूँ। राजा ने दूत भेजकर जगन्नाथधाम से हाल मँगवाया, तो बात सच निकली।[1]

---

१. कासिपति पह जब हम जाही। बहु आदर से विनय कराही ।।
वा दिन राजा भएउ अचेता। नहि कछु कीन्हो हमते हेता ।।
तब पुनि भ्रम टारि देखलावा। पंडित का पगु जरत बोतावा ।।
जल ढारेउ अपने पगु, कहेउ बचेउ दिज पाव।
राजा कहा अचैंभो, कैसे पाव बचाव ।।
कहहि कबीर सुनहु कासिपति। जल डारैं मौ सुनो तासु गति ।।
जग्रनाथ का पंडा, अटका परो तेहि पाव।
तिन्ह हमको गहरावा, ताको पाव बचाव ।।
सुनि राजा मन भरम समाना। विप्रन्ह कहि भूठ सहिदाना ।।
दिवस घरी पलटी कहै, आतुर भेजिन्ह पउक।
रांजा कहा वै पैक सो, बेगि आउ तुम्ह देख ।।
पंडा पहुंच प्रसोतिम, पंडेहि पूछेसि जाय।
ताहि ठाम मोहि देखेसि, पैक चिन्ह सिर नाय ।।
पंडा पाती बांचिके, कहा सत निरुआर।
मम पगु जरत उबारेउ, दास कबीर जल ढार ।।
पैक धाए कासी चली आवा। सत बचन राजहि समुझावा ।।
राजा पुनि त्रासित भौ, मो पह बेगि सो धाव।
त्रिन बुलासिर कर बन्हे, धाए धरो मम पाव ।। —निर्भयज्ञान।

सन्त धरनीदास के सम्बन्ध में यह जनश्रुति है कि ये राज के किसी अच्छे पद पर नियुक्त थे। एक दिन ये अपने हुक्के का पानी पास के कागजों पर गिराकर आग बुझाने की-सी चेष्टा करने लगे। इनका यह व्यवहार देखकर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। कारण पूछने पर इन्होंने कुछ नहीं बतलाया। आखिर बात राजा साहब तक पहुँची। उन्होंने एकान्त में ले जाकर इस सम्बन्ध में पूछताछ की। धरनीदास ने बतलाया कि आरती के समय जगन्नाथजी के कपड़ों में आग लग गई थी, मैं उसे ही बुझा रहा था। राजा साहब को धरनीदास के इस कथन पर विश्वास नहीं हुआ और उन्होंने इसकी तसदीक कराने के लिए पुरी आदमी भेजा। बात ठीक पाई गई।

इन दोनों सन्तों के जीवन की इस घटना में अद्भुत साम्य-सा है, जिसके सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि धरनीदास के जीवन की इस घटना का आधार जनश्रुति है, जबकि कबीरदास का आधार उनका ग्रन्थ 'निर्भयज्ञान' है। और भी, कबीर धरनीदास के पूर्व हो चुके थे, जिनसे प्रभावित धरनीदास क्यों, न्यूनाधिक रूप से कबीर के बाद आनेवाले प्रायः सभी सन्त रहे हैं। इसलिए, धरनीदास की अपेक्षा सन्त कबीर के जीवन में इस घटना का होना अधिक युक्तिसंगत लगता है। जगन्नाथपुरी में कबीरदास की समाधि होने के कारण वहाँ किसी समय इनके जाने का भी अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु उक्त स्थान की इनकी यात्रा का कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं।

इसी तरह इनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध में भी कई मत प्रचलित हैं। काशी और मगहर पर ही ये सारे मत आधृत हैं। इस सम्बन्ध में बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'कबीर-ग्रन्थावली' की प्रस्तावना में 'गुरु साहब' के एक पद का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'तोरे भरोसे मगहर बसियो, मेरे मन की तपन बुझाई'। कबीर का मगहर में जाकर बसना तथा वहीं उनका परलोकवास होना प्रसिद्ध है। इसी पद की एक पंक्ति 'पहले दर्सन मगहर पायो, पुनि कासी बसे आई' से तो यह ध्वनि निकलती है कि उनका जन्म ही मगहर में हुआ था और फिर ये काशी में आकर बस गये और अन्त में फिर मगहर में जाकर परलोक सिधारे। डॉ० रामकुमार वर्मा का कहना है कि इस पद के अनुसार कबीर की जन्मभूमि मगहर में थी, जहाँ आमी नदी के दाहिने तट पर ये निवास करते थे और जहाँ कबीर के बड़े भक्त और अनुयायी बिजली खाँ ने कबीर के स्मृति-चिह्न के रूप में एक रौजा बनवाया था।

श्रीपरशुराम चतुर्वेदीजी उक्त पदों के आधार पर मगहर को कबीर की जन्मभूमि नहीं मानते। आप अपनी पुस्तक 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा' में लिखते हैं : "केवल 'पहिले दरसनु मगहर पाइओ, पुनि कासी बसे आई' के आधार पर इन्हें मगहर में जन्म लेनेवाला कहने में फिर एक कठिनाई 'दरसनु पाइओ' के कारण भी पड़ती है। 'दर्शन पाने' का सीधा-सादा अर्थ किसी दूसरे मान्य व्यक्ति वा इष्टदेव आदि के साक्षात् करने का ही हो सकता है, जन्म-ग्रहण करने का नहीं; और यदि प्रसंगवश 'मगहर का दर्शन' अर्थ लगाया जाय, तो भी कुछ खींचातानी ही जान पड़ेगी। अतएव, केवल इतने ही संकेत के आधार पर इनकी जन्मभूमि का मगहर में निश्चित कर देना उचित नहीं।"

आपके अनुसार 'कबीर साहब का जन्म सम्भवतः काशी में अथवा उसके आस-पास ही हुआ था।'

'निर्भयज्ञान' में इन दोनों से भिन्न 'चन्दावरी' नामक एक तीसरे स्थान का उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है—

पुनि प्रगटे चन्दावरी जाइ। पुरविल पुन्वा सत गोहराइ॥
प्रसाइत दिन प्रगटेउ, ताल पुरइनी पात।
बालरूप हुलसत रहौं, जोलहा गवन किए जात॥

वहाँ से उठाकर नीरू और नीमा अपने नगर काशी मुझे ले गये—

ले गयो कासी नग्र मह, आपन ग्रिहि पगु दीन्ह।

इन पंक्तियों की प्रामाणिकता की छान-बीन की जा सकती है। पर, इससे यही स्पष्ट होता है कि नीरू और नीमा उन्हें बाद में अपने घर काशी में ले आये। मगहर की चर्चा 'निभयज्ञान' में कबीर के शरीर-त्याग के प्रसंग में मिलती है, जिसमें कबीर ने पण्डितों के इस अन्धविश्वास का जोरों से खण्डन किया है कि मगहर में मरने से 'खर स्वान' होता है। इसीलिए, उन्होंने मगहर के लिए प्रस्थान कर दिया, जहाँ उनकी मृत्यु पर उनकी अन्त्येष्टि को लेकर उनके हिन्दू-मुसलिम अनुयायियों में झगड़ा उठ खड़ा हुआ था।

कबीर के जीवन का एक और विवादास्पद प्रसंग शेख तकी से उनके मिलन का है। मुसलमान कबीरपन्थियों के अनुसार कबीर ने सूफी फकीर शेख तकी से दीक्षा ली थी। श्रीचतुर्वेदीजी ने दो शेख तकी का उल्लेख किया है—एक शेख तकी मानिकपुर तथा दूसरे झूसीवाले। पर, ये कबीर के मान्य गुरु भी रहे हों, इसका कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। उल्टे, ऐसे कई प्रमाण मिलते हैं, जिनसे इन्हीं का कबीर का शिष्य बन जाना सिद्ध होता है। 'निर्भयज्ञान' में जो शेख तकी-विषयक प्रसंग है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर के बढ़ते हुए प्रभाव से जल-भुनकर शेख तकी ने शाह सिकन्दर को कबीर के विरुद्ध उकसाया था, जिसका वह स्वयं पीर था। कबीर ने कई अवसरों पर इसे नीचा दिखाया था, जिसका उल्लेख यहाँ हो चुका है। साथ ही, कबीर पर सिकन्दर लोदी के अत्याचार करने की कहानी जो प्रचलित है, उसके सम्बन्ध में भी 'निर्भयज्ञान' में इससे जरा भिन्न ढंग की कहानी मिलती है। यह शेख तकी ही था, जिसने सिकन्दरशाह को कबीर के विरुद्ध भड़काया था। यहाँ सिकन्दर कबीर की प्रतिभा पर मुग्ध दिखलाया गया है, पर शेख तकी के बार-बार उकसाने पर अनचाहे ही उसने शेख तकी के आगे घुटने टेक दिये थे, वह भी स्वयं कबीर के आग्रह पर। काजी, पण्डित, मौलाना आदि तो कबीर के विरुद्ध थे ही, इन सभी लोगों ने मिलकर शेख तकी को अपना अगुआ बनाया था, जिससे राजकोप भी कबीर के विरुद्ध आसानी से सुलभ हो सके। सिकन्दर ने तो शेख तकी को यहाँतक कह दिया था—

कहे सिकन्दर पीर सुनु, मोरा सिर बरु लेहु।
फकीर कबीर न मारिए, इअ मागे मोहि देहु॥

इसपर तकी शाह पर क्रुद्ध हो उठा था और उसे बददुआ देने तक की धमकी देने लगा था। कबीर ने इस मौके पर बीच-बचाव किया था—

पीर कहे सो करउ तुम्ह, हमे नहीं कछु त्रास ।
हमको है एक नामबल, कहै कबीर निजदास ।।

तभी सिकन्दर मान गया था—

कहे सिकन्दर सुनो तुम पीरा । मन माने सो करहु कबीरा ।।

इस प्रकार, कबीर के जीवन की घटनाएँ यत्र-तत्र थोड़े-से रूपान्तर के साथ 'निर्भय-ज्ञान' में वर्णित हैं, जिनपर कहीं अतिरंजना का, तो कहीं चमत्कार-प्रदर्शन का आवरण चढ़ा हुआ है । इससे तथ्य का रूप ओझल तो नहीं होता, झिलमिलाता अवश्य है, जिससे इनके सम्बन्ध में स्पष्टता, सामान्य पाठकों को हाथ नहीं लगती । रहस्यवादी कबीर से ऐसी आशा अस्वाभाविक नहीं, जिसने सीधा मार्ग छोड़कर पक और उलटबाँसियों का भेद-भरा मार्ग अपनाया, तथा 'निर्भयज्ञान' का उच्चारण किया—

सो हंसा होए निरभै, जो सतनाम कहाए ।

हिन्दी-विभाग,
बी० एन्० कॉलेज, पटना

●●

सावित्री महाकाव्य : एक परिचय*

सुश्री विद्यावती कोकिल

यदि साहित्य को मोटे-मोटे तीन विभागों—लौकिक, धार्मिक और आध्यात्मिक या मानसोत्तर और अधिमानसिक—में बाँटा जाय, तो मैं कहूँगी कि तीसरे प्रकार के साहित्य में एक वेदगर्भा आधुनिक शैली के दर्शन होते हैं । जब वेद अवतरित हुए थे, तब बौद्धिक शास्त्रों और वादों-विवादों का निर्माण ही न हुआ था । इस आधुनिक वैदिक साहित्य के आविर्भाव के समय प्रत्येक देश और प्रान्त की भाषाओं में प्राणिक और बौद्धिक साहित्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ है । मनुष्य के मन में जब ज्ञान की प्रथम अरुण किरण उगी थी, तब भी उसका मन किसी लोकोत्तर एषणा से लालायित हो उठा था और उसे थी एक चरम सत्य की खोज, एक आनन्द की खोज और भगवान् की खोज । आज जब वह ज्ञान-विज्ञान के द्वारा बाह्य प्रकृति के उन्नत-से-उन्नत शिखर पर चढ़ा चला जा रहा है, जब प्रत्येक पर्वत का, वृक्ष-वृक्ष का, डाल-डाल और पात-पात का स्वाद ले चुका है और बाह्य ऐश्वर्यों से उसका मन भरा-पूरा है, तब भी वह सन्तुष्ट नहीं है, तब भी उसे एक पूर्णता की, स्वतन्त्रता की और अमरता की चाह है । आज के द्रष्टा को उसे ही पूर्ण सन्तुष्ट करना है । श्रीअरविन्द-रचित इस आधुनिकतम वैदिक साहित्य ने इहलोक में ही पर और परतम लोकों का रसास्वादन कराया है ।

* विदुषी कवयित्री द्वारा प्रस्तूयमान, श्रीअरविन्द के अँगरेजी-महाकाव्य 'सावित्री' के हिन्दी-पद्यानुवाद का कुछ अंश 'परिषद्-पत्रिका' के अगले अंक में प्रकाशित किया जायगा ।—सं०

वाणी के इन अमृत-सिन्धुओं में 'सावित्री' महाकाव्य-रूपी आनन्द-सिन्धु में मेरा मन सबसे अधिक मुग्ध हुआ। वाणी में ब्रह्मा की शक्ति और शब्द में सरस्वती की छटा के मुझे ऐसे ज्वलन्त दर्शन पहले कभी नहीं हुए थे। श्रीअरविन्द-लिखित यह महाकाव्य संसार के वाङ्मय में एक महान् चमत्कार है। कहते हैं कि उन जैसे सामर्थ्यशाली लेखक को भी, भाषा और शैली जिनकी अनुचरी बनी भावों के पीछे-पीछे चलती हो, इसके रचने में चालीस वर्ष लगे हैं। पचासों बार इसकी आवृत्तियाँ करके इसके अंश-के-अंश बदले और सुधारे गये हैं। सुधार इसलिए नहीं हुए कि भाषा या विचार की दृष्टि से वे शिथिल थे (हो सकता है कि साधारण व्यक्ति को वे ही अधिक सुन्दर लगें), बल्कि इसलिए कि जिस मानसोत्तर उन्नत चेतना को इस कथा के व्याज से वे धरती पर उतारने के लिए कृतसंकल्प थे, वह ठीक उतर सकी है या नहीं। यदि कहीं ऐसा नहीं हो पाया है और पार्थिव चेतना के किसी रंग ने बीच में अपनी तूलिका चलाकर उसे किसी दूसरी दिशा में मोड़ दिया है, तो पूर्ण रूप से उसी प्रेरणा के हाथों वह अंश पुनः लिखा जाता था। इसके बाद ही भाषा-शैली के औचित्य और शृंगार का परीक्षण होता था। यह तो कल्पना और प्राणिक आकर्षण या बुद्धि-चत्मकार का काव्य नहीं। यह तो दर्शन-काव्य है, जो आत्मा के लोक के स्वर्ग-चित्रों को सीधा यहाँ उतार-कर हमारे परिचित अँगरेजी और संस्कृत के प्रतीकों के द्वारा, पुराने और नये रूपकों और उपमानों के द्वारा हमारे जीवन में छिपी हुई तथा बंदी बनी हुई आत्मच्छटा के लिए हमारे प्राण और मन में एक अमिट प्यास जगाती है। यही तो सृष्टि का चरम ध्येय है।

यह तो एक सार्वभौम चेतना का काव्य है और ब्रह्माण्ड में सभी जानी-अनजानी शक्तियों के लोक-लोकान्तर इसके वर्णन-परिवेश के विषय हैं। हम कह सकते हैं कि वेदों, शास्त्रों और रामायण, महाभारत तथा कालिदास में, भारत जो कुछ है, उस सब कुछ का दिग्दर्शन है, तो हम यह भी कह सकते हैं कि मानव-मात्र जो कुछ है और जो कुछ बनना उसे अभी शेष रह गया है, वह सब कुछ 'सावित्री' में है।

यद्यपि इसमें महाभारत के 'अरण्यपर्व' की सावित्री-सत्यवान् की वही नन्हीं-सी कथा है, जो प्रत्येक भारतीय नारी की जिह्वा का गौरव बनी हुई है और उसके सुहाग की शाश्वतता का स्वप्न लिये उसके हृदय में उमड़-घुमड़कर रह गई है, जीवन का सत्य नहीं बन पाई है। उसके आध्यात्मिक प्रतीकों का सत्य उभर नहीं पाया है, जैसे वह अधकही, अधखुली और अधसमझी ही रह गई हो। 'सावित्री' में लेखक की मान्त्रिक भाषा ने और ऊर्ध्वतम चेतना के अविक्षुब्ध और अव्याहत प्रवाह ने उसे सर्वांगसुन्दर बनाकर अभिव्यक्त किया है, जैसे प्रतीकों में फिर से जीने और पूर्ण बनने की चाह जग उठी है, जैसे रहस्यवादी पाश्चात्य साहित्य तथा पुराणों और रामायण-महाभारत के सब देवी-देवताओं ने श्रीअरविन्द को सर्वसमर्थ जानकर उनसे अपने स्पष्टीकरण, अभिव्यक्तीकरण की फिर से माँग की हो। इतना ही क्यों, वे सर्जन की कठोर और निष्ठर प्रणालियों के जिन बन्धनों में बाँधे गये थे, उनके रहस्य को प्रकट करके अपनी बन्धन-मुक्ति की भी

इच्छा प्रकट की हो, और श्रीअरविन्द ने अपनी सच्चिदानन्दमयी शक्ति को अपेक्षणीय साधन बनाकर एक-एक को मुक्त करने का बीड़ा उठा लिया हो। यदि एक व्यक्ति भी इसे अपनी सम्पूर्ण चेतना से पकड़ लेगा, तो सारे संकटों का रहस्य सारी दुनिया पर खुल जायगा। निश्चय ही आरम्भ में यह जनता का काव्य नहीं बन सकेगा। यह विरलग्राह्य काव्य है। पर, उन विरलजनों की चेतना पर उतरकर जनता की चेतना पर दृढ़ चरणों से यह उतरता ही चला जायगा। इस प्रकार का यह विश्व-काव्य उसी हमारी परिचित पुरानी कहानी के व्याज से वेदोंवाली आध्यात्मिकता का सहारा लेकर सृष्टि के आरम्भ होने के भी पहले से प्रारम्भ होता है, जिसे बस आत्मा ही लिख रही होती है और आत्मा ही सुन रही होती है। लेखक सृष्टि को हस्तामलकवत् आरम्भ से इस प्रकार खोलता चलता है कि मायावी अविद्या सब जगह से अपनी यवनिका उठाकर पाठक को सत्य का दर्शन कराती चलती है। इसे ध्यान से पढ़ने से मनुष्य के रूपान्तर की क्रिया रुक नहीं पाती। हम देख और समझ लेते हैं कि हमारे भीतर बैठी आत्मा किस आनन्द-नाटक के लिए अपनी पूर्णावस्था से इस महागर्त्त में पतित हुई थी और अब कैसे नानात्व की यह कंचुकी त्याग कर पुनः केन्द्रमुखी होकर सारे दुःखों का निदान ला सकती है। बस अपने को निरीह नगण्य और निराशा-भ्रष्ट समझनेवाला मनुष्य न जाने कितना विशाल बन जाता है। सम्पूर्ण अज्ञानान्धकार घुलते-घुलते और चमकते-चमकते एक शाश्वत दिवस में बदल जाता है। यह सब इतने तर्कसंगत और वैज्ञानिक विचार-दर्शन के द्वारा निर्दशित किया गया है कि आधुनिक और नास्तिक-से-नास्तिक भी एक चमत्कारी ढंग से विनम्र और समित्पाणि बनकर इसे स्वीकार करता है। 'सावित्री' की कथा, काव्य और छन्द-सौन्दर्य तथा उसकी अद्भुत प्रतीक-शैली के विषय में इतने संक्षेप में कुछ कहना न्याय करना न होगा। अच्छा यही होगा कि पाठक स्वयं उसे पढ़कर उसके मान्त्रिक शब्दों की कुण्डलिनियों को खुल-खुलकर अपने मन और प्राणों में फैलकर भर जाने दें और उन्हें आनन्द के द्वारा अपनी पूर्णता प्राप्त करने के लिए खुले रूप से छोड़ दें।

हाँ, अश्वपति और सावित्री जैसे मुख्य पात्रों पर विचार करना असमीचीन न होगा। यह तो स्पष्ट ही है कि 'सावित्री' में अश्वपति का योग अपनी सन्तति के लिए तपस्या करना नहीं था। अश्वपति और सावित्री का योग अपने लिए नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानवता के लिए है, जिससे पृथ्वी पर दिव्य साम्राज्य उतारा जा सके। यथार्थ में तो यह योग स्वयं श्रीअरविन्द और श्रीमाताजी का ही योग है। इसीलिए, अश्वपति के योग ने ग्रन्थ का तिहाई भाग और सावित्री के योग तथा मृत्यु के साथ अग्निल संवाद ने तिहाई भाग घेर रखा है।

पुस्तक में ८०० पृष्ठ हैं और प्रति पृष्ठ में ३२ पंक्तियाँ। सारी पुस्तक अपनी मार्मिकता में गीत का आनन्द देती है और समाधि का सुख। सावित्री—वेदों के सविता, अर्थात् सत्य के क्रियाशील सूर्य की सन्तति है और इस प्रकार क्रियात्मक सत्य की प्रकाशभागा माता है। अश्वपति का अर्थ है अश्वों का राजा। अश्व वेदों में क्रियात्मक प्राणशक्ति का प्रतीक है। अश्वपति इस पृथ्वी की वेगवती प्राणशक्ति की अभीप्सा का प्रतिनिधि है।

योगी और सम्राट् अश्वपति एक दिव्य यात्री है। प्रथम पुस्तक में वह अन्तर के लोकों की और दूसरी पुस्तक में विश्व-विस्तार की, अर्थात् विश्व-चेतना के फैले सूक्ष्म लोक-लोकान्तरों की यात्रा करता है। वह चेतना के पर्वत-पर-पर्वत चढ़ता चला जाता है। यहाँतक कि वह आदिमाता के लोक में पहुँचकर अद्भुत यौगिक तपस्याओं और ज्वलन्त प्रार्थनाओं से उन्हें प्रसन्न करके धरती पर स्वयं प्रकट होने की स्वीकृति प्राप्त करता है; क्योंकि बिना पूर्णावतार के पृथिवी की समस्याएँ कभी हल नहीं हो सकतीं। उसी के फलस्वरूप सावित्री अश्वपति के घर मानव-कुल को तारने लिए मानव के दुःखों और पीडाओं के बीच मानव-कुल में ही उत्पन्न होती है। सावित्री-सत्यवान् नये युग का निर्माण करते हैं।

पहले ही सर्ग में चतुर लेखक की भाँति लेखक ने सत्यवान् की मृत्यु के प्रतीक के मिस जगत् की सारी भयापन्न दुःखकातर समस्याओं का सावित्री के सामने अनावरण कर दिया है। इस कठिन समस्या का समाधान करने के लिए ही सारी कथा प्रारम्भ होती है। मृत्यु क्या है? वह कहाँ से आई? उसकी आवश्यकता क्या थी? उसे कैसे जीता जा सकता है? जीतनेवाले को क्या-क्या करना होगा? क्या-क्या सहना होगा? बस, इसी के लिए अश्वपति के योग, सावित्री के जन्म, स्वयं अपने वर की खोज के लिए सावित्री की यात्रा, सत्यवान् की मृत्यु और फिर सावित्री की मृत्यु पर विजय आदि की कथा चल निकलती है। आजतक दार्शनिकों ने परलोक-मुखता को ही मृत्यु-भय से बचने का उपाय बताया है, जिसमें जीवन के लिए स्थान ही नहीं है। श्रीअरविन्द का योग प्रकृति में छिपी शक्तियों की सारी सम्भावनाओं को कार्यरत करा देने की कला ही तो है। इसी से सावित्री को जीवन का वह हल नहीं चाहिए, जो सुनसान, जीवन-विरोधी और अकेला हो। सवित्री तो पृथ्वी पर असम्भव कार्य को भी सम्भव बनाने आई है। वह अपने दिव्य प्रेम के द्वारा ही जीवन में मृत्यु को जीतकर दैवी विजय का ध्वज फहराना चाहती है। इसलिए, दिव्य प्रेम ने उसके हृदय को अपना पावन और विशाल निवास-स्थल बनाया है।

श्रीअरविन्द-आश्रम
पाण्डिचेरी

●●

एक युग समाप्त हो गया !

राष्ट्रपति डॉ० श्रीसर्वपल्ली राधाकृष्णन्

जवाहरलाल नेहरू मानव-जाति के एक महान् मुक्तिदाता तथा स्वातन्त्र्य-संग्राम के प्रसिद्ध सेनानी थे। आधुनिक भारत के निर्माण में उनका महान योगदान रहा। प्रधान-मन्त्रित्व-काल में उन्होंने देश को प्रगतिशील वैज्ञानिक तथा असाम्प्रदायिक बुनियाद पर खड़ा करने का प्रयास किया। उन्होंने सामाजिक राजनीतिक संस्थाओं को नवजीवन प्रदान किया। विश्व-शान्ति में उनकी असीम आस्था थी। एक विश्व-समुदाय के सिद्धान्त में उनकी जितनी आस्था थी, उतनी आस्था अन्य किसी की भी नहीं।

नेहरू के साहस, व्यक्तित्व और उनकी बुद्धिमानी ने देश को एक सूत्र में आबद्ध किया। हमलोगों को उनके गुणों का अनुसरण करना चाहिए। अगर हम उनके गुणों का अनुसरण करें, तो उनके प्रति इससे बढ़कर श्रद्धांजलि और नहीं हो सकती।

नेहरू के सक्रिय सार्वदेशिक नेतृत्व के बिना भारत के स्वरूप का चिन्तन लगभग असम्भव-सा लगता है। उनके निधन से भारतीय इतिहास का एक युग समाप्त हो गया।

मानव के रूप में नेहरू में चिन्तन की सुकुमारता, भावों की अद्वितीय कोमलता और महान् एवं उदार प्रवृत्तियों का अद्भुत सम्मिश्रण था। वे विख्यात लेखक थे। उनके आत्मचरित में उनके जीवन और उनके संघर्षों की जो कहानी दी गई है, उसमें न तो आत्मप्रतारणाओं का स्पर्श है और न नैतिक अहम्मन्यता का।

नेहरू मानव-जीवन के उच्चतर स्तरों के लिए संघर्षशील रहे। उन्होंने अपने आदर्शों की ज्योति सर्वसाधारणों के हृदयों में जगाई। उन्होंने भारतीयों की एक सम्पूर्ण पीढ़ी का निर्माण किया, उसे प्रेरणा दी और उसे जगाया, सँवारा। उन्होंने इस पीढ़ी के मन में उन प्रमुख सिद्धान्तों के प्रति आस्था बनाई, जो उन्हें अत्यधिक प्रिय थे।

उनका जीवन आराम और सुरक्षा के बीच आरम्भ हुआ। लेकिन, उन्होंने राष्ट्रीय संघर्ष में अपने-आपको पूरी तरह समर्पित कर दिया और वे गांधीजी के बाद हमारे सबसे बड़े नेता हो गये। सन् १९४७ ई० में भारत की समस्या के अन्तिम समाधान के लिए उन्होंने जो कुछ किया, वह भारत के ताजा इतिहास का अंग बन चुका है।

नेहरू का सदा विश्वास था कि भारत को विश्व के अन्य देशों से पृथक् करके नहीं रखा जा सकता। स्वाधीनता के आगमन के पहले ही वे बराबर इस बात पर बल देते रहे हैं कि भारत की समस्या विश्व के तमाम वैसे लोगों की समस्या का प्रश्न है, जिनका दमन किया जा रहा है और जो उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। उनके मन में मुक्ति की कामना केवल अपने ही लोगों के लिए नहीं, बल्कि विश्व के सभी लोगों के लिए थी। इसलिए अफ्रिका, एशिया और दक्षिण-अमेरिका में जहाँ कहीं भी कोई मुक्ति-आन्दोलन हो रहा हो, उसके लिए उनके मन में सहानुभूति और समर्थन का भाव रहता था। उन्हें वर्ग, सम्प्रदाय या देश का विचार किये बिना सभी की मुक्ति में आस्था थी।

वे अनुभव करते थे कि इस आणविक युग में युद्ध का अर्थ होगा सभ्यता के सारे गुणों का विनाश। इसीलिए, वे मानते थे कि आज के विभ्रान्त विश्व में राजनीतिज्ञ को अगर कुछ करना है, तो यही कि तनाव और संघर्ष कम किया जाय और सद्भाव तथा पारस्परिक सामंजस्य का वातावरण बनाया जाय, जिससे युद्ध की विभीषिका का सहारा लिये बिना अन्तरराष्ट्रीय मतभेद दूर किये जा सकें। [आकाशवाणी-भाषण]

●

श्रीनेहरू ने अपना शरीर छोड़ा, परन्तु उनकी आत्मा भारत की आत्मा के साथ एकमेक होकर अनन्तकाल तक रहेगी। —श्रीमाताजी (श्रीअरविन्दाश्रम, पाण्डिचेरी)

●●

वसीयत : स्व० श्रीजवाहरलाल नेहरू की

२१ जून, १९५४ ई० में लिखी गई श्रीनेहरू की वसीयत से जनता के प्रति उनके हार्दिक स्नेह तथा मृत्यु-पर्यन्त यथाशक्ति अधिक-से-अधिक सेवा करने की दृढ इच्छा प्रकट होती है। श्रीनेहरू की वसीयत के कुछ अंश नीचे दिये जाते हैं :

मुझे मेरे देश की जनता ने, मेरे हिन्दुस्तानी भाइयों और बहनों ने इत्ता प्रेम और इत्ती मुहब्बत दी है कि चाहे मैं जित्ता कुछ करूँ, वह इसके एक छोटे-से-छोटे हिस्से का बदला नहीं हो सकता। सच तो यह है कि प्रेम इत्ती कीमती चीज है कि इसके बदले कुछ देना मुमकिन नहीं है। इस दुनिया में बहुत-से लोग हुए, जिनको अच्छा समझकर, बड़ा मानकर, उनका आदर किया गया, पूजा गया—लेकिन भारत के लोगों ने, छोटे और बड़े, अमीर और गरीब, सब तबकों के बहनों और भाइयों ने मुझे इत्ता ज्यादा प्यार किया कि जिसका बयान करना मेरे लिए मुश्किल है और जिससे मैं दब गया। मैं आशा करता हूँ कि मैं अपने जीवन के बाकी वर्षों में अपने देशवासियों की सेवा करता रहूँ और उनके प्रेम के योग्य रहूँ।

बेशुमार दोस्तों और साथियों के मेरे ऊपर और भी ज्यादा एहसानात हैं। हम बड़े-बड़े कामों में एक दूसरे के साथ रहे, शरीक रहे, मिल-जुलकर काम किये। यह तो होता ही है कि जब बड़े काम किये जाते हैं, उनमें सफलता भी होती है, नाकामयाबी भी होती है, मगर हम सब शरीक रहें सफलता की खुशी में और नाकामयाबी के दुःख में भी।

मैं चाहता हूँ और मन से चाहता हूँ कि मेरे मरने के बाद कोई धार्मिक रस्में न अदा की जायँ। मैं ऐसी बातों को मानता नहीं हूँ और सिर्फ रस्म समझकर इनमें बँध जाना धोखे में पड़ना मानता हूँ। जब मैं मर जाऊँ, तो मेरी इच्छा है कि मेरा दाह-संस्कार कर दिया जाय। अगर मैं विदेश में मरूँ, तो मेरे शरीर को वहीं जला दिया जाय और अस्थियाँ इलाहाबाद भेज दी जायँ। इनमें से मुट्ठी-भर गंगा में डाल दी जाय और उनके बड़े हिस्से के साथ क्या किया जाय, मैं आगे बता रहा हूँ। इनका कुछ भी हिस्सा किसी हालत में बचाकर न रखा जाय।

गंगा में अस्थियों का कुछ हिस्सा डलवाने की इच्छा के पीछे, जहाँतक मेरा ताल्लुक है, कोई धार्मिक खयाल नहीं है। इसके बारे में मेरी कोई धार्मिक भावना नहीं है। मुझे बचपन से गंगा और यमुना से लगाव रहा है और जैसे-जैसे मैं बड़ा हुआ, यह लगाव बढ़ता रहा। मैंने मौसमों के बदलने के साथ इनके बदलते हुए रंग और रूप को देखा है और कई बार मुझे याद आई उस इतिहास की, उन परम्पराओं की, पौराणिक गाथाओं की और उन गीतों और कहानियों की, जो कि कई युगों से उनके साथ जुड़ गई हैं और उनके बहते हुए पानी में घुल-मिल गई हैं।

गंगा तो विशेषकर भारत की नदी है, जनता की प्रिय है, जिससे लिपटी हुई हैं भारत की जातीय स्मृतियाँ, उसकी आशाएँ और उसके भय, उसके विजयगान, उसकी विजय और पराजय। गंगा तो भारत की प्राचीन सभ्यता का प्रतीक रही है, निशानी रही है, सदा बदलती, सदा बहती, फिर वही गंगा की गंगा। वह मुझे याद दिलाती है हिमालय की बर्फ से ढकी चोटियों की और गहरी घाटियों की, जिनसे मुझे मुहब्बत रही है और उसके नीचे के उपजाऊ और दूर-दूर तक फैले मैदान की, जहाँ काम करते मेरी जिन्दगी गुजरी है।

मैंने सुबह की रोशनी में गंगा को मुस्कराते, उछलते-कूदते देखा है और देखी है शाम के साये में उदास, काली-सी चादर ओढ़े हुए भेद-भरी जाड़ों में सिमटी-सी आहिस्ता-आहिस्ता बहती सुन्दर धारा और बरसात में दहाड़ती-गरजती हुई समुद्र की तरह चौड़ा सीना लिये और सागर को बरबाद करने की शक्ति लिये हुए। यही गंगा मेरे लिए निशानी है भारत की प्राचीनता की यादगार की, जो बहती आई है वर्त्तमान तक और बहती चली जा रही है भविष्य के महासागर की ओर।

भले ही मैंने पुरानी परम्पराओं, रीति और रस्मों को छोड़ दिया हो, और मैं चाहता भी हूँ कि हिन्दुस्तान इन सब जंजीरों को तोड़ दे, जिनमें वह जकड़ा है, जो उसको आगे बढ़ने से रोकती हैं और जो देश में रहनेवालों में फूट डालती हैं, जो बेशुमार लोगों को दबाये रखती हैं और जो शरीर और आत्मा के विकास को रोकती हैं। चाहे यह सब मैं चाहता हूँ, फिर भी मैं यह नहीं चाहता कि मैं अपने को इन पुरानी बातों से बिलकुल अलग कर लूँ।

मुझे फख्र है इस शानदार उत्तराधिकार का, इस विरासत का, जो हमारी रही है और हमारी है और मुझे यह अच्छी तरह से मालूम है कि मैं भी सबकी तरह इस जंजीर की एक कड़ी हूँ, जो कि कभी नहीं और कहीं नहीं टूटी है और जिसका सिलसिला हिन्दुस्तान के अतीत इतिहास के प्रारम्भ से चला आता है। यह सिलसिला मैं कभी नहीं तोड़ सकता; क्योंकि मैं इसकी बेहद कद्र करता हूँ और इससे मुझे प्रेरणा, हिम्मत और हौसला मिलता है। अपनी इस आकांक्षा की पुष्टि के लिए और भारत की संस्कृति को श्रद्धांजलि भेंट करने के लिए, मैं यह दरख्वास्त करता हूँ कि मेरी भस्म की एक मुट्ठी इलाहाबाद के पास गंगा में डाल दी जाय, जिससे कि वह उस महासागर में पहुँचे, जो हिन्दुस्तान को घेरे हुए है।

मेरी भस्म के बाकी हिस्से का क्या किया जाय। मैं चाहता हूँ कि इसे हवाई जहाज में ऊँचाई पर ले जाकर बिखेर दिया जाय, उन खेतों पर, जहाँ भारत के किसान मिहनत करते हैं, ताकि वह भारत की मिट्टी में मिल जाय और उसी का अंग बन जाय।

विचार-विनिमय

'साहित्यशास्त्र' पर एक प्रोफेसर साहब*

[?]

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक 'परिषद्-पत्रिका' के १२वें अंक के पृ० १२० में पटना-विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्रीगोपालराय द्वारा लिखित डॉ० श्रीमुंशीराम शर्मा की पुस्तक 'साहित्यशास्त्र' पर एक समीक्षा प्रकाशित हुई है। श्रीगोपालराय को निश्चय ही यह समीक्षा लिखने के बाद तृप्ति का अनुभव हुआ होगा—उसके प्रकाशित हो जाने पर तो परम तृप्ति का। जहाँ द्वेष अपना परिहार पा जाता है, वहाँ सचमुच ही आदमी को हल्के हो जाने का थोड़ा बहुत सुख मिल जाता है। गोपाल रायजी का नाम कभी-कभी पत्र-पत्रिकाओं में देखने को मिल जाता है, इसीलिए उनके 'साहित्यशास्त्र' की ज्ञान-गहराई पर यहाँ विचार करने की इच्छा हुई। इस समीक्षा में यदि गोपालरायजी का द्वेष न होता, तो वे ही सोचें, भला इतनी भ्रान्त एवं निर्मूल बातें वे क्यों लिखते। 'साहित्यशास्त्र' को लेकर उनकी प्रमुख आपत्तियाँ ये हैं :

१. विवेचन का स्तर सामान्य और प्रारम्भिक स्तर का है। २. काव्यशास्त्र के गम्भीर जिज्ञासुओं को इसे पढ़कर निराश और क्षुब्ध ही होना पड़ेगा। ३. एक विश्व-विद्यालय में हिन्दी-प्राध्यापक होने के नाते यह बात साधिकार कह सकता हूँ कि इसे पढ़कर एम्० ए० के छात्रों की बात तो दूर रहे, स्नातक (सम्मान) के छात्र भी अच्छे अंक नहीं प्राप्त कर सकते। ४. साहित्य का साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि काव्य केवल पद्य में ही नहीं होता। यदि ऐसा हो, तो समस्त श्रव्य काव्य को काव्य की सीमा से बाहर कर देना होगा। ५. भट्टलोल्लट को भरतकृत नाट्यशास्त्र का टीकाकार बताया गया है, जो सर्वथा निराधार है। ६. विवेच्य पुस्तक में विषय-सम्बन्धी व्यापकता के बावजूद क्रमबद्ध विवेचन का भी नितान्त अभाव दीख पड़ता है। ७. 'काव्य का स्वरूप' शीर्षक निबन्ध में अँगरेजी आलोचकों द्वारा प्रदत्त लक्षणों का संकलन कर दिया गया है। लेखक ने इन परिभाषाओं की युक्तियुक्तता पर विचार नहीं किया है। ८. एक निबन्ध का शीर्षक दिया हुआ है 'बहिरंग' (पृ० १३८), जो समझ से सर्वथा बाहर है। ९. एक दूसरे निबन्ध का शीर्षक है 'साइन्स और साहित्य'। हिन्दी में विज्ञान शब्द खूब प्रचलित है। पता नहीं, लेखक ने विज्ञान के स्थान पर साइंस शब्द का प्रयोग करके किस नवीन अर्थ को व्यंजित करने का प्रयत्न किया है।

समीक्षक महोदय की इन आपत्तियों में हमने जान-बूझकर डॉ० मुंशीराम शर्मा के उन 'दो वाक्यों' को यहाँ नहीं प्रस्तुत किया, जिनकी अर्थवत्ता पर समीक्षक को सन्देह है।

*इस प्रसंग के बाद ही 'प्रोफेसर साहब' (डॉ० श्रीगोपाल राय) की प्रतिक्रिया भी 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' की दृष्टि से दे दी गई है। साथ ही, इस सम्बन्ध की चर्चा का क्रम अब आगे न बढ़ाने के खयाल से इसे यहीं समाप्त किया जाता है।—सं०

पाठकों की सुविधा के लिए हम प्रो० श्रीगोपालराय की प्रत्येक आपत्ति का उत्तर ऊपर दिये संख्याक्रम में ही दे रहे हैं।

१. विवेचन का स्तर कितना भी सामान्य और प्रारम्भिक स्तर का क्यों न हो, श्रीगोपालराय की समझ से तो निश्चय ही ऊपर का है। इसका प्रमाण पाठक उनकी ही आपत्तियों पर दिये गये हमारे उत्तरों में प्राप्त कर लेंगे।

२. काव्यशास्त्र के गम्भीर जिज्ञासुओं को इसे पढ़कर निराश और क्षुब्ध न होना पड़ेगा। जिन्हें काव्यशास्त्र का क ख ग भी नहीं मालूम, उन्हें ही निराश और क्षुब्ध होना पड़ेगा, इसका प्रमाण श्रीगोपालरायजी स्वयं है।

३. एम्० ए० के छात्र क्या, बी० ए० के छात्र भी इस पुस्तक को पढ़कर अच्छे अंक नहीं प्राप्त कर सकते, क्यों? इसलिए कि पुस्तक में विवेचित विषयों का व्याख्यान कहीं-कहीं बी० ए०, एम्० ए० की पाठ्य-परिधि से बाहर और ऊपर चला गया है? किन्तु, समीक्षक महोदय की शायद इससे विभिन्न ध्वनि है। वे विषय-विवेचन को अशुद्ध ठहराकर छात्रों के अंक घटवाना चाहते हैं। किन्तु, छात्रों को तो इस पुस्तक को पढ़कर अंक मिल भी सकते हैं। हाँ, समीक्षक का यह प्रयास एक अंक पाने का भी अधिकारी नहीं है।

४. इस आपत्ति को पढ़कर दुःख हुआ। पुस्तक का जितना अंश समीक्षक ने उद्धृत किया है, उसके आगे पुस्तक में यह लिखा है कि 'पद्य में सार्थक शब्दसमूह लय के नपे-तुले ढंग पर रखे जाते हैं। तो क्या पद्यात्मक सार्थक शब्द काव्य है? नहीं, यह तो आयुर्वेद आदि शास्त्रों की भी विशेषता है। वे भी पद्य में लिखे गये हैं। काव्य को पद्यात्मक शास्त्रों से पृथक् करनेवाला तत्त्व उसका भावपरक होना है।' अब समीक्षक महोदय देखें कि किसी विषय का अपूर्ण अवलोकन कितनी गम्भीर भ्रान्तियों को जन्म दे सकता है। यह बात साफ है कि समीक्षक ने जब इस निबन्ध की चार पंक्तियाँ मात्र पढ़कर अपनी मूल्यवान् सम्मति पाठकों को अर्पित कर दी, तो पूरी पुस्तक उन्होंने पढ़ी होगी, इसमें सन्देह है। तब फिर पुस्तक पर व्यक्त की गई श्रीराय की इस धारणा को हम भ्रामक एवं निराधार मानें, तो समीक्षक को भी क्या आपत्ति होगी। समीक्षक की विना पढ़े-लिखे सम्मति देकर विद्वान् बनने की आतुरता की हम अवश्य श्लाघा करते हैं।

५. समीक्षकजी डॉ० मुंशीराम शर्मा की इस मान्यता का प्रत्याख्यान करते हैं कि भट्टलोल्लट भरतकृत नाट्यशास्त्र के टीकाकार थे। किन्तु, समीक्षक महोदय की सूचना के लिए हमारा निवेदन है कि लोल्लट के टीका करने की क्षमता पर वे सन्देह न करें। शायद उन्हें ज्ञात नहीं कि टीकाकार से आगे लोल्लट नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार थे। शार्ङ्गदेव ने अपने संगीतरत्नाकर में भरतसूत्र के व्याख्याकारों में लोल्लट का स्मरण किया है:

व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्त्तिधरोऽपरः॥

अभिनवगुप्त ने अपनी 'अभिनवभारती' नामक कृति में भट्टलोल्लट की व्याख्या को पर्याप्त रूप में स्मरण किया है।

प्रोफेसर साहब यह तो समझते ही होंगे कि प्रत्येक व्याख्याकार अपनी व्याख्या की पहली अवस्था में टीकाकार होता है। व्याख्या टीका से आगे की अवस्था है। मेरी सलाह है कि प्रोफेसर साहब श्री पी० वी० काणे का 'हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयटिक्स' में भरत के नाट्यशास्त्रवाला अंश पढ़ लें।

६. विषय-विवेचन के क्रम पर हम समीक्षक की आपत्ति समझ नहीं सके। यह भी अच्छा ही हुआ; किन्तु इतने से यह परिचय तो मिल ही जाता है कि प्रोफेसर साहब को 'साहित्यशास्त्र' का अध्ययन और गम्भीरतापूर्वक करना चाहिए। विना ऐसा किये डॉ० मुंशीराम शर्मा जैसे शीर्षस्थ विद्वानों तथा 'साहित्यशास्त्र' जैसे गम्भीर विषय पर निराधार आपत्तियाँ प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं करना चाहिए था।

७. इस आपत्ति को देखकर भी यही प्रतीत होता है कि समीक्षक ने 'काव्य का स्वरूप' शीर्षक निबन्ध पूर्णतया पढ़ा नहीं। वहाँ अँगरेजी-आलोचकों के द्वारा दिये गये लक्षणों का संकलन तो है, किन्तु वह संकलन वर्गीकृत है। एक-एक वर्ग के अन्तर्गत उसमें आनेवाले मत सन्निविष्ट किये गये हैं। एक-एक मत की अलग-अलग व्याख्या करने से यह निबन्ध न रहकर पुस्तक का कलेवर ग्रहण कर लेता और निबन्ध की सत्ता समाप्त हो जाती। फिर भी, अन्त में सभी परिभाषाओं की निष्कर्षात्मक व्याख्या की गई है। समीक्षक महोदय वहाँ वर्गीकरण की वैज्ञानिकता और मनोवैज्ञानिकता को एक बार पुनः देखें, तो उनकी आपत्ति स्वतः उनके लिए शमन बन जायगी।

८. समीक्षकजी का अन्धेरखाता और अन्धप्रयत्न इस आपत्ति में विशेषतः द्रष्टव्य है। उनका कहना है कि पृ० १३८ में एक निबन्ध का शीर्षक 'बहिरंग' दिया गया है, जो समझ में नहीं आता। 'बहिरंग' किसी निबन्ध का शीर्षक नहीं है, काव्य के अंतरंग एवं बहिरंग पक्षों में से यह एक का नाम है। निबन्ध का शीर्षक नहीं, काव्य के एक पक्ष का संकेतक है। यह तो पुस्तक के सूचीपत्र से भी समीक्षक को ज्ञात हो सकता था। पर, इन सबके लिए समय कहाँ और समय हो भी, तो धैर्य कहाँ।

९. साइंस शब्द के स्थान पर विज्ञान शब्द का प्रयोग क्यों किया गया ? मेरे विचार से शब्द में नादजन्य व्यंजना उत्पन्न करने के प्रयोजन से ही ऐसा लेखक ने किया; क्योंकि साइंस के बाद साहित्य शब्द है। साइंस और साहित्य में नाद-सौन्दर्य की प्रतीति कराना ही वहाँ प्रधान था। जहाँतक प्रचलित होने का प्रश्न है, साइंस शब्द विज्ञान से कम प्रचलित नहीं है।

अब आइए उस वाक्य पर, जिसमें समीक्षक को असंगति का दर्शन हो रहा है। हमें इस वाक्य में कोई असंगति समझ में नहीं आई : "विचार काव्य में वह सामग्री है, जिसे कवि अपने पाठकों तक पहुँचाना चाहता है। वाल्मीकिरामायण या रामचरितमानस में यह सामग्री राम का वृत्त है।" पाठक भी विचार करें, डॉ० मुंशीराम शर्मा के वाक्य में क्या असंगति है। किन्तु, समीक्षक महोदय का एक वाक्य हम यहाँ प्रस्तुत करना समीचीन समझते हैं, जिसमें असंगति अवश्य है : "विवेचन का स्तर सामान्य और प्रारम्भिक

स्तर का है।" समीक्षक के इस वाक्य में यदि 'स्तर' शब्द दो बार न प्रयुक्त होता, तो क्या हानि थी। वस्तुतः, उसके दो बार प्रयोग से व्याकरण की हानि अवश्य हुई है।

खेद है कि अनर्गल, निराधार तथा अप्रामाणिक निष्कर्षों को यदि हिन्दी-समीक्षा में इसी प्रकार स्थान मिलता रहा, तो उसका भविष्य तिमिराच्छन्न ही रहेगा।

हिन्दी-विभाग, डी० ए० वी० कॉलेज —डॉ० व्रजलाल वर्मा
१४/३८ सिविल लाइन्स, कानपुर

[??]

संस्कृत में एक उक्ति है, 'जीवितकवेराशयो न वर्णनीयः। इस नेक सलाह को न मानने का परिणाम है डॉ० व्रजलाल वर्मा की 'साहित्यशास्त्र पर एक प्रोफेसर साहब' शीर्षक प्रत्यालोचना।

लाचारी यह है कि आज की परिस्थिति में 'जीवितकवेः...' वाली सलाह को मानना बहुत सम्भव नहीं है। मुद्रण-यन्त्र के इस युग में जबकि अच्छी पुस्तकें कम और कूड़ा-करकट अधिक छपता है, आधुनिक आलोचना की एक प्रमुख समस्या अच्छी पुस्तकों को बुरी पुस्तकों से अलग करना भी है। पुस्तक-समीक्षक इसी दायित्व को निभाने का प्रयत्न करता है; पर समीक्षक की स्थिति आज कितनी नाजुक हो गई है, इसका आभास डॉ० वर्मा के पत्र से मिलता है। आप कूड़े को कूड़ा नहीं कह सकते। कहिएगा, तो पुस्तक-लेखक या उसके किसी चेले का डंडा सहने के लिए आपको तैयार रहना पड़ेगा। यही कारण है कि आज हिन्दी में पुस्तक-समीक्षा के नाम पर केवल पुस्तक-प्रशस्ति ही लिखी जाती है। कुछ लोगों की यह शिकायत व्यर्थ है कि आज लोग विना किसी पुस्तक को पढ़े ही समीक्षा लिख डालते हैं। मेरी धारणा है कि समीक्षक के लिए इससे बढ़कर अनुकूल कोई बात नहीं हो सकती। जब केवल प्रशंसा ही लिखनी है, तो पुस्तक पढ़ना, न पढ़ना दोनों बराबर हैं।

मैंने भूल की कि 'परिषद्-पत्रिका' (जनवरी, १९६४ ई०) में डॉ० मुंशीराम शर्मा-कृत 'साहित्यशास्त्र' और श्रीनरेश चतुर्वेदी-कृत 'साहित्य-चिन्तन' की समीक्षाएँ पुस्तकों को भली भाँति पढ़कर लिखीं। डॉ० वर्मा ने मुझपर आरोप लगाया है कि मैंने 'साहित्य-शास्त्र' की समीक्षा द्वेष से परिचालित होकर लिखी है। डॉ० मुंशीराम शर्मा से मेरा दूर का भी परिचय नहीं है, फिर मेरा उनसे द्वेषभाव कब, कैसे और कहाँ हो गया, यह बात खुद मेरी समझ में नहीं आती। यदि समीक्षा के आधार पर मुझपर यह आरोप लगाया गया है, तब तो यह भी कहा जायगा कि श्रीनरेशचन्द्र चतुर्वेदी मेरे मित्र होंगे, जबकि चतुर्वेदीजी के नाम से मेरा परिचय उनकी पुस्तक की समीक्षा लिखते समय ही हुआ।

डॉ० वर्मा के आक्षेपों का उत्तर देना मैं नहीं चाहता। मेरी समझ से उनका उत्तर इतना स्पष्ट है कि 'परिषद्-पत्रिका' के किसी भी पाठक को उन्हें पाने के लिए विशेष नहीं सोचना पड़ेगा। अपशब्दों का उत्तर अपशब्दों से देकर मैं अपने को डॉ० वर्मा का

समकक्ष नहीं बनाना चाहता। इतना जरूर कहना चाहता हूँ कि समीक्षा किसी प्रकार की व्यक्तिगत भावना से परिचालित होकर मैंने नहीं लिखी थी। पुस्तक पढ़कर मेरे मन में जो प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हुईं, उन्हें मैंने यथासम्भव संयत और शिष्ट भाषा में रखने का प्रयत्न किया। जहाँतक मेरी योग्यता का प्रश्न है, मैं उसके बारे में खुद क्या कहूँ। 'साहित्यशास्त्र' का पण्डित होने का दावा मैंने न कभी किया है और न करता हूँ। यह दावा तो कदाचित् डॉ० मुंशीराम शर्मा या डॉ० व्रजलाल वर्मा का ही हो। हाँ बी० ए०, एम्० ए० के छात्रों का काव्यशास्त्र का ज्ञान किस स्तर का हो, इसकी जानकारी मुझे है और भगवान् ने इतना समझने की बुद्धि तो जरूर दी है कि कौन पुस्तक गम्भीर है और कौन छिछली।

मैंने अपनी समीक्षा में जो बातें लिखी हैं, वे सप्रमाण हैं। डॉ० व्रजलाल वर्मा का भी यही दावा होगा। अब 'परिषद्-पत्रिका' के पाठकों का काम है—मैं यह स्वीकार करता हूँ कि इस निरर्थक विवाद में अपने को उलझाना समय और शक्ति का अपव्यय है—कि वे यह निर्णय करें कि किसके प्रमाणों में दम है।

मेरा एक सन्देह है। कहीं डॉ० मुंशीराम शर्मा और उनकी उक्त पुस्तक के सम्पादक यह विवाद उठाकर अपनी पुस्तक को महत्त्वपूर्ण तो नहीं बनाना चाहते?

हिन्दी-विभाग, पटना-कॉलेज **—डॉ० गोपाल राय**

●

'परिषद्-पत्रिका', वर्ष ४, अंक १ : विद्वानों के अभिमत

[१]

'परिषद्-पत्रिका' के चौथे वर्ष का प्रथमांक यथासमय मिला, अतः अनेकानेक धन्यवाद। अंक आद्यन्त उलट-पलट गया। घी-शक्कर के लड्डू-जैसा यह अंक भी बड़ा मीठा लगा। किस-किसकी सराहना करूँ। टिप्पणी-रूप 'लिपि की समस्या', 'संस्कृत और हिन्दी के कुछ विस्मृत आख्यात शब्द', 'शाकुन्तल की कुछ समस्याएँ', 'केरल की परम्परागत शस्त्रव्यायाम-शिक्षा' 'उर्दू-समालोचना पर एक दृष्टि', 'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण : आवश्यक परिमार्जन', 'खिड़िया जगा-कृत वचनिका : राठौड़ रतनसिंह महेसदासौत री', 'उपासना : एक विवेचन', 'कवि की दृष्टि' इत्यादि लेख, एवं 'विचार-विनिमय' में विभूषित ज्ञानमंडल, वाराणसी से प्रकाशित हिन्दी-साहित्यकोश (भाग २) की कतिपय त्रुटियों का संकेत तथा 'मधु-संचय' ('सम्मेलन-पत्रिका' का सम्पादकीय लेख—'हिन्दी में शोधकार्य') इतने लुभावने थे कि उन्हें बार-बार पढ़ना पड़ा। इस पठित साहित्य पर कुछ विचार मेरे मन में उठे, जो इस प्रकार हैं :

'हिन्दी-लिपि की समस्या' बहुत वृद्ध हो गई है। राजवंश (भारत-सरकार) उसे कथनी-करनी से परे नाना वक्तव्यों का 'टॉनिक' देने का दिखाऊ कर्त्तव्य-पालन करता है, पर वह अन्दर से अफीम दे-देकर उसे सुलाना ही चाहता है। इस सम्बन्ध में

उसके अनेक सुनहले कथन (वक्तव्य) संगृहीत किये जा सकते हैं, किन्तु वे बेकार हैं। श्रीजोशीजी का लेख 'हिन्दी के विस्मृत और आख्यात शब्द' अत्यन्त ज्ञानवर्द्धक है। क्या ही अच्छा हो, मान्यवर जोशीजी इस क्रम को आगे बढ़ाते रहें। व्यासजी का 'शाकुन्तल की कुछ समस्याएँ' लेख भी सुन्दर है, पर वह पूर्वचर्वित जैसा है। पहले भी श्रीव्यासजी-लिखित यह समस्या उठी थी और श्रीद्विजेन्द्रलाल राय (प्रसिद्ध बँगला-नाटककार) तथा श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी जैसे प्रसिद्ध साहित्य-स्नातकों द्वारा इसका यत्किंचित् समाधान भी हुआ था, पर उससे मन नहीं भरा था। कालिदास-काव्य के मर्मज्ञ डॉ० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० मिराशी, डॉ० सीताराम चतुर्वेदी जैसे मान्य विद्वान् इस ग्रन्थि को सुलझाने में सहयोग देने की कृपा करें, यही प्रार्थनीय है। मुनि कान्तिसागरजी का लेख 'आवश्यक परिमार्जन', जहाँ सत्य के साथ मार्मिक सुझावों के लिए उपयोगी तथा वन्दनीय कहा जा सकता है, वहाँ वह भ्रामक भी है।

श्रीकान्तिसागरजी द्वारा और भी हिन्दी-साहित्येतिहास की भूलों को दुहराया गया है, जो पहले से पथभ्रष्ट करती चली आ रही हैं। मुनिजी ने कुछ और अधिक प्रस्तुत की हैं; जैसे पृ० ७१ पर अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि 'कृष्णदास अधिकारी' को 'मुखिया' बना देना, जबकि वे वार्त्तानुसार 'अधिकारी' (व्यवस्थापक) थे, 'मुखिया' (सेवा करनेवाले) नहीं। अधिकारी और मुखिया उपाधियों में 'अन्तरं महदन्तरं...' होता है। श्रीगोकुलनाथजी-कथित श्रीकृष्णदासजी अधिकारी एवं कवि के प्रति आद्यन्त हिन्दी-साहित्येतिहासकारों ने एक महान् भूल की है कि सभी 'कृष्णदास' नामधारी कवियों की रचनाओं को अष्टछापी कृष्णदास अधिकारी के मत्थे मढ़ दिया है, जो वास्तव में उनके नहीं हैं। यही नहीं, उक्त लेख में कथित पं० रामचन्द्र शुक्लजी का यह कथन अति असंगत है कि 'अष्टछाप के अन्य कवियों के समान इनकी कविता नहीं है,' जबकि उनकी संकलित कृति 'कृष्णसागर' श्रीसूरदास-परमानन्ददास के सागरों की भाँति सुन्दर हस्त-लिखित रूप में मिलती है। लेख-चर्चित 'दानलीला' उनकी कोई पृथक् कृति नहीं, उनके 'सागर' की ही लोल लहरी है।

सूरसागर के प्रति भी मुनिजी की भ्रान्त धारणा है। पृ० ६८ पर पब्लिक लाइब्रेरी, भरतपुर की जिस प्रति का हवाला दिया गया है, वह भाषा की दृष्टि से सुन्दर नहीं कहा जा सकता। ऐसे भाषाभ्रष्ट उद्धरणों से—उद्धृत अवतरणों से, तद्गत भाषा के प्रति दीर्घकालीन विरक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसका परिणाम भयावह बन जाता है। यों तो मुद्रण-काल से ही व्रजभाषा के स्वरूप को बिगाड़ने का प्रयत्न नित्य नये रूपों में निरन्तर चल रहा है, और कौन कह सकता है कि वह आगे भी न चलेगा। सूरसागर की प्रति अब तो सूरकालीन सं० १६२९ वि० की भी मिल गई है, जो भाषा के मुख्य तत्त्वों—उसके शब्द, क्रिया और विभक्ति सभी से अपने-अपने रूपों में नमस्कृत हैं। श्रीनन्ददास (पृ० ७४) और सूरतमिश्र के प्रति भी कुछ भ्रामक बातें कही गई हैं। पृ० ७५ पर सूरतमिश्रजी के दोनों नामकुल-परिचायक दोहे भी भाषा की दृष्टि से सुन्दर नहीं हैं।

मधु-संचय में 'सम्मेलन-पत्रिका' (प्रयाग) से अपनाया गया। 'हिन्दी में शोधकार्य' कहने-सुनने को सुन्दर है, प्रयोग-रूप में नहीं। सम्मेलन इस कथित का स्वयं आचरण नहीं करता। उदाहरणार्थ, सम्मेलन से प्रकाशित कितनी ही पुस्तकों के नाम दिये जा सकते हैं। श्रीवियोगी हरिजी-लिखित 'व्रजमाधुरीसार' को ही लीजिए, आद्यन्त अशुद्ध है। सम्मेलन की कई परीक्षाओं में पाठ्य-पुस्तक होने के कारण उसके कई संस्करण हो चुके हैं, पर उसके संशोधन का कार्य आजतक न हुआ। श्रीमान् शोधकर्त्ताओं के निर्देशक ही नहीं, उनके 'परीक्षा-गुरु' भी शोध-निबन्धगत भाषा से अनभिज्ञ होते हैं। डॉ० धीरेन्द्रजी वर्मा तथा डॉ० जनार्दन मिश्र को व्रजभाषा तथा 'सूरदास का धार्मिक काव्य' पर विदेश (पेरिस) से डिगरियाँ मिलीं, भारत में नहीं। दोनों ही निबन्ध अपने-अपने कथित विषयों से विपरीत हैं। उद्धरण तो मूल से इतने विपरीत हैं कि क्या कहा जाय। भारत के विश्वविद्यालयों के व्रज-साहित्य को लेकर दिये गये 'डिगरी-निबन्धों' की भी यही दुर्दशा है। डॉ० दीनदयालु गुप्त, डॉ० मुंशीराम शर्मा, डॉ० हरिवंश, डॉ० रामधन शास्त्री इत्यादि महानुभावों के डिगरी-निबन्ध इसके उज्ज्वल उदाहरण हैं, जो भाषा, भाव और संगति से परे हैं।

अन्त में, 'परिषद्' द्वारा प्रकाशित एक पुस्तक-विशेष 'भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा' के सम्बन्ध में भी दो शब्द। भगवान् कृष्ण की चिरलीला-संगिनी आल्हादिनी शक्ति श्रीव्रजेश्वरी राधाजी पर श्रीबलदेव उपाध्यायजी-लिखित पुस्तक 'भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा' से पहले डॉ० श्रीशशिभूषणदास गुप्त-कृत 'राधा का क्रमविकास' और भक्तहृदय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, 'कल्याण'-सम्पादक द्वारा लिखित 'श्रीराधामाधव-चिन्तन' ये दो महान् ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे। श्रीउपाध्यायजी-कृत कृति इन्हीं का जोरा-बटोरा 'भाष्य' है, जो श्रद्धारहित हृदय से लिखा गया है। विविध साहित्योद्यान के अवतरण बहुत हैं, पर वे मनछूते नहीं। व्रजभाषा-पद्य तो इतने ऊबड़-खाबड़ रूपों में उपस्थित किये गये हैं कि उनका सारा माधुर्य तथा शब्द-शब्द का सौन्दर्य नष्ट हो गया है। एक ही पद्य में एक शब्द के दो-दो, तीन-तीन रूप अपनाये गये हैं। यही नहीं, जैन, व्रजवासी और सुजानप्रिय आनन्दघन-नामधारी तीनों व्रजभाषा-कवियों को एक ही साँचे में ढाल दिया गया है, फिर यह कवि-संज्ञा पद्यानुकूल 'आनन्दघन' रूप में नहीं, कटुरूप 'आनन्दघन' संज्ञा में ही सर्वत्र अपनाई गई है, जिससे पदपाठ की आवृत्ति में गतिभंग की असुन्दरता दीखने लगती है। अष्टछाप के श्रीनन्ददासजी जैसे शब्दों के जड़िया कवि की कृतियों को इतना विकृत रूप में प्रस्तुत किया गया है कि उन्हें देखकर दया आती है। द्विजदेवजी का एक ही छन्द उद्धृत किया गया है, वह भी अति विकृत!

कुआँवाली गली, मथुरा **—जवाहरलाल चतुर्वेदी**

[२]

'परिषद्-पत्रिका' के वर्ष ४, अंक १ में पं० श्रीसूर्यनारायण व्यास द्वारा शाकुन्तल के सन्दर्भ में उठाई गई समस्याओं पर विचार करते हुए लगता है कि ये समस्याएँ निराधार हैं। बाहर से जो कुछ तर्कसंगत लग रहा है, वह केवल इसलिए कि प्रस्तुत लेखक ने

कालिदास की एक स्थापना को उड़ा दिया है—'शकुन्तला को शाप से क्षण-भर के लिए न पहचानने की बात छोड़ भी दी जाय......।' आखिर क्यों ? आलोचना का यह ढंग कि 'यदि ऐसा हुआ होता', कहाँतक समीचीन है ? कुछ कल्पित प्रश्नों से ताल-मेल बैठाने के लिए किसी मूल स्थापना की अवहेलना क्यों ?

दुष्यन्त दो रूपों[1] में पाठकों के समक्ष उपस्थित होता है—१. दुष्यन्त अपने घर से बाहर शिकार खेलने निकला है। कुमारी शकुन्तला से उसकी भेंट होती है। सौन्दर्य के अतिरिक्त कौमार्य का भी आकर्षण है। दुष्यन्त आकृष्ट होता है। २. दुष्यन्त राज्यसिंहासन पर है—अपने दरबारियों और परिजनों के बीच। वह शापग्रस्त है, अपने पहले रूप को भूल चुका है।

उक्त दोनों स्थितियों के अनुरूप दुष्यन्त के चरित्र की विषमता क्या अनुचित है ? परनारी और कुमारी कन्या के प्रति क्या एक समान ही भावना होती है ? क्या विवाहेच्छा से एक राजा का कुमारी कन्या के प्रति आकृष्ट होना पाप है ? उस समय की परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में ही इन प्रश्नों पर विचार होना चाहिए। दुष्यन्त को कितना संयम प्रदर्शित करना चाहिए था, कितना रोष प्रकट करना चाहिए था, ऐसा तो नहीं लगता कि कालिदास ने इसपर विचार ही न किया हो। भरे दरबार में किसी पर यह आरोप कि मेरे उदर में पलता शिशु आपका है, क्या क्षुब्ध करने के लिए अपर्याप्त है ? हाँ, यह आरोप ही तो है दुष्यन्त के लिए, जबकि वह सब कुछ भूल चुका है। शापमुक्त होने के कुछ विधान होते हैं। उस विधान में आस्था और अनास्था का प्रश्न बाद में उठता है। पहले हम सबको यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि दुर्वासा का शाप न तो गौतमी की पुष्टि से टूटेगा, न कण्व के भेजे ऋषिपुत्रों के प्रवचन से। विदूषक का लोप शाप की स्थिति-निर्वाह के लिए आवश्यक भी है।

इसी प्रकार जितनी भी समस्याएँ व्यासजी ने उठाई हैं, वे शाकुन्तल की वास्तविक समस्या न होकर एक कल्पित स्थिति की समस्याएँ हैं।

क० मुं० हिन्दी-विद्यापीठ, **—विश्वजीत**
आगरा-विश्वविद्यालय

[३]

'परिषद्-पत्रिका' (वर्ष ४, अंक १) मिली। श्रीविश्वेश्वरनाथ रेउजी ने अपने लेख में जिस विषय की चर्चा की है, वह तो बहुचर्चित विषय है और उसको लेकर जैन-समाज में कई बार तूफान उठ चुका है। साहित्य-अकादमी, दिल्ली से प्रकाशित श्रीधर्मानन्द कौशाम्बी की पुस्तक 'महात्मा बुद्ध' में भी इसकी चर्चा है। उस पुस्तक को जप्त कराने का भी प्रयत्न किया गया था। इसके पूर्व भी बीस-पच्चीस वर्ष पहले श्वेताम्बर-समाज में उसके विरुद्ध घोर आन्दोलन उठा था। लेख के सब प्रमाण श्वेताम्बर-ग्रन्थों के दिये गये हैं। उन्हीं में उक्त

---

१. दो रूप का सीमित अर्थ में प्रयोग किया जा रहा है। केवल प्रस्तुत निबन्ध में आये सन्दर्भ की पुष्टि के लिए।—ले०

चर्चा मिलती है। दिगम्बर-ग्रन्थ 'सर्वार्थसिद्धि' में मांस-भक्षण को जो श्रुत का अवर्णवाद कहा है, उससे तो बराबर यही प्रमाणित होता है कि छठी शती में भी उक्त चर्चा रही है।

किन्तु, महावीर स्वामी जैसा कट्टर अहिंसक महापुरुष कैसे ऐसा कर सकता है? श्वेताम्बर-साहित्य में महावीर के सम्बन्ध में कई घटनाएँ ऐसी मिलती हैं, जो बुद्ध के जीवन की घटनाओं से मिलती हैं। बुद्ध ने 'सूकरमद्दव' खाया था, महावीर के सम्बन्ध में कपोतों की चर्चा है। बुद्ध की पत्नी का नाम यशोधरा था और महावीर की पत्नी का यशोदा। दिगम्बर-साहित्य में ये सब मान्यताएँ नहीं मिलतीं। अतः, उनके सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन करने की आवश्यकता है। आज तो श्वेताम्बर-समाज में से भी शायद कोई ही उक्त मांसभक्षण की मान्यता को स्वीकार करता हो। इसी से 'दुवे कवोदसरीरे' का अर्थ कूष्माण्ड आदि दिया जाता है, जो उचित प्रतीत होता है।

—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

स्याद्वाद-महाविद्यालय,
भदैनी, वाराणसी

[४]

जनवरी, १९६४ ई० के अंक में श्रीशाकिर पुरुषार्थी का एक लेख कवि 'साहिबसिंघ म्रिगेन्द्र' के सम्बन्ध में पढ़ा।

वास्तव में, 'म्रिगेन्द्र' उपनाम या 'तखल्लुस' जैसी चीज नहीं है। पंजाब के साहित्य में 'सिंह' विशेषतः नामान्त में 'सिंह' पद के अनेक पर्याय प्रयुक्त हुए हैं। 'हीरासिंघ' के स्थान पर 'वज्रमणि (हीरा) पंचानन (सिंह)' शब्द आया है। अतः, कवि का नाम 'साहिबसिंघ' या 'साहिब म्रिगेन्द्र' इसी रूप में प्रयुक्त किया जाना चाहिए। गुरुमुखी-लिपि में 'ह' ध्वनि के लिए विशिष्ट संकेत रहते हुए भी 'साहिबसिंघ' जैसे अनेक लेखक लोकोच्चरित रूप के अनुरोध पर 'सिंह' को 'सिंघ' ही लिखते रहे हैं।

पंजाब-विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में 'साहिबसिंघ' पर शोधकार्य चल रहा है, अतः उनका सारा साहित्य विचाराधीन होने के कारण इस सम्बन्ध में कुछ न कहना ही श्रेयस्कर है। पंजाब में उपलब्ध एवं गुरुमुखी-लिपि में निबद्ध खड़ीबोली के गद्य का एक शृंखलाबद्ध इतिहास शोधरूप में प्रस्तुत करने का अवसर मुझे मिला। ईसा की १७वीं से २०वीं शती के प्रथम दो दशकों तक अबाध रूप से मिलनेवाला यह गद्य भाषा, विषयवस्तु आदि सभी दृष्टियों से समीचीन एवं महनीय है।

'साहिबसिंघ' जैसे ५५ अज्ञात लेखकों की लगभग १७५ कृतियों का प्रथम विवेचन इस शोध-प्रबन्ध में प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार, पंजाब के व्रजभाषा-काव्य—गुरुमुखी-लिपि—का एक अच्छा अध्ययन डॉ० हरभजन सिंह, खालसा कॉलेज, दिल्ली ने पूरा किया है। पंजाब का यह समस्त साहित्य शोधार्थियों द्वारा आलोडित किया जा रहा है। आशा है, इस आलोडन-विलोडन के परिणामस्वरूप कुछ ग्रन्थरत्न तथा पुरातन तथ्यों की कुछ नवीन कथाएँ भी सामने आयेंगी।

—गोविन्दनाथ राजगुरु

●●

हमारा स्वाध्याय-कक्ष

हिन्दी के स्वीकृत प्रबन्ध[१] : भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी-भाषा और साहित्य के क्षेत्र में जिस गति और विविधता से कार्य हो रहा है, उससे यह अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है कि स्वीकृत शोध-प्रबन्धों की अद्यतन सूची होनी ही चाहिए ताकि इस क्षेत्र में हो रहे कार्य का पूरा-पूरा लेखा-जोखा तो मिलता ही रहे, साथ ही अनावश्यक पुनरावृत्तियों से शोधछात्र बचे रहें।

डॉ० उदयभानु सिंह ने सन् १९५८ ई० में एक ऐसी पुस्तक प्रकाशित कराई थी, जिसमें सन् १९१८ से १९५७ ई० तक के प्रबन्धों की सूची थी। इस सूची द्वारा पहली बार प्रबन्ध-कार्य की स्थूल रूपरेखा सामने आई। किन्तु, इस सूची में प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रन्थों का संकेत नहीं था और विषय-विशेष पर उस कार्य की झलक भी एकत्र रूप में प्रस्तुत न थी। सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में उसमें और भी खामियाँ थीं। उदाहरणार्थ, तुलसी पर कितना काम हुआ ? या आधुनिक काव्य की किन विधाओं का मन्थन हुआ ? इन जैसी जिज्ञासाओं की निवृत्ति इस ग्रन्थ से नहीं हो पाई।

श्रीकृष्णाचार्यजी कलकत्ता के राष्ट्रीय पुस्तकालय से वर्षों से सम्बद्ध होने के कारण इस विषय की गरिमा और महत्ता की वैज्ञानिक पद्धति से भली भाँति परिचित एवं परिनिष्णात हैं, अतएव उनका यह सन्दर्भ-ग्रन्थ कई दृष्टियों से शोधछात्रों, शोध-निर्देशकों, विश्वविद्यालयों के हिन्दी-प्राध्यापकों तथा विश्वविद्यालयों के कार्यालयों के लिए अप्रतिम सिद्ध होगा।

आरम्भ में अपने आमुख में श्रीकृष्णाचार्य ने हिन्दी के प्रबन्ध-लेखन का बड़ा ही व्यापक इतिहास दिया है और कई अन्धकारग्रस्त विषयों पर ज्ञान की ज्योति फेंकी है। इस 'आमुख' से प्रत्येक शोधछात्र एवं शोध-निर्देशक बहुत लाभ उठा सकते हैं और अपने शोध-विषय पर सावधानी बरत सकते हैं।

आजकल शोध-प्रबन्ध संख्या और परिमाण में विपुल और इतने भारी-भरकम हो रहे हैं कि उन्हें प्रकाशित करने की हिम्मत शायद ही किसी प्रकाशन-संस्थान या स्वयं उपाधि प्रदान करनेवाले विश्वविद्यालयों की हो। इसलिए, अप्रकाशित प्रबन्धों की समस्याएँ बड़ी जटिल और कुछ अंश में कारुणिक भी हो रही हैं; क्योंकि इन अप्रकाशित 'अभागिन थीसिसों' की सुरक्षा का अबतक कहीं भी समुचित प्रबन्ध नहीं है। फलतः, जब कभी हिन्दी के क्षेत्र में अनुसन्धान-कार्य का इतिहास वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने की बात सामने आयगी, तब भारी निराशा हाथ लग सकती है।

---

१. सम्पादक : श्रीकृष्णाचार्य; प्रकाशक : आर्यावर्त्त प्रकाशन-गृह, कलकत्ता–१२; मूल्य : पाँच रुपये, पचास नये पैसे।

प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रीकृष्णाचार्यजी ने सन् १९१० से १९६२ ई० तक के स्वीकृत प्रबन्धों का वर्गानुसार विवरण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार, सन् १९६२ ई० तक के ५५५ प्रबन्ध वर्गान्तर्गत वर्षक्रम से व्यवस्थित हैं। प्रकाशित प्रबन्धों के मूल्य और पृष्ठसंख्या-सहित विवरण दिये गये हैं—प्रबन्धकार का जन्म-वर्ष भी दिया गया है और प्रत्येक प्रविष्टि के अन्त में विश्वविद्यालय-सहित उपाधि-वर्ष भी अंकित है। वर्ग-विशेष से सम्बद्ध अन्य ग्रन्थों की जानकारी के लिए आन्तर सन्दर्भ (क्रॉस-रेफरेंस) दिया गया है। विदेशी विश्वविद्यालयों में—जैसे ऑक्सफोर्ड, केनिंग्सबर्ग, पेरिस, पेन्सिल्वेनिया, फ्लरेंस तथा लन्दन से प्राप्त हिन्दीशोध-उपाधियों का भी यथाक्रम उल्लेख है। अनुक्रमणी (प्रबन्धकार और प्रबन्ध-ग्रन्थ) इस ग्रन्थ के वैशिष्ट्य का चरम उपादेय अंग है। कुल मिलाकर, इस ग्रन्थ को अत्याधुनिक वैज्ञानिक शैली में तैयार करने का श्रेय श्रीकृष्णाचार्य को है। मुद्रण एवं प्रकाशन भव्य है—दूसरे प्रकाशकों के लिए ईर्ष्य एवं अनुकरणीय भी। यह ग्रन्थ प्रत्येक अनुसन्धानप्रिय छात्र, प्राध्यापक तथा विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभागों में अनिवार्य रूप से रहना ही चाहिए।

—विजयशंकर

०

दीपाराधना[1] : ज्योतिर्मय उत्क्रमण का नाम है आनन्दशंकर माधवन्। एक 'भयंकर' मद्रासी होते हुए राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचण्ड समर्थक। 'समर्थक' केवल वाणी या भाषणों से नहीं—सेवा से, आत्माहुति से, आत्मार्पण के रस से सिक्त और ज्योति से जाज्वल्यमान विचार से, विवेक से, लेखों से, ग्रन्थों से। विचारोद्दीपक सूक्तियों का संग्रह 'बिखरे हीरे' आपने देखा, राष्ट्रभाषा और राष्ट्र-रचना-सम्बन्धा समस्याओं का विश्लेषण एवं निदान सुझानेवाला 'हिन्दी-आन्दोलन' का अनुशीलन किया, अपने ढंग का अद्वितीय उपन्यास 'अनामन्त्रित मेहमान' पढ़कर कई बार कई स्थलों पर आप फूट-फूटकर रोये और उपन्यास को अपने आँसुओं से भिगो दिया और 'अनल-शलाका' में माधवन् की क्रोधस्फीत आत्मप्रतारण का अट्टहास सुना—मानों साहित्य का, समाज का, राजनीति का, प्रजातन्त्र का, शासन-नीति का एक्सरे-प्लेट लेकर स्वयं आपके सामने रख दिया हो और इनका परिचय इन्हीं की लेखनी में आस्फालित—कज्जलवर्ण, कोकिलनयन, काककण्ठ, जर्जर शरीर, पुराना मोटर-इंजिन जैसा मस्तिष्क, जो सिर्फ आवाज भर करता है, पर आगे नहीं बढ़ता—रेगिस्तान-सा हृदय, जिसमें केवल तप्त बालू और उष्ण वायु भरी हैं—न गाछ-वृक्ष, न पशु-पक्षी, हाँ, दो-चार खजूर और आठ-दस नागफनी के पौधे जिन्दा हैं—सर्वत्र भयानक नीरवता छाई हुई है—इस परिवेश में कलम पकड़ ली है, इस उम्मीद में कि 'इस मरुभूमि को अलकापुरी बना सकूँगा...और समस्त विश्व के लिए यह अमरावती अनन्त काल के लिए अक्षय ज्योति फैलाती रहेगी...' ऐसे बेढब आदमी के ऐसे दुर्द्धर्ष संकल्प! परन्तु, संकल्प ही तो कल्पवृक्ष है और माधवन् का स्वप्न साकार हो रहा है—यह कोई अमरावती आकर देखे।

१. लेखक : श्रीआनन्दशंकर माधवन्; प्रकाशक : मन्दार-विद्यापीठ (भागलपुर); पृ० सं० २४२; मूल्य : सात रुपये।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'दीपाराधना' माधवन् का 'स्वगत', 'सॉलिलॉकी' है—आत्ममन्थन से निकला हुआ सरस्वती की वीणा का मधुमय गुंजार। एक-एक गद्यगीत स्वतन्त्र गूँज है, जहाँ कवि के प्राणों की धड़कनें साफ-साफ सुनाई पड़ती हैं। भावना के रस में गीले विचारों की एक-एक रश्मि पाठक के हृदय को रससिक्त तो करती ही है, तेजोद्दीप्त भी। 'दीपाराधना' में 'गार्डेनर' और 'गीताञ्जलि' का एक साथ आनन्द मिलता है। पाठकों को एक पूर्णतः दाक्षिणात्य (तमिल) द्वारा लिखे गये हिन्दी के इस एकान्त गीत-ग्रन्थ के रसास्वादन एवं सस्नेह अनुशीलन के लिए आमन्त्रण है। इसमें ज्योति, रस और अमृत की त्रिवेणी लहराती मिलेगी तथा उसमें अन्तःस्नान से मिलेगा आत्मप्रसाद, जो किसी-किसी ग्रन्थ में कदाचित् ही मिलता है।

हाँ, छपाई की ओर ध्यान जाने पर मन वैसा ही कचोटता है, जैसा नाचते हुए मोर को अपने पैरों पर दृष्टि जाने पर।

—विद्याभूषण

०

संगीतरत्नाकर[1] : हाथरस (उ० प्र०) से श्रीलक्ष्मीनारायण गर्ग के सम्पादकत्व में 'संगीत' हिन्दी-साहित्य के संगीतशास्त्र की अनमोल सेवा कर रहा है। यह पत्रिका अपने क्षेत्र में सर्वथा एकाकी और अद्वितीय है। समय-समय पर इसके जो विशेषांक निकले हैं, वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण और अपने विशिष्ट विषय पर चिरस्थायी प्रामाणिक साहित्य प्रस्तुत करते रहे हैं। इसके लिए 'संगीत'-सम्पादक श्रीगर्ग तथा उनके सहायक श्रीचक्रपाणि समस्त हिन्दी-साहित्य-संसार एवं संगीतशास्त्रानुरागियों के धन्यवाद एवं बधाई के पात्र हैं। 'संगीत' को भारतीय संगीत के मूर्द्धन्य मनीषियों का सक्रिय एवं हार्दिक सहयोग प्राप्त है। यह उसके लिए परम गौरव एवं सौभाग्य का विषय है।

अभी-अभी 'संगीत'-कार्यालय ने आचार्य शार्ङ्गदेव द्वारा रचित 'संगीतरत्नाकर' के स्वरगताध्याय का हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित किया है। शार्ङ्गदेव के पूर्वज कश्मीर के निवासी थे; परन्तु बाद में दक्षिण में जा बसे थे। दक्षिण के राजाओं ने ऐसे विद्वानों को आश्रय दिया और उनका भरपूर सम्मान किया। शार्ङ्गदेव एक साथ ही संगीतशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र और वेदान्त के चूडान्त विद्वान् थे। 'रत्नाकर' पर कई संस्कृत-टीकाएँ हैं, जिनमें सिंहभूपाल तथा कल्लिनाथ की टीकाएँ प्रख्यात हैं। हिन्दी में यह प्रथम अनुवाद है।

इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से संगीतशास्त्र के अनेक अछूते पहलू हमारे सामने आते हैं। पिण्डोत्पत्ति-प्रकरण में 'नादब्रह्म' का बड़ा ही भव्य एवं चित्तग्राही विवरण दिया है। तीसरे खण्ड में नाद, स्थान, श्रुति, स्वर, जाति, कुल, देवता, ऋषि, छन्द तथा रस-प्रकरण भी संगीतशास्त्र की दृष्टि से सर्वथा वैज्ञानिक और महत्त्वपूर्ण है। चौथे प्रकरण में ग्राम, मूर्च्छना-क्रम तथा तान का विषय आया है। मूर्च्छना के स्वरसमूह को 'ग्राम'

---

१. अनुवादक : श्रीलक्ष्मीनारायण गर्ग, सहायक : आचार्य श्रीचक्रपाणि; भूमिका-लेखक: आचार्य श्रीबृहस्पति; प्रकाशक : संगीत-कार्यालय, हाथरस (उ० प्र०); प्रथम संस्करण, १९६४; मूल्य : सात रुपये।

कहते हैं, जिसके दो भेद हैं—षड्ज ग्राम और मध्यम ग्राम। सात स्वरों का क्रम से आरोहण और अवरोहण को 'मूर्च्छना' कहते हैं। ये मूर्च्छनाएँ ५६ प्रकार की होती हैं। 'प्रस्तार' में सातों स्वरों के विस्तार का सम्यक् विवेचन है। जाति-प्रकरण में तार, मन्द्र, न्यास, अपन्यास, संन्यास, विन्यास, बहुत्व, अल्पत्व और लंघन के साथ-साथ आर्षभी, गान्धारी, धैवती, नैषादी, रक्तगान्धारी, नन्दयन्ती, आन्ध्री आदि का विवेचन देखकर कोई भी संगीतज्ञ विस्मयाभिभूत हुए विना नहीं रहेगा। गीति-प्रकरण में कपाल, कपालबोधिनी, कम्बल, गीति आदि का सोदाहरण परिचय दिया गया है। स्वर-प्रस्तारवाला अन्तिम परिच्छेद संगीतशास्त्र की दृष्टि से चरम महत्त्व का है, जिसमें एक स्वरवाले (आर्चिक), दो स्वर-वाले (गाथिक), तीन स्वरवाले (सामिक), चार स्वरवाले (स्वरान्तर), पाँच स्वरवाले (औडुव), छह स्वरवाले (षाडव) और सात स्वरवाले सम्पूर्ण स्वर-प्रस्तार का पूरा-पूरा 'बोल' दिया हुआ है। उत्तर भारत के बीनकारों ने मुकाम-पद्धति को ठाठ-भेद कहा और दक्षिण के बीनकारों ने उसे मेल-पद्धति कहा। परन्तु, ठाठ या मेल की चर्चा करनेवाले सभी व्यक्ति वीणावादक हुए।

संगीतशास्त्र पर ऐसा प्रामाणिक एवं अनुभवसिद्ध ग्रन्थ प्रकाशित कर 'संगीत'-कार्यालय ने विशेषतः संगीतशास्त्र का, परन्तु सामान्यतः सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य-शास्त्र का महान् कल्याण किया है; क्योंकि 'साहित्यसंगीतकलाविहीन' पुरुष को 'साक्षात् पुच्छ-विषाणहीन पशु' माना गया है। भारतीय संगीत का जहाँ शास्त्रीय अध्ययन-अनुशीलन होता है, वहाँ इस ग्रन्थ का विशेष आदर होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

—सदाशिव माधव पांगारकर

०

श्रीमाताजी के वचन[1] : श्रीमाताजी के ये वचन एक साधक के पत्र-व्यवहार से संकलित किये गये हैं। श्रीमाताजी के साथ उनका यह पत्र-व्यवहार सन् १९३३ से १९४९ ई० तक चलता रहा। यह छोटी-सी पुस्तिका सीधे फ्रेंच से अनूदित है। साधना के पथ पर चलनेवालों के लिए यह एक अनमोल अवदान है। एक स्थान पर श्रीमाँ लिखती हैं—"मेरी सारी शक्ति तुम्हें सहायता देने के लिए तुम्हारे साथ है; शान्त विश्वास के साथ अपने को खोलो, भागवत कृपा पर श्रद्धा रखो और तभी तुम अपनी सभी कठिनाइयों को पार कर जाओगे।" श्रीमाताजी के ऐसे ही आश्वासन-भरे अमृत-वचनों का यह दिव्य संग्रह अध्यात्मपथ के प्रत्येक पथिक के पास होना ही चाहिए।

छपाई-सफाई आदि श्रीअरविन्दाश्रम की अपनी अनोखी है, जिसकी समकक्षता शायद ही कोई संस्था कर सके।

—मधुमती त्रिपुरसुन्दरी

०

१. प्रकाशक : श्रीअरविन्दाश्रम, पांडिचेरी-२।

हिततरंगिनी[१] : कवि कृपाराम की यह पुस्तक नायिका-भेद की आदि उपलब्ध कृति मानी जाती है और कृपाराम हिन्दी अलंकार-शास्त्र तथा नायिका-भेद के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। विक्रम की सोलहवीं शती का अन्तिम दशक 'हिततरंगिनी' का रचनाकाल है और इस प्रकार हिन्दी के भक्तियुग में ही रीतिकाव्य के अंकुर के रूप में यह स्वीकृत की जाती है। कृपाराम जायसी एवं सूर के समसामयिक कवि हैं, अतएव इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्त्व स्वयंसिद्ध है।

नायिका-भेद भारतीय साहित्यशास्त्र का परम प्रिय एवं परम प्राचीन विषय रहा है। भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' के २४, २५ और ३४वें अध्यायों में नायक-नायिका-विषयक भेदोपभेदों का बड़े ही विस्तार से विचार प्रस्तुत किया है। नायिका-भेद का जहाँ वर्णन है, वहाँ देखा जाता है कि भरतमुनि ने जातीय शील, सामाजिक आचार-व्यवहार, नायक के साथ नायिका के संयोग एवं वियोग की अवस्था, नायक के प्रति अनुराग के अनुसार नायिका के गुण, नायिका की प्रकृति, वयःक्रम से विकासशील कामलीला के आधार एवं अन्तःपुर में रहनेवाली नारियों के आधार पर कुल आठ प्रकार से नायिका का भेद किया है। रुद्रभट्ट ने अपने 'श्रृंगारतिलक' में तथा रुद्रट ने 'काव्यालङ्कार' में लगभग एक समान नायिका-भेद किया है। भोजराज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' एवं 'शृंगारप्रकाश' में नायिका-भेद का एक अत्यन्त विस्तृत विवेचन मिलता है। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में कन्या, भार्या, परदारा और वेश्या—ये चार भेद मिलते हैं।

'हिततरंगिनी' की रचना पाँच तरंगों में विभक्त है—नायिकारूप-आलम्बन-वर्णन, स्वकीया-दर्शन, परकीया-दर्शन, सामान्या-दर्शन और दशनायिका-दर्शन। राधाकृष्ण की युगल छवि ही इनके शृंगार का आलम्बन है।

'हिततरंगिनी' को पहले-पहल प्रकाश में लाने का श्रेय स्व० श्रीजगन्नाथदास 'रत्नाकर' को है। परन्तु, प्रस्तुत संस्करण में इस ग्रन्थ को सब प्रकार से उपयोगी बनाने में श्रीसुधाकर पाण्डेयजी ने कुछ भी उठा नहीं रखा है। आरम्भ में सत्तर पृष्ठों की भूमिका कवि कृपाराम को पूरे परिवेश में प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त है। कठिन शब्दों के अर्थ पूरे विस्तार से पाद-टिप्पणी में मिलते हैं और अन्त में सुविस्तृत विषयानुक्रम तथा प्रतीकानुक्रम देकर श्रीपाण्डेयजी ने ग्रन्थ को पाठकों के लिए परम उपादेय बना दिया है।

कृपाराम ने अपने ग्रन्थ में नायिका के लक्षण और फिर उदाहरण, यही क्रम रखा है। छन्द दोहा और बरवै हैं। नायिका-भेद का यह प्रथम ग्रन्थ इतना प्रौढ और सुव्यवस्थित है कि इसे देखकर हम विस्मयाभिभूत हो जाते हैं। भाषा बड़ी ही सुथरी है और भावानुसारिणी भी। हम रीति-रस के प्रवीण पाठकों से इस ग्रन्थ के अनुशीलन के लिए अनुरोध करेंगे। ग्रन्थ का वैज्ञानिक सम्पादन, विद्वत्तापूर्ण पाद-टिप्पणी, खोजपूर्ण गम्भीर भूमिका हिन्दी-साहित्य की श्रीसम्पदा को संवर्द्धित करनेवाली है। रहीम के पहले कृपाराम ने बरवै का प्रयोग किया, यह मौलिक अनुसन्धान विज्ञ सम्पादक के यश को बढ़ानेवाला माना जायगा।

---

१. सम्पादक : श्रीसुधाकर पाण्डेय; प्रकाशक : विश्वभारती, नागपुर; मूल्य : पाँच रुपये।

सुन्दर आकर्षक प्रच्छद, उत्तम स्वच्छ मुद्रण, उचित मूल्य—कुल मिलाकर यह ग्रन्थ हिन्दी में अपना एक स्तर कायम करता है। सम्पादक का श्रम सब प्रकार से सार्थक हुआ है।

पुस्तक अलीगढ़-विश्वविद्यालय के हिन्दी-संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष, सूर-साहित्य के सुख्यात विद्वान् डॉ० हरवंशलाल शर्मा को सादर समर्पित है।

—मधुसूदन गोस्वामी

०

पदमावत[1] : जायसी-कृत इस कृति की गणना हिन्दी के कठिन काव्यों में होती है और इसकी अर्थविषयक ग्रन्थियों को सुलझाने तथा इसके अर्थ-गाम्भीर्य को विवृत करने के लिए विद्वज्जन बहुत पहले से प्रयत्न करते आ रहे हैं। सर्वप्रथम सन् १८९६ ई० में सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी की सहायता से 'पदमावती' का अनुवाद प्रकाशित करना आरम्भ किया। सन् १९११ ई० में 'पदमावती' के प्रथम पच्चीस खण्डों का पाठ, भाष्य तथा आलोचनात्मक टिप्पण प्रकाशित हुआ; किन्तु इसी बीच पं० सुधाकर द्विवेदी का देहान्त हो गया और प्रकाशन का कार्य रुक गया।

सर जॉर्ज ग्रियर्सन के उक्त अनुवाद को पूरा करने का निश्चय एक दूसरे अँगरेज विद्वान् श्री ए० जी० शिरेफ ने सन् १९३८ ई० में किया और सन् १९४० ई० में उन्होंने इस कार्य को पूरा कर डाला। शिरेफ-कृत 'पदमावत' का अँगरेजी-अनुवाद सन् १९४४ ई० में 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल' से प्रकाशित हुआ। शिरेफ ने अपने अनुवाद में 'पदमावत' के डॉ० ग्रियर्सन और पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा स्वीकृत पाठों को अधिकतर अपनाया था।

बहुत दिनों तक पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित 'जायसी-ग्रन्थावली' और शिरेफ-कृत 'पदमावती' (अनुवाद) जायसी के विद्यार्थियों के एकमात्र आधार-ग्रन्थ बने रहे। पर, जैसे-जैसे हिन्दी उच्चतर अध्ययन का विषय बनती गई, 'पदमावत' के एक सुसम्पादित संस्करण और विस्तृत भाष्य के अभाव का अनुभव लोगों को होने लगा। फलतः, सन् १९५१ ई० में डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने सम्पादन-विज्ञान के आधुनिकतम सिद्धान्तों और साधनों का उपयोग कर 'पदमावत' का एक सुसम्पादित संस्करण प्रस्तुत किया, जो हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। इस प्रकार, डॉ० गुप्त ने एक चिन्त्य अभाव की पूर्त्ति की। दूसरे अभाव—पदमावत के भाष्य—की पूर्त्ति डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'पदमावत' (मूल और संजीवनी-व्याख्या) लिखकर की, जो साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी) से प्रकाशित हुआ। यह कहा जा सकता है कि डॉ० अग्रवाल ने 'पदमावत' के अर्थ-निर्णय में सुयोग्य पथ-निर्माता का काम किया और पहली बार 'पदमावत' की प्रामाणिक व्याख्या हिन्दी-पाठकों के सामने आई।

डॉ० गुप्त द्वारा सम्पादित 'जायसी-ग्रन्थावली' और डॉ० अग्रवाल द्वारा प्रस्तुत 'पदमावत' की 'संजीवनी-व्याख्या' के प्रकाशन के बाद विद्वानों का ध्यान 'पदमावत' के पाठ

---

१. सम्पादक : डॉ० श्रीमाताप्रसाद गुप्त; प्रकाशक : भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद; पृ० सं० ५२+५६७; मूल्य : बारह रुपये।

और अर्थ-निर्णय की ओर आकृष्ट हुआ। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में एतद्विषयक अनेक लेख प्रकाशित हुए। इस विमर्श में भाग लेनेवाले विद्वानों में प्रमुख तीन हैं—प्रो० सैयद हसन अस्करी, डॉ० माताप्रसाद गुप्त और डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल। इन विमर्शात्मक निबन्धों से 'पदमावत' के पाठ और अर्थनिर्णय-सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आये।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त के 'पदमावत' का पाठ और अर्थनिर्णय-सम्बन्धी यह नवीन प्रयास पूर्ववर्त्ती समस्त विचार-विमर्शों के आलोक में प्रस्तुत किया गया है। जहाँतक पाठ का सम्बन्ध है, डॉ० गुप्त ने स्वसम्पादित 'जायसी-ग्रन्थावली' के पाठ को मुख्य रूप में ग्रहण किया है, पर यत्र-तत्र उन्होंने सैयद हसन अस्करी और डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के पाठों को भी स्वीकार किया है। जहाँतक भाष्य का प्रश्न है, डॉ० गुप्त की पद्धति लगभग वही है, जो डॉ० अग्रवाल की है। अन्तर यह है कि टिप्पणियों में डॉ० गुप्त ने डॉ० अग्रवाल की तुलना में शब्दों की व्युत्पत्ति पर अधिक बल दिया है। जहाँतक अर्थ की बात है, डॉ० अग्रवाल द्वारा प्रस्तुत अर्थ डॉ० गुप्त की अपेक्षा अधिक साफ है। डॉ० गुप्त ने अर्थ की गहराइयों में प्रवेश करने का प्रयास तो अवश्य किया है, पर यदि भाषा थोड़ी और साफ रहती, तो अच्छा होता। मेरे इस कथन की पुष्टि डॉ० गुप्त और डॉ० अग्रवाल द्वारा प्रस्तुत कड़वक-संख्या ३१२, ३५८, ३६१ आदि के तुलनात्मक अध्ययन से होती है। फिर भी, कुल मिलाकर डॉ० गुप्त की व्याख्या सन्तोषजनक तथा 'पदमावत'-सम्बन्धी अध्ययन को अग्रसर करनेवाली है।

ग्रन्थ के आरम्भ में डॉ० गुप्त ने ५२ पृष्ठों की एक विस्तृत भूमिका लिखी है, जिसमें 'पदमावत' की रचना-तिथि, मूल आधार, जायसी के जीवन-दर्शन, प्रेम-सन्देश आदि विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अन्त में ५६ पृष्ठों में ग्रन्थ की शब्दानुक्रमणी प्रस्तुत कर सम्पादक ने 'पदमावत'-विषयक अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया है।

पुस्तक की साज-सज्जा आकर्षक है। यह ग्रन्थ जायसी के अध्ययन में रुचि रखनेवाले प्रत्येक अध्येता के लिए परमोपयोगी सिद्ध होगी, ऐसी मेरी धारणा है।

०

हिन्दी-काव्य की निर्गुण धारा में भक्ति[1] : आलोच्य ग्रन्थ काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच्० डी० उपाधि के निमित्त स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। ग्रन्थ कुल छह अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा का विवरणात्मक परिचय प्रस्तुत किया गया है, जिससे विषय की सीमा सूचित होती है। यह काफी सन्तोष की बात है कि ये सूचनाएँ प्रामाणिक स्रोतों से संकलित की गई हैं और इसलिए आलोच्य शोध-प्रबन्ध को स्तरीय बनाने में बहुत दूर तक सहायक हैं।

द्वितीय अध्याय में भक्ति के मूल तत्त्वों, उसके विविध रूपों तथा शाखा-प्रशाखाओं का शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करने के अनन्तर भारत के विविध साधना-सम्प्रदायों में भक्ति

---

१. लेखक : डॉ० श्रीश्यामसुन्दर शुक्ल; प्रकाशक : काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय; पृ० सं० ४८२; मूल्य : अजिल्द सात रुपये, सजिल्द आठ रुपये।

के उदय और विकास का विवेचन किया गया है। तृतीय अध्याय में मध्यकालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और नैतिक परिस्थितियों का विवेचन कर सन्त-कवियों की भक्ति-भावना पर उनके प्रभाव का आकलन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में सन्त-कवियों का भक्ति-सम्बन्धी मान्यताओं तथा इन मान्यताओं के दार्शनिक आधार का निरूपण है। लेखक के मतानुसार निर्गुणिया सन्तों की दार्शनिक मान्यताएँ किसी एक वाद में समाविष्ट नहीं की जा सकतीं। उनकी दार्शनिक मान्यताओं में अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, भेदाभेदवाद आदि कई वादों का समन्वय दिखाई पड़ता है। पर, सन्तों के दर्शन या दार्शनिक विचारों को 'भक्तिदर्शन' या 'भक्तिवाद' की संज्ञा देना, जो आलोच्य लेखक को अभीष्ट है, वस्तुत: बहुत अधिक सुविधाजनक या सार्थक नहीं दीखता।

ग्रन्थ के पंचम अध्याय में सन्त-कवियों की प्रेममूलक भक्ति, उनके रहस्यवाद, आध्यात्मिक विरह, नवधा भक्ति, भक्तों के लक्षण, उनकी कोटियों आदि का विस्तृत विवेचन है। इसके साथ-साथ इस अध्याय में सगुण और निर्गुण भक्त-कवियों की भक्ति-सम्बन्धी धारणाओं का तुलनात्मक विवेचन भी किया गया है। शोधकर्त्ता के अनुसार सगुण और निर्गुण भक्ति-परम्पराओं में तत्त्वत: कोई भावनागत अन्तर नहीं है। जो भेद दिखाई पड़ता है, वह आचारगत या बाह्य है। लेखक यह भी मानता है कि सूफी प्रेम-साधना का सन्त-काव्य-परम्परा पर कोई महत्त्वपूर्ण या उल्लेखनीय प्रभाव नहीं है। पर, लेखक ने अपने कथन के समर्थन में जो प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, वे पर्याप्त और निर्दोष नहीं हैं। सन्त-काव्यधारा से अनेक ऐसे स्थल उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनपर सूफी साधना का स्पष्ट और सीधा प्रभाव है।

ग्रन्थ के षष्ठ अध्याय में भक्ति के आधार-पक्ष का विस्तृत और सांगोपांग निरूपण है। इस प्रसंग में सहज साधना, हठयोग, भक्तियोग, दशधा भक्ति, यम और नियम, नाम की महिमा, स्मरण की विधि और अजपा मूर्त्तिपूजा का विरोध, तीर्थव्रत आदि विषयों के सम्बन्ध में सन्त-कवियों के विचारों का विवेचन किया गया है।

आलोच्य शोध-प्रबन्ध के द्वारा सन्त-साहित्यविषयक इस प्रचलित भ्रान्ति का निराकरण होता है कि सन्त-कवि ज्ञानमार्गी थे। इसके पहले सन्त-साहित्य के भक्तिपक्ष का सोपपत्तिक विवेचन किसी ने प्रस्तुत नहीं किया था, यों कतिपय विद्वानों ने सन्त-कवियों की इस विशेषता की तरफ कि वे मूलत: भक्त है, अंगुलिनिर्देश किया था। आलोच्य शोध-प्रबन्ध का सन्तसाहित्य-विषयक अध्ययन में यह मौलिक योगदान है।

ग्रन्थ के मुद्रण आदि सन्तोषजनक हैं। प्रूफ की कुछ चिन्त्य भूलें, जो थोड़ी सावधानी से हटाई जा सकती थीं, रह गई हैं। उदाहरणार्थ, 'विषयसूची' में ही शीर्षक के रूप में छपा 'षष्ठम अध्याय'। अब समय आ गया है कि हिन्दी के प्रकाशित शोध-प्रबन्ध अपने को इस प्रकार की भूलों से बचाने का प्रयास सावधानी के साथ करें।

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय और हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा इस महत्त्वपूर्ण कृति को प्रकाशित करने के लिए बधाई के पात्र हैं।

—प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा

०

उदात्त : सिद्धान्त और शिल्पन[१] : आलोच्य पुस्तक 'नव्यालोचन के समर्थ उपस्कर्त्ता' प्रो० जगदीश पाण्डेयजी की दिव्य कृति है, जिसमें हमें गहन चिन्तन और हृदय की रसोच्छलता के अपूर्व संगम पर एक युगोत्तर प्रतिभा की सन्धान-व्याकुलता मिलती है। पाण्डेयजी ने हिन्दी-नव्यालोचन के क्षेत्र में 'शास्त्रीय अर्थ-गौरव के साथ विषयोचित सूक्ष्म विदग्धता' को लेकर चलनेवाली सूत्रवार्त्तिक-शैली के प्रवर्त्तक के रूप में लहाछेह यश प्राप्त किया है। इनके इस सर्वविदित यश को 'हास्य के सिद्धान्त और मानस में हास्य' तथा 'शीलनिरूपण : सिद्धान्त और विनियोग' के बाद उनकी यह तीसरी कृति वृद्धिगत सिद्ध करती है।

प्रस्तुत पुस्तक में 'उदात्त' के सैद्धान्तिक स्वरूप और व्यावहारिक विनियोग पर ऐसा समर्थ विचार किया गया है, जो हिन्दी-साहित्य के लिए अभूतपूर्व है। उदात्त-विवेचन का सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन-विमर्श में केन्द्रीय महत्त्व है; क्योंकि उदात्त के निदर्शनों में हमें सर्वोपरि सृष्टिकर्त्तृशक्ति (Supreme Creatrix) का चिन्मय उन्मेष मिलता है, जिसे हम सौन्दर्य-चेतना के चतुर्थ आयाम (fourth dimension of aesthetic sense) का आधारभूत विषय कह सकते हैं और जिसकी चरम परिणति 'ओवरहेड एस्थेसिस' के रूप में हो सकती है। किन्तु, अबतक ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय पर हिन्दी-आलोचना-साहित्य में कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया गया था। इस प्रकार, पाण्डेयजी की यह पुस्तक हिन्दी आलोचना-साहित्य के सौन्दर्यशास्त्रीय विकास में ऐतिहासिक महत्त्व रखती है।

सर्जन-पक्ष और प्रभाव-पक्ष की दृष्टि से उदात्त के सम्बन्ध में पाण्डेयजी की मुख्य स्थापनाएँ निम्नलिखित हैं—

क. 'जो आलम्बन हमारे चित्त को मात्र आकृष्ट न कर, उसका उन्नयन या उत्कर्षण करता है, वह उदात्त कहलाता है।'

ख. फलस्वरूप प्रभाव-पक्ष की दृष्टि से 'आश्रय के चित्त की भूमिका की उत्क्रान्ति या आरोह उदात्त की कसौटी है।'

ग. 'जहाँ कहीं किसी वस्तु, स्थिति, घटना तथा शील में हम उत्कर्ष के साथ लोकातिशयता अथवा लोकातिशयता के साथ उत्कर्ष के दर्शन करते हैं, वहाँ हमें उदात्त के दर्शन हो जाते हैं।'

घ. "उदात्त में रहस्य-भावना को प्रेरित करने की शक्ति आवश्यक है। यदि बात ऐसी नहीं, तो उदात्त मात्र 'बौम्बाष्ट' है।" इस तरह उदात्त के व्यपदेश-निर्धारण में रहस्य-भावना की अनिवार्यता को घोषित करना पाण्डेयजी की आस्तिक बुद्धि और भक्त-हृदय के सर्वथा अनुरूप है।

उदात्त के उक्त व्यपदेश-निर्धारण को व्यवस्थित और सांगोपांग रूप देने के लिए लेखक ने उदात्त के स्वरूप पर हेतु की दृष्टि से विचार किया है। लेखक के अनुसार

१. लेखक : प्रो० श्रीजगदीश पाण्डेय; प्रकाशक : अर्चना-प्रकाशन, आरा (बिहार); प्रथम-संस्करण, १९६४; पृ० सं० ४१८; मूल्य : सोलह रुपये।

उदात्तोत्कर्ष के प्रधानतः चार हेतु हैं—सूक्ष्मता, मूल्य-भावना, परोपभावना तथा विस्तार। अतः, इस हेतु-चतुष्टय की व्यवच्छेदकता के आधार पर उदात्त के चार भेद हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं—सूक्ष्मोदात्त, मूल्योदात्त, परोदात्त और विस्तारोदात्त। इतना ही नहीं, लेखक की सूक्ष्मेक्षिणी प्रतिभा ने चित्रण की दृष्टि से भी उदात्त का भेद-निरूपण किया है।

तदनन्तर, लेखक ने उदात्त के उत्कर्ष-विधान के लिए, उसकी गम्भीरता के आधान के लिए अवधि के गर्भ-विधान की भूरिशः आशंसा की है (पृ० ५९)। उदात्तोत्कर्ष के लिए लेखक ने यह भी कहा है कि 'जहाँतक हो सके, उदात्त का स्थापत्य सरल, प्राकृतिक और मिताक्षर होना चाहिए (पृ० ५५-५६)।' इस तरह अपने विवेचन को पुंखानुपुंख बनाने के लिए लेखक की सचेष्टता प्रशंसनीय है। इस सचेष्टता के कारण ही पाण्डेयजी ने उदात्त-काव्य के प्रमुख लक्षणों के निर्देश में लाँजिनस की विश्रुत ऊँचाई को अतिक्रान्त कर दिया है। इन्होंने उदात्त-काव्य के प्रमुख लक्षणों के अन्तर्गत प्रतीक, अन्योक्ति, अतिशयोक्ति और संस्कार-समृद्ध रूपक की गणना की है तथा उदात्तोत्कर्षविधायिनी अतिशयोक्ति की विविध पद्धतियों—अपर उत्क्रान्ति, तारतम्य, अंगांगिभाव-विचित्रता, संख्यात्मक प्रतीकयोगिता और द्विदिक् विप्लव—का शास्त्रीय निर्देश किया है। उदात्तोत्कर्ष की तरह इन्होंने उदात्त-हति अथवा उदात्त-दोष की अवधारणा पर भी विचार किया है और इसके अन्तर्गत इन ग्यारह दोषों का उल्लेख किया है—वक्रोक्ति, पतत्प्रकर्ष श्लेषकौतुक, अतिहसित, क्लिष्ट-वर्त्तुल कथन, पारिभाषिकता, द्वन्द्वात्मक स्थापत्य, लोकोक्ति-संकुलता, शब्दसागरता, अतिलालित्य और आवेशदौर्बल्य।

उदात्त के उपरिनिर्दिष्ट सांगोपांग स्वरूप-विश्लेषण के अलावा 'आनन्द' नामक नवीन रस की स्थापना समीक्षा-शास्त्र को लेखक का एक मौलिक अवदान है। पाण्डेयजी का मुख्य तर्क यह है कि रस ही सर्वथा, सर्वदा और सर्वत्र आनन्द नहीं है। बीभत्स जैसे अहृद्य रस और शृंगार जैसे हृद्य रस की अनुभूति को हम एक ही प्रकार का आनन्द कैसे कहेंगे? यदि हम ऐसा कहते हैं, तो यह बुद्धि की व्याधि अथवा चिन्तन की उपाधि का परिणाम है। अर्थात्, रस ही आनन्द नहीं है और न आनन्द रस का एकमात्र उपेय है। अतः, पाण्डेयजी की तर्कपुष्ट मान्यता यह है कि आनन्द स्वयं एक स्वतन्त्र या पृथक् रस है, जिसका स्थायी भाव उमंग है। यह मान्यता हमें इसलिए भी आकृष्ट करती है कि अब प्राचीन आचार्यों की रसभाव-विकल्पना कुछ यातयाम मालूम पड़ती है। प्राचीनाचार्यों, विशेषकर भरतमुनि का रस-सिद्धान्त केवल 'वागङ्गसत्त्वोपेत' काव्य को लक्ष्य में रखकर निरूपित हुआ था, जो अधुनातन साहित्य के विविध स्वरूपों पर समान रूप से लागू नहीं हो पाता है और न साहित्य के सभी रूप अब उस रस-सिद्धान्त की सार्थकता का सीधा समर्थन कर पाते हैं। दूसरी बात यह है कि परवर्त्ती आचार्यों ने पूर्वस्वीकृत प्रसिद्ध रसों के अलावा शान्त, वत्सल, भक्ति, प्रक्षोभ आदि जिन नवीन रसों की उद्भावना का नारा बुलन्द किया है, उनकी तुलना में 'आनन्द' नामक नवीन रस की स्थापना अधिक तर्कसंगत और उपयुक्त प्रतीत होती है।

इस प्रकार, यह ग्रन्थ मौलिक चिन्तन का कैलास-शिखर है। आज के उद्धरणप्रिय, शब्दान्तरनिपुण, चौर्यकलादक्ष और बौद्धिक उपनिवेशवाद से सन्त्रस्त युग में एक चिन्तक अपनी मौलिकता को ऐसी पर्यन्त-रेखा तक पहुँचा सकता है—इसपर विचार करने से चित्त में एक विस्मयपूर्ण प्रसादन होता है। इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे स्थल हैं (जैसे, पृ० १२ पर परम्परा और रीति का भेद-निरूपण, पृ० ७१ पर लोकप्रज्ञा की वर्त्तुल द्वन्द्वात्मकता का विश्लेषण और पृ० १९६ पर प्रबन्ध-स्थापत्य या सर्ग-व्यवस्था के आधार का अष्टधा निर्धारण), जिनके अवलोकन से यह मान लेने में कि प्रस्तुत ग्रन्थकार मौलिकता की दृष्टि से अत्याधुनिक हिन्दी-आलोचना का मूर्द्धन्य मनीषी है, किसी मनःकूत की गुंजाइश नहीं रह जाती। सच पूछिए, तो पाण्डेयजी आचार्य शुक्ल की तरह एक निर्णयवादी आलोचक हैं। इनके निष्कर्षों में निर्णयवादी आलोचना का आदेशात्मक स्वर रहा करता है। उदाहरण के लिए, 'कामायनी' में अपोदात्त का विश्लेषण करते हुए इन्होंने प्रसाद के विपर्यय-दुष्ट सर्ग-विवेक से ऊबकर यह दो-टूक निष्कर्ष उपस्थित कर दिया है—'कामायनी शक्ति का उदात्त प्रबन्ध नहीं, बल्कि चमत्कृति की अपोदात्त निबन्ध-माला है (पृ० २५५)।'

यद्यपि, विद्वान् और भक्तहृदय होने के कारण पाण्डेयजी की भाषा में विद्वत्ता और अनुरक्तता का वह मणिकांचन-योग है, जिसका अभाव इन्हें प्रसाद की भाषा-शैली में खटकता रहा है (द्र० पृ० २४१), तथापि हिन्दी-भाषा की 'सामर्थ्य-रंकता' के कारण इन्हें अनेक नवीन शब्दों को गढ़ना पड़ा है तथा अनेक अप्रचलित या अल्पप्रचलित शब्दों में नवीन अर्थवत्ता भरनी पड़ी है; जैसे अखिलशयता, इत्थमेवता, सारंग-टंकार, तटस्था, अपशब्दश्लेष्म, तदाकृतितृतीयता, व्यक्तीति, गजगद्य, वामचरितविमानस इत्यादि। निश्चय ही ऐसे शब्दों के प्रयोग के कारण पाण्डेयजी की आलोचना-शैली विवेक-क्लेशविद्वेषियों को गुरुपाक और आस्वादविलम्बक लगेगी, किन्तु जो प्रबुद्ध पाठक इनके निरूपणों का सारमर्म ग्रहण कर सकेंगे, वे इनकी अनन्वय गहनता के प्रति स्वतः नतशिर हो जायेंगे। भविष्य में जब हिन्दी-आलोचना अपनी समृद्धि के कारण अन्तरराष्ट्रीय ईर्ष्या का आलम्बन बनने लगेगी, तब इस ग्रन्थकार की गणना आगमिष्यत् हिन्दी-आलोचना के समर्थ पूर्वपुरुषों की अग्रिम पंक्ति में अवश्य की जायगी।

०

वैदिक निबन्धावली[1] : आलोच्य पुस्तक में पच्चीस निबन्ध संगृहीत हैं। ये सभी निबन्ध वैदिक विषयों से सम्बद्ध हैं और संक्षिप्त, सुचिन्तित तथा सुस्थ हैं। 'प्रथमजा' और 'सन्ध्या-चिन्तन' के बाद डॉ० मुंशीराम शर्मा का यह तीसरा निबन्ध-संग्रह है। डॉ० शर्मा भक्ति-साहित्य और वैदिक वाङ्मय के ख्यात विद्वान् और गम्भीर मनीषी हैं। गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से इनकी कृतियों ने अपने क्षे में शीर्षस्थानीय महत्त्व अर्जित किया है। प्रस्तुत निबन्ध-संग्रह भी, कुल मिलाकर, इनके यश के अनुरूप है।

---

१. लेखक : डॉ० श्रीमुंशीराम शर्मा, प्रकाशक : चौखम्बा-विद्याभवन, वाराणसी; मूल्य : चार रुपये।

इन निबन्धों के अनुशीलन से यह पता चलता है कि वैदिक ज्ञान के प्रति लेखक की अडिग आस्था है; क्योंकि लेखक के अनुसार वैदिक मन्त्रों में अर्थ की स्थूलता अथवा आधिदैविकता ही नहीं, वरन् ज्ञान की दिव्यता है। वेदों के प्रति अपनी अडिग आस्था को व्यक्त करते हुए निबन्धकार ने लिखा है कि 'आत्मिक उत्थान के लिए अपौरुषेय वेद ही एकमात्र साधन है (पृ० १०)।' इसी आस्था ने आज के मीन-मेषवाले शंकालु और तर्क-प्रधान युग में भी लेखक को यह मानने के लिए विवश किया है कि वेद अपौरुषेय है। लेखक की इसी विवशता ने आस्था के साथ तर्क का वपन कर दिया है। अतः, वेदों के अपौरुषेय होने की तर्कपुष्ट व्याख्या करते हुए निबन्धकार ने लिखा है—"वेद का अर्थ ज्ञान है। यह ज्ञान सृष्टि के प्रथम तत्त्व आकाश के उत्पन्न होने के साथ ही आविर्भूत हुआ। प्रलय के समय यह तिरोहित-मात्र था, अपने स्रोत, ज्ञानस्वरूप परमात्मा में लीन था। जैसे प्रत्येक वस्तु अपने स्रोत से निकलती है, वैसे ही ज्ञान का उद्भव भी ज्ञान के स्रोत परमात्मा से ही होता है (पृ० १०)।" इस तरह निबन्धकार ने आस्था को तर्क से रक्षित करते समय अपनी श्रद्धावृत्ति को अनुल्बण रखा है। श्रद्धा या आस्था और तर्क के एतादृश सन्तुलन ने इस संग्रह के कुछ निबन्धों का बहुत उपकार किया है। जैसे, 'ऋत की महिमा' शीर्षक निबन्ध में ऋत और सत्य का बारीक पार्थक्य-निरूपण निबन्धकार की सूक्ष्मेक्षिणी प्रतिभा के साथ ही आस्था और तर्क के सन्तुलन-कौशल का परिचय देता है।

तदनन्तर, निबन्धकार ने इस संग्रह में वैदिक शब्दों का चयन और प्रयोग इस खूबी के साथ किया है कि निबन्धों के वातावरण और अर्थ-सन्दर्भ में गायत्री-गन्धित पवित्रता छा गई है। उदाहरण के लिए, इन शब्दों को देखा जा सकता है—आम्नाय, अभीद्ध, जूति, पापीयसी, मय, शम, स्वपा, पृश्नि, दुरिष्टि, स्विष्टि, श्वात्र, तुथ, स्तोम, अतिरात्र, नेदिष्ठ इत्यादि। किन्तु, ऐसे पुराने शब्दों और स्तुतिपरक भावुक उक्तियों, जैसे, 'सृष्टि के आविर्भाव के समय वेद आविर्भूत होते हैं और उसके तिरोहित होने पर वे भी अपने आश्रय-रूप प्रभु में विलीन हो जाते हैं। वेद की तिथि निश्चित करना मानों सृष्टि की तिथि को निश्चित करना है (पृ० ९)' के रहने पर भी निबन्धकार ने 'प्रोटोप्लाज्म' और 'साइकोप्लाज्म' जैसे अत्याधुनिक विषयों की चर्चा कर (पृ० १३३) अपने निबन्धों को पर्युषित प्राक्तनता से बचा लिया है। **—प्रो० कुमार विमल**

०

महाकवि निराला (खण्ड १)[१] : यह संकलन-ग्रन्थ निराला-साहित्य को समझने के लिए बहुत ही उपादेय है। इसकी विशिष्ट उपादेयता के दो प्रमुख कारण हैं। एक यह कि इसका सम्पादन आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने किया है, जो निराला-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। दूसरा यह कि इसमें संकलित निबन्धों के सभी लेखक—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य नलिनविलोचन शर्मा, प्रो० दामोदर ठाकुर, डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० प्रभाकर माचवे और आचार्य जगदीश पाण्डेय—अपने-अपने

१. सम्पादक : आचार्य श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री, निराला-निकेतन, मुजफ्फरपुर (बिहार); प्रथम संस्करण, १९६३; पृ० सं० २४४; मूल्य : सात रुपये।

क्षेत्र के ख्यातिप्राप्त लेखक हैं। अतः, ऐसे अधिकारी विद्वानों के सहयोग से यह ग्रन्थ निस्सन्देह मूल्यवान् हो गया है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की अनेक पंक्तियाँ हृदय को मन्त्रमुग्ध कर लेती हैं—

क. निराला सरल निरर्थ नहीं, सबल समर्थ थे।

ख. आधुनिक काव्य के सफीने का यह नाखुदा और जहरे आलम में आबे हयात घोलनेवाला यह सूफी, जिसकी गहरी, तेज और जिन्दा नजर का कायल जमाना है...।

ग. रचना के कुछ गुलाब खिले और जिन्दगी की डाल काँटों से लद गई।

घ. निश्शब्द अर्थवत्ता ही निराला की कला है।

इस तरह प्रारम्भ में ही शास्त्रीजी का 'निराला-दर्शन' अपनी कवित्वपूर्ण आलोचना-शैली से हमें प्रभावित और चमत्कृत कर देता है। किन्तु, आगे चलकर 'निरालाजी' तथा 'निराला : व्यक्तित्व और कृतित्व' शीर्षक निबन्ध हमें प्रतीक्षित या पूर्वाशित सामग्री नहीं दे पाते हैं। केवल यही कहकर मन को सन्तोष देना पड़ता है कि आखिर ये निबन्ध नामी-गिरामी आचार्यों की देन हैं। इस संकलन-ग्रन्थ का शिखर इन दो निबन्धों—'मुक्त-छन्द और निराला' तथा 'मुक्तकाव्य और स्वच्छन्द-काव्य'—में दिखाई पड़ता है। सचमुच, इन दो निबन्धों ने इस ग्रन्थ की गौरव-वृद्धि कर दी है। अद्यावधि प्रकाशित हिन्दी-आलोचना-साहित्य में मुक्तछन्द और मुक्तकाव्य पर ऐसी अधीत और सुचिन्तित सामग्री अन्यत्र दुर्लभ है। डॉ० रामविलास शर्मा के तीन निबन्धों में 'राम की शक्तिपूजा' पर लिखित निबन्ध अपेक्षाकृत सुलझा हुआ है। तदनन्तर, डॉ० माचवे का लेख उनके यश के अनुरूप ही है। 'सुररियलिज्म' और 'व्यंगकवि निराला' सूचनाओं को ज्ञान बनाने का अच्छा स्वांग उपस्थित करता है और चिन्तन के बेमेल पेबन्दों की आपात-आकर्षक कन्था फैलाता है। किन्तु, अन्त में आचार्य जगदीश पाण्डेय का अत्यन्त मौलिक और चिन्तन-गर्भ निबन्ध—'तुलसीदास में उदात्त भावना'—ग्रन्थ के सभी अभावों का मोचन कर देता है।

कुल मिलाकर यह ग्रन्थ निराला-साहित्य के विद्यार्थियों के समक्ष अध्येतव्य सामग्री प्रस्तुत करता है।

—जैगीषव्य शास्त्री

०

'परिषद्-पत्रिका' के गतांक में समीक्षित तीन पुस्तकों—'काव्यचिन्ता', 'जीवन के छींटे (पहला भाग)' तथा 'वन के फूल' के समीक्षक प्रो० श्रीशैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव का नाम भ्रमवश छूट गया था। सुबुद्ध पाठकों से सुधार लेने का विनम्र आग्रह है।—सं०

गवेषणा[1] : केन्द्रीय हिन्दी-संस्थान, आगरा की यह अर्द्धवार्षिक मुखपत्रिका है, जिसका लक्ष्य विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न स्तरों के हिन्दी-शिक्षण तथा तुलनात्मक भाषा, साहित्य और संस्कृति-सम्बन्धी विषयों में सैद्धान्तिक और उपयोगी अनुसन्धान-कार्य को विशेष रूप से प्राश्रय और प्रोत्साहन देना है। इस दृष्टि से इसके कतिपय लेख बड़े उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सके हैं; यथा विवेकानन्द का शिक्षा-दर्शन, तमिल-भाषा की प्राचीनता, तेलुगु के अर्द्ध ह्रस्व स्वर-स्वनिमों का महत्त्व, अहिन्दी-प्रान्तों के स्कूलों में हिन्दी-परीक्षाएँ, केरल के स्कूलों में हिन्दी-पाठ्य-पुस्तकें। कुछ निबन्ध-शोधपरक हैं; यथा लाला शालिग्राम और उनकी नाटक-विषयक रचनाएँ, एक अनुपलब्ध प्राचीन कथा के जैन रूपान्तरों की खोज, मध्यकालीन गुजराती में सदयवत्स-कथा तथा गोपालकृष्ण और राधा के व्यक्तित्व-विकास में तमिल की देन। यह अन्तिम निबन्ध राधाकृष्ण-सम्बन्धी शोध-जिज्ञासुओं के अतिरिक्त सामान्य पाठकों के लिए भी कम रुचिकर नहीं। भाषाविज्ञान-विषयक निबन्ध 'मानस के ध्वन्यात्मक शब्द' में लेखक ने ग्राम्य-से लगनेवाले शब्दों की चमत्कारपूर्ण तथा सफल भावाभिव्यंजक शक्तियों से परिचित कराया है, जिस दृष्टि से अन्य काव्यग्रन्थों के भी ऐसे ध्वन्यात्मक शब्दों के अध्ययन अपेक्षित हैं। 'उर्मिला का महाकाव्यत्व' में 'कामायनी' के पश्चात् निकले महाकाव्यों में 'उर्मिला' को विभिन्न युगों का एक सफल सेतु सिद्ध किया गया है।

आधुनिक युग के महाकाव्यों के महाकाव्यत्व-प्रतिपादन में उसकी शास्त्रीय परिभाषा की ओर ध्यान अवश्य जाता है। पर, यह बहुत आवश्यक नहीं कि परम्परागत लक्षणों के चौखटे में हू-ब-हू बैठ जाने पर ही कोई रचना महाकाव्य हो सकती है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का यही मत है, जिसका अनुमोदन डॉ० दुबे ने भी किया है कि अर्वाचीन महाकाव्य के स्वरूप तथा युग की माँग और प्रवृत्ति को देखते हुए हमें यथानुकूल एवं यथासम्भव नियोजना करनी चाहिए। 'काव्य की प्रेरणा' में डॉ० विनयमोहन शर्मा ने बड़े सीधे एवं सुलझे ढंग से समस्या का विश्लेषण तथा समाधान प्रस्तुत किया है।

०

रक्त के छींटे[2] : इस पुस्तक का प्रणयन लेखक ने एक अन्याय के विरोध में किया है कि आज 'नेताओं के नाम पर सड़कें खुल रही हैं, रेलवे-स्टेशन बनाये जा रहे हैं, पुस्तकालय, स्कूल और कॉलेजों की स्थापना हो रही है, स्मारक और निधियाँ तैयार हो रही हैं; पर इनमें उन शहीदों का, वीरों का, सर पर कफन बाँध निकले हुए अलमस्तों का नाम ढूंढ़े भी नहीं मिलता, जो बिना यश प्राप्त किये जीवन की समस्त आशा-आकांक्षाओं को अपूर्ण रखे हुए, संसार से निश्चिह्न चले गये और जिन्होंने प्रतिष्ठा की एक बूँद की भी कामना नहीं की।' इससे हृदय को आघात अवश्य लगता है, पर आज अपने ही पैसों से

१. सम्पादक : श्रीबालकृष्ण राव, डॉ० श्रीव्रजेश्वर वर्मा; केन्द्रीय हिन्दी-संस्थान, आगरा; वर्ष १, अंक २; जुलाई १९६३ ई०; मूल्य : दो रुपये।
२. लेखक : श्रीहरेश्वरीप्रसाद; प्रकाशक : दिल्ली पुस्तक-सदन; मूल्य : दो रुपये, पचास नये पैसे।

लिखाये गये मानपत्रों एवं अभिनन्दन-ग्रन्थों के युग में यदि इन बुनियादी ईंटों की ओर किसी का ध्यान न जाय, तो यह भी एक प्रकार का युगधर्म ही है। आपाधापी के इस युग में किसे फुरसत है कि अपने लिए मेले लगाना छोड़कर वतन पर मरनेवाले शहीदों की चिताओं पर मेले लगाने जाय—वह भी हर बरस। लेकिन, हमेशा यही युग न रहेगा और न यह युगधर्म ही। इसे ही बदलने की दिशा में लेखक का यह प्रयास है।

भाषा विषयानुकूल पुरजोश तथा सामान्यतया साफ-सुथरी बन पड़ी है, पर कहीं-कहीं व्याकरण की दृष्टि से कुछ और अधिक सतर्कता बरती जानी चाहिए थी; क्योंकि लेखक की कामना इसे देश के भावी नागरिक बननेवाले किशोर-किशोरियों के हाथों में सौंपना है।

०

भाव और अनुभाव[1] : गद्य-काव्य की धारा को आगे चलाने की दृष्टि से लिखी गई इस पुस्तक में लेखक की स्वरचित सूक्तियों और नीति-वचनों का संकलन प्रस्तुत किया गया है, जो सीधे और सरल जीवन-यात्री के लिए समर्थ पाथेय सिद्ध होते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से नीति-वचनों एवं सूक्तियों का जीवन में बड़ा महत्त्व होता है; क्योंकि वे महापुरुषों की अनुभूतियों की आग में तपे-तपाये होते हैं। इन्हें सीधे-सादे शब्दों में जीने का नुस्खा कह सकते हैं, जिनकी उपयोगिता निस्सन्दिग्ध है। भाषा गद्यकाव्यानुकूल सहज ही बन पड़ी है।

इस पुस्तक में कुछ ऐसी भी सूक्तियाँ संकलित हो गई हैं, जो लेखक की ममता के कारण ही सूक्तियाँ कहीं जायेंगी।

छपाई-सफाई सुन्दर एवं आवरण आकर्षक है।

—प्रो० रामबुझावन सिंह

०

निराला : जीवन और साहित्य[2] : प्रस्तुत पुस्तक छायावाद के सबसे समर्थ उन्नायक महाकवि निराला पर लिखे गये संस्मरणों एवं आलोचनात्मक निबन्धों का संकलन है। कुछ निबन्ध कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित बी० एन्० कॉलेज, पटना की पत्रिका 'भारती' के 'निराला-अंक' से ही लिये गये हैं, शेष विशेष रूप से इस संग्रह के लिए ही लिखवाये गये हैं। पुस्तक के चार खण्ड हैं—१. संस्मरण और श्रद्धांजलि, २. कर्तृत्व की दिशाएँ, ३. आलोचना और मूल्यांकन तथा ४. कृति-समीक्षण। इस प्रकार, सम्पादन एक वैज्ञानिक पद्धति से किया गया है।

यह निश्चित है कि प्रस्तुत संकलन निराला-साहित्य के अध्ययन में बहुत सहायक सिद्ध होगा। इसमें निबन्धों की संख्या काफी है और वे निबन्ध निराला-साहित्य की प्रायः

१. लेखक : श्रीमुनि नथमल; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी; पृ० सं० १२०; मूल्य : डेढ़ रुपये।
२. सम्पादक : प्रो० श्रीतेजनारायणप्रसाद सिंह, प्रो० श्रीरामबुझावन सिंह, प्रो० श्रीशैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव। प्रकाशक : राज प्रकाशन, चकमुसल्लहपुर, पटना-६; पृ० सं० ३३६; मूल्य : आठ रुपये।

सभी परतों को उरेहनेवाले हैं। प्रथम खण्ड के संस्मरणात्मक लेख निराला के व्यक्तित्व का स्वरूप उपस्थित करते हैं। स्व० आचार्य शिवपूजन सहाय, श्रीउदयशंकर भट्ट और डॉ० शिवगोपाल मिश्र के लेख उस खण्ड में महत्त्वपूर्ण हैं। डॉ० मिश्र ने निराला के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक भ्रान्तियों का निवारण करके हिन्दी-पाठकों का उपकार किया है।

पुस्तक का द्वितीय खण्ड अधिक पुष्ट है। इसमें निराला-साहित्य की सभी दिशाओं का विवेचन किया गया है। इस खण्ड में लेख अपेक्षया संक्षिप्त आकार के हैं, फिर भी निराला-साहित्य के विभिन्न पथों का सम्यक् परिचय उनसे मिल जाता है। स्व० आचार्य नलिनविलोचन शर्मा, डॉ० रामखेलावन पाण्डेय और डॉ० गोपाल राय के लेख महत्त्वपूर्ण हैं। तीसरे खण्ड में निराला-साहित्य का मूल्यांकन करनेवाले लेख संकलित हैं। यह खण्ड गम्भीरता से तैयार किया गया है। निराला पर हिन्दी में अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं, लेकिन उनके बीच भी इन लेखों का महत्त्व स्थिर रहेगा। मैं उस प्रसंग में यह कहना चाहता हूँ कि डॉ० वचनदेव कुमार का लेख 'महान् भक्तकवि निराला' नहीं लिखा जाता, तो अच्छा होता और लिखे जाने पर इस संग्रह में स्थान नहीं पाता, तो और अच्छा होता। डॉ० शिवनन्दन प्रसाद के लेख में निराला के छन्दोवैभव पर पूरा विचार नहीं हो सका है। निराला के छन्दों पर केवल यान्त्रिक ढंग से मात्रा की गिनती के द्वारा विचार करना पर्याप्त नहीं है। श्री श्रीरंजन सूरिदेव का लेख विद्वत्तापूर्ण है। डॉ० धनंजय वर्मा, डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, स्व० प्रो० युगलकिशोर सिंह 'श्याम', प्रो० रामबुझावन सिंह, प्रो० अनन्त चौधरी, प्रो० कपिलदेव सिंह, प्रो० वीणारानी कंठ आदि के लेख मिहनत से लिखे गये हैं। ये लेख निराला के अध्ययन के लिए नई भूमि प्रस्तुत करते हैं।

अन्तिम खण्ड पुस्तक का सर्वप्रमुख खण्ड है। निराला की कविताओं की व्यावहारिक समीक्षा इस परिमाण में पहली बार इसी पुस्तक में की गई है। निराला की कविताएँ दुरूहता के लिए प्रसिद्ध रही हैं और वस्तुतः उनको ठीक-ठीक समझनेवालों की संख्या अब भी ज्यादा नहीं है। इसलिए, इस संकलन के सम्पादक, प्रकाशक विशेष रूप से बधाई के पात्र हैं कि उन्होंने निराला की कविताओं का व्यावहारिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। प्रो० कुमार विमल, प्रो० चन्द्रकिशोर पाण्डेय, डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव और प्रो० शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव की समीक्षाएँ उल्लेख्य हैं।

निस्सन्देह, यह ग्रन्थ निराला-साहित्य के आलोचना-ग्रन्थों में विशिष्ट स्थान का अधिकारी है। एक स्थान पर इतने पक्षों का विश्लेषण अपने-आप में निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है।

पुस्तक का मुद्रण-आकल्पन अत्यन्त प्रभावकारी है। आवरण नयनाभिराम है। कुल मिलाकर उत्पादन की दृष्टि से भी पुस्तक उच्च श्रेणी की है।

—प्रो० खगेन्द्रप्रसाद ठाकुर

०

शब्दानुशासन : एक अध्ययन[1] : 'आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन : एक अध्ययन' हरप्रसाद दास जैन-कॉलेज, आरा के संस्कृत एवं प्राकृत-विभाग के अध्यक्ष डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित पाण्डित्यपूर्ण शोध-प्रबन्ध है। शोध-प्रबन्धों के विषय का चुनाव और उनका स्तर कैसा होना चाहिए, आदर्श के रूप में डॉ० शास्त्री की यह कृति निःसंकोच रखी जा सकती है। ग्रन्थ का पुरोवाक् प्राकृत-भाषा के मान्य विद्वान् डॉ० हीरालाल जैन ने लिखा है, जो ग्रन्थ-स्तर के अनुरूप है। डॉ० हीरालालजी का यह वाक्य **व्याकरण जैसे कर्कश शास्त्र का ऐसा गम्भीर आलोडन प्रत्येक साहित्यिक के वश की बात नहीं**— ग्रन्थकार के गम्भीर अध्ययन और अध्यवसाय के सम्बन्ध में केवल परम्परा-निर्वाह नहीं कहा जा सकता, बल्कि औचित्य के अत्यन्त समीप माना जाना चाहिए।

डॉ० शास्त्री के इस शोध-प्रबन्ध का मूल भाग नौ अध्यायों एवं दो परिशिष्टों में समाप्त होता है। इसके अतिरिक्त ९० पृष्ठों में ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखी गई है, जिसमें सर्वत्र विद्वान् लेखक के गम्भीर अध्ययन तथा चिन्तन-मनन का प्रतिबिम्ब प्रतिभासित होता है। इस प्रस्तावना में डॉ० शास्त्री ने केवल अपने अध्ययनाधार 'हेमशब्दानुशासन' द्वारा आज से ८०० वर्ष प्राचीन भारत का, बड़ी ही सुरुचिपूर्ण शैली में, सांस्कृतिक विवेचन किया है और चाहा है कि तत्कालीन भारत का चित्र विद्यानुरागियों के समक्ष खड़ा करें।

हेमचन्द्र के 'शब्दानुशासन' में कुल आठ अध्याय हैं, जिनमें प्रथम सात में संस्कृत-भाषा का और अन्तिम आठवें अध्याय में प्राकृत-भाषा का अनुशासन है। शब्दानुशासन के सभी अध्याय चार-चार पादों में विभक्त हैं। इसी आठ अध्यायवाले शब्दानुशासन का विवेचनपूर्ण अध्ययन डॉ० शास्त्री ने, अपने शोध-प्रबन्ध के नौ अध्यायों में उपस्थित किया है। अन्त के प्रथम परिशिष्ट में शब्दानुशासन के संस्कृत-भाग के सात अध्यायों और २८ पादों के सूत्रपाठ दे दिये गये हैं तथा द्वितीय परिशिष्ट में प्राकृत-व्याकरण के चार पादों के सूत्रपाठ भी प्रस्तुत हैं। इन परिशिष्टों के द्वारा वस्तुतः यह शोध-प्रबन्ध पूर्णता को प्राप्त कर गया है।

परन्तु, ग्रन्थ की लम्बी प्रस्तावना में ऐतिहासिक और भौगोलिक विवेचन बिलकुल ही घिसे-पिटे हैं और निश्चय ही यह अंश डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की पुस्तक 'पाणिनि-कालीन भारत' की लीक पर लिखा गया है। डॉ० शास्त्री ने इस अंश के लिखने में स्वयं छान-बीन करने का कतई कष्ट नहीं किया है, इसलिए कोई मौलिक और नवीन तथ्य का उद्घाटन नहीं हो पाया है। उदाहरण के लिए, प्रस्तावना के पृ० १० में **यवागू** का अर्थ जौ लिखा गया है, यद्यपि आगे चलकर स्वयं लेखक ने यवागू का अर्थ स्पष्ट किया है। पृ० ११ में लिखा गया है—**यह (चेदि)-जनपद अग्निकोण में शुक्तिमती नदी के किनारे विन्ध्य-पृष्ठ पर अवस्थित था,** ऐसी मान्यता बिलकुल गलत और बे-बुनियाद है। कई लोगों की तरह डॉ० अग्रवाल का भी यही मत है। किन्तु, 'शुक्तिमती' मगध का नदी है, जिसे आज 'सकरी' कहा जाता है और जिसका उल्लेख स्वयं हेमचन्द्र ने 'सक्करी' नाम से अपने

---

१. लेखक : डॉ० श्रीनेमिचन्द्र शास्त्री; प्रकाशक : चौखम्बा-विद्याभवन, वाराणसी; पृ० सं० ४८६; मूल्य : पन्द्रह रुपये।

शब्दानुशासन में भी किया है। इसी पृ० ११ में यह वाक्य भी है—**वर्त्तमान बघेलखण्ड और तेवर चेदिराज्य के अन्तर्गत थे।** किन्तु, पता नहीं, बुन्देलखण्ड को शास्त्रीजी तब कहाँ रखना चाहेंगे? इसी तरह पृ० १९ में पर्वतों की पहचान के लिए बहुत-सी भ्रामक बातें लिखी गई हैं। लौहित्य नद के पड़ोस के लोहितगिरि को, खलतिक (बराबर) से पहचाने जानेवाले खनगागिरि को, बौद्धसाहित्य के सुपरिचित पर्वत कुक्कुटागिरि (कुक्कुटपाद) को अफगानिस्तान से बलूचिस्तान जानेवाली पर्वत-शृंखला में ढकेल दिया गया है। इसी तरह पारियात्र कुलपर्वत को 'परियात्र' लिखकर विकृत किया गया है (पृ० २०)। नदियों के प्रसंग में शोण नद का परिचय लिखा गया है कि **यह पूर्वदेश की प्रसिद्ध नदी है। पटना के समीप गंगा में यह मिलती है।** डॉ० शास्त्रीजी शोण के बहुत समीप निवास करते हैं, फिर भी ऐसा लिखना प्रमाणित करता है कि यह परिचय किसी निम्न स्तर की पुरानी पुस्तक से उधार ले लिया गया है। इसी तरह 'देविका' नदी को मद्रदेश में ले जाना और किसी 'देग' नामक नदी से इसकी पहचान कराना, किसी लीक का असतर्क अनुसरण-मात्र है। पुनः, वनों के प्रसंग में भी कल्पना की उड़ानें खूब भरी गई हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ गलत शब्दों की ओर भी मैं डॉ० शास्त्री का ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। पृ० ४० में हेमचन्द्र का एक वाक्य उद्धृत किया गया है—**परापुरुषाद् भिन्नवर्णा स्त्री परस्त्री, तस्या अन्तरापत्यं पराशवः।** मैं समझता हूँ, निश्चय ही हेमचन्द्र ने पारशवः लिखा होगा। किन्तु, डॉ० शास्त्री ने स्वयं तो 'पराशव' लिखा ही है, हेमचन्द्र को भी घसीटा है। इसी तरह, मूल पुस्तक के पृ० ३३ में डॉ० शास्त्री ने लिखा है कि यदि हेमचन्द्र ने २।४।८८ सूत्र के द्वारा 'य'-लोप का विधान नहीं किया होता, तो 'मनुष्य' शब्द से 'मानुषी' शब्द कैसे बनता? किन्तु, यह तो संस्कृत-व्याकरण का थोड़ा भी ज्ञान रखनेवाला अच्छी तरह जानता है कि 'मानुषी' की निष्पत्ति मनुष्य से नहीं, मानुष शब्द से होती है। मैं समझता हूँ, द्राविड प्राणायाम के द्वारा 'मनुष्य' से 'मानुषी' बनानेवाला एकमात्र वैयाकरण हेमचन्द्र ही हो सकते हैं। इसी तरह पृ० ५७ पर डॉ० शास्त्री ने लिखा है कि **अमर कवि ने अमरकोश में भी लिङ्गानुशासन का प्रकरण रखा है।** अमरकोश में कहीं एक जगह लिंगानुशासन-प्रकरण नहीं है, बल्कि यह सम्पूर्ण कोश नामलिंगानुशासन के रूप में ही लिखा गया है। अतः, अमर ने अपने कोश का नाम दूसरे ही श्लोक में 'नाम-लिंगानुशासन' दिया है। इस कोश का 'अमरकोश' नाम तो दूसरे लोगों के द्वारा दिया हुआ है।

उपर्युक्त कई त्रुटियों के रहते हुए भी डॉ० शास्त्री का यह ग्रन्थ आधुनिक शोध-प्रबन्धों का शिरोभूषण है। ऐसी उच्च कोटि की कृति प्रस्तुत करके उन्होंने हिन्दी का गौरव बढ़ाया है, इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं।

आकार-प्रकार को देखते हुए पुस्तक का मूल्य बहुत अधिक है।

—शशांकदेव

०

संस्कृत-सुकवि-समीक्षा[१] : प्रस्तुत समीक्ष्य कृति, हिन्दी में वैसे आलोचनात्मक ग्रन्थों के अभाव को पूरा करती है, जिसमें संस्कृत के लब्धप्रतिष्ठ कवियों की स्वस्थ आलोचना उनका काल-निरूपण, जीवन की मुख्य घटनाओं, ग्रन्थ-परिचय तथा उदाहरण के साथ प्रस्तुत की गई हो। संस्कृत-साहित्येतिहास के मर्मज्ञ एवं सतर्क समीक्षक, विद्यावयोवृद्ध आचार्य श्रीबलदेव उपाध्याय की लेखनी से प्रसूत इस प्रशंसार्ह कृति की विषय-प्रामाणिकता में मतद्वैध की सम्भावना सर्वथा नहीं है। इसमें आदिकवि वाल्मीकि से पण्डितराज जगन्नाथ तक के डेढ़ सौ से भी अधिक कवियों की विशद समीक्षा, लगभग पौने सात सौ पृष्ठों में ललित शैली में उपस्थित की गई है। अन्त में नातिविस्तृत, परन्तु परम उपादेय 'कविप्रशस्ति' से सम्बद्ध एक परिशिष्ट भी पहली बार जोड़ा गया है, जिससे इस ग्रन्थ की शोध-सूचनात्मक महत्ता बढ़ गई है तथा शोधेतिहास के विद्यार्थियों को एक नवीन दिक्संकेत भी मिला है।

प्रस्तुत महार्घ कृति की विषय-विवेचन-पद्धति को देखने के बाद इस बात से इनकार करना कभी सम्भव नहीं कि अधीती लेखक की विद्वत्ता तथा संस्कृत-समुद्र के अवगाहन की क्षमता निश्चय ही अद्भुत है। सच पूछिए, तो पण्डितप्रवर श्रीउपाध्यायजी संस्कृत-साहित्य की ज्ञान-गंगा के प्रतिरूप हैं और उनकी यह कृति हिन्दी के लिए एक समर्थतर दिव्य अवदान। इस कृति के पढ़ने में अभिभूत करनेवाली औपन्यासिकता का आनन्द मिलता है—विशेष कर कवियों की मनोरंजक और रोमांचकर जीवन-घटनाओं के पढ़ने में। शैली पण्डित्यपूर्ण होते हुए भी भाषा सरल, सरस और प्रवाहपूर्ण है। संस्कृत-उद्धरणों की प्रूफ-सम्बन्धी भूलें कहीं-कहीं अधिक अखरनेवाली हैं, फिर भी इसकी छपाई-सफाई अप्रशंस्य नहीं।

समीक्षित कवियों में कतिपय ऐसे महनीय कवि छूट गये हैं, जिनके सम्बन्ध में सुधी पाठकों की जिज्ञासाएँ अभीतक अतृप्त हैं। उदाहरणस्वरूप, चौरकवि का जीवनवृत्त अबतक अप्रसिद्ध ही है। उसकी प्रसिद्ध कृति 'चौरपञ्चाशिका' के पढ़ने से लगता है, उसका जीवन रसमय होते हुए भी अधिक संघर्षमय था।

इस ग्रन्थ को लिखकर बहुश्रुत लेखक उन पाठकों के आन्तरिक धन्यवाद पर निस्सन्देह ऐकाधिपत्य प्राप्त करेगा, जिन्हें अबतक संस्कृत-कवियों के सम्बन्ध में उठनेवाली अपनी जिज्ञासाओं को, किसी ऐसी रचना के अभाव में, जैसे-तैसे बहला देना पड़ता था।

मैं इस अद्वितीय प्रकाशन को प्रत्येक हिन्दी-पाठक के लिए अनिवार्य घोषित करता हूँ।

—रसनायक

०

---

१. लेखक : पं० श्रीबलदेव उपाध्याय ; प्रकाशक : चौखम्बा-विद्याभवन, वाराणसी ; मूल्य : बीस रुपये।

श्रीवैद्यनाथशिवप्रशस्तिः[१] : सुललित संस्कृत-श्लोकों में निबद्ध यह पुस्तक अपने नामानुरूप, द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में अन्यतम वैद्यनाथ शिव का सविशेष परिचय के साथ उनके माहात्म्य को प्रस्तुत करती है। शिव को लंका ले जाकर स्थापित करने की चेष्टा में रावण की असफलता की बहुविदित मनोरंजक कथा के साथ ही इसमें वैद्यनाथ-मन्दिर के परिपार्श्व में स्थित मन्दिरों का भी प्रदक्षिणा-क्रम से रोचक परिचय दिया गया है। इसके अतिरिक्त घण्टा, चन्द्रकूप, शिवगंगा, फूल-माला का विक्रय, सरदार पण्डा के द्वारा शिव का पूजन, शिव की सायन्तन शृंगारपूजा, शिवभक्तों की भीड़ आदि का विशद विवरण धार्मिक विश्वास की चिरस्थिर आधारभूमि पर बड़ी विलक्षणता से उपस्थित किया गया है, जिससे इस पुस्तक की सूचनात्मक महत्ता बढ़ गई है। इस पुस्तक से भारत के किसी भी कोने में रहनेवाला शिवभक्त वैद्यनाथ-क्षेत्र की पौराणिकता और उसकी सर्वतोभद्र स्थिति से अनायास अवगत हो जायगा। अधिकतर धार्मिक दृष्टकोण से ही प्रस्तुत समीक्ष्य पुस्तक का समादर व्यापक हो सकेगा, यह असन्दिग्ध है। साथ ही, संस्कृत में लिखे जाने के सौभाग्य से इस कृति को कहीं किसी प्रकार के भाषा-वैमत्य का भी सामना नहीं करना पड़ेगा। इसका चतुर्दिक् प्रसार पूर्ण सम्भावित है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक पद्मश्री पं० श्रीविष्णुकान्तजी झा संस्कृत के कविहृदय अधीती होने के साथ ही ज्यौतिष के राष्ट्रस्वीकृत विद्वान् हैं, इसलिए इनकी भाषा पाणिनीयता से वंचित नहीं। प्रत्येक श्लोक की काव्यमाधुरी भाषा की ग्रन्थिलता से उन्मुक्त है। संस्कृत का साधारण ज्ञान रखनेवाला भी इस पुस्तक को पाकर अपने को अकृतार्थ नहीं मानेगा।

पुस्तक का मुद्रण सन्तोषजनक न होते हुए भी दूष्य नहीं। आवरण भड़कीला है।

—देवसूरि

• ०

भुज (कच्छ) की व्रजभाषा-पाठशाला[२] : महाराजा सयाजीराव-विश्वविद्यालय, बड़ौदा के हिन्दी-विभाग द्वारा प्रकाशित, हिन्दी शोध-निबन्धमाला के प्रथम पुष्प के रूप में 'भुज (कच्छ) की व्रजभाषा-पाठशाला' नामक कृति कुँअर चन्द्रप्रकाश सिंह के द्वारा अत्यन्त परिश्रमपूर्वक लिखित है। 'प्रास्ताविक' लेखक सरदार वल्लभभाई-विद्यापीठ के उप-कुलपति बाबुभाई जशभाई पटेल ने इसके बारे में ठीक ही लिखा है कि इस निबन्ध ने न सिर्फ भुज की व्रजभाषा-पाठशाला के प्रति हमारे ऋण पर प्रकाश डाला है, बल्कि तत्कालीन कच्छ के इतिहास, समाज-जीवन, राज्यव्यवस्था, आर्थिक परिस्थिति, संस्कारी राज्यों की विद्यारुचि वगैरह पर भी सुन्दर प्रकाश डाला है और इस प्रकार इस निबन्ध के द्वारा उसके विद्वान् संशोधक ने गुजरात की और हिन्दी-साहित्य की एवं भारत की प्रशंसनीय सेवा की है। साथ ही, लेखक का यह मत भी कि पाठशाला राष्ट्रीय भाषा, साहित्य और

---

१. लेखक : पं० श्रीविष्णुकान्तझा; प्रकाशक : श्रीगणेशकान्तझा, बैकठपुर, खुशरूपुर (पटना); चौहट्टा, बाँकीपुर, पटना–४; मूल्य : तीन रुपये।

२. लेखक : कुँअर चन्द्रप्रकाशसिंह; प्रकाशक : हिन्दी-विभाग, महाराजा सयाजीराव-विश्वविद्यालय, बड़ौदा; मूल्य : एक रुपया, पचास नये पैसे।

संस्कृति की एकता का अनुपम स्मारक मानी जानी चाहिए, अस्वीकार्य नहीं। लेखक ने इस व्रजभाषा-पाठशाला को स्पष्ट करने के लिए सम्पूर्ण परिवेश पर ध्यान दिया है। इसके संस्थापक, इसके आचार्य, इसके पाठ्यक्रम, इसके प्रभाव आदि का सम्यक् विवेचन किया है। प्रमाणों पर अधिक ध्यान देने के कारण, यह निबन्ध, लघु शोध-प्रबन्ध का ही भ्रम उत्पन्न करता है। यह प्रसन्नता की बात है कि लेखक ने इस पाठशाला के संस्थापक महराव लखपतिसिंह के, जिनके वंशधर भुज (कच्छ) में आज भी जीवित हैं, संस्तुतिपूर्वक वर्णन में संयम का बाँध नहीं तोड़ा है और भावुकता पर विवेक का अंकुश चढ़ाये रखा है। विवरणों की रूक्षता को कौशल से सरस बनाये रखना लेखक की कुशलता का द्योतक है।

यों, निबन्ध को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर, ऐसा प्रतीत होता है कि व्रजभाषा-पाठशाला के वर्णन-क्रम में अवान्तर प्रसंगों को भी विस्तारपूर्वक कहने का लोभ लेखक संवरित नहीं कर पाया है, यहाँतक कि उसने गोपकवि का भी, पाठशाला से, बादरायण सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। इस पाठशाला से सम्बद्ध 'गोपकवि और उनकी कृतियाँ' शीर्षक अंश को स्वतन्त्र निबन्ध के रूप में आसानी से अलग किया जा सकता है।

संक्षेपतः, पुस्तक स्वागत के योग्य है।

०

आओ खुली बयार[1] : प्रकाशकीय उद्घोषणा के अनुसार, अलफाबीटा श्रेष्ठ ग्रन्थ-प्रतियोगिता (१९६२) में द्वितीय पुरस्कार-विजयी, प्रक्रियात्मक दृष्टिकोण के कवि राजेन्द्रप्रसाद सिंह के सुरुचिपूर्ण पचास नवगीतों का संग्रह है, जो आज और अभी की सुरुचिपूर्ण माँगों की पूर्त्ति करते हैं एवं सभी वर्गों और विचारधाराओं के पाठकों के लिए प्रगमनमूलक बोध और भावना के द्वार खोलते हैं। इस उद्घोषणा से सबका सहमत होना अनिवार्य नहीं है। जहाँतक नवगीतों का प्रश्न है, कवि ने विधि (भूमिका के प्रयोगवादी नाम) में स्वयं स्वीकार किया है कि नई कविता के सात मौलिक तत्त्व हैं—ऐतिहासिकता सामाजिकता, व्यक्तित्व, समाहार, समग्रता, शोभा और विराम, तो नवगीत के पाँच विकासशील तत्त्व हैं—जीवन-दर्शन, आत्मनिष्ठा, व्यक्तित्व-बोध, प्रीतितत्त्व और परिसंचय ('गीतांगिनी' की भूमिका से उद्धृत)। यहाँ नई कविता का 'व्यक्तित्व' और 'नवगीत' का 'व्यक्तित्व-बोध' ध्यान देने योग्य है। व्यक्तित्व शब्द व्यापक अर्थ रखता है और इसमें शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक सभी तत्त्व चले आते हैं। ऐतिहासिकता, सामाजिकता, समाहार, आत्मनिष्ठा, परिसंचय आदि के छोर भी अछूते नहीं बचते। व्यक्तित्व की अन्तर्मुखता ही गीत के रूप में फूटती है, बहिर्मुखता नहीं। ऐसा प्रतीत होता है, नवता के आग्रह में कवि महोदय ने प्रायः अन्तर्लापी (Overlapping) आधार प्रस्तुत कर दिया है—विवेचन के लिए, मूल्यांकन के लिए।

१. लेखक : श्रीराजेन्द्रप्रसाद सिंह; प्रकाशक : अलफाबीटा पब्लिकेशन्स, पो० बा० २५३६, कलकत्ता-१; मूल्य : चार रुपये।

आओ खुली बयार के गीत भी कथ्यतः नव अथवा नवित नहीं हैं। 'ओ अतिथि मेरे द्वार के', 'आरोही का गीत', 'कपूरी दिये', 'ओऽऽऽ पुरवाई', 'ढक लो और मुझे तुम', 'तुम हो', 'आत्मस्रोत' आदि गीत कवि की सफलता के सूचक हैं। कवि अरबी, फारसी आदि के शब्दों को विजातीय नहीं समझता, यह सन्तोष की बात है।

मुद्रणगत अशुद्धियों का अभाव तो नहीं ही कहा जा सकता।

०

कहानी की होली[1] : स्वर्गीय आचार्य नलिनविलोचन शर्मा की पावन स्मृति में समर्पित और श्रीचन्द्रभूषण शर्मा 'भूषण' द्वारा लिखित लेखक के शब्दों में 'सत्य के परीक्षण' के लिए प्रस्तुत हैं। सत्य का कितना अंश इन कहानियों में अंकित है, कहना मुश्किल है। पुस्तक की भूमिका लेखक ने ही लिखी है, भूमिका ही नहीं, कहानियों की पीठिका के प्रस्तुतीकरण तथा मूल्यांकन के लिए अनावश्यक सामग्री देकर, पुस्तक को स्फीत कर दिया गया है। आज का युग आशंसाओं पर विश्वास करने का युग नहीं, अनुभूत तथ्यों के आधार पर निरीक्षण और परीक्षण का युग है। इस दृष्टि से लेखक चन्द्रभूषण शर्मा 'भूषण' की कहानियाँ 'नई कहानी' और 'नहीं कहानी' के बीच की चीज कहकर पुकारी जा सकती हैं। कहानियाँ, स्थूल रूप से, शीर्षक (कहानी की होली) को सार्थक कर रही हैं, वह इस रूप में कि जैसे होली जलाने में तरह-तरह की लड़कियाँ, गोंयठे, रद्दी काठ आदि इकट्ठे किये जाते हैं, वैसे यहाँ भी कहानी के नाम पर, छोटी कहानी, चुटकुला, गद्यगीत आदि को एकत्र कर दिया गया है, जिनमें से कुछ पत्र-पत्रिकाओं में पहले से प्रकाशित भी हैं। चामत्कारिक अन्तवाली कुछ कहानियाँ यथा 'मधुशाला के शरणार्थी' में मुपाशाँ का प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

मुद्रण, आकल्पन, आवरण आदि साधारण हैं।

—प्रो० स्वर्णकिरण

०

शिक्षक-सन्देश[2] : हिन्दी-साहित्यप्रेमियों के समक्ष यह कहते मुझे बहुत सुख का अनुभव हो रहा है कि अहिन्दी-क्षेत्र से यह 'शिक्षक-सन्देश' पत्रिका हर मास में सज-धजकर निकलती है। प्रस्तुत, अंक मार्च १९६४ ई० का है। इसी अंक के साथ यह पत्रिका अपने जीवन के दूसरे वर्ष में प्रवेश करती है। इस शैक्षणिक संकलन में मुख्यतः हिन्दी के १४ निबन्ध-लेख प्रकाशित हैं। अन्त में कुछ पुस्तकों की समीक्षा भी है। इतना ही नहीं, अँगरेजी-भाषा में भी तीन निबन्ध इसमें संकलित हैं। सही बात तो यह है कि इस अंक के संग्रह में विदेशी शिक्षाशास्त्रियों के लेख अनूदित रूप में अधिकतर हैं। इसका एकमात्र

---

१. लेखक : श्रीचन्द्रभूषण शर्मा 'भूषण'; प्रकाशक : शिक्षासेवा-संघ, पलटन बाजार, गौहाटी (असम); मुख्य वितरक : अखबार-घर, भैंसीबाजार, गौहाटी (असम); मूल्य : सजिल्द दो रुपये, अजिल्द एक रुपया, पच्चीस नये पैसे।

२. सम्पादक : श्रीहरिश्चन्द्र विद्यार्थी; प्रकाशक : संगम साहित्य-प्रकाशन, हैदराबाद; मूल्य : एक रुपया।

उद्देश्य यही है कि राष्ट्रभाषा-हिन्दी के माध्यम से विदेशी शिक्षण-पद्धतियों और उन देशों की शिक्षा की गतिविधियों से पूर्णतः अवगत कराया जाय। आज जब हम एक प्रगतिशीलात्मक शिक्षण-प्रणालियों के बीच से गुजर रहे हैं, इस तरह की आदर्श पत्रिका की नितान्त आवश्यकता है। इसमें शिक्षासूत्रों तथा विद्यार्थियों के बारे में काफी लाभप्रद चर्चा है। सम्पादक की विचारधारा भी स्तुत्य है।

०

छात्र-सदाचार-साधन [1] : यह बात बावन तोले पाव रत्ती ठीक है कि चरित्र को खोकर कुछ भी नहीं किया जा सकता है। चरित्रहीन व्यक्ति पृथ्वी पर भारस्वरूप ही हैं। दूसरी बात कि मानव-जीवन में जो छात्रावस्था की वेला होती है, उसका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। उस समय आदमी कच्ची मिट्टी की तरह रहता है, उसे चाहे जिस तरह बनाया जा सके। जीवन के इस एक सुनहले भाग का ह्रास होना सब कुछ खो देना है। अतः, छात्र-जीवन को संयत रखा जाय। इसी बात को ध्यान में रखकर विद्वान् लेखक ने सदाचार के सुलझे हुए साधनों की ओर संकेत इस पुस्तक में किया है। शिक्षकों और शिष्यों में अन्तेवासीय वैयक्तिक सम्पर्क का अभाव बहुत अंश तक बढ़ती हुई अनुशासनहीनता के लिए उत्तरदायी है। लेखक महोदय सम्पूर्ण पुस्तक में छात्रों में सदाचार के बीज वपन करने में सफलप्रयास हुए हैं।

०

चट्टान और धारा [2] : अकेलाजी हिन्दी के उदीयमान लेखक हैं। प्रस्तुत उपन्यास में एक नई टेकनीक है और यह किसी घटना या चरित्र-विशेष की नहीं, प्रत्युत भारत-चीन सीमा-संघर्ष की राजनीतिक पृष्ठभूमि पर आधृत है। विगत भारत-चीन-सीमा-संघर्षकाल में कुछ ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया, जिसकी आड़ लेकर देश के प्रतिक्रियावादी तत्त्वों ने देश के हित को ताख पर रखकर अपने स्वार्थ-साधन की भरपूर कोशिशें की। पर, ऐसा हो सका नहीं। तमाम देशभक्त तथा प्रगतिशील लोगों की जागरूकता तथा सतर्कता ने इनकी दाल नहीं गलने दी। लेखक ने मूलतः इन्हीं सारी बातों को आधार बनाकर रोचक शैली में इस उपन्यास का निर्माण किया है। प्रस्तुत करने का ढंग पूर्णतः प्रामाणिक है।

शुद्धिपत्र होने के बावजूद भी अशुद्धियाँ कुछ बाकी रह गई हैं। छपाई तथा गेटप शानदार है।

—प्रो० लालमोहर उपाध्याय

●●

---

१. लेखक : डॉ० श्रीवैद्यनाथ प्रसाद, प्रकाशक : छात्र-सदाचार-उन्नयन-मण्डल, आर्यायन वेला, पटना—१; पृ० सं०; १००; मूल्य एक रुपया, पचहत्तर नये पैसे।

२. लेखक : श्रीमहावीरप्रसाद 'अकेला'; प्रकाशक : अंगार प्रकाशन, वाराणसी; पृ० सं० ३३३; मूल्य : चार रुपये।

जायसी-कृत मसलानामा के कुछ महत्त्वपूर्ण मसले

'मसलानामा' जायसी की एक नवोपलब्ध लघु रचना है, जिसका उद्धार श्रीअमर-बहादुर सिंह 'अमरेश' ने किया है। यह रचना 'हिन्दुस्तानी' (त्रैमासिक), भाग २१, अंक २ में हिन्दी-संसार के समक्ष प्रथम बार आई है। जायसी की एक अन्य कृति 'कहरानामा' के साथ 'कहरानामा मसलानामा' नाम से इसका प्रकाशन दिसम्बर, १९६२ ई० में हिन्दुस्तानी अकादमी (प्रयाग) से हुआ है।

'मसलानामा', जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट है, मसलों (मसायल) का संग्रह है। इसमें कवि ने जीवन के गहन अनुभवों को मसलों द्वारा व्यक्त किया है। 'मसला' शब्द अरबी 'मसल' से निष्पन्न है, जो 'मिस्ल' से बना है और जिसका अर्थ समान, तुल्य होता है। मसला का अर्थ है—कहावत, लोकोक्ति अथवा विचारणीय विषय। जायसी के मसलानामा पर उपर्युक्त सभी अर्थ ठीक बैठते हैं। इसमें कवि ने अपने जीव-जगत्-सम्बन्धी विचारों को लोकोक्तियों द्वारा प्रस्तुत किया है।

'मसलानामा' में जो लोकोक्तियाँ अपनाई गई हैं, वे अवधी भाषा की हैं। आज से लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व ही जायसी ने लोकोक्तियों का संकलन करके साहित्य के क्षेत्र में एक नवीन परम्परा को जन्म दिया था। उन्होंने सीधे-सादे शब्दों में जनभाषा में लोकोक्तिया के द्वारा अपने भावों को व्यक्त करके मौलिकता का परिचय दिया था। इन लोकोक्तियों में जहाँ कुछ सार्वभौम तथ्यों का उद्घाटन किया गया है, वहाँ इनमें कवि के समय की कुछ विशेष प्रवृत्तियों के भी संकेत मिलते हैं। इसी बात को दृष्टिपथ में रखते हुए यहाँ हम मसलानामा के कुछ मसलों पर विचार करेंगे।

आज हिन्दी में जो लोकोक्तियाँ प्रचलित हैं, उनमें से कई के पुराने रूप हमें जायसी के मसलानामा में देखने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ मसले इस प्रकार हैं—

दूध-क-दूध, पानि-का-पानि। (२१)
धाही आगे पेट छ्पावै। (३२)
दिना-चार की चाँदनी, फिरि अंधियारा पाख। (३५)
घर के भेदिहा लंका डाह। (४५)
जैसा कुत्ता धोबि को, भयो न घर को घाट॥ (४७)
नाच न जाही टेढ़े आँगन। (६०)

मसलानामा के कुछ मसले ऐसे हैं, जिनमें तत्कालीन कुछ विशेष प्रवृत्तियों के संकेत प्राप्त होते हैं। यथा, निम्नलिखित मसलों से स्वामी की प्रशंसा, शक्ति का बोलबाला एवं बलप्रयोग की पुष्टि होती है—

जोहि का खाई, तेहि का गाई। (१)
छूछ पछोरै, उड़ि-उड़ि जाई। (२)
जिसकी लाठी, तिसकी भैंसि। (२०)
सूधी अँगुरी न निकसत घीऊ। (२६)

कई बार लोकोक्तियों में हमें तत्कालीन समाज एवं उसके विभिन्न वर्गों की झलक भी मिल जाती है। मसलानामा से इस प्रकार के दो मसले उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किये जाते हैं--

जेहि घर सासु-तरुनियाँ, बहुवा कौन सिंगार। (१८)

तरुणी सास के सामने भला बहू क्या शृंगार कर सकती है। यहाँ परिवार में सास की सत्ता का संकेत मिलता है। पदमावत की निम्नांकित पंक्तियों से भी इसकी पुष्टि होती है—

सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेहीं।

× × ×

सासु ननद के भौंह सिकोरे। रहब सँकोचि दुवौ कर जोरे॥

—जायसी-ग्रन्थावली : शुक्ल, पृ० २३।

इसी प्रकार, निम्नलिखित मसले में परम्परागत वणिक्-वृत्ति का संकेत प्राप्त होता है—

माँगे बनियाँ गुर नहिं देई। (३६)

कुछ मसलों में प्रदेश-विशेष के महत्त्व एवं वहाँ के लोगों की विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। यथा :

संभल बसै, अलोना खाई। (५०)
थोरा खाइ बनारस बसै। (५६)
भूखा बंगाली भातै-भात। (५७)

इस प्रकार, मसलानामा के मसलों के आधार पर तत्कालीन जीवन-पद्धति एवं समाज के कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य हमारे सम्मुख प्रकट होते हैं।

—प्रो० रामस्वरूप आर्य
हिन्दी-विभागाध्यक्ष,
वर्द्धमान कॉलेज, बिजनौर

०

ध्यातव्य : मसलों के आगे की संख्या श्रीअमरबहादुर सिंह 'अमरेश' द्वारा सम्पादित 'कहरानामा मसलानामा' पुस्तक से दी गई है।—ले०

एक साहित्यिक का विचारपूर्ण वक्तव्य*

सच कहता हूँ कि मैं लेखक नहीं हूँ और यह विनय-भाव से नहीं, अहंभाव से कह रहा हूँ। अगर पंजाब-सरकार को मेरे साहित्यकार होने का वहम हो गया है, तो मैं इसका दोषी नहीं हूँ। मैंने कभी लेखक बनने का अपराध नहीं किया है। यह हो सकता है कि मेरा अभिनन्दन एक असफल लेखक के नाते किया गया हो। प्रेमचन्द ने ठीक ही कहा था कि असफल लेखक ही आलोचक बन जाता है। इसके साथ अगर यह जोड़ दिया जाय कि असफल व्यक्ति ही दूसरों की आलोचना और निन्दा करने में रस पाने लगता है, तो अनुचित न होगा। मेरे लेखक न होने का यह भी एक कारण है कि मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ—देखने में, रहन-सहन में, प्रतिभा में। लेखक असाधारण व्यक्ति होता है। इसके अतिरिक्त लेखक की तरह मैंने घाट-घाट का पानी भी नहीं पिया है। केवल नल का पानी पीनेवाला लेखक कैसे बन सकता है। अपने मकान से बहुत कम निकला हूँ। इस तरह मेरा जीवन सीमित रहा है, अनुभूतियों से वंचित। अबतक केवल चार घटनाओं का एहसास है—एक पैदा होने की, दूसरी खेल-कूद में गाल पर गुल्ली लगने की, तीसरी स्कूटर से गिरने की और चौथी आज तमाशा बनने की। और, पाँचवीं घटना जब घटेगी, तब उसका मुझे अहसास नहीं होगा। इसलिए, अनुभूतियों के बिना लिखना कैसे हो सकता था और लेख किस तरह बन सकता था। मुझमें न तो लेखक के गुण हैं और न ही लक्षण। अगर आज लेखक बनाया गया हूँ, तो एक बैरंग लेखक कहा जा सकता हूँ, जिसपर भाषाविज्ञान ने टिकट चिपका दिया है। लेकिन, इस वहम को कबतक पाल सकता हूँ। मुझे आशा है कि सरकारी टिकट के उतरने में अधिक समय नहीं लगेगा। इसपर गोंद कम हुआ करती है। जबतक यह टिकट उतरता नहीं है, तबतक मुझपर उँगलियाँ उठती रहेंगी कि मैं साहित्यकार हूँ और यह साहित्यकार होकर भी खुद सब्जी खरीदता है, खुद हाँड़ी पकाता है और खुद खा जाता है। यह लेखक होकर खुद फूल उगाता और खुद उनको देखता और सूँघता रहता है। एक लेखक का असली काम तो लिखना और पढ़ना होता है। अब तो शायद यह विश्वास हो जायगा कि साहित्यकारों की पंक्ति में खड़ा होने का मेरा अधिकार नहीं है। मैं महामानव बनने के लिए अपनी मानवीयता को खोना नहीं चाहता हूँ।

अगर सौ नये पैसे सही कहा जाय, तो मैं केवल एक पढ़ानेवाला हूँ और पढ़ाने के लिए थोड़ा पढ़ना-सोचना भी पड़ा है। अपनी सोच को साफ करने के लिए कभी-कभी लिखने की भूल अवश्य की है। वह इसलिए कि मेरी बात की कड़ी आलोचना हो सके। मतभेद से बात स्पष्ट हो सकती है, या उलझ सकती है, या गिर भी सकती है। मुझे गुड़ की मिठास से करैले की कड़वाहट अधिक पसन्द है। अबतक मेरी दृष्टि को कड़ी

* पिछले दिनों पंजाब-सरकार की ओर से किये गये अपने अभिनन्दन के अवसर पर डॉ० श्रीइन्द्रनाथ मदान (रीडर, हिन्दी-विभाग, पंजाब-विश्वविद्यालय) द्वारा प्रस्तुत विचारोत्तेजक वक्तव्य का मार्मिक अंश।

आलोचना के लायक नहीं समझा गया है, मेरी बात को पढ़ने योग्य नहीं माना गया। मेरा जीवन मेरे स्टडेंट्स तक सीमित रहा है और वे मेरी कड़ी आलोचना से परहेज करते रहे हैं। मेरे छात्र ही मेरी जिन्दगी की सबसे बड़ी दौलत है और यह चलने-फिरनेवाली दौलत है। हर साल बदलती रही है। इनकी अक्ल और शक्ल मेरे रीतेपन को भरती और खाली करती रही है। किनकी अक्ल और किनकी शक्ल, इसका अनुमान आप बेहतर लगा सकते हैं। इनको ही मैं अपना स्नेह देने की कोशिश करता रहा हूँ। इस तरह मेरा दायरा बहुत छोटा रहा है और मैं इससे असन्तुष्ट भी नहीं हूँ। अगर मैं साहित्यकार समझा गया हूँ, तो यह एक भ्रम है और भ्रम को दूर करना मेरे बस का रोग नहीं है।

इस अवसर पर स्नेह की गोंद से लेखक होने का सरकारी टिकट ही नहीं, सराहना की स्याही से मुहर भी आपके सामने लग चुकी है। सबके स्नेह और सराहना का आभारी हूँ। स्नेह में सराहना तो अवश्य रहती है, लेकिन कभी-कभी सराहना में भी स्नेह होता है। उन सबसे मेरी सहानुभूति है, जिनको मेरी यह सराहना अखर रही हो। इसमें मेरा न दोष है और न ही परिश्रम। आप शायद मुझसे पते की बात सुनने की आशा लगाये बैठे हों। लेकिन, मैं वह पहुँचा हुआ व्यक्ति नहीं हूँ, जो सन्देश देने का अधिकारी होता है। मैं तो स्वयं एक भटक रहा इन्सान हूँ, जो किसी राह का खोजी भी नहीं रहा, जिसे किसी मंजिल पर पहुँचने की आशा भी नहीं है। मुझे तो लगता है, मानव की नियति अभिशप्त है और हर नये सन्देश ने उसे धोखा दिया है। एक ने कहा कि यह मानव की अन्तिम साधना है और इसके बाद यह अतिमानव या सुपरमैन बन जायगा। यह नहीं हुआ। एक और ने भविष्यवाणी की कि शोषित का एक आखिरी युद्ध है और इसके बाद शोषण का अन्त हो जायगा। इसका भी अन्त नहीं हुआ। एक और ने विश्वास दिलाया कि भारत में स्वाधीनता के बाद रामराज्य की स्थापना हो जायगी, वह भी आँखों से ओझल है। आज पुराने सपने टूट रहे हैं, विश्वास गिर रहे हैं। मेरे पास तो प्रश्न-ही-प्रश्न हैं, उनके उत्तर नहीं। आप उत्तर चाहते हैं, समाधान चाहते हैं, असमंजस की स्थिति से निकलना चाहते हैं। मैं स्वयं इस स्थिति में पड़ा हुआ हूँ। मुझे तो यह भी सन्देह है कि सत्य को पाया भी जा सकता है या नहीं। पुराने सत्य को खोया अवश्य है। अगर किसी ने इसे पा लिया है, तो मैं उसको मुबारकबाद देता हूँ। यह ठीक है कि असमंजस की स्थिति में जीना बड़ा कठोर होता है, इसका सामना करना बड़ा कठिन होता है। क्या किया जाय? आज स्थिति भी गति हो रही है और वह पकड़ में नहीं आ रही है। इसलिए, मेरे पास कहने को कुछ नहीं है, भुलावे में डालने के लिए कोई सन्देश नहीं है, झूठ बोलने से भी थोड़ा परहेज करता हूँ। उपदेश सुनने और सन्देश देने से चिढ़ है।

[मा० 'नया साहित्य' (दिल्ली); वर्ष ६, अंक ५, मई, १९६४ ई०]

●●

परिषद् के गौरव-ग्रन्थ

साहित्य और संस्कृति

१. **श्रीरामावतार शर्मा-निबन्धावली** : ले० स्व० महामहोपाध्याय श्रीरामावतार शर्मा : स्व० शर्माजी अपनी प्रकाण्ड विद्वत्ता के लिए विख्यात थे। इस पुस्तक में उनके ३८ महत्त्वपूर्ण निबन्धों का संग्रह है। पृ० सं० ३३६। मूल्य ८.७५।

२. **वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति** : ले० महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधर शर्मा चतुर्वेदी : भारतीय संस्कृति तथा वैदिक रहस्यों की गुत्थियों को सुलझानेवाला अपने विषय का यह एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है। पृ० सं० ३२६। मूल्य ५.००। भारत-सरकार की साहित्य-अकादमी द्वारा पुरस्कृत।

३. **कथासरित्सागर** : मू० ले० महाकवि सोमदेवभट्ट : अनु० : स्व० पं० श्रीकेदारनाथ शर्मा 'सारस्वत' : दो खण्ड प्रकाशित। तीसरे खण्ड की प्रतीक्षा करें। प्रथम खण्ड के प्रारम्भ में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की लिखी २६ पृष्ठों की विद्वत्तापूर्ण भूमिका। प्राचीन कथा-ग्रन्थ के मूल संस्कृत-श्लोकों के साथ सरल हिन्दी-अनुवाद। प्रथम खण्ड की पृ० सं० ८४१। मूल्य १०.००। द्वितीय खण्ड की पृ० सं० १०१४। मूल्य १२.५०।

४. **दोहाकोश** : मूल रचयिता : सिद्ध सरहपाद; हिन्दी-छायानुवादक तथा सम्पादक : महापंडित श्रीराहुल सांकृत्यायन : इस पुस्तक में सरहपाद की उन रचनाओं का संग्रह है, जिनका श्रीराहुलजी ने तिब्बती भोट-भाषा से पुनः हिन्दी-छायानुवाद किया है। इसमें सरहपाद की कुछ मूल रचनाओं के उदाहरण भी दिये गये हैं। पृ० सं० ५५८। मूल्य १३.२५।

५. **हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन** (द्वितीय संस्करण) : ले० डॉ० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल : यह पुस्तक महाकवि बाणभट्ट के प्रसिद्ध ऐतिहासिक संस्कृत-गद्यग्रन्थ के आधार पर लिखी गई है। महाकवि बाण ने अपने समय के राजा, राजदरबार वैभव, सामाजिक अवस्था, महोत्सव, सेना-संचालन, गृहशिल्प आदि विषयों का बड़े ही सरस ढंग से वर्णन किया है, जिसका हिन्दी में आकर्षक और रोचक शैली में विद्वान् लेखक ने चित्र खड़ा कर दिया है। दो तिरंगे और ११८ इकरंगे ऐतिहासिक चित्र। मूल्य ६.५०। भारत-सरकार और उत्तरप्रदेश-सरकार द्वारा पुरस्कृत।

६. **काव्यमीमांसा** : मू० ले० महाकवि राजशेखर : अनु० स्व० पं० श्रीकेदारनाथ शर्मा सारस्वत : संस्कृत-साहित्य में इस पुस्तक का बहुत बड़ा सम्मान है। इसमें संस्कृत के मूल श्लोकों के साथ हिन्दी-अनुवाद दिया गया है। प्रारम्भ में अनुवादक ने २१ पृष्ठों में राजशेखर का और ३५ पृष्ठों में मूल संस्कृत-ग्रन्थ का आलोचनात्मक परिचय दिया है। पृ० सं० ४५०। मूल्य ६.५०।

७. शिवपूजन-रचनावली (चार खण्डों में) : ले० स्व० आचार्य श्रीशिवपूजन सहाय : आचार्य सहायजी शब्दशिल्पी और शैलीकार के रूप में सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् में विख्यात हैं। उन्हीं की प्रकाशित महत्त्वपूर्ण रचनाओं का चार खण्डों में यह अभूतपूर्व संग्रह हिन्दी-जगत् के लिए एक अनुकरणीय परम्परा है। प्रथम खण्ड पृ० सं० ४२६। मूल्य ८.७५। द्वितीय खण्ड पृ० सं० ४७२। मूल्य ६.००। तृतीय खण्ड पृ० सं० ५२०। मूल्य १०.००। चतुर्थ खण्ड पृ० सं० ६६६। मूल्य ८.५०।

८. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन : ले० आचार्य श्रीविनयमोहन शर्मा : महाराष्ट्र के जिन प्राचीन सन्तों ने पुरानी हिन्दी में अपनी अमरवाणियों की रचना करके राष्ट्रभाषा हिन्दी को गौरवान्वित किया है, उन्हीं प्रमुख सन्तों की वाणियों, विचारों और भावों का अपूर्व संग्रह। पृ० सं० ५२०। मूल्य ११.२५।

९. रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना : ले० डॉ० श्रीभुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' : यह पुस्तक रामभक्ति-साहित्य के अन्तर्गत मधुर उपासकों, रसिक सन्तों और महात्माओं तथा उपासना-साहित्य का विशद परिचय प्रस्तुत करती है। यह अपने विषय पर बड़ी ही रोचक शैली में लिखित एक प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थ है। रसिक सन्तों के चुने हुए पदों का संग्रह भी दिया गया है। पृ० सं० ४७०। मूल्य १०.२५।

१०. दक्खिनी हिन्दी-काव्यधारा : ले० महापण्डित श्रीराहुल सांकृत्यायन : इस पुस्तक के द्वारा महापण्डित श्रीराहुल सांकृत्यायन ने सिद्ध कर दिया है कि दक्खिन के मुसलमान कवि ही खड़ी बोली के आदिकवि हैं। ऐसे ३६ कवियों की जीवन-चर्चा उनके पदों के साथ इस पुस्तक में संगृहीत है। पृ० सं० ३६६। मूल्य ६.००।

११. सन्तकवि दरिया : एक अनुशीलन : ले० डॉ० श्रीधर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री : इसमें सन्त-कवि दरिया के अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों का शोध-समीक्षा की दृष्टि से मूल्यांकन किया गया है। अपने ढंग की शोधपूर्ण पुस्तक। पृ० सं० ५००। मूल्य १४.००।

१२. सन्तमत का सरभंग-सम्प्रदाय : ले० डॉ० श्रीधर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री : सरभंग-सम्प्रदाय के ऊपर यह पहली और अकेली पुस्तक है। सरभंग-पन्थ का दूसरा नाम औघड़-पन्थ भी है। पुस्तक में सरभंगी सन्तों और उनके मठों के परिचय के साथ परिशिष्टों में उनके पदों का भी संकलन किया गया है। पृ० सं० २७८। मूल्य ५.५०।

१३. जातक-कालीन भारतीय संस्कृति : ले० पं० श्रीमोहनलाल महतो 'वियोगी' : जातक-कहानियों में वर्णित विषयों के आधार पर विद्वान् लेखक ने भारतीय संस्कृति का मूल्यांकन किया है। पृ० सं० ४१०। मूल्य ६.५०।

१४. हिन्दू-धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ : ले० श्रीत्रिवेणीप्रसाद सिंह, आइ० सी० एस्० : प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दू-धार्मिक कथाओं की लौकिक व्याख्याओं का स्पष्टीकरण, प्रामाणिकता के साथ, प्रतिपादित किया गया है। पृ० सं० १२२। मूल्य ३.००।

१५. नीलपंछी (नाटक) : मू० ले० मॉरिस मैटरलिंक; अनु० डॉ० श्रीकामिल बुल्के : यह एक प्रसिद्ध फ्रेंच-नाटक का हिन्दी-अनुवाद है। पृ० सं० ८०। मूल्य २.५०।

१६. **चतुर्दश लोकभाषा-निबन्धावली** : यह पुस्तक भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत १४ प्रमुख भाषाओं के अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखित और परिषद् के विभिन्न वार्षिकोत्सवों में पठित १४ निबन्धों का संग्रह है। पृ० सं० १८४। मूल्य ४·२५।

१७. **पंचदश लोकभाषा-निबन्धावली** : इस उपयोगी और महनीय पुस्तक में निम्नांकित विभिन्न क्षेत्रों की १५ लोकभाषाओं (मैथिली, मगही, भोजपुरी, अंगिका, नागपुरी, सन्ताली, उराँव, हो, अवधी, बैसवाड़ी, व्रजभाषा, राजस्थानी, निमाड़ी, छत्तीसगढ़ी तथा नेपाली) और उनके साहित्य का शोधपूर्ण प्रामाणिक परिचय अधिकारी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रन्थ भाषाविज्ञान के जिज्ञासुओं के लिए संग्रहणीय है। पृ० सं० ३१२। मूल्य ४.५०।

१८. **रंगनाथ रामायण** (तेलुगु-रामायण का अनुवाद) : **मू० ले० : राजा गोनबुद्ध ; अनु० श्री ए० सी० कामाक्षिराव** : तेलुगु में रंगनाथ रामायण का वही आदर है, जो उत्तर भारत में रामचरितमानस का। यह ग्रन्थ हिन्दी और तेलुगु में सेतु का काम करेगा। पृ० सं० ५०२। मूल्य ६.५०।

१९. **गोस्वामी तुलसीदास** (पुनर्मुद्रण) : **ले० स्वर्गीय श्रीशिवनन्दन सहाय** : यह पुस्तक सन्त तुलसीदास की प्रथम प्रामाणिक जीवनी है, जो अबतक अप्राप्य थी। पृ० सं० ३७०। मूल्य ५.५०।

२०. **सदलमिश्र-ग्रन्थावली** : **ले० स्व० श्रीसदल मिश्र** : यह पुस्तक हिन्दी के आदि गद्यलेखक श्रीसदलमिश्रजी की कृतियों का संग्रह है। इन कृतियों की प्रतिलिपि लन्दन की इम्पीरियल लाइब्रेरी से ली गई है। पृ० सं० २९८। मूल्य ५.००।

२१. **अयोध्याप्रसाद खत्री-स्मारक ग्रन्थ** : **सं० आचार्य श्रीशिवपूजन सहाय तथा आचार्य श्रीनलिनविलोचन शर्मा** : स्व० श्रीअयोध्याप्रसाद खत्रीजी ने खड़ी बोली के उन्नयन में युगनिर्देशक का काम किया है। इस पुस्तक में खत्रीजी की स्वरचित तथा सम्पादित कृतियों का संग्रह है। पृ० सं० ३२०। चित्र-सं० १५। मूल्य ५.००।

२२. **विद्यापति-पदावली** (प्रथम खण्ड) : परिषद् के विद्यापति-अनुसन्धान-विभाग द्वारा प्रस्तुत यह ग्रन्थ नेपाल-पदावली का परम विश्वसनीय संस्करण है। इसमें आवश्यक शब्द-टिप्पणियों और प्रामाणिक अर्थ के साथ शुद्ध और मान्य पाठभेद दिये गये हैं। आरम्भ में लगभग सवा सौ पृष्ठों की महत्त्वपूर्ण भूमिका भी है। पृ० सं० ५५०। मूल्य ७.५०।

२३. **प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण** (छह खण्डों में) : परिषद् के हस्तलिखित प्राचीन पोथी-अनुसन्धान-विभाग द्वारा प्रस्तुत। बिहार-राज्य के विभिन्न भागों में उपेक्षित-से बिखरे पड़े हिन्दी-संस्कृत-साहित्यिकों के विवरण इन छह खण्डों में दिये गये हैं। प्रथम खण्ड पृ० सं० २००। मू० २.५०। द्वितीय खण्ड : द्वितीय संस्करण (यन्त्रस्थ)। मूल्य २.५०। तृतीय खण्ड पृ० सं० १००। मू० १.२५। चतुर्थ खण्ड पृ० सं० ८२। मू० १.००। पंचम खण्ड पृ० सं० ८०। मू० १.००। षष्ठ खण्ड पृ० सं० ×। मू० ×।

२४. काव्यालंकार : मू० ले० आचार्य भामह; भाष्यकार: प्रो० श्रीदेवेन्द्रनाथ शर्मा : यह ग्रन्थ काव्य का शास्त्रीय विवेचन-पक्ष उपस्थित करता है और यह संस्कृत-भाषा का अति प्राचीन ग्रन्थ है। शर्माजी ने हिन्दी-ज्ञाताओं के लिए इसका सरल, सुबोध और परिष्कृत भाष्य, पादटिप्पणी के साथ, प्रस्तुत किया है। उच्च कक्षा के विद्यार्थियों और विद्वानों—दोनों के लिए यह परम उपयोगी है। पृ० सं० २७२। मूल्य ५·०० ।

२५. दरिया-ग्रन्थावली (द्वितीय ग्रन्थ) : सं० डॉ० श्रीधर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री : दरिया साहब-लिखित २० ग्रन्थों में से ६ ग्रन्थों—दरियासागर, ग्यानरतन, ग्यानसरोदै, भक्तिहेतु, ब्रह्मविवेक और ग्यानमूल—का विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों से मिलाकर पाठ-भेदों के साथ, सम्पादन करके, यह भाग प्रकाशित किया गया है। सन्त-साहित्य का अनुसन्धान करनेवालों के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है। पृ० सं० ४४४। मूल्य ६·५०।

२६. भारतीय संस्कृति और साधना : ले० महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज : यह ग्रन्थ म० म० डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराजजी के प्रकाशित-अप्रकाशित लेखों का संकलन है। यह महत्त्वपूर्ण कृति अपनी अपूर्वता, विषय की व्यापकता तथा मौलिकता की दृष्टि से निःसन्देह अनुपम है। पृ० सं० ६४६। मूल्य ११·५०।

२७. कम्ब रामायण (प्रथम खण्ड) : ले० श्री एन्० वी० राजगोपालन् : भारत की भाषाओं में तमिल सबसे प्राचीन एवं सम्पन्न है और कम्बन की रामायण इस भाषा का सर्वश्रेष्ठ तथा एक अनमोल रत्न है। इस ग्रन्थ में काव्य-कला तथा भक्तिरस का अद्भुत समन्वय मिलता है। अनुवाद सरल हिन्दी-गद्य में हुआ है, जिससे सर्वसाधारण भी पढ़कर आनन्द ले सके। प्रथम खण्ड पृ० सं० ५७५। मूल्य ६·७५।

२८. राष्ट्रभाषा हिन्दी : समस्याएँ और समाधान : इस पुस्तिका में परिषद् के अबतक के ग्यारह सभापतियों के सुचिन्तित अभिभाषणों का चयन प्रस्तुत किया गया है। राष्ट्रभाषा के जिज्ञासु तथा हिन्दीप्रेमियों के लिए अनिवार्य रूप से पठनीय। पृ० सं० १२४। मूल्य १·५०।

२९. रहस्यवाद : ले० आचार्य श्रीपरशुराम चतुर्वेदी : यह रहस्यवाद-जैसे विषय का भारतीय भाषाओं में मौलिक विवेचन करनेवाला सर्वप्रथम ग्रन्थ है। चतुर्वेदीजी जैसे मनीषी चिन्तक के सुदीर्घकालीन अध्ययन एवं अनुभव से प्रसूत यह ग्रन्थ साहित्य, साधना और विचार के क्षेत्र में अपने ढंग का अकेला ही है। पृ० सं० २०१। मूल्य ५·००।

३०. साहित्य-सिद्धान्त : ले० डॉ० श्रीरामअवध द्विवेदी : यह नवीन दृष्टिकोण से भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों का तुलनात्मक विशद अध्ययन एवं सार्वभौम चिन्तन का अजस्र स्रोत प्रवाहित करनेवाला एक महार्घ ग्रन्थ है। विषय के प्रतिपादन के साथ-साथ प्रसादपूर्ण भाषा-शैली में यह ग्रन्थ पाठकों के मन को सदा प्रसन्न और प्रबुद्ध बनाये रखने में पूर्ण सक्षम है। उच्च वर्ग के छात्रों के लिए इसमें साहित्य-सिद्धान्तविषयक नई दिशा का ज्ञान-भाण्डार है। पृ० सं० २०६। मूल्य ५·००।

३१. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि : ले० म० म० डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज : इस ग्रन्थ में पूज्यपाद विद्यावयोवृद्ध महर्षिकल्प मनीषी लेखक डॉ० कविराजजी ने, कपिल-

कणाद की परम्परा में, लुप्त तथा उपलब्ध विशाल तन्त्र-वाङ्मय की शाक्तदृष्टि का विशद विवेचन किया है। इस विषय पर यह पुस्तक अपने-आप में अद्वितीय है। पृ० सं० ३४१। मूल्य ७.५०।

३२. भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा : ले० पं० श्रीबलदेव उपाध्याय : विद्वान् लेखक ने इस ग्रन्थ में 'श्रीराधा' और 'श्रीराधातत्त्व' के सम्बन्ध में भारतीय भाषाओं के साहित्य का सप्रमाण गहन अध्ययन, गम्भीर चिन्तन एवं मनन तथा अनुशीलन के फल-स्वरूप सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है।। पृ० सं० ५२३। मूल्य १०.५०।

३३. मात्रिक छन्दों का विकास : ले० डॉ० श्रीशिवनन्दन प्रसाद : प्रस्तुत ग्रन्थ में मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में प्रयुक्त मात्रिक छन्दों का विश्लेषणात्मक तथा ऐतिहासिक वर्णन किया गया है। विद्वान् लेखक ने शास्त्रोक्त मात्रिक छन्दों की प्रकृति का तुलनात्मक वर्णन वास्तविक काव्य-प्रयोग के आलोक में किया है। पृ० सं० ४४३। मूल्य ८.५०।

३४. हरिचरित (प्रथम खण्ड) : सं० स्व० आचार्य श्रीनलिनविलोचन शर्मा : यह ग्रन्थ श्रीमद्भागवत की कथा पर आधृत गोस्वामी तुलसीदास के पूर्ववर्त्ती कवि लालच-दास की रचना है। पाँच हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर पाठान्तर-सहित यह पुस्तक तैयार की गई है। अवधी-काव्य-परम्परा के अनुसन्धायकों के लिए यह बड़ी ही उपयोगी है। पृ० सं० १३२। मूल्य ३.२५।

सांस्कृतिक पुरातत्त्वेतिहास

१. गुप्तकालीन मुद्राएँ : ले० स्वर्गीय डॉ० श्रीअनन्त सदाशिव अलतेकर : डॉ० अलतेकर पुरातत्त्व के अधुनातन लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों में मूर्द्धन्य माने जाते रहे हैं। उनका यह ग्रन्थ न केवल प्राचीन इतिहास-सम्बन्धी विषयों पर प्रकाश डालता है, वरन् गुप्त-कालीन मुद्राओं और लिपियों का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अध्ययन भी प्रस्तुत करता है। पृ० सं० २५०। मुद्राओं के चित्र-फलक २७। मूल्य ६.५०।

२. सार्थवाह : ले० डॉ० श्रीमोतीचन्द्र : पुस्तक के लेखक प्राचीन भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व के अधिकारी विद्वान् हैं। पुस्तक में प्राचीन भारत की व्यापार-पथ-पद्धति पर अनेक प्रमाणों के आधार के साथ विषय का प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त दो दुरंगे मानचित्र भी प्रस्तुत किये गये हैं। पृ० सं० ३०२। मूल्य ११.००। **भारत-सरकार और उत्तरप्रदेश-सरकार द्वारा पुरस्कृत।**

३. मध्यदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सिंहावलोकन : ले० डॉ० श्रीधीरेन्द्र वर्मा : लेखक ने उत्तर भारत के मध्यभाग को मध्यदेश माना है। इस भाग के प्राचीन राज्यों, विद्यापीठों, जनपदों, राजवंशों और प्रजाओं के सामाजिक जीवन की विशेषताओं एवं सभ्यता के उत्कर्ष का रोचक और ज्ञानप्रद विवरण इस पुस्तक में दिया गया है। पृ० सं० १९६। कई रंगीन मानचित्र और ऐतिहासिक चित्र। मूल्य ७.००।

४. भारतीय कला को बिहार की देन : ले० डॉ० श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसाद सिंह : मूर्त्तिकला के विकास में बिहार-प्रदेश की कितनी पुरानी और विशिष्ट देन है, इस ग्रन्थ में देखिए। आर्ट पेपर पर १५८ चित्र। पृ० सं० २१६। मूल्य ७.५०।

५. प्राङ्मौर्य बिहार : ले० डॉ० श्रीदेवसहाय त्रिवेद : विद्वान् लेखक ने वैदिक साहित्य, काव्य, पुराण, महाभारत, बौद्धसाहित्य, जैनसाहित्य तथा आधुनिक शोधों के आधार पर प्राङ्मौर्य-काल के अस्पष्ट और धूमिल इतिहास का विशद विवरण उपस्थित किया है। पृ० सं० २३०। मूल्य ७.२५।

६. बौद्धधर्म और बिहार : ले० पं० श्रीहवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' : ऐतिहासिक कालक्रमानुसार बौद्धधर्म और बिहार-प्रदेश के २५०० वर्षों के घनिष्ठ सम्बन्ध का प्रामाणिक विवरण यह पुस्तक उपस्थित करती है। बौद्धकालीन कला, शिल्प, साहित्य आदि का विवरण पुरातत्त्व के आधार पर विस्तार से दिया गया है। पृ० सं० ४१२। आर्ट पेपर पर ७७ ऐतिहासिक चित्र। मूल्य ८.००। **बिहार-सरकार द्वारा पुरस्कृत।**

७. पतंजलिकालीन भारत : ले० डॉ० श्रीप्रभुदयाल अग्निहोत्री : यह यथार्थतः एक व्यापक तथा बहुमूल्य शोधग्रन्थ है। इसमें पतंजलि के महाभाष्य के आधार पर भारतवर्ष का सर्वांगीण शब्दचित्र प्रस्तुत किया गया है। पृ० सं० ६३६। सचित्र मूल्य ११.५०।

साहित्यिक इतिहास

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल (तृतीय संस्करण) **: ले० डॉ० श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी :** हिन्दी के जन्म-समय से आरम्भ कर इसके विकास-काल के पहले तक का प्रामाणिक इतिहास इस ग्रन्थ में प्रस्तुत है। पृ० सं० १३२। मूल्य ३.२५। **उत्तरप्रदेश-सरकार द्वारा पुरस्कृत।**

२. हिन्दी-साहित्य और बिहार (प्रथम खण्ड : सातवीं शती से अट्ठारहवीं शती तक) **: सं० स्व० आचार्य श्रीशिवपूजन सहाय :** आचार्यजी ने बहुत खोज और परिश्रमपूर्वक वर्षों की छानबीन के पश्चात् यह पुस्तक तैयार की है। लगभग ढाई-तीन सौ अति प्राचीन साहित्यकारों के परिचय के साथ इसकी लम्बी भूमिका और प्रस्तावना अनुसन्धायकों के लिए बड़े काम की चीज है। पृ० सं० ३२०। मूल्य ५.५०।

३. साहित्य का इतिहास-दर्शन : ले० स्व० आचार्य श्रीनलिनविलोचन शर्मा : इस पुस्तक में न केवल हिन्दी-साहित्येतिहास के सम्बन्ध में विचार किया गया है, प्रत्युत पाश्चात्य देशों के साहित्येतिहास पर भी उपलब्ध सामग्री को मथकर, अपने विचारों के साथ, लेखक ने सामूहिक साहित्यिक इतिहास-दर्शन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। पृ० सं० ३४२। मूल्य ५.००।

४. हिन्दी-साहित्य और बिहार (द्वितीय खंड : उन्नीसवीं शती : पूर्वार्द्ध) **सं० स्व० आचार्य श्रीशिवपूजन सहाय :** इस ग्रन्थ में उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध (सन् १८०१ से १८५० ई० तक) में जिन बिहारवासी हिन्दी-साहित्यिकों का जन्म हुआ है, उन्हीं का

विवरणात्मक परिचय दिया गया है। इसमें कई बहुमूल्य शोध-सामग्री प्रस्तुत की गई है। यह लेखक के अथक परिश्रम, मनन, चिन्तन एवं सम्पादन से प्रसूत हिन्दी-साहित्य का गौरव-ग्रन्थ है। पृ० सं० ४१२। मूल्य ८.००।

विज्ञान

१. **वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा : ले० डॉ० श्रीसत्यप्रकाश :** वैदिक काल से आरम्भ करके आधुनिक काल तक के वैज्ञानिकों की देन का प्रामाणिक विवरण उपस्थित करनेवाली यह एक अन्यतम पुस्तक है। पृ० सं० २८४। मूल्य ८.००। **उत्तर-प्रदेश-सरकार द्वारा पुरस्कृत।**

२. **नीहारिकाएँ : ले० स्व० डॉ० श्रीगोरखप्रसाद :** इस पुस्तक में आकाश के नक्षत्र-मंडल का अत्यन्त आश्चर्यजनक वर्णन वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उपस्थित किया गया है। पृ० सं० ७२। चित्र-फलक २१। मूल्य ४.२५।

३. **ग्रह-नक्षत्र : ले० श्रीत्रिवेणीप्रसाद सिंह, आइ० सी० एस्० :** इसमें खगोल-जगत् का अद्भुत दृश्य-दर्शक वर्णन तथा आकाश के ग्रह-नक्षत्रों का बड़ा ही रोचक चित्रण है। पृ० सं० ११८। रेखाचित्र ५०। मूल्य ४.२५।

४. **ईख और चीनी : ले० श्रीफूलदेवसहाय वर्मा :** इस पुस्तक में ईख और चीनी से सम्बद्ध प्रत्येक अंग पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में हिन्दी-अँगरेजी तथा अँगरेजी-हिन्दी वैज्ञानिक शब्दावलियों की अनुक्रमणिका भी है। पृ० सं० १८५। चित्र-सं० १०४। मूल्य १३.५०। **बिहार-सरकार और उत्तरप्रदेश-सरकार द्वारा पुरस्कृत।**

५. **रबर : ले० श्रीफूलदेवसहाय वर्मा :** औद्योगिक रसायन के रबर-प्रकरण पर हिन्दी में यह सर्वप्रथम प्रामाणिक पुस्तक है। पृ० सं० २२६। चित्र-सं० ६१। मूल्य ७.५०। **उत्तरप्रदेश-सरकार द्वारा पुरस्कृत।**

६. **पेट्रोलियम : ले० श्रीफूलदेवसहाय वर्मा :** पेट्रोलियम की महत्ता और उपयोगिता समझने के लिए जितने प्रकार के विवरणों तथा आँकड़ों के ज्ञान की आवश्यकता है, सभी इस पुस्तक में समाविष्ट हैं। पृ० सं० ३००। चित्र सं० ४०। मूल्य ५.५०।

७. **मुद्रण-कला : ले० पं० श्रीछविनाथ पाण्डेय :** आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली से विकसित होनेवाली उपयोगी कलाओं में मुद्रण-विज्ञान का स्थान सर्वोपरि है। आधुनिक प्रणाली के अनुसार प्रेस-सम्बन्धी सारे विषयों का विवेचन इस पुस्तक में दिया गया है। पृ० सं० ३५०। सचित्र मूल्य ७.२५।

८. **कृषि-विनाशी कीट और उनका दमन : ले० श्रीशैलेन्द्रकुमार 'निर्मल' :** प्रगतिशील कृषकों के अतिरिक्त उच्च विद्यालयों, जहाँ कृषि की पढ़ाई पाठ्यक्रम में सम्मिलित है, तथा कृषि-विद्यालयों में यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी प्रमाणित होगी। प्रस्तुत पुस्तक में कृषि के शत्रु कीड़ों की पहचान और वैज्ञानिक तरीकों से उनको नष्ट करने के उपायों पर विस्तार से सामग्री दी गई है। पृ० सं० २०२। चित्र-सं० ४२। मूल्य ५.५०।

इतिहास

१. **मध्य एसिया का इतिहास (प्रथम और द्वितीय भाग) : लें० महापण्डित श्रीराहुल सांकृत्यायन :** इस पुस्तक के पढ़ने से मालूम होगा कि भारतीय इतिहास की घटनाओं के साथ मध्य एसिया के इतिहास का कैसा पारस्परिक सम्बन्ध है और उस सम्बन्ध से भारत की ऐतिहासिक घटनाओं पर जो प्रकाश पड़ता है, वह कितना प्रामाणिक है। **इसी ग्रन्थ पर लेखक को दिल्ली का ५००० रुपयेवाला अकादमी-पुरस्कार मिल चुका है।** प्रथम भाग की पृ० सं० ५३३। चित्र-सं० २५। मूल्य १२.२५। द्वितीय भाग की पृ० सं० ६७८। चित्र-सं० १६। मूल्य ८.५०।

●

धर्म और दर्शन

१. **यूरोपीय दर्शन : ले० स्व० म० म० पं० श्रीरामावतार शर्मा :** महामहोपाध्याय श्रीशर्माजी की यह पुस्तक सन् १६०५ ई० में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई थी। उसी का यह पुनर्मुद्रण है। यह पुस्तक पाश्चात्य दर्शन के आदिकाल से आजतक के विकास-क्रम एवं स्थिति का पता देती है। पृ० सं० ११५। मूल्य ३.२५।

२. **बौद्धधर्म-दर्शन : ले० स्व० आचार्य श्रीनरेन्द्रदेव :** आचार्य नरेन्द्रदेवजी बौद्धधर्म और दर्शन के अद्वितीय विद्वान् माने जाते हैं। उन्हीं की लेखनी का यह प्रसाद है। उनके अनुभव तथा प्रज्ञा से जाज्वल्यमान इस ग्रन्थ की ३७ पृष्ठोंवाली भूमिका में महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथ कविराज लिखते हैं—'बौद्धों के धर्म और दर्शन के तत्त्व-महत्त्व को दरसानेवाला ऐसा कोई ग्रन्थ भारतीय भाषाओं में तो क्या, किसी विदेशी भाषा में भी नहीं है।' **यह ग्रन्थरत्न भी साहित्य-अकादमी (दिल्ली) के ५००० रुपयेवाले पुरस्कार से पुरस्कृत हो चुका है।** पृ०सं० ८५०। मूल्य १७.००।

३. **षड्दर्शनरहस्य : ले० पं० श्रीरंगनाथ पाठक :** इस पुस्तक में छहों भारतीय दर्शनों के सम्बन्ध में परिचयात्मक सिद्धान्त पाडित्यपूर्ण ढंग से प्रतिपादित किया गया है। भारतीय दर्शनों की जानकारी देनेवाली यह एक प्रामाणिक पुस्तक है। पृ० सं० ३६०। मूल्य ५.००।

४. **भारतीय प्रतीक-विद्या : ले० डॉ० श्रीजनार्दन मिश्र :** विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक में भारतीय मूर्त्तिकला और चित्रकला में निहित प्रतीकों का शास्त्रीय पद्धति से बड़ा ही मार्मिक विवेचन किया है। पृ० सं० ६१२। चित्र-सं० १६६। मूल्य ११.००। **बिहार-सरकार द्वारा पुरस्कृत।**

५. **शैवमत : ले० डॉ० श्रीयदुवंशी :** इस पुस्तक में वैदिक काल से इतिहास-युग तक की चली आती शैवमत की परम्परा का प्रामाणिक विवरण दिया हुआ है। पृ० सं० ३५०। मूल्य ८.००।

६. **विश्वधर्म-दर्शन : ले० श्रीसाँवलियाविहारीलाल वर्मा :** विश्व के सभी प्रमुख धर्मों और दर्शनों के इतिहास और परिचय के साथ धार्मिक सम्प्रदायों और धार्मिक ग्रन्थों

का विवरण। इनके अतिरिक्त सभी धर्मों और पन्थों के मुख्य प्रवर्त्तकों तथा उन्नायकों के विवरणात्मक परिचय भी आपको इस पुस्तक में मिलेंगे। पृ० सं० ५०३। मूल्य १३·५०।

भाषाविज्ञान

१. **भोजपुरी भाषा और साहित्य : ले० डॉ० श्रीउदयनारायण तिवारी :** इस पुस्तक में भाषाविज्ञान की दृष्टि से भोजपुरी भाषा का विश्लेषण किया गया है। हिन्दी की अन्य बोलियों के वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा में यह पुस्तक नींव का काम करती है। पृ० स० ६२५। मूल्य १३·५०। **उत्तरप्रदेश की सरकार द्वारा पुरस्कृत।**

२. **प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण : ले० डॉ० रिचर्ड पिशल; अनु० डॉ० श्रीहेमचन्द्र जोशी :** यह प्राकृत-भाषाओं के पाणिनि कहे जानेवाले रिचर्ड पिशल के जर्मन-भाषा में लिखे ग्रन्थ 'कम्पेरेटिव ग्रामर ऑव दि प्राकृत लैंग्वेजेज़' (मूल जर्मन) से अनूदित है। प्राकृत-शब्दशास्त्र का अथवा भाषाविज्ञान-शास्त्र का अध्ययन-अनुशीलन करनेवाले विद्वानों के लिए यह अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। पृ० सं० १००४। मूल्य २०·००।

३. **लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव मानभूम ऐण्ड सिंहभूम : सं० डॉ० श्रीविश्वनाथ प्रसाद और डॉ० श्रीसुधाकर झा शास्त्री :** इस पुस्तक में मानभूम और धालभूम (सिंहभूम) की भाषाओं पर विवेचन किया गया है। इन क्षेत्रों की बोलियों और गीतों पर ध्वनि-तत्त्व के अनुसार विचार किया गया है। पृ० सं० ४३३। मूल्य ४·५०।

४. **मुहावरा-मीमांसा : ले० डॉ० श्रीओमप्रकाश गुप्त :** यह महाप्रबन्ध हिन्दी-मुहावरों का एक विचार-संयोजक अध्ययन है। हिन्दी-मुहावरों के वैज्ञानिक अध्ययन और खोज में लेखक ने कुछ भी उठा नहीं रखा है। पृ० सं० ४५४। मूल्य ६·५०।

लोक-साहित्य

१. **भोजपुरी के कवि और काव्य : ले० श्रीदुर्गाशंकरप्रसाद सिंह :** इस पुस्तक में अनेक प्राचीन भोजपुरी कवियों के जीवन-वृत्त के साथ आधुनिक काल के भोजपुरी कवियों के जीवन-वृत्त तथा उनकी हृदयग्राहिणी कविताओं के उद्धरण भी, पाद-टिप्पणी के साथ आपको मिलेंगे। भूमिका-भाग में भोजपुरी भाषा और साहित्य पर, उसके इतिहास के साथ, भाषावैज्ञानिक अध्ययन भी है। पृ० सं० ४३०। मूल्य ५·७५।

२. **बाँसरी बज रही : ले० श्रीजगदीश त्रिगुणायत :** यह पुस्तक छोटानागपुर की मुण्डा-भाषा के लोकगीतों का सटीक संग्रह है। पुस्तक के आरम्भ में ६२ पृष्ठों में आदिवासी लोक-साहित्य के अध्ययन की जो सामग्री उपस्थित की गई है, वह भाषा-तत्त्व के अनुसन्धायकों के लिए महत्त्वपूर्ण है। पृ० सं० ४३०। मूल्य ८·००।

३. **लोक-साहित्य : आकर-साहित्य-सूची : सं० स्व० आचार्य श्रीनलिन-विलोचन शर्मा :** लोक-साहित्य के सम्बन्ध में विभिन्न स्थानों में जो निबन्ध प्रकाशित हैं, उनकी सूची, पूर्ण विवरण के साथ दी गई है। मूल्य ००·५०।

४. लोककथा-कोश : सं० स्व० आचार्य श्रीनलिनविलोचन शर्मा : यह उपर्युक्त सूची की तरह ही लोककथा की विवरणात्मक सूची है। मूल्य ००·२५।

५. लोकगाथा-परिचय : सं० स्व० आचार्य श्रीनलिनविलोचन शर्मा : यह छोटी-सी पुस्तिका भी गाथा-सम्बन्धी लेखों की विवरणात्मक सूची है। मूल्य ००·२५।

६. मगही संस्कार-गीत : सं० डॉ० श्रीविश्वनाथ प्रसाद : इस पुस्तक में हिन्दुओं के सोलह संस्कारों में गाये जानेवाले मगही के लोकगीतों का संग्रह है। प्रत्येक गीत के नीचे टिप्पणी दी गई है, जिसमें ठेठ मगही शब्दों का व्युत्पत्ति के साथ अर्थ दिया गया है। गीतों का भावार्थ समझने के लिए, प्रसंग के साथ व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है। इसके अतिरिक्त विद्वान् सम्पादक ने पुस्तक की भूमिका में मगही लोकभाषा के सभी तत्त्वों पर पाण्डित्यपूर्ण प्रकाश डाला है। पृ० सं० ३८२। मूल्य ६·५०।

•

कोशग्रन्थ

१. कृषिकोश (प्रथम खण्ड : अ से घ तक) : सं० डॉ० **श्रीविश्वनाथ प्रसाद :** हिन्दी-जगत् का यह एक नवीन उपायन है। यह भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार बिहारी बोलियों के विविध क्षेत्रों से संगृहीत और जनसमाज में प्रचलित कृषि-सम्बन्धी शब्दों का वैयुत्पत्तिक पर्याय-सहित प्रामाणिक सचित्र अभिधान-ग्रन्थ है। पृ० सं० २००। मूल्य ३·००।

२. पुस्तकालय-विज्ञानकोश : ले० श्रीप्रभुनारायण गौड़ : इस पुस्तक के दो खण्डों में से पहले खण्ड में पुस्तकालय-विज्ञान-सम्बन्धी अँगरेजी के पारिभाषिक शब्दों के वर्णक्रम से हिन्दी-पर्याय भी दिये गये हैं। इसके दूसरे खण्ड में वर्णक्रम से अँगरेजी-पर्याय भी भी हैं। इसके अतिरिक्त जिल्दसाजी, पुस्तकालय-अर्थव्यवस्था, पुस्तकालय-स्थापत्य एवं उसके उपकरण आदि विषयों की भी पारिभाषिक शब्दावली, हिन्दी-पर्याय के साथ, दी गई है। पुस्तकालय के पारिभाषिक शब्द-सम्बन्धी ज्ञान के लिए यह एक प्रामाणिक कोश है। पृ० सं० २६६। मूल्य ४·५०।

•

अर्थशास्त्र

१· राजकीय व्यय-प्रबन्ध के सिद्धान्त : ले० श्रीगोरखनाथ सिंह : इस पुस्तक द्वारा राज्य के प्रबन्ध की गुत्थियों को सुलझाया गया है। राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की यह अकेली पुस्तक है। पृ० सं० ४२। मूल्य १·५०।

•

राजनीति और दर्शन

१. राजनीति और दर्शन : ले० डॉ० श्रीविश्वनाथप्रसाद वर्मा : इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने राजनीति-शास्त्र और दर्शनशास्त्र का प्राचीन काल से अबतक के शास्त्रीय सम्बन्ध का विवरण उपस्थित किया है। राजनीति और दर्शन पर इस प्रकार की

खोज तथा विद्वत्तापूर्ण पुस्तक हिन्दी में अकेली है। पृ० सं० ६०४। मूल्य १४·००। बिहार-सरकार द्वारा पुरस्कृत।

समर-नीति

१. **प्राचीन भारत की सांग्रामिकता : ले० पं० श्रीरामदीन पाण्डेय :** इस पुस्तक में प्राचीन भारत की युद्धविद्या का प्रामाणिक विवरण दिया गया है। इसमें प्राचीन भारत के अस्त्र-शस्त्र, सैनिक वेशभूषा, मोर्चेबन्दी के लिए भौगोलिक स्थिति, सैनिक शिक्षा-प्रणाली, युद्ध के झंडे, व्यूहनिर्माण-कला आदि के सम्बन्ध में सप्रमाण वर्णन है। पृ० सं० १६८। तिरंगे २७ चित्र। मूल्य ६·५०। **बिहार-सरकार द्वारा पुरस्कृत।**

●

मनोविज्ञान

१. **अध्यात्मयोग और चित्त-विकलन : ले० स्व० श्रीवेंकटेश्वर शर्मा :** मनोविज्ञान-शास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर मनुष्य की मानसिक स्थितियों का दार्शनिक विवेचन। पृ० सं० १६८। मूल्य ७·५०।

●

हस्तशिल्प-कला

१. **वेणु-शिल्प : ले० श्रीउपेन्द्र महारथी :** इस पुस्तक के लेखक श्रीमहारथीजी शिल्पकला और चित्रकला के भारत-विख्यात मर्मज्ञ हैं। पुस्तक में बाँस की कमचियों से बननेवाली सैकड़ों सामग्री का, चित्र के साथ, विवरण दिया गया है। भूमिका में वैदिक काल से आजतक की वेणु-उपयोगिता पर लेखक ने प्रकाश डाला है। पृ० सं० २४८। सैकड़ों साधारण रेखाचित्रों के साथ आर्ट पेपर पर २६ चित्र-फलक। मूल्य ११·००।

●

सामान्य ज्ञान

१. **भारतीय अब्दकोश** (वर्ष-ग्रन्थ : १९६४) : सं० **श्रीजगन्नाथप्रसाद मिश्र** और **श्रीगदाधरप्रसाद अम्बष्ठ :** ब्रह्माण्ड, विश्व एवं भारत तथा बिहार-राज्य की वर्ष-प्रतिवर्ष की प्रगति तथा सामान्य ज्ञातव्य बातों की जानकारी करानेवाला हिन्दी का एकमात्र सर्वांगपूर्ण वार्षिक सन्दर्भ-ग्रन्थ। अध्यापकों, छात्रों, प्रतियोगिता-परीक्षा के परीक्षार्थियों, कार्यालयों, व्यवसायियों, पत्रकारों एवं साधारण पाठकों के लिए परम उपयोगी। पृ० सं० ६५०। मूल्य ८·००।

●●

साहित्य-सिद्धान्त

"डॉ० श्रीरामअवध द्विवेदी-लिखित इस ग्रन्थ में साहित्य-दर्शन के सभी पक्षों का विवेचन किया गया है। इसमें भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों को अलग-अलग नहीं प्रस्तुत करके एक साथ ही उनकी चर्चा और आलोचना की गई है। भाषा में कहीं भी जटिलता नहीं है। बड़े स्पष्ट और चुटीले ढंग से विषयों को व्यक्त किया गया है। व्यर्थ की भूमिकाएँ तथा विवाद भी नहीं हैं।

यह सर्वांगसुन्दर ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने अल्प मूल्य पर इसे प्रकाशित कर हिन्दी का बड़ा उपकार किया है।"

—मा० 'विश्वज्योति' (होशियारपुर)

परिषद् के प्रकाश्यमान ग्रन्थ

***

१. भारतीय संस्कृति और साधना (खंड २) :
म० म० डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज

२. काशी की सारस्वत साधना :
म० म० डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज

३. भारतीय नीति का विकास : डॉ० श्रीराजबली पाण्डेय

४. यात्रा का आनन्द : आचार्य काका साहेब कालेलकर

५. सार्थवाह (द्वितीय संस्करण) : डॉ० श्रीमोतीचन्द्र

६. काव्य-मीमांसा (द्वितीय संस्करण) :
अनु० पं० श्रीकेदारनाथ शर्मा सारस्वत

७. कंब रामायण (खंड २) :
अनु० श्री न० वि० राजगोपालन्

८. विद्यापति-पदावली (खंड २) :
विद्यापति-विभाग द्वारा प्रस्तुत

९. रामजन्म : ह० लि० ग्रन्थशोध-विभाग द्वारा प्रस्तुत

१०. कहावत-कोश : लोकभाषा-विभाग द्वारा प्रस्तुत

११. कृषिकोश : ,, ,, ,,

१२. अंगिका-संस्कार-गीत : ,, ,, ,,

१३. भारतीय अब्दकोश (१९६५) :
अब्दकोश-विभाग द्वारा प्रस्तुत

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना-४

२२

परिषद्-पत्रिका

साहित्य-संस्कृति-साधना-प्रधान त्रैमासिक

: अङ्क ३ | आश्विन, २०२१ विक्रमाब्द; १८८६ शकाब्द; अक्टूबर, १९६४ ई० | वार्षिक ६.०० : एक प्रति १.५०

22.10.64

आनन्दममृतं यद्विभाति

प्रस्तुत अंक में

卐 卐

卐 卐 卐

परिषद्-पत्रिका

[१५]

सम्पादक-मण्डल

डॉ० श्रीलक्ष्मीनारायण सुधांशु :: डॉ० श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर'
श्रीमोहनलाल महतो 'वियोगी'

सम्पादक

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

•

सहायक सम्पादक

हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' :: श्रीरञ्जन सूरिदेव

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना

परिषद्-पत्रिका

[साहित्य-संस्कृति-साधना-प्रधान त्रैमासिक]

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल॥ —भारतेन्दु

वर्ष ४ अङ्क ३ } आश्विन, विक्रमाब्द २०२१; शकाब्द १८८६; अक्टूबर, १९६४ ई० { वार्षिक ६.०० एक प्रति १.५०

तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम्

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः।
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम्॥

दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजन्तोः
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव शुभां ददासि।
दारिद्र्यदुःखभयहारिणि का त्वदन्या
सर्वोपकारकरणाय सदार्द्रचित्ता॥

जो पुण्यात्माओं के घरों में स्वयं श्री होकर विराजती है, पापात्माओं के लिए जो अलक्ष्मी-स्वरूपा है, कृतधी व्यक्तियों के हृदयों में जो बुद्धि बनकर विलसती है, सज्जनों के लिए जो साक्षात् श्रद्धा और कुलीनों के लिए लज्जा-स्वरूपा है, ऐसी उस देवी के प्रति विनम्र प्रणति निवेदित है। वह देवी समस्त विश्व का परिपालन करे।

हे दुर्गे! स्मरण-मात्र से ही तू समस्त प्राणियों का भय दूर कर देती है। प्रसन्नात्माओं को प्रचुर सद्बुद्धि प्रदान करती है। हे दारिद्र्य-दुःख के भय का हरण करनेवाली! सबके उपकार-कार्य में सदा हृदय से द्रवित रहनेवाली तेरे सिवा और दूसरी कौन है?

●●

टिप्पणियाँ

स्व० डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री

विगत १९ जुलाई (१९६४ ई०), आषाढ शुक्ला-दशमी, रविवार को सन्ध्या समय साढ़े सात बजे पटना के कॉटेज-अस्पताल में डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने अपना शरीर त्याग दिया। पिछले दो-तीन महीनों से वे अस्वस्थ थे। पहले घर पर चिकित्सा होती रही, बाद में अस्पताल लाये गये और वहाँ से कॉटेज में। रक्तचाप और गुरदे की शिकायतें थीं और बीच में तो वे इतने अच्छे हो चले थे कि सोचा ही जा रहा था कि उन्हें अब घर ले चलना चाहिए; परन्तु 'बड़े घर' की बुलाहट आ गई और लगभग ६० वर्ष की उम्र पूरी कर शास्त्रीजी चले गये ! अभी उनका स्वास्थ्य काफी बुलन्द था और आशा थी कि वे अवश्य शतायु होंगे; परन्तु परमात्मा के विधान के सामने अपना हिसाब-किताब धरा ही रह जाता है।

डॉ० शास्त्री एक अतिशय सामान्य वैश्य (स्वर्णकार)-परिवार में जन्म लेकर अपनी प्रतिभा, परिश्रम, अध्यवसाय, लगन और सबसे अधिक विद्यानुराग के कारण भारतवर्ष के इने-गिने मनीषियों में अन्यतम पद के अधिकारी हुए और अपनी विद्या तथा चरित्र के बल पर उन्होंने जो कीर्त्ति अर्जित की, वह आनेवाली पीढ़ियों के लिए न केवल मार्गदर्शक, अपितु प्रेरक भी बनी रहेगी। लक्ष्य की निश्चितता तथा चलने का अविराम और अदम्य संकल्प—इन दोनों ने शास्त्रीजी के जीवन का निर्माण किया। कष्टों, कठिनाइयों, बाधाओं और विघ्नों की परवाह न करते हुए, उनके मस्तक पर पैर रखकर एक दिव्य मुस्कान और उल्लास के साथ वे जीवन-पथ पर आगे बढ़ते ही रहे, बढ़ते ही गये और संकल्प की अमोघ तथा अजेय शक्ति के अविरल प्रवाह में व्यक्तित्व कंचन की तरह निखरता चला गया।

शास्त्रीजी के व्यक्तित्व का निर्माण सिर से पैर तक उन तत्त्वों से हुआ था, जिन्हें हम एक सच्चे साहित्यकार और कलामर्मज्ञ में पाना चाहते हैं। हिन्दी, संस्कृत और दर्शन के चूडान्त विद्वान् होने के नाते वे अपनी योग्यता की छाप अपने युग पर सदा के लिए छोड़ गये हैं। परन्तु, उस पारदर्शी पाण्डित्य के पीछे उनके व्यक्तित्व की मधुरिमा, निश्छल स्नेह, हार्दिक अनन्यता आदि ऐसे देवोपम गुण थे कि ऐसा लगता था, यह व्यक्ति करोड़ों में एक है, जिसके जीवन में छल-छन्द नहीं, कपट नहीं, मिथ्याचार नहीं, परायापन नहीं और जिसके हृदय के किसी कोने में भी संकीर्णता का लेश नहीं—उन्हें जानना, उनके सम्पर्क में आना उन्हें प्यार करना था। जो भी उनके मधुर मंगलमय सम्पर्क में आया, वह उनका पुजारी हो गया। साहित्य के इतने बड़े पारखी और विद्वान् होते हुए भी उन्होंने अपने इर्दगिर्द सम्प्रदाय खड़ा नहीं होने दिया। वे कभी किसी के दोषों में नहीं रमते थे।

लम्बा कद, साँवला-सलोना रंग, शालीनता और शुचिता की मूर्त्ति, चेहरे पर संघर्ष से गुजरे हुए क्षणों की रेखाएँ और उसपर फैली हुई करुणा और प्रीति की अमल-धवल

कान्ति शास्त्रीजी के व्यक्तित्व को चिर मधुमय बनाये रहती थी। जब वे बोलने लगते, तब उनकी भौंहों का तनाव और शिरोरेखाओं का उभार तथा आँखों से फूटती हुई अन्तर्ज्योति की झिलमिल आभा देखते ही बनती थी। बोलते समय शास्त्रीजी की उँगलियाँ एक विचित्र भाव-भंगिमा में घूम जाती थीं। लगता, जैसे कल्पना को साकार करने के लिए, शब्द को पकड़ लाने के लिए तथा अन्तर्भावों को अभिव्यक्त करने के लिए एक शिल्पी और चित्रकार की तरह वे प्रयत्न कर रहे हों।

यों तो, शास्त्रीजी ने हरिऔध पर भी लिखा और मैथिलीशरण पर भी; परन्तु उनका हृदय पूरी तरह रमता था सन्तों के साहित्य में ही। दरिया साहब और सरभंग-सम्प्रदाय पर लिखे हुए उनके ग्रन्थ कई दृष्टियों से हिन्दी-साहित्य की अनमोल निधियाँ हैं। सन्त-साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन ने शास्त्रीजी के हृदय को नवनीत से भी अधिक कोमल बना दिया था। चार्ल्सलैम्ब की तरह वे जहाँ छल-छद्म देखते, वहाँ से बचकर किनारे-किनारे चल निकलते। दूसरों की आलोचनाओं में समय नष्ट करना वे जानते ही नहीं थे। शत-प्रतिशत आर्यसमाजी होते हुए भी वे पूरे वैष्णव थे। मूर्त्तिपूजा न मानते हुए भी राम और कृष्ण पर, सीता और राधा पर उनकी अटूट आस्था थी। जप, माला, छापा और तिलक से अलग रहते हुए भी वे पूर्णतः भक्तहृदय थे।

शास्त्रीजी ने जीवन में सफलता का पीछा कभी नहीं किया, वरन् सफलता ही उनके पीछे एक चेरी की तरह हाथ बाँधे चलती रहती—स्वयं सफलता ने ही उनका वरण किया। शिक्षा-विभाग में पटना-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष के रूप में, लोकशिक्षा-निदेशक के रूप में, अनुग्रहनारायण समाजाध्ययन-संस्थान के आद्य संचालक के रूप में, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के मन्त्री के रूप में और अन्ततः मगध-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में रीडर के रूप में, वे जहाँ भी रहे, अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं निर्मल व्यक्तित्व की मधुरिमा की अमिट छाप छोड़ गये और विचित्रता यह कि जीवन की चरमतम ऊंचाई पर पहुँचकर भी वे 'मानव' पहले थे, पदाधिकारी पीछे। अपने-आप में वे इतने महान् थे कि उस महत्ता के लिए किसी बाहरी टीमटाम या प्रदर्शन की अपेक्षा नहीं रखते थे और गम्भीर-से-गम्भीर क्षणों में भी उनका विनोद और चुहल कभी परास्त होना नहीं जानती थी। दर्शन, साहित्य और साधना का वह सफल पुजारी, शील-सौन्दर्य का अनन्य उपासक, सत्य-शिव-सुन्दर को श्वास-प्रश्वास में अभिव्यक्त करनेवाला वह मूक साधक अपनी साहित्य-साधना और मधुर व्यक्तित्व की अमर-अमिट छाप समय की छाती पर छोड़कर हमसे सदा के लिए बिछड़ गया और अनन्त महासमाधि में लीन हो गया! करुणामय प्रभु दिवंगत आत्मा को अपनी गोद में चिरशान्ति प्रदान करें। —माधव

०

प्रतिभा के धनी स्व० मुक्तिबोध

श्रीगजानन माधव मुक्तिबोध ने गत ११ सितम्बर को रात के ९ बजकर १० मिनट पर नई दिल्ली के ऑल इण्डिया इन्स्टीच्यूट ऑव मेडिकल साइंसेज के भवन में, जहाँ उनकी चिकित्सा पिछले कुछ समय से हो रही थी, अपनी इहलीला समाप्त की। अभी

उनकी उम्र केवल ४७ वर्ष की थी। वे अपने पीछे पत्नी के अतिरिक्त पाँच पुत्र-पुत्रियाँ छोड़ गये हैं। मुक्तिबोध को मैनेंजाइटिस—गरदनतोड़ बीमारी थी। पहले उनकी चिकित्सा भोपाल में हुई। ये लम्बी अवधि तक अचेतावस्था में ही रहे और उसी हालत में ही भोपाल से दिल्ली लाये गये थे।

नये कवियों की सबसे पहली पीढ़ी में मुक्तिबोध का नाम बीस साल पहले 'तार-सप्तक' के कवियों में आया। और फिर वे धूमकेतु की तरह साहित्य-गगन पर छा गये। घोर संघर्षों से गुजरते हुए भी मुक्तिबोध मुक्तिबोध ही बने रहे। उनके जीवन के सम्बन्ध में मोटे-मोटे तथ्य इस प्रकार हैं : सन् १९१७ ई० के १३ नवम्बर को शुजालपुर (मध्यप्रदेश) में उनका जन्म हुआ। उनके पिता पुलिस-अफसर थे, पर ईमानदार पुलिस-अफसर होने के कारण घर की दशा खास अच्छी न थी। पिता उन्हें पढ़ा-लिखाकर वकील बनाना चाहते थे, मगर स्कूली जीवन से ही उनका रुझान कविता की ओर हो गया था। वकालत की ओर फिर वे कैसे झुकते ? यौवन के पदार्पण पर उन्होंने 'प्रेमविवाह' किया, जिसका समाज ने घोर विरोध किया; परन्तु वे प्रसन्नतापूर्वक विनय के साथ उसे झेलते रहे।

मुक्तिबोध ने आरम्भ में उज्जैन में मास्टरी की। बाद में बनारस, इलाहाबाद और जबलपुर में टक्करें खाईं। कुछ समय के लिए नागपुर-रेडियो में भी नौकरी की और राजनाँदगाँव में फिर शिक्षक हुए। तमाम घोर संघर्षों में भी उनकी कलम कभी थकी नहीं। इसलिए, जब वे बीमार पड़े, तब उनकी बीमारी में नये-पुराने सभी साहित्यकारों ने मिलजुलकर दायित्व को स्वीकार किया और मध्यप्रदेश की सरकार तथा केन्द्रीय सरकार भी पीछे नहीं रही। स्वयं प्रधानमन्त्रीजी ने उनके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पूरी दिलचस्पी ली। मुक्तिबोध नहीं रहे, मगर अपनी रचनाओं के बल पर वे सदा जीवित रहेंगे। उनके परिवार की देखरेख तथा उनके इतस्ततः बिखरे साहित्य का प्रकाशन, ये दो मुख्य दायित्व हम पर—आज के शासन और साहित्यकारों पर हैं। हम दिवंगत साहित्यकार को नतमस्तक होकर श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। —माधव

०

स्व० मामा वरेरकर : जादू-भरी कलम

गत २३ सितम्बर को दिल्ली में मामा वरेरकर का देहावसान ८१ वर्ष की अवस्था में हो गया। यद्यपि मामा की अवस्था ८१ की हो चुकी थी, परन्तु उनकी लगन, उत्साह, साहित्यसेवा तथा भारतीय भाषाओं के साहित्य में आदान-प्रदान के द्वारा राष्ट्रीय एकता के संवर्द्धन में योगदान की तल्लीनता देखते हुए लगता था, वे 'जीवेम शरदः शतम्' को अवश्य चरितार्थ करेंगे।

भार्गवराम विट्ठल उर्फ मामा वरेरकर का जन्म सन् १८८३ ई० के २७ अप्रैल को महाराष्ट्र के समुद्र-किनारे के हिस्से कोंकण के चिपलूण नामक कसबे में हुआ था। कोंकण में लोगों को लोकनाट्य और नाटक के प्रति नित्य आकर्षण रहा है। मामा ने हाइ स्कूल की पढ़ाई के उपरान्त आजीविका चलाने के लिए डाक-तार-विभाग में क्लर्की शुरू की। २५ साल की अवस्था में 'कुंजविहारी' नाटक लिखा, जो चार साल बाद खेला गया। ३२ साल की

उम्र में उन्होंने नौकरी छोड़ दी और कलम के सहारे रोजी कमाने का निश्चय किया। अपने अध्यवसाय, लगन और प्रतिभा के बल पर उन्होंने सफलता पाई। मराठी रंगमंच के क्षेत्र में वे नित्य नये-नये प्रयोग करते रहे। सन् १९२८ ई० में उन्हें मराठी नाट्य-परिषद् के अध्यक्ष-पद के लिए चुना गया। उस मंच से उन्होंने रंगमंच के विकास के लिए अनेक उपयुक्त सुझाव दिये। सन् १९५९ ई० में भारत-सरकार ने 'पद्मभूषण' से सम्मानित किया और पिछले लगभग दस साल भारतीय संसद् की राज्यसभा के सदस्य रहे।

मामा ने अपना सारा जीवन साहित्य और समाज की सेवा में बिताया। उनकी जादूभरी कलम कलात्मकता और प्रभावोत्पादकता की सारी आवश्यकताओं को खूब जानती थी। मराठी के यथार्थवादी रंगमंच के प्रणेता के नाते उनका नाम चिरस्मरणीय रहेगा।

—सं०

०

शोध-प्रबन्धों के प्रकाशन की समस्या

राष्ट्रभाषा हिन्दी का विकास-प्रकाश शुक्लपक्षीय चाँद की तरह चतुर्दिक् बढ़ता देखकर किस हिन्दी-हितैषी का हृदय आह्लादित न होगा? आजकल देश के लगभग ४० विश्वविद्यालयों के माध्यम से डॉक्टरेट उपाधि के निमित्त साहित्य-पक्ष के विभिन्न विषयों पर निरन्तर शोधकार्य सम्पन्न हो रहे हैं। एक शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में शोधकर्त्ता विद्वान् को न्यूनातिन्यून तीन वर्षों का समय सापेक्ष होता है। किसी-किसी शोध-प्रबन्ध में तो पाँच वर्षों का भी समय लग जाता है। हमें जो आँकड़े प्राप्त हुए हैं, तदनुसार सन् १९६२ ई० तक डॉक्टरेट की उपाधि प्रदान करनेवाले ५३९ शोध-प्रबन्ध तैयार हो चुके थे। इधर दो वर्षों में, निश्चित रूप से, इस संख्या में कम-से-कम और २०० की वृद्धि हुई होगी।

जिस भाषा-भाण्डार में विविधविषयक इतने शोध-ग्रन्थ, इतने कम समय में, भरे जा चुके हैं; चार-पाँच वर्षों के बाद ही यह संख्या कहाँतक पहुँचेगी, इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है। हिन्दी-साहित्य के ऐसे भाग्य पर हमें इतराना स्वाभाविक है तथा हिन्दी-विरोधियों का ईर्ष्या करना भी अस्वाभाविक नहीं। किन्तु, खेद इस बात के लिए है कि इनमें से बहुत थोड़े ही प्रबन्ध प्रकाश में आ सके हैं। अस्सी प्रतिशत प्रबन्ध तो अपने समुद्धारकों की बाट जोह रहे हैं। क्या इनके प्रकाशन का उत्तरदायित्व एकमात्र शोध-प्रबन्धकों पर ही है या यह दायित्व उन विश्वविद्यालयों का भी है, जो इन्हें असाधारण कोटि का मानकर स्वीकृत एवं सम्मानित करते हैं? लगता तो ऐसा है कि ये विश्वविद्यालय भी शोध-निर्देशकों के सदृश डॉक्टर उत्पन्न करने में परस्पर होड़ मचाये हुए हैं। चाहिए तो यह था कि प्रत्येक विश्वविद्यालय प्रतिवर्ष शोध-प्रबन्धों के लिए स्वयं विषयों का चुनाव करता। फिर, उन विषयों पर कार्य करने के लिए योग्य अनुसन्धित्सुओं को ही अधिकार देता और सुयोग्य निर्देशक के तत्त्वावधान में विधिवत् शोधकार्य को वैज्ञानिक एवं सुव्यवस्थित ढंग से सुसम्पन्न होने देता। और तब, प्रस्तुत शोध-प्रबन्धों में अत्युत्तम एवं उत्तम कोटि के दो विशिष्ट प्रबन्धों को चुनता और उनपर ही वह डी० लिट्० तथा

पी-एच्० डी० की उपाधि देता। इस तरह के प्रतिबन्ध होने पर सीमित शोध-प्रबन्ध सम्मानित होते, उनका स्तर निश्चय ही उच्च कोटि का होता तथा ऐसे प्रबन्धों को प्रकाशित करने की बाध्यता स्वीकृत करनेवाले विश्वविद्यालय को होती। अधुना, स्थिति यह है कि अनधिकारी प्रबन्ध भी चाटुकारिता के आधार पर धड़ल्ले से स्वीकृत होते जा रहे हैं, जिनके प्रकाशन की व्यवस्था करने में ये विश्वविद्यालय सर्वथा असमर्थ बने हुए हैं।

यहाँ जो कुछ हम लिख रहे हैं, अनुभव के आधार पर लिख रहे हैं। ऐसे शोध-प्रबन्धों के प्रकाशन के लिए बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् में प्रायः प्रतिदिन चार-पाँच अनुरोध-पत्र आते हैं, जिनमें कुछ को परिषद् अपने सीमित साधनों के कारण और अधिकांश को तो अयोग्य समझकर अस्वीकृत कर देती है। हम समझते हैं, इन विद्वान् शोधकर्त्ताओं के अनुरोध-पत्र अन्य प्रकाशकों के पास भी पहुँचते होंगे, जहाँ इनका स्थान रद्दी की टोकरी में होता होगा। भला, यह कैसी स्थिति है कि जिन शोध-प्रबन्धों को ये विश्वविद्यालय सर्वोच्च सम्मान से समादृत करते हैं, उनका मूल्य अन्य प्रकाशकों के यहाँ इस तरह होता है ! अपनी ऐसी दुरवस्था पर विश्वविद्यालयों ने क्या कभी कुछ सोचा है ? इसलिए, हमारा अनुरोध है कि जिस शोध-प्रबन्ध को असाधारण मानकर जो विश्व-विद्यालय सम्मानित करता है, उसे अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए उसके प्रकाशन की व्यवस्था स्वयं करनी चाहिए। इस कार्य के लिए प्रत्येक विश्वविद्यालय को 'विश्व-विद्यालय अनुदान-आयोग' (यू० जी० सी०) से विशेष निधि मिलनी चाहिए और इस मद में विशेष अनुदान के लिए विश्वविद्यालयों को आग्रहशील होना ही चाहिए। आज विश्वविद्यालयों में प्राध्यापकों की वेतन-वृद्धि का जितना उग्र आन्दोलन है, उसका शतांश भी पुस्तकालयों को समृद्ध करने तथा शोध-प्रबन्धों के प्रकाशन के लिए नहीं है। यह निश्चय ही चिन्त्य है; क्योंकि भविष्य में जब कभी शोध-साहित्य का इतिहास लिखा जाने लगेगा, तब इन अभागे अप्रकाशित शोध-प्रबन्धों की क्या गति होगी, यह सहज ही अनुमेय है।

—सहृदय

०

शोध की समस्या : एक उदाहरण

पत्रिका के वर्ष ३, अंक ३ में हमने **शोधकार्य की समस्याएँ** शीर्षक एक टिप्पणी लिखी थी, जिसका आशय था कि इदानीं डॉक्टरेट की उपाधि और ऊँची नौकरी प्राप्त करने के लिए धड़ल्ले से जो शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत हो रहे हैं, वे संख्यात्मक दृष्टि से सन्तोष-प्रद होते हुए भी गुणात्मक रूप में असन्तोषमूलक हैं। ऐसे शोध-प्रबन्धों से राष्ट्रभाषा का गम्भीर साहित्य उपहास का पात्र बन रहा है; क्योंकि इनका स्तर बहुत ही निम्न और अध्ययन-अनुशीलन अप्रामाणिक दीखते हैं। इनमें शोधकर्त्ताओं से अधिक दोष शोध-निर्देशकों का होता है, जो अपने उचित उत्तरदायित्व से पराङ्मुख होकर इस कार्य से केवल अपना स्वार्थ-साधन करते हैं। अतः, पी-एच्० डी० तथा डी० लिट्० की उपाधि की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए हमने कुछ सीमा-बन्धन एवं साधनों की पूर्त्ति के निमित्त सुझाव दिये थे। साथ ही, निर्देशकों से अनुरोध भी किया था कि साहित्य के कल्याणार्थ वे

अपने उत्तरदायित्व का सम्यक् निर्वाह करें। उस समय उस टिप्पणी के पक्ष और विपक्ष—दोनों दिशाओं में कुछ विद्वानों ने अपनी-अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की थीं। कई अग्रगण्य साहित्यिकों ने हमें बधाइयाँ दी थीं और कई विद्वानों ने हमारे विचारों के प्रति उपेक्षा एवं असहमति भी प्रकट की थी।

पत्रिका के प्रस्तुत अंक के 'हमारा स्वाध्याय-कक्ष' स्तम्भ में श्रीशशांकदेव-लिखित पी-एच्० डी० की उपाधि प्रदान करानेवाले **कविसमय-मीमांसा** नामक एक ऐसे ही शोध-प्रबन्ध की समीक्षा छापी गई है। समीक्षक ने अपनी समीक्षा की प्रामाणिकता के लिए, उस मुद्रित शोध-प्रबन्ध को हमारे कार्यालय में भेज दिया है। उसने उसके तमाम पृष्ठों को, मनोयोग-पूर्वक अध्ययन करके, रँग डाला है। हमने भी उस प्रति को पढ़ा। हमारे विचार से शोध-प्रबन्ध का विषय महत्त्वपूर्ण है और अन्य शोध-प्रबन्धों के विषयों की तरह चर्वित-चर्वणमात्र नहीं है। लेखक की विश्लेषणात्मक शैली अत्यन्त प्रांजल है तथा उसके अध्ययन-अनुशीलन का परिचायक भी। किन्तु, उचित निरीक्षण-परीक्षण के अभाव में सारा प्रबन्ध भ्रष्ट हो गया है। भ्रष्ट पाठों से भरे इस शोध-प्रबन्ध की दुर्दशा देखकर किसी भी साहित्य-अध्येता को ग्लानि हो सकती है और आश्चर्य हो सकता है कि हिन्दी में ऐसे शोध-प्रबन्धों के लिए डॉक्टरेट की उपाधि मिलती है तथा ऐसा शोध-प्रबन्ध भी विरल एवं अद्वितीय समझा जाकर एक विश्रुत विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित भी हो सकता है! हमारी पूर्व की टिप्पणी में कितना तथ्य था, उक्त शोध-प्रबन्ध एक उदाहरण है। —सहृदय

०

हिन्दी-दिवस

१४ सितम्बर, १९४९ ई० भारतीय इतिहास की गौरवपूर्ण तिथि है। इसी दिन स्वतन्त्र भारत की संविधान-सभा ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा और देवनागरी को राष्ट्रलिपि घोषित किया था। हिन्दी का वैशिष्ट्य यह है कि उसके बोलने तथा समझनेवालों की संख्या सर्वाधिक है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा इसलिए नहीं कहा जाता कि अकेली वह इस राष्ट्र की भाषा है, अपितु इसलिए कहा जाता है कि अँगरेजी के स्थान पर इसे राज्यों के बीच व्यवहार के लिए सबकी इच्छा से चुन लिया गया है। अब समय आ गया है कि देश में बसनेवाले लेखक, कवि, पत्रकार और अध्यापक अहर्निश योजनाबद्ध रूप में हिन्दी-साहित्य का बहुमुखी निर्माण करें और पुस्तक-प्रकाशक तथा हिन्दी-संस्थाएँ व्यापारिक बुद्धि के व्यामोह से अलग होकर स्वल्प मूल्य में प्राप्य उत्तम साहित्य प्रकाशित कर जनसाधारण में खरीदकर पढ़ने की अभिरुचि उत्पन्न करें। विद्यार्थी, नागरिक, जननेता, व्यापारी आदि संघटित होकर राष्ट्रीय भावनात्मक एकता के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी के द्वारा अपना समस्त कामकाज तो करें ही, अपने दैनिक व्यवहार में भी निश्चित रूप से राष्ट्रभाषा को अधिकाधिक प्राश्रय दें।

आज सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है कि हम हिन्दी के प्रचार के लिए अनावश्यक नारेबाजी बन्द करें और सम्मिलित रूप में यह विचार करें कि हिन्दी का सार्वजनीन रूप कैसा हो। हिन्दी के सार्वदेशिक परिनिष्ठित रूप का निर्णय करने के साथ ही

उसके आधार पर कोश, व्याकरण तथा उच्चस्तरीय वैज्ञानिक और तकनीकी साहित्य का सर्जन हो, जिससे अहिन्दीभाषी परिनिष्ठित हिन्दी को सुलभतया सीख सकें। हिन्दी की सर्वतोमुखी समृद्धि किस प्रकार हो, इसकी चिन्ता हमें अहोरात्र होनी चाहिए और इसके लिए तत्क्षण सक्रिय और कृतनिश्चय हो जाना चाहिए। हिन्दी की कमियों को यदि हम दूर कर सके, तो फिर कोई कारण नहीं कि उसे अँगरेजी की दासी बनाने का प्रपंच खड़ा किया जाय।

निश्चय ही, हिन्दी स्वयं समर्थ भाषा है। उसने जो राष्ट्रभाषा का आसन अधिकृत किया है, वह अब अडिग है। आज भारत के जन-जन की यह धारणा कि हिन्दी के लिए कुछ करना-धरना एकमात्र 'हिन्दीवालों' का काम है, बदलनी चाहिए। अब इस राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह हिन्दी के सम्बन्ध में सोचने-विचारने का काम अपनी दिनचर्या में सम्मिलित करे। राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा राष्ट्र की बहुत बड़ी सेवा है, हिन्दी-दिवस का यही अन्तःसंकेत है।

—सूरिदेव

०

नवीन और उल्लेख्य त्रैमासिक : 'मानस-मयूख'

ठाकुरदास सुरेका चैरिटी फण्ड (सलकिया, हवड़ा) की ओर से बड़ी सजधज के साथ, श्रीरामादास शास्त्री, एम्० ए० के वैदुष्यपूर्ण सम्पादकत्व में प्रकाशित त्रैमासिक शोधपत्रिका 'मानस-मयूख' का आन्तरिक उल्लास के साथ स्वागत है। उपर्युक्त फण्ड की ओर से 'श्रीसत्यनारायण तुलसी-मानस-मन्दिर' की भी स्थापना की गई है। साथ ही, 'तुलसी-शोध-संस्थान' भी संस्थापित हुआ है। 'तुलसी-शोध-संस्थान' के शोधकार्य का प्रारम्भ गोस्वामी तुलसीदासजी की विशिष्ट काव्यकृति 'विनयपत्रिका' के सम्पादन और 'मानस-मयूख' पत्रिका के प्रकाशन से हुआ है। इस संस्थान के द्वारा 'विनयपत्रिका' की प्राचीन पाण्डुलिपियों के पाठान्तर आधुनिक वैज्ञानिक वर्गपद्धति से संकलित किये जा रहे हैं तथा खोज-विवरणिकाओं के आधार पर तुलसी-साहित्य एवं तत्सम्बन्धी पाण्डुलिपियों की सविस्तर सूची भी उपस्थित की जा चुकी है।

इस प्रकार, यह शोध-संस्थान समस्त तुलसी-साहित्य पर अध्ययन-अन्वेषण और उसके विविध अंगों के विवेचन प्रस्तुत करने को कृतसंकल्प है। 'मानस-मयूख' का उद्भासन इसी प्रसंग में हुआ है। 'मानस-मयूख' के प्रथमांक को ही देखकर यह विश्वास दृढ होता है कि इसके द्वारा तुलसी-साहित्य के शोध का नया वातायन उद्घाटित होगा। यह पत्रिका अपने उज्ज्वलतम उद्देश्य में निरन्तर निर्विघ्न सफलता प्राप्त करे और यह संस्थान तुलसी-साहित्य के शोध के प्रतिनिधि-प्रतिष्ठान के रूप में यशोधन बने, यही कामना है। 'ठाकुरदास सुरेका चैरिटी फण्ड' के वर्त्तमान अध्यक्ष श्रीरतनलाल सुरेका का यह अनुकरणीय साहित्यानुराग निश्चय ही साधुवादार्ह है।

—सूरिदेव

तँवर (तोमर)-वंश

महामहोपाध्याय पं० श्रीविश्वेश्वरनाथ रेउ

इस वंश के राजपूत (क्षत्रिय) अपने को पाण्डवों के वंशज मानते हैं। इससे इनका चन्द्रवंशी होना सिद्ध होता है। विक्रम-संवत् १००० के पहले के लेखों में इस वंश का नाम नहीं मिलता। प्रसिद्धि है कि इस वंश के राजा अनंगपाल ने, इन्द्रप्रस्थ नगर के प्राचीन खँड़हरों के पास 'ढिल्ली' नामक नगर बसाकर, उसको अपनी राजधानी बनाया था, जो बाद में 'दिल्ली' या 'देहली' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सम्भव है, इसके नाम में यह परिवर्त्तन फारसी अक्षरों की अपूर्णता के कारण ही हुआ हो। बीजोल्या (उदयपुर) से मिले चौहान सोमेश्वर के वि० सं० १२२० के लेख में चौहान-नरेश विग्रहराज (वीसलदेव, चतुर्थ) को ढिल्लिकाग्रहणश्रान्त लिखा है।[1]

मुसलमानों के शासन-काल में, भारत की राजधानी हो जाने से, दिल्ली या देहली[2] को जो महत्त्व मिला, वह तँवरों के राज्य में प्राप्त नहीं हुआ था; क्योंकि तोमर विशेष प्रतापी नहीं थे। ये दिल्ली के तँवर-शासक पहले कन्नौज-नरेशों के सामन्त थे और ईसवी-सन् की १०वीं शती में कन्नौज-राज्य के निर्बल हो जाने से, उसके दूसरे सामन्तों के साथ, ये भी स्वाधीन हो गये। परन्तु, वि० सं० १२२० (सन् ११६३ ई०) के निकट अजमेर

---

१. J. A. S. B., Vol. LV, pp. 40 ff.

इसी प्रकार, वि० सं० १३८४ (ई० स० १३२८) के महम्मद शाही (मुहम्मद इब्नतुगलक के समय के (दिल्ली-अनायबघर के) लेख में भी इस (दिल्ली) का नाम 'ढिल्लिका' ही लिखा है। यह हरियाना-प्रान्त में मानी जाती थी। जैसे—

देशोऽस्ति हरियाणाख्यो पृथिव्यां स्वर्गसन्निमः।
ढिल्लिकाख्या पुरी तत्र तोमरैरस्ति निर्मिता॥

(E. I., Vol. I, p. 93 f.)

इसके अतिरिक्त आगे के लेखों में इस नगर का नाम 'ढिल्ली' मिलता है—लाडनू (जोधपुर) से प्राप्त वि० सं० १३७३ (ई० स० १३१६-१७) के सुलतान कुतुबुद्दीन के समय के लेख में (E. I., Vol. XII, pp. 23 ff); सादडी (जोधपुर) से प्राप्त वि० सं० १४९६ (ई० स० १४३९) के मेवाड़ के राणा कुम्भकर्ण के लेख में (Bhavnagar Inscr. pp. 114 ff.); खडावड़ा (इन्दौर) से प्राप्त वि० सं० १५४१ (ई० स० १४८४) के गयासशाही (गयासशाह खिलजी) के समय के लेख में (J. B. B. R. A. S., Vol. XXIII, pp. 12 ff.); गोपीनाथपुर (कटक) से प्राप्त कपिलेन्द्रदेव भ्रमरवर के समय के लेख में (J. A. S. B., Vol. LXIX, pp. 175 ff.); वि० सं० १३८९ में जिनप्रभसूरि द्वारा विरचित 'विविधतीर्थकल्प' में भी अनेक स्थानों पर इस नगर का नाम 'ढिल्ली' ही दिया है, (दे० पृ० ३०)।

२. भारत की राजधानी हो जाने से इस नगर को भारत की 'देहली' कहा जा सकता है, अतः इसका यह नाम सार्थक ही है।

के चौहान-राजा विग्रहराज (वीसलदेव, चतुर्थ) ने दिल्ली पर विजय प्राप्त कर ली[१] और उस समय से प्रसिद्ध चौहान-नरेश पृथ्वीराज (तृतीय) के समय तक यह उनके अधीन रही तथा वि० सं० १२४९ (सन् ११९२ ई०) के करीब, शहाबुद्दीन के समय से, इसपर मुसलमानों का अधिकार रहा।[२] दिल्ली के दक्षिण में (जयपुर-राज्यान्तर्गत) स्थित तँवरावाटी-प्रदेश अबतक भी तँवर-वंश की स्मृति को सुरक्षित रखे हुए है।

पृथ्वीराजरासो के रचयिता चंद बरदाई ने दिल्ली के तँवर-नरेश अनंगपाल की एक कन्या का विवाह कन्नौज के गाहडवाल-नरेश जयचन्द के साथ और दूसरी का अजमेर के चौहान-नरेश सोमेश्वर के साथ होना और पृथ्वीराज का अपने नाना की गोद जाना लिखा है। परन्तु, यह ठीक नहीं है।[३]

दिल्ली के तँवर-नरेश

कहा जाता है कि तँवर (तोमर)-वंशी नरेश अनंगपाल ने दिल्लीनगर बसाया था। परन्तु, इस घटना के समय के विषय में मतभेद है। अमीर खुसरो अपने काव्य नोह सिपेर कुतबी में, जो हिजरी-सन् ७१८ की ३० जमादि उस्सानी (सन् १३१८ ई० की २४ अगस्त) को समाप्त हुआ था, लिखता है—"मैंने दिल्ली में सुना था कि करीब ५०० या ६०० वर्ष पूर्व (अर्थात्, सन् ८१३ ई० या ७१३ ई० से कुछ पहले) वहाँ अनंगपाल नाम का एक बड़ा राजा हुआ था।"[४]

फरिश्ता लिखता है कि हिजरी-सन् ३०७ (सं० ९२०) में तँवर-राजा वादित्य ने इन्द्रप्रस्थ शहर आबाद किया, जहाँ की जमीन ऐसी नरम और सुस्त थी कि वहाँ मेख को मजबूती से गाड़ना बड़ा मुश्किल था। इसी से वह शहर ढिल्ली के नाम से मशहूर हुआ।[५] इसके बाद वहाँ आठ तँवर-राजा हुए और इनके पीछे चौहानों का राज्य हुआ। परन्तु, दूसरी जगह वही फरिश्ता लिखता है—"राजा देहलू ने देहली शहर बसाया और चार वर्ष राज्य करने के बाद उसे कुमाऊँ के राजा फूर ने कैद कर रोहतास के किले में भेज दिया तथा उसका राज्य छीन लिया। यह राजा फूर बादशाह सिकन्दर से लड़ता हुआ मारा गया था।"[६]

जनश्रुति और कुछ भाटों के ख्यातों से ज्ञात होता है कि वि० सं० ७९२ (सन् ७३५ ई०) में तँवर-राजा विल्हणदेव (अनंगपाल) ने दिल्ली को आबाद किया और चौहान वीसलदेव ने उससे वह नगर छीन लिया।[७]

---

१. दिल्ली की फीरोजशाह की लाट पर का चौहान-विग्रहराज का वि० सं० १२२० का लेख (I. A., Vol. XIX, p. 218)।
२. तबक़ात-ए-नासिरी।
३. भारत के प्राचीन राजवंश, भाग १, पृ० २४९-५०।
४. Elliot's History of India, Vol. III, p. 565.
५. तारीख़ फ़रिश्ता, पृ० ५४।
६. Farishta, Vol. I. p. LXXIII.
७. C. A. S., Vol. I, pp. 141-42.

'आईन-ए-अकबरी' में अनंगपाल का समय सं० ४२९ और वहाँ के तँवर-वंश की समाप्ति सं० ८४८ में होना लिखा है।[1]

दिल्ली की लोहे की प्रसिद्ध लाट पर **सं० ४१८ राज तुंवर आदि अणंग** खुदा है। जनरल कनिंगहम अबुलफजल के द्वारा लिखित संवत् को और इस लेख के संवत् को गुप्त-संवत् मानकर (४१८ + ३१८) ई० स० ७३६ (वि० सं० ७९२) में दिल्ली को बसाया जाना मानते हैं, जो खुसरो के लेख (ई० स० ७०० और ८०० के बीच) और जनश्रुति तथा भाटों के ख्यातों से मिलता हुआ है। परन्तु, एक दूसरे लेख का भी उसी उपर्युक्त लौह-स्तम्भ पर होना कहा जाता है, जिसमें लिखा है—**संवत लि ११०९ (सन् १०५२ ई०) अनंगपाल वही**। इसमें के 'वही' का अर्थ 'बसाई' कर, कुछ विद्वान् दिल्ली का वि० सं० ११०९ में बसाया जाना अनुमान करते हैं। परन्तु, इस समय के पूर्व तँवरों के राज्य के स्थापित होने और दिल्ली के बसने के प्रमाण मिलते हैं। हरस (जयपुर) से प्राप्त सं० १०३० (सन् ९७३ ई०) के साँभर के चौहान-नरेश विग्रहराज (द्वितीय) के लेख[2] से प्रकट होता है कि इस विग्रहराज के परदादा चन्दनराज ने तँवर-वंशी रुद्र (रुद्रेण रुद्रपाल) को, इसके दादा वाक्पतिराज ने तन्त्रपाल[3] को और पिता सिंहराज ने तँवरों के मुखिया सलवण[4] को हराया था। कुछ विद्वान् इस रुद्रपाल और तन्त्रपाल का दिल्ली का राजा होना अनुमान करते हैं। चन्दनराज और उसका पुत्र वाक्पतिराज वि० सं० ९५० और वि० सं० १००० के बीच विद्यमान थे, अत: यही समय **रुद्रपाल** और **तन्त्रपाल** का भी होना चाहिए।

'मिराते मसूदी' से प्रकट होता है कि सुलतान महमूद गजनवी के राज्य के समय, सोमनाथ की विजय के बाद, उक्त सुलतान के सेनापति (पहलवान) सालार साहू के बेटे सालार मसूद ने दिल्ली के राजा महीपाल को मारकर, वहाँ (दिल्ली पर) अपना अधिकार कर लिया था।[5] महीपाल की मुद्राओं (सिक्कों) के मिलने से उपर्युक्त पुस्तक के इस लेख को कल्पित नहीं कह सकते। यह घटना वि० सं० १०८४ और १०८७ (सन् १०२७ और १०३० ई०) के बीच हुई होगी। उस समय दिल्ली नगर का विद्यमान रहना सम्भव है। अत:, इसका वि० सं० ११०९ (सन् १०५२ ई०) में बसना नहीं माना जा सकता। दिल्ली के उपर्युक्त प्रसिद्ध लौह-स्तम्भ पर हिन्दी के छोटे-छोटे सभी खुदे लेख बाद के हैं। उन्हीं दो लेखों में चौहान-नरेश पृथ्वीराज का समय सं० ११५१ लिखा है, जो अमान्य है। दिल्लीनगर किस समय बसा, इसका निर्णय करना कठिन है; परन्तु वि० सं० १०८७ (सन् १०३० ई०) के पूर्व इसका विद्यमान होना सम्भव है।

दिल्ली के तँवर-राजाओं का शृंखलाबद्ध इतिहास नहीं मिलता। जनरल कनिंगहम ने पहले, अबुलफजल की 'आईन-ए-अकबरी' और भाटों के ख्यातों के आधार पर, अनंगपाल से

१. C. A. S. R., Vol. I, p. 142.
२. E. I. Vol. II, pp. 119 ff.
३. इसके वंश का उल्लेख नहीं है। नाम-साद्दश्य से इसे कुछ विद्वान् तँवर-वंश का मानते हैं।
४. कीलहॉर्न यहाँ लवण-सहित तँवरों के मुखिया को हराया, ऐसा अर्थ करते हैं।
५. Elliot's H. I. vol. II, p. 532.

अडकपाल (अखसल) तक १९ राजाओं का, वि० सं० ७९३ से १२०८ (सन् ७३६ ई० से ११५१ ई०) तक, ४१५ वर्ष राज्य करना माना था। यथा : अनंगपाल ७३६ ई०, वासुदेव ७५४ ई०, गंगेय ७७३ ई०, पृथ्वीमल्ल ७९४ ई०, जयदेव ८१४ ई०, नीर (हीर) ८३४ ई०, उदैराज ८४९ ई०, विजय (वच) ८७५ ई०, विक्ष (अनेक) ८९७ ई०, रिक्षपाल ९१९ ई०, सुख (नेक) पाल (गोपाल) ९४० ई०, गोपाल (महीपाल) ९६१ ई०, सल्लखनपाल ९७९ ई०, जयपाल १००५ ई०, कुँवरपाल १०२१ ई०, अनंगपाल १०५१ ई०, विजयपाल १०८१ ई०, महीपाल (महत्सल) ११०५ ई०, अडकपाल (मुकुन्दपाल) ११३० से ११५१ ई० तक। इसी सन् ११५१ ई० (वि० सं० १२०८) में पृथ्वीराज ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। परन्तु, इसपर पूरे तौर से विश्वास न कर सकने के कारण, बाद में उन्होंने अनंगपाल प्रथम और इसके पीछे के २०० वर्ष के काल को छोड़कर, फिर सुखपाल (तेजपाल), गोपाल, सल्लक्षणपाल, जैपाल, कुमारपाल, अनंगपाल द्वितीय, विजयपाल (तेजपाल), महीपाल और अनंगपाल तृतीय का होना लिखा है।[1]

इनमें से कुछ नाम अवश्य शुद्ध हैं। परन्तु, उपर्युक्त जनरल ने कन्नौज के पिछले (राष्ट्रकूट चन्द्रदेव के पूर्व के) कुछ सूर्यवंशी राजाओं को तँवर मानकर गड़बड़ी कर दी है। अतः, उनकी दी हुई पिछली वंशावली भी पूरी तरह विश्वसनीय नहीं है। अबुलफजल की दी हुई वंशावली भी भाटों की वंशावलियों के आधार पर ही तैयार की हुई है। अतः, वह भी सन्देहास्पद है। हाँ, कुछ नाम विश्वसनीय अवश्य हैं।

अनंगपाल दिल्ली का प्रथम राजा था। इसी ने उक्त नगर को बसाया था। पृथ्वीराजरासो में पृथ्वीराज के समकालीन राजा अनंगपाल का दिल्ली बसाना कहा है। यह विश्वास-योग्य नहीं है। उक्त रासो में लोहे की कीली की कथा का इसी उपर्युक्त लोहे की कीली से सम्बन्ध रखना सम्भव है।। इस लोहे की लाट को अनंगपाल प्रथम या द्वितीय, विष्णुपाद गिरि नामक स्थान से दिल्ली लाया होगा। अनंगपाल के पीछे के राजाओं की शृंखलाबद्ध वंशावली नहीं मिलती है। हाँ, इस वंश के राजाओं के कुछ सिक्के मिले हैं, उनसे उनके नामों का पता चलता है। जैसे—

१. **सल्लक्षणपाल**—इसके (ताँबा-चाँदी-मिले) मिश्रधातु के सिक्के मिले हैं। ये 'अश्वनन्दी' शैली के हैं। इनपर अश्व की ओर **सल्लक्षणपालदेव** तथा नन्दी की तरफ **सामन्तदेव** लिखा है। ये सिक्के काबुल के शाही राजाओं के सिक्कों के समान हैं।

२. **अजयपाल**—इसके चाँदी के सिक्के मिले हैं। इनमें एक तरफ चतुर्भुजा लक्ष्मी की मूर्त्ति बनी है और दूसरी ओर **श्रीअजयपालदेवः** लिखा है।

३. **महीपाल**—इसके भी सोने और चाँदी के सिक्के मिले हैं। इनमें एक तरफ चतुर्भुजा लक्ष्मी की मूर्त्ति बनी है और दूसरी ओर **श्रीमन्महीपालदेवः** लेख है। इसके ताँबे के सिक्के भी 'अश्वनन्दी' शैली के ही हैं। इनपर नन्दी की मूर्त्ति की ओर **श्रीमहीपालदेव** लेख है।

'मिराते मसूदी' में लिखा है कि जिस समय सालार मसूद ने दिल्ली पर चढ़ाई की, उस समय (सन् १०२७ और १०३० ई० के बीच) वहाँ का राजा महीपाल था।

१. Coins of mid. Ind. p.84.

उसके पास बड़ी फौज और बहुत-से हाथी होने से वह घमंड में आ गया था। सुलतान महमूद (गजनवी) और सालार साहू ने लाहौर पर विजय पाई; परन्तु उन्होंने दिल्ली पर हमला करने की कोशिश तक भी नहीं की और लौट गये। राजा महीपाल उनका सामना करने को चला और एक महीने से कुछ अधिक समय, सुबह से शाम, तक लड़ाई होती रही। मसूद को अपनी फतह में शक हुआ। इतने में नई मदद आ पहुँची। इससे महीपाल डर गया। चार दिन पीछे फिर लड़ाई शुरू हुई। इसमें महीपाल के पुत्र गोपाल ने, मसूद पर हमला कर, उसकी नाक पर गुरज से प्रहार किया। इससे उसके दो दाँत टूट गये। परन्तु, शरफुलमुल्क ने अपनी तलवार से गोपाल को मार डाला। दूसरे दिन फिर लड़ाई हुई। इसमें दोनों पक्षों के कई आदमियों के मारे जाने के बाद हिन्दू भाग गये। केवल राजा महीपाल और सिरिपाल (श्रीपाल)[1], थोड़े-से आदमियों के साथ, रणखेत में डटे रहे। यद्यपि उनके सब दोस्तों ने उन्हें भागने की राय दी, तथापि उन्होंने इसे न माना और मारे जाने तक बराबर लड़ते रहे। उनके मरने के बाद मसूद, दिल्ली में अमीर वाजिद जफर को, कुछ फौज के साथ छोड़कर, मेरठ की तरफ चला गया।[2]

अब्दुर्रहमान चिश्ती ने बादशाह जहाँगीर के समय, 'मिराते मसूदी' लिखी थी। इसमें उसने 'रोज़ेतुस्सफ़ा', 'तारीख़-ए-फीरोज़शाही' और मुंतख़बुत्तवारीख' से बहुत-सा हाल उद्धृत किया है। इन (पुस्तकों) के अतिरिक्त उसने मुल्ला मुहम्मद गजनवी की 'तारीख़-ए-महमूदी' से भी हाल दिया है। यह 'तारीख़- ए-महमूदी' इस समय अप्राप्य है।

४. कुमर (कुँवर) पाल—इसके सोने के सिक्के मिले हैं। इनपर एक तरफ चतुर्भुजा लक्ष्मी की मूर्त्ति बनी है और दूसरी ओर **श्रीमत्कुमरपालदेवः** लेख है।

५. अनंगपाल—इसके ताँबे-चाँदी के मेल के सिक्के मिले हैं। ये 'अश्वनन्दी' शैली के हैं। इनपर अश्व की तरफ **श्रीअणंगपालदेवः** और नन्दी की ओर **श्रीसामन्तदेवः** लेख है। जनरल कनिंगहम इसे **माधव श्रीसामन्तदेवः** पढ़ते हैं। परन्तु, म० म० पं० श्रीगौरी-शङ्कर हीराचन्द ओझा कनिंगहम के छपवाये उन सिक्कों के फोटो-चित्रों में 'माधव' शब्द का रहना नहीं मानते।

लोहे की लाट पर अनंगपाल का समय सं० ११०९ दिया है, वह इसी अनंगपाल का होना चाहिए। इसके बनाये मन्दिर का कुछ अंश, कुतुबमीनार के पास, अबतक विद्यमान है।

ऊपर जिन पाँच राजाओं का वर्णन किया गया है, उनके नाम सिक्कों (मुद्राओं) में मिलते हैं; किन्तु इतने से इनका पिता-पुत्र का सम्बन्ध या समय-क्रम निर्धारित नहीं किया जा सकता। अतः, उनका क्रम अनुमान से ही रखा गया है, और जबतक लेखों से उनके क्रम का निर्णय न हो, तबतक वह असन्दिग्ध नहीं कहा जा सकता।

अनंगपाल द्वितीय के बाद भी दिल्ली पर तँवरों का अधिकार रहा होगा, और वि० सं० १२२० (सन् ११६३ ई०) के निकट चौहान-नरेश विग्रहराज (वीसलदेव, चतुर्थ) ने वहाँ अधिकार कर लिया होगा, ऐसा अनुमान है।

---

१. इसके नाम से इसका भी तँवर होना प्रकट होता है।
२. Elliot's H. I., vol. II, pp. 531-33.

भाटों के ख्यातों आदि से पाया जाता है कि अनंगपाल द्वितीय के बाद विजयपाल (तेजपाल), महीपाल और अनंगपाल तृतीय हुआ था। परन्तु, जबतक उक्त नामों की पुष्टि लेखों आदि से न हो जाय, तबतक निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। पृथ्वीराजरासो से अनंगपाल के बाद दिल्ली पर चौहानों का अधिकार होना पाया जाता है। अतः, सम्भव है कि चौहान-नरेश विग्रहराज (वीसलदेव, चतुर्थ) ने अनंगपाल तृतीय के समय ही दिल्ली पर अधिकार किया हो। उस रासो में मिलनेवाली पृथ्वीराज के अनंगपाल की गोद जाने की कथा तो निर्मूल ही है।

कन्नौज के प्रतिहार महेन्द्रपालदेव के कर्नाल जिले के पेहेवा (पृथूदक) से प्राप्त लेख में लिखा है कि तोमर (तँवर)-वंश में राजा 'जाउल' हुआ। उसके वंशज 'वज्रट' का विवाह मंगलदेवी से हुआ था। इनके पुत्र 'जज्जुक' की दो स्त्रियाँ थीं—चन्द्रा और नायिका। उनके तीन पुत्र हुए—गोग्ग, पूर्णराज और देवराज। इन तीनों भाइयों ने, महेन्द्रपाल के राज्य के समय में, वहाँ विष्णु का मन्दिर बनवाकर उसके प्रबन्ध के लिए तीन गाँव अर्पित किये थे। इस लेख के ये सब भी राजा कन्नौज-नरेशों के सामन्त थे। महेन्द्रपाल के वि० सं० ९५५ (ई० स० ८९८) से वि० सं० ९७४ (ई० स० ९१७) तक के लेख मिले हैं। अतः, उक्त मन्दिर का निर्माण-काल भी यही रहा होगा।

ग्वालियर के तँवर

ई० स० १२३२ के करीब ग्वालियर के किले पर शमसुद्दीन अल्तिमश ने अधिकार कर लिया था और उस समय से तिमूर की चढ़ाई तक वह दिल्ली के मुसलमान बादशाहों के अधिकार में ही रहा। उस समय वहाँ बड़े-बड़े राजकीय कैदी रखे जाते थे। परन्तु, तिमूर की चढ़ाई से उत्पन्न हुई गड़बड़ी में उक्त किले पर तँवरों का अधिकार हो गया।[1]

ख्यातों और भाटों की बहियों में मिलनेवाली ग्वालियर के तँवरों की वंशावलियों में उनका दिल्ली के तँवर-राजा अनंगपाल (द्वितीय) का वंशज होना लिखा है। ग्वालियर का किला लेने के पूर्व वे ग्वालियर से उत्तर में दंदरोली स्थान में रहते थे, और बाद में नरवर, रोहतासगढ़ आदि पर भी उनका अधिकार हो गया था।

उनके शिलालेखों और फारसी तवारीखों आदि के आधार पर उनका थोड़ा इतिहास यहाँ दिया जाता है—

१. वीरसिंह—राजा वीरसिंह ने पहले-पहल ग्वालियर के किले पर अधिकार किया था। फरिश्ता लिखता है कि तिमूर की चढ़ाई के वक्त वह (ग्वालियर का) किला नरसिंह (वीरसिंह)[2] के अधिकार में चला गया।[3] परन्तु, ख्यातों में लिखा है कि वीरसिंह दिल्ली के बादशाह की सेवा में रहता था और उसी (बादशाह) ने उसे (वीरसिंह को) ग्वालियर का हाकिम नियुक्त किया था। पहले वहाँ का अधिकारी एक सैयद था, जिसने वीरसिंह को किला सौंपने से इनकार कर दिया। परन्तु, वीरसिंह ने

१. यह चढ़ाई वि० सं० १४५५ (ई० स० १३९८) में हुई थी।
२. फारसी-वर्णमाला की अपूर्णता से वीरसिंह का विरसिंह या नरसिंह पढ़ा जाना सम्भव है।
३. Brigg's Farishta, Vol. I, p. 500.

उक्त सैयद और उसके बड़े-बड़े कर्मचारियों को दावत में बुलाकर उन्हें अफीम खिला दी, और उनके बेहोश हो जाने पर, उन्हें कैद करके, किले पर अधिकार कर लिया। उसका देहान्त वि० सं० १४५९ (ई० स० १४०२) से कुछ पहले हुआ था।

२. उद्धरण और वीरम—रोहतासगढ़ से प्राप्त वि० सं० १६८८ (ई० स० १६३१) के तोमर (तँवर) मित्रसेन के लेख[1] से प्रकट होता है कि वीरसिंह के बाद उसका पुत्र उद्धरण और उसके बाद उस (उद्धरण) का पुत्र वीरम राजा हुए। परन्तु, फ़रिश्ता लिखता है कि नरसिंह (वीरसिंह) के पीछे उसका पुत्र ब्रह्म (वीरम) देव ग्वालियर का राजा हुआ।[2] अतः, सम्भव है कि उद्धरण और वीरम दोनों भाई हों, उद्धरण ने थोड़े समय तक ही राज्य किया हो, उसके पीछे वीरम गद्दी पर बैठा हो तथा इसी से शिलालेख में वीरम को (उद्धरण की गोद आया[3] मानकर) उस उद्धरण का पुत्र लिख दिया हो। वीरम के समय हिजरी-सन् ८०५ (वि० सं० १४६२=सन् १४०५ ई०) में मल्लू इकबाल खाँ ने ग्वालियर पर चढ़ाई की, परन्तु उसे निराश होकर दिल्ली लौट जाना पड़ा। इसके बाद फिर उसने दूसरी बार आकर ग्वालियर को घेर लिया। परन्तु, इस बार भी उसे केवल आसपास के प्रदेश को लूटकर ही दिल्ली वापस चला जाना पड़ा।[4]

फरिश्ता के लिखने से पाया जाता है[5] कि हि० स० ८१९ और ८२४ (वि० सं० १४७३ और १४८१=सन् १४१६ और १४२४ ई०) में सैयद खिजर खाँ ने ग्वालियर के राजा से कर (खिराज) लिया था। उस समय वहाँ वीरम का राज्य ही रहा होगा।

वीरम के दरबार में रहनेवाले जैन विद्वान् नयचन्द्र सूरि ने चौहानों के इतिहास से सबन्ध रखनेवाला 'हम्मीर-महाकाव्य' और जयचन्द्र से सम्बन्ध रखनेवाली 'रम्भामञ्जरी-नाटिका' बनाई थी।

३. गणपति—वीरम के पीछे उसका पुत्र गणपति राजा हुआ। जनरल कनिंगहम ख्यातों के आधार पर इसका वि० सं० १४७६ से १४८२=सन् १४१९ से १४२५ ई० तक राज्य करना अनुमान करते हैं। यह ठीक ही प्रतीत होता है। हि० स० ८२७ (वि० सं० १४८०=सन् १४२३ ई०) में मालवे (मांडू) के सुलतान हुशंग ने ग्वालियर को घेर लिया। यह देख दिल्ली के बादशाह सैयद मुबारिक ने, उस (हुशंग) की शक्ति का बढ़ना अपने लिए हानिकारक समझ, मालवा पर चढाई कर दी। उसने चंबल (नदी) को पार कर, हुशंग को हराया तथा उसका माल-असबाब लूट लिया।[6] हुशंग किसी तरह अपनी जान बचाकर भागा।

---

१. J. A. S. B., Vol. VIII, p. 695 (इसमें ग्वालियर का नाम 'गोपाचल' दिया है।)
२. Brigg's Farishta, Vol. I, P. 500.
३. रजवाड़ों में यह प्रथा प्राचीन काल से चली आती है।
४. Brigg's Farishta, Vol. I, pp. 500-1.
५. Do Vol. I, pp 509 और 512.
६. Do Vol. I, p. 517.

४. डूंगरेन्द्रदेव (डूंगरसिंह)—गणपति का उत्तराधिकारी उसका पुत्र डूंगरेन्द्रदेव (डूंगरसिंह) था। यह विशेष प्रतापी हुआ। फरिश्ता लिखता है कि हि० स० ८३१ और ८३३ (वि० सं० १४८४ और १४८६=सन् १४२७ और १४२९ ई०) में सैयद मुबारिक ने ग्वालियर जाकर, वहाँ के राजा से खिराज (कर) लिया।[1] इससे सूचित होता है कि डूंगरसिंह ने पूरी तरह दिल्ली की अधीनता स्वीकार नहीं की थी, और इसीसे खिराज (कर) लेने के लिए बादशाह को चढ़ाई करनी पड़ी। हि० स० ८४२ (वि० सं० १४८६ = सन् १४३९ ई० में डूंगरसिंह ने मालवा (मांडू) के सुलतान महमूद खिलजी के अधिकार में रहे नरवर के किले पर घेरा डाला। यह हाल सुनकर सुलतान ने ग्वालियर पर चढ़ाई की। यद्यपि वहाँ रहे राजपूतों ने किले से बाहर निकलकर सुलतान की फौज पर हमला किया, तथापि उन्हें हारकर किले में लौट जाना पड़ा। यह समाचार पाते ही डूंगरसिंह, नरवर का घेरा उठाकर, ग्वलियर की ओर चला। परन्तु, उसके वहाँ पहुँचने के पूर्व ही सुलतान, ग्वालियर की विजय किये विना ही, मांडू लौट गया।[2] फरिश्ता लिखता है कि डूंगरसिंह नरवर छोड़कर ग्वालियर की तरफ चला। इससे सुलतान की नरवर को बचाने की इच्छा पूरी हो गई और वह ग्वालियर की विजय किये विना ही लौट गया। परन्तु, इससे सूचित होता है कि वास्तव में सुलतान को डूंगरसिंह से, रण में लड़कर, विजयी होने की आशा नहीं थी। इसी से वह, नरवर को बचाने न जाकर, ग्वालियर की तरफ आया और फिर डूंगरसिंह का ग्वालियर की ओर आना सुन उसने ग्वालियर भी छोड़ दिया।

ग्वालियर के किले में चट्टानों को काटकर जो अनेक जैन मूर्त्तियाँ बनाई गई हैं, उनका निर्माण इसी डूंगरसिंह के समय प्रारम्भ हुआ था और इसके पुत्र कीर्त्तिसिंह के समय समाप्त हुआ।

जनरल कनिंगहम इसके समय के वि० सं० १४९७[3] (सन् १४४० ई०), वि० सं० १५०५ (सन् १४४८ ई०) और वि० सं० १५१०[4] (सन् १४५३ ई०) के लेखों का मिलना सूचित करते हैं।[5] पहले और पिछले लेख में इसका नाम डूंगरेन्द्रदेव लिखा है। परन्तु, म० म० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा वि० सं० १५१० के लेख के संवत् के शुद्ध पढ़े जाने में शंका करते हैं; क्योंकि फरिश्ता के लेखानुसार वि० सं० १५०९ (सन् १४५२ ई०) में डूंगरसिंह का पुत्र कीर्त्तिसिंह ग्वालियर का राजा था।

५. कीर्त्तिसिंह—डूंगरसिंह का पुत्र और उत्तराधिकारी कीर्त्तिसिंह था। ख्यातों में इसका वि० सं० १५११ से १५३६ (सन् १४५४ से १४७९ ई०) तक राज्य करना लिखा है। फरिश्ता के अनुसार हि० स० ८५६ (वि० सं० १५०९=सन् १४५२ ई०) में

१. Brigg's Farishta, Vol. I, pp. 521-22.
२. Do Vol. IV, P. 205.
३. J. A. S. B., Vol. XXXI, p. 422.
४. J. A. S. B., Vol. XXXI, P. 423.
५. C. A. S. R., Vol. II, p. 385.

कीर्तिसिंह ही ग्वालियर का राजा था। अतः, वि० सं० १५०५ और १५०९ (सन् १४४८ और १४५२ ई०) के बीच ही किसी समय वह ग्वालियर का राजा हुआ होगा।[१]

हि० स० ८५६ (वि० सं० १५०९=सन् १४५२ ई०) में जौनपुर के महमूदशाह शर्की और दिल्ली के बादशाह बहलोल लोदी के बीच एक बड़ी लड़ाई हुई थी। इसमें कीर्तिसिंह और उसका भाई पृथ्वीराय बहलोल लोदी के सहायक थे। इसी युद्ध में पृथ्वीराय (महमूदशाह के सेनापति) फतह खाँ हार्वी के हाथ से मारा गया। परन्तु, जब महमूदशाह की सेना भाग चली और फतह खाँ पकड़ा गया, तब कीर्तिसिंह ने भाई की मृत्यु के बदले में फतह खाँ का सिर काटकर बहलोल लोदी के पास भेज दिया।[२] इसके बाद हि० स० ८७० (वि० सं० १५२२=सन् १४६५ ई०) में महमूदशाह के पुत्र सुलतान हुसैनशाह ने, अपने पिता की हार का बदला लेने के लिए, ग्वालियर पर एक बड़ी सेना भेजी। कीर्तिसिंह ने, खिराज (कर) देना स्वीकार कर, उससे सुलह कर ली।[३] इस समय से कीर्तिसिंह दिल्ली के विरुद्ध जौनपुर का सहायक हो गया। हि० स० ८७८ (वि० सं० १५३० = सन् १४७३ ई०) में सुलतान हुसैन की माता बीबी राजी का देहान्त होने पर उसने अपने पुत्र कल्याणमल्ल को मातमपुरसी के लिए सुलतान के पास भेजा।[४] फरिश्ता कीर्तिसिंह का स्वयं जाना लिखता है।[५]

जिस समय बहलोल लोदी से अन्तिम बार हारकर, और अपने माल-असबाब तथा औरत आदि को छोड़कर हुसैनशाह भागता हुआ ग्वालियर आया, उस समय (हि० स० ८८३ (वि० सं० १५३५ = सन् १४७८ ई०) में, कीर्तिसिंह ने कई लाख टके (रुपये), तंबू, हाथी, घोड़े, ऊँट आदि देकर, उसकी बहुत सहायता की तथा कालपी तक उसे स्वयं पहुँचा आया।[६]

इसके समय के दो लेख[७] मिले हैं—एक, वि० सं० १५२५ (सन् १४६८ ई०) का, और दूसरा, वि० सं० १५३० (सन् १४७३ ई०) का है।

६. कल्याणमल्ल—कीर्तिसिंह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र कल्याणमल्ल (कल्याणसिंह) राजा हुआ। इसने वि० सं० १५३६ से १५४३ (सन् १४७९ से १४८६ ई०) तक सात वर्ष राज्य किया था।

७. मानसिंह—यह कल्याणमल्ल का पुत्र और उत्तराधिकारी था। ख्यातों के अनुसार इस (मानसाही) ने वि० सं० १५४३ से १५७३ (सन् १४८६ से १५१६ ई०)

---

१. यह समय वि० सं० १५१० के लेख के संवत् के पढ़ने में भ्रम का रहना मानकर ही आ सकता है।
२. Brigg's Farishta, Vol. I, pp. 552-53.
३. Do Vol. IV, p. 376.
४. C. A. S. R.; Vol. II, 385.
५. Brigg's Farishta, Vol. I. p. 557.
६. Do Vol. I, p. 559.
७. C. A. S. R., Vol. II, p. 385.

तक तीस वर्ष राज्य किया था। इसके गद्दी पर बैठने के कुछ समय बाद ही बहलोल लोदी ने ग्वालियर पर चढ़ाई कर ८० लाख टके (रुपये) खिराज (कर) के लिये थे।[1]

सन् १४८९ ई० (वि० सं० १५४६) में बहलोल लोदी का देहान्त हुआ और उसका पुत्र सिकन्दर लोदी दिल्ली का बादशाह हुआ। इसने, हि० स० ८९६ (वि० सं० १५४७ = सन् १४९० ई०) में, अपने अमीर ख्वाजा महम्मद फरमती (?) के साथ मानसिंह के लिए एक खिलअत भेजी। इसपर मानसिंह ने, अपने भतीजे के हाथ बादशाह के लिए, बयाना स्थान पर, भेंट भेजी।[2] मानसिंह के द्वारा अपने भतीजे के साथ १००० सवार भेजने का भी उल्लेख मिलता है।[3]

हि० स० ९०७ (वि० सं० १५५८ = सन् १५०१ ई०) में मानसिंह ने अपने ख्वाजसरा (कंचुकी) निहाल को कीमती तोहफे (भेंट की वस्तुओं) के साथ बादशाह के पास भेजा। परन्तु, उसकी बातों के ढंग से अप्रसन्न होकर बादशाह ने उसे अपने दरबार से निकाल दिया।[4] इसके कुछ दिन बाद बादशाह ने ग्वालियर पर चढ़ाई की। इसपर मानसिंह ने, शाही दरबार से भागकर उसकी शरण में आये सैयद खाँ शिरवानी, बाबर खाँ शिरवानी और राजा गणेश को बादशाह के हवाले कर, सन्धि कर ली। उसने अपने पुत्र विक्रमादित्य को भी बहुमूल्य भेंट के साथ बादशाह के पास भेजा।[5]

हि० स० ९११ (वि० सं० १५६२ = सन् १५०५ ई०) में बादशाह ने फिर एक बड़ी सेना लेकर ग्वालियर पर चढ़ाई की। परन्तु, वहाँ के लोगों ने उसकी रसद को रोक दिया। इससे उसे लौटना पड़ा और मार्ग में, एक घातक स्थान पर, ऐसा हमला किया गया कि वह बड़ी कठिनता से प्राण बचा सका। फिर भी, इस स्थान पर, उसकी बहुत-सी सेना नष्ट हो गई।[6] इसके बाद बारह वर्षों तक दिल्ली की तरफ से मानसिंह पर कोई हमला न हो सका। परन्तु, सिकन्दर लोदी उसे पूरी तरह अपने अधीन करना चाहता था। अतः, हि० स० ९२३ (वि० सं० १५७४ = सन् १५१७ ई०) में उसने अपने दूर-दूर के उमरों और सरदारों को ग्वालियर पर चढ़ाई करने के लिए बुलाया। परन्तु, इसी समय सिकन्दर लोदी की मृत्यु हो गई और उसकी इच्छा पूरी न हो सकी।

सिकन्दर लोदी के पीछे उसका बड़ा पुत्र इब्राहीम लोदी दिल्ली के तख्त पर बैठा। साथ ही, उसका भाई जलाल खाँ भी, बागी होकर, जौनपुर में गद्दी पर बैठा। परन्तु, वहाँ से भगाये जाने पर, ग्वालियर में, राजा मानसिंह के पास चला गया। इससे क्रुद्ध होकर इब्राहीम ने ग्वालियर पर चढ़ाई करना आवश्यक समझा, और उसने आजम हुमायूँ शिरवानी को ३०,००० सवार, ३०० हाथी और बहुत-सी दूसरी सेना देकर उधर रवाना

१. Brigg's Farishta, Vol. I, p. 561.
२. Do Vol. I, p. 568.
३. C. A. S. R., Vol. II, p. 380.
४. Brigg's Farishta, Vol. I, p. 577.
५. Do Vol. I, p. 578.
६. Do Vol. I, pp. 579-80.

किया। जलाल खाँ, ग्वालियर छोड़कर, मांडू के सुलतान महमूद खिलजी के पास चला गया। दिल्ली की फौज ने ग्वालियर को घेर लिया। इसके थोड़े ही दिनों के बाद मानसिंह का स्वर्गवास हो गया और उसका पुत्र विक्रमादित्य ग्वालियर की गद्दी पर बैठा।[1]

नियामत उल्ला अपने इतिहास में लिखता है कि बहलोल लोदी और सिकन्दर लोदी ने कई बार ग्वालियर पर चढ़ाई की थी, परन्तु वह किला उनके हाथ नहीं आया। इसी से इब्राहीम लोदी उसपर विजय करना चाहता था।[2]

मानसिंह बड़ा ही वीर और प्रतापी राजा था। इसकी वीरता, योग्यता और प्रजाहितैषिता की प्रशंसा फरिश्ता, अबुलफजल आदि मुसलमान इतिहास-लेखकों ने भी की है। यह शिल्पकला का भी बड़ा प्रेमी था। इसने अपने राज्य में कई तालाब बनवाये थे। ग्वालियर के उत्तर-पश्चिम में स्थित मोतीझील नामक बड़ा तालाब भी इसी का बनवाया माना जाता है। इसने अपने रहने के लिए जो महल बनवाया था, वह आज भी वास्तुकला का एक नमूना समझा जाता है। इसने, सुन्दर पत्थर का, दो महावतों-सहित पूरे कद का एक हाथी बनवाया था, जो बाद में दिल्ली लाया गया,[3] और जिसकी प्रशंसा बादशाह बाबर और अबुलफजल ने भी की है। यह संगीत में भी निपुण था।

८. **विक्रमादित्य (विक्रमशाही)**—इसका राज्याभिषेक ऐसे समय हुआ था, जब इसकी राजधानी (ग्वालियर) विशाल मुसलमानी सेना से घिरी हुई थी। आजम हुमायूँ ने कई महीनों की लड़ाई के बाद ग्वालियर के बादलगढ़ के सबसे नीचे के दरवाजे पर हमला किया। परन्तु, वहाँतक पहुँचने में उसके बहुत-से सैनिक मारे गये और बड़ी कठिनाई से उसपर अधिकार हो सका।[4] वहाँ उसको पीतल का बना एक नन्दी मिला। जब इसे दिल्ली भेजा गया, तब वहाँ उसे बगदाद दरवाजे के बाहर खड़ा किया गया। बाद में अकबर ने इसे फतहपुर सीकरी भेज दिया। वहाँ हि० स० १००२ (वि० सं० १६५० = सन् १५९३ ई०) के बाद इसे तोड़कर इसके पीतल से अनेक अन्य वस्तुएँ बनवाई गईं। इसी प्रकार की कठिनता से दूसरे और तीसरे दरवाजे पर भी अधिकार हुआ। चौथे दरवाजे (लक्ष्मणपौल) पर हमला करने में इब्राहीम का बड़ा सरदार ताज निजाम मारा गया। इस प्रकार, एक वर्ष के घोर युद्ध के बाद चार दरवाजों पर शाही सेना का अधिकार हुआ, तब भी सबसे ऊपर का अन्तिम दरवाजा (हथियापौल) लेना बाकी रह गया। परन्तु, इसी समय सन्धि की शर्त्तों के अपने मनोनुकूल तय हो जाने से विक्रमादित्य ने बादशाह का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। इसके बाद उसे बादशाह इब्राहीम के पास आगरा भेजा गया। वहाँ बादशाह ने उसके शम्साबाद का परगना जागीर में देकर अपने उमराओं में ले लिया और इस प्रकार ग्वालियर का किला, जो करीब १२० वर्ष से राजपूत-राजाओं के अधिकार में था, फिर से मुसलमानों के हाथों में चला गया।

---

१. Brigg's Farishta, Vol. I, p. 594.
२. C. A. S. R., Vol. II, p. 387.
३. इसके कई टुकड़े हो गये थे। उन्हें जोड़कर इसे फिर से खड़ा किया गया था।
४. Brigg's Farishta, Vol. I, p. 594.

हि० स० ९३२ (वि० सं० १५८३ = सन् १५२६ ई०) में इब्राहीम लोदी और बाबर के बीच पानीपत में युद्ध हुआ। इसमें तँवर-विक्रमादित्य इब्राहीम का ओर से लड़ता हुआ मारा गया।[1] इस लड़ाई में बाबर विजयी हुआ और उसने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। इसके बाद उसने अपने पुत्र हुमायूँ को आगरा भेजा। यहीं भागने की कोशिश करते हुए विक्रमादित्य के परिवार के लोग (स्त्री, बच्चे और सेवक) पकड़े गये। परन्तु, हुमायूँ ने उन प्राचीन राजघराने के कुटुम्बियों के साथ बड़ी उदारता का बरताव किया और उनको लुटने न दिया। इसके बदले में उन्होंने भी उसे बहुत-से रत्न भेंट किये, जिनमें एक 'कोहेनूर' नामक बड़ा हीरा भी था।[2] यह प्रसिद्ध हीरा पहले मालवा के सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के पास था। उससे तँवरों के पास आने के विषय में जनरल कनिंगहम का अनुमान है कि हि० स० ८६० (वि० सं० १५१२ = सन् १४५५ ई०) में मेवाड़ के महाराणा कुम्भा ने अलाउद्दीन को बुरी तरह से हराया था। सम्भव है, उसमें ग्वालियर का तँवर-नरेश वीरवर कीर्त्तिसिंह भी महाराणा के पक्ष में रहा हो, और उसी समय यह हीरा उसके हाथ लगा हो। म० म० पं० ओझाजी भी इसे ठीक मानते हैं।

हि० स० ९३२ (वि० सं० १५८३ = सन् १५२६ ई०) तक ग्वालियर का किला लोदियों के अधिकार में रहा। जिस समय बाबर ने आगरा पर अपना अधिकार जमाया, उस समय ग्वालियर का हाकिम अफगान तातार खाँ था। उसने, तँवर-वंशी नरेश मंगलराय के आक्रमण से तंग होकर, भिन्नधर्मावलम्बी हिन्दू के अधीन होने के स्थान पर, अपने स्वधर्मी शत्रु के अधीन होना पसन्द किया और बाबर को ग्वालियर लेने के लिए बुलाया। इसपर बाबर ने रहीमदाद को एक बड़ी सेना के साथ वहाँ भेजा। परन्तु, उसके वहाँ पहुँचने पर तातार खाँ ने अपना विचार पलट दिया और किला छोड़ना न चाहा। फिर, भी रहीमदाद ने चालाकी से किले पर अधिकार कर लिया। दूसरे वर्ष मंगलराय ने फिर उस किले पर घेरा डाला। परन्तु, उसकी इच्छा पूरी न हुई। ख्यातों में मंगलराय को कीर्त्तिसिंह का छोटा पुत्र लिखा गया है। हुमायूँ के समय, हि० स० ९४९ (वि० सं० १५९९ = सन् १५४२ ई०) में, ग्वालियर के हाकिम अबुल कासिम बेग ने उस (किले) को शेरशाह को सौंप दिया। उसी वर्ष विक्रमादित्य के पुत्र रामसाह ने भी उक्त दुर्ग पर अपना अधिकार करना चाहा था। परन्तु, उसमें असफल होने से वह हुमायूँ के शत्रु शेरशाह का सहायक बन गया। इसी की सहायता से शेरशाह का सेनापति शुजा खाँ मालवा पर अधिकार करने में समर्थ हुआ था।

अकबर के राज्याभिषेक के समय ग्वालियर का हाकिम सुहेल खाँ था, जिसे शेरशाह के पुत्र इस्लामशाह ने वहाँ नियुक्त किया था।

वि० सं० १६१३ (सन् १५५६ ई०) में बादशाह अकबर ने ग्वालियर पर चढ़ाई करने का प्रबन्ध किया। इसपर सुहेल खाँ ने रामसाह को लिखा कि ग्वालियर के किले को, जो तुम्हारे बाप-दादों का है, अकबर की इच्छा के विरुद्ध मैं नहीं रख सकता।

---

१. Erskin's History of India, Vol. I, p. 432; C. A. S. R., Vol. II, p. 389.
२. C. A. S. R., Vol. II, p. 390.

इसलिए, तुमसे कुछ रुपये लेकर तुम्हें सौंपना चाहता हूँ। इस बात को स्वीकार कर रामसाह ग्वालियर पहुँचा। परन्तु, इकबाल खाँ ने, जिसकी जागीर उक्त किले के निकट थी, उसपर हमला करके, उसको हरा दिया। इसपर वह अपने तीन पुत्रों (शालिवाहन, भवानीसिंह और प्रतापसिंह) को साथ लेकर मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह के पास चला गया तथा वि० सं० १६३३ (सन् १५७६ ई०) में महाराणा प्रतापसिंह और बादशाह अकबर की सेना के बीच, मेवाड़ में, हल्दी घाटी के पास जो युद्ध हुआ था, उसमें अपने दो पुत्रों (भवानीसिंह और प्रतापसिंह) के साथ मारा गया। इसके बड़े पुत्र शालिवाहन के दो पुत्र थे—श्यामसिंह और मित्रसेन। उद्धरण के इतिहास में, रोहतासगढ़ से प्राप्त वि० सं० १६८८ के, जिस लेख का उल्लेख किया गया है, वह इसी के समय का है। संभवतः, ये दोनों भाई अकबर की सेवा में थे।

श्यामसिंह के दो पुत्र संग्रामसाही और नारायणदास हुए। संग्रामसाही का पुत्र किसनसिंह, और उसके पुत्र विजयसिंह और हरिसिंह थे, जो मेवाड़ में महाराणा के पास रहते थे। विजयसिंह का स्वर्गवास वि० सं० १७८१ (सन् १७२४ ई०) में हुआ था।

रोहतासगढ़ के लेखानुसार ग्वालियर के तँवर-नरेशों की वंशावली इस प्रकार है—

१. वीरसिंह
२. उद्धरण
३. वीरम
४. गणपति
५. डूंगरसिंह
६. कीर्त्तिसिंह
७. कल्याणसाही
८. मानसाही
९. विक्रमसाही
१०. रामसाही
११. शालिवाहन
१२. मित्रसेन
१३. श्यामसाही

●●

२८००, गली आर्यसमाज
बाजार सीताराम, दिल्ली—६

स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा : एक संस्मरण

पं० श्रीजवाहरलाल चतुर्वेदी

लोग कहते हैं—"मन में पली बात और राख में छिपी आग जब भी किसी सुघड़ हाथों छेड़ दी जाती है, तब वह पहले से कहीं अधिक दाहक बन तन-मन को जलाने और कभी-कभी सिराने भी लगती है।"

बहुत दिनों की विशेष बिसरी बात याद है। संस्कृत, व्रजभाषा, हिन्दी, फारसी और उर्दू-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान्, उनकी एक-से-एक बढ़कर सूक्ति-रत्नों के सीमाहीन खजाने तथा उन्हें अपनी मधुर विशद मनभावनी व्याख्या की 'मानिक'-रेती से मसल-मसलकर चाँद जैसा सुखद बनानेवाले हिन्दी के सुविख्यात प्राचीन आलोचक स्वर्गीय पं० पद्मसिंहजी शर्मा के प्रथम दर्शन उस समय हुए, जिस समय आप 'विशाल भारत' (कलकत्ता) में छपे व्रजभाषा-रीतिकाल के अन्तिम कविरत्न स्वर्गीय श्रीनवनीतजी चौबे (मथुरा) के एक सुन्दर छन्दोविशेष की हाथों मैली होनेवाली सुमधुर सूक्ति की अन्तिम पंक्ति—

कान्ह, दिबारी की रैंन चले, बरसाँनें मनोज कौ मंत्र जगावन।

गुनगुनाते हुए उनके (नवनीतजी के) यहाँ पधारे थे। वह छन्द, व्रजभाषा-कवि श्रीसोमनाथजी-कृत एक कृति की समस्या-पूर्त्ति जैसा था, जिसे आपने सांग रूपक का सुघड़ रूप देते कभी लिखा था—

आँनद अच्छत, फूल के फूल, सुचाह कौ चंदन चोंप-चढ़ावन।
त्यों 'नवनीतजू', लाग की लौंग, उमंग-सिँदूर कौ रंग-रचावन॥
धावन धूप, सँजोग सुगंध लै, केलि-कपूर की जोति जुरावन।
कान्ह, दिबारी की रैंन चले, बरसाँनें मनोज कौ मंत्र जगावन॥

वास्तव में, पुण्यश्लोक श्रीनवनीतजी का यह छन्द, पुराकवि श्रीसोमनाथजी के छन्द से, जो इस समय मन में बसते हुए भी दर्शन नहीं दे रहा है, सांग रूपक के कहीं अधिक वन्दनीय अभिनव रूप में स्फुटित हो रहा है। अतः, स्वनामधन्य श्रीनवनीतजी के यहाँ हुई मेरी उनकी भेंट पचास वर्ष के विस्तृत चौगान में खेलती-कूदती नित्य नई बन नमन-योग्य होती चली गई, विशेष कर मेरे सिर पड़े अकस्मात् पंचवर्षीय एक कार्य-विशेष से हरद्वार-प्रवास के समय और जिसे पुरास्नेही बा० जगन्नाथदासजी 'रत्नाकर' ने अपनी बार-बार गरमियों की हरद्वार-यात्रा से अत्यधिक स्नेहशील बना दिया था। हरद्वार-प्रवास में श्रीशर्माजी के साथ गुजरे दिन नहीं भूलते। भले ही, समय से पहले 'काल-दस्यु' ने उन्हें चुरा लिया। आपका गठीला ठिंगना कद, बात-बात पर खिलता हुआ चेहरा, कुरता-धोती और कभी-कभी कोट से झाँकता कुछ खुला श्यामवर्ण, कुछ भी तो नहीं भूला है! फिर, आपका नाना साहित्य-सुरभित सूक्तियों का कहना-सुनना तथा उनपर जी खोलकर दाद देना वह सब कैसे भलाया जा

सकता है ? वह तो हृदय की कीमती धरोहर है—संस्कृत, व्रजभाषा आदि विविध साहित्यिक सूझबूझ की रमणीय रंगशाला है।

हरद्वार-प्रवास की पहली याद। एक दिन, व्रज-साहित्य-दूलह श्रीरत्नाकरजी तथा श्रीशर्मा जी के साथ बरातनुमा अनेक व्यक्ति महारानी अयोध्या की कोठी से संस्कृत, व्रजभाषा और उर्दू-साहित्य की सुमधुर सूक्तियाँ कहते-सुनते और उनपर खिलखिलाती दाद देते-दिलाते पतित-पावनी गंगा के स्पर्श से पुनीत बनाये गये 'प्लेटफॉर्म' पर साहित्य के साथ-साथ शीतल, मन्द, सुरभित हवा का आनन्द लेने जा रहे थे। जैसे ही, गंगा-नहर के पुल पर चढ़े कि शर्माजी द्वारा एक आगे जानेवाले अनचीन्हे व्यक्ति का, 'वाह-वाह' की मादक तान छेड़ते हुए, लपककर हाथ पकड़ लिया और लगे नाना भाँति से रंगीनी दाद (प्रशंसा) के गुब्बारे छोड़ने ! वह बात यों बनी कि हम लोगों के आगे-आगे एक नाक-नक्से से दुरुस्त गौरवर्ण प्रौढ पंजाबी महिला अपने पुष्ट स्तनों पर पड़े कड़े कलफदार दुपट्टे को बार-बार नीचे खिसकने के कारण उसे पुनः-पुनः सँभालते-ओढ़ते परेशान-सी जा रही थी। उसके पीछे तद्वत् प्रौढ खुशनुमा एक पंजाबी महानुभाव झूमते और कुछ गुनगुनाते जा रहे थे। महिला के उन्नत स्तनों पर मचलते-विलसते, कलफी दुपट्टे को बार-बार सँभालते-ओढ़ते देख वह आपे में न रहा। सहसा मुस्कराते हुए बरबस बोल पड़ा—

दुपट्टा, लाख सीने पर सँभालो, कब सँभलता है।
अकेले का कहीं दो सरकशों पर जोर चलता है॥

यों तो, यह शेर कुछ बुरा न था, पर उसे कहने के ढंग और समय ने मतवाला बना दिया था। बात भी बेजा होते हुए छोटी थी, कहने योग्य न थी, वह देखने-सुनने लायक भी न थी, पर शर्माजी का, अनेक जन्मसंसिद्धि-रूप साहित्य से दुलारा गया बेकहा मन क्यों मानने लगा ? झट से हाथ थाम ही लिया कहनेवाले का और लगे 'वाह-वाह' की सिरनी बाँटने ! कहनेवाले को हाथ छुड़ाना मुश्किल पड़ गया। बीसों लोगों के सन्मुख नीचा मुख पानी-पानी हो गया। और, जैसे-तैसे हाथ छुड़ा वह गया—वह गया ! हम सब भी पं० पद्मसिंहजी शर्मा के मुख से शेर की चासनी (अच्छी-बुरी वस्तु-विशेष की जानकारी देनेवाली बानगी) चखने और सराहने लगे।

याद दूसरी। हरद्वार-प्लेटफॉर्म पर साहित्यिक त्रिदेव-रूप वन्दनीय श्रीशर्माजी की अध्यक्षता में 'रत्नाकरी' महफिल जुटी हुई थी। नाना साहित्यिक चुटीले छन्द पढ़े जाने के बाद 'देव' और 'बिहारी' के मिलते-जुलते भाववाले छन्द भी पढ़े-सुने जाने लगे। इस जोड़-तोड़ में किसी श्रोता ने कविवर बिहारीलाल का यह दोहा पढ़ा—

बाँम बाहु फरकत मिलैं, जौ हरि जीवनमूरि।
तौ तोही सों भेंटि हौं, राखि दाँहिनी दूरि॥

इसपर चर्चा चली। छन्दोगत भाव के साथ नायिका की सूझबूझ, प्रिय-मिलन की उत्कंठा, सब कुछ बखानी जाने लगी, तभी किसी व्रजभाषा-साहित्यप्रेमी ने घोषित महाकवि 'देव' जी का एक छन्दोविशेष पढ़ा, जिसका अन्तिम चरण था—

मूँदि आँख दाहिनी मैं, तो हीं सों निहारिहों ॥

आगतपतिका की भाव-भित्ति पर रचे दोनों—'बिहारी और देव' के उक्त छन्द 'स्वगत उक्ति'-रूप हैं; पर बिहारीलाल के दोहे में 'देवजी'-विरचित घनाक्षरी से कहीं अधिक स्वाभाविकता है—रमणीयता है। फिर, श्रीदेव-कृति, उनकी अपनी उपज नहीं, प्राचीन आचार्य केशव की शिष्या 'प्रबीनराय', जो ओड़छा-नरेश महाराज इन्द्रजीतसिंह की प्रिय पात्री थी और जिसने अपनी एक छोटी-सी साहित्यिक उक्ति से अकबर जैसे सम्राट् को निरुत्तर कर दिया था, की उक्ति (रचना) का अपने शब्दों में अपहरण-मात्र था, फिर भी दोनों महाकवियों (बिहारी-देव) की इन कृतियों की अच्छाई-बुराई की चर्चा आगे बढ़ी, खूब बढ़ी। किसी ने दोनों कवियों के उपर्युक्त छन्दों को बार-बार सुनते फरमाया—'वाह, क्या लात मारी है देव ने बिहारी के मुँह पर!' अस्तु; यह मदाखलत-बेजा की बेतुकी दाद कानों में कुहराम मचा ही रही थी कि महामना पं० पद्मसिंहजी शर्मा के शान्त-सुदृढ मुख से यह वाक्य-गोला दगा कि 'भाई, लात तो गधे भी मारा करते हैं। यह कोई नई बात नहीं।' इसे सुनकर उपस्थित काव्यमर्मज्ञ खिल उठे, नाच उठे तथा उसकी चोट में बिखर गये। द्वितीय पक्ष शर्म से झुक गया।

फिर, एक दिन गंगाजी के प्लेटफॉर्म पर 'असंगति' की अनुपम अदालत में प्रस्तुत बिहारीलाल के इस दोहे :

दृग उरझत, टूटत कुटुँम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परत गाँठ दुरजँन हिऐं, दई, नई यै रीति॥

की आवभगत हुई। वास्तव में, असंगति अलंकार के क्रोड (गोद) में पले बिहारीलालजी के इस दोहे की समसरि हिन्दी ही क्या, अन्य साहित्यों में भी नहीं है। अतः, सभी श्रोताओं ने उसे स्वीकार किया। बाद में, रत्नाकरजी द्वारा उक्त दोहे की मार्मिक व्याख्या होने के बाद तदलंकार-भूषित नाना छन्द पढ़े जाने लगे; पर वह बाँक किसी में न पाई। इस कसमकस में पद्मसिंहजी ने मुस्कराते हुए अपने नपे-तुले शब्दों में कहा—'अच्छा, अब एक फारसी शेर सुनिए, जो इस संस्कृत-प्रसूत अलंकार की सुहबत में आना चाहता है।' रत्नाकरजी के—'हाँ, हाँ, सुनाइए, अवश्य सुनाइए' कहने पर आपने फरमाया—

कहाँ है दुख्तरेरिज हम महत्सव बादाख्वारों में।
तेरे उर से वो काफिर जा छिपी परहेजगारों में॥

रत्नाकरजी, शेर सुनकर झूम उठे और आँख मींचकर शेर के शोखे-सरापा की मस्ती में डूब गये। शेर का बयाने-अन्दाज है : 'ऐ उपदेशक, हम मना-मनाकर पीनेवालों में अंगूर की लड़की (शराब) कहाँ है? वह काफिर तो (उससे) परहेज करने—उससे दूर भागनेवालों में जा छिपी है, यहाँ कहाँ? इत्यादि।' शेर की, शायर के कहने के ढंग की विशेषता अद्भुत है। वह मादक तो है ही, तर्क से अपनी जबाँ-दराजी में भी माहिर है। बड़ी वाह-वाह हुई। रत्नाकरजी ने चुटकी भरी—'चतुर्वेदी, गुमसुम क्या बैठे हो, कुछ अच्छा-बुरा आप भी कहो!' अतः, मैंने अर्ज किया—'रत्नाकरजी, शर्माजी

द्वारा प्रस्तुत शेर ने कभी के सोये एक दूसरे शेर को जगा दिया, वह अँगड़ाइयाँ ले गुर्रा रहा है झपटने के लिए। अतः, उसे मना-मनूकर फिर से सुलाने में मशगूल हूँ, इसलिए चुप हूँ।' यह सुनकर, शर्माजी क्यों मानने लगे। बहुत कुछ दुतरफी (श्रीशर्माजी-रत्नाकरजी द्वारा प्रस्तुत) खुशामद-बरामद के बाद अपने हृदयस्थ सोते हुए शेर को सुनाना ही पड़ा :

उसकी लड़की ने उठा रक्खा है दुनिया सर पर।
खैर गुजरी कि अंगूर के लड़का न हुआ।। (अकबर साहिब)

शेर सुनकर सुननेवाले समूह ने शेर की वह आवभगत की कि सदरे-महफिल भी अपनपा भूल गये और उससे तभी उबरे, जब शर्माजी के चिरपरिचित मजबूत वचनों की लकड़ी पीठ पर पड़ी। जैसे—'वाह उस्ताद, कबका यह विष-बुझा तीर कमान पर चढ़ाये बैठे थे, जो चट से छोड़ दिया। उफ्, कलेजे में कितना गहरा धँसकर दर्द देने लगा है कि कुछ कहा नहीं जाता।' श्रीशर्माजी की यह शिकायत बहुत दिन रही। जब भी दर्शन देते, इस शेर की याद दिलाकर मुस्करा पड़ते और कहने लगते—

याद फिर मुझको दिलाना भूल जाने के लिए।

श्रीशर्माजी के प्रसाद-रूप एक याद और। एक दिन श्रीशर्माजी (पं० पद्मसिंहजी) सवेरे-सवेरे, जहाँ मैं रहता था, पधारे और कहने लगे—'चतुर्वेदी, चलो, आज एक अजूबा देहरादूनी साहित्यिक मार्का चावल का स्वाद चखा लायें। देखकर प्रसन्न हो जाओगे और न मालूम कितनी दुआ देने लगोगे।' फलतः, देहरादून चल दिये। जब निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचे, तब वहाँ ताला लगा देखा। शर्माजी ने मकान में ताला लगा देखकर उसके आसपास घूम-फिरकर और 'गोविन्दा, गोविन्दा' कहकर ऊँची आवाजें लगाईं। बार-बार इधर-उधर देखा, पर मकान-मालिक की भाँति वह भी 'अदर्शनं लोपः'। श्रीशर्माजी बड़े बौखलाये। कभी वे खड़े होकर कुछ सोचने लगते और कभी मकान के आसपास घूमने लगते। अन्त में आप बोले—"भले आदमी से कल ही कहला दिया था कि आज हमलोग आपके दर्शनार्थ पहली ट्रेन से 'दून' आ रहे हैं। आप नदारद हुए, सो हुए, साथ में नौकर गोविन्दा को भी उड़ा ले गये। वाह, यह तो खूब रही!" फिर, आप बोले—'चतुर्वेदी, चलो लौटो, अब घर की चपातियों का मजा मत छोड़ो! हरद्वार जानेवाली शटल अभी मिल जायगी, समय से घर पहुँच जायेंगे।' फिर, कुछ सोचकर बोले—'पर, यह तो बताओ, आमदे-याराना की उन्हें सूचना कैसे दी जाय। कोई साधन नजर नहीं आ रहा है। अतः, जब लौटने लगे, तब रास्ते में एक कागज का टुकड़ा धूल से लिपटा मिला। उसे उठाया, साफ किया, तो उसपर लिखने की जुगाड़ का मसला सामने आया। जैसे-तैसे बाजार के पास एक तमोली की दूकान दिखलाई दी और उससे पेंसिल देने की गुजारिश की गई। बहुत कुछ इधर-उधर के बाद पेंसिल हाथ लगी। तमोली से कागज के नीचे कुछ लगाने के लिए दरख्वास्त की गई, तब किसी फटी किताब का एक पट्टा मिला। उसे लगाकर शर्माजी जब कुछ लिखने को प्रस्तुत हुए, तब मैंने पूछा,—'श्रीमान् क्या लिखना चाहते हैं?' आप बोले—'यही, बिना दीदार पाये लौट चलने की कहानी।' मैंने कहा—'नहीं, इसे किसी पुराने शायर के एक शेर-विशेष से सजाइए'।

नसीब हो न सकी दौलते-कदमबोसी ।
अदब से चूमकर हज़रत का आस्ताना चले ॥

श्रीशर्माजी ने शेर सुना और उसकी मौजों में खुद ही बह गये । कुछ देर बाद बोले– 'भाई वाह, क्या समय के दामन में बसा मौजूँ मजमून बतलाया है, बधाई,-बधाई !' फिर, उसे कागज पर उतारा और तमोली से पुनः प्रार्थना-रूप एक चीथड़े का अल्प अंश पाकर उसमें उसे बाँधा तथा ताले-रूप ब्रह्म के साथ माया की भाँति चस्पा कर दिया । इस नियोग-व्यवस्था के बाद हम बाजार में आगे बढ़े । एक अच्छी दूकान देखकर कुछ पेट-पूजा की और नाना विचारों की आवभगत कर हरद्वार वापस चले आये । दूसरे दिन अलस्सुबू श्रीशर्माजी दरवाजे से ही ऊँची हाँक लगाते मेरी झोपड़ी (सचमुच, वह झोपड़ी ही थी, मकान अभी नहीं बने थे, अहाते में एक झोपड़ा बनवाकर ही मैं उसमें रह रहा था) पर पधारे और कहने लगे—'चतुर्वेदी, लो अपने अनमोल शेर का जरा-सा मुतालबा, गुरुकुल में सवेरे-ही-सवेरे आया है ।' बैठने पर बातों का बड़ा मोहक आलम उमड़ा, जो अकथनीय है—अवर्णनीय है, गूँगे के गुड़ जैसा । आनेवाले महानुभाव थे डी० ए० वी० कॉलेज, देहरादून के प्रिंसिपल, जो जर्मनी से पढ़कर अभी-अभी आये थे । बस, आज इतना ही; क्योंकि—

किसी के साथ जब गुजरे हुए दिन याद आते हैं ।
तो कुछ नश्तर-से दिल में चुभ के जैसे टूट जाते हैं ॥

सदाश्रद्धेय शर्माजी का प्रादुर्भाव का समय अपने जीर्ण बही-खाते में बहुत कुछ खोजने पर भी न मिलने से तथा आपका निधन-काल अत्यन्त दुःखद होने के कारण नहीं दे सका । किसी शायर के शब्दों में—

बहुत-सी ख़ूबियाँ थीं और भी उस मरनेवाले में ।

●●

कुआँवाली गली, मथुरा

श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व : एक विवेचन

आचार्य श्रीबलदेव उपाध्याय

भगवान् श्रीकृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व की इतनी अधिक चर्चा भक्ति-साहित्य तथा कृष्ण-काव्यों में है कि उनका लौकिक व्यक्तित्व आलोचकों तथा सामान्य जनों की दृष्टि से एक प्रकार से ओझल ही रहता है। भक्तों की उधर दृष्टि ही नहीं जाती कि उनका लौकिक जीवन भी उतना ही भव्य तथा उदात्त था, जितना उनका अलौकिक जीवन मधुर तथा सुन्दर था। पुराणों में, विशेष कर श्रीमद्भागवत में, श्रीकृष्ण परमैश्वर्य-मण्डित, निखिलब्रह्माण्डनायक, अघटितघटनापटीयान् भगवान् के रूप में ही चित्रित किये गये हैं। जो वाणी श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन नहीं करती, वह वायसतीर्थ के समान उपेक्षणीय तथा गर्हणीय है—

न तद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ।
तद्ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितं यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः ॥

—भाग०, १२।१२।५०

यह कथन कृष्णचन्द्र के लौकिक चरित्र के अनुरोध से भी सम्बन्ध रखता है। अलौकिक चरित्र से पृथक् उनका एक लौकिक चरित्र भी था, जिसमें उदात्तता का कम निवास न था। श्रीकृष्ण के इसी लौकिक व्यक्तित्व की संक्षिप्त मीमांसा इस लेख का विषय है।

हरिवंश तथा पुराण, दोनों ही कृष्ण के प्रति भव्य भावुक भक्ति के उद्भावक ग्रन्थ हैं। फलतः, इन दोनों में श्रीकृष्ण का अलौकिक जीवनवृत ही प्रधानतया प्रतिपाद्य है। लौकिक वृत्त के चित्रण का मुख्य आधार महाभारत है, जहाँ श्रीकृष्ण पाण्डवों के उपदेशक तथा जीवन-निर्वाहक मुख्यसखा के रूप में चित्रित किये हैं। महाभारत उन्हें जीवन के नाना पक्षों के द्रष्टा, स्वयं कार्य करनेवाले तथा महाभारत-युद्ध के लिए पाण्डवों के मुख्य प्रेरक के रूप में प्रस्तुत करता है। उसी स्वरूप का विश्लेषण और उसकी उदात्तता प्रकट करने का यह एक सामान्य प्रयास है।

श्रीकृष्ण की अद्वयता :

श्रीकृष्ण के बाल्यकाल तथा प्रौढकाल के जीवनवृत्तों का असामंजस्य ही उनके अनेकत्व की कल्पना का आधार है। उनका बाल्यजीवन इतने अल्हड़ पन से भरा है—नाच-गान और रँगरेलियों की उसमें इतनी प्रचुरता है कि लोगों को विश्वास नहीं होता कि वृन्दावन के बालकृष्ण ही महाभारत के युद्ध में अर्जुन के सारथि तथा गीता के अलौकिक ज्ञान के उपदेष्टा हैं। यूरोपियन विद्वानों ने भी इसी असामंजस्य के कारण दो कृष्णों के अस्तित्व की कल्पना की, जो डॉ० रामकृष्ण भाण्डारकर के द्वारा समर्थित[1] होने पर

१. इसके लिए द्रष्टव्य : वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर सेक्ट्स, पूना-संस्करण।

भारतीय विद्वानों के लिए एक निर्भ्रान्त सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत हुआ। परन्तु, श्रीकृष्ण के दो होने की कल्पना नितान्त भ्रान्त तथा सर्वथा अप्रामाणिक है। पौराणिक कृष्ण तथा महाभारतीय कृष्ण के चरित्र में पार्थक्य होना तत्तत् आधार-ग्रन्थों की भिन्नता के तथा लक्ष्यभेद के कारण है। पुराणों का लक्ष्य श्रीकृष्ण के प्रति जनता की भक्ति जागरूक करना था, फलतः अपने लक्ष्य से बहिर्मुख होने के कारण पुराणों ने श्रीकृष्ण के प्रौढ जीवन की लीला का वर्णन नहीं किया। पुराणों में केवल श्रीमद्भागवत ने श्रीकृष्ण के उभयभागीय वृत्तों का उचित रीति से वर्णन किया है। दशम स्कन्ध का पूर्वार्द्ध कंसवध तक ही सीमित है; परन्तु इसके उत्तरार्द्ध में महाभारत-युद्ध से सम्बद्ध कृष्णचरित्र का पूर्ण संकेत तथा संक्षिप्त विवरण दिया गया है। महाभारत का प्रधान लक्ष्य श्रीकृष्ण के प्रौढ जीवन की घटनाओं का वर्णन है—उन घटनाओं का, जब ये पाण्डवों के सम्पर्क में आते हैं तथा भारत-युद्ध का संचालन करते हैं। फलतः, उद्देश्य-पूर्त्ति से बहिरंग होने के कारण वह उनके बाल्यजीवन की घटनाओं का वर्णन नहीं करता। परन्तु, समय-समय पर उन घटनाओं का संकेत अभ्रान्त रूप में अवश्य करता है। सभापर्व में राजसूय की समाप्ति पर, अग्रपूजा के समय, शिशुपाल ने श्रीकृष्ण के ऊपर नाना प्रकार के लांछन जब लगाये, तब उसने उनके बालचरित को लक्ष्य कर ही ऐसा किया था।[1] उस स्थान पर श्रीकृष्ण के सामान्यतः आश्चर्य-भरी लीला का यौक्तिक उपहास अत्यन्त तीखे शब्दों में शिशुपाल ने किया है। किन्तु, शिशुपाल की यह निन्दा-भरी वक्तृता श्रीकृष्ण के एकत्व-स्थापन में पर्याप्त प्रमाण है। इससे स्पष्ट है कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जिस व्यक्ति की अग्रपूजा की गई है, वह उस व्यक्ति से भिन्न नहीं है, जिसने बाल्यकाल में पूतना, वृषासुर और केशी नामक राक्षसों का वध किया था, गोवर्द्धन-पर्वत को हाथ पर धारण किया था, उसके शिखर पर उसने बहुत-सा अन्न अकेले ही खा डाला था तथा राजा कंस का वध किया था।[2] ये हीं श्रीकृष्ण की, बाल्यकाल की आश्चर्य से भरी लीलाएँ हैं। फलतः, महाभारत की दृष्टि में कृष्ण की एकता तथा अभिन्नता सर्वतोभावेन समर्थित तथा प्रमाणित है।

श्रीकृष्ण का सौन्दर्य ;

श्रीकृष्ण की बाह्य आकृति, उनका साँवला रंग, उनका पीताम्बर, उनके शरीर की रचना आदि भौतिक उपलब्धि उस युग के मानवों के ही लिए आकर्षक न थी, प्रत्युत गत सहस्रों वर्षों से वह कवियों के आकर्षण का विषय भी बनी हुई है। बाल्यकाल में उनकी रूपच्छटा का अवलोकन कर यदि सरल ग्रामीण गोपवधुएँ तथा नगर की स्त्रियाँ आनन्द से आप्लुत हो उठती थीं, तो यह हमारे चित्त में इतना कौतुक नहीं उत्पन्न करता जितना कि भीष्म पितामह (शरशय्या पर योग के द्वारा अपना जीवन समाप्त करने के इच्छुक इच्छा-

---

१. देखिए, महाभारत, सभापर्व, अ० ४१।

२. इन लीलाओं का वर्णन अनेक पुराणों में एक समान ही किया गया है—विशेषतः विष्णुपुराण के पंचम अंश में तथा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध, पूर्वार्द्ध में। यथा : पूतना-वध, भाग० १०।६; वृषासुर-वध, १०।३६; केशीवध, १०।३७; गोवर्द्धन-धारण तथा अन्नभक्षण, १०।२४-२५ तथा कंस का वध, १०।४४।

मरण भीष्म) श्रीकृष्ण के शरीर-सौन्दर्य से आकृष्ट हुए बिना नहीं रहते। यह घटना श्रीकृष्ण की प्रौढावस्था की है। शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म श्रीकृष्ण की स्तुति-रूप में शारीरिक सुषमा का संकेत करते हैं—

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधानम्।
वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या॥

इस कमनीय पद्य में बूढ़े भीष्म कहते हैं कि जिस त्रिभुवनसुन्दर तथा श्याम-तमाल-सदृश साँवले शरीर पर सूर्यकिरणों के समान श्रेष्ठ पीताम्बर लहराता रहता है और जिस कमल-सदृश सुन्दर मुख पर घुँघराली लटें लटकती रहती हैं, उन अर्जुनसखा कृष्ण में मेरी निष्कपट प्रीति हो।

उस युग के सबसे अधिक संयमी और ज्ञानी-शिरोमणि भीष्म के द्वारा वर्णित अपनी इस बाह्य शोभा को श्रीकृष्ण ने अपने मानसिक गुणों के संवर्द्धन से और भी चमत्कृत तथा उदात्त बना रखा था। श्रीकृष्ण ने उस युग के सबसे प्रौढ विद्वान् काशीवासी एवं उज्जयिनी-प्रवासी सान्दीपनि गुरु से चतुष्षष्टि विद्याओं और कलाओं का अध्ययन कर विद्या के क्षेत्र में भी अपनी चरम उन्नति की थी। गीता के उपदेशक होने की योग्यता का सूत्रपात श्रीकृष्ण के जीवन-प्रभात में ही इस प्रकार मानना सर्वथा युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

श्रीकृष्ण की अग्रपूजा :

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के पर्यवसान में अग्रपूजा का प्रसंग उपस्थित था। यज्ञ के अन्त में किसी महनीय उदात्त व्यक्ति की पूजा की जाती है, जो याज्ञिकों द्वारा 'अग्रपूजा' की संज्ञा से अभिहित की जाती है। सहदेव के पूछने पर भीष्म पितामह ने श्रीकृष्ण को ही अग्रपूजा का अधिकारी बतलाया। इस अवसर पर उन्होंने कृष्ण के चरित्र का जो प्रतिपादन किया, वह यथार्थतः इनकी उदात्तता, महत्ता तथा अलोकसामान्य वैदुषी और वीरता का स्पष्ट प्रतिपादक है। उन्होंने कहा—'इस सभा में सम्पूर्ण भारतवर्ष के एकत्र राजाओं के बीच तेज, बल तथा पराक्रम के द्वारा श्रीकृष्ण ही अनेक ज्योतियों के मध्य तपते हुए सूर्य के समान प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार अन्धतामिस्र से युक्त स्थान को भगवान् सूर्य चमका देते हैं और निर्वात स्थान को (जहाँ हवा के बिना लोगों का दम घुटता रहता है) संचरणशील वायु आह्लादित कर देती है, ठीक उसी प्रकार कृष्ण के द्वारा यह सभा उद्भासित तथा आह्लादित हो गई है।'[1]

शिशुपाल इस अग्रपूजा के अनौचित्य पर क्षुब्ध होकर कृष्ण के दोषों का विवरण देकर भीष्म के ऊपर पक्षपात तथा दुराग्रह का आरोप करता है। इसके उत्तर में परम-ज्ञानी भीष्म का कथन ध्यान देने योग्य है : कृष्ण की अग्रपूजा का कारण उनका सम्बन्धी होना नहीं है, प्रत्युत अलोकसामान्य गुणों का निवास ही मूल हेतु है। उनमें दान, दक्षता, श्रुत शास्त्र का परिशीलन, शौर्य, ह्री, कीर्त्ति, उत्तम बुद्धि, संवित्ति, श्री, धृति, तुष्टि तथा

१. महा०, सभा०, ३६।२८-२९।

पुष्टि का नियत निवास है, इसीलिए वे अर्च्यतम हैं (सभा० ३८।२०)। अपने गुणों से कृष्ण ने चारों वर्णों के वृद्धों का अतिक्रमण कर लिया है (३८।१७)। वे एक साथ ही ऋत्विक्, गुरु, विवाह्य, स्नातक, नृपति तथा प्रिय हैं। इसीलिए, उनकी अर्चा अन्य महापुरुषों के रहते हुए भी की जाती है (३८।२२)। सबसे बड़ी बात तो यह है कि वेद-वेदांग का यथार्थ ज्ञान ब्राह्मण के महत्त्व का हेतु होता है और बल-सम्पत्ति क्षत्रिय के गौरव का कारण होती है। ये दोनों ही कृष्ण में एक साथ अन्यून भाव से विद्यमान हैं। इसलिए, मेरी स्पष्ट सम्मति है कि इस मानव-लोक में केशव से बढ़कर क्या कोई भी व्यक्ति वर्त्तमान हैं :

वेद वेदाङ्गविज्ञानं बलं चाभ्यधिकं तथा।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते ॥

—महा०, ३८।१९

संजय भी उस युग के विशिष्ट विद्वान्, कुरुपाण्डवों के हितचिन्तक तथा धृतराष्ट्र को शुभ मन्त्रणा तथा श्लाघ्य प्रेरणा देनेवाले मान्य पुरुष थे। श्रीकृष्ण के प्रभाव का संकेत उनके इन शब्दों में प्राप्त होता है—

एकतो वा जगत् कृत्स्नमेकतो वा जनार्दनः।
सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः ॥
भस्म कुर्यात् जगदिदं मनसैव जनार्दनः।
न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं भस्म कर्तुं जनार्दनम् ॥
यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥

—उद्योगपर्व, ६८।६-१०

समस्त जगत् और केवल कृष्ण की तुलना की जाय, तो सार-गौरव की दृष्टि से कृष्ण समस्त जगत् से बढ़कर हैं। जनार्दन में इतनी शक्ति है कि वे मन से ही केवल समस्त संसार को भस्म कर सकते हैं, परन्तु पूरा संसार भी उन्हें भस्म नहीं कर सकता। इस पद्य में मनसैव पद किसी अलौकिक जादू-टोना का प्रतिपादक नहीं है, प्रत्युत वह एक मानसिक चिन्तन, ध्यान तथा केन्द्रित विचार-शक्ति का स्पष्ट निर्देशक है। मेरी दृष्टि में यही इसका व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है। जहाँ सत्य रहता है, धर्म होता है, वहीं ह्री (अकार्यात् निवृत्तिर्ह्रीः, अर्थात् बुरे काम करने से निवृत्त होना ही 'ह्री' है।) रहती है और जिधर आर्जव (स्पष्टवादिता तथा निर्दुष्ट चरित्र) रहता है, उधर ही गोविन्द रहते हैं और जिधर कृष्ण रहते हैं, उधर ही जय रहती है। फलतः, कृष्ण का आश्रयण विजय का प्रतीक है।

इस अवसर पर श्रीकृष्ण की सहिष्णुता भी अपने पूर्ण वैभव के साथ प्रद्योतित होती है। शिशुपाल श्रीकृष्ण के विरोधी दल का नेता था। उसे यह अग्रपूजा तनिक भी न जंची। वह कृष्ण पर गालियों की बौछार करने लगा। ध्यान देने की बात है कि इन गालियों में कृष्ण के शौर्याभास का ही विवरण है, किसी लम्पटता तथा दुराचार का संकेत भी नहीं। उसने कृष्ण के बाद भीष्म के ऊपर अनेक प्रकार के पक्षपात का आरोप

लगाया। भीष्म ने तो अपने पक्ष के समर्थन में बहुत-सी युक्तियाँ दीं तथा तर्क उपस्थित किये; परन्तु श्रीकृष्ण ने अपनी मौन मुद्रा का भंजन तब किया, जब अपनी बुआ को दी गई पूर्व प्रतिज्ञा की समाप्ति हो गई।

इस प्रसंग में श्रीकृष्ण की महती सहिष्णुता तथा भूयसी दृढ प्रतिज्ञा का पर्याप्त परिचय मिलता है।

श्रीकृष्ण का आत्मनिरीक्षण

जो व्यक्ति अपने चरित्र की त्रुटियों को जानता ही नहीं, प्रत्युत वह उन्हें भरी सभा में, निःसंकोच भाव से स्वीकार करने का साहस रखता है, वह सचमुच एक आदर्श उदात्त मानव है। इस कसौटी पर कसने से श्रीकृष्ण के चरित्र की महनीयता स्वतः प्रस्फुटित होती है। एक ही दृष्टान्त उनकी प्रांजल स्पष्टवादिता को प्रदर्शित करने में पर्याप्त होगा। विष्णुपुराण (अंश ४) में स्यमन्तक मणि की कथा के प्रसंग में : शतधन्वा नामक यादव ने सत्यभामा के पिता 'सत्राजित' की हत्या कर स्यमन्तक मणि छीन ली। सत्यभामा ने अपने पिता की निमम हत्या की सूचना कृष्ण को स्वयं दी। वारणावत से वे द्वारकापुरी आये। इसकी खबर पाते ही शतधन्वा अपनी शीघ्रगामिनी वडवा पर चढ़ पूरब की ओर भागा। श्रीकृष्ण ने अपने अग्रज बलभद्र के साथ चौकड़ी-जुते रथ पर चढ़ उसका पीछा किया। द्वारका से भागा हुआ शतधन्वा अनेक प्रान्तों को पार करता मिथिला पहुँचा, जहाँ उसकी वह तेज घोड़ी रास्ते की थकान से अकस्मात् गिरकर मर गई। फिर, वह पैदल ही भागा। कृष्ण ने अपना सुदर्शन चलाकर उसका सिर काट डाला। परन्तु, उनके विषाद की सीमा तब न रही, जब उसके पास से वह मणि नहीं मिली। बलभद्र ने तो सत्यभामा के मिथ्या वचनों में आसक्ति रखनेवाले अपने अनुज की बड़ी भर्त्सना की और यहाँतक कि रुष्ट होकर वे मिथिलेश राजा जनक के यहाँ चले गये। भगवान् श्रीकृष्ण द्वारका लौट आये और अपने विपुल उद्योग की विफलता पर खेद प्रकट किया। शतधन्वा ने वह मणि 'श्वफल्क' के पुत्र अक्रूर के पास रख दिया था, जिन्होंने उससे प्रतिदिन उत्पन्न होनेवाले सोने का वितरण कर 'दानपति' की महनीय उपाधि प्राप्त कर ली थी।

कुछ दिनों के बाद दानपति अक्रूर ने श्रीकृष्ण को स्यमन्तक मणि देने का प्रस्ताव किया; परन्तु यादवों की भरी सभा में उन्होंने अपनी आत्मत्रुटि स्वीकार करते हुए कहा : यह स्यमन्तक मणि राष्ट्र की सम्पत्ति है। ब्रह्मचर्य के साथ पवित्रता से धारण करने पर ही यह राष्ट्र का कल्याण-साधन करती है, अन्यथा यह अमंगलकारक है। दस हजार स्त्रियों से विवाह करने के कारण उस आवश्यक पवित्रता का अभाव मुझे इसे ग्रहण करने की योग्यता नहीं प्रदान करता। सत्यभामा तब कैसे ले सकती है। इस मणि के ग्रहण करने पर हमारे अग्रज आर्य बलराम को मद्यपान आदि समस्त उपभोगों को तिलांजलि दे देनी पड़ेगी। इसलिए, अक्रूरजी के पास ही इस मणि का रहना सर्वथा राष्ट्रहित के पक्ष में है—

एतच्च सर्वकालं शुचिना ब्रह्मचर्यादिगुणवता ध्रियमाणमशेषराष्ट्रस्योपकारकम्; अशुचिना ध्रियमाणमाधारमेव हन्ति ॥ १५५ ॥ अतोऽहमस्य षोडशस्त्रीसहस्र परिग्रहादसमर्थो धारणे, कथमेतत् सत्यभामा स्वीकरोति ॥ १५६ ॥ आर्यबलभद्रेणापि मदिरापानाद्यशेषोपभोगपरित्यागः कार्यः ॥ १५७ ॥ तदलं यदुलोकोऽयं बलभद्रः सत्या च त्वां दानपते प्रार्थयामः, तद् भवानेव धारयितुं समर्थः ॥ १५८ ॥

—विष्णुपुराण, ४।१३

इतनी अमूल्य मणि के पाने का सुवर्ण अवसर कृष्ण के पास था; परन्तु उन्होंने राष्ट्र के कल्याण के लिए अपनी अयोग्यता अपने मुँह से यादव-सभा में स्वीकार की। यह निःस्पृहता तथा ऐसा आत्मपर्यवेक्षण श्रीकृष्ण के चरित्र को नितान्त उदात्त सिद्ध करते हैं। इतना ही नहीं, वे निरभिमानता की भी उज्ज्वल मूर्त्ति थे। इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है। युधिष्ठिर के राजसूय में, जब ब्राह्मणों के पाद-प्रक्षालन का क्षुद्र काम श्रीकृष्ण ने अपने ऊपर लिया था और य के महनीय तथा उच्च पदों का अधिकार दुर्योधन आदि कौरवों को सौंप दिया था।

श्रीकृष्ण का सन्धि-कार्य

महाभारत-युद्ध के आरम्भ होने के पहले श्रीकृष्ण ने अपना पूरा उद्योग तथा समस्त प्रयत्न युद्ध रोकने के लिए किया। वे पाण्डवों तथा कौरवों के बीच सम्भाव्यमान युद्ध की भयंकरता तथा उसके विषम परिणाम से पूर्णतया परिचित थे और हृदय से चाहते थे कि भारत में रणचण्डी का यह प्रलयंकारी नृत्य न हो। इसके लिए उनके मनोभावों तथा तीव्र प्रयत्नों का पर्याप्त वर्णन महाभारत का उद्योगपर्व करता है। धृतराष्ट्र के पास प्रधान पुरुष होकर भी स्वयं सन्धि का सन्देश लेकर जाना और दूत का कार्य करना श्रीकृष्ण के उदात्त चरित्र का पूर्णतया परिचायक है। पाण्डवों के सामने अपने दौत्यकर्म की सम्भावनीय असफलता को स्वीकार करते हुए भी वे कहते हैं कि पार्थ, वहाँ मेरा जाना कदाचित् निरर्थक नहीं होगा। सम्भव है, सन्धि का प्रस्ताव स्वीकृत हो जाय। वे भावी आलोचना का उत्तर स्वयं प्रस्तुत करते हैं कि अधर्मिष्ठ, मूढ शत्रु मुझे ऐसा न कहें कि समर्थ होकर भी कृष्ण ने क्रोध से हठी कौरवों और पाण्डवों को नहीं रोका, इसलिए यह दौत्यकर्म मेरे लिए नितान्त उचित तथा समंजस है। कृष्ण के ये मार्मिक वचन ध्यान देने योग्य है कि मैं दोनों—कौरवों तथा पाण्डवों का कल्याण सिद्ध करने आया हूँ। इसके लिए पूर्ण यत्न करूँगा, जिससे मैं जनता में निन्दा का भाजन होने से बच जाऊँगा। यदि मैं पाण्डवों के न्याय-स्वत्व में बाधा न आने देकर कौरवों तथा पाण्डवों में सन्धि करा सकूँगा, तो मेरे द्वारा यह महान् पुण्यकर्म बन जायगा और कौरव भी मृत्यु के पाश से बच जायेंगे।[1]

श्रीकृष्ण ने ये वचन दोनों पक्षों के महनीय हितचिन्तक तथा राजनीति के कुशल पण्डित विदुरजी से कहे थे, जिनसे उनके विशुद्ध हृदय की पवित्र भावनाओं की रुचिर अभिव्यक्ति हो रही है।

---

१. महा०, उद्यो० अ० ९३, श्लो० ४१—४४।

पाण्डवों के प्रतिवाद की अवहेलना कर श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र को समझाने तथा पाण्डवों के लिए केवल पाँच गाँवों के देने का प्रस्ताव रखने कौरव-सभा में गये और अपना बड़ा ही विशद, तर्कपूर्ण तथा युक्ति-समन्वित भाषण दिया (अ० ९५), जिसका अनुशीलन उनके निश्छल परिश्रम तथा प्रयत्न पर एक निर्दुष्ट भाष्य है। युद्ध के अकल्याणकारी रूप को दिखलाकर उन्होंने कहा कि युद्ध में कभी कल्याण नहीं होता। न धर्म सिद्ध होता है और न अर्थ की ही प्राप्ति होती है, तब सुख कहाँ ? अब युद्ध में विजय भी अनिवार्य रूप से सम्भव नहीं होती। ऐसी दशा में युद्ध में अपना चित्त मत रखो। युद्ध बड़ी भयानक वस्तु है :

न युद्धे तात कल्याणं न धर्मार्थौ कुतः सुखम्।
न चापि विजयो नित्यं न युद्धे चेत आधिथाः॥

—उद्योग०, १२९।४०

श्रीकृष्ण कौरवों तथा पाण्डवों के परस्पर सौहार्द तथा मैत्री के दृढ अभिलाषी थे और इसके लिए धृतराष्ट्र के प्रति उनके ये वचन सुवर्णाक्षरों में अंकित करने लायक हैं—"अपने पुत्रों से समन्वित धृतराष्ट्र वन हैं तथा पाण्डु के पुत्र व्याघ्र। व्याघ्र के साथ वन को मत काटो। ऐसा दुर्दिन भी न आये कि वन से व्याघ्र नष्ट हो जायँ।"[1]

व्याघ्र तथा वन का यह दृष्टान्त सचमुच बड़ा ही हृदयग्राही और तथ्यपूर्ण है। विना जंगल के व्याघ्र मार डाला जाता है और विना व्याघ्र का जंगल भी काट डाला जाता है। अर्थात्, दोनों में उपकार्योपकारक भाव है। दोनों के परस्पर सौहार्द से ही दोनों का मंगल सिद्ध होता है। इसलिए, व्याघ्र को वन की रक्षा करनी चाहिए तथा वन को व्याघ्र का पालन करना चाहिए। इतनी सद्भावना देखकर भी क्या श्रीकृष्ण के ऊपर युद्ध के प्रेरक होने का लांछन लगाना न्याय्य है ?

श्रीकृष्ण की राजनीतिज्ञता :

श्रीकृष्ण अपने युग में व्यावहारिक राजनीति के प्रौढ विद्वान् थे। शान्तिपर्व के ८१वें अध्याय का अनुशीलन इस विषय में विशेषतः महत्त्वशाली है। वह अध्याय श्रीकृष्ण के राजनीतिक वैदुष्य, व्यावहारिक पटुता और निःसहाय होने पर भी अकेले ही यादवीय राजनीति के संचालन-पाण्डित्य का पूर्ण परिचायक तथ्य प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक तथ्य है कि यादवों में दो प्रधान कुल थे—वृष्णि तथा अन्धक। इन दोनों का गणतन्त्र-राज्य सम्मिलित गणतन्त्र के रूप में प्रतिष्ठित था। इस गणतन्त्र के दो व्यक्ति मुख्य थे—उग्रसेन तथा श्रीकृष्ण। वृद्ध होने के कारण उग्रसेन अपने राजनीतिक कार्य के निर्वाह में उतने जागरूक नहीं थे, फलतः उस गणतन्त्र के संचालन का पूरा उत्तरदायित्व अकेले श्रीकृष्ण के ऊपर ही था। अपने एकाकीपन तथा राजनीतिक संघर्ष का विवरण देकर श्रीकृष्ण ने नारद से उपदेश की प्रार्थना की है। वृष्णिकुल की ओर से उस लोकसभा में 'आहुक' नेता थे तथा अन्धककुल की ओर से 'अक्रूर'। दोनों में अपने-अपने स्वार्थ के लिए निरन्तर

१. महा०, उद्यो०, अध्या० २९, श्लो० ५४।

संघर्ष चला करता था, जिसका प्रशमन कर गणतन्त्र को अभ्युदय की ओर ले जाना श्रीकृष्ण की राजनीतिक वैदुषी तथा व्यावहारिकता के लिए भी एक चुनौती थी। इसी की चर्चा करते हुए श्रीकृष्ण नारद से कहते हैं—"महाराज, मैं अपनी दुरवस्था की बात आपसे क्या कहूँ ? मैं कहने के लिए तो ईश्वर (शासक) हूँ, परन्तु वस्तुत: मैं अपने दायादों की चाकरी करता हूँ और उनके कड़ुए वचन सहता हूँ। मैं अपने राजकार्य में एकान्त असहाय हूँ। मेरे भाई तथा पुत्र दोनों ही अपनी राह चलते हैं, मुझे सहायता देने की उन्हें चिन्ता ही नहीं। मेरे अग्रज संकर्षण (बलराम) में बल है। मेरा अनुज 'गद' तो सुकुमारता (नजाकत) का जीवित रूप है। मेरा ज्येष्ठ पुत्र 'प्रद्युम्न' अपने अलौकिक रूप पर मतवाला है। कहिए, मेरी असहायावस्था का क्या कहीं अन्त है ? आहुक तथा अक्रूर की राजनीतिक चालों से तथा आपसी संघर्ष से मैं और भी चिन्तित और व्यग्र रहता हूँ। दोनों को शान्त रखने का मैं यथावत् प्रयत्न करता हूँ। मेरी दशा तो दो जुआड़ी पुत्रों-वाली उस माता के समान है (जिसके दोनों पुत्र आपस में जूआ खेलते हैं और दोनों एक दूसरे को हराने की चिन्ता में लगे रहते हैं)। वह दोनों का भला चाहती है। फलत:, न तो वह एक की जय चाहती है और न दूसरे की पराजय।"

'कितवमाता' की यह उपमा कितनी सुन्दर तथा अर्थाभिव्यंजक है। यह उपमा श्रीकृष्ण के राजनीतिक चिन्ताग्रस्त जीवन के ऊपर भाष्यरूप है। यह श्रीकृष्ण की ही अनुपम राजनीतिज्ञता थी कि वृष्ण्यन्धक-संघ इतने दिनों तक अपना प्रभुत्व भारत के पश्चिमी प्रान्त में बनाये रखा।

●●

दुर्गाकुण्ड, वाराणसी

हिन्दी से ही सम्पूर्ण देश की एकता

(उपराष्ट्रपति डॉ० जाकिर हुसेन)

उपराष्ट्रपति डॉ० जाकिर हुसेन ने गत २३ अगस्त को बंगलूर में आयोजित 'मैसूर-राज्य-हिन्दी-प्रचार-समिति' के प्रथम दीक्षान्त-समारोह में भाषण देते हुए हिन्दी-प्रचार और प्रसार पर विशेष बल दिया और कहा कि हिन्दी-भाषा ही समस्त देश की एकता को सुदृढ बना सकती है। आपने दक्षिण की जनता को यह विश्वास दिलाया कि हिन्दी किसी अन्य भाषा पर न तो हावी होगी और न उसे नष्ट करेगी; वरन् वह विभिन्न भाषा-भाषी लोगों में एकता स्थापित करने का सर्वोत्तम माध्यम प्रमाणित होगी। आपने यह भी विश्वास दिलाया कि एक राष्ट्रभाषा से देश में एकता और संगठन की भावना दृढ होगी, जो हमारी राष्ट्रीय शक्तियों को संगठित करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। आपने हिन्दी के विकास के सम्बन्ध में कहा कि हिन्दी तभी समृद्ध होगी, जब उसे अहिन्दीभाषी जनता का पूरा समर्थन मिलेगा !

—साप्ताहिक 'श्रीवेंकटेश्वर-समाचार', २८ अगस्त, १९६४ ई०

कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर

श्रीभुवनेश्वरप्रसाद गुरुमैता, एम्० ए०

'वर्णरत्नाकर' के प्रकाशन (सन् १९४० ई०) के पूर्व से ही ज्योतिरीश्वर अपने दो संस्कृत-ग्रन्थ 'धूर्त्तसमागमप्रहसन' तथा 'पंचसायक' के रचयिता के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उक्त दोनों ग्रन्थों में उन्होंने अपने पूरे नाम को उपाधि-सहित लिखा है। 'पंचसायक' के प्रथम सायक के उपोद्घात-प्रकरण में लेखक का परिचय करानेवाला यह श्लोक द्रष्टव्य है—

> अस्ति प्रत्यहमर्थितापहरणः प्रीत्यैकदीक्षागुरुः
> श्रीकण्ठार्चनतत्परो भुवि चतुष्षष्टेः कलानां निधिः।
> सङ्गीतामृतसत्प्रमेयरचनाचातुर्यचिन्तामणिः
> प्रख्यातः कविशेखरार्चितपदः श्रीज्योतिरीशः कृती ॥२॥

पंचसायक के तृतीय सायक के अन्त में 'श्रीकविशेखर ज्योतिरीश्वर', चतुर्थ सायक के अन्त में 'ज्योतिरीश्वर', पंचम तथा षष्ठ सायक के अन्त में 'कविशेखर ज्योतीश्वर' तथा सप्तम सायक के अन्त में केवल 'कविशेखराचार्य' उल्लिखित है। 'धूर्त्तसमागम' प्रहसन के प्राक्कथन में 'कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर' मिलता है। 'वर्णरत्नाकर' के प्रत्येक कल्लोल के अन्त में तो 'ज्योतिरीश्वर' उपाधि-सहित अपना पूरा नाम लिखते हैं। केवल आठवें कल्लोल के अन्तिम श्लोक में 'कविशेखर' मात्र आया है।[१]

अनेक प्रमाणों से स्पष्ट है कि मैथिल ब्राह्मण-परिवार के व्यक्ति 'ठाकुर' उपाधि धारण करते थे। पंजी-साहित्य में ठाकुर का अर्थ भूमि का स्वामी, अर्थात् जमीन्दार है। उत्तर भारत की प्रायः समस्त भाषाओं में 'ठाकुर' शब्द और इसके रूपान्तर व्यवहृत होते रहे हैं। नेपाली भाषा में भी इसका अर्थ स्वामी ही है।

हम यहाँ राजा हरिसिंहदेव के सभासद कविशेखराचार्य को अपने 'धूर्त्तसमागम-प्रहसन' में ठक्कुर शब्द का प्रयोग करते पाते हैं। इसमें एक 'मृताङ्गार ठक्कुर' के आश्रम का उल्लेख है। डॉ० बुद्धप्रकाशजी के मत से ठाकुर शब्द भारतीय संस्कृति को यूरेशिया के विशाल तुखारी जगत् से सम्बद्ध करनेवाली शृंखला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। यह इस अमिट छाप की छाया है, जो इन लोगों ने भारतीय समाज पर छोड़ी और उस विलक्षण समन्वय का प्रतीक है, जो भारतीय सभ्यता का प्राण रहा है।[२] हमारे आलोच्य काल में भूमिपतियों के लिए 'ठाकुर' की उपाधि दी जाने लगी थी, चाहे वे ब्राह्मण हों वा राजपूत। वर्णरत्नाकर के लेखक ज्योतिरीश्वर (पंजी-साहित्य में उद्धृत 'ज्योतिश') भी इन ठाकुरों में से थे, जो बाद के पंजी-साहित्य में 'कविशेखर' नाम से प्रतिष्ठित हुए।

१. द्रष्टव्य : वर्णरत्नाकर, पृ० ७०।
२. 'ना० प्र० प०', वर्ष ६१, अंक ४, सं० २०१३, पृ० २९१।

'कविशेखर' उपाधि :

ऊपर के विवरण से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि लेखक का नाम ज्योतिरीश्वर और उनकी पारिवारिक उपाधि का नाम ठाकुर था, तथापि वे 'कविशेखर' नाम से ही अधिक प्रख्यात थे। 'कविशेखर' एक प्रकार की उपाधि थी, जो समकालीन मिथिला के राजा के द्वारा ग्रन्थकार को दी जाती थी।[1] 'कविशेखर' में 'कवि' शब्द महत्त्वपूर्ण है। काव्य की रचना करनेवाले का नाम कवि है।

राजशेखर के मत से कवि शब्द की निष्पत्ति 'कवृ वर्णे' धातु से हुई है और इसीलिए वे 'कवि' का अर्थ वर्णनकर्त्ता मानते हैं। कवि, रस तथा भाव का विमर्शक होता है। उसके कलगान हमारे कानों में अमृतरस को घोल देते हैं, भले ही हम अर्थ न समझें।

ज्योतिरीश्वर को अनेक विद्याओं, कलाओं, छन्द एवं काव्यग्रन्थों तथा भाषाओं का ज्ञान था और वे काव्य-रचना में भी समर्थ थे, इसीलिए तो उन्हें 'कविशेखर' कहलाने का गर्व था। ज्योतिरीश्वर के परवर्त्ती कवियों ने उनकी और उनके काव्यों की प्रशस्तियाँ लिखी हैं, जिनसे ज्योतिरीश्वर की कविता तथा उनके विशेष गुणों पर प्रकाश पड़ता है। 'सुभाषितरत्नभाण्डागार' में एक ऐसा ही श्लोक प्राप्त होता है—

यश्चत्वारिंशतानि बन्धघटनालङ्कारभाञ्जि द्रुतं
श्लोकानां विदधाति कौतुकवशादेकाहमात्रे कविः।
ख्यातः क्ष्मातलमण्डलेष्वपि चतुष्षष्टेः कलानां निधिः
सङ्गीतागमनागरो विजयते श्रीज्योतिरीशः कृती॥

अर्थात्, जो कौतुकवश एक दिन में बन्ध (मुरजादि बन्ध,) घटना (रीति) और अलंकारों से युक्त चार सौ श्लोकों की रचना करते हैं, चौसठ कलाओं की निधि-रूप में जिनकी ख्याति समस्त भूमण्डल में व्याप्त है, संगीतविद्याविशारद कृती उन श्रीज्योतिरीश्वर की विजय हो। वस्तुतः, इनमें स्वाभाविक कविता का संस्कार प्रारम्भ से ही रहा होगा और आगे महान् रूप से विकसित होकर कवियों के शिखर-रूप में प्रतिष्ठित होने का गौरव इन्होंने पाया होगा, अतः ज्योतिरीश्वर का 'कविशेखर' उपाधि से विभूषित होना बिलकुल ही यथार्थ था।

कालनिर्णय :

ज्योतिरीश्वर के काल और स्थान के बारे में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। 'वर्णरत्नाकर' के सम्पादक डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा पं० बबुआजी मिश्र ने इसकी भूमिका लिखते समय अपने भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये हैं। 'विद्यापति-पदावली' की भूमिका लिखते समय उसके सम्पादक महापण्डित नगेन्द्रनाथ गुप्त ने मिथिला में प्रचलित एक वर्त्तमान गाथा के आधार पर स्वीकार किया है कि ज्योतिरीश्वर विद्यापति के पितामह के भाई थे।[2] महामहोपाध्याय डॉ० उमेश मिश्र ने अपने 'मैथिली-

१. पं० रमानाथ झा, बिहार-रिसर्च-सोसायटी-जर्नल, जि० ३७, भाग ३-४, पृ० १५।
२. विद्यापति-पदावली, प्रका० वंगीय साहित्य-परिषद्, कलकत्ता, वं० सं० १३१६, पृ० ६।

साहित्य' शीर्षक निबन्ध में इस बात की चर्चा नहीं की है।[1] साथ ही, अपनी पुस्तक 'विद्यापति' में भी इस प्रश्न को उन्होंने नहीं उठाया है। पं० बबुआजी मिश्र ने भी इस प्रश्न को अछूता ही छोड़ दिया है।[2] डॉ० जयकान्त मिश्र 'हिस्ट्री ऑव मैथिली लिट्रेचर' में उक्त लोकगाथा को ऐतिहासिक सत्य मानने में सन्देह प्रकट करते हैं। दरभंगा-राज-लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन श्रीरमानाथ बाबू ने इस लोक-कल्पित गाथा को निराधार माना है।

यद्यपि उन्होंने अपने सम्बन्ध में अन्य लेखकों की अपेक्षा विस्तृत परिचय दिया है, तथापि यह आश्चर्य की बात है कि कविशेखर ज्योतिरीश्वर के परिचय के सम्बन्ध में विवाद खड़े होते रहे हैं। ज्योतिरीश्वर से लगभग सौ वर्ष बाद आनेवाले सुप्रसिद्ध मैथिल-कवि विद्यापति ने अपने परिवार तथा व्यक्तिगत जीवन के विषय में हमें कुछ भी नहीं बताया है।* किन्तु, ज्योतिरीश्वर ने तो उपाधि-सहित अपने नाम, अपने पिता, पितामह तथा जन्मस्थान के सम्बन्ध में स्वयं लिख दिया है। हाँ, उनके आश्रयदाता के सम्बन्ध में उनकी कृतियों की भिन्न-भिन्न हस्तलिपियों में विभिन्नता अवश्य है। इसी कारण उनके काल के सम्बन्ध में विद्वानों की मतभिन्नता रही है। ज्योतिरीश्वर के जीवन की आधारभूत सामग्री निम्नलिखित तीन स्रोतों से प्राप्त की गई है :

१. अन्तस्साक्ष्य, इस सम्बन्ध में लेखक का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'धूर्त्तसमागम-प्रहसन' है।

२. बहिस्साक्ष्य, जिसे दो भागों में विभक्त कर सकते हैं :

(क) प्राचीन ग्रन्थों के उल्लेख। इस सम्बन्ध में मिथिला का पंजीप्रबन्ध-साहित्य का महत्त्व बहुत अधिक है।

(ख) अर्वाचीन सामग्री—आधुनिक लेखकों की उक्तियाँ।

३. किंवदन्तियाँ, अर्थात् चिरकाल से मौखिक रूप से प्रचलित बातें अथवा सुभाषित।

'धूर्त्तसमागमप्रहसन' के प्राक्कथन में ज्योतिरीश्वर अपने को कर्णाटवंशीय राजा 'हरिसिंहदेव' का आश्रयी कहते हैं :

> अस्ति श्रीहरिसिंहदेवनृपतिः कर्णाटचूडामणि-
> र्दृप्यत्पार्थिवसार्थमौलिमुकुटन्यस्ताङ्घ्रिपङ्केरुहः ॥
> तस्योद्दण्डभुजप्रतापदहनज्वाला निरस्ता यदा
> राज्ञः सर्वगुणानुरागपदवीविद्योतनाचार्यकः ॥
> ...　　...　　...
>
> **यो धीरेश्वरवंशमौलितिलको दातावदाताशय—**
> **स्तस्य श्रीकविशेखरस्य कविता सच्चित्तमालम्बते।**

१. 'हिन्दुस्तानी' (इलाहाबाद), भाग ४, खं० १, जनवरी, १९३४ ई०।

२. पं० बबुआजी मिश्र, वर्णरत्नाकर की भूमिका, पृ० ५-६।

* कदाचित् लेखक ने विद्यापति द्वारा रचित संस्कृत-भाषा की पुस्तक 'भूपरिक्रमा' नहीं देखी है।—सं०

प्रस्तुत पुस्तक की कई प्रतियों में 'नरसिंहदेव' पाठ भी आया है। इस आधार पर जर्मन-विद्वान् क्रिश्चन लासेन ने ज्योतिरीश्वर को विजयनगर के राजा नरसिंहदेव (१४८७-१५०८ ई०) का आश्रयी माना है।[1] पर, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को नेपाल-दरबार-पुस्तकालय से उक्त ग्रन्थ की जो प्रति मिली है, उसमें 'हरिसिंहदेव' ही आया है। और, इसी आधार पर वे उन्हें मिथिला के राजा हरिसिंहदेव (१३२३ ई०) ही मानते हैं।[2] ग्रन्थ के दोनों सम्पादकों के दो मत हैं। वर्णरत्नाकर की नेपाल-प्रति और इसमें प्रयुक्त फारसी शब्दों के आधार पर श्रीसुनीति बाबू ज्योतिरीश्वर को हरिसिंहदेव (१३२३ ई०) का समकालीन मानते हैं।[3] पं० बबुआजी मिश्र कहते हैं कि मिथिला की पंजी हरिसिंहदेव के शासनकाल में शुरू हुई और उसमें ज्योतिरीश्वर का नाम नहीं है, इसलिए वे हरिसिंहदेव के पूर्ववर्त्ती हैं।[4] पंजी के अतिरिक्त कुछ प्रतियों में नरसिंहदेव का पाठ भी उक्त विचार को पुष्ट करता है।[5]

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी पंजी-प्रबन्ध को इस विषय में महत्त्व नहीं देते हैं; क्योंकि उनके अनुसार वह 'अवैज्ञानिक युग' (अनक्रिटिकल इपोक[6]) की बनी है। वर्णरत्नाकर में फारसी शब्दों के प्रयोग के आधार पर उनका अनुमान है कि मिथिला पर मुसलमानी आक्रमण के लगभग १०० वर्ष बाद ही इन शब्दों का प्रचार हुआ होगा।[7] पर, सुनीति-कुमार चटर्जी के मतानुसार ही हरिसिंहदेव (१३२३ ई०) के सौ वर्ष पूर्व, नरसिंहदेव के काल में, मिथिला पर मुसलमानों के आक्रमण का कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है।[8] इस प्रकार, यदि फारसी शब्दों के प्रयोग के कारण मुसलमानों के आक्रमण के बाद लगभग सौ वर्ष की अवधि वर्णरत्नाकर की रचना के पूर्व अपेक्षित है, तो सुनीति बाबू का ही मत (ज्योतिरीश्वर हरिसिंहदेव के समकालीन थे)[9] खंडित हो जाता है और ज्योतिरीश्वर विद्यापति के समकालीन हो जाते हैं। वस्तुतः, ये फारसी शब्द मिथिला में ज्योतिरीश्वर के पूर्व आये और उनके द्वारा वर्णरत्नाकर में उल्लिखित हुए या बाद में प्रतिलिपिकारों द्वारा प्रयुक्त हुए, यह एक विचारणीय विषय है। प्रकाशित ग्रन्थ के लिए उपयोग की हुई हस्तलिपि भी तो सन् १५०७ ई० की है, जो हरिसिंहदेव के दो सौ वर्ष बाद लिखी गई। उस विवाद के द्वारा ज्योतिरीश्वर के निश्चित काल एवं स्थान के सम्बन्ध में स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। इधर हाल में ही दरभंगा-राजलाइब्रेरी के लाइब्रेरियन

१. एन्थोलॉजिया संस्क्रिटिका, ११, पृ० १० (वेरल, १८२८ ई०)।
२. कैटेलॉग ऑव पामलीफ ऐंड सेलेक्टेड पेपर मैन्सक्रिप्ट्स, दरबार-लाइब्रेरी नेपाल, विथ ए हिस्टॉरिकल इंट्रोडक्शन, वे० सी० बेंडेल, कलकत्ता, १९०५, पृ० ६६।
३. डॉ० सु० कु० चटर्जी, वर्णरत्नाकर की भूमिका, पृ० १८।
४. पं० बबुआजी मिश्र, वर्णरत्नाकर की भूमिका, पृ० ५-६।
५. डॉ० लक्ष्मण झा, वर्णरत्नाकर, बि० रि० सो० ज०, जि० ३६, भाग ३-४, पृ० १७८।
६. डॉ० सु० कु० च०, वर्णरत्नाकर की भूमिका, पृ० २०।
७. वही, पृ० १८।
८. वही, पृ० १२।
९. वही।

पं० रमानाथ झा ने पंजीसाहित्य-सम्बन्धी लगभग दो हजार तालपत्रों को राजलाइब्रेरी के लिए एकत्र कर ऐतिहासिक दृष्टि से मिथिला की संस्कृति पर प्रकाश डालने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। पंजी-साहित्य के विवेचन के पश्चात् उन्होंने ज्योतिरीश्वर के काल के सम्बन्ध में पारिवारिक सम्बन्धों के आधार पर कुछ दूसरे ढंग से विचार रखे हैं। वस्तुतः, अन्यान्य हस्तलिपियों में ज्योतिरीश्वर के आश्रयदाता के सम्बन्ध में विभिन्नता होने के पश्चात् ग्रन्थकार के पारिवारिक सम्बन्ध के आधार पर काल का निर्णय करना बहुत-कुछ युक्तिसंगत लगता है। पंजी-साहित्य के निर्माणकाल को 'अवैज्ञानिक' कहकर उपेक्षा करना युक्तिपूर्ण नहीं है।

ज्योतिरीश्वर के काल पर प्रकाश डालने के लिए उनकी एक छोटी-सी रचना 'धूर्त्तसमागमप्रहसन' बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत-नाटकों पर लिखे गये सभी योरोपीय ग्रन्थों में इसकी चर्चा है। इस ग्रन्थ के प्राक्कथन में ज्योतिरीश्वर अपने को धीरेश्वर का पुत्र और रामेश्वर का पौत्र कहते हैं :

तदनेन सकलसङ्गीतविशेषविद्योतनाभिनवभरतेन, पुरमथनपदारविन्दद्वन्द्ववन्दारुकर-पल्लवेन, निखिलभाषोपमाभाषाशुभं भावुकसरस्वतीकण्ठाभरणेन, अनवरतसोमरसास्वाद-कषायकण्ठकन्दलीनरीनृत्यमानमीमांसामहोत्सवेन, रामेश्वरस्य पौत्रेण तद्भवतः पवित्रकीर्त्तेर्धीरेश्वरस्यात्मजेन, महाशासनश्रेणीशिखरग्राम्यत्पल्लीजन्मभूमिना कविशेखराचार्य-ज्योतिरीश्वरेण निजकुतूहलविरचितं धूर्त्तसमागमं नाम नाटकमभिनेतुमादिष्टोऽस्मि।

इस गद्य से ज्योतिरीश्वर के पिता, पितामह और आश्रयदाता राजा के नाम का तो पता चलता ही है, साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि वे एक राजपदाधिकारी थे, वैदिक पुरोहित थे, दर्शन के मर्मज्ञ थे, अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे और शिवोपासक तथा संगीतप्रेमी थे। वे एक ऐसे कर्णाटवंशीय राजा के दरबार में थे, जिन्होंने मुसलमान आक्रामक (सुरत्राण—सुलतान) को पराजित किया था। उस राजा का नाम 'हरिसिंह-देव' या 'हरसिंहदेव' था।

ज्योतिरीश्वर के पिता के नाम के साथ पारिवारिक उपाधि 'ठाकुर' लगे रहने के कारण ही भ्रमवश विद्यापति के पितामह के भाई के रूप में इन्हें कुछ विद्वानों ने मान लिया।[1] सम्भवतः, इसी प्रवाह में पड़कर महापण्डित नगेन्द्रनाथ गुप्त ने भी उन्हें वैसा ही मानना ठीक समझा। विद्यापति के प्रपितामह का नाम धीरेश्वर ठाकुर था, यह तो हम सभी जानते हैं। यही धीरेश्वर महावार्त्तिक नैबन्धिक भी कहलाते थे। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी महोदय ने वर्णरत्नाकर की भूमिका लिखते समय 'धीरेश्वर' हटाकर एक बहुत भारी भूल की है।[2] उन्होंने जयदत्त को देवादित्य का तीसरा पुत्र और विद्यापति का पितामह बताया है।[3]

---

१. बि० रि० सो० ज०, जि० ३७, भाग ३-४।
२. वर्णरत्नाकर की भूमिका, पृ० १९।
३. वही।

श्रीरमानाथ बाबू के अनुसार जयदत्त देवादित्य के पुत्र न थे। वे धीरेश्वर के पुत्र थे और धीरेश्वर देवादित्य के पुत्र थे।[१] डॉ० उमेश मिश्र भी अपने 'विद्यापति ठाकुर' नामक ग्रन्थ में देवादित्य के सात पुत्रों के नाम बताते हैं, जिनमें जयदत्त नहीं आता।[२]

डॉ० उमेश मिश्र के अनुसार धीरेश्वर देवादित्य के दूसरे पुत्र थे, जो महावार्त्तिक नैबन्धिक थे और वीरेश्वर के अनुज थे।[३] गणेश्वर के भी अनुज ही थे धीरेश्वर।[४] वीरेश्वर तथा गणेश्वर दोनों ही भाई महाराज हरिसिंहदेव के सान्धिविग्रहिक, अर्थात् सन्धि और विग्रह-विभाग के मन्त्री थे।

विद्यापति की 'पुरुषपरीक्षा' में दोनों के जीवन के सम्बन्ध में एक छोटी-सी कहानी भी मिलती है। धीरेश्वर के पुत्र ज्योतिरीश्वर 'ठाकुर' थे, इसीलिए लोगों ने उन्हें महावार्त्तिक नैबन्धिक धीरेश्वर का पुत्र मान लिया तथा विद्यापति के पितामह जयदत्त का भाई माना। लेकिन, अब यह तर्क बिलकुल निर्मूल मान लिया गया है; क्योंकि महावार्त्तिक नैबन्धिक धीरेश्वर देवादित्य के पुत्र थे, जबकि ज्योतिरीश्वर के पिता धीरेश्वर रामेश्वर के पुत्र थे।

जन्मस्थान :

संस्कृत-प्रहसन 'धूर्त्तसमागम' के प्राक्कथन में ज्योतिरीश्वर ने अपने जन्मस्थान का जो स्पष्ट उल्लेख किया है, उसका निर्देश पहले किया गया है। उसके अनुसार उनका जन्मस्थान 'पल्ली' ग्राम महाशासनश्रेणी के शिखर पर था। रमानाथ बाबू का ऐसा विश्वास है कि यही महाशासन बाद में परगना कहा जाने लगा।[५] जन्मस्थान-सम्बन्धी ज्योतिरीश्वर की उक्ति पर विद्वानों का ध्यान पहले गया नहीं। दरभंगा-जिलान्तर्गत मधुबनी सबडिवीजन के बेनीपट्टी थाने में अब भी पाली एक समृद्धिशाली ग्राम के रूप में अपना अस्तित्व रखता है। महाकवि विद्यापति के जन्मस्थान- विसपी ग्राम से यह केवल चार मील पश्चिम है।

शक-संवत् १२४८ में पंजी-प्रबन्ध का प्रादुर्भाव होने पर मैथिल ब्राह्मण के विभिन्न परिवारों को जन्मस्थान और मूलस्थान के आधार पर मूलग्राम के नाम से उल्लिखित किया गया। लेकिन, डॉ० जयकान्त मिश्र पंजी-प्रबन्ध की इस परिपूर्ण योजना की उपेक्षा ही करते हैं—"We should not expect Mulgramas (probably an earlier thing) and Panji names at the earliest stage."[६]

---

१. बिहार-रिसर्च-सोसायटी-जर्नल, जि० ३७, भाग ३-४, पृ० १६।
२. विद्यापति ठाकुर, हिन्दुस्तानी एकाडमी, इलाहाबाद, पृ० ६।
३. द्र० बिब्लियोथिका इंडिका का कृत्यरत्नाकर, पेरिस, पृ० ९—१८, तथा असल कथाखंड १, कथा-क्र० ८।
४. गणेश्वर के लिए देखिए—सुगति-सोपान के प्रारम्भिक श्लोक, आर० एस्० कैटलॉग-नं० १८६८, तथा सुबुद्धिकथाखंड २, कथा-क्र० ७१।
५. पं० रमानाथ झा, ज्योतिरीश्वर, बि० रि० सो० ज०, जि० ३७, भाग ३-४, पृ० १७।
६. हिस्ट्री ऑव मैथिली लिट्रेचर, खं० १, पृ० १२१, नोट-नं० ८१।

वस्तुतः, मूलग्राम का अस्तित्व प्रारम्भ से ही है, जिससे कालान्तर में इधर-उधर बिखरे हुए एक ही मूल के विभिन्न परिवार तथा एक ही परिवार के विभिन्न सदस्य परस्पर संगठित हुए।[1] पं० बबुआजी मिश्र भी मिथिला के उस विशाल पंजी-साहित्य में ज्योतिरीश्वर के उल्लेख से अपरिचित दिखाई देते हैं। वर्णरत्नाकर की भूमिका में उनका कहना है कि हरिसिंहदेव का सभासद होते हुए भी ज्योतिरीश्वर-सदृश सर्वज्ञ पण्डित का नामोल्लेख इतने महत्त्व के पंजीग्रन्थ में क्यों नहीं मिलता ?[2] वे और भी आगे बढ़कर कहते हैं कि कविशेखर ने अपने मूलग्राम के सम्बन्ध में अपने किसी भी ग्रन्थ में चर्चा नहीं की है।[3] शायद पं० बबुआजी मिश्र 'धूर्त्तसमागम' प्रहसन के प्रारम्भिक गद्य को भूल जाते हैं, जिसकी चर्चा हमने ऊपर की है। मिथिला के समस्त पंजी-साहित्य में पल्ली या पाली-मूल के मैथिल ब्राह्मणों ने अपने मूल के पश्चात् कविशेखर ज्योतिष वा ज्योतिरीश्वर का भी नाम लिया है जो उस मूल के प्रख्यात पुरुष थे। हाँ, बाद की पुस्तकों में वे उनकी उपाधि 'कविशेखर' अथवा संक्षिप्त नाम 'ज्योतिष' और कभी-कभी 'ज्योतिरीश्वर' भी उद्धृत करते रहे हैं।[4]

पंजी-प्रबन्ध :

पहले मैथिल ब्राह्मणों में स्मृतियों के प्रतिकूल निषिद्ध विवाह भी हुआ करता था। इसलिए, हरिसिंहदेव ने भविष्य में कोई अविहित विवाह मैथिल ब्राह्मणों में न हो, उन्होंने पंजी-प्रबन्ध का निर्माण कराया। राजा हरिसिंहदेव ने मैथिल ब्राह्मण के परिवारों के इतिहास को एकत्र कर 'पंजी' के रूप में शक-संवत् १२४८ में संकलित करवाया।[5] सर्वप्रथम पं० रघुदेव झा ने इस पंजी-प्रबन्ध को बनाया। पंजी के बन जाने पर वह तत्कालीन प्रमुख आचार्यों के हाथों सौंपी जाती रही कि इसमें नये-नये परिवारों का भी समावेश होता रहे। इस कार्य को सम्पादित करनेवाले 'पंजीकार' कहे गये। आज भी इनके वंशज विरासत-रूप में अपने कार्य को निबाह रहे हैं।

पंजी मिथिला की ६०० वर्षों से अधिक की एक महान् कालक्रमबद्ध ऐतिहासिक सम्पत्ति है। इस पंजी-प्रबन्ध में मैथिल ब्राह्मणों के मूल और ग्राम के हिसाब से विभाग किये गये हैं। एक साथ ही सब मैथिल ब्राह्मणों की मर्दुमशुमारी की गई। सभी के मूलग्राम नोट किये गये। 'मूल' का अर्थ यह कि किसी खास वंश के ब्राह्मण पूर्व में कहाँ-कहाँ बसते थे और 'ग्राम' का यह अर्थ लिया गया कि हरिसिंहदेव के समय में जब इन लोगों की मर्दुमशुमारी हुई, ये लोग किस ग्राम में बसते थे। उदाहरण-स्वरूप, 'सदरपुरिये सरिसो' मूलग्राम का अर्थ यह हुआ कि हरिसिंहदेव के समय में ये लोग 'सरिसो' ग्राम में थे और उन लोगों से जिज्ञासा करने पर उस समय पता चला कि इसके पूर्व ये

---

१. बिहार-रिसर्च-सोसायटी-जर्नल, जि० ३७, भाग ३-४, पृ० १७।
२. पं० बबुआजी मिश्र, भूमिका, वर्णरत्नाकर, पृ० ५।
३. वही, पृ० ६।
४. बिहार-रिसर्च-सोसायटी-जर्नल, जि० ३७, भाग ३-४, पृ० १८।
५. 'मिथिलामिहिर' का मिथिलांक, पृ० ७०।

लोग 'सोदरपुर' ग्राम में रहते थे। कोई खास व्यक्ति मैथिल ब्राह्मण है या नहीं, इसकी जाँच करने की कसौटी यह है कि जिस ब्राह्मण के मूल और ग्राम ये दोनों न हों, समझना चाहिए कि वे मैथिल नहीं हैं।[१]

पंजी-साहित्य के निर्माण के पीछे छह सौ साल से भी अधिक वर्षों की परम्परा है। किन्तु, किसी भी पंजीकार को यह कहने की हिम्मत नहीं है कि उसके पास आदिकाल से अबतक की सम्पूर्ण पंजी उपलब्ध है। हर पंजीकार अपने सीमित क्षेत्र और सम्बद्ध परिवार का ही रेकर्ड रखता है। इस काम को वे वंशानुगत पेशा समझकर करते रहे हैं। और, इस परम्परा के अखण्ड रूप से निर्वाह के लिए दूसरे किसी के हाथ इस पंजी में लगने नहीं देते।[२]

हालाँकि, पंजी शक-संवत् १२४८ में बनी, किन्तु उसका साहित्य तो उससे भी कुछ पूर्व का मिल जाता है। कई प्रतिष्ठित परिवारों ने उस समय अपनी छह पीढ़ियाँ बता दी होंगी; क्योंकि इतना ज्ञान तो सपिण्डत्व के लिए अपेक्षित रहा है। पंजी-साहित्य-भाण्डागार से जो अल्प सामग्री मिल सकी है, उससे भी ज्योतिरीश्वर के समय पर सम्यक् प्रकाश पड़ जाता है। ऐसे महत्त्व का यह पंजी-साहित्य पं० बबुआजी मिश्र और डॉ० जयकान्त मिश्र से अछूता रहा है।

मैथिल ब्राह्मणों में पल्ली-मूल के कुछ लोग कालान्तर में 'अबरझट्टा' गाँव में बस गये और उस परिवार में जन्म लेनेवाले व्यक्ति पंजी में 'अबरझट्टा पाली' मूल के उल्लिखित हुए।[३] अनेक प्रमाण यह पुष्ट करते हैं कि इस पाली-परिवार के व्यक्ति 'ठाकुर' उपाधि धारण करते थे। ज्योतिरीश्वर भी उसी प्रकार के ठाकुर थे। मिथिला के सर्वश्रेष्ठ नैयायिक श्रीवाचस्पतिमिश्र तथा म० म० डॉ० गंगानाथ झा भी इसी अबरझट्टा-परिवार के हैं। अब भी पंजी का सम्पूर्ण साहित्य उपलब्ध नहीं, किन्तु जितना मिला है, उससे यह स्पष्ट है कि 'अबरझट्टा पाली'-परिवार के कविशेखर ज्योतिरीश्वर ही 'वर्ण-रत्नाकर' के रचयिता थे।[४] 'धूर्त्तसमागम' प्रहसन की भूमिका में उन्होंने स्वयं अपना मूल पल्ली कहा है।

कविशेखर ज्योतिरीश्वर का विवाह भमवाला-परिवार के दुर्गादास की सुपुत्री से हुआ था। उनको कोई पुत्र था या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। उनकी एक पुत्री का विवाह गंगौरा-परिवार के शिवनाथ के साथ होने का पता अवश्य चलता है। शिवनाथ के पिता का नाम रामनाथ और पितामह का नाम महामहोपाध्याय हरिनाथ था। इन्हीं के अवैध विवाह ने मैथिल समाज की आँखें खोल दीं, जिसके फलस्वरूप पंजी-प्रबन्ध का प्रादुर्भाव हुआ। इसका उल्लेख ऊपर कर चुके हैं। कविशेखर की पुत्री का विवाह महामहोपाध्याय हरिनाथ के पौत्र के साथ हुआ था। इससे कविशेखर का उनसे एक

---

१. पं० विधानन्द ठाकुर, मिथिला, मैथिली साहित्य-भवन, मधुबनी (पूर्णिया), पृ० ८३।

२. बि० रि० सो० ज०, जि० ३७, भाग ३-४, पृ० १९।

३. वही, पृ० १९।

४. वही, पृ० २०।

पीढ़ी बाद का होना सिद्ध है। अगर यही हरिनाथ 'स्मृतिसार' के लेखक थे, तब निश्चय ही ये मिथिला के सुप्रसिद्ध दार्शनिक गंगेश के पूर्ववर्त्ती ठहरते हैं ; क्योंकि गंगेश ने अपनी चतुर्थ पुस्तक 'तत्त्वचिन्तामणि' में 'स्मृतिसार' के लेखक के विचारों का खण्डन किया है।[1]

महामहोपाध्याय हरिनाथ के पौत्र शिवनाथ को कविशेखर की पुत्री से विवाह करने पर दो पुत्रियाँ हुई, जिनका विवाह, एक दूसरे की मृत्यु के पश्चात्, सनकोना-परिवार के रुचिशर्मा के साथ हुआ। इस रुचि के पितामह महामहोपाध्याय हरिहरमिश्र थे, जो 'धर्माधिकरणिक' भी कहलाते थे। रमानाथ बाबू के अनुसार यही धर्माधिकरणिक हरिहर हैं, जो हरिनाथ आदि प्रारम्भिक निबन्धकारों द्वारा बड़ी ही श्रद्धा के साथ उद्धृत किये गये हैं।

हरिहर की तीन पत्नियों में अन्तिम पत्नी से उत्पन्न कनिष्ठ पुत्र का नाम हरिशर्मा था। उनके तीन पुत्र थे, जिनमें ज्येष्ठ का नाम था राम और कनिष्ठ का रुचि। राम का विवाह पबोली-परिवार के मेहू नामक व्यक्ति की पुत्री से हुआ था। यही मेहू महाराज हरिसिंहदेव के सान्धिविग्रहिक (युद्ध और शान्ति-सचिव) वीरेश्वर के दामाद थे। उसी वीरेश्वर ठाकुर के पुत्र रत्नाकर-ग्रन्थों के रचयिता मन्त्रिवर चण्डेश्वर थे, जो धर्मशास्त्र के ब त बड़े विद्वान् हुए। अपने पिता के बाद मैथिल राजा हरिसिंहदेव के ये सन्धि और विग्रह-विभाग के मन्त्री बनाये गये। उस समय हरिसिंह बहुत छोटे थे। इनके प्रयत्न से राजा हरिसिंहदेव ने नेपाल तथा अन्य दुर्गम स्थानों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। कहा जाता है कि नेपालियों के अतिरिक्त केवल यही प्रथम ब्राह्मण थे, जिन्होंने उन दिनों पशुपतिनाथ का स्पर्श किया तथा उनकी पूजा की।[2] इन्होंने नेपाल में अनेक पुण्यकार्य किये तथा ब्राह्मणों को दान दिये। शक-सं० १२३६ (१३१५ ई०) में, अर्थात् पंजी-प्रबन्ध बनने के बारह वर्ष पहले उन्होंने नेपाल में ही बागमती नदी के किनारे तुलापुरुष दान किया,[3] जिसमें अपने वजन का स्वर्ण दान किया। इसके अतिरिक्त सात खण्डों में महान् रत्नाकर-ग्रन्थों का प्रणयन किया[4]—कृत्यरत्नाकर[5], दानरत्नाकर, व्यवहाररत्नाकर, शुद्धिरत्नाकर, प्रजारत्नाकर, विवादरत्नाकर[6] तथा गृहस्थरत्नाकर[7]। इनके अतिरिक्त राजनीतिरत्नाकर[8] तथा शैवमानसोल्लास[9] भी इन्हीं के बनाये हुए ग्रन्थ हैं।

---

१. द्र० बिहार-रिसर्च-सोसायटी-जर्नल, जि० ३७, भाग ३-४, पृ० २१ की पादटिप्पणी।
२. डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र की सूची, दानरत्नाकर, हस्त० नं० २०६९।
३. दानरत्नाकर, अन्तिम श्लोक, तथा विवादरत्नाकर, ए० सो० बंगाल, १९३१, उपसंहार के श्लोक।
४. द्र० विवादरत्नाकर, ए० सो० बं०, १९३१ पृ० ६७६।
५. कृत्यरत्नाकर, सं० म० म० पं० कमलाकृष्ण स्मृतितीर्थ, प्र० ए० सो० बं०, कल०, १९२५।
६. विवादरत्नाकर, सं० म० म० पं० कमलाकृष्ण स्मृतितीर्थ, प्र० ए० सो० बं०, कल०, १९३१।
७. गृहस्थरत्नाकर, सं० म० म० पं० कमलाकृष्ण स्मृतितीर्थ, प्र० ए० सो० बं०, कल०, १९२८।
८. राजनीतिरत्नाकर, सं० डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल, बिहार ऐंड उड़ीसा-रिसर्च-सोसायटी, पटना, १९३६।
९. शैवमानसोल्लास की मिथिला की हस्तलिखित प्रति, जिल्द १, प० ४५५-५६।

अपने रत्नाकरों में जहाँ कहीं उन्हें अपरिचित संस्कृत-शब्दों का प्रयोग करना पड़ा, तुरन्त उन्होंने उन्हें समझाने के लिए उनके अर्थ मैथिली में दे दिये। ऐसे शब्द लगभग एक सौ से अधिक मिले हैं।[1]

हरिहरमिश्र के तीन पौत्रों में से ज्येष्ठ पौत्र राम का विवाह वीरेश्वर की नतिनी के साथ तथा सबसे छोटे रुचि का विवाह ज्योतिरीश्वर की पुत्री के साथ हुआ था। अतएव, ज्योतिरीश्वर का वीरेश्वर का समकालीन होना साफ झलक जाता है। साथ ही, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ज्योतिरीश्वर हरिसिंहदेव के समकालीन थे। क्योंकि, यह तो पहले सिद्ध हो चुका है कि वीरेश्वर उक्त महाराज के दरबार में सान्धिविग्रहिक थे।

रुचिशर्मा, जिन्होंने कविशेखर की नतिनी से शादी की थी, कई पुत्र-पुत्रियों को छोड़ गये। उनके एक पौत्र धर्माकरणिक थे तथा एक पुत्र का विवाह ओइनवार-परिवार के सिवाइ ठाकुर की पुत्री से हुआ था। सिवाई हरखन के पुत्र थे, जो ओइनवार-परिवार के संस्थापक राजपण्डित कामेश्वर ठाकुर के अनुज थे।

रुचिशर्मा की पुत्री का विवाह खण्डवाला-परिवार की एकम्बा-शाखा के वीर ठाकुर से हुआ था। वीर के पितामह बलभद्र थे, जो वर्द्धमान के नाती थे। ये वर्द्धमान उसी छादन-परिवार के थे, जिसके सुप्रसिद्ध नैयायिक गंगेश भी थे। वर्द्धमान अपने को गंगेश का पुत्र कहते हैं। लेकिन, पंजी-साहित्य में इस प्रकार का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता कि गंगेश के पुत्र वर्द्धमान थे। फिर भी, रमानाथ झा कुछ विशेष कारणवश इन्हें गंगेश का पुत्र मान लेते हैं।[2] पंजी-साहित्य में वर्द्धमान 'उपायकारक महामहोपाध्याय' के नाम से उल्लिखित हैं। लेकिन, प्रो० दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने अपने 'त्वन्तोपाध्याय' शीर्षक लेखक में एक पुराने तालपत्र की सूची प्रस्तुत की है।[3] इस 'सूची' में वर्द्धमान की कृतियों के लिए बार-बार 'उपाय' का प्रयोग हुआ है।

वर्द्धमान की कृतियों के उपाय कहलाने का ठोस प्रमाण है, अतएव इन्हें उपाय-कारक कहना युक्तिसंगत है। पंजी-साहित्य में प्राप्त वर्द्धमान बहुत बड़े दार्शनिक हैं और गंगेश के पुत्र हैं। उपायकारक के नाती के पोते से कविशेखर की नतिनी की बेटी का विवाह हुआ था। इस विवाह-सम्बन्ध के अनुसार स्वयं वर्द्धमान ज्योतिरीश्वर से एक पीढ़ी बड़े ठहरते हैं, अतएव गंगेश को तो और ऊपर मानना आवश्यक ही है। चूँकि, गंगेश ने स्मृतिसार के लेखक के विचारों का खण्डन किया है, अतएव स्मृतिसार के लेखक 'हरिनाथ' ज्योतिरीश्वर से अवश्य ही बहुत पहले के होंगे। इसलिए यह स्पष्ट नहीं होता कि स्मृतिसार के निर्माता हरिनाथ वही हैं, जिनके अविहित विवाह ने पंजी-प्रबन्ध का सूत्रपात किया तथा जिनके पौत्र के साथ ज्योतिरीश्वर की पुत्री का पाणिग्रहण-संस्कार हुआ था।

---

१. डॉ० उमेश मिश्र, 'चण्डेश्वर ठाकुर ऐंड मैथिली, इलाहाबाद-युनिवर्सिटी-स्टडीज, जिल्द ४, पृ० ३५३—३५६; 'इंडियन लिंग्विस्टिक्स', १९३९।

२. बिहार-रिसर्च-सोसायटी-जर्नल, जि० ३७, भाग ३-४, पृ० २३।

३. जर्नल ऑव् द जगन्नाथ झा-रिसर्च इन्स्टीच्यूट, जि० ५, भाग १, पृ० १५-१६।

रुचिशर्मा की दूसरी पुत्री ने बलियास-परिवार की चंडोशाखा के पूरे से विवाह किया था और पूरे की पुत्री से निकुती-परिवार की हरिसिंहपुर-शाखा के विद्यापति का विवाह हुआ था। यह विद्यापति पुष्पभट्ट-परिवार के प्रसिद्ध व्यक्ति हो गये हैं। विद्यापति के पिता पुष्पभट्ट गोविन्द और पितामह पुष्पभट्ट सूपन थे। सूपन की एक पुत्री 'ओइनिवार'-राजपरिवार के महाराज गणेश्वर की महारानियों में से एक थी। यह 'ओइनिवार' या 'ओइनी' वंश बहुत ही प्रसिद्ध है। इस वंश के लोग ब्राह्मण पण्डित होते हुए भी युद्धक्षेत्र में शत्रुओं के साथ बड़ी वीरता से लड़नेवाले हुए।[1] पुष्पभट्ट विद्यापति की दो पुत्रियों का विवाह ओइनिवार-राजवंश में हुआ था। उनकी एक पुत्री महादेवी रत्ना महाराज शिवसिंह की छह पत्नियों में से तीसरी थी। यही शिवसिंह मैथिलकोकिल विद्यापति के आश्रयदाता थे।

पुष्पभट्ट विद्यापति की दूसरी पुत्री महादेवी हृदयवती राजा शिवसिंह के भतीजे महाराज धीरसिंह हृदयनारायण की पहली पत्नी थी। इससे यह सिद्ध होता है कि कविशेखर महाराज शिवसिंह से अवश्य ही लगभग सौ वर्ष पहले हुए होंगे।

पंजी-साहित्य के अध्ययन के आधार पर[2] कविशेखर के पारिवारिक एवं वैवाहिक सम्बन्धों का विवेचन कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

१. मैथिल ब्राह्मण के 'अबरझट्टा पाली'-परिवार में एक कविशेखर थे, जिनका पूरा नाम ज्योतिरीश्वर ठाकुर था, पर वे अपने संक्षिप्त नाम 'कविशेखर ज्योतिश' से भी प्रसिद्ध थे।

२. उनकी एक नतिनी का विवाह सनकोना-परिवार के रुचिशर्मा के साथ हुआ था। इसी रुचि के सबसे बड़े भाई का विवाह महाराज हरिसिंहदेव के सान्धिविग्रहिक वीरेश्वर की नतिनी से हुआ था।

३. कविशेखर की पुत्री की पाँचवीं पीढ़ी की दो सन्तान, अर्थात् उनकी नतिनी की नतिनी की पुत्रियों का विवाह महाराज शिवसिंह तथा महाराज धीरसिंह के साथ हुआ था। ये दोनों ही महाराज महाकवि विद्यापति के आश्रयदाता रहे हैं।

अतएव, ज्योतिरीश्वर विद्यापति के पितामह के भाई कदापि नहीं हो सकते और यह निश्चित रूप से विद्यापति से लगभग सौ वर्ष पूर्व हरिसिंहदेव-काल (राज्यकाल १२७५—१३२४ ई०) के हैं।

● ●

रिसर्च-स्कॉलर, हिन्दी-विभाग
पंजाब-विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

---

१. कीर्त्तिलता, पल्लव १।
२. जर्नल ऑव बिहार-रिसर्च-सोसायटी, जि० ३७, भाग ३-४, पृ० २४।

सुलतानगंज की एक विलक्षण मूर्ति

डॉ० श्रीचन्द्रनारायण मिश्र

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक की बात है। अजगविनाथ घाट (सुलतानगंज) से कुछ ही दूर पूरब मकान बनाने के लिए एक टीले की खुदाई में एक सुन्दर प्रस्तर-मूर्त्ति प्राप्त हुई। वहाँ से यह मूर्त्ति स्थानीय बूढ़ानाथ-मन्दिर में लाई गई, जहाँ वह अब भी वर्त्तमान है। मूर्त्ति को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि कभी इसे विकलांग करने की चेष्टा की गई थी। बायें हाथ का एक आयुध आधा से अधिक और दायें हाथ का भी एक आयुध आंशिक रूप से भग्न है। ऐसा मालूम पड़ता है कि किसी भारी कठिन वस्तु के प्रहार से मध्यमुख का दाहिना गाल झाड़ दिया गया है और नाक का नुकीला अगला हिस्सा भी तोड़ दिया गया है। मूर्त्ति के दोनों पैरों के बीच की लघुमूर्त्ति भी कुछ खण्डित है। इतना होने पर भी मूर्त्ति विकृत नहीं मालूम पड़ती; क्योंकि इसके और अंश सुरक्षित हैं और सामान्य सौन्दर्य की ओर आँखों के खिच जाने से विकृतियों पर ध्यान नहीं जाता। दीवार में सीमेंट से यह इस तरह जड़ दी गई है कि उड़ती दृष्टि से देखनेवाले को यह अभग्न-सी प्रतीत होती है।

यहाँ का सर्वसाधारण व्यक्ति इस मूर्त्ति की पूजा दुर्गा के रूप में करता है। किन्तु, इसे दुर्गामूर्त्ति समझना निर्मूल प्रतीत होता है। दुर्गा के सुप्रसिद्ध ध्यान—

> विद्युद्दामसमप्रभां मृगपतिस्कन्धस्थितां भीषणां
> कन्याभिः करवालखेटविलसद्धस्ताभिरासेविताम्।
> हस्तैश्चक्रगदासिखेटविशिखांश्चापं गुणं तर्जनीं
> बिभ्राणामनलात्मिकां शशिधरां दुर्गां त्रिनेत्रां भजे॥

का कोई भी लक्षण इसमें घटित नहीं होता। मृगपति कहीं नहीं दीखता। तब केवल आठ भुजाओं को देखकर इसे दुर्गा समझ बैठना साधारण जन के स्वभाव के अनुरूप ही है। दुर्गा की कल्पना बहुधा महिषासुरमर्दिनी के रूप में होती है। किन्तु, इसे महिषासुरमर्दिनी समझना और भी बेतुका लगता है। महिषासुरमर्दिनी की बहुत-सी प्राचीन मूर्त्तियाँ भारत के विभिन्न भागों में उपलब्ध हैं। उनमें किसी के साथ कहीं भी इसकी समता नहीं बैठती। इस मूर्त्ति में न तो कहीं सिंह है और न महिषासुर ही।

कुछ तथाकथित विद्वान् इसे वाराही की मूर्त्ति कहते हैं। अतः, इसपर कुछ शास्त्रीय विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। वाराही की कल्पना वराहावतार की शक्ति के रूप में की गई है, इसलिए यह एक हिन्दू-देवी है। पुराणों में भी यत्र-तत्र इसकी चर्चा मिलती है। इस विषय को अधिक स्पष्टता से समझने के लिए पहले वराहावतार की मूर्त्ति के वशिष्ट्य पर ध्यान देना उचित होगा।

वराहावतार की जितनी सुनिर्मित मूर्त्तियाँ मिली हैं, वे प्रायः सब-की-सब गुप्त-कालीन हैं। उन सबमें कलाकार की भावना भी एक-सी शास्त्रीय मिलती है। इसलिए, इसमें प्रतिमाविज्ञान-सम्बन्धी वैविध्य की अपेक्षा नहीं है। गुप्तकाल के न तो पहले वराहावतार की मूर्त्ति का उत्खनन हुआ है और न बाद में ही। उक्त काल में इस मूर्त्ति की लोकप्रियता का रहस्य केवल धार्मिक या सांस्कृतिक ही नहीं था, अपितु यह वराहावतार की मूर्त्ति विदेशी शकों के चंगुल से भारतभूमि को बचाने की घटना का स्मारक-स्वरूप एक राजनीतिक चिह्न भी था।

वराह (सूअर) स्वयं एक ऐसा वन्य पशु है, जो शक्ति, ओज, साहस, दृढता और अन्धकर्मठ गति का प्रतीक समझा जाता है। एक भारतीय कथानक के आधार पर भी इन गुणों का परिचय अवतार के रूप में उपलब्ध होता है। एक बार हिरण्याक्ष नाम का दानव पृथ्वी को रसातल में ले गया और तब विष्णु ने शूकर के रूप में दानव की हत्या कर इसका उद्धार किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल में भी विदेशी शकों की बाढ़ भारतभूमि को प्लावित कर रही थी और इस आंतक से उसने देश की रक्षा की और शत्रु का नाश किया, इसलिए इन दोनों घटनाओं में उपमानोपमेय भाव बहुत सही तरह से घटित होता है। कलाकारों ने अपनी छेनी के माध्यम से सुघड़ रीति से इसका निर्वाह किया। उदाहरणस्वरूप, मुद्राराक्षस का भरतवाक्य—

> वाराहीमात्मयोनेस्तनुमवनविधावास्थितस्यानुरूपां
> यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री।
> म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्त्तेः
> स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः॥

इस श्लोक में गूढ श्लेष है, जिसकी व्याख्या करने पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की शकविजय की घटना स्पष्टतया भासमान हो जाती है। इसमें प्रयुक्त मुख्य-मुख्य शब्दों के दो-दो अर्थ इस प्रकार हैं : चन्द्रगुप्त = (१) राजा चन्द्रगुप्त, (२) विष्णु (चन्द्रः स्वर्णं गुप्तरूपेण यस्मिन् असौ हिरण्यगर्भः विष्णुः); भूतधात्री = (१) भारतभूमि, (२) पृथ्वी; दन्तकोटि = (१) छोटे छुरे के समान एक अस्त्र, (२) वराह के दाँत; श्रीमान् = (१) आदर-वाचक शब्द, (२) श्री, अर्थात् लक्ष्मी से युक्त; राजमूर्त्ति = (१) राजा का पत्नी-रूप देश, (२) धरणी (वराहावतार में विष्णुपत्नी); आत्मयोनि = (१) अपनी योनि (लिंग), (२) अपने यानी परमात्मा के रूप में; म्लेच्छ = (१) विदेशी शक, (२) असुर (हिरण्याक्ष); बन्धुभृत्य = (१) अपने भाई का आज्ञाकारी, (२) दोनों भाई, अर्थात् जय-विजय जिस (विष्णु) के भृत्य हैं। अर्थात्, वह चन्द्रगुप्त, जो अपने आदरणीय भाई का आज्ञाकारी रहा है, जिसकी राजकीय भुजाओं में पहले शकों द्वारा दुःखभागिनी बनाई गई भारतलक्ष्मी (अथवा ध्रुवदेवी) अभी सम्यक् प्रकार से आश्रिता है, जिसने अपने (पुरुष) रूप में ही देश के कल्याणार्थ अनुरूप वाराही शक्ति का स्वरूप धारण कर डूबती हुई भारतभूमि को छुरे की नोंक से उबारा, वह चिरकाल तक देश का पालन करे।

विष्णुपक्ष में इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—वह विष्णु, जो पृथ्वी का स्वामी है, जिसके साथ लक्ष्मी और दो (जय-विजय) अनुचर हैं, स्वयं परमात्मा होते हुए भी त्राण के लिए जिसने अनुरूप शूकर (वाराही शक्ति) का रूप धारण किया, जिसके दाँतों पर मोह में डूबे हुए प्राणियों को सहारा मिलता है और अभी जिसकी परिपालक भुजाओं में पूर्व में हिरण्याक्ष द्वारा सताई गई पृथ्वी समाश्रिता है, वह चिरकाल तक लोक की रक्षा करे।

यद्यपि इस काल की वराह-मूर्ति के नमूने जहाँ-तहाँ उपलब्ध हैं, फिर भी उनमें सबसे प्रमुख स्थान उदयगिरि की मूर्ति का है। इस प्रकार की एक सुन्दर मूर्ति सुलतानगंज की अजगविनाथ पहाड़ी में भी है। इन दोनों मूर्त्तियों का यदि कला की दृष्टि से अध्ययन किया जाय, तो प्रकृत चर्चित विषय वाराही मूर्त्ति की विशेषता बहुत कुछ समझ में आ सकेगी। और, इससे हमें यह निश्चित करने में निश्चय की सहायता मिल पायगी कि हमारी विवेच्य मूर्त्ति वाराही कदापि नहीं है।

मार्कण्डेयपुराण के निम्नलिखित उद्धरण में वाराही का स्वरूप इस प्रकार है—

यज्ञवाराहमतुलं रूपं या बिभ्रती हरेः।
शक्तिः साप्याययौ तत्र वाराहीं बिभ्रती तनुम् ॥

अन्य देवियों की तरह यहाँ वाराही के किसी आयुध की चर्चा नहीं है। स्मरणीय है कि गुप्तकालीन वराह की मूर्त्तियों के हाथ में भी कोई आयुध नहीं दिखलाया गया है। उदयगिरि एवं सुलतानगंज की मूर्त्तियों में भी वराह का बायाँ हाथ बाईं जानु पर और दाहिना हाथ कटि पर दिखलाया गया है। किसी भी हाथ में कोई आयुध नहीं दीखता। मुख दोनों स्थानों का समान शूकराकार है। दोनों में प्रत्यालीढ आसन भी समान है। ऐसी स्थिति में जब हाथों में कोई आयुध न दिखलाया गया हो, तो मूर्त्ति को निरायुध न मानकर तुण्ड एवं दाढ़ों को ही आयुध समझना चाहिए। यथा—

वाराही तुण्डघातेन केचिच्चूर्णीकृता भुवि। (सप्तशती)
तुण्डप्रहारविध्वस्ता दंष्ट्राग्रक्षतवक्षसः। (वही)
श्यामां तामरसाननाङ्घ्रिनयनां सोमार्द्धचूडां जग—
त्त्राणव्यग्रहलायुधाग्रमुसलां सन्त्रासमुद्रावतीम्।
ये त्वां रक्तकपालिनीं हरवरारोहे वराहाननां
भावैः सन्दधते कथं क्षणमपि प्राणन्ति तेषां द्विषः ॥ (वाराहीनिग्रहाष्टक)

यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब कभी दो भुजाओं के साथ वराह-मूर्त्ति का निर्माण हुआ है, तब पृथ्वी के उद्धार के रहस्य को सम्मुख रखकर ही। इसलिए, पृथ्वी सदैव एक छरहरे वदन की कोमलांगिनी स्त्री के रूप में उसकी दाढ़ से लटकी हुई दिखलाई गई है। पृथ्वी के उद्धार के दृश्य को प्रमुखता देने के लिए ही कलाकार ने वराह के हाथों में कोई आयुध न रखना उचित समझा। भीमाकार मांसल शरीर, सुपुष्ट तने अंग, चौड़ी छाती, उत्तुंग तुण्ड और प्रत्यालीढ आसन ये सभी वराह की गुरुकार्यक्षमता एवं दुर्दान्त पराक्रम को द्योतित करते हैं, किन्तु स्वयं कार्यगत भार के वैपुल्य को अभिव्यंजित

सुलतानगंज की एक विलक्षण मूर्त्ति

करने के लिए कलाकार को बायाँ हाथ बायें घुटने पर और दाहिना हाथ दाहिनी ओर कमर पर प्रदर्शित करना पड़ा।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य यह है कि सभी प्रसंगों में वाराही के एक ही मुख की चर्चा आती है, जिसकी पुष्टि वराह की मूर्त्तियों से भी होती है। उदयगिरि एवं सुलतानगंज की वराह-मूर्त्ति को एक-एक मुख ही है और वह भी शूकराकार। ऊपर के परिप्रेक्ष्य में यदि हमारी विवेच्य मूर्त्ति की तुलना की जाय, तो यह समझने में संशय नहीं रह पायगा कि यह वाराही की मूर्त्ति कदापि नहीं हो सकती है। इस मूर्त्ति की न तो दो ही भुजाएँ हैं और न वह आसन और मुद्रा ही। इसकी आठों भुजाओं में विभिन्न आयुध हैं। तीन मुखों में से एक की शूकराकृति अवश्य है, किन्तु उसपर किसी भी रूप में धरणी के समावेश का सूचक कोई चिह्न नहीं है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में षड्भुजी वाराही की मूर्त्ति का वर्णन मिलता है। कहा गया है कि उसका रंग काला, मुख शूकर के समान और पेट का आकार बड़ा है। दाहिने हाथों में से एक वरद मुद्रा में है, दूसरे में दण्ड और तीसरे में तलवार है। बायें हाथों में से एक में खेट (ढाल), दूसरे में पाश और तीसरा अभयमुद्रा में है :

कृष्णवर्णा तु वाराही शूकरास्या महोदरी।
वरदा दण्डिनी खड्गं बिभ्रती दक्षिणे सदा।
खेटपाशाभया वामे सैव चाथ लसद्भुजा॥

यहाँ भी वाराही के एक ही मुख की चर्चा दीखती है; किन्तु प्रस्तुत मूर्त्ति के तीन मुख हैं, जिनमें केवल एक ही शूकराकार है। दूसरी बात यह कि वाराही 'महोदरी' कही गई है; किन्तु यह मूर्त्ति कृशोदरी है। पाश को छोड़कर किसी आयुध की भी समानता नहीं है। इस मूर्त्ति के सभी हाथों में अस्त्र-शस्त्र हैं, इसलिए अभयमुद्रा और वरद मुद्रा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। कहने का आशय यह कि उपर्युक्त लक्षण के भी इस मूर्त्ति पर घटित न होने के कारण इसे वाराही मूर्त्ति नहीं कह सकते।

प्रतिमा-विज्ञान के जिज्ञासुओं को यह ज्ञात होना चाहिए कि सनातन हिन्दुओं, बौद्धों और जैनों के बीच देव-देवियों का आदान-प्रदान भी हुआ है। इन्द्र, पार्वती, लक्ष्मी, सरस्वती आदि देव-देवियों को जैनों ने भी अपना लिया। यद्यपि मौलिक देव-देवियाँ वैदिक स्रोतों की हैं, फिर भी बाद की बहुत-सी देव-देवियों को हिन्दुओं ने भी बौद्धों से ग्रहण किया। महाचीना तारा, जाङ्गुली, वज्रयोगिनी आदि बौद्ध देवियाँ हैं; किन्तु हिन्दुओं ने क्रमशः तारा, मनसा एवं छिन्नमस्ता इन परिवर्त्तित नामों के साथ उन्हें अपने मत में ग्रहण कर लिया। पहले जैनों और बौद्धों ने हिन्दू देव-देवियों को अपनाया; लेकिन बाद में, खासकर तान्त्रिक युग में, हिन्दुओं ने विशेषतः बौद्ध देवियों को तो आत्मसात् ही कर लिया। देवियों के भी निर्माण की उन्हें यदा-कदा आवश्यकता पड़ती थी। इसलिए, उनके लक्षणग्रन्थों में हिन्दू देव-देवियों के भी प्रतिमानिर्माण-सम्बन्धी नियम उपलब्ध होते हैं। बौद्धों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'निष्पन्नयोगावली' के 'धर्मधातुवागीश्वरमण्डल' में ब्रह्मा, विष्णु आदि हिन्दू-देवताओं के निर्माण की विधि का उल्लेख मिलता है। यह हिन्दुओं के पौराणिक

और तान्त्रिक विधियों के करीब-करीब समान है। उक्त प्रकरण में वाराही की मूर्त्ति का भी वर्णन मिलता है। लिखा है—

वाराही कृष्णा पेचकारूढा चतुर्भुजा सव्यवामाभ्यां रोहितमत्स्यकपालधरा द्वाभ्यां कृताञ्जलिः।

अर्थात्, वाराही का रंग काला है। उसका वाहन उल्लू है और उसके चार हाथ हैं। एक दाहिने हाथ में रेहू मछली है, और बायें हाथ में कपाल। शेष दो हाथ अंजलिमुद्रा में हैं। यह वाराही के विशुद्ध तान्त्रिक रूप की कल्पना है। किन्तु, इस रूप का भी प्रस्तुत मूर्त्ति के साथ मिलान नहीं है। इसके हाथों में न तो मछली है और न कपाल ही। वाहन में उल्लू भी नहीं है। हाँ, वाराही-नामधारिणी बौद्धों की कुछ निजी देवियाँ हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण 'साधनमाला' के आधार पर हम नीचे प्रस्तुत करते हैं।

१. वज्रवाराही—इसका रंग दाडिम के फूल के समान है। कन्धे पर एक शूकराकार मुख है। दो भुजाओं में से दाहिनी में उठा हुआ वज्र और ऊर्ध्वमुख तर्जनी है। बायें में कपाल और खट्वांग है। मुख एक है, किन्तु आँखें तीन हैं। नंगी है, बाल बिखरे हैं और छह मुद्राओं से युक्त है। प्रत्यालीढ आसन में भैरव और कालरात्रि को रौंदती है। मुंडों की माला पहनी उनसे टपकते रुधिर का पान करती है।

२. वास्यवज्रवाराही—यह करीब-करीब वज्रवाराही के ही समान है। अन्तर केवल इतना है कि इसके दाहिने हाथ में वज्र के स्थान पर कर्त्तरी है। बायें हाथ में पहले के समान ही कपाल है और बायें कन्धे से खट्वांग लटकता है। वज्रवाराही का आसन प्रत्यालीढ है, किन्तु वास्यवज्रवाराही अर्द्धपर्यंकासन में शव पर खड़ी दिखलाई जाती है। नेपाल में इसके कतिपय प्राचीन चित्र मिले हैं, जिनके दाहिने कन्धे पर शूकराकार व्यादत्त-मुख रहता है। बड़ौदा-म्यूजियम में वास्यवज्रवाराही का एक सुन्दर नमूना संगृहीत है।

३. आर्यवज्रवाराही—बहुत अंशों में यह भी उपर्युक्त मूर्त्तियों के समान है। फिर भी, इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। इसके चार हाथ होते हैं। दोनों दाहिने हाथों में वज्र और अंकुश रहते और बायें में से एक में कपाल तथा दूसरे में तर्जनी-युक्त पाश रहता है। मुखमुद्रा अत्यन्त भयानक होती—एक भयावह मुख, तीन तरेरी आँखें, तनी हुई भौंहें, लपलपाती जीभ, निकले हुए दाँत और लटका हुआ बड़ा पेट। आलीढ आसन में शव पर खड़ी रहती है। बाईं ओर कन्धे से खट्वांग लटकता हुआ दिखलाया जाता है।

उपर्युक्त मूर्त्तियों के साथ भी सुलतानगंज की इस मूर्त्ति की समता नहीं बैठती। इसलिए, यह किसी वज्रवाराही की भी मूर्त्ति नहीं हो सकती। हमारे इस विवेचन से अब यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इस मूर्त्ति को किसी भी रूप में वाराही समझना नितान्त अज्ञता है। किन्तु, वज्रवाराही के विचार के प्रसंग में ही इस मूर्त्ति के वास्तविक रूप पर प्रकाश पड़ जाता है। प्रतिमा-विज्ञान के कुछ ज्ञाताओं का मत है कि वज्र-वाराही और मारीची दोनों एक ही देवी के दो नाम-मात्र हैं। विचार करने पर यह मत असमीचीन प्रतीत होता है। वज्रवाराही सदा युगनद्ध (यब्, युम्) रूप से हेरुक के साथ दिखलाई जाती है, किन्तु मारीची एकाकिनी ही। हेरुक के समान वज्रवाराही के पैरों के

तले शव दिखलाया जाता है; परन्तु मारीची की कल्पना इस रूप में कहीं नहीं मिलती है। ध्यान के अनुसार वज्रवाराही की चार भुजाएँ होती हैं या हो सकती हैं; लेकिन मारीची की भुजाओं की संख्या दो, आठ, दस या बारह ही हो सकती है। वज्रवाराही अर्द्ध पर्यंकासन में शव पर नाचती दिखलाई जाती है; किन्तु मारीची प्रायः सदा आलीढासन में रथ पर खड़ी दिखलाई जाती है। वज्रवाराही को डाकिनी, अर्थात् सिद्धस्त्री कहा गया है, किन्तु मारीची एक तान्त्रिक देवी है। इतनी भिन्नताओं के रहते हुए भी दोनों के केवल वैरोचन-कुलोद्भव होने से और कभी-कभी दो हाथ और दो पैरों को देखकर एक समझ बैठना भ्रम ही होगा।

सुलतानगंज की यह मूर्त्ति वज्रवाराही की भी नहीं, बल्कि मारीची की है, जिसके सभी लक्षण इसमें घटित होते हैं। 'निष्पन्नयोगावली' के मारीची-मंडल की प्रधान देवी मारीची है। लेकिन, इसमें वर्णित मारीची के तीन मुख और छह भुजाएँ हैं। स्पष्ट है कि यह लक्षण इस मूर्त्ति पर नहीं बैठता। एक दूसरे तान्त्रिक बौद्धग्रन्थ 'साधनमाला' में मारीची के कुछ भिन्न रूपों का वर्णन मिलता है। इसके अनुसार एकमुखी, त्रिमुखी, पञ्च-मुखी और षण्मुखी मारीची की क्रमशः दो, आठ, दस और बारह भजाएँ होती हैं। साधारणतया इसके साथ चार सहचरी मूर्त्तियाँ वर्त्ताली, वदाली, वराली और वराहमुखी की रहती हैं। इसका प्रधान परिचय है एक शूकराकार मुख और पैरों के नीचे सात शूकरों का रथ। इसकी सभी मूर्त्तियों के हाथ में सूई-धागा रहता है, जिससे यह दुर्जनों के मुख को सीती है, ऐसा बौद्ध तान्त्रिकों का विश्वास है। यों तो, तिब्बत और चीन में भी अष्टभुज मारीची की मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं; किन्तु इसकी अधिकतर मूर्त्तियाँ भारत में ही मिली हैं। सुलतानगंज की यह मूर्त्ति भी उन्हीं में से एक है। साधनमाला के अनुसार यह मारीचीपिचुवा, अष्टभुजपीतमारीची या संक्षिप्तमारीची कहलाती है। साधना में उपर्युक्त चार सहदेवियों की चर्चा नहीं मिलती। आयुध के विन्यास के सम्बन्ध में कहा गया है कि पहले दो हाथों में सूई-धागा, दूसरे दो हाथों में अंकुश-पाश, तीसरे दो हाथों में बाण-धनुष और चौथे दो हाथों में वज्र-अशोकपुष्प रहते हैं। तीनों मुख विभिन्न रसों को साथ-साथ अभिव्यंजित करते हैं। अष्टभुज मारीची का ध्यान इस प्रकार है—

श्रृङ्गारवीरसद्धर्षैर्जाम्बूनदसमप्रभम् ।
मध्येन्द्रनीलवर्णास्यं भयबीभत्सरौद्रकैः ॥
करुणाद्भुतशान्तैश्च स्फटिकेन्द्वितराननां ।
त्रिविमोक्षमुखैस्त्र्यक्षां धर्मसम्भोगनिर्मितां ॥
पीताभरणसद्वस्त्रां मयूखसुखवासिनीं ।
सूच्याऽऽस्यानि सीवन्ती बध्नन्तीं मुखचक्षुषी ॥
हृद्गलेऽङ्कुशपाशाभ्यां विध्यन्तीं बाणकार्मुकैः ।
वज्रेण दुष्टहृद्भिरवाशोकेनासेचनापरां ।
......मारीचीं भावयेद्व्रती ॥

अर्थात्, उपासक निज की भावना मारीचीपिचुवा के रूप में करे, जिसके एक मुख में शृंगार, वीर और हर्ष के भाव हैं और जो सोने के रंग का है। बीच का मुख जो नीलम के वर्ण के समान है, भय, बीभत्स और रौद्रभाव ग्रहण किये हुए है। तीसरा मुख जो स्फटिक के समान है, करुणा, अद्भुत और शान्त भाव धारण किये हुए है। तीन मुखों में प्रत्येक में तीन-तीन आँखें हैं, जो तीन दोषों से मुक्ति दिलाती हैं ......। वह सुन्दर पीत वस्त्र और आभूषण धारण करती है तथा किरणों के बीच सुख से निवास करती है। वह सूई से दुर्जनों की आँख और मुख को सीकर धागे से बाँधती है। वह उनके हृदय पर अंकुश से प्रहार करती और गरदन में पाश डालकर खींचती है। धनुष-बाण के द्वारा बेधकर वज्र से वह उनके हृदय को टुकड़े-टुकड़े करती और अशोक के जल से उसे सिक्त करती है।

चार सहचरी मूर्त्तियों का विवरण इस प्रकार मिलता है—

१. **वर्त्ताली**—इसका रंग लाल और मुख शूकराकार है। वस्त्र का भी रंग लाल होता है। विभिन्न भूषणों से सज्जित रहती है। चार हाथों में से बायें हाथों में पाश-अशोक और दाहिने हाथों में वज्रांकुश-सूई रहती है।

२. **वदाली**—यह कई अंशों में वर्त्ताली के ही समान है। किन्तु, रंग में अन्तर होता है। इसका रंग पीला होता है। बायें हाथों में पाश-वज्र और दाहिने हाथों में अशोक-सूई रहती है।

३. **वराली**—यह वदाली के समान होती है। केवल दाहिने हाथों में वज्र-सूई और बायें में पाश-अशोक है।

४. **वराहमुखी**—इसके वस्त्राभूषण वदाली-वराली के ही समान है। केवल रंग में अन्तर है। यह लाली लिये भूरा है। दाहिने हाथों में वज्र-बाण और बायें में अशोक-धनुष है।

उपर्युक्त लक्षणों के सहारे इस मूर्त्ति का अध्ययन इसे संक्षिप्तमारीची सिद्ध करता है। 'साधनमाला' के लक्षण के अनुसार इसके हाथों के आयुध इस प्रकार होने चाहिए : पहले जोड़ के दाहिने हाथ में सूई और बायें हाथ में धागा, दूसरे जोड़े के दाहिने हाथ में अंकुश और बायें हाथ में पाश, तीसरे जोड़े के दाहिने हाथ में बाण और बायें हाथ में धनुष और चौथे जोड़े के दहिने हाथ में वज्र और बायें हाथ में अशोकपुष्प। यदि इस मूर्त्ति के हाथों के आयुधों को ऊपर से नीचे देखा जाय, तो यही क्रम प्रतीत होता है; किन्तु थोड़ी सूक्ष्मता से देखने पर कुछ अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इण्डियन म्यूजियम (कलकत्ता) की एक मूर्त्ति के समान इसके भी सभी हाथों के अलंकरण एक समान होते, तो लक्षण से कोई भेद नहीं पड़ता। परन्तु, कलाकार ने इस मूर्त्ति के चार जोड़े हाथों में चार प्रकार के कंगनों का प्रयोग किया है। इससे विविधताजन्य कला की खूबी तो जरूर निखरी है और तनिक ध्यान देने से यह मालूम हो जाता है कि कौन दो हाथ किस जोड़े के हैं; किन्तु प्रायः अनवधानता या तन्त्रशास्त्रीय नियमों से पूर्णतया अवगत न रहने के कारण कलाकार से एक त्रुटि हो गई है और उसने निम्नलिखित क्रम से हाथों में आयुधों का समावेस कर डाला है : पहले जोड़े के दाहिने हाथ में सूई और बायें हाथ में

धागा, दूसरे जोड़े के दाहिने हाथ में अंकुश और बायें हाथ में अशोकपुष्प, तीसरे जोड़े के दाहिने हाथ में बाण और बायें हाथ में धनुष और चौथे जोड़े के दाहिने हाथ में वज्र और बायें हाथ में वज्र-पाश।

चार सहचरी देवियों के सम्बन्ध में जो अन्तर इस मूर्त्ति में पाया जाता है, वह मारीची की कई अन्य मूर्त्तियों में भी लक्षित होता है। मारीची-मूर्त्ति के इस पक्ष पर कलाकारों ने बहुधा स्वतन्त्रता से काम लिया है। कभी तो चार मूर्त्तियाँ दिखलाई जाती हैं और कभी उनसे अधिक। कभी उनके चार हाथ होते, तो कभी केवल दो ही। उसी प्रकार, उनके आयुध भी तान्त्रिक लक्षणों के ही अनुसार नहीं होते। इण्डियन म्यूजियम में संरक्षित एक मारीची-मूर्त्ति की सहदेवियों के चार-चार हाथ हैं, लेकिन लखनऊ-म्यूजियम-वाली मूर्त्ति की सहदेवियों के दो ही हाथ दीखते हैं। दोनों स्थानों में उनकी संख्या चार है। इण्डियन म्यूजियम की एक दूसरी मूर्त्ति में दो ही सहदेवियाँ है और उनके हाथों की भी संख्या दो ही है। किन्तु, यहाँ की मूर्त्ति में तीन सहदेवियाँ दाहिने भाग में और दो बायें भाग में दीख पड़ती हैं। बायें भाग का ऊपरी अंश खण्डित है, जहाँ एक सहदेवी की मूर्त्ति अवश्य रही होगी। इस तरह दोनों भागों को मिलाकर छह सहदेवियाँ हैं। इनके अतिरिक्त शूकराकार मुखवाली एक मूर्त्ति मारीची के दोनों पैरों के बीच में है, जिसके एक हाथ में वज्र और दूसरे में बाण जैसा कोई आयुध है। आकार में यह अन्य सहमूर्त्तियों से बड़ी है। इण्डियन म्यूजियम की एक मारीची-मूर्त्ति की टाँगों के बीच में भी एक मूर्त्ति है, किन्तु वह इससे भिन्न बुद्धमूर्त्ति जैसी है।

अन्य मारीची-मूर्त्ति के समान सुलतानगंज की मूर्त्ति के भी चरणों के नीचे सात शूकरों का रथ दिखलाया गया है। तीन शूकर दक्षिण भाग में और चार शूकर वाम भाग में हैं। हिन्दू-देवता सूर्य का रथ कुछ इसी प्रकार से मूर्त्ति में उत्कीर्ण होता है, किन्तु उसमें सात घोड़े जुते रहते हैं और सारथी के रूप में अरुण रहता है, जिसके पैर नहीं होते। इसके कई अच्छे नमूने स्थानीय अजगविनाथ और मुरली-पहाड़ियों में उपलब्ध हैं। मारीची के भी सारथी के पैर नहीं होते, पर वह एक देवी होती है। कहीं-कहीं सारथी के स्थान पर विना धड़ का राहु भी मिला है। कभी-कभी दोनों का ही एकत्र समावेश किया जाता है। इस मूर्त्ति में केवल देवी की ही मूर्त्ति मालूम पड़ती है। सूअरों की ही पंक्ति में सबसे वाम भाग में एक मूर्त्ति घुटने टेके हाथ जोड़े दिखलाई गई है। यह उपासक की मूर्त्ति है। बहुत-सी बौद्धमूर्त्तियों में उनके मुकुट या उष्णीष पर कुलेश ध्यानी बुद्ध की लघुमूर्त्ति रहती है। नियम के अनुसार इस मूर्त्ति के मुकुट पर वैरोचन की मूर्त्ति रहती है, जो नहीं है। यह अभाव कई अन्य मूर्त्तियों में भी पाया जाता है।

सुलतानगंज की यह संक्षिप्त मारीची की मूर्त्ति चमकीले काले पत्थर की बनी है। इसकी ऊँचाई दो फुट दस इंच है। काला पत्थर पालयुग में प्रतिमा-निर्माण का सर्वाधिक प्रचलित माध्यम था। अन्यान्य दृष्टिकोणों से भी विचार करने पर यह उत्तरकालीन पालों के समय की सिद्ध होती है। इस तरह, इसका निर्माण-समय दसवीं शती अधिक उपयुक्त जँचता है। यदि कहीं पर इसके साथ कोई अभिलेख मिल पाता, तो हम इसका

काल-निर्धारण और अधिक सुनिश्चिततापूर्वक कर सकते। कला के दृष्टिकोण से इसका सौष्ठव निराला है। कलाकार ने लोहे की कलम से पत्थर के कागज पर जिन कोमल और कठोर भावों को एक साथ व्यक्त किया है, वे दर्शनीय हैं। अंगों के समानुपात और विभिन्न अंशों के सन्तुलित प्रदर्शन में कहीं भी कोई कमी दृष्टिगोचर नहीं होती। तीनों मुखों में तीन रसों के मिश्रण को जिस खूबी से निबाहा गया है, वह साधनमाला के लक्षणों से बिलकुल मिलता है। प्रथम मुख में शृंगार, वीर और हर्ष का सम्मिश्रण, मध्यमुख में भय, बीभत्स और रौद्र का मिला-जुला भाव तथा तृतीय में करुण, अद्भुत और शान्त रसों का एकत्र संयोग मुख के विभिन्न भागों के सूक्ष्म आकुंचन और प्रसारण से जिस प्रकार निखारे गये हैं, वे निश्चित ही मूर्त्तिकला की पारदर्शिता को सूचित करते हैं। एक तरफ आलीढासन, सिर तक उठा हुआ वज्र, मध्यमुख की तनी भौंहें वीर एवं कठोर भाव व्यक्त करती हैं, तो दूसरी ओर कृशोदरी, उत्फुल्लयौवना और भूषणभूषिता तन्वंगी देवी के शरीर से कोमल भाव टपकता है। भावों के निखार में गुप्त-कलाकार के समान ही इस कलाकार ने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। अन्तर यह कि गुप्तकला के समान इसमें केवल आभ्यन्तर के तत्त्वों पर ही विशेष ध्यान नहीं दिया गया है, बल्कि बाह्य आवरण की सजावट को भी प्रमुख स्थान दिया गया है। गुप्तशैली की विशेषता अन्तरंग वस्तुओं के अभिव्यंजन में है, तो गान्धार-शैली का वैशिष्ट्य बहिरंग वस्तुओं के प्रदर्शन में। इस पाल-शैली में दोनों का मधुर मिश्रण दीखता है। प्राय: अधिक बारीकी के खयाल से ही पाल-कलाकारों ने खुरदरे ग्रैनाइट को छोड़कर चिकने चमकते काले पत्थर को माध्यम बनाया।

गुप्तशैली की मूर्त्तियों में वस्त्र की सदा अल्पता रहती है। किन्तु, इस मूर्त्ति में आधी बाँह तक की चोली पर फूल काढ़े दीखते हैं और एँड़ी से कुछ ही ऊपर तक लटके महीन अधो-वस्त्र पर बेलबूटे के काम दिखलाये गये हैं। कानों में मनोहर ताटंक, गले में आकर्षक हार, कटि में अत्यन्त सुन्दर मोटी बल खाती मेखला और कन्धे से जाँघ तक लटकता हुआ पुष्प-माल्य—ये सब देखते ही बनते हैं। पैरों में नूपुर और सभी हाथों में विभिन्न प्रकार के कंगन काफी खूबी से सजाये गये हैं। बाँहों पर कलात्मक केयूर भी नहीं भूला गया है। सिर पर कलँगीदार कुंडलीकृत सज्जित उष्णीष अपने पिरामिडी आकार से सफलतापूर्वक उत्तुंग भाव का निदर्शन करता है। आलीढासन के नीचे वज्र ताने और घुटने अड़ाये वराहमुखी प्रतिमा मारीची की दृढता और आकाशमार्ग में चतुर्दिक् उड़ती हुई सहचरी देवियों की प्रतिमाएँ उसके उद्दाम गतिशील पराक्रम के पोषक हैं। 'मयूखसुखवासिनी' का संकेत दायें-बायें लपट के चिह्न से द्योतित किया गया है।

मुरारका-कॉलेज
सुलतानगंज (भागलपुर)

हेमचन्द्रीय व्याकरण की अपभ्रंश किसकी पुत्री है ?

डॉ० श्रीग्रम्बाप्रसाद 'सुमन', एम्० ए०, डी० लिट्०

प्राचीन भारतीय ग्रार्यभाषा-काल के साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालें, तो विदित होगा कि उस काल में क्रमशः दो प्रकार का भाषा-साहित्य मिलता है—एक वैदिक संस्कृत-साहित्य ग्रौर दूसरा लौकिक संस्कृत-साहित्य। वैदिक साहित्य में शब्द-प्रयोग परिनिष्ठित नहीं मिलते। प्राकृत, ग्रर्थात् सामान्य जनों की भाषा के प्रयोग वैदिक साहित्य में पर्याप्त संख्या में मिलते हैं।[1] वैदिक साहित्य की सर्जना उस समय प्रचलित प्राकृत-भाषा, ग्रर्थात् जनभाषा के ग्राधार पर ही हुई होगी। उसी का परिष्कार, ग्रर्थात् संस्कार करके संस्कृत (लौकिक संस्कृत) में साहित्य-सर्जना का कार्य हुग्रा होगा। 'संस्कृत' शब्द का ग्रर्थ भी हमें ऐसा ही संकेत देता है। तात्पर्य यह है कि पहले कोई भाषा ग्रवश्य थी, जिसका कि संस्कार किया गया। 'प्राकृत' शब्द का ग्रर्थ एक यह भी है कि प्रकृति से सम्बन्ध रखनेवाली भाषा (प्रकृति + ग्रण् = प्राकृत, ग्रर्थात् स्वभावसिद्ध)। जनभाषाएँ तो स्वभावसिद्ध होती ही हैं। ग्रतः, व्यापक ग्रर्थ में प्राकृत-भाषा से तात्पर्य जनभाषा से है। इस ग्रर्थ में वैदिक भाषा से पूर्ववर्त्ती भाषा भी प्राकृत-भाषा थी। उसी से वैदिक भाषा का विकास हुग्रा था ग्रौर उसी का संस्कार करके संस्कृत-भाषा को परिष्कृत रूप प्रदान किया गया था। किन्तु, भारत के वैयाकरणों ने 'प्राकृत' से कुछ विशिष्ट भाषाग्रों का ग्रर्थ भी ग्रभिव्यक्त किया है। वररुचि ने शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी ग्रौर पैशाची नाम की प्राकृत-भाषाग्रों का निर्देश किया है ग्रौर ग्रपने व्याकरण 'प्राकृतप्रकाश' में संस्कृत से उनके ध्वनि-परिवर्त्तन का उल्लेख करते हुए उनकी प्रकृति पर प्रकाश डाला है।

मार्कण्डेय के ग्रनुसार ग्रपभ्रंश के तीन रूप थे—१. नागर, २. उपनागर ग्रौर ३. व्राचड़।

दूसरे शब्दों में हम यों भी कह सकते हैं कि वैदिक काल से पहले की ग्रादि प्राकृत देश-काल के प्रभाव से कालान्तर में पालि, प्राकृत, ग्रपभ्रंश ग्रौर ग्रवहट्ट नाम से विख्यात हुई। डॉ० सुकुमार सेन-कृत 'कम्परेटिव ग्रामर ग्रॉव मिडिल इण्डो ग्रार्यन'[2] के ग्राधार पर यह कहा जा सकता है कि ईसा के ३५० वर्ष से ६५० ई० तक ग्रपभ्रंश में रचनाएँ हुईं, फिर ६५० से १००० ई० तक ग्रवहट्ट का रचनाकाल है। कुछ भाषाशास्त्रियों ने ईसा-पूर्व ५०० से १००० ई० तक प्राकृत (साहित्यिक प्राकृत) भाषाग्रों का काल माना है ग्रौर उसे तीन उपकालों में विभक्त कर लिया है। प्रथम प्राकृत का नाम पालि, द्वितीय

१. **'दूलभ'** (ऋक्० ४।६।८); **ग्रपगल्भ** (तैत्तिरीयसंहिता, २।३।१४); **कुठ** (ऋक्० १।४६।४), **ग्रलाबुकम्** (ग्र० का० २०। ग्रनु० ६। सू० १३२)।

२. प्र० लिंग्विस्टिक सोसायटी ग्रॉव इण्डिया, कलकत्ता, सन् १९५१ ई०।

प्राकृत का नाम प्राकृत और तृतीय प्राकृत का नाम अपभ्रंश दिया गया है। शौरसेनी प्राकृत और महाराष्ट्री प्राकृत नाम की भाषाएँ द्वितीय प्राकृत के अन्तर्गत ही आती हैं।

कोई भी साहित्य-रूपधारिणी भाषा एक साथ आकाश से नहीं उतरा करती। उसका किसी-न-किसी जनबोली, अर्थात् प्राकृत-भाषा[1] से विकास हुआ करता है। शौरसेनी प्राकृत की जनपदीय अवस्था ही विकसित होकर साहित्यिक रूप प्राप्त कर सकी होगी। वही फिर विकसित एवं परिनिष्ठित होकर बृहत् राष्ट्र, अर्थात् महाराष्ट्र की स्वीकृत एवं साहित्यिक भाषा बनी होगी और फिर महाराष्ट्री कहलाई होगी। जिस प्रकार मेरठ, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर आदि की जनबोली विकसित एवं परिनिष्ठित होकर आज सम्पूर्ण राष्ट्र (भारत) की भाषा बन गई है, वही स्थिति कभी महाराष्ट्री प्राकृत की रही होगी। हॉर्नले के मतानुसार 'महाराष्ट्री' से तात्पर्य महान् राष्ट्र की भाषा से है। यही युक्तिसंगत भी मालूम पड़ता है। हेमचन्द्रीय व्याकरण की अपभ्रंश किस प्राकृत की परम्परा में आती है, यही मुख्य प्रश्न है। महाराष्ट्री प्राकृत विद्वानों द्वारा उत्कृष्ट भी बताई गई थी—**महाराष्ट्रीसमां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।** महाराष्ट्री का पद्य-साहित्य पर्याप्त सम्पन्न भी है। किसी भाषा-साहित्य की सम्पन्नता सर्जक साहित्यकारों को अपनी ओर आकृष्ट तो किया ही करती है।

हमारे उक्त कथन की वास्तविकता का पता तभी लग सकता है, जब हम हेमचन्द्रीय व्याकरण की अपभ्रंश की तुलना प्राकृत-भाषाओं से करें और उनमें साम्य तथा वैषम्य देखें।

वररुचि ने 'प्राकृतप्रकाश' के बारहवें परिच्छेद में शौरसेनी प्राकृत की प्रकृति का निदर्शन किया है और उसके बत्तीसवें सूत्र में लिखा है—**शेषं महाराष्ट्रीवत्** (प्राकृत-प्रकाश, १२।३२)। इससे प्रकट है कि निर्दिष्ट विशेषताओं के अतिरिक्त शौरसेनी प्राकृत का स्वरूप महाराष्ट्री जैसा ही है। शौरसेनी प्राकृत की ध्वनियों के सम्बन्ध में उसने कुछ सूत्र भी दिये हैं। वररुचि का कहना है कि यदि संस्कृत-भाषा के किसी शब्द के अनादि में तथा असंयुक्त अवस्था में 'त्' और 'थ्' हों, तो वे क्रमशः 'द्' और 'ध्' में बदलते हैं, अर्थात् संस्कृत की 'त्' ध्वनि शौरसेनी में 'द्' हो जाती है। इसी प्रकार, संस्कृत की 'थ्' ध्वनि शौरसेनी में 'ध्' हो जाती है—**अनादावयुजोस्तथयोर्दधौ** (प्राकृतप्रकाश, १२।३)।

१. 'त्' का 'द्' में परिवर्त्तन—

संस्कृत		**शौरसेनी-प्राकृत**
कथयतु, कर्त्तुम्	—	कधिदु, कादुम्

२. 'थ्' का 'ध्' में परिवर्त्तन—

संस्कृत		**शौरसेनी-प्राकृत**
कथयतु	—	कधिदु

३. 'क्ष्' का 'क्ख्' में परिवर्त्तन—

सं० कुक्षि	शौर० कुक्खि

१. 'सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्।'
—(नमिसाधु, काव्यालंकार की टीका, २।१२)।

४. 'स्' ज्यों का त्यों रहता है : सं० उत्सव—शौर० ऊसव।[1]

अब महाराष्ट्री प्राकृत के ध्वनि-परिवर्त्तन पर भी विचार करना चाहिए। संस्कृत का अनादि 'त्' महाराष्ट्री में 'ड्' हो जाता है : सं० प्राभृत—महा० पाहुड। सं० पतन्ति—महा० पडन्ति।

सं० 'क्ष्' का 'च्छ्' में परिवर्त्तन होता है : सं० कुक्षि—महा० कुच्छि।

सं० 'स्' का 'ह्' में परिवर्त्तन होता है : सं० तस्य—महा० ताह।

सं० की महाप्राण ध्वनियाँ 'ह्' में परिवर्त्तित हो जाती हैं : सं० कथम्—महा० कहम्। सं० प्राभृत—महा० पाहुड। सं० नखेण—महा० नहेण।

सं० की व्यंजन-ध्वनियों का स्वरीभवन देखा जाता है : सं० प्राकृत—महा० पाउअ। सं० धरति—महा० धरइ।

शौरसेनी में संस्कृत 'त्' का 'द्' और 'थ्' का 'ध्' हो जाता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। ऐसे उदाहरण हेमचन्द्रीय अपभ्रंश-व्याकरण में दो-चार ही मिलते हैं। जैसे—सं० पश्यति हेम० व्या० पस्सदि (हेम० ८।४।३९३); सं० कथितं—हेम० व्या० कधिदु (हेम० ८।४।३९६।३); सं० करोति—हेम० व्या० करदि (हेम० ८।४।३६०।१); सं० शपथं—हेम० व्या० सबधु (हेम० ८।४।३९६।२)।

दो-एक उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं, जिसमें 'क्ष्' का परिवर्त्तन 'क्ख्' में हुआ है : सं० शिक्षते—सिक्खेइ (हेम० व्या० ८।४।३४४।१)। सं० तीक्ष्णयति—तिक्खेइ (हेम० व्या० ८।४।३४४।१)।

हेमचन्द्रीय व्याकरण में अपभ्रंश के महाराष्ट्री-परम्परावाले उदाहरण :

१. अनादि 'त्' का 'द्'—

संस्कृत		हेमचन्द्र-कृत अपभ्रंश-व्याकरण	
सं० पतित्वा	—	पडिअ	(हेम० व्या० ८।४।३३७।१)
सं० पतन्ति	—	पडहिँ	(,, ,, ८।४।३८८।१)
सं० कियत्	—	केवड्डु	(,, ,, ८।४।४०८)
सं० इयत्	—	एवड्डु	(,, ,, ८।४।४०८)

२. 'क्ष्' का 'च्छ्'—

सं० वृक्ष	—	वच्छ	(हेम० व्या० ८।४।३३६)
सं० वृक्षात्	—	वच्छहु	(,, ,, ८।४।३३६।१)
सं० प्रेक्षस्व	—	पेच्छ	(,, ,, ८।४।३६३।१)
सं० विक्षोभ	—	विच्छोह	(,, ,, ८।४।३९६।१)

३. 'स्' का 'ह्'—

सं० अस्माकं	—	अम्हारा	(हेम० व्या० ८।४।३४५।१)

१. प्राकृत-भाषाओं के कुछ उदाहरण डॉ० सुकुमार सेन-कृत 'कम्पेरेटिव ग्रामर ऑव मिडिल इण्डो-आर्यन' से लिये गये हैं।

सं० तस्याः — तहेँ (हेम० व्या० ८।४।३५०।१)
सं० कस्माद् — किहेँ (,, ,, ८।४।३५६।१)
सं० गर्जसि — गज्जहि (,, ,, ८।४।३६७।४)
सं० एषा — एह (,, ,, ८।४।३३०।४)
सं० दुर्लभस्य — दुल्लहहो (,, ,, ८।४।३३८।१)
सं० तस्मिन् — तहिँ (,, ,, ८।४।३५७।१)
सं० लभसे — लहहि (,, ,, ८।४।३८३।२)

४. महाप्राण व्यंजनों का 'ह्'—

सं० षण्मुखं — छंमुहु (हेम० व्या० ८।४।३३१)
सं० रथवरे — रहवरि (,, ,, ८।४।३३१)
सं० अधरः — अहरु (,, ,, ८।४।३३२।२)
सं० माधवः — माहउ (,, ,, ८।४।३५७।२)
सं० मेघ — मेह (,, ,, ८।४।३६७।४)
सं० दुर्लभ — दुल्लह (,, ,, ८।४।३३८।१)
सं० भवति — होइ (,, ,, ८।४।३६७।१)
सं० जानथ — जाणह (,, ,, ८।४।३६९।१)
सं० भूतः — हूआ (,, ,, ८।४।३८४।१)
सं० अथवा — अहवा (,, ,, ८।४।४१९)
सं० दीर्घ — दीहर (,, ,, ८।४।४४४)

५. स्वरीभवन—

सं० निशिताः — निसिआ (हेम० व्या० ८।४।३३०।४)
सं० मिलति — मिलइ (,, ,, ८।४।३३२।१)
सं० सुजनः — सुअणु (,, ,, ८।४।३३६।१)
सं० करोति — करेइ (,, ,, ८।४।३३७।१)
सं० गोपयति — गोवई (,, ,, ८।४।३३८।१)
सं० वातेन — वाएं (,, ,, ८।४।३४३।१)
सं० पथिकाः — पहिअ (,, ,, ८।४।३७६।२)
सं० प्रविष्ट्य — पइट्ठि (,, ,, ८।४।३३०।३)
सं० मिलितं — मिलिउ (,, ,, ८।४।३३२।२)
सं० दयितेन — दइएँ (,, ,, ८।४।३३३।१)
सं० अलिकुलानि— अलिउलइँ (,, ,, ८।४।३५३।१)
सं० प्रसृतकं — पसरिअउँ (,, ,, ८।४।३५४।१)
सं० आयाति — आवइ (,, ,, ८।४।३६७।१)
सं० कर्णिकारः — कणिआरु (,, ,, ८।४।३९६।५)
सं० सम्पद् — संपइ (,, ,, ८।४।४००)

उपर्युक्त ध्वनि-परिवर्त्तन को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हेमचन्द्रीय व्याकरण की अपभ्रंश में महाराष्ट्री प्राकृत से साम्य स्थापित करनेवाले तत्त्व पर्याप्त हैं। शौरसेनी प्राकृत से साम्य रखनेवाले तत्त्व तो कुछ बूँदों के ही रूप में पाये जाते हैं।

यदि हम शौरसेनी प्राकृत के पदान्तों, अर्थात् क्रियारूप प्रत्ययों को दृष्टिपथ में रखकर हेमचन्द्रीय व्याकरण की अपभ्रंश का मिलान करें, तो उससे साम्य न पाकर वैषम्य ही पाते हैं। प्राकृतप्रकाश के बारहवें परिच्छेद में वररुचि कहता है कि संस्कृत का 'क्त्वा' प्रत्यय शौरसेनी प्राकृत में 'इअ' के रूप में आता है, अर्थात् 'क्त्वा' को 'इअ' आदेश होता है। उदाहरण देते हुए कहा जा सकता है कि सं० 'कृत्वा' के स्थान पर शौरसेनी प्राकृत में 'करिअ' रूप आना चाहिए। किन्तु, हेमचन्द्रीय व्याकरण की अपभ्रंश में 'क्त्वा' के स्थान पर निम्नांकित प्रत्यय मिलते हैं—

संस्कृत	अपभ्रंश		प्रकृति-प्रत्यय
कृत्वा = (√कृ + क्त्वा)	; करेप्पिणु	=	धातु + —एप्पिणु (हेम० व्या० ८।४।३९६)
मुक्त्वा	; मेलेप्पिणु	=	धातु + —एप्पिणु (,, ,, ८।४।३४१)
लागयित्वा	; लाइवि	=	धातु + —इवि (,, ,, ८।४।३७६)
कृत्वा	; करि	=	धातु + —इ (,, ,, ८।४।३५७)
कृत्वा	; करेवि	=	धातु + —एवि (,, ,, ८।४।३४०)
लगित्वा	; लग्गिवि	=	धातु + —इवि (,, ,, ८।४।३३९)

हेमचन्द्रीय अपभ्रंश में 'इअ' वास्तव में भूतकालिक कृदन्त 'क्त' के स्थान पर मिलता है—

सं० मृत —अप० मुइअ (हेम० व्या० ८।४।३६७)
सं० मारित—अप० मारिअ (,, ,, ८।४।३८९)

स्पष्ट है कि हेमचन्द्रीय अपभ्रंश शौरसेनी के मार्ग पर चली तो नहीं है, परन्तु उस मार्ग को जब-तब झाँक अवश्य लेती है।

यहाँ हमें थोड़ा-सा यह भी देखना चाहिए कि मागधी, अर्द्धमागधी और पैशाची प्राकृतों के तत्त्वों का कुछ समावेश हेमचन्द्रीय अपभ्रंश में पाया जाता है अथवा नहीं। इसके लिए उक्त प्राकृतों की कुछ विशेषताओं की जानकारी करना आवश्यक है।

मागधी की विशेषताएँ :

संस्कृत-नाटकों में मागधी का प्रयोग निम्नकोटि के पात्र करते हैं। यह कुछ-कुछ शौरसेनी प्राकृत से मिलती है। इसमें ध्वनि-परिवर्त्तन इस प्रकार मिलता है—

१. 'र्' के स्थान पर 'ल्' होता है—
   सं० राजा > माग० प्रा० लाजा।
   सं० रुधिरप्रिय > माग० प्रा० लुहिलप्पिअ।
२. 'ष्'-'स्' के स्थान पर 'श्'—
   सं० शुष्क > माग० शुश्क।

सं० सः > माग० शे ।

३. 'सु' अर्थात् (:) विभक्ति-प्रत्यय के स्थान पर 'ए'—

सं० सः > माग० शे ।

४. 'न्य', 'ञ्ज' के स्थान पर 'न्न'—

सं० कन्यका > माग० कन्नका ।

सं० अञ्जलि > माग० अन्नलि ।

५. 'क्ष्' के स्थान पर 'श्क'—

सं० पक्ष > माग० पश्क ।

सं० प्रेक्षते > माग० पेश्कदि ।

६. 'इष्यति' के स्थान पर 'इश्शदि'—

सं० भविष्यति > माग० भविश्शदि ।

चूँकि, मागधी कुछ-कुछ शौरसेनी प्राकृत से प्रभावित है और उसमें 'क्त' प्रत्ययान्त शब्दों को 'सु' विभक्ति होने पर 'उकार' होता है, इसलिए सं० 'युक्तः' नियम से 'जुत्तउ' होना चाहिए, जैसा कि वररुचि ने 'क्तान्तादुश्च' (प्राकृतप्रकाश, ११।११) सूत्र से अभिव्यक्त किया है । ऐसी प्रवृत्ति तो हेमचन्द्रीय व्याकरण की अपभ्रंश में मिल जाती है । जैसे—

सं० युक्तः >अप० जुत्तउ (हेम० व्या० ८।४।३४०।२)

सं० स्थितः >अप० ठिउ (,, ,, ८।४।३९१।१)

मागधी की तीन विभाषाएँ भी मानी गई हैं, जिनके नाम शाकारी, चाण्डाली और शावरी हैं ।

अर्द्धमागधी में शौरसेनी और मागधी के कुछ लक्षण मिलते है । पालि की भाँति अर्द्धमागधी में भी धार्मिक साहित्य पाया जाता है । इसकी प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. सु प्रत्यय, अर्थात् अन्तिम विसर्ग (:) का परिवर्त्तन 'इ' या 'ओ' में होता है।

२. अन्तर्वर्त्ती व्यंजन प्रायः 'य्' श्रुति में बदलता है—

सं० स्थित >अर्द्धमाग० थिय ।

सं० सागर > ,, ,, सायर ।

यह प्रवृत्ति तो हेमचन्द्रीय अपभ्रंश में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है । जैसे—

सं० सागरः >अप० सायरु (हेम० व्या० ८।४।३३४।१)

सं० रत्नानि >अप० रयणाहूँ (,, ,, ८।४।३३४।१)

सं० आदरं >अप० आयसु (,, ,, ८।४।३४१।२)

सं० राग >अप० राय (,, ,, ८।४।३५०।१)

३. अघोष व्यंजन का परिवर्त्तन घोष व्यंजन में—

सं० लोकस्मिन् >अर्द्धमाग० लोगंसि ।

४. 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान पर 'त्ता' आता है—

सं० गत्वा >अर्द्धमाग० गत्ता ।

पैशाची प्राकृत की प्रमुख विशेषता यह है कि संस्कृत की घोषध्वनि उसमें अघोष हो जाती है। इस तरह इसकी प्रवृत्ति अर्द्धमागधी से बिलकुल उल्टी है, जिसमें अघोष-ध्वनि घोष में बदलती है। जैसे—

सं० तडाग >पैशा० तटाक।
सं० नगर >पैशा० नकर।
सं० राजा >पैशा० राचा।

इस प्रकार का ध्वनि-परिवर्त्तन हेमचन्द्रीय अपभ्रंश में नहीं पाया जाता।

हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में अपभ्रंश के स्वरूप को अध्याय ८, पाद ४ में सूत्र ३२९ से ४४८ तक व्यक्त किया है। व्याकरण-विषयक ढाँचे को सोदाहरण स्पष्ट करने की दृष्टि से अपभ्रंश-पद्यों के उद्धरण भी प्रस्तुत किये हैं। सम्पूर्ण उदाहरणों पर आदि से अन्त तक दृष्टि डालने के उपरान्त यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अपभ्रंश की प्रकृति महाराष्ट्री प्राकृत ही है, किन्तु कुछ उदाहरण शौरसेनी प्राकृत से साम्य स्थापित करनेवाले भी पाये जाते हैं। वस्तुतः, हेमचन्द्रीय अपभ्रंश शौरसेनी प्राकृत तथा विशेषतः महाराष्ट्री प्राकृत पर ही प्रतिष्ठित है। निष्कर्ष रूप में साम्य एवं विकसित परम्परा की दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि हेमचन्द्रीय व्याकरण की अपभ्रंश प्रत्यक्षरूपेण महाराष्ट्रीय प्राकृत की पुत्री मानी जा सकती है।

●●

८/७ हरिनगर, अलीगढ़ (उ० प्र०)

महाकवि श्रीनाथ भट्ट

श्रीचलसानि सुब्बाराव, एम्० ए०

हिन्दी और दूसरी भारतीय भाषाओं की भाँति तेलुगु का भी अपना गम्भीर और महत्त्वपूर्ण साहित्य है। प्राचीन और अर्वाचीन, पद्य और गद्य, रूढि और क्रान्ति, इस प्रकार दोनों विधाओं का साहित्य तेलुगु में आविर्भूत हुआ है। साहित्य की विभिन्न शाखाओं का श्री-विकास तेलुगु-साहित्य में भी पर्याप्त मात्रा में हो पाया है। श्रीनन्नया, तिक्कना, एर्रना, पेद्दना, तिम्मना, श्रीनाथ, पोतन्ना इत्यादि प्राचीन और मध्यकालीन आन्ध्र-महाकवियों ने अपनी प्रतिभा-सम्पन्न रचनाओं द्वारा आन्ध्र-भारती का भाण्डार भर दिया था। उनकी काव्य-व्यंजना की कमनीयता, पद-निर्माण की भंगिमा, विचारों की भव्यता, भावों की प्रेषणीयता एवं अपनी आकर्षक शैली के कारण तेलगु-भाषा का मान बढ़ा और वह पूरबी इटालियन भाषा (The Italian of the east) मानी गई है।

मध्यकालीन तेलुगु-साहित्य में महाकवि श्रीनाथ का एक विशिष्ट स्थान है। अन्य कतिपय कवियों की भाँति इस महाकवि के जन्म और जन्मस्थल के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं। यहाँतक कि उनकी मातृभाषा भी विवाद का विषय रह गई। कुछ प्रमाणों से विदित है कि उनकी भाषा कन्नड़ है। किन्तु, उनकी छोटी-बड़ी सब रचनाएँ

कन्नड़ में नहीं, तेलुगु में ही उपलब्ध हैं। इस विषय पर पर्याप्त शोध चला और अन्त में यह निर्णय लिया गया कि आन्ध्रप्रदेश के दक्षिणी जिलों में उस समय व्यवहृत होनेवाली भाषा का एक नाम कन्नड़ था। इसके अतिरिक्त संस्कृत-शब्दों से प्रभावित तेलुगु की एक शैली को उस समय 'कर्नाटक' कहा करते थे। इसलिए, ये महाकवि कन्नड़ी नहीं, आन्ध्र थे और उनकी भाषा कर्नाटक या कन्नड़ नहीं, तेलुगु थी।

महाकवि श्रीनाथ भट्ट मछलीपट्टणम्[1] के निकट कलपटम् नामक एक गाँव में सन् १३८० ई० में पैदा हुए। आप भारद्वाजगोत्रीय नियोगी ब्राह्मण थे। आपके पिता का नाम पारय मंत्री और माता का भीमाम्बिका देवी था। आपके पितामह कवि कमलनाभ विदग्ध विद्वान्, 'साहित्यचक्रवर्त्ती' और 'कविमार्त्तण्ड' माने जाते थे।

श्रीनाथ भट्ट बचपन से ही काव्य-रचना करते थे। पन्द्रह वर्षों की उम्र में ही 'मरुत्तराट्चरित्र' और बीस के भीतर 'शालिवाहनसप्तशती' की रचना की थी। बीस वर्षों की उम्र में 'नैषधं विद्वदौषधम्' की ख्याति से समन्वित श्रीहर्ष-रचित 'नैषधचरितम्' का तेलुगु-रूपान्तर 'शृङ्गारनैषधम्' नाम से प्रस्तुत किया, जिसकी मान्यता बड़े-बड़े विद्वानों ने दी थी। तर्क, व्याकरण, न्याय, सांख्य, वेदान्त आदि शास्त्रों में वे निष्णात थे। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, तेलुगु और कन्नड भाषाओं के वे प्रकांड पंडित थे। विद्वानों की सम्मति में आपकी प्रतिभा महाभाष्यकार आचार्य पतंजलि का स्मरण दिलानेवाली है। वेद-वेदान्त, पुराण और इतिहासों का आपने गहरा अध्ययन किया। अपनी असाधारण विद्वत्ता, प्रज्ञा और गम्भीर रचनाशक्ति के द्वारा आप 'कविसार्वभौम' की उपाधि से सम्मानित हुए। उपाधियाँ यों तो आपको बहुत-सी मिलीं, किन्तु यह 'कविसार्वभौम' की उपाधि आजीवन आपके साथ आपके व्यक्तित्व को सजीव बनाती रही।

हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन साहित्य में व्यक्त विषय-विशिष्टता अथवा धारा-विशेष को दृष्टि में रखकर किया गया। किसी महान्-से-महान् कवि के नाम पर भी काल का नामांकन नहीं हुआ। मगर, तेलुगु या आन्ध्र-साहित्य में अधिकांशतः प्रति निधि कवि के नाम पर काल-विभाजन हुआ है। एक-एक काल में सैकड़ों कवि भले ही हुए हों, किन्तु नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा की भाँति कोई एक कवि उस काल के साहित्याकाश में प्रतिनिधि के रूप में प्रकाशित होता रहा। उसी कवि के नाम पर उस काल का विभाजन हुआ है। आदिकवि नन्नया, कविब्रह्म तिक्कना, प्रबन्धपरमेश्वर एर्रना आदि युगप्रवर्त्तक कवियों के नाम पर आन्ध्र-साहित्य में तीन काल बने हैं। इसी प्रकार 'कविसार्वभौम' श्रीनाथ भट्ट के नाम पर 'श्रीनाथ-युग' आन्ध्र-साहित्य के इतिहास में निर्मित हुआ है।

युगप्रवर्त्तक कवि श्रीनाथ ने अपने जीवन का अधिक भाग राजाओं के आश्रय में बिताया था। आपने भी पद्माकर, देव, बिहारी इत्यादि रीतिकालीन हिन्दी-कवियों की,

---

१. यह कृष्णा नदी के संगम-स्थान पर है। यह आन्ध्र का एक प्राचीन शहर है। प्राचीन काल में इसके बन्दरगाह से विदेशों के साथ व्यापार चलता था। अब भी यह आन्ध्र-प्रदेश का प्रमुख व्यापार-केन्द्र है। आजकल यहाँ के बन्दरगाह से जापान को 'काकिरायि' (कच्चा लोहा) भेजा जाता है। यह कृष्णा जिले की राजधानी है।—ले०

तरह राजाओं के आश्रय में रहकर अपनी काव्य-साधना की थी। पद्माकर की तरह श्रीनाथ भट्ट ने भी अपने जीवन में अनेक देश-देशान्तरों का पर्यटन किया, बहुत-कुछ देखा, बहुत कुछ भोगा, बहुत कुछ पाया और बहुत कुछ रचा। तेलुगु के महान् कवियों में आप ही एक ऐसे कवि हुए, जिन्होंने अपार धन और यश के साथ-साथ मानव-जीवन की विविधताओं का आस्वादन भी किया। घटनाओं और जीवन की उपलब्धियों की दृष्टि से इस महाकवि की हिन्दी की तुलना अट्ठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध के कवि श्रीपद्माकर भट्ट से की जा सकती है। किन्तु, काल की दृष्टि से दोनों में पूरे चार सौ वर्षों का अन्तर है। राजसम्मान, रचना, भक्ति, शृंगार, आदि की दृष्टि से आपकी तुलना हिन्दी के महाकवि मैथिलकोकिल विद्यापति से की जा सकती है। श्रीनाथ भट्ट महाकवि विद्यापति से लगभग दो दशाब्द छोटे थे। किन्तु, दोनों ने इस लोक को साथ-साथ छोड़ा। विद्यापति अस्सी वर्ष जीवित रहे, तो श्रीनाथ केवल पैंसठ वर्ष ही।

कोंडवीडु[1] के रेड्डि राजाओं के आश्रय में श्रीनाथ की कीर्त्तिलता पल्लवित और पुष्पित हुई थी। रेड्डि राजाओं में पेद कोमटि वेमारेड्डि एक योग्य और विवेकी शासक थे। उनका दरबार सदा कवियों और पण्डितों से भरा रहता था। पेद कोमटि वेमारेड्डि केवल कवि-पोषक ही न थे; बल्कि वे स्वयं भी कवि और विद्वान् थे। संस्कृत के 'अमरुक'-काव्य की आपने तेलुगु में व्याख्या लिखी थी। 'पार्वतीपरिणय', 'वेमभूपालचरित', 'नलाभ्युदयमु', 'साहित्यचिन्तामणि' आदि संस्कृत-ग्रन्थों के लेखक श्रीवामनभट्ट आपके ही दरबार में रहते थे। कविसार्वभौम श्रीनाथ उक्त दरबार में रहकर वामनभट्ट जैसे दरबारी कवियों की बड़ी सहायता की थी। राजा ने श्रीनाथ को अपने राज्य का विद्या-शाखाधिकारी (Director of Public Instructor) बना लिया था। बीस वर्षों तक महाकवि उस पद पर रहे। उस काल में आपने बहुत ही महत्त्वपूर्ण साहित्य-साधना की। उस जमाने में विद्वत्ता और कविता को लेकर प्रतियोगिताएँ चलती थीं। वेमारेड्डि-दरबार में समय-समय पर ऐसी सभाओं की आयोजना होती थी। महाकवि श्रीनाथ की प्रतिभा और विद्वत्ता का सिक्का दरबारी पण्डित-कवियों पर सदा जमा रहता था। बाहर से आये विद्वानों से भी ये महाकवि टक्कर लेते थे और उनको पराजित कर अपना और अपने आश्रयदाता का मान ऊँचा रखते थे। बीच-बीच में ये महाकवि विद्वत्ता-विहार और प्रतिभा-प्रदर्शन के लिए अपने शिष्यों को साथ लेकर यात्रा पर निकलते थे और देश-देश के राजाओं को प्रसन्न कर पुरस्कृत होते थे। उस यात्रा में आपको प्रकांड पण्डितों और प्रतिभाशाली कवियों से लोहा लेना पड़ता था। उस जमाने में कर्नाटक के संगमवंशीय राजा देवरायलु के दरबार में डिण्डिमभट्ट नामक एक प्रसिद्ध और प्रतिभावान् कवि रहता था। आपने वहाँ जाकर पाण्डित्य में उसको पराजित किया और उसके काँसे के

१. यह अब गुंटूर जिले के अंतर्गत है। यह चौदहवीं शती के रेड्डि राजाओं के पूर्वी आन्ध्रराज्य का प्रधान नगर था। सन् १३५५ ई० में आनपोतारेड्डि ने अपनी राजधानी को कादंकि से कोंडवीडु बदल दिया। तबसे इसकी प्रसिद्धि आरम्भ हुई। सन् १४२४ ई० के बाद यह राज्य राजमहेन्द्रवरम्-राज्य में मिल गया।—ले०

डमरू[१] को निर्णय के अनुसार भरी सभा में फोड़ दिया। तब राजा देवरायलु आपकी विद्वत्ता और वाक्चातुरी से प्रसन्न होकर आपका स्वर्णाभिषेक सम्पन्न कराया और आपको 'कविसार्वभौम' की उपाधि से सम्मानित किया था। इस प्रकार, पच्चीस वर्षों तक रेड्डि राजाओं का यह दरबारी कवि अपनी असाधारण प्रतिभा को लेकर संस्कृत, आन्ध्र और कर्नाटक के गहन काव्य-कानन में शेर बनकर निःशंक विचरण करता रहा। सरस्वती के प्रखर उपासक इस महाकवि की लेखनी और वाणी निर्बाध रूप से चलती रही।

जब रेड्डि राजाओं का तेजःपुंज क्षीण पड़ गया, तब यह महाकवि राजमहेन्द्रवरम्[२] के दुव्वूर-वंश के राजा वीरभद्रारेड्डि के आश्रय में चला गया और उसे अपनी प्रौढ रचना 'काशीखण्डमु' को समर्पित किया। इस राजा के दरबार में भी महाकवि की कविता-ज्योति पूर्ण प्रतिभासित होती रही।

परिस्थितियाँ सदा एक-सा नहीं रहतीं। महाकवि श्रीनाथ भट्ट के जीवन के अन्तिम वर्ष बड़ी ही कारुणिक अवस्था में व्यतीत हुए। वीरभद्रारेड्डि का देहान्त हुआ, जिससे रेड्डि राजाओं का राज्य ही समाप्त हो चला और सारा राज्य बहमनी राजाओं के हाथ लगा। उन राजनीतिक परिवर्त्तनों का श्रीनाथ पर बुरा प्रभाव पड़ा था। राजाश्रय खोकर आपकी शक्ति फीकी पड़ गई। आपको अपना भोजन तक चलाना मुश्किल हो चला। विवश होकर आपने कृष्णा नदी के किनारे बोड्डुपल्लि (Boddupalli) नामक गाँव के पास खेती करना आरम्भ किया। तबतक आपकी आयु साठ वर्ष से अधिक की हो गई। दुर्भाग्य की बात है कि कुछ प्राकृतिक कारणों से गृहस्थी नष्ट हो गई, जिससे आप सरकार को खेत की मालगुजारी भी चुका न पाये। उसपर राजा के कर्मचारियों ने आपको बहुत सताया।

निम्नांकित पद्य से अन्तिम दिनों में कवि की दुर्गति स्पष्ट होती है—

सी० कविराजु कंठंबु कौगलिंचेनु गदा
पुरवीधि नेदुरेंड बोगडदंड
आन्ध्रनैषधकर्त्त यंघ्रियुग्मंबुन
दगिलियुंडेनु गदा निगलयुगमु
वीरभद्रारेड्डि विद्वांसु मुंजेत
विय्य मंदेनु गदा वेदुरुगोडिय
सार्वभौमुनिभुजा स्तंभ मेक्केनुगदा
नगरिवाकिट नुंडु नल्लगुंड

---

१. यह एक वाद्य-विशेष है, जिसपर तत्कालीन कुछ कवि गाया करते थे। उनके लिए डमरू गौरव की वस्तु था। तत्कालीन कुछ प्रसिद्ध कवियों के लिए वह इतना मान्य था, जितना पुरुषों के लिए मूँछ। तेलुगु में इसे 'ढक्का' या 'ढक्की' कहते हैं।—ले०

२. इसे राजमंड्रि भी कहते हैं। यह शहर गोदावरी नदी के तट पर है। आबादी की दृष्टि से यह आन्ध्र का पाँचवाँ शहर है। इस शहर में कागज की मिल है। यह पहले चालुक्य-राजाओं के शासन में रहता था। श्रीनाथ के समय यह रेड्डि राजाओं के अधीन रहा। अब यह पूरबी गोदावरी जिले की राजधानी है।—ले०

गी० कृष्ण वेण्यय गोनिपोये निंतपुलमु
बिलबिलाच्चुलु तिनिपोये दिल्लु पेसलु
बोड्डुपल्लेनु गोड्डुरि मोसपोति
नेट्लु चेल्लिलतु टंकंबुलेड्डु नूर्लु

अर्थात्, अहा ! विधि का विधान अनुल्लंघनीय है। इसी कविराज के गले में यह काँटों का हार ! आन्ध्रनैषधकर्त्ता के हाथों में हथकड़ियाँ लगी हैं ! नगर के फाटक के पास पड़ी रहनेवाली यह काली चट्टान इसी कविसार्वभौम की भजाओं पर रखी गई है। क्या किया जाय ? कृष्णा नदी की बाढ़ से धान का खेत बह गया। बचा-खुचा अन्न पक्षियों ने खा डाला। इसी गाँव में आकर मैं धोखा खा गया। अब मालगुजारी सात सौ रुपये कैसे चुका सकूँगा ?

आपने जीवन को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा और विभिन्न रूपों में भोगा। बहुत-सा धन उपार्जन किया; किन्तु उसे बचाकर रखने का प्रयत्न नहीं किया। जो महाकवि सार्वभौम राजा-महाराजाओं की सहपंक्ति में सुवर्ण-थालों में भोजन करता था; कविसार्वभौम, विद्वत्कवि, साहित्यसम्राट् इत्यादि उपाधियों से राजदरबारों में सम्मानित होता था एवं राजाओं के दरबारी कवियों को पराजित कर अपने आश्रयदाता राजाओं के सिर ऊँचा करता था, वही अन्त में भूख के मारे परेशान, दाने-दाने के लिए मुहताज, सरकारी सजाओं को भोगता हुआ अपने ६५ वर्षों की उम्र में सदा के लिए इस लोक को छोड़कर चला गया !

कर्नाटक्षितिपाल-मौक्तिकसभागारान्तराकल्पित, स्वर्णस्नान जगत्प्रसिद्ध कविसम्राट् श्रीनाथ भट्ट ने लगभग तीस ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें से आज कुछ ही उपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्रन्थ ये हैं—१. मरुत्तराट्चरित्रमु, २. शालिवाहनसप्तशती, ३. शृङ्गारनैषधमु, ४. भीमेश्वरपुराणमु (भीमखण्डमु), ५. काशीखण्डमु, ६. हरविलासमु, ७. पलनाटिवीरचरित्रमु, ८. वीधिनाटकमु, ९. शिवरात्रिमहत्स्यमु, १०. पण्डिताराध्यचरित्रमु, ११. नन्दनन्दनचरित्रमु, १२. मानसोल्लासमु और १३. धनञ्जयविजयमु।

उक्त ग्रन्थों में अधिकांश संस्कृत-ग्रन्थों से अनूदित हैं। उन ग्रन्थों के अलावा उनकी समय-समय पर रची कविताएँ 'श्रीनाथुनि चाटुवुलु' के रूप में अन्यत्र संगृहीत हैं। उन 'चाटुवुलु' में भी आपकी कविता-शक्ति प्रौढ दृष्टिगोचर होती है। व्यावहारिक जीवन की विविधताओं की छटा उनमें देखी जाती है। आपके सब काव्यों में 'शृङ्गारनैषधमु' और 'काशीखण्डमु' का मान अधिक है। आपका पहला काव्य महाकवि श्रीहर्ष-कृत 'नैषधीयचरितम्' का आन्ध्रानुवाद है। संस्कृत-शब्दों की प्रचुरता के साथ समास-शैली में इस ग्रन्थ का अत्यन्त प्रौढ अनुवाद बन पड़ा है। जिस तरह 'नैषधं विद्वदौषधम्' कहकर 'नैषधम्' का परिचय दिया जाता है, उसी तरह 'काशीखण्डमु' को 'काशीखण्डमयःपिण्डं' कहते हैं। यानी 'काशीखण्ड' लोहे की चट्टान (Iron stone) है। यह सात अध्यायों का प्रबन्धकाव्य है, जिसमें तीर्थराज काशी और तत्सम्बन्धी विषयों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस रचना में आपकी भगवान् शंकर के प्रति प्रगाढ भक्ति-भावना व्यक्त होती है। 'भीमखण्डमु' में आपने गोदावरी जिले के अन्तर्गत दक्षाराम वर्त्तमान ('द्राक्षा-

राम') के भीमेश्वरालय में स्थित भीमेश्वर स्वामी की महिमाओं का वर्णन किया है। कहते हैं, दक्षयज्ञ और वीरभद्र द्वारा उस यज्ञ का ध्वंस इसी स्थान पर हुआ था।

'पलनाटिवीरचरित्रमु' आन्ध्र का महाभारत है। पलनाड के राजवंश के भाई-भाई के बीच राज्य के लिए नागुल नदी के तट पर कार्यम्पूडि[1] के पास एक भयंकर युद्ध हुआ, जिसमें उस समय के लगभग आन्ध्र के सब राजाओं ने भाग लिया था। हजारों वीर मौत के घाट उतर गये। आन्ध्रों के इतिहास में महाभारत जैसे इस युद्ध का बड़ा ऐतिहासिक और राजनीतिक महत्त्व है। आन्ध्र के गाँवों में इस युद्ध की घटनाओं का आज भी श्रवण-मनन चलता है। महाकवि श्रीनाथ ने इस वीरगाथा के आधार पर द्विपद छन्द में ग्रामीणों की व्यावहारिक भाषा में 'पलनाटिवीरचरित्रमु' नामक काव्य की रचना की थी, जिसका तेलुगु-साहित्य में एक गौरवपूर्ण स्थान है।

कविसार्वभौम श्रीनाथ ने जो कुछ लिखा, गहन-गम्भीर लिखा। आचार्य होने के कारण आपकी कविता विद्वत्ता से लदी है। विद्वानों का आक्षेप है कि आपकी भाषा तेलुगु नहीं, संस्कृत है। हाँ, आपके 'पलनाटिवीरचरित्रमु' को छोड़कर शेष सब काव्यों पर संस्कृत-भाषा का गहरा रंग चढ़ा है। दो-एक काव्य तो साधारण प्रतिभा की समझ में आते भी नहीं। फिर भी, इस महाकीर्त्ति की कलम से निकले **सिसमु**[2] की एक अद्भुत गति और विशेष वैभव है, जो तेलुगु-साहित्य की एक महती शोभा है। जिस प्रकार महाकवि तुलसीदास ने दोहा-चौपाइयों को पुनीत कर डाला, विद्यापति एवं सूरदास ने पदों का वैभव दिखाया, बिहारी ने दोहे का चमत्कार दिखाया; और तेलुगु में वेमन्न ने **आटवेलदि**[3] और कविब्रह्म तिक्कना ने **कन्द**[4] पद्यों की कमनीय छटा दरसाई थी, उसी प्रकार महाकवि श्रीनाथ ने पाठकों को **सीसम** की सुरा पिलाई।

श्रीनाथ भट्ट विदग्ध विद्वान् होते हुए भी मूलतः शृंगारिक कवि थे। आपका अधिकांश जीवन भोग-विलासों में बीता, परिणामतः आपको अन्त में बड़ा ही निकृष्ट

---

१. यह गुंटूर जिले में है। कृष्णा नदी में आ मिलनेवाली एक उपनदी नागुल के किनारे स्थित है। अब यह शिथिलावस्था में है। आसपास के गाँवों में स्थित इसके खँड़हर देखे जाते हैं। उस युद्ध के वीरों की मूर्त्तियाँ वहाँ उपलब्ध हैं। कुछ महावीरों के मन्दिर भी बने और विशिष्ट दिनों में आज भी उन वीरों की पूजा भी होती है। गाँवों के लोग उस पूजा में भाग लिया करते हैं।—ले०

२. तेलुगु का यह विशालकाय छन्द है। इस पद्य में चार पाद और एक-एक पाद में आठ-आठ गण रहते हैं, जिसमें छह इन्द्र-गण और शेष दो सूर्य-गण। इन चार पादों के अन्त में एक 'आटवेलदि' पद्य रहता है।—ले०

३. यह तेलुगु का एक मनोरम छन्द है। इसमें चार पाद रहते हैं। सम पादों में पाँच सूर्य-गण एवं विषम पादों में तीन सूर्य और दो इन्द्र-गण रहते हैं।—ले०

४. यह एक छोटा, परन्तु जटिल छन्द है। इसमें चार पाद होते हैं। विषम पादों में तीन गण और सम पादों में पाँच गण रहते हैं। दूसरे और चौथे पाद के अन्तिम अक्षर 'गुरु' हों। गग, य, ज, स, न, गणों में से ही उक्त आठ का चुनाव हो। दूसरे और चौथे पाद के आद्यक्षरों पर यति रहे।—ले०

जीवन व्यतीत करना पड़ा, फिर भी आप भक्ति से अछूते न थे। आप अपने को शिवभक्त कहते थे। आप भक्त तो थे, किन्तु, कट्टर न थे। **भीमखण्डम्, काशीखण्डम्, हर-विलासम्, शिवरात्रिमहात्म्यम्** आदि आपके ग्रन्थों में शिव-महिमा का प्रतिपादन किया गया है। अन्य सम्प्रदायों के प्रति आपकी शिवभक्ति-भावना संकुचित न रही। दार्शनिक दृष्टि से आप अद्वैतवादी थे। आपकी अद्वैतभावना शिव या विष्णु या केशव या भीमेश्वर का जामा पहन केवल साम्प्रदायिक न बनी। आपने अपने काव्यों में कथा की दृष्टि से विष्णु को उतना स्थान नहीं दिया, जितना शिव को। किन्तु, 'नन्दनन्दनचरित्रम्' और 'पलनाटिवीरचरित्रमु' यह साबित करते हैं कि आप शिवभक्त तो थे, किन्तु विष्णु-धर्म से आपको कोई द्वेष-भावना न थी। आपने अपनी प्रसिद्ध कृति 'पलनाटिवीरचरित्रमु' का समर्पण चेन्न केशवस्वामी (विष्णु) को ही किया था। उस काव्य का प्रधान पात्र ब्रह्मनायुडु, महाभारत के श्रीकृष्ण की भाँति कर्म-सन्देश देनेवाला वैष्णव है। उसने वास्तव में गीता-सन्देश ही सुनाया है। यह पात्र के मुँह से निकला कवि का ही आदर्श विचार है।

श्रीनाथ भट्ट के काव्यों में जितना शृंगाररस को स्थान मिला, उतना ही शान्त, भक्ति और वीर रसों को भी। भक्ति के साथ नीति और वैराग्य का भी उनमें प्रतिपादन हुआ है। 'पलनाटिवीरचरित्रमु' में अन्य रसों के साथ वीर रस को अधिक पुष्टि मिलती है। 'शिवरात्रिमहात्म्यमु' में वैराग्य और मुक्ति पर जोर दिया गया है। आपके सभी काव्यों में वर्णन के वैभव के साथ वस्तु और गुण का पराकाष्ठा पर उदय दीख पड़ता है। इतना सब होने पर भी एक बात कहे विना इस कवि का रूप स्पष्ट नहीं हो सकेगा। बात यह है कि एक 'पलनाटिवीरचरित्रमु' को छोड़कर कवि का कोई ऐसा काव्य नहीं, जिसका रसास्वादन साधारण पाठक कर सकता हो! आज भी वह वीर-काव्य साधारण लोगों की वस्तु है। मेरे विचार से आपके अन्य काव्यों में से कुछ विशिष्ट अभिरुचि रखनेवाले विद्वान् साहित्यिकों की ही वस्तुएँ हैं। फिर भी, जहाँ साधारण लोगों और उनके जीवन का वर्णन करना पड़ा, वहाँ एक सीढ़ी उतरकर सामान्य शैली का प्रयोग आपने किया। आपके ऐसे-ऐसे साधारण पद्य सैकड़ों मिलते हैं, जिनके द्वारा देश-काल का परिचय भली भाँति मिलता है। पहले कहा गया, श्रीनाथ ने कई देशों को देखा और कई जीवन-पद्धतियों से आपका परिचय भी रहा। आपने उन अनुभवों को पद्यों में कह डाला। पलनाड के तत्कालीन सामाजिक जीवन का स्पष्ट परिचय उनके निम्नोद्धृत पद्य में मिलता है—

चिन्न चिन्न राल्लु चिल्लर देवुल्लु
नागुलेटि नील्लु नापराल्लु
सज्जजोन्नकूल्लु सर्पंबुलुनु देल्लु
पल्लेगाटि सीम पल्ले टूल्लु।

अर्थात्, पलनाड के लोग छोटे-छोटे पत्थरों को मूर्त्तियाँ बनाकर पूजते हैं। पलनाड-भर में ऐसी मूर्त्तियाँ व्याप्त हैं। उन पत्थरों के सिवा वहाँ कुछ सभ्यता नहीं। लोग ज्वार-

बाजरे का अन्न खाते हैं। वे पढ़े-लिखे नहीं। पलनाड-भर में गाँवों की संख्या अधिक है, जिनमें साँपों और बिच्छुओं का यथेष्ट विहार है। इस प्रकार, कई पद्यों में श्रीनाथ ने आन्ध्र के तत्कालीन देहातों की हालत का वर्णन किया है।

नीति और आदर्श की दृष्टि से महाकवि श्रीनाथ भट्ट की रचनाओं की उपादेयता उपेक्षणीय नहीं। आपके सब काव्य भक्ति और शृंगार के आगार हैं। बड़ी खूबी की बात यह है कि आपने उस भक्ति और शृंगार की अभिव्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत अभिरुचि और संस्कार के संकुचित दायरे में जकड़े न रखकर उसे सामूहिक संस्कार और जाति की अभिरुचियों का साहित्यिक जामा पहनाया। भक्ति और शृंगार के माध्यम से महाकवि ने आदर्श मानवी जीवन का चित्र पाठकों के सामने उपस्थित किया है। आपके काव्यों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का सन्देश विद्यमान है। पारमार्थिक और व्यावहारिक, दोनों प्रकार के ज्ञान आपके सन्देशों में समान परिमाण में उपलब्ध हैं।

आपने सनातन वेद-सम्प्रदाय की अपने काव्यों में भली भाँति रक्षा की है। चातुर्वर्ण व्यवस्था की समीचीनता पर आपने जोर दिया। नीति के नाम पर वैदिक आचार-व्यवस्था का आपने समय-समय पर स्मरण दिलाया है।

इस प्रकार, इस महाकवि की रचनाओं में केवल काव्यगत सौन्दर्य का ही नहीं, सत्यं और शिवं का भी दर्शन प्रचुर मात्रा में किया जा सकता है। नल-दमयन्ती, शिव-पार्वती, आदि उत्तम व्यक्तियों द्वारा आदर्श नर-नारी के भव्य चित्र आपने उपस्थित किये हैं। पुराणकाल का मानवी आदर्श आपके काव्य-ग्रन्थों में भास्वर हो उठा है। चार आश्रमों के रूप और कर्त्तव्य स्थान-स्थान पर निश्चयात्मक ढंग से बताये। आपने यह स्पष्टतः कह दिया कि अपने-अपने धर्मों में प्रत्येक आश्रम माननीय है। यानी, मनुष्य ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थी या संन्यासी रहे, वह तत्सम्बन्धी धर्माचरण कर धन्य बन जाता है। आर्य-संस्कृति पर महाकवि की यह अचंचल आस्था है।

महाकवि श्रीनाथ भट्ट अपने युग के प्रतिनिधि कवि थे। आपका सारा जीवन भीषण संघर्षों से ही गुजरा था। फिर भी, आपके जीवन-काल में निर्माण और उपलब्धियाँ ही अधिक हुईं, जिनपर आन्ध्रों को गर्व है। आन्ध्रों के हृदयाकाश में ज्योतिर्मय नक्षत्र बनकर अपनी साहित्यिक ज्योति के पुंज से तेलुगु के काव्य-क्षेत्र को पुनीत और उज्ज्वल करनेवाला यह महाकवि अमर है।

●●

हिन्दी-विभाग, हिन्दू कॉलेज,
मछलीपट्टम् (मद्रास)

निमाड़ी सन्त-साहित्य : एक परिचय

श्रीरामनारायण उपाध्याय

सन्त-साहित्य—निमाड़ी लोक-साहित्य की तरह निमाड़ी सन्त-साहित्य भी अत्यन्त ही समृद्ध रहा है। यद्यपि इसका कोई व्यवस्थित लिखित रूप प्राप्त नहीं है, तथापि लोगों की जिह्वा पर रहनेवाले इस काव्य के पिछले चार सौ वर्षों की परम्परा वर्त्तमान है।

सोलहवीं शती को कबीर के समकालीन सन्त ब्रह्मगीर और मनरंगगीर, निमाड़ के आराध्य सिंगा और सिंगा के भक्त खेमदास, दलुदास और रंकदास जैसे पहुँचे हुए सन्त-कवियों की वाणी से मुखरित होने का सौभाग्य प्राप्त है। निमाड़ में यह साहित्य अपने तीन रूपों में प्राप्त है—गेय कथानक के रूप में, झाँझ और मृदंग पर गाये जाने योग्य भजनों के रूप में और छन्दोबद्ध ओवी के रूप में।

इनमें गेय-कथानकों का स्वरूप अत्यन्त ही लम्बा रहा है। ये झाँझ और मृदंग के सहारे भजन-मण्डलियों के द्वारा पूरी रात चलते रहते हैं। इनमें धनजीदास-रचित 'मोती-लीला' अत्यन्त ही प्रसिद्ध है। यह लगभग १७५ पदों में सम्पूर्ण है। भाव, भाषा, कथानक और शैली की दृष्टि से यह अत्यन्त ही सुन्दर रचना है। भजनों की दृष्टि से सन्त सिंगा के भजनों की संख्या सबसे अधिक है। यद्यपि आपके द्वारा लिखित भजनों की संख्या ग्यारह सौ बतलाई जाती है। किन्तु, इनका मौखिक होने से अभी तक इनमें से लगभग ढाई सौ भजनों का ही संकलन किया जा सका है।

छन्दोबद्ध ओवी की दृष्टि से श्रीस्वामी शिवानन्दजी ने सम्पूर्ण रामायण को निमाड़ी ओवी में लिखकर, निमाड़ी-भाषा की अपूर्व सेवा की है। आपका यह ग्रन्थ तथा 'श्रीराम-विनय' नामक एक और ओवी प्रकाशित भी हो चुकी है।

ब्रह्मगीर—ब्रह्मगीर, निमाड़ी सन्त-साहित्य के आद्य प्रवर्त्तक रहे हैं। यद्यपि आपकी रचनाओं में निमाड़ी का वैसा स्वरूप नहीं निखरा है, जैसा कि सिंगा की रचनाओं में, तथापि निमाड़ी-भाषा में सर्वप्रथम रचना करने का श्रेय आपको ही है। आप सिंगा के गुरु के गुरु थे।

सिंगाजी का समय विक्रम-संवत् १५७६—१६४८ माना जाता है। चूंकि, सिंगा ब्रह्मवीर के द्वितीय शिष्य-परम्परा में आते हैं, अतएव आपका समय भी विक्रम-संवत् १४५५—१५७५ होना चाहिए। वही कबीर का भी काल रहा है।

ब्रह्मगीर की रचनाओं पर कबीर का स्पष्ट प्रभाव भी है। जिस एक गीत ने सिंगा के जीवन में आमूल परिवर्त्तन कर दिया और एक जमाने के साधारण-से गौली को युग-युगान्त का महान् सन्त बना दिया, वह गीत भी आपका ही लिखा हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टि से आपकी यह रचना सन्त-साहित्य में सदा स्मरणीय रहेगी। पूरा गीत इस प्रकार है—

समझी लेओ रे मना भाई, अंत नी होय कोई आपणा।
आप निरंजन निरगुणा, सगुणा तट ठाड़ा,
यही रे माया के फंद में, नर आण लुभाणा ॥ १ ॥
भवसागर को पैर के, किस बिध पार उतरणा,
नाव वणी खेवट नहीं, किस बिध पार उतरणा ॥ २ ॥
कोटि कठिन गढ़ चढ़णा, नर आण लुभाणा,
घड़ियाल बाजत पहर का, दूर देश का जाणा ॥ ३ ॥
माया के भ्रम नहीं भूलणा, ठगी जासे निदाना,
ब्रह्मगीर कहते भये, पहिचाण ठिकाणा ॥ ४ ॥

मनरंगगीर—मनरंगगीर, स्वामी ब्रह्मगीर के शिष्य और सिंगा के गुरु थे। आपके ही मुँह से ब्रह्मगीर महाराज का भजन सुनकर सिंगा को वैराग्य हुआ था। यद्यपि आपके लिखे भजनों की संख्या अत्यन्त ही कम है; लेकिन जो प्राप्त हुए हैं, उनमें एक 'लोरी' बहुत प्रसिद्ध है।

कहते हैं, एक बार आप सुक्ता नदी के तट पर ध्यानस्थ बैठे थे। इतने में उधर से एक बच्चे का शव बहता हुआ आया। शव को देखते ही आपने उसे गोद में उठा लिया और अत्यन्त स्नेह से निम्नलिखित लोरी सुनाने लगे—

सोहं बाळा हालरो[१], नित निरमळो।
निरमळ थारी जीत, सोहं बाळा हाळरो ॥ १ ॥
नदी सुक्ता[२] का घाट पर, बाबा घाट पर, बैठ्या ध्यान लगाय।
आवत देख्यो पींजरो[३], बाबा पींजरो, लियो गोद उठाय ॥ २ ॥
सप्तधातु को पींजरो, बाळा पींजरो, पाट्या तीन सौ साठ।
एक कड़ी हो जड़ाव की, बाळा जड़ाव की, वा पर रचियो ठाठ ॥ ३ ॥
आकाश झूलो बांधियो, बाळा बांधियो, लाग्या निरगुण डोर।
जुगत से झूलो झुलावियो, बाळा झुलावियो, हींचऽ[४] मनरंग मोर ॥ ४ ॥
नहीं रे बाळा[५] तू सोवतो, नहीं जागतो, बिन ब्याही को पूत।
सदा हो 'शिव' जाकी संग में, जाकी संग में, झूल बांझ को पूत ॥ ५ ॥
अनहद घुंघरू बाजिया, बाळा बाजिया, अजपा को मेह।
अष्टकमल दल खिली रह्यो, जैसा सरवर मेत्र ॥ ६ ॥

अर्थात्, जिस समय सन्त की गोद में बच्चे का शव झूल रहा था, उस समय ऐसा लगता था, मानों शून्य में झूला बाँधकर, त्रिगुण की डोर से, अत्यन्त ही यत्न से मनरंग स्वामी उसे खींच रहे हों। वे कह रहे थे—सप्तधातु का यह पिंजरा बना है, जिसमें तीन सौ साठ पट्टे लगे हैं। सिर्फ एक कड़ी का जड़ाव है, जिसपर यह सारा ठाट रचा है। बच्चे तू न तो सोता है, न जागता है। तू तो विना ब्याही का पूत है, जिसके संग में सोहं

१. लोरी। २. यह स्थान खण्डवा से ९ मील दूर मामगढ़ ग्राम के पास है। ३. शरीर। ४. हिलोरे देकर। ५. आत्मा।

पुरुष है। वह बाँझ का बच्चा भी झूले झूल रहा है। अनहद का नाद हो रहा है और अजपा का जप चल रहा है। जिस तरह तालाब में अष्टदल कमल खिल रहा हो, उसी तरह बच्चे के शरीर में नये प्राणों का संचार हो रहा है।

कहते हैं, लोरी के समाप्त होते ही बच्चा जी उठा था। कैसा अद्भुत दृश्य है, कैसी अपूर्व साधना !

लोक-जीवन में सन्त सिंगा का स्थान एवं प्रभाव—निमाड़ी-लोकसाहित्य के निर्माण में सन्त सिंगा का अपूर्व स्थान रहा है। निमाड़ में यदि सन्त सिंगा नहीं होते, तो निमाड़ी-भाषा इतनी परिष्कृत नहीं होती, निमाड़ की संस्कृति इतनी सहिष्णु नहीं होती और निमाड़ के जन-मन में आध्यामिकता की ऐसी अमिट छाप नहीं होती। आपने निमाड़ को जितना दिया है, उतना और किसी ने नहीं। आपने निमाड़ी-भाषा में ग्यारह सौ आध्यात्मिक भजनों का निर्माण कर, न सिर्फ निमाड़ी-भाषा, वरन् समस्त निमाड़ को गौरवान्वित किया है। आज निमाड़ के किसी भी गाँव में चले जाइए, वहाँ सूर और तुलसी के पदों की तरह संत सिंगा के पद प्रचलित पायेंगे। निमाड़ में कोई ऐसा गाँव नहीं मिलेगा, जहाँ भजन-मण्डली न हो और कोई ऐसी भजन-मण्डली नहीं मिलेगी, जिसे सिंगा के भजन याद न हों, मानों सिंगा के भजनों के विना यहाँ का सारा संगीत अधरा है। सिंगाजी उनके लिए महज एक सन्त या कवि नहीं, वरन् एक पहुँचे हुए पुरुष और अलौकिक व्यक्ति थे।

अपने इस सन्त-कवि सिंगा पर यहाँ की जनता की कुछ ऐसी असीम श्रद्धा रही है कि भले ही सूर और तुलसी के नाम पर कोई ग्राम नहीं बसे हों, मेले नहीं लगते हों, लेकिन आपकी समाधि पर आपकी निर्वाण-तिथि के अवसर पर निमाड़ का सबसे बड़ी मेला लगता है और आपकी समाधि के पास जो गाँव बसा है, वह 'सिंगाजी' के ही नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है। किसी भी सन्त या लोककवि के चरणों में जनता की इससे बढ़कर और कौन-सी श्रद्धांजलि हो सकती है।

सिंगाजी की परचरी और अन्य पाण्डुलिपियाँ—अपने दौरे के सिलसिले में मुझे सिंगाजी नामक ग्राम से सिंगाजी के वंशज और सिंगा गादी के महन्त श्रीमाँगीलालजी द्वारा **सिंगाजी की परचरी** नामक एक महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है। यह मोटे देशी कागज पर ४ × ६ की साइज में १४० पृष्ठों में सम्पूर्ण है। इसके निर्माण-काल और लेखक के सम्बन्ध में ग्रन्थ के अन्त में निम्नोद्धृत शब्द अंकित हैं—

> **इति सिंगाजी की परचरी सम्पूर्ण भई। जन परताप खेम जो कही। संमत् १७५१। हाल-संमत् १८७९। श्रावण वद १। शुक्रवार तादिन लिखतव्यं। गोवरधनदास ब्राह्मण सम्पूर्ण समास। जथा प्रत्य लिखी मम दोषो न दीयते।**

इससे पता चलता है कि संवत् १७५१ में परताप खेमजी ने इसे लिखा और संवत् १८७९ में गोवरधनदास ने उसी पर से इसकी प्रतिलिपि तैयार की। सन्त सिंगा पर अभी तक प्राप्त यह एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है।

इस तरह मूल प्रति को आज २६१ वर्ष और प्रतिलिपि को १३३ वर्ष होते हैं। इसी की एक और प्रति मुझे निमाड़-लोकसाहित्य-परिषद् के बड़वाह-अधिवेशन के अवसर पर मोयन्दा-निवासी, श्रीभगवानजी यादव कसरावद्या के पास भी देखने को मिली थी। साथ ही, भाई नेमिचन्दजी जैन ने भी इसकी एक प्रति का जिक्र किया था, जो अन्यत्र ही जीर्ण-शीर्ण अवस्था में थी। इससे यह स्पष्ट है कि मूल ग्रन्थ एक ही है, जिसकी अब कुछ प्रतियाँ ही यत्र-तत्र बिखरी हुई मिल रही हैं।

भाई श्रीकृष्णलाल हंस ने इसके लेखक के सम्बन्ध में दलुदास का जिक्र किया है; किन्तु इसपर तो स्पष्ट लिखा है कि इसके लेखक श्रीखेमदासजी हैं। पुस्तक में अनेक जगह लेखक के स्थान पर उनका नाम भी आया है—

कहे खेम विचार तब, साखी एक कही विचार ।[1]
कहे खेम सुनो जन लोई, सुरता बकता पद पणपत होई ।[2]
सिंगा स्वामी की परचरी पूरी भई, जन परताप खेम जो कही ।[3]

परचरी का अर्थ—वैसे परचरी का अर्थ परिचय या परचा दोनों होते हैं, किन्तु ग्रन्थ पढ़ने से पता चलता है कि यहाँ उसका अर्थ 'परचा' ही है। निमाड़ी में 'परचा' शब्द चमत्कार के लिए प्रचलित रहा है।

अभी तक प्राप्त सिंगा-साहित्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) सिंगाजी द्वारा लिखित, (ख) सिंगाजी पर लिखित।

(क) सिंगाजी द्वारा लिखित—१. सिंगाजी का दृढ उपदेश, २. आठ वार सिंगाजी का, ३. पन्द्रह दिन, ४. बाबा सिंगाजी की बाणावली, ५. आत्मध्यान ६. सिंगाजी की नराज, ७. सैकड़ों मौखिक भजन, जिनकी प्रतिलिपि की जा चुकी है।

(ख) सिंगाजी पर लिखित—१. सिंगाजी की परचरी—लेखक : खेमदासजी और २. सिंगाजी की प्रशंसा में लिखित—दलुदासजी के अनेक भजन।

जन्म—सिंगाजी-साहित्य-शोधक-मण्डल के निर्णयानुसार सन्त सिंगाजी का जन्म संवत् १५७६ में मिति वैशाख सुदी ११, गुरुवार को, पुण्य नक्षत्र में, ८ बजे दिन को, बड़वानी स्टेट (मध्यप्रदेश) में, खूजरी ग्राम में हुआ। संवत् १५८१-८२ में आपके पिता अपना समस्त सामान लेकर, जिसमें ३०० भैंसें भी थीं, निमाड़ के हरसूद नामक गाँव में आकर रहने लगे।

संवत् १५९८ में सिंगाजी ने भामगड़ (खण्डवा) के राव साहब के यहाँ एक रुपया माहवार पर डाक लाने और ले जाने के काम पर नौकरी कर ली। इसी बीच मनरंगगार स्वामी का एक भजन सुनकर आपको वैराग्य हो गया और आप नौकरी छोड़कर अपनी आध्यात्मिक साधना में तल्लीन हो गये। यही आपके भजनों के निर्माण का काल भी है। अन्त में संवत् १६१६ में श्रावण सुदी ९ के दिन आपने समाधि ले ली। इस तरह आपकी आयु ४० वर्ष ठहरती है।

१—३. सिंगाजी की परचरी, पाण्डुलिपि, पृ० १-४२४-४३५।

सिंगाजी के जन्म के सम्बन्ध में तो कोई विवाद नहीं है, लेकिन हाल में प्राप्त 'सिंगाजी की परचरी' ग्रन्थ के अन्तिम पृष्ठ पर लिखा मिला है कि 'संवत् १६४८ के साल में स्वामी की देह छूटी, मिती सरावण सुदी ९।' कदाचित् इसी आधार पर भाई श्रीकृष्णलाल हंस ने भी सिंगा की निधन-तिथि १६४८ मानी है। इससे आपकी आयु ९० वर्ष ठहरती है। लेकिन, आपके सम्पूर्ण जीवनवृत्त पर विचार करने से यह बात उचित नहीं जँचती।

पाँच वर्ष की अवस्था में सिंगाजी अपने पिता के साथ हरसूद आये और २२ वर्ष की अवस्था में आपने भामगड़ के राव साहब के यहाँ एक रुपये माहवार पर नौकरी की। नौकरी छोड़ने के समय आपको तीन रुपये मिलते थे। यदि एक रुपया वर्ष भी तरक्की मानी जाय, तो आपके द्वारा तीन वर्ष तक नौकरी करना सिद्ध होता है। इस तरह २५ वर्ष की उम्र में आपको वैराग्य हो गया होगा।

सिंगाजी के समाधिस्थ होने के सम्बन्ध में भी यह प्रसिद्धि है कि एक बार जब जन्माष्टमी के दिन आपके गुरु मनरंगगीर स्वामी को नींद आने लगी, तब उन्होंने आपको बुलाकर कहा कि मैं तो सोता हूँ, मुझे भगवान् के जन्म के समय जगा देना। जब जन्म का अवसर आया, तब आपने सोचा कि मैं गुरुजी को क्या कष्ट दूँ, मैं ही क्यों न आरती कर दूँ। ऐसा सोचकर आपने आरती कर दी। किन्तु, जब गुरु की नींद खुली, तब वे बहुत नाराज हुए और उन्होंने क्रोध में आपसे कह दिया कि 'जा दुष्ट, मुझे मरा मुँह दिखाना।' आपको यह बात तीर-सी लगी. और आपने गुरु की बात को वरदान की तरह स्वीकार कर, मास बाद, संवत् १६१६ की श्रावण सुदी ९ को स्वेच्छा से समाधि ले ली। कहते हैं कि मृत्यु के बाद जब मनरंगगीर स्वामी आपके घर आये, तब रास्ते में आप उनसे मिले थे। गुरु ने उनसे कहा था कि 'मरा मुँह दिखाना' सो आपने गुरु के वचनों को इस तरह पूरा कर दिखाया था।

यह घटना ९० वर्ष की अवस्था में उचित नहीं जँचती, वरन् एक ४० वर्ष के नौजवान के अनुकूल जँचती है। रही परचरी के संवत् की बात, सो उसमें यह अलग से ग्रन्थ के अन्तिम पृष्ठ पर लिखा है। परचरी के कथानक में या अन्य ग्रन्थों में इसका कोई जिक्र नहीं आया है। अतएव, जबतक इस सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक तथ्य नहीं मिलते, तबतक हमें सिंगाजी-साहित्य-शोधक-मण्डल का निर्णय ही उचित जँचता है।

जाति और परिवार—सिंगा की जाति और परिवार के सम्बन्ध में ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है कि—

> **सिंघाजी नाम, जात का गवळी**
> **बजावे पावा, मोहर बंसळी,**
> **गावऽ गीत, घुमावऽ देव ॥३॥**
> **हरी भजन को न जाने भेव**
> **रहे उदमद करे चाकरि**
> **अब नहीं जाणे दुसरी**

गऊ, बछेरू, महेकी, अपार,
माता, तात, कुटुम्ब परिवार ।।५।।

अर्थ है—सिंगाजी जात के गौली थे । आप बहुत अच्छा गीत गाते और बाँस की वंशी बजाते थे । बचपन में बहुत ऊधमी थे । देव (बड़वों) को घुमाते और हरि-भक्ति का भेद नहीं जानते थे । आपके माता, भाई और विशाल कुटुम्ब-परिवार था तथा घर गाय-बछड़ों से समृद्ध था ।

आपके गुरु, मातामह और आराध्य के सम्बन्ध में लिखा मिलता है—

सुमर्यो राम कियो संघाती, मनरंग को सिख, जगन्नाथ को नाती ।।२६७।।

इससे स्पष्ट है कि आप राम के भक्त, मनरंग के शिष्य और जगन्नाथ के नाती थे। आपके पिता का नाम भीमाजी और माता का गौरबाई तथा बड़े भाई का नाम लिम्बाजी था । आपके पत्नी और बच्चे भी थे । आपकी पत्नी अत्यन्त सुशील एवं राम की भक्त थीं—

सींघा स्वामी, जसोदा नारी, बहु मज नीक राम की प्यारी ।
निमाड़ खंड मां स्वामी भयो, अति लव लीण राम गुण कह्यो ।।४३८।।

अर्थात्, 'निमाड़-खण्ड में सिंगास्वामी हुए । आपने अत्यन्त ही तन्मय होकर राम की भक्ति की । आपकी पत्नी का नाम जसोदाबाई था, और वे भी भक्त थीं ।

आपने जब समाधि ली, तब आपका बच्चा साथ था । उस समय घर सँभालने-वाला कोई बड़ा-बूढ़ा नहीं था । आपके चार बच्चे थे, जिनके नाम काल, मौलू, सदु, और दिमा था—

नान्हां बाळक नान्हां, सात, रोवे नारी करे कळ पात ।
कालू, मौलू, चारई सुत, सदु, दिमो नान्हां सुत ।।३१२।।

सिंगाजी की वेश-भूषा—यद्यपि सिंगाजी का कोई चित्र प्राप्त नहीं है, तथापि ग्रन्थ में जैसा आपका वर्णन आया है, उसी से आपके स्वरूप का अन्दाजा लगाया जा सकता है—

लम्बी धोती माथे चादर, पटा पावड़ी लकड़ी हाथ ।।३६४।।

एक जगह और लिखा है—

सिर पर चादर हाथ लाकड़ी, घड़ी दुई लो चर चाकरी ।।३३४।।

आपके प्रभाव के बारे में एक जगह लिखा है—**सिंगा स्वामी पिपल्या वाले, निमाड़ खण्ड जाको अधिकार** । यानी, सिंगाजी पिपल्यावाले के नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनका समस्त निमाड़ पर अधिकार था ।

अन्त में, सिंगाजी के मेले के सम्बन्ध में लिखा है कि आपके समाधिस्थ होने के साल से ही, आपके शिष्य नारायणदास के प्रयत्नों से, शरद् ऋतु में आपकी समाधि पर मेला लगने लगा है ।

आपके समाधिस्थ होने के सम्बन्ध में लिखा है—

नगर मूंदी परगणो, पिपल्यो गांव; छोड़ी स्वामी देह, तीनी ठांव ।
पूरब दिशा दीनी समाधू, तहां मिले संत अरु साधू ।।३१८।।[1]

---

१. उपर्युक्त पदों के साथ दी गई संख्याएँ, 'सिंगाजी की परचरी' नामक मूल पांडुलिपि के पदों की संख्याएँ हैं।

सिंगाजी के चमत्कार—सिंगाजी के विषय में अनेक चमत्कार प्रचलित रहे हैं। आपके अनन्य भक्त श्रीदलुदास के एक भजन से आपके सम्बन्ध में दो चमत्कारों का पता चलता है—१. आपने झाबुआ देश के बहादुरसिंह राजा के डूबते हुए जहाज को उबारा और २. कुआँरी भैंस का दूध दुहा। हाल में प्राप्त खेमदास-कृत 'सिंगाजी की परचरी' में भी अन्य महात्माओं की तरह आपके कई चमत्कारों के वर्णन मिलते हैं।

सन्त सिंगा की रचनाएँ—सन्त सिंगा की रचनाओं में कबीरदास के 'अनहद नाद', 'शब्द-झंकार', 'त्रिकुटी महल', 'शून्य में नयन', 'अखण्ड ज्योति' आदि भरपूर प्राप्त होते हैं।

आपने अपने जिस 'बिन देही' के साहब की खोज में अपना सम्पूर्ण जीवन खपा दिया है, उनके सम्बन्ध में आपने लिखा है—

रूप नाहीं, रेखा नाहीं, नाहीं है कुल गोत रे ।
बिन देही को साहब मेरो, झिलमिल देखूँ जोत रे ।।

अर्थात्, जिसका न रूप है, न कुल है, न गोत्र है, ऐसा मेरा विना देह का प्रभु (साहब) है। फिर भी, मैं उसकी झिलमिलाती हुई ज्योति का दर्शन कर रहा हूँ।

एक दूसरे भजन की केवल दो पंक्तियों में अव्यक्त बल का वर्णन करते हुए, आप लिखते हैं—

पाणी पवन से हो पातळा, जैसे सूर्या में घाम ।
ज्यों हो शशि का चांदणा, ऐसो मेरी राम ।।

अर्थ है—जो पानी और पवन से भी पतला है, जैसे सूर्य की धूप या चन्द्रमा की चाँदनी, ऐसा अव्यक्त मेरा राम है। अर्थात्, जो धूप और चाँदनी की तरह दिखाई देकर भी, पकड़ में नहीं आ सकता, और पकड़ में न आने पर भी जिसके अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता।

अपने 'पन्थ' के बारे में आपने लिखा है कि हम तो उस परब्रह्म के पन्थ के पथिक हैं, जिनका स्थान बहुत दूर है। निराधार में जिन्होंने मठ बनाया है, और जहाँ चाँद-सूरज भी नहीं हैं। भजन की पंक्तियाँ हैं—

हम पन्थी परिब्रह्म का, अपरंपद दूर ।
निराधार जहं मठ किया, जहां चंदा न सूर ।।

आगे चलकर आप कहते हैं कि वहाँ चाँद और सूरज कुछ भी नहीं दीखते; पर करोड़ों सूर्य की तरह वहाँ उजाला है। पंक्तियाँ हैं—

चांद सूरज वहां कछु नहीं दीखे, कोटि भानु उजियारा ।
जिनका नयन शून्य मंऽ लाया, तब परवारा सारा ।।

लेकिन, अपने इस प्रभु के पथ में तो विनम्र होकर ही प्रवेश पाया जा सकता है, अतएव आप कहते हैं—

राह हमारी बारीक है, हाथी नहीं समाय ।
सिंगाजी चिउंटी हुई रह्या, नित आवऽ निऽ जाय ।।

सम्पूर्ण सन्त-साहित्य में शायद सिंगा पहले सन्त हैं, जिन्होंने 'खेती' के माध्यम से आध्यात्मिकता का सन्देश दिया। आपने अपने एक भजन में किसान के दैनन्दिन जीवन से सम्बद्ध प्रतीकों के सहारे 'हरी नाम की खेती' का बहुत सुन्दर निरूपण किया है। पूरे भजन का अर्थ है—"हे मनुष्य, तू हरिनाम की खेती कर। पाप के पल्लवों को काटकर बाहर फेंक दे, फिर कर्म के डंठलों को बीन डाल, जिससे खेत साफ हो जायगा। फिर, वास और श्वास-रूपी दो बैलों को श्रुति की डोर लगा और प्रेम की लकड़ी हाथ में लेकर उन्हें ज्ञान की कील से हँकाल। ओहं का वक्खर लेकर उसपर सोहं का सरता बाँध, और उसमें मूलमन्त्र का बीज बो दे, तो तेरी खेती लट-लूम हो उठेगी। फिर, सत्य का मण्डप बनाकर उसपर धर्म की सीढ़ी लगा। वहाँ से ज्ञान के गोले चलाना, तो पक्षी दूर-दूर तक भाग जायेंगे। यदि तूने दया की दावण लगाकर उस खेतिहर से नाता जोड़ लिया, तो हे मनुष्य, तू फिर बार-बार के आवागमन से मुक्त हो जायगा।"

खेमदास—आप सिंगा के अनन्य भक्त थे। आपकी लिखी 'सिंगाजी की परचरी' का हम ऊपर विस्तार से जिक्र कर आये हैं। सिंगाजी पर अभी तक एकमात्र आपकी ही लिखी पाण्डुलिपि प्राप्त है।

दलुदास—आप सिंगा के भक्त ही नहीं, उनके पौत्र भी थे। सिंगा पर आपको अनन्य भक्ति थी और आप उन्हें भगवान् की तरह मानते थे। आपने उनकी महिमा में अनेक भजनों की रचना की है। स्वभाव से आप अत्यन्त विनम्र एवं श्रद्धालु थे। आपकी रचनाएँ क्या हैं, मानों सन्त सिंगा के प्रति एक विनम्र श्रद्धांजलि हैं। शरत्पूर्णिमा के दिन सिंगा की कढ़ाई[1] के अवसर पर आपके द्वारा रचित भजन ही गाये जाते हैं। आपने सन्त सिंगा की महत्ता पर तथा उनकी समाधि के वर्णन में भी भजन लिखे हैं, जो निमाड़ी जनता के कण्ठ-कण्ठ में रम रहे हैं।

धनजीदास—आप भी सिंगा के शिष्य थे। आपने निमाड़ी में अपने ढंग की अनूठी और अनुपम रचनाएँ की हैं। आप जाति के नाई थे और गोगाँवा के समीप एक गाँव में आपका जन्म हुआ था। वेदा नदी के किनारे आज भी आपकी समाधि बनी हुई है। यों, आपके लिखे 'अभिमन्यु-व्याह', 'लीलावती', 'सुभद्रा-व्याह' आदि कई प्रसिद्ध रचनाएँ हैं; लेकिन इन सबसे अधिक प्रसिद्ध आपकी 'मोतीलीला' है। यह १७५ पदों का एक काव्य है। इसमें आपने एक धार्मिक कथा के आधार पर अत्यन्त ही मौलिक एवं नवीन कल्पना सँजोई है। भाव, भाषा, उपमा और अलंकार की दृष्टि से यह एक सर्वांगपूर्ण सुन्दर रचना है। इसमें आपने रूठी हुई राधा को मनाने के लिए मोतियों के व्यापारी के रूप में कृष्ण का वर्णन किया है।

बात यह हुई कि एक दिन राधिका अपना हार खूँटी पर रखकर पानी लेने चली गईं। लौटीं, तो हार गुम हो गया था। उन्होंने अपनी पड़ोसिन सहेलियों से पूछा कि यहाँ कोई आया था। उन्होंने कहा कि हाँ, नन्द के लाल कृष्ण आये थे। इसपर राधिका ने कृष्ण से पूछा। लीलामय कृष्ण अनेक कसमें खा-खाकर हार लेने से इनकार

---

१. सिंगा के पाँच भजन गाकर आरती करके प्रसाद बाँटा जाता है।—ले०

करते गये और राधिका उनकी कसमों को झूठी सिद्ध करती गईं। पति-पत्नी के विनोद के माध्यम से इसमें भगवान् कृष्ण के कार्यों की अच्छी चुटकी ली गई है।

कृष्ण कहते हैं कि ९९९ नदियों का पानी लाओ और उसे इकट्ठा करो। अगर हमने हार लिया होगा, तो हम डूब जायेंगे। इसपर राधिका कहती हैं कि सात समुद्र भरे थे, उसमें से तो तुमने मथकर चौदह रत्न निकाल लिये। वहाँ तो डूबे ही नहीं, तो यहाँ कैसे डूबोगे? इसपर कृष्ण कहते हैं कि हे राध! अभी अग्नि लाओ और उसमें गरम गोले तपाओ। उसे हम हाथ में रखेंगे। अगर हमने हार लिया होगा, तो हमारे हाथ जल जायेंगे। राधिका कहती हैं—'प्रह्लाद के संग बैठने पर होलिका-दाह में तो तुम जले ही नहीं, तो आग के गोलों से तुम्हारा हाथ कैसे जलेगा?' तब कृष्ण कहते हैं—'राधिका! इसी घड़ी कुम्भ मँगवाओ। उसमें जहरीला नाग है। उसे हम हाथ में लेंगे। अगर हमने हार लिया होगा, तो वह हमें डँस लेगा।' इसपर खीजकर राधिका कहती हैं—'छलिया, गेंद के लिए कालिया-दह में कूदकर तुम नाग नाथ लाये थे। उसने जब तुम्हें नहीं डँसा, तब यह नाग तुम्हारा क्या कर लेगा? और, इस तरह कृष्ण की एक भी बात का विश्वास न कर राधिका रूठकर अपने मैके चली जाती हैं। तब वहाँ कृष्ण मोतियों के व्यापारी बनकर जो लीला करते हैं, उसी का इसमें अत्यन्त सुन्दर वर्णन है।

रंकदास—आप उन्नीसवीं शती के लोकप्रिय सन्त-कवि हो गये हैं। सिंगा की निर्गुण-धारा के बाद निमाड़ी-लोकसाहित्य में सगुण काव्यधारा को प्रवाहित करने का श्रेय आपको ही है। आप हरदा-तहसील के नजरपुरा ग्राम के निवासी थे। आप गंगागीर के शिष्य और कृष्ण के उपासक थे। आपका काल संवत् १८४८—१९३२ रहा है। आपने विशुद्ध निमाड़ी में माया, ममता, तृष्णा आदि का विवेचन सुन्दर उदाहरणों द्वारा किया है। निमाड़ी शब्द-रचना की दृष्टि से आपकी रचनाएँ अद्वितीय हैं। आपने अपने एक भजन में तृष्णा को 'दो मुँह की लांडई', अर्थात् दोमुँहा साँप बताते हुए उसका सुन्दर विवेचन किया है।

आधुनिक काल में भामगड़-निवासी स्वामी ब्रह्मानन्द-कृत 'रामायण' और 'रामस्तवन' निमाड़ी-भाषा की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

●●

साहित्य-कुटीर
कालमुखो, खण्डवा
(मध्यप्रदेश)

द्यानतराय की काव्य-साधना

डॉ० श्रीनरेन्द्र भानावत, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

अट्ठारहवीं शती के उन कवियों में, जिन्होंने आध्यात्मभावना की लौ जलाकर 'आतमाराम' की आरती उतारी और शारीरिक उद्दाम वासना के कलुष को गलाया, द्यानतराय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामान्य रूप से उस समय के हिन्दी-कवि नखशिख-निरूपण और नायिका-भेद के रसीले घाटों पर विश्राम करते हुए शृंगार रस की वाग्धारा में बहे जा रहे थे। महाकवि देव जिस समय 'अखियों' को 'मधु की मखियाँ' बना रहे थे, लगभग उसी समय **'हम लागे आतमराम सौं'** का गीत गुनगुनाते हुए द्यानतराय प्रकट हुए। उन्होंने बहती हुई काव्यधारा को आत्मोन्मुखी बना दिया। उसके कलकल निनाद में छलिये को छलने का विभ्रम न था, वरन् वीतराग प्रभु को वरने का आत्मसंयम और प्रेम-निवेदन था।

जीवनवृत्त :

अपने पदों में द्यानतराय ने अपना वंश-परिचय दिया है।[1] उससे पता चलता है कि इनके वंश का सम्बन्ध अग्र नामक तपस्वी से रहा है, जिससे कालान्तर में ये अग्रवाल कहलाये। इनके पूर्वज हिसार और लालपुर होते हुए आगरा में आकर बसे। इनके पितामह का नाम वीरदास और पिता का नाम श्यामदास था। ये गोयलगोत्रीय जैन श्रावक थे। इनका जन्म सं० १७३३ में हुआ। जब ये नौ वर्ष के थे, (तभी सं० १७४२) में ही, इनके पिता की मृत्यु हो गई। १५ वर्ष की अवस्था में, सं० १७४८ में, इनका विवाह हो गया। इनके सात पुत्र और तीन पुत्रियाँ हुईं। सं० १७४६ में आगरा-निवासी पं० विहारीदास और पं० मानसिंह से धर्मोपदेश सुनकर ये जैनधर्म के प्रति विशेष श्रद्धालु बने। उनके कथन—**पछत्तर माता मेरी सील बुद्धि ठीक करी** से पता चलता है कि युवावस्था में इनपर भी प्रेम का रंग चढ़ा था और सं० १७७५ में माता के सत्संग और धार्मिक अनुष्ठान से ये अध्यात्मानुरागी बने थे। सं० १७७७ में इन्होंने 'सम्मेदशिखर' (बिहार के हजारीबाग

---

१. अग्रनाम तपसी बसे सौं अगरोहा भया,
 तिसकी संतान सब अग्रवाल गाए हैं।
ठारै सुत भए तिन ठारै गोत नाम दये,
 तहाँ सौं निकसि कैं हिसार माहिं छाए हैं॥
फिर लालपुर आय व्यैंक 'चौकसी' कहाय,
 गोलगोती वीरदास आगरे मैं आए हैं।
ताही के सपूत स्यामदास के द्यानतराय,
 देस पुर गाम सारे साहमी कहाए हैं॥
—धर्मविलास, पद ३६, पृ० २५७।

जिले का पारसनाथ पहाड़) की या । की। इससे इनकी धर्म-भावना को प्रबुद्ध होने का अवसर मिला। इनके कवि-जीवन के प्रमुख केन्द्र आगरा और दिल्ली नगर रहे हैं। दिल्ली में ये पं० सुखानन्दजी की सैली (गोष्ठी) के सम्पर्क में आये और अपने चिन्तत-मनन से काव्य-सिन्धु को कई अनुभव-रत्न प्रदान किये।[1]

ग्रन्थ-परिचय :

द्यानतराय की समस्त रचनाओं का संग्रह (कतिपय पदों को छोड़कर) 'धर्मविलास' नाम से प्रकाशित हुआ है। इसे कवि ने सं० १७८० में पूर्ण कर लिया था। इसमें ४५ विषयों पर रचनाएँ हैं। इनका सर्जन किसी लौकिक स्वार्थ की पूर्त्ति के लिए नहीं हुआ। स्वयं कवि के शब्दों में—

धरमविलास धर्म के कियैं सदा विलास,
धर्म कौ विलास यह धरमविलास है।

इसमें मुख्य रूप से तीन प्रकार की रचनाएँ संकलित हैं—

१. उपदेशात्मक—इन रचनाओं में जीव को धर्म, वैराग्य, संसार-स्वरूप, सुख-दुःख-निरूपण आदि का बोध देते हुए मुक्ति-मार्ग की ओर बढ़ने का उपदेश दिया गया है। ऐसी रचनाओं में **उपदेशशतक, सुबोधपंचासिका, धर्मपच्चीसी, व्यसनत्यागषोडश, सरधा-चालिसी, व्यौहारपचीसी, अध्यात्मपंचासिका, शिक्षापंचासिका, वैरागछतीसी** आदि का समावेश किया जा सकता है।

२. तत्त्वबोधात्मक—इन रचनाओं में जैनदर्शन को कविता के माध्यम से बोध-गम्य बनाने का प्रयत्न किया गया है। **तत्त्वसारभाषा, द्रव्यादि चौबोलपचीसी, चार सौ छह जीवसमास, दशस्थानचौबीसी, दशबोलपचीसी** आदि रचनाएँ इसी कोटि में आती हैं।

३. पूजा एवं स्तवनात्मक—इन रचनाओं में सज्जनों, महापुरुषों एवं तीर्थंकरों की पूजा तथा स्तुति की गई है। **एकीभावस्तोत्र, स्वयम्भूस्तोत्र, पार्श्वनाथस्तवन, स्तुति-बारसी, सज्जनगुणदशक, नेमिनाथबहत्तरी, आदिनाथस्तुति, जुगलआरती** आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।[2]

---

१. सत्रह सय तेतीस जन्म व्याले पिता मर्न,
अठताले व्याह सात सुत सुता तीनजी।
छयाले मिले सुगुरू बिहारीदास मानसिंघ,
तिनौं जैन मारग का सरधानी कीनजी॥
पछत्तर माता मेरी सील बुद्धि ठीक करी,
सत्तसरि सिखर समेद देह खीनजी।
कछु आगरे मैं कछु दिल्ली माहिं जोर करी,
अस्सी माहिं पोथी पूरी कीनी परवीनजी॥
—धर्मविलास, पद ३८, पृ० २५७-५८।

२. स्वयं कवि ने 'धर्मविलास' में संकलित रचनाओं के बारे में यह छन्द लिखा है—
पूजा बहु परकार दान के कवित्त सार,
चरचा अपार पद द्रव्य को विचार है।

डॉ० कामताप्रसाद जैन ने इनकी रचनाओं पर चर्चा करते हुए लिखा है कि शायद यही सबसे पहले कवि हैं, जिन्होंने हिन्दी में अनेक पूजाएँ रचीं और भक्तिवाद—'दासोऽहं' भावना का बीज' 'सोऽहं' भावना-रूपी अध्यात्मफल की प्राप्ति के हेतु जैनसाहित्य में बोया।[१]

काव्य-साधना :

द्यानतराय की कविता के तीन प्रधान विषय हैं—मुक्ति, भक्ति और नीति। मुक्ति की प्राप्ति जीवन का चरम लक्ष्य है। द्यानतराय की कविता का मूल स्वर भी यही है। पर, भक्ति और नीति के बिना उसकी उपलब्धि सम्भव नहीं। जहाँ मुक्ति की बात कवि ने की है, वहाँ वह दार्शनिक और तात्त्विक बन गया है। उसमें आत्मा को परमात्मा बनाने की तड़प है। इसीलिए, वह जीव के चारों ओर की परिस्थिति को देखता है। उसकी विवशता, महत्ता और क्षमता का वर्णन करता है। कभी उसे लगता है कि जीव संसार में फँस गया है, जो कदलीवृक्ष के समान निस्सार है। कभी उसे लगता है कि वह—

एक सेर नाज काज अपनो सरूप त्याज,
डोलत हैं लाज काज धर्म काज हानि के। (धर्मविलास, पृ० १३)

और कभी गृहस्थाश्रम के दुःखों को सुख समझने के कारण वह जीव को फटकारता है—

रूजगार बनै नाहिं धन तौ न घर माहिं,
खाने की फिकर बहु नारि चाहै गहना।
दैनेवाले फिरि जाहिं मिलै तौ उधार नाहिं,
साझी मिलैं चोर धन आवै नाहिं लहना।
कोऊ पूत ज्वारी भयौ घर माहिं सुत थयौ,
एक पूत मरि गयौ ताकौ दुख सहना।
पुत्री वर जोग भई ब्याही सुता जम लई,
एते दुख सुख जानै तिसै कहा कहना।

सचमुच, जीव परवश है। उसे चारों ओर से शत्रुओं ने घेर रखा है, पाँचों इन्द्रियाँ उसकी वैरिन हैं, चारों कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) उसके दुश्मन हैं। वह जिन्हें अपना समझता है, वे भी उससे कुछ-न-कुछ लेना चाहते हैं—

भगति कौ अधिकार पदनि कौ विसतार,
अध्यातम कौ निहार बानी कौ विथार है॥
अखर बावनी धार लोकालोक निरधार,
कोप भाव निरबार कथाहू उदार है।
धरम विलास मैं अनेक ग्यान परकास,
सब माहिं भगवान भगवान (भगवान) तार है॥ (पृ० २५६-५७)

१. हिन्दी-जैनसाहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १८६।

सफरस फास चाहै रसना हू रस चाहै,
नासिका सुवास चाहै नैन चाहै रूप कौं।
श्रवन सबद चाहै, काया तो प्रमाद चाहै,
वचन कथन चाहै, मन दौर धूप कौं।
क्रोध क्रोध कर्यौ चाहै, मान मान गह्यौ चाहै,
माया तौ कपट चाहै, लोभ लोभ कूप कौं।
परिवार धन चाहै आसा विषै सुख चाहै,
एते बैरी चाहैं नाहीं सुख जीव भूप कौं।।

इन शत्रुओं पर कैसे विजय प्राप्त की जाय ? ये शत्रु साधारण नहीं, असाधारण हैं, ये कभी-कभी आतंकित नहीं करते, वरन् हमेशा छाया की तरह जीव के साथ बने रहते हैं। इनसे मुकाबला बाह्य अस्त्र-शस्त्रों द्वारा नहीं किया जा सकता। इन्हें तो आत्मबल और मनोयोग से ही जीता जा सकता है। शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन्द्रियों के विषय हैं, अतः इन्द्रियों का निग्रह करना ही इन्हें जीतना है। काया को एकासन द्वारा, वाणी को मौन साधना द्वारा और मन की चंचलता को ध्यान-योग से ही वश में किया जा सकता है। क्रोध को क्षमा से, मान को विनय से, माया को सरलता से और लोभ को सन्तोष से जीता जा सकता। पारिवारिक मोह और विषय-लोलुपता का त्याग कर ही जीव सुखी हो सकता है।

इस सुख की अनुभूति जीव को तब होती है, जब वह आत्मस्वरूप को ठीक-ठीक समझ लेता है। और, तभी वह यह अनुभव कर सकता है कि पुद्गल के जितने भी पर्याय हैं, वे सब आत्मस्वभाव से भिन्न और नश्वर हैं। शाश्वत केवल चेतन आत्मा है। इस अमरता का बोध होते ही वह कबीर की तरह गा उठता है — **हरि न मरैं हम काहे को मरिहैं**। यह भावना जैनदर्शन की मूल भित्ति है। द्यानतराय ने इस भावना को यों व्यक्त किया है—

अब हम अमर भये न मरैंगे।
तन कारन मिथ्यात दियौ तज, क्यों करि देह धरैंगे ?

जन्म-मरण का कारण राग-द्वेष है। जब आत्मा वीतराग होकर कालातीत हो जाय, तब संसार का बन्धन उसे क्योंकर रहे—

उपजै मरै काल तैं प्राणी, तातैं काल हरैंगे।
राग दोष जग बन्ध करत हैं, इनको नाश करैंगे।।
अब हम अमर भये न मरैंगे।।

जहाँ कवि ने मुक्ति अथवा निर्वाण की बात कही है, वहाँ वह तात्त्विक और दार्शनिक बन गया है। कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद, जीव-अजीव-तत्त्व, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र आदि का स्वरूप-वर्णन इसी प्रसंग में आया है। यहाँ दर्शन के भार से कवित्व दब गया है। पर, जहाँ वह भक्ति की बात करता है, वहाँ उसका कविरूप हमें मुग्ध करता है। भक्त कवि के रूप में उसमें सरलता, विनम्रता,

निष्कपटता और लघुता के स्पष्ट दर्शन होते हैं। यह भक्ति-भाव दो रूपों में प्रकट हुआ है। एक तो पूजा करने एवं आरती उतारने में और दूसरा आत्मनिवेदन में।

आरती एवं पूजा के दोनों रूप—बाह्य और आन्तरिक—कवि को भाये हैं। बाह्य रूप में वह अष्टद्रव्यों—नीर, चन्दन, अक्षत, फूल, नैवेद्य, दीप, धूप और फल—से भगवान् की पूजा करता है और प्रत्येक द्रव्य से आत्मा को पवित्र बनाने की कामना करता है। यही बाह्य रूप भक्ति के विकास के साथ आन्तरिक रूप ग्रहण कर लेता है। अब भक्ति स्थूल से सूक्ष्म की ओर, परदेव से आत्मदेव की ओर और उपासना से साधना की ओर उन्मुख हो जाती है। अब उसे भौतिक अष्टद्रव्यों की आवश्यकता नहीं रहती। वह आत्मा के विभिन्न गुणों—समता, आनन्द अनुभूति, ज्ञान, ध्यान, निर्मल भावना आदि—से ही नवधा भक्ति का रूप सँजो लेता है। शरीर ही मन्दिर बन जाता है। मन ही देवता बन जाता है और स्वामी-सेवक का भेद मिट जाता है।

भक्ति के इस सूक्ष्म चिन्तन ने कविवर द्यानतराय को बाह्याचार का विरोधी बना दिया और आपने सन्त कवियों की भाँति विद्रोहात्मक स्वरों में कहा—

तू तो समझ समझ रे भाई।
कर मनका लें आसन मार्यो, बाहिज लोक रिझाई।
कहा भयो बक ध्यान धरे तैं, जो मन थिर न रहाई॥
मास मास उपवास किये तैं, काया बहुत सुखाई।
क्रोध मान, छल लोभ न जीत्या, कारज कौन सराई॥
मन बच काय जोग थिर करकै, त्यागो विषय कषाई।
'द्यानत' सुरग मोख सुखदाई, सद्गुरु सीख बताई॥

द्यानतराय की भक्ति-भावना में प्रेम-तत्त्व की कमी है। बनारसीदास की तरह माधुर्य-भावना का स्फुरण यहाँ नहीं हुआ है। इसीलिए, जो मार्मिकता और मधुरता भक्ति के लिए अपेक्षित होती है, वह यहाँ नहीं दिखाई देती; पर ईमानदारी और अनुभूति की कमी नहीं है।

भक्त कवि होने के साथ-साथ द्यानतराय नीतिकार भी हैं। रहीम, गिरिधर और वृन्द की भाँति दोहे लिखकर द्यानतराय ने कई जीवनोपयोगी बातें कही हैं। इन उपदेशों से सामान्य जन-जीवन पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है। आत्मा को कलुषित करनेवाले चार कषाय कहे गये हैं: क्रोध, मान, माया और लोभ। इनका त्याग करना आत्मा को पवित्र बनाना है। पर, कवि इनके विषय-क्षेत्र को बदलकर उनकी तीव्रता का उपयोग आध्यात्मिक क्षेत्र में करता है। क्रोध कर्मों पर हो, माया दूसरों के कष्ट-निवारण के लिए हो, और लोभ तपस्या के क्षेत्र में हो। राग धर्म-गुरु पर हो, द्वेष विषय-सुख से हो और मोह सब जीवों को आत्मवत् समझने में हो। इसी प्रकार कवि ने ज्ञान, ध्यान, बुद्धिमान्, मित्र, राजा, स्त्री, ईमानदार और पीर के आदर्श-स्वरूप को भी व्यक्त किया है। मनुष्य की असहायता और विवशता और लोलुपता का वर्णन देखिए—

आव गलै अब नहिं गलै, मोह फुरै नहिं ग्यान।
देह घटै आसा बढ़ै, देखो नर की बान॥

इस प्रकार की कई नीतिपरक बातें कवि ने पद्यबद्ध की हैं। कबीर ने जिस प्रकार अन्योक्तियाँ लिखकर सांसारिक प्राणियों को उपदेश दिया, ठीक उसी प्रकार की कवित्व-पूर्ण अन्योक्तियाँ तो द्यानतराय ने नहीं लिखीं; पर उस शैली को कहीं-कहीं अपनाया अवश्य है। मधुमक्खी द्वारा पूँजीपतियों को दी गई दान करने की उद्बोधना कुछ इसी प्रकार की है—

> **मैं मधु जोर्यौ नहिं दियौ, हाथ मलै पछिताय।**
> **धन मति संचौ दान दो, माखी कहै सुनाय॥**

कलापक्ष :

द्यानतराय का कलापक्ष भी पुष्ट है। तात्त्विक सिद्धान्तों को सरल भाषा में निरूपित करने में जितनी सफलता द्यानतराय को मिली है, वैसी सफलता अन्य जैन कवि को कम मिली है। भाषा में प्रवाह और भावानुकूल उतार-चढ़ाव है। भाषा पर कवि का अच्छा अधिकार है। उसमें प्रासादिकता है। पारिभाषिक शब्दों के आने से वह कहीं-कहीं दुरूह अवश्य बन गई है। यथावसर उसमें ओजस्विता का भी समावेश किया गया है। युद्ध-वर्णन में जिस प्रकार द्वित्व-वर्णनों का प्रयोग किया जाता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा और कर्मों के बीच जो युद्ध-रूपक अवतरित किया गया है, उसमें आठ कर्म-शत्रुओं की उखाड़-पछाड़ और पराजय का ओजस्वी वर्णन है—

> **तजत अंग अरधंग, करत थिर अंग पंग मन।**
> **लखि अभंग सरवंग, तजत वचननि तरंग मन॥**
> **जित अनंग थिति सैलसिंग, गहि भावलिंग वर।**
> **तप तुरंग चढ़ि समर रंग रचि, करम जंग करि॥**
> **अरि झट्ट झट्ट मद हट्ट करि, सट्ट सट्ट चौपट्ट किय।**
> **करि अट्ठ नट्ठ भव कट्ठ दहि, सट्ट सट्ट सिव सट्ट लिय॥**

भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए प्रायः साधर्म्यमूलक अलंकार प्रयुक्त हुए हैं। कषायों के कम होने पर आत्मा का प्रकाश उसी प्रकार फूट पड़ता है, जिस प्रकार आकाश में आच्छादित घनी घटाओं को फोड़कर सूर्य का प्रकाश फैलता है—

> **अंबर घन फट प्रगट रवि, भूपर करै उदोत।**
> **विषय कषाय घटावतैं, जिय प्रकास जग होत॥**

स्तुति-वर्णन में भी अलंकारों की छटा देखने को मिलती है। जिनस्तुति-वर्णन में जिनेश्वर भगवान् के प्रति जो अनन्य भावना और एकनिष्ठता व्यक्त की गई है, वह सालंकारिक ही नहीं है, बल्कि उनकी महत्ता, तेजस्विता और गरिमा के अनुकूल भी है—

> **स्याल ज्यौं जुरैं अनेक काम तौ सरै न एक,**
> **सिंह होय एक तौ अनेक काज हुही है।**
> **तारे जो असंख्य मिलै कहा अंधकार दावैं,**
> **एक भान ज्योति दसौं दिसा जोति उही है॥**

पाथर अपार भरे दारद न कहूँ टरे,
चिंतामनि एक मन चिंता जिन टुही है।
तैसैं भगवान गुनखान करुनानिधान,
सब देव आन मैं प्रधान एक तुही है॥

'नेमिनाथबहत्तरी' में नेमिनाथ प्रभु के प्रति जो वन्दना की गई है, वह रूपकात्मक है। नेमिनाथ चन्द्र हैं, उनकी वाणी चाँदनी, सांसारिक प्राणी चकोर, पण्डित लोग कुमुद और मुनिजन नक्षत्र हैं। उनकी सुधोपम वाणी से सांसारिक ताप नष्ट हो जाता है।

छन्दों की दृष्टि से भी द्यानतराय ने विविध प्रयोग किये हैं। मात्रिक और वार्णिक दोनों प्रकार के छन्द अपनाये हैं। मात्रिक छन्दों में छप्पय, कुण्डलियाँ, सोरठा, दोहा, चौपाई आदि प्रमुख हैं। वार्णिक छन्दों में कवित्त, सवैया, मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, शार्दूलविक्रीडित, मालिनी, वसन्ततिलका आदि प्रमुख हैं। भाषा पर जबरदस्त अधिकार का पता तब चलता है, जब वह एक छन्द में सर्वगुरु और एकलघु वर्णों का प्रयोग करता है या सर्वलघु और एकगुरु का प्रयोग करता है। दोनों के उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं—

सर्वगुरु एकलघु—

काहू सौं ना बोलैं बैना जो बोलैं तो साता दैना,
देखैं नाहीं नैनासेती रागी दोषी होइकै।
आसा दासी जानैं पाखैं माया मिथ्या दूरनाखैं,
राधा हीये माहीं राखैं सूधी दृष्टी जोइकै॥

सर्वगुरु एकगुरु—

नगन नग पर रहत, मदन मद नहिं गहत,
ममत मत नहिं लहत, दहत आसा।
करन सुख घटत जस, मरन भय हटत तस,
सरन बुध छुटत पुनि, मद विनासा॥

इतना सब कुछ होते हुए भी कवि ने गर्वोक्ति न कर अपनी लघुता ही प्रदर्शित की है। न उसने पिंगल पढ़ा, न 'नाममाला' देखी, न व्याकरण पढ़ा और न काव्य ही। उसने तो केवल आगम की छाया लेकर 'स्वर-कोट' गढ़ा है। उसका उद्यम तो आकाश-पक्षी की तरह ही है—**इस सबद गगन मैं सुकवि खग, अपना सा उद्यम।** कवि ने गंगा का जल लेकर गंगा को ही अपना अर्घ्य समर्पित कर दिया है—

अच्छर सेती तुक भई, तुक सौं हूए छंद।
छंदन सौं आगम भयौ, आगम अरथ सुछंद॥
आगम अरथ सुछंद, हमौनैं यह नहिं कीना।
गंगा का जल लेय, अरघ गंगा कौं दीना॥

●●

भाषीय मानचित्रों का इतिहास

श्रीरमानाथ शर्मा, एम्० ए०

भौगोलिक भाषाविज्ञान के अन्तर्गत भाषा-सम्बन्धी रूपों के क्षेत्रीय विस्तार का अध्ययन किया जाता है। भाषा-सम्बन्धी रूपों का क्षेत्रीय वैविध्य प्राप्त करने की प्रक्रिया में पहला स्थान प्रश्नावली का होता है। भाषावैज्ञानिक शोधकर्त्ता इस प्रश्नावली के विभिन्न प्रश्नों का उत्तर सतर्कतापूर्वक सूचकों के उच्चारण के अनुसार अत्यधिक सूक्ष्म ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन (Fine grades Phonetic Transcription) में संकलित करता है। सामग्री-संकलन के बाद भाषा-सम्बन्धी रूपों के परीक्षण और वर्गीकरण की समस्या आती है, जिसके फलस्वरूप विभिन्न रूपों की स्थानगत और रूपगत विशेषताओं पर आधृत प्रस्तुतीकरण प्रारूप (Presentation Draft) तैयार होता है। भाषा-सम्बन्धी रूप-वैशिष्ट्यों का वैविध्य दो रूपों में प्रस्तुत किया जाता है—

१. **कॉलम के रूप में**—जहाँ एक पृष्ठ के एक कॉलम में प्रश्नावली होती है और दूसरे पृष्ठ या उसी पृष्ठ के दूसरे कॉलम में सूचकों का उत्तर अलग-अलग प्रस्तुत किया जाता है।

२. **मानचित्रों के रूप में**—सूचकों के उत्तरों को मानचित्रों पर उनके अलग-अलग निवास-स्थानों के आधार पर प्रदर्शित किया जाता है। यह माध्यम पहले की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक, सरल तथा लाभदायक भी है; क्योंकि जिस प्रकार भौगोलिक मानचित्रों पर निर्दिष्ट स्थानों से गुजरनेवाली रेखाओं द्वारा तापमान आदि का ज्ञान सरलतापूर्वक हो जाता है, ठीक उसी प्रकार भाषा-सम्बन्धी रूपों की विविधता उनके क्षेत्रीय विस्तार के आधार पर अधिक स्पष्ट हो जाती है। भौगोलिक भाषाविज्ञान में समान रूप-वैशिष्ट्यों को प्रदर्शित करनेवाली रेखाओं को समरूप रेखाओं (Isoglosses) की संज्ञा दी जाती है। भाषीय एटलस मानचित्रों के ऐसे ही संकलित समूह हैं, जिनके आधार पर भाषा, बोली या उपबोलीगत विभेदों की क्षेत्रीय स्थिति पर विशेष प्रकाश पड़ता है। बहुधा विशेष ध्वनियों या शब्दों की स्थानीय सीमाओं का पृथक् निदर्शन ही ऐसे मानचित्रों का उपजीव्य होता है।

भाषा-सम्बन्धी रूप-वैशिष्ट्यों को मानचित्रों पर सर्वप्रथम प्रदर्शित करने का श्रेय जर्मनी को है, जिसके पदचिह्नों पर चलकर फ्रांस में और भी व्यवस्थित और मूल्यवान् मानचित्र प्रस्तुत किये गये। आज अमेरिका में भाषीय मानचित्रों का अत्याधुनिक सुसम्बद्ध तथा वैज्ञानिक रूप उभर रहा है, जिनके प्रस्तुतीकरण में भौगोलिक भाषाविज्ञान की सर्वोत्तम विधाओं और विज्ञान की तकनीकी उपलब्धियों का उपयोग किया जा रहा है। इस प्रकार, जब हम भाषा-सम्बन्धी मानचित्रों के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं, हमारे सम्मुख तीन प्रमुख संधार (Models) आते हैं :

१. जर्मन-संधार—(German Model); **२. फ्रेंच-संधार**—(French Model) और **३. न्यू इंगलैंड-संधार**—(New England Model)।

१. जर्मन-संधार—सन् १८७६ ई० में जर्मनी के एक भाषावैज्ञानिक जॉर्ज वेंकर ने राइन प्रदेश में Düssledorf के इर्दगिर्द स्थानीय बोलियों का सर्वेक्षण प्रारम्भ किया। उसके बाद उसने अपने सर्वेक्षण की सीमा और विस्तृत कर दी तथा पाँच वर्षों के परिश्रम के बाद उसने सन् १८८१ ई० में छह मानचित्रों के रूप में उत्तर-मध्य जर्मनी की बोलियों के भाषीय एटलस की पहली किश्त प्रकाशित की। बाद में उसने अपना सर्वेक्षण-कार्य स्थगित कर दिया; क्योंकि उसे राजकीय सहायता पर समूचे जर्मन-राज्य की बोलियों के सर्वेक्षण करने का आमन्त्रण मिल चुका था। उसने नमूने के ४० वाक्यों को, अधिकांशतः अध्यापकों की सहायता से, अनेक और विभिन्न जर्मन-बोलियों में अनूदित कराया और इस प्रकार स्थानीय वैविध्यों के अनुसार भाषीय रूपों को मानचित्रों पर दिखलाना सफल हो गया। वेंकर द्वारा तैयार कराये गये मानचित्र सन् १९२६ ई० से ही एफ़० व्रेडे के सम्पादन में (संक्षिप्त रूप में ही सही) प्रकाशित होते आ रहे हैं।

२. फ्रेंच-संधार—सन् १८८८ ई० में बी० पी० गास्ताँ (पेरिस) ने भाषीय मानचित्रांकन (Linguistic Cartrography) के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन दिया। इन सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने का श्रेय उसके शिष्य गिलेराँ को है, जिसने इनके ऊपर अद्भुत दक्षता प्राप्त कर ली थी। वस्तुतः, गिलेराँ क्षेत्रीय कार्य-प्रणाली की अद्भुत क्षमताओं से युक्त था। सौभाग्यवश उसे एडमण्ड एडमॉण्ट नामक एवं बिसाती की सेवाएँ भी उपलब्ध हो गई थीं, जो आश्चर्यजनक सहजज्ञात (Intution) और प्रतिभा से युक्त था। एडमॉण्ट की एक यह भी विशेषता थी कि उसे ध्वनियों की उच्चारण-विशेषताओं का पर्याप्त ज्ञान था और वह उन्हें यथावत् उच्चारित भी कर सकता था। गिलेराँ ने अपने समूचे एटलस की विषयवस्तु के लिए एडमॉण्ट द्वारा संगृहीत तथ्यों पर ही अपने-आपको आधृत रखा। उसने एडमॉण्ट को १९२० वाक्य तथा वाक्यांशों की प्रश्नावली सौंप दी और एडमॉण्ट साढ़े चार वर्षों तक प्रश्नावली का उत्तर व्यवस्थित ध्वनिलिपि में संगृहीत करता हुआ सर्वेक्षण के लगभग ७०० स्थानों का भ्रमण करता रहा। इस प्रकार, गिलेराँ की योजना और एडमॉण्ट की कार्यकुशलता के फलस्वरूप, सन् १८८६ से १९०८ ई० के बीच 'अटलास लिंग्विस्तीक दी ला फ्रांस' का प्रकाशन हुआ, जो भविष्य के भाषीय सर्वेक्षणों की दिशा में ज्योतिःस्तम्भ बन सका।

इसके पश्चात् अलबर्ट डाउजट (Albert Douzat) ने फ्रांसीसी बोलियों के मानचित्रांकन की दिशा में बहुत साहसिक कदम उठाया। उसने 'ला नावेल अतलास लिंग्विस्तीक दी ला फ्रांस' के निर्माण की घोषणा की। इस एटलस में लगभग एक दर्जन क्षेत्रीय एटलस अन्तर्भुक्त थे और क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से भी यह पूर्ववर्ती एटलस की अपेक्षा अधिक विस्तृत था। पहले एटलस का सामग्री-संकलन अकेले एडमॉण्ट ने किया था; पर इस एटलस में ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से प्रशिक्षित संकलनकर्त्ताओं का उपयोग किया गया। अकेले एडमॉण्ट पर ही भरोसा करने का कारण स्पष्ट करते हुए गिलेराँ ने

यह तर्क उपस्थित किया था कि एक व्यक्ति के संकलन में अस्पष्टता और आन्तरिक पार्थक्य नहीं रह पायगा। पर, डाउजट ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा कि यदि कुछ सामान्य सिद्धान्तों पर कुछ व्यक्तियों को प्रशिक्षित करके उनसे कार्य लिया जाय, तो परिणाम अधिक स्पष्ट और सम हो सकता है। इस एटलस की प्रश्नावली बहुत संक्षिप्त थी। इसके क्षेत्रीय कार्य (Field work) में प्रश्न पूछने की औपचारिकता की अपेक्षा स्वतोघटित (Spontaneous) होनेवाली बातचीत को अधिक महत्त्व दिया।

उपर्युक्त सिंहावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषीय मानचित्रांकन की दिशा में १९वीं शती के उत्तरार्द्ध का योग स्पृहणीय है। यहीं जर्मन तथा फ्रांसीसी एटलसों का तुलनात्मक विवेचन कर लेना भी अनुपयुक्त न होगा; क्योंकि २०वीं शती में भाषा-भूगोल का अध्ययन इन्हीं नींवों पर खड़ा किया जा सका। भाषीय मानचित्रों की आलोचना प्रस्तुत करते समय प्रश्नावली के स्वरूप, क्षेत्रीय विस्तार, सर्वेक्षण-स्थानों की संख्या, उद्देश्य, सामग्री-संकलन की विधि, समरूपीय रेखाओं के अंकन और सूचकों की स्थिति पर विशेष ध्यान दिया जाता है। यद्यपि जर्मन-एटलस की प्रश्नावली संक्षिप्त थी; पर उसकी क्षेत्रीय सीमा में समूचा जर्मन-राज्य आ जाता था और इसीलिए सर्वेक्षण-स्थानों की अधिकाधिक संख्या उसमें अपरिहार्य बन गई। सम्पूर्ण कार्यभार जॉर्ज वेंकर पर था, जिसने ४० नमूने के वाक्यों को शिक्षकों की सहायता से विभिन्न बोलियों में अनूदित कराया। संकलन जर्मन-लिपि में हुआ था, इसलिए कुछ अवैज्ञानिकता की सम्भावना भी इसमें निश्चित हो गई। विश्लेषण की दृष्टि से मानचित्रों ने ध्वनि, रूप तथा वाक्य तीनों को ही परखा। समरूपीय रेखाओं का अंकन भी सुन्दर बन पड़ा; क्योंकि सर्वेक्षण-स्थानों की बहुलता के कारण सर्वेक्षण-फलक सूक्ष्म हो गया था। फ्रांसीसी एटलस कुछ अर्थों में इससे अधिक वैज्ञानिक बन सका; क्योंकि इसकी प्रश्नावली व्यवस्थित थी। इसमें लगभग दो हजार शब्द और वाक्यांश थे। सामग्री-संकलन ध्वन्यात्मक लिपि में एक व्यक्ति द्वारा पूर्ण होने के कारण विवरण की यथातथ्यता में सहायक बना। किन्तु, सर्वेक्षण-स्थानों की सीमित संख्या के कारण फलक विस्तृत हो गया और समरूपीय रेखाओं के अंकन में स्पष्टता नहीं आ पाई।

गिलेराँ के आदर्श पर उसके दो स्विस-शिष्यों—के० जेवर्ग और जे० जूद ने सन् १९२८ से १९४० ई० के मध्य अपना Sprach und Sachatlas Italiens and der Subschweiz प्रकाशित कराया। इन दोनों ने विवरण को तथ्यपरक बनाया और अर्थ पर विशेष बल दिया। इसी प्रकार, स्वाबिया (एफ्० फिशर; २८ चित्र, १८९५), डेनमार्क (वी० वेनिके तथा एम्० किश्चेन्सन, १८९८—१९१२), रूमानियाँ (जी० वेगन, १९०९), कैटिलोनियाँ (ए० ग्रिएरा, १९२३) तथा ब्रिटेन (पी० एल्० रॉक्स, १९२४) के छोटे एटलस भी प्रकाशित हुए, जो अपने सीमित साधनों और उद्देश्यों के कारण अधिक ख्याति न प्राप्त कर सके।

३. न्यू इंगलैंड-संभार—न्यू इंगलैंड का एटलस वस्तुतः अमेरिकन कौंसिल ऑव लनड सोसायटी द्वारा नियोजित संयुक्तराज्य अमेरिका तथा कनाडा के भाषीय एटलस

की पहली किश्त है। इसी क्रम में मध्य अतलान्तक, दक्षिण अतलान्तक, उत्तर-मध्य, पश्चिमोत्तर-मध्य, राकी-पर्वतीय, प्रशान्ततटीय तथा ल्यूशियाना-राज्यों के सात अन्य एटलस भी प्रकाशित होंगे। ७३० चित्रों का न्यू इंगलैंड एटलस एक पृथक् भूमिका के साथ सन् १९३९—४३ ई० के बीच प्रकाशित हुआ है। भूमिकावाली पृथक् जिल्द में सर्वेक्षण के आधार और सामग्री-संकलन की विधियों पर विस्तृतरूपेण विचार किया गया है। इसके प्रस्तुतकर्त्ता हैं—हंस कुरैथ और एम्० एल्० हॉनले तथा उनके सहायक बी० ब्लॉक हैं। अबतक के प्रकाशित एटलसों की अपेक्षा यह एटलस उद्देश्य, प्रस्तुति और सामग्री की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। एटलस की प्रस्तुति के लिए एटलस-समिति ने भाषाविज्ञान में प्रशिक्षित व्यक्तियों को अपने आदर्श के अनुसार पुनः प्रशिक्षित किया। इस एटलस की सामान्य विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में रखा जा सकता है—

१. सामग्री-संकलन के लिए तीन प्रकार के सूचकों (Informants) का उपयोग किया गया :

(क) वृद्ध तथा अशिक्षित—इस प्रकार के सूचकों में देहाती क्षेत्रों के कृषकों और शहरी क्षेत्रों के ७० वर्ष (कुछ स्थितियों में ८० वर्ष) तक के मजदूरों एवं व्यापारियों को इस लक्ष्य के साथ परखा गया कि उनके उत्तरों से सम्बद्ध क्षेत्रों के प्राचीन भाषीय रूपों का ज्ञान हो और इस प्रकार ऐतिहासिक विवरण में सुविधा हो सके।

(ख) मध्य वय के स्नातक—इस प्रकार के सूचकों की संख्या पूरी संख्या की ४/५ है।

(ग) युवक स्नातक—इस प्रकार के सूचकों की संख्या पूरी संख्या की १/५ है, जिसका ३/४ उत्तरी न्यू इंगलैंड के शहरा क्षेत्रों में और १/४ उत्तरी देहाती क्षेत्रों में रहता है।

२. ८०० भाषीय रूपों की प्रश्नावली (जो पहले १२०० की थी) का संकलन सूक्ष्म ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन के अतिरिक्त तकनीकी उपादानों, जैसे टेप और डिस्क तथा फोनोग्राफ के माध्यम से भी हुआ। सामग्री का विश्लेषण उच्चारण, कोश, व्याकरण और वाक्य-रचना की दृष्टि से किया गया।

३. अलग-अलग क्षेत्रों की भाषीय विशेषताओं के अनुसार प्रश्नावली में कुछ परिष्कार भी किया गया; पर मूल शब्दावली सभी क्षेत्रों में समान रही।

४. प्रश्नावली के उत्तर पाँच कोटियों में वर्गीकृत हुए : (क) अनौपचारिक वार्त्ता से प्राप्त। (ख) प्रत्यक्ष माध्यम से प्राप्त। (ग) क्षेत्रीय अनुसन्धानकर्त्ता द्वारा संकेतित और सूचकों द्वारा स्वीकृत। (घ) संकलन की प्रक्रिया में सूचक द्वारा निर्दिष्ट। (ङ) अन्य भाषकों द्वारा प्रयुक्त और सूचक द्वारा निर्दिष्ट।

न्यू इंगलैंड-संधार के इस विवरण से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि आज हम जिस प्रकार के भाषावैज्ञानिक एटलसों को प्रस्तुत कर रहे हैं, उनमें प्राविधिक साधन तथा वैज्ञानिकता अपरिहार्य हैं। इन एटलसों के अतिरिक्त जापान, रूस और चीन में भी भाषीय मानचित्रांकन का प्रयास किया जा रहा है।

●●

मेघदूत के प्रेरणा-स्रोत

श्रीरामगोपाल मिश्र

आधुनिक अनुसन्धानों के आधार पर महाकवि कालिदास के सरस काव्य 'मेघदूत' के प्रेरणा-स्रोत ऋग्वेद, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि दूत बनाकर, उससे सन्देश भेजने की कल्पना कालिदास के सहस्रों वर्ष पूर्व विद्यमान थी। ऋग्वेद के दो स्थलों में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के पास अपना सन्देश भेजने के लिए किसी तीसरे साधन का सहारा लेता है।

सर्वप्रथम ऋग्वेद में (५।६१) रात्रि को दूती बनाकर सन्देश भेजने की अत्यधिक रमणीय कल्पना प्राप्त होती है। इसका सविस्तार वर्णन बृहद्देवता (५।५०—८०) में भी किया गया है। इसमें श्यावाश्व नामक एक आख्यान है। एक समय श्यावाश्व, राजा दार्भ्य रथवीति के यज्ञ में जाता है। यज्ञ विधि-विधान-सहित हो रहा है। राजा की कन्या भी याज्ञिक कार्यों में हाथ बटा रही है। उस अपूर्व लावण्यमयी राजकन्या को देखकर श्यावाश्व मुग्ध हो जाता है। परन्तु, उस समय तक वह सम्यक् मन्त्रद्रष्टा न था, जिस कारण राजकुमारी से अपना विवाह करने में असफल रहा। एक दिन वह राजकुमारी का स्मरण करता हुआ जा रहा था कि उसके सामने मरुद्गण का प्रादुर्भाव हुआ। उसने मरुद्गण का स्तवन किया। मरुद्गण अतीव प्रसन्न हुए और उसे मन्त्रशक्ति प्रदान कर अन्तर्हित हो गये। मन्त्रदर्शन की शक्ति प्राप्त होने के पश्चात् उसने रात्रि को दूती बनाया और अपना प्रणय-सन्देश राजा रथवीति के समीप भेजा। सन्देश में मार्मिकता और रसप्रवणता है। अचेतन पदार्थ रात्रि को दूती बनाकर, उससे सन्देश भेजने की यह मौलिक कल्पना विश्व-साहित्य में सर्वप्रथम मिलती है।

मन्त्रद्रष्टा श्यावाश्व के मन में शंका है कि कहीं राजा रथवीति यह न समझ बैठे कि उसकी (श्यावाश्व की) कामना हमारी कन्या के प्रति कम हो गई होगी। इस सन्देह की निवृत्ति के लिए वह सन्देश और अपनी प्रवृत्ति जताता है। उसका कथन है—'हे रात्रि-देवी! सोमयज्ञ सम्पन्न होने पर रथवीति से तुम यह कहना कि तुम्हारी कन्या के प्रति हमारी कामना कम नहीं हुई है।''

इस मन्त्र में समयानुकूलता और श्यावाश्व का राजकन्या के प्रति प्रगाढ प्रेम अभिव्यक्त हो रहा है। वह रथवीति के मानस में अंकुरित अविश्वास को ही सर्वप्रथम नष्ट कर देना चाहता है।

१. उत मे वोचतादिति
सुतसोमे रथवीतौ।
न कामो अप वेति मे॥
—ऋग्वेद, ५।६१।१८।

मेघदूत में यक्ष के सन्देश भेजने का भी यही एकमात्र प्रयोजन है कि प्रिया के प्रति उसका प्रेम विरह में भी किसी प्रकार भी कम नहीं हुआ है।[१] अपितु, वह पूर्ववत् विद्यमान है। वियोग-रूपी अग्नि प्रेम-सुवर्ण की आभा को कम नहीं करती, प्रत्युत उसे और भी दीप्त कर देती है। दोनों में साम्य स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ा साम्य यह है कि जिसप्रकार यक्षिणी तक पहुँचने के लिए यक्ष मेघ को अनेक अनुपम, रमणीय, रससिक्त दृश्यों का प्रलोभन देता हुआ मार्ग-निर्देशन करता है और अलका में अपने गृह की स्थिति और पहचान बतलाता है, ठीक उसी प्रकार ऋग्वेद में श्यावाश्व गन्तव्य स्थान और रमणीय दृश्यों का भी संकेत करता है। यथा—

'वे धनवान् रथवीति गोमती नदी के तीर पर निवास करते हैं और हिमवान् पर्वत के प्रान्त में उनका गृह अवस्थित है।'[२]

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार श्यावाश्व अचेतन पदार्थ रात्रि से अपनी प्रेमिका राजकन्या को प्राप्त करने के लिए पथ, निवास-स्थान, विभूति और अपना सन्देश तथा राजकुमारी के प्रति अपने प्रगाढ प्रेम को प्रकट करता है, ठीक उसी प्रकार मेघदूत में यक्ष ने भी किया है। यक्ष ने अभिज्ञान के रूप में अपने एक ऐसे रहस्य को भेजा है, जिसे यक्ष-यक्षिणी के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं जानता था। ऐकान्तिक रहस्य ही विश्वास की कसौटी है। श्यावाश्व ने भी रथवीति को यह विश्वास दिलाने के लिए रात्रि से अभिज्ञान के रूप में मन्त्र प्रेषित करता है कि उसमें मन्त्रद्रष्टा की शक्ति आ गई है।[३] श्यावाश्व चेतन है और यक्ष भी। रात्रि और मेघ दोनों सन्देशवाहक अचेतन हैं। यक्ष अपनी पत्नी के पास सन्देश भेजता है, श्यावाश्व अपनी प्रेमिका के पास। दोनों सन्ध्या समय सन्देश सुनाने की प्रार्थना करते हैं। दोनों सच्चे प्रेमी हैं।

ऋग्वेद में ही इसी प्रकार की एक दूसरी कल्पना मिलती है।[४] परन्तु, उसमें और श्यावाश्व की कल्पना में महान् अन्तर है। इसमें रात्रि अचेतन है, जबकि उसमें सरमा (इन्द्र की कुतिया) चेतन। दूसरा अन्तर यह भी है कि श्यावाश्व-कथा में सन्देशप्रेषक की उक्तियाँ सन्देशवाहक से हैं, तो उसमें सन्देशवाहक की उक्तियाँ सन्देशश्रोता से। इन्द्र ने सरमा से क्या कहा, यह अज्ञात है। सरमा ने जो पणिगण से कहा, वह ज्ञात है। जब कि श्यावाश्व-उपाख्यान में श्यावाश्व ने जो रात्रि से कहा, वह ज्ञात है, और रात्रि ने रथवीति से क्या कहा, यह अज्ञात है।

ऋग्वेद के संवादसूक्तों में सरमा और पणिगण का संवाद अत्यन्त ही प्रख्यात है। सरमा इन्द्र का सन्देश लेकर पणियों के सामने उपस्थित होकर कहती है— 'हे पणिगण!

---

१. स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥—उ० मे०, श्लो० ४९।

२. एष क्षेति रथवीतिः
मघवा गोमतीरनु।
पर्वतेष्वपश्रितः ॥—ऋग्वेद, ५।६१।१९।

३. ऋग्वेद, ५।६१।१७।

४. ऋग्वेद, १०।१०८।

मैं इन्द्र की दूती हूँ। इन्द्र ने मुझे भेजा है और उसके सन्देश को सुनाने के लिए तुम्हारे पास आई हूँ।'[१] आगे चलकर वह अपने आने का प्रयोजन, इन्द्र का अद्भुत पराक्रम आदि बातों का सांगोपांग वर्णन करती है। इस कल्पना में उतना स्वारस्य नहीं है, जितना कि श्यावाश्व की अद्भत और नितान्त सरस कल्पना में। प्रसंगवश, केवल इतना ही इंगित कर देना पर्याप्त समझता हूँ कि इस सूक्त में कुतिया को दूती के रूप में उपस्थित कर इन्द्र का सन्देश पणियों को सुनाया गया है, जिसमें कुतिया का ही कथन अधिक है, इन्द्र का सन्देश कम। इस कथन ने उक्ति-प्रत्युक्ति का रूप भी ले लिया है। अतः, इसमें उतनी मार्मिकता नहीं आने पाई है, जितनी श्यावाश्व-उपाख्यान में। सरमा-संवाद प्रेमाख्यान नहीं है, वरन् शौर्याख्यान है। श्यावाश्व-उपाख्यान एक प्रेमाख्यान है, अतः इसमें मार्मिकता है। यद्यपि यह कहानी बृहद्देवता (८।१।२४-३६) में कुछ और दूर तक चलती है, तथापि उसमें भी भावप्रवणता नहीं मिलती। कथा केवल वर्णनात्मक है और ऋग्वेद के संवाद का अनुगमन करती है। वैदिक युग में और अन्यत्र भी इस प्रकार की स्फुट नीरस कल्पनाएँ मिलती हैं।

पौराणिक युग में भी दूतों द्वारा सन्देश भेजने की कल्पनाएँ प्राप्त होती हैं, परन्तु वे ऋग्वेद के सरमा-संवाद का ही अनुगमन करती हैं। महाभारत में नल दमयन्ती के पास हंस द्वारा सन्देश भेजता है। इसमें सन्देश भेजने के पूर्व नल ने दमयन्ती को देखा तक नहीं है, केवल उसके सौन्दर्य की चर्चा सुनी है। यह वास्तव में श्रवणानुराग है। यहाँ भी हंस एक बुद्धिजीवी नहीं, तो चेतन अवश्य है। इसी प्रकार, कृष्ण का भी दूतकर्म प्रसिद्ध है, जो पूर्ण चेतन हैं। दोनों कथाएँ इस दिशा में विशेष योग नहीं प्रदान करतीं।

वाल्मीकिरामायण और मेघदूत में पर्याप्त साम्य है। राम अपना सन्देश हनुमान् द्वारा अपनी प्रिया सीता के पास भेजते हैं। वास्तव में, राम सन्देश नहीं भेजते, अपितु सीता की खोज कराते हैं। यक्ष अपना सन्देश मेघ के द्वारा प्रिया यक्षिणी के पास भेजता है। राम वनवासी हैं। यक्ष रामगिरिवासी है। राम अभिज्ञान (मुद्रिका) देते हैं। यक्ष रहस्यमयी कथा को ही अभिज्ञान के रूप में भेजता है, जो सर्वाधिक उपयुक्त और सरस है। मेघ मुद्रिका आदि जैसी वस्तुएँ ले भी नहीं जा सकता। राम जन्मभूमि से अलग हैं। यक्ष जन्मभूमि से भ्रष्ट है। राम स्वयं हनुमान् को सीता तक पहुँचने का मार्ग बताने में असमर्थ थे, अतः सुग्रीव ने हनुमान् को लंका का मार्ग बतलाया। यक्ष स्वयं ही मेघ को अलका का मार्ग बतलाता है। सन्ध्या समय हनुमान् लंका में प्रवेश करते हैं। मेघ भी अलका में सांयकाल ही प्रवेश करने का आदेश पाता है। हनुमान् सीता को सन्देश सुनाते हैं और यक्ष अपना सन्देश यक्षिणी के पास भेजता है।[२] प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ मेघदूत की टीका में लिखते हैं—**सीतां प्रति हनुमत्सन्देशं मनसि निधाय मेघदूतसन्देशं कविः कृतवानित्याहुः।** मल्लिनाथ के समय मेघदूत-विषयक यह धारणा सर्वसाधारण में थी कि कवि ने सीता के प्रति हनुमान् के सन्देश को मन में रखकर मेघदूत की रचना

१. 'इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि।' —ऋग्वेद, १०।१०८।१।
२. प्रक्षिप्त श्लोकों के आधार पर मेघ यक्षिणी को सन्देश सुनाता है।

की है। उनका 'ग्राहुः' क्रिया इस बात को सूचित करती है। अतः, मल्लिनाथ के अनुसार मेघदूत का प्रेरणा-स्रोत वाल्मीकिरामायण ही है।

सम्भवतः, मेघदूत के वर्णित अंशों के आधार पर तत्कालीन धारणा उत्पन्न हुई हो, जिसे मल्लिनाथ ने भी माना। यथा : **जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु; रामगिर्याश्रमेषु; वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु; इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा** इत्यादि अंशों में राम की कथा का आभास मिलता है। यक्ष मेघ पर हनुमान् का आरोप करता हुआ कहता है–

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा
त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य सम्भाव्य चैव ।
श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता...।

अर्थात्, 'हे सौम्य ! तेरे इतना कथन के पश्चात्, मेरी पत्नी श्रवणतत्परा होकर, जैसे जनकतनया सीता ने हनुमान् से राम का सन्देश उनकी ओर उन्मुख होकर सुना था, उसी प्रकार सुनेगी।' इसमें सीता और हनुमान् तथा उनके वार्त्तालाप और स्थिति का भान हो रहा है। अतः, विशेष रूप से इसी श्लोक के आधार पर रामायण में मेघदूत के उत्स के पक्षपाती अनेक आलोचक हैं, जिनमें मल्लिनाथ प्रमुख हैं। महाभारत में दमयन्ती के पास हंस द्वारा राजा नल का तथा वाल्मीकिरामायण में सीता के पास हनुमान् द्वारा राम का सन्देश चेतन पदार्थ द्वारा ही भिजवाया गया है, अचेतन द्वारा नहीं। सन्देश भेजने की इस अत्यधिक प्राचीन परिपाटी में 'कामविलापजातक' की एक कथा विशेष योगदान करती है। कामविलापजातक (२।४४३) में कुछ मेघदूत के समान ही सन्देश भेजने की कल्पना है। इसमें एक काक द्वारा अपनी पत्नी के पास सन्देश भेजा गया है। इसमें भी कौआ चेतन है।

उपर्युक्त विवेचन से ऋग्वेद और रामायण ही मेघदूत के प्रधान प्रेरणास्रोत परिलक्षित होते हैं। महाकवि कालिदास ने रामायण से पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण कर उसको अपनी प्रतिभा से सरस और नितान्त उपादेय बनाया है। कालिदास ने सबसे अधिक सम्मान रामायण को ही दिया है। पुरानी कृतियों से कथावस्तु, भाव, भाषा, शैली आदि ग्रहण करने पर भी कालिदास का अपना वैशिष्ट्य कुछ नवीन ही प्रतीत होता है। पुराने आख्यान को नवीन रूप में संसार के समक्ष प्रस्तुत करने में जिस कला की आवश्यकता होती है, वह कालिदास में थी।

फिर भी, रामायण से अधिक साम्य ऋग्वेद के श्यावाश्व-सन्देश में है। जिस प्रकार कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक की प्रेरणा ऋग्वेद (१०।९५) से ली है, उसी प्रकार मेघदूत की प्रेरणा भी ऋग्वेद (५।६१) से ही ली है। दोनों में पर्याप्त मात्रा में साम्य दरसाया जा चुका है। दोनों में अचेतन पदार्थ के द्वारा प्रणय-सन्देश भेजा गया है। दोनों में प्रगाढ प्रणय की उत्कण्ठाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। अतः, ऋग्वेद के श्यावाश्व-उपाख्यान को ही कालिदास के मेघदूत का प्रेरणा-स्रोत मानना अधिक उचित है।

●●

रिसर्च-स्कॉलर, संस्कृत-विभाग
सागर-विश्वविद्यालय, सागर

अपभ्रंश-भाषा के सन्धि-काव्य

श्रीअगरचन्द नाहटा

अपभ्रंश में जैन कवियों का जो विविध प्रकार का साहित्य मिलता है, उसकी परम्परा राजस्थानी, हिन्दी और गुजराती भाषाओं के साहित्य में प्रचुरता से प्राप्त होती है। इन भाषाओं को अपभ्रंश की जो महान् देन है, उस सम्बन्ध में डॉ० नामवरसिंह, डॉ० हरिवंश कोछड़ आदि ने कुछ प्रकाश डाला है; पर कुछ ऐसी रचनाएँ भी हैं, जिनकी ओर अभी तक हमारे विद्वानों का ध्यान नहीं गया। यहाँ ऐसे ही एक रचना-प्रकार सन्धि-काव्यों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला जाता है।

अपभ्रंश में 'सन्धि' शब्द संस्कृत के सर्ग या अध्याय के अर्थ में आता है। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—**पद्यं प्रायः संस्कृतप्राकृताऽपभ्रंशग्राम्याभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत-सर्गाऽऽश्वाससन्ध्यवस्कन्धकबन्धं सत्सन्धिशब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम्।** इससे जान पड़ता है कि मूलतः संस्कृत के महाकाव्य सर्गों में, अपभ्रंश के महाकाव्य सन्धियों में और ग्राम्य भाषा के महाकाव्य अवस्कन्धों में विभक्त होते थे।

अपभ्रंश-महाकाव्य सन्धियों से युक्त होते हैं, यह तो सर्वविदित है। किन्तु, परवर्त्ती काल में 'सन्धि'-संज्ञक खण्डकाव्यों की भी प्रचुरता से रचना हुई है, इसकी जानकारी बहुत थोड़े लोगों को है। अपभ्रंश की विविध प्रकार की परम्परा को श्वेताम्बर जैन विद्वानों ने सबसे अधिक अपनाया है। उनकी अधिकांश रचनाएँ राजस्थानी और गुजराती भाषा में हैं। 'सन्धि'-संज्ञक स्वतन्त्र काव्य भी श्वेताम्बर जैन विद्वानों के ही प्राप्त हैं। अपभ्रंश में १३वीं शती से ऐसे चरित या खण्डकाव्य रचे जाने लगे थे और १५वीं शती तक के लगभग ऐसे ही २० सन्धि-काव्य मिलते हैं।[1] १४वीं शती से प्राचीन राजस्थानी या गुजराती में भी 'सन्धि'-संज्ञक काव्य रचे जाने लगे और १८वीं शती तक लगभग ५० सन्धि-काव्य राजस्थानी में प्राप्त हुए हैं। उन्हीं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत लेख में दिया जा रहा है।

संवत् १२३८ में रत्नप्रभसूरि ने 'उपदेशमाला' नामक प्राचीन प्राकृत-ग्रन्थ की साढ़े ग्यारह हजार श्लोकों में विस्तृत टीका बनाई है। उस टीका में बहुत-सी प्रासंगिक कथाएँ हैं। उनमें से कुछ कथाएँ अपभ्रंश के 'सन्धि'-काव्य के रूप में भी हैं। उनकी नामावली इस प्रकार है :

१. ऋषभ पारणक-सन्धि, गाथा ७८।

आदि : **जं किर पावपंकु पक्खालइ, भवियह मेक्खसोक्खु दिक्खालइ।**
संधि बंध संबंध रवन्नउँ, चरिउ त रिसह जिणिंदह वन्नउं ॥३॥

---

१. डॉ० हरिवंश कोछड़ के 'अपभ्रंश-साहित्य' नामक शोध-प्रबन्ध में केवल एक 'भावना-सन्धि-प्रकरण' का ही विवरण दिया गया है।

२. महावीर-चन्दनबाला पारणा-सन्धि, गाथा १०१।

आदि : तिसलादेवि कुक्खिकलहंसह, खत्तियनायवंस अवयंसह।
छिन्नसुवन्न सुवन्नसरीरह, पारण संधि भणउं जिणवीरह ॥१॥

३. गजसुकुमाल-सन्धि, गाथा ८५।

अन्त : इय गयसुकुमालिहि, चरिउ अबालहि, आइसाहस निव्वाहवरू।
जो पढइ भत्तिभरि, गुणइ महूरसरि, जाइ दूरितसुदुरियभरू ॥८५॥

४. शालिभद्र महाऋषि-सन्धि, गाथा ९४।

आदि : सालिगामुनामेण पसिद्धओ, आसि गामु धणधन्नसमिद्धओ।
धन्ना नामि कावि विहवंगण, तहिं कम्मयरी आसि अकिंचण ॥१॥

५. अवन्तिसुकमाल-सन्धि, गाथा ५७।

आदि : इह अत्थि नयरि नामिण अवंति, जहिं तुंगचंगचेइय सहंति।
तह ताण पुरउ सुपयट्ट नट्ट, चच्चर चउक्क चउहट्ट हट्ट ॥१॥

६. इसके बाद मेतार्य महामुनि-सन्धि २०३ गाथाओं में है; पर यह प्राकृत-भाषा में निबद्ध है। बीच-बीच में कुछ संस्कृत-श्लोक भी दिये गये हैं।

७. पुरर्णषि-सन्धि, पद्य ३२।

अन्त : अवसरि वीरजिणेसरू वि काउसग्गु पारेइ।
जिव जंगमु वरकप्पतरू महि मंडलि विहरेइ ॥६२॥

इसके पश्चात् संवत् १२९७ से १३२८ के बीच जिनप्रभसूरि ने १. अनाथिसन्धि, २. जीवानुशासित-सन्धि (कड़वक २) और ३. मयणरेहा-सन्धि (कड़वक ५, संवत् १२९७) बनाई, ४. नर्मदासुन्दरी-सन्धि (जिनप्रभसूरि-शिष्य-रचित, सं० १३२८), ५. अन्तरंग-सन्धि (९ अधिकार गु०, श्लो० २०६)[1] रत्नप्रभ, ६. वयरस्वामी-सन्धि ७. अवन्ति-सुकमाल-सन्धि और ८. स्थूलिभद्र-सन्धि नामक अपभ्रंश-सन्धियों की तालपत्रीय प्रतियाँ पाटण के 'जैनभण्डार' में हैं। ये सभी १३वीं शती के अन्त और १४वीं शती के प्रारम्भ की हैं। १५वीं शती के विशालराजसूरि के शिष्य-रचित 'तपसन्धि' की संवत् १५०५ की लिखी हुई प्रति 'पाटण-भण्डार' में है। 'जैन गुर्जर-कवि', भाग १ में ५ कड़वक की 'चउरंग सन्धि' नामक रचना का भी उल्लेख किया गया है।

अब हमारे संग्रह में जो प्राचीन सन्धि-काव्य हैं, उनका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है :

१. भावना-सन्धि, कड़वक ६, गाथा ६२, शिवदेवसूरि-शिष्य जयदेव मुनि-कृत।[2] संवत् १४९३ में लिखित प्रति में। (प्रकाशित विशेष विवरण द्र० 'अपभ्रंश-साहित्य', पृ० २९१ से २९७)

---

१. सं० १३०२ लि० प्रति की प्रतिलिपि हमारे संग्रह में है।—ले०

२. अन्त : निम्मलगुण भूरिहि सिवदेवसूरिहिं पढम सीसु जयदेव मुणि।
किय भावण-संधी भावु सुबंधी, णिसुणहु अन्नवि धरउ मणि ॥६२॥

२. शील-सन्धि, जयशेखरसूरि-शिष्य[1]-रचित, गाथा ३४। सं० १४९३ में लिखित प्रति में।
३. उपधान-सन्धि, गाथा २५। जयशेखरसूरि-शिष्य[2]-कृत।
४. उपदेश-सन्धि, गाथा १९, हेमसार-रचित।[3]
५. आनन्दश्रावक-सन्धि, गाथा ७५, श्रीरत्नसिंहसूरि-शिष्य विनयचन्द्र-[4]रचित। संवत् १३३८ के लगभग।
६. केशी गौतम-सन्धि,[5] गाथा ७०।
७. श्रीहेमतिलकसूरि-सन्धि, गाथा ४०। यह उपर्युक्त सभी रचनाओं से कुछ भिन्न पड़ जाती है। क्योंकि, उपर्युक्त रचनाएँ या तो पौराणिक सन्तों और सतियों-सम्बन्धी या औपदेशिक हैं, जब कि यह रचना विशुद्ध ऐतिहासिक है। हेमतिलकसूरि नामक जैनाचार्य के जीवनवृत्त की घटनाएँ संवत् के उल्लेख-सहित इसमें दी गई हैं।

रचना का संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

नागोर के गांधी बीजउ को दोलउ नामक पुत्र हुआ। उसके १४ वर्ष के होने पर बड़गच्छ के वादिदेवसूरि-परम्परा के आचार्य जयशेखरसूरि का वहाँ पदार्पण हुआ। दोलउकुमार ने उन आचार्यश्री की धर्मदेशना सुनी और उससे प्रभावित होकर कडलु नगर के ऋषभ-मन्दिर में संवत् १३५३ में मुनिदीक्षा ग्रहण की। उनका दीक्षानाम 'हेमकलश' रखा गया। पढ़-लिखकर ये विद्वान् बने और संवत् १३७० में उन्हें वाचनाचार्य का पद दिया गया। उस समय पालही साह ने उत्सव किया। अनुक्रम से विहार करते हुए वे नागोर आये। तब सं० १३७४ के जेठ सुदि २ में उन्हें वज्रसेनसूरि ने अपने पट्ट पर स्थापित किया। इस आचार्य-पद का उत्सव नाहरवंशीय फम्मणु श्रावक ने किया था। अन्त में आरासन में आने पर उन्होंने अपना अन्तकाल समीप आया देखा, तो अनशन-

---

१. अन्त : इय सीलह संधी अइय सुबंधी जयसेहर सूरि सीस कय।
भवियह निसुणेविणु, हियइ धरेविणु, सील सील धम्मि उज्जम करहो॥

२. यह अबतक अज्ञात थी, इसलिए आदि-अन्त दे रहे हैं—
आदि : फलबद्धीय मंडण, दुहसय खंडण, पासजिणि नमेवि करि।
जिण धम्म पहाणहं, तउव उवहाणं, संधि मुणउ जण कन्हु धरि॥१॥
अन्त : इय तव उवहाणहं सन्धि जयसेहर सूरि सीस किय।
जे पढइ पढावहिं अनुमनि भावहिं ते पांवहिं सुह परम पय॥२५॥

३. उवएह सह संधि, निरमल बंधिय हेमसारू इम रसि कर ए।
जो पढ़इ पढ़ावइ, अरु मनि भावहिं वसुह ऋद्धि वृद्धिसो लहइ ए॥१॥

४. आदि : श्री वीर जिणंदह पणय सुरन्दहः पणमवि गोयम गुण निहिहि।
आणंद सु सावय धम्म पभावइ, मणि सं **संधि** आगमविहिहि॥१॥
अन्त : श्री **रयणसिंह** सुगुरु वएसी, श्री **विनयचन्द्र** तसु सीस लेसी।
अब्भयणं पढम् इय सत्तमंगी, उद्धरियु **सन्धि बंधेण** रंगी॥७॥

५. आदि : अत्थि पसिध सुद्ध सिद्धन्ते, कहिजु उत्तरझैयण वहन्ते।
केसी गोयम धम्म विचारु, **संधि बंधि** सु कही जै सारू॥
अन्त : इम करवि विचारू संजमि सारू, पाले विणु जम् मोक्खि गया।
ते **गोतम केशि** चित्ति निवेसि, झायइ मवियाणंद मया॥७॥

आराधना करके शरीरत्याग किया। संवत् १४०० में बिलाड़ पद्मसाह के उत्सव द्वारा उनके पट्ट पर रत्नशेखरसूरि स्थापित किये गये। हेमतिलकसूरि ने ६० वर्ष तक संयम-व्रत का पालन किया और ६४ वर्ष की आयु में स्वर्गवासी हुए।[1] एकादशी को अनशन करके माघ कृष्ण १२ को गच्छ-सम्बन्धी शिक्षा देते हुए वे स्वर्ग सिधारे। हेमतिलकसूरि-सन्धि का आदि-अन्त इस प्रकार है —

आदि : पाय पणवि श्रीवीर जिणंदह अनु श्रीगोयम सामी मुणिन्दो।
हेमतिलय सूरिहि गुण लेसो संधि बंधि हउं किमपि भणेसो ॥१॥

अन्त : जसु महिम करन्तइ जणि गुणवन्तइ जिण शासण उनोइ वओ।
सो गुरु नीय गच्छहं अणु मुखि सच्छहं संघः मण वच्छीय दियउ ॥४०॥

अब राजस्थानी-भाषा के जो सन्धि-काव्य १६वीं से १८वीं शती में प्राप्त हुए हैं, उनकी सूची कर्त्ता, समय तथा प्रति-प्राप्तिस्थान-सहित दी जा रही है :

८. मृगापुत्र-सन्धि, कल्याणतिलक, सं० १५५० लगभग, हमारे संग्रह में।
९. धनासन्धि, गाथा ६५, कल्याणतिलक, सं० १५५१ लगभग।
१०. गजसुकमाल-सन्धि, गाथा ७०, मूलप्रभ, सं० १५५३, जैन गुर्जर-कवियों में उल्लेख।
११. नन्दनमणिहार-सन्धि, चारुचन्द्र, सं० १५८७, हमारे संग्रह में।
१२. उदाइ राजर्षि-सन्धि, संयममूर्त्ति, सं० १५९०, जैन गुर्जर-कवियों में उल्लेख।
१३. गजसुकमाल-सन्धि, गाथा ७०, संयममूर्त्ति, सं० १५८०।
१४. सुखदुःखविपाक-सन्धि, धर्ममेरु, सं० १६०४, जयपुर-भण्डार।
१५. सुबाहु-सन्धि, पुण्यसागर, सं० १६०४, हमारे संग्रह में।
१६. चित्रसम्भूति-सन्धि, गाथा १०९, गुणप्रभसूरि, संवत् १६(०)८, आश्विन वदि ९, गुरु, जैसलमेर में रचित, जैसलमेर-भण्डार।
१७. अर्जुनमाली-सन्धि, नयरंग, सं० १६२१, जैसलमेर-भण्डार।
१८ जिनपालित जिनरक्षित-सन्धि, कुशललाभ, संवत् १६२१, बृहद्ज्ञान-भण्डार, बीकानेर।
१९. हरिकेशिसन्धि, कनकसोम, सं० १६४०, बृहद्ज्ञान-भण्डार।
२०. सम्पत्ति-सन्धि, गाथा १०६, गुणरत्न, सं० १६३०, हमारे संग्रह में।
२१. गजसुकमाल-सन्धि, गाथा ३४, मूलावाचक, संवत् १६२४, जैन गुर्जर-कवियों में उल्लिखित।
२२. चउसरण प्रकीर्णक-सन्धि, गाथा ९१, चारित्रसिंह, सं० १६३१, जैसलमेर-भण्डार।
२३. अमेरसेन वयरसेन-सन्धि, प्रबन्धरंगकुशल, सं० १६४४, हमारे संग्रह में।
२४. भावना-सन्धि, जयसोम, सं० १६४६, हमारे संग्रह में।
२५. अनाथी-सन्धि, विमलविनय, सं० १६४७, हमारे संग्रह में।
२६. कयवन्ना-सन्धि, गुणविनय, सं० १६५१, बृहद्ज्ञान-भण्डार।
२७. जिनपालित जिनरक्षित-सन्धि, मुनिशील, सं० १६५८, ईडर-भण्डार।

---

१. जागपुरीय तपागच्छ-पदावलि में भी हेमतिलकसूरि का विशेष वृत्तान्त नहीं मिलता, इसलिए इस प्रति का ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़ा महत्त्व है।

२८. नन्दिषेण-सन्धि, दानविनय, सं० १६६५, हमारे संग्रह में ।
२९. मृगापुत्र-सन्धि, सुमतिकल्लोल, सं० १६६५ (?) ।
३०. मृगापुत्र-सन्धि, लक्ष्मीप्रभ, सं० १६७७ ।
३१. आनन्द-सन्धि, श्रीसार, सं० १६८४, जैसलमेर-भण्डार ।
३२. केशी गोयमा-सन्धि, नयरंग, १७वीं शती, हमारे संग्रह में ।
३३. नमिसन्धि, गाथा ६९, विनय (समुद्र), १७वीं शती, बृहद्ज्ञान-भण्डार ।
३४. महाशतक-सन्धि, धर्मप्रमोद, हमारे संग्रह में ।
३५. कसायसन्धि, विद्याकीर्त्ति, हमारे संग्रह में ।
३६. सुबाहुसन्धि, मेघराज, लींबडी-भण्डार ।
३७. कण्डरीक पुण्डरीक-सन्धि, राजसार, सं० १७०३, जैसलमेर-भण्डार ।
३८. जयन्तिसन्धि, अभयसोम, सं० १७२१ भाद्र, हमारे संग्रह में ।
३९. भद्रनन्द-सन्धि, राजलाभ, सं० १७२३, श्रीपूजजी-संग्रह में ।
४०. प्रदेशी-सन्धि, कनकविलास, सं० १७५०, हमारे संग्रह में ।
४१. हरिकेशी-सन्धि, सुमतिरंग, सं० १७२७, हमारे संग्रह में ।
४२. चित्रसम्भूति-सन्धि, गाथा ३९, नयप्रमोद, सं० १७२९, हमारे संग्रह में ।
४३. इषुकार-सन्धि, खेमो, सं० १७४५, हमारे संग्रह में ।
४४. अनाथी-सन्धि, खेमो, सं० १७४५, हमारे संग्रह में ।
४५. थावच्चा-सन्धि, श्रीदेव, सं० १७४९, बृहद्ज्ञान-भण्डार ।
४६. आनन्द श्रावक-सन्धि, श्रीदेव, सं० १७४९ ।
४७. मृगापुत्र-सन्धि, उदयसिंह, सं० १७५३ ।
४८. मेघकुमार-सन्धि, कुशल, सं० १७९...।
४९. भरतसन्धि, बे० पद्मचन्द्र, १८वीं शती, जैसलमेर-भण्डार ।
५०. मृगापुत्र-सन्धि, जिनहर्ष, १८वीं शती, जैसलमेर-भण्डार ।
५१. चन्दनबाला-सन्धि, अज्ञात, मुनि जिनविजयजी...। ५२. सुबाहुसन्धि, अज्ञात, अपूर्ण ।

बड़गच्छ की एक संग्रह-पुस्तिका की सूची के दो पत्र प्राप्त हुए हैं, उनमें शीलसन्धि, भावना-सन्धि, केशी गौतम-सन्धि, उपधान-सन्धि आणंदसुश्रावक-सन्धि, अनाथी-सन्धि और पारणा-सन्धि इन सात सन्धियों के नाम हैं । पर, वह प्रति प्राप्त नहीं होने से इसी नाम-वाली जिन सन्धियों का उपर उल्लेख किया गया है, वे ही हैं । इनसे भिन्न, निर्णय नहीं किया जा सकता । नमूने के तौर पर एक छोटी-सी सन्धि यहाँ प्रकाशित की जा रही है ।

कवि हेमसारु-रचित उपदेश-सन्धि

ससिहर सम वयणीय, दीहर नयणीय, हंस गमणि सरसइ सुमरेवि ।
जिण धम्म पसिद्धिय, बुद्धि समिद्धिय, भणि सुसंधि उवएसवर ॥१॥
रे जीव तणी गति विसमजाणि, हिंडइ चउरासी लक्ख खाणि ।
जिम अंजुलि धारि उगलइ नीरू, तिम परियण धण अथिरु सरीर ॥२॥
भव दुलह लहेविणु मणुय जम्मु, सावय कुलि कारणु धम्मु रम्मु ।
रयण तिहु भुवणि सार, बारहवय पालय निरइयार ॥३॥

पालीजइ जीव दया विसाल भासीजइ हासा मिसि न आलु ।
नय चोरी कीजइ नरयकार, पालीजइ सीलु अखंड धार ।।४।।
अति लोभु न कीजइ हियइ सूल, संतोषु धरीजइ धम्म मूल ।
दम इंदिय चंचल चल सहाव, दीजीजइ न स्त्री हाव भाव ।।५।।
लोपीजइ नं गुरु वचनलीह, बोलीजइ मधुरी वाणि जीह ।
न वसीजइ नट कुट खुंट संगि, उवयारु धरीजइ विविह भंगि ।।६।।
नवकारू धरीजइ, मन सुमरीजइ, एक झाणि अरहंत पर ।
सुहगुरु पणमीजइं भावु धरीजइ, सुहगुरु देसण अणुसरउ ।।७।।
अहह हियइ धरीजइ सुगुरु वाणि, अविमासिउ काजु न जाइ ठाणि ।
भासीजइ नं पर मरम मोसु, आकोसु न दीजइ आल दोसु ।।८।।
धारीजइ मनि सम्मत सारु, पामीयइ जेम संजमह पारु ।
नं दीण वयण जंपियइ लोइ, जीवीजइ जां लगु जीव लोइ ।।९।।
नं कीजइ पत्थणहार भंगु, टालीजइ दूजण जण कुसंगु ।
अप्पाण पसंसा मा करेसु, सिंगारु सुउब्भड़ मा धरेसु ।।१०।।
नं कीजइ वइरी जण विसासु, नवि कीजइ वीस सियह विणासु ।
जगि कीजइ गुणियण गोठिरंग, आराहि जिणागमु नवल रंग ।।११।।
छंडीजइ नय निय कुल अचारु, ववहार सरिसु दय धम्म सारु ।
मन रोस कसाय म करि कलेसु, इम दीजइ दुक्ख जलीय सु ।।१२।।
जस माल करीजइ धनु वेंचीजइ, सपत खेति सइ हत्थि करि ।
तपु दानु सरीजइ, भावु धरीजइ, भावण भावहु विविह परि ।।१३।।
अह गारवु माया मय निरासि, सिद्धं तु सुणीजइ सुगुरु पासि ।
भोज (? य) णु अवहीजइ धम्ममूलु, जो वसीकरणु विणु मंत मूलु ।।१४।।
नवहारु करइ जो धण प्रमाणि, जे बोलइ अवसरि जाणि वाणि ।
जो जाणइ निय पर जण विसेस, तसु सेव करइ दूजण असेस ।।१५।।
पर गेहि न वच्चहु प्रीति हीण, जम्मंतरि नहु भासियइ हीणु ।
अगणियइ नं नर राउ रंक, जिम जीवि न चडई दोस पंकु ।।१६।।
परि गिणियइ अप्प समाण जीव, नवि कूडुन बंचु न दोह कीय ।
पडिवन्नउ पालहु वयण लोय, जिम जीवि दुक्ख न कयावि होइ ।।१७।।
झाइज्जहु इक्कु जि वीयराय, जिण आण धरी भरि चित्ति भाउ ।
जिम वुद्धि धरंतह रयणि दीस, जिम पूजहिं सवि आसा जगीस ।।१८।।
उवएसह संधी निरमल वंधीय, हेमसारु इम रसिकर ए ।
जो पढइ पढावइ अरु मनि भावइ, वसुह रिद्धि वृद्धि सो लहइ ए ।।१९।।

इति उपदेश-सन्धिः ।।

(पत्र १; सोलहवीं शती में लिखित हमारे संग्रह में है ।)

नाहटों की गवार, बीकानेर

उर्दू-समालोचना पर एक दृष्टि*

डॉ० श्रीकलीमुद्दीन अहमद (लोकशिक्षा-निदेशक, विहार)

[वर्ष ४, अंक १ से आगे]

मुसहफी चित्ताकर्षक शैली का जाल नहीं बिछाते। इनके वर्णन में तत्त्व अधिक है, किन्तु प्रभावहीन; क्योंकि मुसहफी ने सोज की योग्यताओं की सूची बना डाली है। कवित्व-शक्ति, परमहंसत्व, घुड़सवारी, सुलेखन-कला, सुकोमल पद-रचना, राजा-महाराजाओं के दरबारी नियम का ज्ञान, हास्य-विलास में निपुणता, मुसाहिबी, जीविकोपार्जन में प्रवीणता, दूसरों के विषय में अच्छी बातें कहना, निःस्पृहता आदि इनकी महत्तम योग्यताएँ हैं। किन्तु, हम सोज का जीता-जागता चित्र नहीं देख पाते।

तीन और उदाहरणों पर ध्यान दिया जाय—

१. मीर—" 'मज़हर' तखल्लुस है। ये धर्मात्मा, पवित्र, साधु, विद्वान्, योग्य, जगद्विख्यात, अद्वितीय, आदरणीय एवं पूजनीय व्यक्ति हैं। इनका मूलस्थान अकबराबाद है। इनके पिता इन्हें **मिर्जा जानो जानाँ** कहा करते थे। इसी कारण, यही इनका नाम पड़ गया।"

२. मीर हसन 'मीर'—"सिराजुद्दीन अली खाँ 'आरजू' के भाई के लड़के तथा उन्हीं के शिष्यों में से हैं। इनका निवास-स्थान अकबराबाद है। ये मुहम्मद शाही युग के नवयुवक हैं। इस समय शाहजहानाबाद में हैं। इनकी उम्र लगभग साठ तक पहुँच गई है......। ये बड़े ही अहंकारी पुरुष हैं और अहंकार इन्हें शोभा देता है।"

३. शेफ़ता 'मीर' 'दर्द' के व्यक्तित्व की विवेचना इस प्रकार करते हैं: "ये पवित्रात्मा सूफियों की श्रेणी में हैं। इनके बाह्य गुणों तथा आभ्यन्तरिक योग्यताओं की सीमाएँ वर्णनातीत एवं लेखन-शक्ति से बाहर हैं। इनकी निर्लिप्तता, साधुता तथा ध्यानमग्नता का वर्णन या व्याख्या भगवान् ही करें, तो करें और इनके अन्तःकरण की विशुद्धता के विषय में ये ही कुछ कहें, तो कहें अथवा हृदयविदग्धता, भावोद्रेक तथा करुणा के आवेश में स्वयं कवि महोदय ही कुछ कह सकते हैं।"

इन वर्णनों से इन कवियों के जीवन-चरित, इनकी मनोवृत्ति और मानसिक झुकाव के विषय में पूरी जानकारी नहीं होती। इनके व्यक्तित्व तथा इनके परिवेश और व्यक्तित्व एवं वातावरण के सामंजस्य पर कोई आलोचनात्मक प्रकाश नहीं पड़ता। यदि इन वर्णनों में आपको इन कवियों का वातावरण दृष्टिगोचर होता है, यदि आपको इनके व्यक्तित्व की पूरी जानकारी हो जाती है, यदि आप व्यक्तित्व और वातावरण के सामंजस्य को भी देखने लग जाते हैं, तो मुझे यही कहना है कि आप वातावरण और व्यक्तित्व

*प्रस्तुत लेख मूलतः उर्दू में लिखा गया था, जिसका हिन्दी-अनुवाद प्रो० श्रीरामप्रसाद लाल ने किया है।—सं०

तथा दोनों के सामंजस्य का तात्पर्य नहीं समझते हैं। मेरी भाषा में इन शब्दों का अर्थ कुछ और ही है।

आलोचना-भाग भी अपर्याप्त है। बहुत सारे कवि ऐसे हैं, जिनकी रचनाओं पर कोई मत नहीं प्रकट किया जा सकता।

मीर—"मीर मुहम्मद बाक़र, जिनका तखल्लुस 'हज़ीं' है, रेखता के कवि हैं। इन्होंने एक दीवान की रचना की है।"

मीर हसन—"मुहम्मद हसन, जिनका तखल्लुस 'फिदवी' है, शाहजहानाबाद के धनी-मानी व्यक्तियों में से हैं। इन्होंने वाद्य-संगीत, विशेष रूप से सितार-वादन में ख्याति प्राप्त की है। ये यदा-कदा रेखता में कविताएँ भी करते हैं।"

मुसहफी—"मीर चिराग अली, जिनका तखल्लुस 'हैफ़' है, शेर अली 'अफ़सोस' के शिष्य हैं। सुशील एवं विनम्र नवयुवक हैं।"

शेफ़ता—"फ़ख़्रुद्दीन खाँ, जिनका तखल्लुस 'माहिर' है, अशरफ़ अली खाँ 'फ़ुगाँ' के पुत्र हैं। ये लखनऊ के निवासी तथा सौदा के शिष्यों में हैं।"

ये उदाहरण भी अविशेष रूप से उपस्थित किये गये हैं। यदा-कदा दो-चार शब्दों में इनकी रचनाओं पर अति साधारण ढंग से प्रकाश डाला जाता है। जैसे : 'उनकी कविता नीरस है', 'उनकी बातें नीरस नहीं हैं', 'बड़ी सफाई से बातें करते हैं', 'बड़े स्वाध्यायी हैं', 'सफाई से कविता करते हैं', प्रतिभाशाली होने के कारण रेखता में भली भाँति कविता-कलाप करते हैं', 'उनकी रचना का ढंग बहुत बढ़िया तथा उनके मनोमोहक विचार बहुत ही प्रिय लगते हैं', 'उनकी प्रतिभा उच्च कोटि की है', 'उनकी रचनाओं में समवेदना का पुट स्पष्ट है', उनकी रचनाओं में सूफीमत-सम्बन्धी विचारों की चासनी मिलती है' आदि।

इन छोटे-छोटे वाक्यों में गजल की-सी तुकबन्दी है। 'खूब, मरगूब'; 'साफ, इन्साफ'; 'बुलन्द, पसन्द', 'सायब, साकिब' आदि। इसलिए, रही-सही आलोचना की चासनी भी नष्ट हो जाती है।

कभी संक्षेप के बदले अधिक विस्तार मिलता है; लेकिन आलोचना नहीं मिलती। लम्बे, रंगीन एवं भड़कीले वाक्य मिलते हैं और वे कवियों के सद्गुणों पर परदा डाल देते हैं। पश्चात् अनुचित, निरर्थक और अत्युक्ति के कारण तो उद्देश्य और भी नष्ट हो जाता है। इन वाक्यों से बस यही जान पड़ता है कि तज्किरा लिखनेवाले को कवि-विशेष की रचना पसन्द है।

'मीर' 'सौदा' के विषय में कहते हैं—"गजल, कसीदा, मसनवी, कता, मोखम्मस और रुबाई सभी कुछ भली भाँति कहते हैं। भारतीय कवियों के शिरोमणि ये ही हैं। बहुत ही अच्छी कविता करते हैं। इनकी प्रत्येक पंक्ति में आनन्द लहराता है। इनके शब्दों की क्यारियों में अर्थ-सुमन के गुलदस्तों का ढेर है। इनकी प्रत्येक उचटती हुई अर्द्ध पंक्ति तनकर खड़े हुए तालाब के वृक्ष के समान है। इनकी उच्च कल्पना के आगे महान् प्रतिभा भी लज्जित है। अतः रेखता के कविसम्राट् का पद इन्हीं को शोभा देता है।"

वही 'मीर' 'दर्द' के विषय में इस प्रकार लिखते हैं—"साहित्योद्यान की वासन्ती सुषमा, इस कला-कौमुदी के मधुर स्वरवाली बुलबुल, इनकी वाणी तात्पर्य-रूपी सन्ध्या के केशपाश को सुलझानेवाली है। पत्रपृष्ठ पर अंकित इनकी पंक्तियाँ उषा के अलकों से भी अधिक सुन्दर, इनकी साहित्यसेवी प्रतिभा भावोद्यानोन्मुख सरो का वृक्ष है। यदा-कदा नवीन भावों की खोज करते हुए अन्वेषण की वाटिका में टहलने के लिए अपने चरणों को कष्ट देते हैं। इनके काव्योद्यान में सुन्दर सुकोमल रंगीन शब्दों के ढेर हैं। इनके विचार-पुष्प चयन करनेवालों की झोलियाँ अर्थ-प्रसूनों से परिपूर्ण हो जाती हैं। रेखता के ये ओजस्वी कवि मित्रता में विनम्र हैं।"

तुलना प्रत्यक्ष है; किन्तु 'सौदा' और 'दर्द' में कोई भेद प्रकट नहीं होता। इनकी विशेषताएँ स्पष्ट नहीं होतीं। बस यही एक भेद है कि 'सौदा' हर प्रकार की कविता लिखने में सिद्धहस्त थे और 'दर्द' में यह क्षमता नहीं थी। किन्तु, इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए किसी प्रकार की आलोचनात्मक दृष्टि की आवश्यकता न थी। 'मीर' के रंगीन वाक्यों का तात्पर्य केवल इतना ही है कि 'अत्यन्त मधुभाषी हैं।' ये कहते हैं, 'भारतीय कवियों के सिरमौर यही हैं; बहुत ही मधुभाषी हैं।' ('मीर' 'सौदा' को अपने से बड़ा कवि नहीं समझते थे। 'मीर' सारे कवियों की तुलना करके इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि समस्त भारतीय कवियों के सिरमौर वही हैं। अत्युक्ति तो उस समय में साधारण-सा बात थी। इसलिए, मतलब वही है, जो मैंने लिखा है।) 'इनका प्रत्येक शेर सुहावनी दूर्वा-पंक्ति'; 'प्रत्येक उचटती हुई अर्द्धपंक्ति तनकर खड़ा स्वाभिमानी तालाब का वृक्ष'; 'अत्यन्त मधुभाषी'; 'इनकी उच्च कल्पना के आगे महान् प्रतिभा लज्जित'; 'बहुत ही प्रियवादी'; 'रेखता के कविसम्राट् की उपाधि इनके उपयुक्त'; 'भारतीय कवियों के शिरोमणि' आदि। देखा! मीर एक ही बात को बार-बार कहते हैं। शब्दों के परदे अपना रंग बदलते रहते हैं, बात नहीं बदलती। और देखिए—

सौदा : शब्दोद्यान की सजावट में अर्थ-पुष्पों के गुलदस्ते हैं।
दर्द : इनके काव्याराम रंगीन सजीले शब्दों से भरे हैं।
सौदा : इनकी उच्च कल्पना के आगे महान् प्रतिभा लज्जित।
दर्द : इनके विचार-पुष्प चयन करनेवालों की झोलियाँ अर्थ-पुष्पों से परिपूर्ण।
सौदा : भारतीय कवियों के सिरमौर यही हैं; रेखता के कवि-सम्राट् की उपाधि इन्हीं के उपयुक्त है।
दर्द : रेखता के ओजस्वी कवि।
सौदा : इनकी प्रत्येक उचटती हुई अर्द्धपंक्ति तनकर खड़ा आजाद तालाब का वृक्ष है।
दर्द : पत्रपृष्ठ पर अंकित उनकी अर्द्धपंक्ति उषा की अलकों से भी प्रियदर्शिनी है।

इन तज्किरों का चरम बिन्दु है, 'बड़े ही प्रियवादी हैं।' 'मीर हसन' इसी रंग में 'मीर' और 'सौदा' की प्रशंसा का राग अलापते हैं। काम की बात केवल इतनी ही है कि 'सौदा' कसीदे के क्षेत्र के महारथी हैं और 'मीर' गजल के बादशाह। इसके अतिरिक्त

वाग्विलास-मात्र है और शैली की छटा; लेकिन कोई ठोस बात नहीं। सभी तज्किरों का यह साधारण दोष है। प्रत्येक स्थान पर शब्दों की एक बाढ़-सी उमड़ती रहती है; परन्तु ये शब्द पाठक के मानस-पटल पर कोई विशेष प्रकार का चित्र अंकित नहीं करते। प्रत्येक चित्र लहरों पर बने चित्र की भाँति शीघ्र विलीन हो जाता है। कभी-कभी तो इस शैली की सज्जा हास्यास्पद हो जाती है और मन क्षुब्ध हो जाता है। शेफ़्ता के मुँह से मोमिन की चर्चा सुनिए—"मोमिन तख़ल्लुस, साहित्यिक ज्ञान की खान के अमूल्य माणिक, अर्थ-सागर की एकमात्र मुक्ता, साहित्य-संसार में हुक्म चलानेवाले महाराज, इस कला के स्तर को ऊँचा करनेवाले, साहित्य की स्वच्छ सुरा के प्याले के दौर चलानेवाले, मनोमोहक एवं हृदयग्राही गीतों का राग अलापनेवाले, उच्चासनासीन, अर्थालंकार तथा रसोक्ति के मूर्त्त-स्वरूप, मर्मज्ञता-रूपी आकाश के सूर्य, गगनविहारी तत्त्वों से अवगत, दार्शनिक तत्त्वबोध के पोषक कवि, साहित्यसेवी दार्शनिक, अपने समय के विलक्षण व्यक्ति, विविध कलाओं के अद्वितीय संग्रहकर्त्ता; हकीम मुहम्मद मोमिन खाँ हैं।"

फिर, मोमिन की रचनाओं की समालोचना इस अत्युक्तिपूर्ण ढंग से की जाती है—"इनकी मन्त्रमुग्धकारी भाषा ने जादू को दैवी चमत्कार की चरम कोटि तक पहुँचा दिया, हृदयग्राही शब्दों ने विस्तार को सूत्रवत् संक्षिप्त कर दिया, स्वातिबिन्दु के मोती बरसानेवाली इनकी प्रतिभा ने दरिद्रों की झोलियों को खानों की मणियों से भर दिया और वासन्ती सुषमा लुटानेवाली इनकी कल्पना ने दर्शकवृन्द के सामने नन्दन-निकुंज की शोभा प्रस्तुत कर दी। इनके अद्वितीय व्यक्तित्व के पार्श्व में चन्द्रमा, जो विद्या की एकमात्र ज्योति है, नक्षत्रों की भाँति छिन्न-भिन्न है और इनकी कल्पना के दिव्य प्रकाश में लघुतम अननुभवनीय कण भी सूर्य की भाँति देदीप्यमान एवं सर्वविदित दिखाई पड़ते हैं। संसार की शोभा बढ़ानेवाले इस सूर्य के आगे 'अनवरी' अगोचर सुहा से भी न्यूनतर और 'फरीदूँ' की शानवाले ऐसे महाराज के दरबार में 'ख़ाक़ानी' एक तुच्छ नौकर, अर्थात् उनके वैभव के दस्तरखान के टुकड़े खानेवाला है और 'अबूफ़रास' इनकी दानशीलता की चादर ढोनेवाला है।"

यह नमूना-मात्र है। पूरा विवरण उद्धृत करने की न तो आवश्यकता है, न उसकी गुंजाइश। इस प्रकार के अनुचित एवं निरर्थक शाब्दिक बवंडर में अर्थ लुप्त हो जाता है। कोई समझदार आदमी इसे आलोचना नहीं कह सकता। और, यह बात कि उस समय साधारणतः यही प्रथा थी कि शैली रंगीन, तुक एवं अनुप्रासयुक्त होती थी, नितान्त असंगत है। और, यह वाग्विलास मत-मतान्तर तथा आँखमिचौनी को आलोचना नहीं बना सकता।

कहा जाता है कि उर्दू-कवियों की तुलना फारसी के कवियों से की जाती है। इसमें अनुचित संक्षेपण हुआ करता है। जैसे, "प्रायः 'बेदिल' के शेरों की भाषा में बातें करते हैं", "उनकी शैली आयुली (?) की शैली के समान है।" अधिक विस्तार का परिणाम अनुचित अत्युक्ति होता है। 'मोमिन' के सामने 'अनवरी' सुहा से न्यूनतर और 'ख़ाक़ानी' तुच्छ नौकर है; और 'अबूफ़रास' इनकी चादर ढोनेवालों में है। इसी तरह,

'ग़ालिब' की गजलें 'नज़ीरी' की गजलों की तरह अपूर्व और उनके कसीदे 'उर्फ़ी' के कसीदों की भाँति हृदयग्राही हैं। इस प्रकार की तुलनाओं से कोई लाभ नहीं। कोई भी बुद्धिमान् इस प्रकार की बेतुकी बातों को कभी महत्त्वपूर्ण समझ सकता है ?

प्रशंसा एक ओर, तो दूसरी ओर त्रुटियों तथा दोषों पर भी दृष्टिपात होता है। छिद्रान्वेषण में भी वही संक्षेप है और वही साधारणत्व। मीर की रायें बेलाग होती हैं। ये अपने व्यक्तिगत विचारों को स्पष्ट रूप से प्रकट कर देते हैं। जैसे : 'खाकसार' रेखता में शेर कहते हैं। बहुत बहक जाते हैं और बड़ी नीचता करते हैं; बल्कि अल्पज्ञ होने के कारण रेखता की जड़ को कमजोर करते हैं। 'साकिब' सभी विषयों में हाथ डालते हैं; परन्तु कुछ भी नहीं जानते। 'यकरौ' (?) को दो-तीन बार रेखता की सभाओं में देखा है। यद्यपि ये रेखता-काव्यकला से नितान्त अनभिज्ञ हैं, तथापि अपने को सर्वज्ञ समझते हैं।

यह तो साधारण बातें हुईं, 'मीर' विशेष बातों पर भी अपना मत प्रकट करते हैं। 'हातिम' का यह शेर नकल करते हैं—

देखो तौर इस दौर का हातिम ने की तर्के शराब ,
याद करकर 'सब्ज़रूयाँ' की वह अब पीता है भंग।

फिर लिखते हैं—'सब्ज़रूयाँ' शब्द के ऊपर विचार करने की आवश्यकता है; क्योंकि मुझ अनभिज्ञ के कान इससे परिचित नहीं हैं। 'यकीन' का शेर है—

मजनूँ की खुशनसीबी करती है दाग मुझ को ,
क्या शेर कह गया है ज़ालिम दिवानापन में।

यदि 'खुशनसीबी' के बदले 'खुश्मग्राशी' कहते, तो यह शेर बहुत ही मनोरंजक हो जाता। और, 'मुहम्मद शाकिर नाजी' की पंक्ति—

देखो हम सोहबत की दौलत से न रख चश्मे-करम ,
लब सदफकेतर नहीं हरचन्द है गौहर में आब।

मननशील व्यक्ति से यह बात छिपी हुई नहीं है कि इस पंक्ति का पूर्वार्द्ध यों होना चाहिए था—**मतरखे चश्मे करम दौलत से अपने खुर्द की।** इसी प्रकार, 'मीर हसन' भी जहाँ-तहाँ आक्षेप करते हैं। जैसे, 'राकिम' की यह पंक्ति—

कामाशिकों का कुछ तुझे मंज़ूर ही नहीं ,
कहने की है यह बात कि मक़ दूर ही नहीं।

बहुत सम्भव है कि यह शेर असंशोधित ही रह गया हो; क्योंकि 'ऐन' अक्षर का लोप हो जाने से यह अर्थहीन हो जाता है, और इसमें 'ऐन' गिर जाता है। यह एक भयंकर भूल है। मुझ अकिंचन का विचार है कि इस प्रकार होता, तो अधिक अच्छा होता—**मेरा तो काम कुछ तुझे मंजूर ही नहीं।** मोईन का शेर है—

लख्ते दिलनैन से जोले निकले है नित कासिदे अश्क ,
पुर्ज़े हाल अपने के भेजे हैं तुझे डाक में हम।

इसमें भाव तो बड़ा सुन्दर है, पर शब्दयोजना ठीक नहीं। मुहावरे जाननेवाला व्यक्ति ही उसे समझ सकता है। मोईन—'**बेताब हो पतंग जो फ़ानूस में हो शम्म, यारब कोई असीरे बुते-खानगी न हो**। इसमें भाव तो अच्छा है; परन्तु 'बुते-खानगी' अपरिचित-सा शब्द है। इस अकिंचन ने इसे कहीं नहीं सुना।'

ये उदाहण स्पष्ट रूप से बताते हैं कि यह आलोचना महज ऊपरी है। इसका सम्बन्ध भाषा, मुहावरों और पिंगल से है। लेकिन, यही आलोचना एक लम्बी अवधि तक उर्दू के वातावरण पर छाई रही। शायद यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आलोचना के तत्त्व, उसके उद्देश्य और उसकी शुद्ध लेखन-पद्धति का भी ज्ञान तज्किरा लिखनेवालों को न था, जिस प्रकार उर्दू-कवियों को काव्यतत्त्व एवं कविता के यथार्थ मन्तव्य की जानकारी न थी। इन तज्किरों का महत्त्व ऐतिहासिक है, आलोचना-जगत् में इनका कोई महत्त्व नहीं। कदाचित् यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐतिहासिक महत्त्व एवं आलोचनात्मक महत्त्व में ध्रुवों का अन्तर है। अब तो साहित्य की दुनिया इतनी आगे बढ़ गई है कि हमें तज्किरों से कुछ सीखना ही नहीं और जहाँतक आलोचना का सम्बन्ध है, इन तज्किरों का होना-न-होना बराबर है।

इन टुकड़ों के अतिरिक्त अन्य सूक्ष्म बातें भी मिलती हैं—साहित्यिक, राजनीतिक सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आदि। 'मीर' 'नेकातुश्शोअरा' के अन्त में रेखता के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हैं और इसके विभिन्न प्रभेदों का वर्णन करते हैं। 'मीर हसन' कहते हैं—'रेखता का प्रचार पहले-पहल दक्षिण की भाषाओं से हुआ।' ये पूर्ववर्त्ती एवं परवर्त्ती कवियों की शैलियों में इस प्रकार भेद करते हैं—प्राचीन कवियों की कला का स्वरूप श्लेषयुक्त है। अर्वाचीन व्यक्तियों ने आधुनिक भाषा में अपने विचार प्रकट किये हैं। श्लेषयुक्त लेखन-पद्धति को साहित्यिक आन्दोलन कहना संकीर्णता है। श्लेष एक शैली है, आन्दोलन नहीं। तज्किरों में किसी साहित्यिक आन्दोलन का जिक्र नहीं। 'मुसहफी' अपने विषय में लिखते हैं—'अन्ततः समय की माँग के अनुसार मैं रेखता करने में प्रवृत्त हुआ; क्योंकि हिन्दुस्तान में रेखता की अपेक्षा फारसी कविता का प्रचार कम है और वर्त्तमान समय में रेखता भी उच्च फारसी के समकक्ष हो गया है।

साहित्यिक तत्त्वों के साथ-साथ उस समय की सामाजिक जीवन-प्रणाली पर भी प्रकाश डाला जाता है और जो दृश्य नजर आता है, उसका चित्र हबीबुर्रहमान खाँ शिरवानी 'नेकातुश्शोअरा' की प्रस्तावना में यों खींचते हैं—"उस समय के सामाजिक जीवन की सुदृढता देखो, सभी प्रकार के संकटों तथा कष्टों से ऊपर उठकर लोग अपने सद्व्यवहार और सद्गुणों के अनुसार चलते थे। 'मीर' साहब के विवरण को ध्यानपूर्वक पढ़ें, तो पूर्णतया विदित हो जाता है कि सदाचरण, सहृदयता, प्रेम, प्रेम का निर्वाह, विद्या-कला में रसज्ञता और उसकी सेवा, युद्धविद्या, स्वाभिमान और परम्परागत नियमों का पालन आदि उस समय के धनी-मानी लोगों की विशेषताएँ थीं। श्रीश्री हज़रत 'ख्वाजा मीर दर्द' और 'मिर्जा मज़हर', जिनके रहस्य पवित्र हैं, उपर्युक्त सभी गुणों से युक्त थे। ऐसे व्यक्ति उस युग में केवल अपवाद-स्वरूप ही न थे।"

यह सब ठीक है, और इस प्रकार के चित्रों के टुकड़े दूसरे तज्किरों में भी मिलते हैं; लेकिन कोई तज्किरा लिखनेवाला अपने युग की सामाजिक प्रणाली का सम्पूर्ण एवं प्रशस्त तथा सजीव चित्र नहीं प्रस्तुत करता। कुछ बिखरे हुए चित्रों के टुकड़े अवश्य मिलते हैं; जिन्हें इकट्ठा करके उस युग की स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। यदि इस प्रकार के सम्पूर्ण चित्र मिलते, तो उनका महत्त्व साहित्यिक नहीं, ऐतिहासिक होता। अस्तु;

साहित्यिक दृश्य के साथ-साथ कभी राजनीतिक दृश्य की झलक भी दिखाई देती है। लुत्फ़अली 'उम्मीद' के वृत्तान्त में वे यह कहकर कि 'इस जगह थोड़ा-सा सर्वग्राही विवरण सैयद हुसैन अली खाँ की अमीरुल-उमराई का और उनके दक्षिण की सूबेदारी पर समासीन होने का देना आवश्यक है' चार पृष्ठ रंग डालते हैं, जो अनावश्यक है और जिनसे 'उम्मीद' महोदय की रचनाओं पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

इन राजनीतिक दृश्यों की अपेक्षा अधिक दिलचस्प वे रोचक कथाएँ हैं, जिनमें आलोचना की चासनी लेशमात्र भी नहीं होती। उदाहरणस्वरूप, दो कहानियों का उल्लेख किया जाता है—

१. रूस्वा—कहा जाता है कि भावोन्माद के कारण कुछ दिनों के लिए अमरोहा नगर में आकर इन्होंने एक सैयद-परिवार में आतिथ्य ग्रहण किया। उस समय शाह-जहानाबाद के आसपास के स्थानों में वहाँ के बुद्धिमान् और योग्य व्यक्तियों का बड़ा आदर-मान था, इसलिए गृहस्वामी बड़े उत्तम ढंग से इनका अतिथि-सत्कार करते रहे। इस महानुभाव को मद्यपान के विना एक घड़ी भी चैन न मिलता था, अतः गृहस्वामी ने एक लड़के को मदिरा लाने के लिए अहमदनगर भेजा। अहमदनगर, शाहजहानाबाद नगर के बाहरी भाग में एक मुहल्ला था। जब लड़के के आने में देर हुई, तब गृहस्वामी ने इनसे कहा कि आइए, जबतक लड़का शराब लेकर आता है, हमलोग बाग़ की सैर करें। इसपर इन्होंने यह शेर कहा—

लड़का गया शराब को काहे की सैर हो,
हम गुज़रे इस शराब से लड़के की खैर हो।

दूसरे दिन लोग कह रहे थे कि जब इनकी मृत्यु का समय आ पहुँचा, तब इन्होंने यह वसीयत की कि मेरे शव को मदिरा से स्नान कराया जाय। अतः, मित्रों ने ऐसा ही किया; परन्तु उनके कफन तथा शव में तनिक भी मदिरा की गंध न थी।

२. फ़ज़ायल अली खाँ 'बेक़ैद' ने भारत की एक सुन्दरी से प्रेम कर लिया था। कालचक्र से प्रेरित होकर ये नवाब उम्द-तुल्-मुल्क के साथ इलाहाबाद चले गये। प्रेयसी के वियोग के कारण जलविहीन मछली की भाँति ये तड़पते रहे। इनके मनोरंजनार्थ उक्त नवाब महोदय ने वेश्याओं की एक टोली ही इकट्ठी कर दी, जिनके रूप, गुण और सोहबत से ये अपना शोक-दुःख भूल जायँ। नवाब का निशाना ठीक बैठा। अतः, उस मंडली की एक अत्यन्त रूपवती वेश्या ने इन्हें अपनी विविध भाव-भंगिमाओं से मोहित कर लिया। उस अवसर पर इन्होंने अपनी दशा पर एक मसनवी लिखी, जिसमें अर्था-लंकार के बहुत-से मोती पिरोये हैं। परन्तु, विचित्र बात तो वहाँ यह रही कि जब उनकी

लालसा पूरी हो गई और वे उस विधुवदनी की जाँघ पर सर रखकर सो गये, तब स्वप्न में अपनी उस पहली प्रेमिका को कहते देखा—

फिर मेरे युसुफ़ तू किसकी गली; तेरी चाह में मैं हुई बावली,
यहाँ तो जो चाहे तू कर मेरे साथ; क़यामत को दामन तेरा मेरे हाथ।

जब उनकी नींद टूटी, तब किसी ने कहा कि एक आदमी आपको खोज रहा है। बाहर आने पर देखा कि एक दूत हाथ में उसी प्रेमिका का पत्र लिये हुए है।

इस प्रकार की घटनाएँ सारी साहित्यिक तथा आलोचनात्मक बारीकियों से अधिक दिलचस्प हैं। और, यदि इन तज्किरों के लेखक इस ओर ध्यान देते, तो उनके घटना-वर्णन का महत्त्व अधिक बढ़ जाता। घटना-वर्णन में भी वे कोई प्रत्यक्षतः प्रमुख कार्य नहीं करते और उसके कलागत महत्त्व का भी उचित निर्वाह नहीं करते। वे तो सीधे-सादे संक्षिप्त रूप से इन घटनाओं का वर्णन-भर कर देते हैं, जिसमें कला कुछ भी नहीं मिलती। यदि कलापक्ष की ओर ध्यान दिया जाता और इनपर कुछ अधिक परिश्रम किया गया होता, तो ये तज्किरे अवश्य ही उच्च कोटि के होते।

● ●

अनुवादक का पता :
जैन कॉलेज, आरा

पाठालोचन में सामग्री का महत्त्व

प्रो० श्रीहरिहरनाथ द्विवेदी

प्रतिलिपि-परम्परा में प्राप्त किसी रचना के मूलपाठ के निर्धारण के लिए आवश्यक आधारों को पाठलोचन की भाषा में 'सामग्री' कहते हैं। सामग्री के अभाव में पाठालोचन की प्रक्रिया अकल्पित है। सामग्री चाहे जिस अवस्था में हो, रचना से सम्बद्ध होने पर सम्पादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होती है। उपयोगिता के आधार पर ही सामग्री के महत्त्व का मूल्यांकन होता है। अतः, उनके विभाजन का आधार उपयोगिता को ही माना जा सकता है। इसी आधार पर विभक्त सामग्री के विवेचन से उनका महत्त्व अपने-आप स्पष्ट हो जायगा। उपयोगिता की दृष्टि से सामग्री को **मुख्य** और **सहायक** इन दो वर्गों में रखा जा सकता है।

मुख्य सामग्री :

जिन आलेखों में किसी रचना का मूल या मूल के निकट का पाठ रहता है, उन्हें मुख्य सामग्री कहते हैं। इनमें तालपत्र, भोजपत्र, ताम्रपत्र, प्रस्तर, कागज आदि सभी प्रकार के आधारों पर के श्रेष्ठतम से भ्रष्टतम आलेखों के पाठ परिगणित होते हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपने सभी सम्पादित ग्रन्थों के समालोचन में उक्त सब प्रकार की

सामग्री का उपयोग किया है। पुनः मुख्य सामग्री को विभिन्न दृष्टियों से कई उपवर्गों में रखा जा सकता है।

क. प्रतिलिपि-परम्परा की दृष्टि से—इस दृष्टि से मुख्य सामग्री के स्वहस्तलिखित, प्रथम प्रतिलिपि, स्ववाचित और प्रतिलिपियों की प्रतिलिपि ये चार वर्ग हो सकते हैं।

स्वहस्तलिखित—स्वयं रचनाकार के हाथों से लिखित या उसके निर्देशन में तैयार आलेख की प्रति 'स्वहस्तलिखित' सामग्री है। इस प्रकार की प्रति की प्राप्ति के बाद पाठालोचक का कार्य प्रूफरीडिंग के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। जैसे, सोनिया (सारन)-निवासी कवि मजगूत के 'रामायण-महात्म्य' की (तेलछाँ के सियाप्रसाद के व्यक्तिगत संग्रहालय में प्राप्त) प्रति।

प्रथम प्रतिलिपि—स्वहस्तलिखित प्रति को आदर्श मानकर किसी रचना की की गई प्रतिलिपि 'प्रथम प्रतिलिपि' कहलाती है। मूल प्रतिलिपि के आदर्श पर अनेक प्रतिलिपियाँ हो सकती हैं। अतः, एक ही रचना की अनेक प्रथम प्रतिलिपियाँ हो सकती हैं। परन्तु, अनेक पाठों में अन्तर हो जाना स्वाभाविक है। प्रथम प्रतिलिपियों के पाठ मूल के निकटतम होते हैं। अतः, स्वहस्तलिखित प्रतियों के बाद इन्हीं का महत्त्व होता है। मूल के निकटतम होने के कारण मूल पाठ तक पहुँचने में पाठालोचक को कठिनाई नहीं होती।

स्ववाचित—स्वयं रचनाकार के बोलने पर कोई दूसरा व्यक्ति उसकी रचना को लिपिबद्ध करता और रचनाकार पुनः उसे देखता नहीं, तो ऐसी प्रति 'स्ववाचित' कहलाती है। कबीर के समान अनपढ़ या शारीरिक दृष्टि से असमर्थ रचनाकार ही ऐसी प्रतियाँ तैयार कराता है। ऐसी प्रतियों में बहुत-सी विकृतियों के आ जाने या बहुत-से अंशों के छूट जाने की सम्भावना रहती है। यही कारण है कि मूल से इनके पाठ बहुत दूर चले जाते हैं। जैसे, कबीर के एक ही दोहे के अनेक पाठ मिलते हैं। इन प्रतियों का महत्त्व प्रथम प्रतिलिपियों की तुलना में बहुत कम होता है।

प्रतिलिपियों की प्रतिलिपि—मुद्रण-कला के आविष्कार के पूर्व की रचनाएँ प्रतिलिपि-परम्परा या लोककंठों की परम्परा में प्राप्त हैं। प्रतिलिपि-परम्परा में एक ही रचना की प्रतिलिपियों का अनेक क्रम रहा होगा। एक के बाद दूसरी, दूसरी से तीसरी और इस प्रकार आगे भी। प्रथम प्रतिलिपि के बाद उसकी जितनी प्रतिलिपियाँ होती हैं, वे 'प्रतिलिपियों की प्रतिलिपि' कहलाती हैं। जो प्रति मूल से जितनी ही दूर है, पाठ भी उतना ही दूर होगा। 'पृथ्वीराजरासो' या 'रामचरितमानस' की अनेक प्रतियाँ इस प्रकार की हैं।

ख. उपलब्धि की दृष्टि से—इस दृष्टि से मुख्य सामग्री के उपलब्ध और अनुपलब्ध ये दो उपवर्ग हो सकते हैं।

उपलब्ध सामग्री—प्रतिलिपि-परम्परा में किसी रचना की क्रमानुसार प्राप्त सभी प्रतियाँ या आलेख 'उपलब्ध सामग्री' कहलाते हैं। उपलब्ध सामग्री के एक शाखा के होने से मूलपाठ तक पहुँचना सरल है। किन्तु, प्रतियाँ जब अनेक शाखाओं के मिश्रण से तैयार होती हैं, तब पाठालोचक को बड़ी कठिनाई होती है।

अनुपलब्ध सामग्री—प्रतिलिपि-परम्परा में प्राप्त किसी रचना की सभी प्रतियाँ या आलेख जब क्रमिक रूप में प्राप्त न हों, तो बीच की अप्राप्त सामग्री 'अनुपलब्ध' कहलाती है। इस स्थिति में पाठालोचक वैज्ञानिक विधि का अनुगमन कर उसे ढूँढ़ने का प्रयास करता है।

ग. पाठ की शुद्धता की दृष्टि से—इस दृष्टि से मुख्य सामग्री के दो उपवर्ग हो सकते हैं : शुद्धपाठ की प्रति और मिश्रपाठ की प्रति। एक निश्चित शाखा (जो प्रतियाँ एक ही प्रतिलिपि-सम्बन्ध से सम्बद्ध हों) के पाठ का निर्देश करनेवाली प्रतियाँ शुद्धपाठ[1] की प्रतियाँ हैं।

मिश्रपाठ की प्रति—एक से अधिक शाखाओं की प्रतियों के आदर्श पर निर्मित प्रतिलिपियाँ मिश्रपाठ की प्रति हैं। इनके सहारे मूलपाठ तक पहुँचने में पाठालोचक को बड़ी कठिनाई होती है। इसके लिए उसे प्रतियों के वंशवृक्ष का पता लगाकर प्रतिलिपि-सम्बन्ध के आधार पर मूलपाठ तक पहुँचना पड़ता है।

सहायक सामग्री :

मुख्य सामग्री की पुष्टि एवं मूलपाठ की खोज में सहायता पहुँचानेवाली (**संग्रह-ग्रन्थ, परिचय-ग्रन्थ, लक्षण-ग्रन्थ, आधार-ग्रन्थ** आदि) सामग्री को सहायक सामग्री कहते हैं। यह सामग्री सम्पाद्य रचना के मूलपाठ के रूप में नहीं होती, परन्तु उससे सम्बद्ध होने के कारण पाठालोचन में सहायता देती है, इसीलिए इसे सहायक कहते हैं। अब हम संक्षेप में विविध रूप में पाई जानेवाली सहायक सामग्री पर विचार करें।

संग्रह-ग्रन्थ—विभिन्न प्रसिद्ध रचनाकारों की रचनाओं के संग्रहों के प्रकाशन का प्रचलन नया नहीं है। यह कार्य मुद्रण-कला के आविष्कार के पूर्व से ही होता रहा है। प्रतिलिपि-परम्परा में आनेवाली किसी रचना कै सम्पादन में ऐसे ग्रन्थों से बड़ी सहायता मिलती है। जिस रचना का सम्पादन होता है, उस रचनाकार की रचनाएँ यदि संग्रह में होती हैं, तो बड़ी सुविधा से उसकी भाषा-शैली, प्रयोग, छन्दोयोजना आदि का पता लग जाता है। इसके अतिरिक्त भी समकालीन रचनाओं के सम्पादन में भी इनकी उपयोगिता होती है।

परिचय-ग्रन्थ—रचना या रचना की कथावस्तु अथवा रचनाकार के परिचय प्रस्तुत करनेवाले ग्रन्थों से बहुत-सी भ्रान्तियाँ दूर हो जाती हैं।

लक्षण-ग्रन्थ—काव्य-विवेचन के क्रम में प्राचीन काल के प्रसिद्ध रचनाकारों की रचनाओं के उदाहरण दिये गये होते हैं। ये उद्धरण यदि सम्पाद्य ग्रन्थ के होते, तो सोने में सुगन्ध की कहावत चरितार्थ होती। किन्तु, यदि ये उस कोटि के नहीं हैं, पर समकालीन हैं, तो मूलपाठ के निर्द्धारण में बड़े ही महत्त्वपूर्ण माने जायेंगे।

आधार-ग्रन्थ—किसी प्रसिद्ध रचना के आधार पर नवीन ग्रन्थों के सर्जन की परम्परा पुरानी है। इस प्रकार की रचनाओं के सम्पादन में आधार-ग्रन्थों से बड़ी सहायता मिलती है। कम-से-कम कथात्मक भ्रान्तियाँ तो दूर हो ही जाती हैं।

---

१. 'शुद्धपाठ' यहाँ पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त है।

टीका-ग्रन्थ—किसी रचना के सम्पादन में टीका-ग्रन्थों का बड़ा महत्त्व होता है। रचना या रचनाकार पर प्रस्तुत टीकाओं के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त हो जाती है। इनमें समकालीन टीकाएँ विशेष मूल्य की होती हैं।

इनके अतिरिक्त भी किसी रचना के सम्पादन में पाठालोचक को रचयिता की अन्य रचनाओं, अनुकरण-ग्रन्थों, विवेचन-ग्रन्थों आदि जैसी अनेक सामग्री की सहायता लेनी पड़ती है। इन सबका उपयोगिता के अनुसार अपना-अपना महत्त्व होता है।

इस प्रकार, इस विवेचन से स्पष्ट है कि किसी प्रतिलिपि-परम्परा में प्राप्त किसी रचना के सम्पादन में सामग्री (मुख्य और सहायक दोनों) का बड़ा महत्त्व है। यद्यपि उक्त सामग्री के अभाव में पाठालोचक के लिए यह कार्य असम्भव है, तथापि इससे भी महत्त्व की वस्तु पाठालोचक का विवेक है। विवेक-रहित पाठालोचक सारी सामग्री को बेकार बना देता है। पाठालोचक में ऐसी प्रतिभा की आवश्यकता है, जिससे वह सामग्री को यथातथ्य उपयोग में लाये। इसके अतिरिक्त पाठालोचक का व्यावहारिक पक्ष भी सुसंस्कृत होना चाहिए, जिससे वह रचना के पत्रों की सजावट के क्रम, संकेत-चिह्नों के ज्ञान, लेखन-सामग्री और लेखन-कला की पहचान, प्रतिलिपिकार और उसका काल, रचनाकार के व्यक्तिगत प्रयोग आदि को समझ सके और सबको व्यवस्थित रूप दे सके।

●●

हिन्दी-विभाग, बिरसा कॉलेज
खूँटी, राँची

सन्धा-भाषा का नामकरण

डॉ० मंगलबिहारीशरण सिन्हा

सिद्धों के साहित्य से विद्वानों का परिचय करानेवाले सर्वप्रथम विद्वान् हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' के 'मुखबन्ध' में सिद्धों की भाषा को सन्ध्या-भाषा कहा।[१] इसका अर्थ उन्होंने आलोक और अन्धकार के बीच की भाषा माना है, जिसमें कुछ प्रकाश की भी झलक हो और कुछ अन्धकार की भी। दूसरे शब्दों में, उनके कथनानुसार 'इन उच्च कोटि की धर्मकथाओं में एक अन्य भाव भी अन्तर्निहित रहता है, जिसे खुलकर नहीं बताया जाता, साधक ही इसे समझ सकता है।'

शास्त्री महोदय द्वारा प्रतिपादित सन्ध्या-भाषा के अर्थ के सम्बन्ध में काफी मतभेद है। पँचकौड़ी बनर्जी ने शास्त्री महोदय के उक्त मत का खण्डन करते हुए सन्ध्या-भाषा का वास्तविक अर्थ सन्धि-देश की भाषा बताया है। उनका मत है कि भागलपुर के दक्षिण-पूर्व का भू-खण्ड, जो पश्चिमी वीरभूमि तथा संतालपरगना कहलाता है, प्राचीन आर्यावर्त्त (आर्यों का

१. द्र० हरप्रसाद शास्त्री : बौद्ध गान ओ दोहा, द्वितीय मुद्रण, सन् १९५१ ई०, मुखबन्ध, पृ० सं० ८।

भारतीय निवास) तथा बंगाल का सीमा-प्रदेश है। उसका तत्कालीन नाम सन्ध्यादेश था। उस प्रदेश की परस्पर मिलती-जुलती बोलियों से परिचित व्यक्ति को इसमें सन्देह नहीं होगा कि सिद्धाचार्यों की भाषा से इन बोलियों का बहुत घना सम्बन्ध है।[१]

बनर्जी महोदय के इस कथन को पं० विधुशेखर भट्टाचार्य कल्पना-मात्र मानते हैं।[२] उन्होंने अपने निबन्ध में चर्याचर्यविनिश्चय की संस्कृत-टीका के उन स्थलों की ओर संकेत किया है, जहाँ सन्ध्यया, सन्ध्या-भाषा, सन्ध्या-वचन तथा सन्ध्या-संकेत शब्दों का व्यवहार हुआ है। इस आधार पर उनका अनुमान है कि उन्हीं स्थलों को देखने के कारण शास्त्री को सिद्धों की भाषा के नाम के सम्बन्ध में भ्रम हो गया, जिससे उन्होंने उसका नाम 'सन्ध्या-भाषा' रख दिया।[३] बौद्धों के एक अति प्राचीन धर्मग्रन्थ, 'सद्धर्मपुण्डरीक' का हवाला देते हुए भट्टाचार्य महोदय ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि शुद्ध शब्द 'सन्धा' है, 'सन्ध्या' नहीं। इस ग्रन्थ के कुछ स्थलों के आधार पर उन्होंने दिखाया है कि इस ग्रन्थ में भी सन्धा-भाषित, सन्धा-भाष्य तथा सन्धा-वचन इत्यादि शब्द मिलते हैं, जो 'चर्याचर्य-विनिश्चय' के सन्ध्या-भाषित, सन्ध्या-भाषा तथा सन्ध्या-वचन के समानार्थी तथा अनुरूप हैं।[४] इसके लिए भट्टाचार्य महोदय ने 'सद्धर्मपुण्डरीक' की निम्नांकित पंक्ति उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत की है :

दुर्विज्ञेयं सारिपुत्र सन्धाभाष्यम् तथागतानाम्।

(हे सारिपुत्र, तथागत की सन्धाभाषा बहुत क्लिष्ट है।)

फ्रान्सीसी भाषा में इसका अनुवाद करते हुए बर्नफ ने सन्धा-भाषा को आभिप्रायिक भाषा कहा है। कर्न तथा मैक्समूलर ने भी इसे रहस्यपूर्ण भाषा की संज्ञा दी है।[५] इस प्रकार विद्वानों के मतों की समीक्षा द्वारा भट्टाचार्य महोदय ने प्रमाणित किया है कि 'सद्धर्म-पुण्डरीक के उपर्युक्त शब्दों का अर्थ आभिप्रायिक भाषा है। अतः, 'चर्याचर्यविनिश्चय' के उपर्युक्त शब्दों का अर्थ भी वही होना चाहिए। इस सम्बन्ध में भट्टाचार्य महोदय ने 'सरोरुहवज्र' के 'दोहाकोश' की संस्कृत-टीका के भी कुछ स्थलों की तुलना प्रामाणिक तिब्बती पाठों से करके यह दिखाया है कि शुद्ध पाठ 'सन्धा' है, जिसका अर्थ तिब्बती में आभिप्रायिक स्वीकृत किया गया है।[६]

वस्तुतः, बर्नफ को 'सद्धर्मपुण्डरीक' की जो प्रति मिली, उसमें कहीं-कहीं सन्ध्या-भाषा शब्द है, यह उसने लिखा है। किन्तु, कर्न तथा अन्य विद्वानों द्वारा सम्पादित प्रतियों में

१. द्र० इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, सन् १९२८ ई०, पृ० २८७ तथा तु० पँचकौड़ी बनर्जी : सम फैक्टर्स इन दि मेकिंग ऑव बंगाल, विश्वभारती क्वार्टर्ली, अक्टूबर, १९२४ ई०, पृ० २६५।

२. द्र० विधुशेखर भट्टाचार्य : सन्धाभाषा, इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९२८, पृ० २८७-८।

३. वही।

४. इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९२८, पृ० २८८।

५. मैक्समूलर : दि वज्रच्छेदिका, सैक्रेड बुक ऑव दि ईस्ट, जिल्द ४९, ऑक्सफोर्ड, १८९४, पृ० ११८ तथा एच्० कर्न : सद्धर्मपुण्डरीक (अँगरेजी-अनुवाद), सैक्रेड बुक ऑव दि ईस्ट, जिल्द २१, ऑक्सफोर्ड, १९०९, पृ० ५९, पाद-टिप्पणी ३।

६. इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९२८, पृ० २९५-६।

सर्वत्र सन्धा-भाषा शब्द ही है। भट्टाचार्य महोदय का अनुमान है कि कर्न इत्यादि के विश्लेषण को न देखने तथा बर्नफ के विचारों पर ही आधृत रहने के कारण शास्त्री महोदय से यह भूल हो गई। सरोरुहवज्र के दोहाकोश की जो प्रति शास्त्री महोदय को मिली थी, उसके सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं उल्लेख किया है कि उसके पाठ पूर्ण स्पष्ट नहीं मालूम पड़ते थे, अतः उसकी प्रतिलिपि तैयार करने में कहीं-कहीं अनुमान का सहारा भी लेना पड़ा। इन तथ्यों को देखते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि शुद्ध शब्द सन्धा-भाषा ही है, सन्ध्या-भाषा नहीं।

भट्टाचार्य महोदय का मत है कि उपर्युक्त सभी ग्रन्थों में प्रयुक्त सन्धा-भाष्य, सन्धा-भाषित इत्यादि शब्दों का सन्धा-शब्द संस्कृत 'सन्धाय' शब्द (सम् + √धा) का लघुरूप है।[१] दासगुप्त महोदय ने भी भट्टाचार्य महोदय के इस मत को स्वीकार किया है।[२] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने पँचकौड़ी बनर्जी के मत का खण्डन करते हुए भट्टाचार्य महोदय के विचारों का ही समर्थन किया है।[३] डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने भी चीनी पाठों के आधार पर सन्धा-शब्द का अर्थ आभिप्रायिक माना है। अतः, वे भी सिद्धों की भाषा को सन्धा-भाषा कहना ही अधिक संगत मानते हैं।[४]

किसी शब्द के मूल रूप के ज्ञान में भाषा का शास्त्र कितना सहायक होता है, इसका उल्लेख डॉ० भट्टाचार्य ने अखिलभारतीय प्राच्यसम्मेलन की वैदिक शाखा के सभापति-पद से भाषण देते हुए किया है।[५] सन्धा-भाषा के नामकरण के सम्बन्ध में भी उन्होंने भाषिकी शास्त्र के आधार पर, अपने निबन्ध में, पालि-भाषा के अग्गा तथा अभिग्गा शब्दों के मूल रूप क्रमशः आज्ञाय तथा अभिज्ञाय बताया है। इस आधार पर संस्कृत 'सन्धाय' शब्द से वे सन्धा शब्द का उद्भव मानते हैं।[६] सन्धाय शब्द के संस्कृत तथा तिब्बती ग्रन्थों में अभिप्राय के अर्थ में प्रयुक्त होने का उल्लेख उन्होंने विस्तारपूर्वक किया है और इस आधार पर अपने उपर्युक्त मत की पुष्टि की है।[७]

इस प्रसंग में डॉ० रामकुमार वर्मा का मत विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने सिद्धों की भाषा का नाम सन्ध्या-भाषा ही स्वीकृत किया है; परन्तु वे शास्त्री महोदय का 'आलो-अन्धारि' वाला अर्थ नहीं मानते। उनका मत है कि अपभ्रंश के अन्तिम दिनों, अर्थात् सन्ध्याकाल की भाषा होने के कारण सिद्धों की भाषा को सन्ध्या-

---

१. इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९२८, पृ० २८९ तथा तु० गणेशदत्त शास्त्री : पद्मचन्द्रकोष, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर, १९२५, पृ० ५११।
२. शशिभूषण दासगुप्त : ऑब्स्क्योर रेलिजस कल्ट्स, कलकत्ता, १९४६, पृ० ४७७।
३. ह० प्र० द्विवेदी : हिन्दी-साहित्य की भूमिका, तृतीय संस्करण, बम्बई, पृ० ३४।
४. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, १९२८, पृ० २९३।
५. विधुशेखर शास्त्री : वेदिक इंटर्प्रिटेशन ऐंड ट्रैडीशन, प्रोसीडिंग्स ऐंड ट्रैन्जैक्शन्स ऑव दि सिक्स्थ आ० इं० ओ० कान्फ्रेंस, पटना, बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च-सोसाइटी, पटना, दिसम्बर, १९३० ई०।
६. इं० हि० क्वा०, १९२८, पृ० २८८।
७. वही, पृ० २९०-९१।

भाषा कहा गया।[१] उपर्युक्त विद्वानों के मतों को देखते हुए सिद्धों की भाषा के सम्बन्ध में डॉ० वर्मा का यह सिद्धान्त तथा नामकरण संगत नहीं प्रतीत होता। सन्ध्याकालीन भाषा की अपेक्षा आभिप्रायिक भाषा के रूप में ही उसे ग्रहण करना अधिक उपयुक्त है। बागची ने 'दोहाकोश' की टीका में भी इसका संकेत किया है कि सन्ध्या-भाषा बालकों की बुद्धि के परे है।[२] अतः, उसे आभिप्रायिक भाषा कहना ही उचित है।

अपने निबन्ध में बागची ने वज्रयान के साम्प्रदायिक ग्रन्थ 'हेवज्रतन्त्र' से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, जिसमें सन्धा-भाषा को 'महाभाषा' तथा 'समयसङ्केतविस्तरं, (सम्प्रदाय के संकेतों तथा अर्थों से गर्भित भाषा) कहा गया है।[३] इस प्रकार, बागची का मत है कि आभिप्रायिक भाषा की परिपाटी सातवीं-आठवीं शती में निश्चित रूप से प्रचलित थी।[४] अतः, सिद्धों की भाषा का शुद्ध नाम सन्धा-भाषा ही होना चाहिए।

'हेवज्रतन्त्र' के बहुत पूर्व, अत्यन्त प्राचीन काल से ही, भारतीय साहित्य में सन्धा-भाषा की परम्परा उपलब्ध होती है। डॉ० शशिभूषणदास गुप्त ने अपने शोध-ग्रन्थ में दिखाया है कि ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी ऐसे स्थल मिलते हैं, जिनके शाब्दिक अर्थों का कोई मूल्य नहीं। सन्धा-भाषा की भाँति वे आभिप्रायिक प्रसंगों से भरे हैं।[५] तन्त्रों में यह शैली अत्यन्त लोकप्रिय हो गई। साधना की बातें अयोग्य व्यक्तियों से बचाकर रखने के लिए हिन्दू तथा बौद्ध तन्त्र-साहित्यों में इस प्रकार की शैली का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया गया। बौद्धधर्म में शिष्यों के मानसिक स्तर के अनुकूल शिक्षा देने की प्रणाली का उल्लेख भट्टाचार्य महोदय ने भी किया है।[६] जिस शिष्य का मानसिक स्तर उन्नत नहीं रहता था, उसे साधना की बातें सीधे ढंग से समझाई जाती थीं, सांकेतिक या आभिप्रायिक भाषा में नहीं। इसका एक अन्य लाभ यह भी था कि साधक और शिष्य के अतिरिक्त दूसरा कोई अपात्र व्यक्ति उसका वास्तविक अर्थ नहीं समझ सकता था। बौद्धतन्त्र की यह आभिप्रायिक प्रणाली सिद्धों की सन्धा-भाषा में वर्त्तमान है, जिसकी परम्परा हिन्दी के सन्त-कवियों की उलटबाँसियों तथा प्रतीकात्मक शैलियों में उपलब्ध होती है। अतः, परम्परा की दृष्टि से भी सिद्धों की भाषा को सन्धा-भाषा कहना ही अधिक उपयुक्त है।

सिद्धों की वाणियों में भी ऐसी पंक्तियाँ मिलती हैं, जिनमें उन्होंने अपनी भाषा को गम्भीर भाषा कहा है तथा इसका भी उल्लेख किया है कि उनके गीत साधारण व्यक्ति

---

१. रा० कु० वर्मा : हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, द्वितीय संस्करण, प्रयाग, १९४८, पृ० ६२।
२. बागची : दोहाकोश, पृ० ९३।
३. प्रबोधचन्द्र बागची : दि सन्धा-भाषा ऐंड सन्धा-वचन, स्टडीज इन दि तन्त्राज, भाग १, कलकत्ता-विश्वविद्यालय, १९३९, पृ० २८ तथा इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९३०, पृ० ३९०-९१।
४. वही।
५. शशिभूषण दासगुप्त : ऑब्स्क्योर रेलिजस कल्ट्स, कलकत्ता, १९४६, पृ० ४७८।
६. इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९२८, पृ० २९४।

नहीं समझ सकते। इस बात का यह निश्चित प्रमाण है कि स्वयं उन्होंने भी अपनी भाषा को साधारण भाषा से भिन्न तथा आभिप्रायिक माना था।

सिद्धों के साहित्य को हिन्दी के कुछ विद्वान्, शुक्लजी की भाँति, शुद्ध साहित्यिक रचना नहीं मानते। अतः, यह साहित्य सम्प्रदाय-विशेष से सम्बद्ध होने के कारण निश्चय ही आभिप्रायिक है। सिद्धों का साहित्य साहित्यिक रचना की कोटि में नहीं आता, यह मैं नहीं मानता। उसमें साहित्यिक गरिमा पूर्णतः वर्त्तमान है; किन्तु उसकी भाषा आभिप्रायिक है। अतः, सिद्धों की भाषा को सन्धा-भाषा ही कहा जाय, सन्ध्या-भाषा नहीं।

●●

हिन्दी-विभाग
मगध-विश्वविद्यालय, गया

आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यों में करुण रस

डॉ० श्रीश्यामनन्दन किशोर, एम्० ए०, डी० लिट्०

जब सम्पूर्ण भारतीय मनीषा ही काव्य में रस की अनिवार्यता मानती है, तब भला यह कैसे सम्भव है कि जीवन की समग्रता और महच्चरित्र की गाथा से स्वभावतः सम्बद्ध महाकाव्य जैसे उच्चतर साहित्य-शरीर में रसों की स्थिति आवश्यक न मानी जाय। महाकाव्यों में उत्पाद्य-अनुत्पाद्य, आधिकारिक और प्रासंगिक विशाल कथापट एवं विभिन्न रुचियों-स्वभावोंवाले चरित्रों के कारण प्रायः सभी रसों के समावेश का अवकाश रहता है। किन्तु, उसके महान् उद्देश्य की पूर्त्ति और व्यापकत्व के लिए केवल रस-निर्वाह ही नहीं, उसका गम्भीर और गहरा प्रभाव उत्पन्न करना भी आवश्यक है। उसमें तो केवल इतिवृत्तात्मक प्रसंग भी रस-निष्पत्ति में सहायक होते हैं।

महाकाव्यात्मक शृंगार के विप्रलम्भ-क्षेत्र में बरसनेवाले अश्रु-मेघ ही करुणा की शोकार्त्त भूमि में अधिक सघन होकर बरसे हैं। करुण रस की महत्ता की खुली घोषणा करनेवाला मर्मभेदी कलाकार भवभूति था। वस्तुतः, सम्पूर्ण सृष्टि में जैसे लगभग तीन-चौथाई अंश जल का और एक चौथाई स्थल का है, वैसे ही जीवन का अधिकांश करुणा-कलित है। हमारे आचार्यों ने करुण रस का रंग कपोत के समान और उसका देवता साक्षात् यमराज माना है। इष्ट के नाश तथा अनिष्ट की प्राप्ति ही उसके उत्पत्ति-स्थान हैं। यहाँ चिन्तनीय-शोचनीय व्यक्ति आलम्बन; प्रेतकर्म आदि उद्दीपन; रोना, विवर्ण होना, प्रलाप आदि अनुभाव तथा मोह, व्याधि, ग्लानि, चिन्ता आदि संचारी होते हैं।

आधुनिक-हिन्दी महाकाव्यों की सीमाभूमि 'प्रियप्रवास' (रचनाकाल, सन् १९१४ ई०) से उर्वशी (रचनाकाल, सन् १९६१ ई०) तक मानी जानी चाहिए। सन् ६२ ई० से इधर कोई महत्त्वपूर्ण महाकाव्य प्रकाशित नहीं हुआ। इस बीच सन् ५८ ई० में डॉ० रामकुमार वर्मा का क्रान्तिकारी महाकाव्य 'एकलव्य' प्रकाशित हुआ। इन समस्त

महाकाव्यों के सूक्ष्म अध्ययन से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपलब्धि होती है कि इनमें रसों की निष्पत्ति की अपेक्षा भाव-चित्रणों पर अधिक ध्यान रखा गया है। फलतः, रस के पूर्णांग की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का नियोजन अधिक मिलता है।

विप्रलम्भ शृंगार और करुण रस में अन्तर न समझ सकने के कारण बहुत-से लेखक करुण शब्द का अस्थान प्रयोग कर देते हैं। वे कदाचित् इस बात पर ध्यान नहीं रखते कि प्रथम में जहाँ प्रिय की प्राप्ति की आशा रहती है, वहाँ दूसरे में उसका सर्वथा तिरोभाव हो जाता है। मेरे विचार से उस स्थान पर भी करुण रस माना जाना चाहिए, जहाँ प्रिय का विनाश हुआ तो न हो, पर परिस्थितिवश लगता ऐसा ही हो। उदाहरणार्थ, सिद्धार्थ-काव्य में यशोधरा का वियोग इस पृष्ठभूमि में करुण माना जायगा; क्योंकि सिद्धार्थ का गृहत्याग अप्रत्याशित था और उनके लौटने की आशा अज्ञात थी।

महाकाव्यों में जितना चित्रण विप्रलम्भ का हुआ है, उतना करुण का नहीं। इसका कारण मनोवैज्ञानिक है। यह देखा जाता है कि मनुष्य विपत्ति के निविडतम क्षणों में भी आशा की क्षीण डोर छोड़ना नहीं चाहता। यदि इस तथ्य को व्यावहारिक कसौटी पर परखा जाय, तो आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यों में प्रियप्रवास के वियोग-वर्णन के दो पक्ष दिखाई देंगे। इनमें एक का सम्बन्ध प्रणय से और दूसरे का वात्सल्य से प्राप्त होगा। राधा और गोपियों के विलाप प्रवास-विप्रलम्भ तथा करुण रस के अन्तर्गत आयेंगे; क्योंकि विप्रलम्भ के जो चार प्रकार माने गये हैं, उनमें पूर्वराग और मान के साथ प्रवास और करुण भी हैं। प्रियप्रवास के अन्त में करुण रस की प्रधानता हो गई है। क्योंकि, विप्रलम्भ के लिए यह आवश्यक है कि उसकी परिणति सम्भोग में हो, पर इसमें आद्यन्त शोक है। प्रियप्रवास की यह विशेषता है कि उसकी करुणा उदात्त होकर शान्त रस की ओर उन्मुख हो गई है। साकेत में करुण रस का उद्रेक दशरथ-मरण के प्रसंग में हुआ है। उसमें लक्ष्मण की मूर्च्छा के अवसर पर राम का विलाप भी करुणा-द्रवित है, पर संस्कारवश यह जानते हुए कि लक्ष्मण जी उठनेवाले हैं, करुणा का प्रभाव गहरा नहीं पड़ता। कामायनी में करुण-विप्रलम्भ का चित्रण स्वप्न सर्ग में वातावरण-निर्माण के माध्यम से हुआ है। यहाँ करुण रस चिन्ता सर्ग में अत्यन्त मार्मिक हो उठा है, जहाँ मनु का विलाप मन को कातर बना देता है। 'कृष्णायन' के अभिमन्यु-वध तथा 'वैदेही-वनवास' के सीता-परित्याग में भी करुण रस माना जायगा।

डॉ० रामकुमार वर्मा का 'एकलव्य' गुरु-विषयक भक्ति रस की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसका अन्त दक्षिणा सर्ग से होता है, जिसमें गुरु-भक्ति के आधिक्य से तीरन्दाज शिष्य अपना अँगूठा दान कर देता है। ऊपरी दृष्टि से यह दानवीर का उदाहरण माना जा सकता है; पर मेरे विचार से दक्षिणा की विनम्र गुरुभक्ति दान के अहं में प्रकट नहीं हो सकती। इसे दुःखान्त या करुणान्त भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि नायक एकलव्य के भीतर दुःख या शोक का भाव नहीं, त्याग की अपूर्व दीप्ति है। इसके अतिरिक्त 'उर्वशी' डॉ० दिनकर की सर्वश्रेष्ठ कृति और राष्ट्रभारती का एक अनमोल महाकाव्य है। इसमें करुण रस की भूमिका के आधार पर औशीनरी के माध्यम से युग-युग से

सुलगनेवाले नारीत्व का दारुण चित्रण किया गया है—**नारी क्रिया नहीं, वह केवल क्षमा, शान्ति, करुणा है।** इस ग्रन्थ में पुरूरवा के विलाप की अपेक्षा औशीनरी की करुणा अधिक वेधक है।

इस तरह आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यों में करुण रस के प्रयोग की निम्नलिखित विधियाँ हैं—

१. सामान्य रस-निष्पत्ति के लिए, जैसा 'साकेत' के दशरथ-मरण-प्रसंग में है।
२. पृष्ठभूमि-निर्माण की नाटकीय योजना के लिए, जैसा 'कामायनी' और 'कुरुक्षेत्र' के प्रारम्भ में है।
३. अन्य रसों की पूर्ण परिणति के सहायक शिल्प के रूप में, जैसा 'प्रियप्रवास' और 'एकलव्य' में है।
४. आन्तरिक स्वरूप के प्रकटीकरण के माध्यम से कवि की उद्देश्य-पूर्त्ति के रूप में, जैसा 'उर्वशी' में है।
५. एक बड़ी विशेषता आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यों के क्षेत्र में यह है कि कुछ ऐसे उपेक्षित चरित्रों का उद्धार किया गया है, जो हमारी करुणा-भावना के सहज अधिकारी हैं। 'साकेत' की कैकेयी और उर्मिला, 'कैकेयी' की कैकेयी, 'एकलव्य' और 'कर्ण' आदि काव्यों के नायक ऐसे ही चरित्र हैं।

आधुनिक महाकाव्यों में रस-व्यंजना से अधिक भाव-व्यंजना पर ध्यान रहने के कारण उसमें रस अन्तःसलिला के रूप में प्रच्छन्न रूप से प्रवाहित होते हैं। साथ ही, चरित्र, परिस्थिति और वातावरण को ध्यान में रख क्षण-क्षण परिवर्त्तित होती हुई मनोवृत्तियों का चित्रण हुआ है। इसका एक कारण घटनात्मकता का अभाव भी है। ऐसी परिस्थिति में घटनात्मकता की सघनता के अभाव में पूर्ण सावयव रस-निष्पत्ति की न तो आवश्यकता है और न पूर्ण सम्भावना। वस्तुतः, कामायनी, कुरुक्षेत्र, एकलव्य और उर्वशी-सदृश महाकाव्य परम्परागत शास्त्रीय रसनिष्पत्ति की दृष्टि से नहीं, प्रत्युत मनोवृत्तियों एवं समस्याओं के भाव-चित्रणों की दृष्टि से भी विचारणीय हैं।

आज करुण रस की दृष्टि से एक ऐसे महाकाव्य की प्रतीक्षा है, जो विनष्ट मानवता के माध्यम से भौतिकवादी संसार के मन में शोक की ऐसी रसधारा बहा दे, जिससे एक नई प्रकाश-भूमि का निर्माण हो सके।

●

हरिसभा रोड, मुजफ्फरपुर

हमारा स्वाध्याय-कक्ष

कविसमय-मीमांसा[1] : प्रस्तुत ग्रन्थ पी-एच्० डी० उपाधि के लिए लिखा गया शोध-प्रबन्ध है, जो साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के निर्देशन-निरीक्षण में सम्पन्न हुआ है। **कविसमय-प्रसिद्धि** संस्कृत-साहित्य का प्रमुख सौन्दर्यमय पक्ष माना गया है। यह पक्ष हिन्दी-साहित्यशास्त्र के विवेचकों द्वारा अनपेक्षित नहीं, तो उपेक्षित-सा अवश्य रहा है। अपने शोध-प्रबन्ध के निमित्त डॉ० विष्णुस्वरूप द्वारा ऐसे उपेक्षित, किन्तु अछूते विषय का चुनाव सर्वथा प्रशंसनीय है। खुशी की बात है कि अन्य शोध-प्रबन्धों की तरह प्रस्तुत कृति का विषय पिष्ट-पेषित नहीं है। निश्चय ही, अपने इसी असाधारणत्व के कारण इसने चार विशिष्ट व्यक्तियों की समिति को, जिसके संयोजक विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष श्रीजगन्नाथप्रसाद शर्मा जैसे विद्वान् स्वयं हैं, प्रभावित किया और 'श्रीलक्ष्मणस्वरूप हिन्दी-ग्रन्थमाला-प्रकाशन' के अन्तर्गत इसे दूसरा स्थान प्राप्त हो गया।

इस शोध-प्रबन्ध की प्रस्तावना बड़ी ही विशद है; जिसमें लेखक के साहित्यशास्त्र के सूक्ष्म विवेचन में पटु अन्तर्दृष्टि का पता चलता है। यह प्रस्तावना चार भागों में विभक्त है। मूल प्रबन्ध दो खण्डों और उपसंहार के साथ तीन परिशिष्टों से संवृत है। प्रबन्ध के प्रथम खण्ड में लेखक ने कविसमय के स्वरूप के सम्बन्ध में सर्वप्रथम सैद्धान्तिक पक्ष को ग्रहण किया है और द्वितीय खण्ड में कवि-प्रसिद्धियों के व्यावहारिक पक्ष पर विस्तृत विवेचन किया है। द्वितीय खण्ड वनस्पति-वर्ग, पक्षिवर्ग, रत्नवर्ग, वारिवर्ग, आकाशवर्ग, वर्णवर्ग, संख्यावर्ग, स्वर्ग्य (?) वर्ग, और पातालीय वर्ग नामक ९ परिच्छेदों में बँटकर लेखक के अध्ययन, चिन्तन-मनन का खासा परिचय प्रदान करता है। इनके अतिरिक्त संकीर्ण कवि-प्रसिद्धियाँ, उपसंहार तथा परिशिष्ट—इन तीन विषयावरणों से आवृत होकर यह शोध-प्रबन्ध वस्तुतः सर्वांगपूर्ण और स्वस्थ बन गया है। विविध पक्षियों के बहुरंगे चित्रों से सजाकर शोध-प्रबन्ध को आकर्षक बनाने का प्रयास निश्चय ही श्लाघनीय है। इसके साथ ही काव्य में सौन्दर्य-पक्ष को विवृत करनेवाला यह शोध-प्रबन्ध वस्तुतः अनुपम तथा मार्ग-निर्देशक कार्य माना जाना चाहिए।

उपर्युक्त सारी खूबियों के बावजूद शोधकर्त्ता का संस्कृत-साहित्य-विषय में प्रवेश अनधिकार प्रयास-सा लगता है। शोध-प्रबन्ध में प्रूफ की अशुद्धियों को छोड़कर संस्कृत के सैकड़े पचहत्तर प्रतिशत उद्धरण भ्रष्ट हैं। निश्चय ही, ये उद्धरण सस्ते और अनधिकृत प्रकाशनों से बटोरे गये हैं। शोधकर्त्ता को जबतक शुद्ध-अशुद्ध पाठ का विवेक न हो, तबतक संस्कृत-साहित्य में हाथ डालना उसका नितान्त दुस्साहसपूर्ण कार्य

---

१. लेखक : डॉ० श्रीविष्णुस्वरूप। प्रकाशक : काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसी; मूल्य : अजिल्द आठ रुपये, सजिल्द नौ रुपये मात्र।

माना जायगा। लेखक महोदय साधिकार घोषणा करते हैं कि 'प्रबन्ध के कलेवर में सभी प्राप्त उद्धरणों को स्थान देना न सम्भव था, न आवश्यक। अतः, उद्धरणों के चयन में **विशेष सतर्कता** रही है' (प्रस्तावना, पृ० १७)। लेखक के 'विशेष सतर्क' रूपों को दिखाने के लिए न तो यहाँ स्थान है, न समय ही; किन्तु कुछ नमूनों का उल्लेख किये बिना उनकी सतर्कता का पता नहीं चल सकता।

'काव्यमीमांसा' के १४वें अध्याय के जिस **दैवायत्ते...** श्लोक को १८वें अध्याय का बतलाया गया है (प्रस्ता०, पृ० ७), पहले उसी को लीजिए—

दैवायत्ते तु फलं किं क्रियतामत्र तु वदामः।
नाशोकस्य किशलयै वृक्षान्तरपल्लवास्तुल्याः॥

संस्कृत-भाषा तथा काव्य से जिसे साधारण परिचय प्राप्त है, वह एक श्लोक के आधे ही भाग में कभी दो बार **तु** का प्रयोग नहीं सहन कर सकता, तब राजशेखर-जैसा काव्यमर्मज्ञ भला ऐसा भ्रष्ट पाठ किस प्रकार लिख सकता है। 'काव्यमीमांसा' में प्रथम चरण के **तु** के स्थान पर **हि** पाठ है। दूसरे चरण में **अत्र** के स्थान पर **एतदत्र** और तीसरे चरण में **किशलयै** के स्थान पर **किसलयैः** पाठ है, जो सर्वसम्मत है। पृ० ३४ में उद्धृत **सुसितवसना...** श्लोक के द्वितीय चरण के अन्तिम अंश का पाठ दिया गया है—**गतोस्तमप्रद्विधुः**। इसका सन्धिविच्छेद होगा : गतः—अस्तम्—अप्रत्—विधुः। यहाँ **अप्रत्** का क्या अर्थ होगा, सतर्क शोधकर्त्ता ही जानते होंगे। वास्तविक है : गतः—अस्तम्—**अभूत्**—विधुः। फिर, पृ० ३५ में **उपरि सरंगोदावर्याः...** श्लोक के अन्तिम चरण में **भवाद् भरिहेक्ष्यताम्** पता नहीं, क्या बला है? वस्तुतः, यह **भवद्भिरीक्ष्यताम्** है। पुनः, पृ० ३६ में ही **नवपल्लवपत्रलाननंगस्य** जैसा अशुद्ध पाठ है, जिसका शुद्ध रूप है—**नवपल्लवपत्रानननङ्गस्य**। पृ० ४२ की टिप्पणीवाले अन्तिम श्लोक का अन्तिम अंश **रभिरश्चते** नहीं, **रभिरुच्यते** है। पृ० ४८ में उद्धृत 'काव्यमीमांसा' के १८वें अध्याय के एक श्लोक की तो दुर्दशा कर दी गई है। लिखा गया है—**नालाब्जशेषाब्जलता त्विदानीम्**। यहाँ 'नालाब्ज' और 'शेषाब्ज' का अर्थ, पता नहीं, लेखक ने क्या समझा है; इसी तरह यहाँ **लता तु** भी गलत है। शुद्ध पाठ है—**नालावशेषाब्जलतास्त्विदानीम्**। इसी के नीचेवाले श्लोक में हरिणाऽथ की जगह **परिणाथ** पाठ दिया गया है। फिर, पृ० ५२ के पहले उद्धरण में **हरन्तीम्** को **हरन्ती**, **जाह्नवीम्** को **जाह्नवी**, **दत्ताङ्कपालीम्** को **दंतांकपालीन्** जैसा पाठ देकर श्लोक को बिलकुल भ्रष्ट कर दिया गया है। फिर, इसी पृष्ठ के दूसरे श्लोक में जहाँ **सखी** कर्त्ताकारक में है, वहाँ **सखीम्** लिखकर कर्मकारक बनाया गया है। इसी तरह, पृ० ६१ में उद्धृत **मालतीविमुख.....** श्लोक में **पुष्पसम्प्दाम्**, **आश्चर्य** और **प्रियः** के स्थान पर क्रमशः **पुष्पसम्पदाम्**, **आश्चर्यम्** और **प्रियाः** पाठ सुष्ठु है। उसी पृष्ठ के अन्तिम श्लोक के अन्तिम चरण में **यद्येवापि** नहीं, **यद्येकापि** पाठ ग्राह्य है। पृ० ६६ के टिप्पणीवाले श्लोक में **ममरीभूता** नहीं, **मर्मरीभूताः**, **शीकरणो** नहीं; **शीकरिणो** तथा **गिरेरिव** नहीं, **सिषेविरे** पाठ है। 'सिषेविरे' को 'गिरेरिव' लिखना तो महान् आश्चर्य है! फिर, उसी टिप्पणी के दूसरे श्लोक में **चातकान्** की जगह **चात्कान** रूप देना चमत्कृत करता है। इसी के अन्तिम चरण में **सान्द्रस्रुत** को

मान्द्रस्तुत बना देना भी अद्भुत है। पुन: पृ० ६८ की टिप्पणीवाले श्लोक के **दिश:** प्रयोग को **दिशा:** बनाया गया है। पृ० ६९ के सारे उद्धरण तो इतने भ्रष्ट हैं कि मन विकृत हो उठता है। **क्लान्त:** की जगह **कान्त:**, **परिहरतिस्म** की जगह केवल **परिहरति**, **कक्कोल** की जगह **कल्लोल**, **चन्दनानाम्** की जगह **चन्दनोनाम्**, **नास्त्रसत्** की जगह **नास्त्रासत्**, **छेदिनाम्** की जगह **च्येदिनाम्** , **निदाघार्त्ता** की जगह **निदाघानाम्** तथा **तरवस्तरवस्त एव** की जगह केवल **तरवस्त एव** जैसा भ्रष्ट पाठ उल्लिखित है। पुन:, पृष्ठ ७१ के उद्धरण में **किमकल्पयिष्यत्** को **किं कल्पयिष्यत्** और **रक्षार्थम्** को **रक्ष्यार्थम्** बनाकर शोधकर्त्ता ने मानों शुद्ध कर दिया है ! फिर, पृ० ७४ की टिप्पणी में **वियुज्यसे** को **वियुज्यते**, **यास्यसि** को **यास्यति**, **जगदु: स्त्रिय:** को **जगदुस्त्रिय:**, तथा को **तया** और **वर्ग्याभिर्विकास** को **वर्ग्यभिविकास** बनाकर पाठशोध का अद्भुत ज्ञान प्रदर्शित किया गया है। फिर, पृ० ७५ में 'कर्पूरमञ्जरी' की दूसरी जवनिका के ४३वें श्लोक में **आलिंगणदंसणग्ग** को **आलिंगणदग्णग्ग** और **विश्रसंति** को **विश्रसन्ति** लिखकर शुद्ध किया गया है ! शोधकर्त्ता की सतर्कता इस बात में सर्वत्र अवश्य दिखाई पड़ती है कि संस्कृत-श्लोकों में पंचम वर्णों का प्रयोग अनुस्वार से और प्राकृत श्लोकों में अनुस्वार का प्रयोग पंचम वर्ण से उन्होंने किया है। इस उद्धरण के बाद ही 'कर्पूरमञ्जरी' के और चार श्लोक उद्धृत किये गये हैं, जिनके १७ स्थानों में भ्रष्ट पाठ दिये गये हैं। उपर्युक्त रीति से सभी भ्रष्ट पाठों को यहाँ देना सम्भव नहीं है। उसके लिए एक अलग पुस्तिका ही लिखने की आवश्यकता पड़ेगी। इसके बाद किस पृष्ठ में कितने भ्रष्ट पाठ हैं, केवल उनके आँकड़े-भर यहाँ दिये जा रहे हैं—

पृष्ठ ८४ में ४; ८७-८८ में १-१; ९१ में ५; ९२ में ६; ९३ में ४; ९६ में २; ९८ में २; १०० में ५; १०१ में १; १०२ में ३; १०६ में २; १०९ में २; ११९ में २; १२० में ३; १२७ में ३; १२८ में १३; १२९ में ३; १३९ में २; १४५ में ५; १४६ में २; १४९ में २; १५७ में ३; १५८ में १; १५९ में २; १६१ में ३; १६४ में २; १६९ में २; १७१ में ६; १७६ में १; १८० में १; १८३ में १; १८४ में २; १८५ में १; १९४ में १; २०३ में २; २०५ में ३; २०७ में २; २१० में २; २१२ में ४; २१८-२१९-२२० में १-१; २२२ में २; २२३ में ३; २२५ में २; २२६ में ४; २२७ में १; २२८ में २; २२९ में २; २३२ में २; २३३ में २; २४६ में ३ तथा २५२ में १—अर्थात्, १३९ स्थानों में भ्रष्ट पाठ दिये गये हैं। इस तरह सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध के उद्धरण अपने भ्रष्ट पाठों से मन में वितृष्णा पैदा कर देते हैं।

यह तो भ्रष्ट पाठों की बात हुई। अब जरा यह भी देखा जाय कि ये उद्धरण किसके और कहाँ से लिये गये हैं तथा इस सम्बन्ध में शोधकर्त्ता की 'सतर्कता' कितनी है? शोध-प्रबन्ध की प्रस्तावना के पृ० ७ में 'काव्यमीमांसा' का **दैवायत्त...** श्लोक उद्धृत है, जिसे १८वें अध्याय का बतलाया गया है, जो वस्तुत: १४वें अध्याय का है। इसी तरह **द्योतितान्त...** पृ० ५७ वाला श्लोक 'काव्यमीमांसा' के १५वें अध्याय का है, जिसे १६वें का लिखा गया है। पृ० ६६ की टिप्पणी का प्रथम श्लोक भी 'रघुवंश' के ४।४३ का नहीं, ४।७३ का है। फिर, पृ० ६९ में उद्धृत **रावणावरजा...** श्लोक रघुवंश के १२वें

अध्याय का ३२वाँ श्लोक है, जिसे चौथे अध्याय का ५१वाँ लिखा गया है। पृ० ७१ में उद्धृत **आतश्चन्दनकिम्...**को 'सुभाण्डा' का बतलाया गया है, जो 'सुभाषितरत्नभाण्डागार' का है। पृ० ८० की टिप्पणी में 'रघुवंश' के जिस श्लोक को ८वें अध्याय का ३३वाँ श्लोक कहा गया है, वस्तुतः, वह ६२वाँ है। पृ० ८१ की टिप्पणी में 'नैषधीयचरित' के **महीरुहादोहद...**श्लोक को तीसरे सर्ग का ३१वाँ श्लोक लिखा गया है, जो वस्तुतः २१वाँ है। पृ० ९१ में 'रघुवंश' के ही **कुसुममेव न...**श्लोक को दूसरे सर्ग का नवाँ श्लोक बतलाया गया है, जो नवें सर्ग का २८वाँ श्लोक है। फिर, उसी पृ० में 'रघुवंश' के ही १३वें सर्ग के ३२वें श्लोक **इमां तटाशोकलताम्...**को १३वें का दूसरा श्लोक तो बतलाया ही गया है, इसे **इयं तवाशोकलताम्...**आदि करके भ्रष्ट भी किया गया है। पुनः, पृ० ९२ में 'काव्यमीमांसा' के १४वें अध्यायवाले **दैवायत्ते...** श्लोक को पुनः १८वें अध्याय का कहकर प्रस्तावना पृ० ७ की भूल की पुष्टि की गई है। पृ० ९६ की टिप्पणी में **सैरेयकस्तु...**श्लोक को 'अमरकोश' के प्रथम काण्ड का बतलाया गया है, जो द्वितीयकाण्ड के वनस्पति-वर्ग का है। पृ० ११९ की टिप्पणी में 'रघुवंश' के नवें सर्ग के २७वें **नवगुणोपचितामिव** श्लोक को उसी सर्ग का दूसरा श्लोक लिखा गया है। लेखक की 'विशेष सतर्कता' तो तब आश्चर्य में डाल देती है, जब 'मेघदूत' के **आकैलासात् बिसकिसलय...** श्लोक को, शोध-प्रबन्ध के पृ० १२१ में, 'रघुवंश' के प्रथम सर्ग का ११वाँ श्लोक लिखा मिलता है। अन्त में, मैं राजशेखर के उसी श्लोक को दुहराना चाहूँगा, जिसे अपने शोध-प्रबन्ध में डॉ० विष्णुस्वरूप ने अन्य शोधकर्त्ताओं के लिए उद्धृत किया है—

अनुसन्धानशून्यस्य भूषणं दूषणायते।
सावधानस्य च कवेर्दूषणं भूषणायते॥

— शशांकदेव

०

भाषाशास्त्र की रूपरेखा[1] : प्रस्तुत पुस्तक का लेखक एक प्रख्यात भाषावैज्ञानिक है। ऐसे भाषाविज्ञान में ख्याति प्राप्त कर लेना अपेक्षया कुछ सुलभ हो गया है। कुछ सामान्य कृतियों के साथ अमरीकी पासपोर्ट पा लेना भाषावैज्ञानिक हो जाने के लिए पर्याप्त है। जिन लोगों को पासपोर्ट नहीं मिलता, वे भारत का पासपोर्ट पाये हुए अमरीकी विद्वानों से समझौता करके भाषावैज्ञानिक बन जाते हैं। भाषाविज्ञान की प्राचीन उपलब्धियों के प्रति अज्ञानता की सीमा तक अनास्था और साथ ही देश-विदेश की आधुनिकतम उपलब्धियों का सम्यक् मूल्यांकन कर लेने का दम्भ-प्रदर्शन तथाकथित आधुनिक भाषावैज्ञानिकों की सामान्य प्रवृत्ति बनती जा रही है। तिवारीजी के सन्दर्भ में यह बात अर्द्धसत्य है। भारतीय उपलब्धियों से उनका अपरिचय हो, ऐसी बात तो नहीं, हाँ, उस ज्ञान का न तो उन्होंने संतुलित ढंग से उपयोग ही किया है, और न आधुनिक ढंग से ही कुछ सोचा है। प्रस्तुत पुस्तक विभिन्न अनुवादों की एक ऐसी खिचड़ी है, जो बिलकुल कच्ची

१. लेखक : डॉ० श्रीउदयनारायण तिवारी ; प्रकाशक : भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद ; मूल्य : आठ रुपये मात्र।

रह गई है। प्रथम अध्याय की परिशिष्ट में 'सैसूर' का अनुवाद रख दिया गया है। दसवें अध्याय के बाद परिशिष्ट के अन्तर्गत डॉ० कैलाशचन्द भाटिया, श्रीदिनेशप्रसाद शुक्ल, और डॉ० महावीरसरन जैन के निबन्ध जोड़ दिये गये हैं। परिशिष्ट की इस मरीचिका से पुस्तक की अनुपयोगिता में अन्तर नहीं आया है।

पूरी पुस्तक पढ़ लेने के बाद भाषाविज्ञान की जो रूपरेखा सामने आती है, वह उपेक्षणीय ही है। 'सपीर', 'सैसूर', 'हाकेट', 'नाइडा', 'हैरिस', 'पाइक' आदि के त्रुटिपूर्ण अनुवाद स्थान-स्थान पर दिखाई पड़ते हैं। सभी मानी में प्रस्तुत पुस्तक की समस्या ही अनुवाद की समस्या है और इसकी आलोचना भी इसी दृष्टिकोण से की जानी चाहिए। यथा—फोनिमिक पैटर्न के लिए **पद्धति का ढाँचा, मारफालॉजिकल क्लासेज़** के लिए **गठन-सम्बन्धी वर्ग, मारफॉलॉजी और मोरफेमिक्स** दोनों के लिए **पदविज्ञान** आदि अनेक चिन्त्य प्रयोग स्थान-स्थान पर दिखाई पड़ते हैं। वाक्यों का अनुवाद भी कहीं-कहीं अशुद्ध हुआ है। जिससे मूल की विकृति के साथ ही अस्पष्टता भी आ गई है। क्षेत्रीय प्रणाली के अन्तर्गत 'नाइडा' के गिनाये २५ सिद्धान्तों का जो अनुवाद तिवारीजी ने प्रस्तुत किया है, सभी की यही दशा है। परिशिष्ट में राम और श्याम नाम से दिया गया 'सैसूर' का डायग्राम गलत हो गया है। पता नहीं, यह भूल है अथवा मौलिकता।

पुस्तक की सामग्री-संचयन के लिए लेखक बधाई का पात्र है। यदि अनुवाद का स्रोत भी स्थान-स्थान पर लेखक बताता चलता, तो पाठकों को सुविधा होती और तब शायद सामान्य पाठक इस भ्रम से बच जाते कि यह लेखक की मौलिक कृति है।

०

भाषा और भाषिकी[1] : लेखक के मतानुसार इस विषय पर, अर्थात् भाषा और भाषिकी पर जो पुस्तकें उपलब्ध हैं, उनमें से अधिकांश को निम्नांकित वर्गों में रखा जा सकता है—

१. भाषिकी की शैशवावस्था की सामग्री से पूर्ण पुस्तकें।

२. पुरानी और नई सामग्री की अखाद्य खिचड़ीवाली पुस्तकें।

३. पुरानी अथवा नई सामग्री विना सोचे-समझे ठूसी पुस्तकें।

४. मौलिकता के नाम पर ऐसी बचकानी बातोंवाली पुस्तकें, जो न दयनीय लगती हैं, न हास्यास्पद।

लेखक के आज्ञानुसार इस पुस्तक का गम्भीर मनन कर लेने पर उपर्युक्त सभी बातों के साथ ही कुछ अन्य बातें भी इस अकेली पुस्तक में एकत्र देखने को मिल सकती हैं। यथा—

५. अनूदित सिद्धान्तों के अन्तर्गत नये उदाहरणोंवाली पुस्तकें।

६. पारिभाषिक शब्दावली की मूर्खतापूर्ण प्रदर्शनीवाली पुस्तकें।

सही मानी में लेखक की गर्वोक्ति उसकी स्वीकारोक्ति है और पाठकों की यह आशा कि लेखक सचेत होकर इन बातों से बचेगा और कोई उत्कृष्ट बात कहेगा, एक

१. लेखक : डॉ० श्रीदेवीशंकर द्विवेदी; प्रकाशक : श्रीलक्ष्मीनारायण अग्रवाल; मूल्य : आठ रुपये मात्र।

दुराशा-मात्र है। वर्गीकरण के चौथे आधार के उत्तरार्द्ध—'जो न दयनीय लगती है, न हास्यास्पद'—से लेखक का क्या अभिप्राय है, यह तो वही जाने, हाँ, इतना अवश्य है कि प्रस्तुत पुस्तक पढ़ते हुए करुण रस और हास्य रस का सर्जन लेखक को अभिप्रेत नहीं होने पर भी पाठकों तक प्रेषित हो जाता है। नमूने के लिए हास्य रस का एक उदाहरण प्रथम अध्याय में ही मिल जायगा। यथा : भाषा का अर्थ समझाते हुए लेखक कविता की दो पक्तियाँ उद्धृत करता है—

एक तारा टूटकर क्या कह गया।

अथवा

एक दिन बोला बवंडर धूल से।

इन पंक्तियों को लिखनेवाले कवि के व्यक्तित्व की उपेक्षा करते हुए स्वकथित भाषाविज्ञान के चोटी के विद्वान् ने जो मानसिक व्यायाम किया है और कई पृष्ठों तक पँवारा गया है, उसे पढ़कर किसी को भी हँसी आ सकती है। तारे का टूटकर कुछ कह जाना कवि के अनुभूत सत्य की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति-मात्र है। किन्तु, लेखक इसे नहीं जानता और उसकी दुहरी अज्ञानता—'साहित्य और भाषाविज्ञान की क्या किसी विदूषक से कम है, जिसे यह भी पता नहीं कि टोपी पैर में पहननी चाहिए अथवा सर में', अन्त-र्विरोधी विचारों की इस अनूदित कृति को पढ़कर न तो भाषा का रूप स्पष्ट होता है, न भाषिकी का। अध्याय-विभाजन को देखते हुए लेखक का दुराग्रह अवश्य स्पष्ट होता है कि वह भाषाविज्ञान के सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों पर विचार करना चाहता है। इस विषय पर उपलब्ध पाश्चात्य पुस्तकों के अन्धानुवाद से हिन्दी का परोक्ष रूप से कितना अहित हो रहा है, सम्भवतः ये तथाकथित विद्वान् भूलते जा रहे हैं। मौलिक चिन्तन के अभाव में आत्मप्रशस्ति फटी डफली की तरह बेसुरी लगती है।

पुस्तक के परिशिष्ट में छह निबन्ध, जो 'साहित्य-सन्देश' आदि पत्रिकाओं में पहले प्रकाशित हो चुके हैं, लेखक ने जोड़ दिये हैं। पृ० १६० की पाद-टिप्पणी में लेखक 'वि'-उपसर्ग के सम्बन्ध में कहता है कि—'वि' उपसर्ग का प्रयोग १. विलोम के लिए तथा २. कुछ अधिकता या विशेषता दिखाने के लिए होता है। लेखक के उदाहरण के अनुसार देश का विलोम विदेश, माता का विलोम विमाता है।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि इस उपसर्ग का प्रयोग अन्य स्थितियों में भी होता है। यथा—१. विभाजन, २. वितरण, ३. वैशिष्ट्य, ४. विन्यास, ५. क्रम, ६. विरोध आदि। विदेश और विमाता क्रमशः देश और माता के विलोम शब्द नहीं हैं। (इस सन्दर्भ में मॉनियर विलियम का कोश देखें)।

लेखक ने पारिभाषिक शब्दावली की योजना भी बहुत विचित्र ढंग से की है। 'वावेल ट्रेनगिल' के लिए स्वर-चतुष्कोश क्यों? ध्वनिशास्त्र का एक साधारण-से-साधारण विद्यार्थी जानता है कि स्वरों का वर्गीकरण तीन आधारों पर करते हैं और स्वर-त्रिकोण कहने से कम-से-कम इन तीन आधारों की व्यंजना हो जाती है : १. अग्र—मध्य—पश्च। २. संवृत–अर्द्धसंवृत–अर्द्धविवृत–विवृत। ३. वर्त्तुल–-दासीन–अवर्त्तुल।

स्वरों के उच्चारण की स्थिति में जो आकृति भीतर की ओर बनती है, यदि वह त्रिभुजाकार न हो, तो चतुभजाकार तो बिलकुल ही नहीं है (कृपया डैनियल जोन्स और तारापुरवाले की पुस्तक देखें)। अँगरेजी शब्द 'सिलेबिल' के लिए लेखक ने 'वर्ण' शब्द का प्रयोग किया है, जबकि आजकल सामान्यतः इसके लिए 'अक्षर' शब्द रूढ हो गया है। मौलिकता-प्रदर्शन के लोभ में पारिभाषिक शब्दावली की एकरूपता के प्रति इस प्रकार का खिलवाड़ स्थान-स्थान पर मिलेगा। अँगरेजी-शब्द 'इडियोलेक्ट' के लिए 'अनुली' के दृष्ट-कूटीय प्रयोग से क्या 'व्यक्ति बोली' अधिक उचित नहीं ?

पुरी पुस्तक पढ़ लेने के बाद आचार्य विश्वनाथप्रसादजी की भूमिका कुछ ऐसी लगती है, जैसे पिता अपने बेटे का खड़ा होना, लड़खड़ाना और गिरना देखकर समय से कुछ पहले ही घोषित कर दे कि मेरा बेटा चलने लगा। गुरु का स्नेह और आशीः निश्चय ही महत्प्रभाव रखता है। और, हो सकता है कि लेखक भविष्य में कुछ ठोस कार्य कर सके।

ऐसे इस पुस्तक को लेखक अपनी बहुत बड़ी कृति मानता है और उसे विश्वास है कि यह विश्वविद्यालयों में पाठ्य-पुस्तक के रूप में स्वीकार कर ली जायगी। हो सकता है, लेखक की पहुँच दूर तक हो और विद्यार्थियों को इस पुस्तक का बोझ भी ढोना पड़े। सचमुच, यह विद्यार्थियों का अभाग्य ही होगा।

—विश्वजीत

०

मिथिला की सांस्कृतिक लोक-चित्रकला[१] : इतिहास-पुराणों में, सुप्रसिद्ध चौंसठ कलाओं में आलेपन या आलिम्पन भी एक प्रमुख कला है, जो चित्रकला अथवा शिल्पकला का एक विशिष्ट अंग है। गृह्यसूत्रों, शास्त्रों तथा निबन्धों में यह कला 'मण्डल' शब्द से अभिहित है। कर्मकाण्ड के शुभ अवसरों, जैसे विवाह, यज्ञोत्सव, वासुदेवकथा, यज्ञोपवीत आदि पर 'भूमिशोभा' का संकेत शास्त्रों में आया है। यह 'भूमिशोभा' और कुछ नहीं, आलिम्पन ही है। पिसे हुए चावल, पिसी हुई हल्दी, सिन्दूर, रोली, चन्दन, मुक्ता, प्रवाल, तिल, यव, गोधूम आदि से भूमिशोभा या आलेपन की प्रथा अपने देश में प्राचीन काल से चली आ रही है। इसके अनेकानेक भेद-प्रभेद हैं—सर्वतोभद्र, स्वस्तिक, षोडशदल, अष्टदल आदि।

मिथिला में इसी आलेपन या आलिम्पन को 'अरिपन' कहते हैं, जो पर्वभेद से भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं और जिन्हें मिथिला की महिलाएँ भली भाँति जानती हैं। विवाहोत्तर अवसर पर वर-वधू के अविच्छिन्न सम्बन्धद्योतक कोहबर का अरिपन है, जिसमें मंगल-मिलन का संकेत होता है। इसी प्रकार पृथ्वीपूजा, प्रबोधिनी एकादशी, तुलसीपूजा तथा सुखरात्रि—सुहागरात के अरिपन का भी अपना वैशिष्ट्य है।

---

१. लेखक, चित्रकार एवं प्रकाशक : श्रीलक्ष्मीनाथ झा; मुद्रक : ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४; मूल्य : तैंतीस रुपये मात्र।

सरिसव (दरभंगा)-निवासी श्रीलक्ष्मीनाथ झा द्वारा संगृहीत मैथिल लोक-चित्रकला के नमूनों का यह प्रकाशन निश्चय ही हमारे देश की सद्यःप्रस्फुटित सांस्कृतिक चेतना में एक नये मोड़ का परिचायक है। पता नहीं, किन अछूती कल्पनाओं, अपरिचित आह्लादों और अज्ञात कौशल-सम्पन्न अँगुलियों के सहारे उतरकर रेखाओं और रंगों की अप्सरियाँ प्रांगणों, देहलियों, आँगनों और कोठरियों में युगों से नर्त्तन कर रही हैं ? असूर्यम्पश्या राजदाराओं की तरह कला का यह लीलाविलास प्रत्येक कला-उपासक के लिए अर्चना की वस्तु बन गया है। मिथिला की लोक-चित्रकला के इन नमूनों में एक ओर जहाँ निराली सादगी और भोलापन है, वहीं आधुनिकतम कला की प्रमुख विशिष्टताएँ भी अनायास ही मुखर हुई हैं। ये लोकचि मानव के सामान्य जीवन की सूक्ष्म अनुभूतियों एवं आध्यात्मिक धाराओं को प्रदर्शित करते हैं। ये चित्र-भंगिमाएँ हैं विस्मय, क्षोभ एवं आनन्द की उन प्रतिक्रियाओं की, जो प्रकृति एवं समाज के सम्पर्क से मिथिला के स्त्री-पुरुषों के अन्तस्तल में प्रदीप्त होती हैं। संकेतों की भाषा सहृदय कलाकार अच्छी तरह समझ लेंगे। ये चित्र एक ऐसे सामाजिक जीवन के अंग हैं, जिनमें गृहकृत्य और गृहोत्सवों की कक्षा में व्यक्ति उपग्रहों की भाँति घूमते रहते हैं।

आज के विशृंखल समाज में, गृहजीवन में रमी हुई इस रसप्रवाहिनी आनन्द-प्रदायिनी कला की उपासना अनिवार्यतः नितान्त आवश्यक प्रतीत होती है। जिन कुमारियों के हाथों से मिथिला के गृहोत्सव सम्पन्न होते थे और ये आकर्षक आलेपन और चित्र घरों में, दीवारों पर और आँगनों में बनाये जाते थे, आज वे पाठशालाओं, विद्यालयों और क्लबों में साधना और मनोरंजन उपलब्ध करती हैं। क्या ही अच्छा हो, यदि स्कूलों और पाठशालाओं में कन्याओं को कला-शिक्षा दी जाय ! वस्तुतः, सनातन काल से प्रवाहित ज्ञानधाराओं, मध्ययुग में उत्कर्षप्राप्त कलाओं और साहित्य-समुच्चय तथा विधि, नियम और कर्मकाण्डों में निबद्ध जीवनचर्याओं से ये आलेपन अनुप्राणित भी हैं और सुसज्जित भी। इसीलिए, मिथिला और व्रजमण्डल की संस्कृतियों में उन्मुक्त भावनाओं एवं परिष्कृत शैलियों, नैसर्गिक अभिव्यंजनाओं तथा नागरिक सुरुचि का जो समन्वय दीखता है, वह शायद ही अन्य किसी लोक-संस्कृति में मिले। संक्षेप में, यह मानना पड़ता है कि आलेपन एवं भित्तिचित्र मिथिला की महिलाओं के लिए शास्त्रज्ञान तथा अध्यात्मप्रेरणा के स्रोत थे।

आलेपन और भित्तिचित्र की कलाओं के विषय में हिन्दी में यह शायद पहला ग्रन्थ है। मिथिला की इस अतीत अमूल्य संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने के लिए लेखक-चित्रकार के अथक परिश्रम, अक्लान्त अध्यवसाय एवं अटूट लगन की जितनी प्रशंसा की जाय, कम है।

लोक-संस्कृति से हमारा जीवन धीरे-धीरे दूर हटता और कटता जा रहा है और आज सर्वत्र ही नागरिक संस्कृति की प्रचण्ड आँधी में हमारी सुकोमल भावनाएँ उड़ती चली जा रही हैं, देश, समाज और व्यक्ति के लिए यह दुर्भाग्य का सूचक है। बच्चे अब अस्पतालों में पैदा होते हैं—'लेबर रूम' में, इसलिए 'सोहर' समाप्त हो गया; गेहूँ अब

मिलों में पीसा जाने लगा, इसलिए 'जँतसार' उठ गया; 'यज्ञोपवीत' की प्रथा आधुनिक समाज में अनावश्यक हो चली है, तो फिर चूडाकर्ण और कर्णवेध की प्रथा कौन चलाये ? विवाह भी अब 'रजिस्ट्रेशन' से होने लगे और परिवार-नियोजन नवागन्तुकों के खिलाफ जिहाद छेड़े हुए है । फिर, लोकगीत, लोकनृत्य, लोक-अल्पना आदि के लिए गुंजाइश ही कहाँ रह गई ?

आशा की जाती है, इस ग्रन्थ से हमारे अन्दर का 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' जगेगा और हम उस सहज शृंगार के प्रति आग्रहशील होंगे, जिसकी आये दिन हमारे द्वारा घोर और अक्षम्य उपेक्षा हुई है ।

—मधुव्रत

०

सौवर्ण[1] : 'शिल्पी' के बाद 'सौवर्ण' पन्तजी का उल्लेखनीय काव्य-रूपक है । प्रथम संस्करण में इसके अन्तर्गत दो काव्य-रूपक ही संगृहीत थे—'सौवर्ण' तथा 'स्वप्न और सत्य' । किन्तु, द्वितीय संस्करण में एक और नवीन काव्य-रूपक 'दिग्विजय' संलग्न कर दिया गया है । इस काव्य-रूपक की प्रेरणा कवि को यूरी गगारिन की अन्तरिक्ष-यात्रा से मिली थी । कवि का विश्वास है कि उसका यह काव्य-रूपक जीवन-सत्य की बहिरन्तः विजय का साथी बनकर युग-सत्य को समझने में अधिक सहायक बनेगा ।

कवि ने हिमालय को 'सौवर्ण' की आख्या दी है । उसकी दृष्टि में हिमालय मानव-जाति के विगत सांस्कृतिक संचय का दिग्दर्शन है । किन्तु, कवि हिमालय को अतीत-मात्र के निष्प्राण सांस्कृतिक संचय के ही रूप में नहीं देखना चाहता । उसकी अभिलाषा है कि यह हिमालय भावी मानव की मांगलिक कल्पनाओं का भी सम्मूर्त्तन कर सके । अतः, वह इस हिमालय को किसी विराम पर टिका हुआ नहीं देखना चाहता है । वह हिमालय में सतत विकास को अपेक्षित मानता है । इसके लिए उसने 'सौवर्ण' में क्रियात्मक अध्यात्म को व्यक्तित्व देने की चेष्टा की है । उसकी दृढ धारणा है कि अध्यात्म के प्रति मध्ययुगीन नैतिक दृष्टिकोण को धारण किये रहने से मानवता में जडता का समावेश हो जायगा । अतः, वह सौवर्ण के माध्यम से मानव की नैतिक एवं भौतिक प्रवृत्तियों का समन्वय कर जन-मानस को जीवन-निर्माण के प्रेम की ओर उन्मुख करना चाहता है। इस काव्य-रूपक में कवि ने सौवर्ण से उसका प्रतीकार्थ स्पष्ट कराते हुए लिखा है—

मैं हूँ वह सौवर्ण, लोकजीवन का प्रतिनिधि !
नवमानव मैं, नवजीवन गरिमा में मण्डित,
... ...
मैं ही मूर्त्त प्रकाश, सूक्ष्म औ' स्थूल जगत के
सतरँग छायातप में विकसित ! मर्त्य अमर मैं । (पृ० ४५)

इतना ही नहीं, पन्त के सौवर्ण ने अपनी विराट्ता से अमेय काल को भी माप लिया है ।

१. रचयिता : श्रीसुमित्रानन्दन पन्त; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; द्वितीय संस्करण, १९६३; मूल्य : तीन रुपये पचास नये पैसे ।

इसके बाद 'स्वप्न और सत्य' शीर्षक काव्य-रूपक आदर्श और वास्तविकता के बीच युग-संघर्ष को द्योतित करता है। इसमें कवि ने युगीन आदर्श तथा यथार्थ के बीच अविराम रूप से चलते हुए संघर्ष का चित्रण किया है। इतना ही नहीं, उसने मध्ययुग के नैतिक आदर्शों तथा साम्प्रतिक युग के भौतिक आदर्शों की पराजय दिखाते हुए अप्रत्यक्ष रूप से यह संकेत किया है कि आज की मानवता को अधिक व्यापक तथा गम्भीर सत्य-दृष्टि की अपेक्षा है। इस काव्य-रूपक में 'कलाकार' नामक पात्र कवि की चिन्तन-दिशा का प्रतिनिधित्व करता है।

अन्तिम काव्य-रूपक 'दिग्विजय' में कवि ने जीवन-सत्य की बहिरन्तः विजय का भावात्मक आकलन प्रस्तुत किया है। इस काव्य-रूपक का प्रारम्भ अन्तरिक्ष में तैरनेवाली अप्सराओं के गीत से होता है, जिसमें उन्होंने नर को नारायण के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया है और पृथ्वी के उत्कर्ष के लिए अपनी मंगलकामना व्यक्त की है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कवि को इस रूपक की प्रेरणा यूरी गगारिन की अन्तरिक्ष-यात्रा से मिली है। कवि ने मानव की इस दिग्विजय को मरुत्, अप्सरा और खेचर के वार्त्तालाप से बहुत ही नाटकीय बना दिया है। इस प्रसंग में प्रक्षेपास्त्र के उड़ने की ध्वनि सुनने के बाद अप्सराओं के विस्मय और कौतूहल का बहुत ही कलात्मक चित्रण उपस्थित किया गया है।

किन्तु, कवि ने यूरी गगारिन की सफल अन्तरिक्ष-यात्रा को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे दिया है। लगता है, इस अन्तरिक्ष-यात्रा ने कवि के मनोजगत् में आशाप्रद कल्पना का एक नूतन सेतुबन्ध प्रस्तुत कर दिया है।

०

वाणी[१] : 'वाणी' का प्रथम संस्करण सन् १९५७ ई० में हुआ था, जिसमें कवि की सैंतालीस रचनाएँ संगृहीत थीं। 'वाणी' के प्रस्तुत द्वितीय संस्करण में कवि ने 'नया प्रेम' शीर्षक एक छोटी-सी नई कविता जोड़ दी है। इस तरह अब 'वाणी' में पन्त की अड़तालीस कविताएँ संगृहीत हैं। इन संगृहीत रचनाओं में एक का शीर्षक 'वाणी' है। सम्भव है, कवि ने इसी शीर्षक के आधार पर प्रस्तुत काव्य-संग्रह का नामकरण किया हो। यह कविता है भी बहुत दार्शनिक। कवि ने अकथ, किन्तु अनुभूत सत्य को केवल प्रतीकों के माध्यम से ही अभिव्यक्त करने की इच्छा प्रकट की है।

'वाणी' के माध्यम से पन्तजी का एक नूतन विकसित स्वरूप पाठक-वर्ग के समक्ष उपस्थित होता है। 'वाणी' के सम्बन्ध में यह धारणा समीचीन मालूम पड़ती है कि इसमें पन्तजी का प्रकृति के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण रूपायित हुआ है और उनकी आध्यात्मिक चेतना के नये विकास-शिखर भी उद्भासित हुए हैं। वस्तुतः, 'वाणी' में पूर्वप्रकाशित कृतियों की तरह कृत्रिम रहस्यों के गेंडुलीदार उलझाव नहीं हैं। इसमें कवि ने मन-प्राणों के रम्य-अरम्य और निम्नोन्नत प्रदेश में पर्यटन-रमण करते हुए प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष विषयों की

---

१. रचयिता : श्रीसुमित्रानन्दन पन्त; प्रकाशक: भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; द्वितीय संस्करण, १९६३; पृ० सं० १५४; मूल्य : चार रुपये मात्र।

जो मर्मानुभूतियाँ प्राप्त की हैं, उन्हें बहुत ही प्रभावान्विति के साथ अभिव्यक्त किया है। इसलिए, इसमें हम कल्पना-कुंज की वह छटा पाते हैं, जिसपर वास्तविकता की धूप-छाँही विद्यमान है। फलस्वरूप, इसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष तथा आभ्यन्तर और बाह्य–दोनों का रमणीय समन्वय है। अबतक के एकांगी जीवन-दर्शन की परम्परा तथा अधुनातन विज्ञान के रौद्र से उत्पन्न त्रास की पृष्ठभूमि में इस समन्वय-भावना का दारुण महत्त्व है। इसी समन्वय-भावना के कारण कवि ने आधुनिक जीवन-जगत् में वर्जन और चयन का घोर विरोध किया है—

चयन मत करो, चयन मत करो,
वरण करो,—
सुन्दर-कुरूप को, ऊँच-नीच को,
भले-बुरे को, कमल-कीच को...। (पृ० १८)

उसकी दृष्टि में मनुष्य का जीवन स्वीकृति, अनिषेध और समन्वय से सुखकर बनता है। इसी अनिषेध की धारणा के कारण वह उन इन्द्रियों के उपकार को भी स्वीकार करता है, जिनकी भर्त्सना में विरस वैराग्यवाद ने जमीन-आसमान के कुलावे एक कर दिये हैं। (द्र० पृ० २०)। उसका निश्चित मत है कि वैराग्य और निषेध की धारणा से भू-जीवन का मांगलिक निर्माण नहीं हो सकता; क्योंकि यह भू-जीवन उपेक्षा का नहीं, अपेक्षा का विषय है। कारण, यह भू प्रभु की दृष्टि में भी विकास का अनन्त क्षेत्र है—**प्रभु ने भू को चुना अनन्त विकास-क्षेत्र हित।** (पृ० ४०)

इस संग्रह की दो कविताएँ अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं; क्योंकि इनका सम्बन्ध पन्तजी की चिन्तन-दिशा और उनके काव्य-विकास के साथ है। ये दो कविताएँ हैं—'चैतन्य सूर्य' तथा 'आत्मिका'। 'चैतन्य सूर्य' शीर्षक कविता में कवि ने अपने नवीन चिन्तन के प्रेरक तत्त्वों का आकलन और निर्देश किया है। वह मनुष्य को 'बाहर' के बदले 'भीतर' की ओर प्रेरित करना चाहता है, जहाँ वास्तविक प्रगति और शान्ति के सैकड़ों निर्झर प्रस्रवित हो रहे हैं।

तदनन्तर, 'आत्मिका' शीर्षक कविता एक तरह से संस्मरण और जीवन-दर्शन है। इसमें कवि ने अपने जीवन, चिन्तन और चेतना के विकास को सुचिन्तित ढंग से काव्यात्मक धरातल पर उपस्थित किया है। अपनी साधना और सर्जन-चेतना से भारती के भाल को पर्याप्त मात्रा में मण्डित करने के बाद भी कवि ने इस तरह की विनम्र बात की है—

पूर्ण नहीं कर सका अभी तक
मैं प्रणिहित कविकर्म धरा पर। (पृ० १४४)

—जैगीषव्य शास्त्री

०

भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा[1] : श्रीराधा की चर्चा अनेक रूप से और अनेक दृष्टियों से विद्वानों ने की है। भारतीय देव-देवियों के वाङ्मयीय उद्भव और विकास का अनुशीलन करनेवाले पूर्व-पश्चिम के बहुत-से विद्वानों ने भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा के अवतरण का सूत्रपात कब और कैसे हुआ, इस विषय के अनुसन्धान और परिशीलन में अथक परिश्रम किया है। भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा का उल्लेख सर्वप्रथम किस परिवेश, किस युग और किस ग्रन्थ में हुआ, इस ढूँढ़-खोज में लगभग एक शती से भारतीय विद्या (इण्डोलॉजी) के विद्वान् अनुशीलन करते चले आ रहे हैं।

इस सन्दर्भ में डॉ० शशिभूषणदास गुप्त की मूल पुस्तक और उसका हिन्दी-अनुवाद 'श्रीराधा का क्रमविकास' विशेष महत्त्व रखती है। इस रचना के पूर्व भी यद्यपि अनेक पण्डितों और अनुशीलकों ने श्रीराधा के वाङ्मयीय आविर्भाव पर बहुत कुछ लिखा है और अबतक वह क्रम चला जा रहा है, तथापि पुस्तकाकार में सुव्यवस्थित ढंग से श्रीराधा के क्रमविकास-सम्बन्धी अनुशीलनात्मक विचार (भारतीय भाषा-ग्रन्थ में सम्भवत: पहली बार) उपस्थित किया गया है। उक्त ग्रन्थ निश्चय ही प्रस्तुत समीक्ष्य रचना का पथप्रदर्शक है। डॉ० दासगुप्त उस वंगभूमि के लेखक है, जिस धरती ने मधुर भक्ति अथवा प्रीतिभक्ति से निष्पन्न उज्ज्वल रस का तीव्रतम अनुभव और आस्वादन किया था। वंग या द्वारवंग के जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति और उमापति ने मधुरसपीयूषपूर से आप्लावित जिस मंजु मन्दाकिनी को प्रवाहित किया, वह भारतीय संस्कृति और श्रीकृष्णभक्त वैष्णवों की प्राणदायी प्रियतम और आराधना में मधुर निधि है। श्रीउपाध्यायजी की समीक्ष्य रचना उसी क्रम का प्रौढतर ग्रन्थ है। इसका परिवेश व्यापक है और विवेच्य आयामों की सीमा विस्तृत।

इस ग्रन्थ में श्रीराधा का अनुशीलनात्मक विवेचन तीन दृष्टियों से करने का प्रयास हुआ है। ये तीन दृष्टियाँ है—१. ऐतिहासिक २. धार्मिक (जिसके अन्तर्गत विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों में श्रीराधा के प्रति तत्तद्भक्तिमार्गियों की दृष्टियों का आकलन भी सम्मिलित है।) तथा ३. साहित्यिक। इस प्रकार, प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रीराधा का एक व्यापक तथा पूर्णदेश्य स्वरूप-परिचय देने के लिए पुष्ट परिशीलन-अनुशीलन किया गया है।

प्रथम खण्ड (ऐतिहासिक) के सात विभागों में विद्वान् लेखक ने सर्वप्रथम राधा का प्राकट्य दिखाते हुए श्रीकृष्ण की मधुर भक्तिधारा के दो साहित्यिक ग्रन्थों—जयदेव के 'गीतगोविन्द' और लीलाशुक के 'कृष्णकर्णामृत' से प्रसंग का प्रारम्भ किया है और अवरोह-क्रम से चलकर पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों—नलचम्पू, कवीन्द्रवचनसमुच्चय, ध्वन्यालोक, वेणीसंहार, पञ्चतन्त्र, बालचरित और गाथासप्तशती (प्राकृत) तक के ग्रन्थों में श्रीराधा के उल्लेख और श्रीकृष्ण के मधुरोपासनात्मक प्रसंगों का लेखक ने सप्रमाण निरूपण किया है। निश्चय ही, पञ्चतन्त्र और गाथासप्तशती (१। ८९) के संकेत—मधुरभावापन्नता की दृष्टि से शुद्ध साहित्य में प्राचीनतम उल्लेख हैं।

१. लेखक : पं० श्रीबलदेव उपाध्याय; प्रकाशक : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना; पृ० सं० ९+५३३; मूल्य : दस रुपये पचास पैसे मात्र।

इसी प्रकार, स्कन्दपुराण के काशीखण्ड में श्रीअन्नपूर्णा का भी नाम-निदेश प्रत्यक्षत: नहीं है, यद्यपि 'भवानी' नाम मिलता है।

द्वितीय खण्ड का विवेच्य है—धर्म के आलोक में श्रीराधा का स्वरूप-साक्षात्कार। यहाँ नौ परिच्छेदों में विवेच्य का निरूपण है। आरम्भ में श्रीराधा और कान्तभक्ति का विकास दिखाते हुए प्रेम और काम के भेदक वैशिष्ट्य का (मनोवैज्ञानिक भी) परिचय देने के साथ-साथ लेखक ने आलवार-भक्ति में श्रीराधा का स्वरूप और पुराणों में राधातत्त्व का अनुशीलन उपस्थित किया है। द्वितीय से षष्ठ तक के परिच्छेदों द्वारा निम्बार्क, वल्लभ, हितहरिवंश और चैतन्य—इन आचार्यों के सम्प्रदायों में प्रतिपादित, स्वीकृत एवं उपासनीय श्रीराधा एवं तत्सम्बद्ध मतदृष्टि का निरूपण किया गया है। इसी परिवेश में तत्तद् भक्ति-दर्शनों का सम्बद्ध रेखाचित्र भी सामने आ उपस्थित होता है।

तृतीय खण्ड का विवेचन, जैसा कि स्वयं ग्रन्थ-लेखक ने बताया है, साहित्य के आलोक में हुआ है। इस खण्ड के प्रथम दो परिच्छेदों में दृष्टि-विशेष को लेकर विषय-विवेचन किया गया है। प्रथम परिच्छेद में वैष्णव-काव्यों और कृष्ण-काव्यों के विकासोद्‌गम की चर्चा के साथ-साथ श्रीमद्भागवत की लोकप्रियता पर विचार किया गया है तथा साथ ही संस्कृत-गीतिका के भाषा-गीतिका पर प्रभाव का वर्णन दिया गया है। इसी प्रकार द्वितीय परिच्छेद में राधा-काव्य की विकास-परम्परा के अन्तर्गत प्राकृत और अपभ्रंश-ग्रन्थों का परिचयात्मक विवेचन करने के अनन्तर 'राधाकृष्ण-काव्य के स्वरूप और मूल' तथा 'भागवत स्वरूप का निर्देश' शीर्षकों के अन्तर्गत सम्बद्ध विषय की चर्चा हुई है। इसी परिच्छेद में 'पदशैली' को लेकर काफी सामग्री उपस्थित की गई है। यद्यपि इस प्रसंग के अन्तर्गत कुछ महत्त्व की अनुशीलनात्मक सामग्री उपस्थित की गई है, तथापि ग्रन्थ के शीर्षक से उसका कोई साक्षात्सम्बन्ध नहीं है। उसके विना भी काम चल जाता।

प्रज्ञावान् विद्वान् लेखक ने क्षीरग्राही हंस-विवेक का प्रयोग करते हुए मर्म और महत्त्व की मुख्य ज्ञेय सामग्री का अच्छे ढंग से परिचय दिया है। दक्षिणांचलीय, विशेषत: तमिल की भिन्नाभिधानवाली (नप्पिनै) तथा पूर्वीय अंचल के असमिया और उड़िया भाषा के भक्तिभार्गीय श्रीराधा का जो परिचय दिया गया है, वह हमारे जैसे स्वल्पज्ञानों के लिए बड़ा ज्ञानवर्द्धक है।

—करुणापति त्रिपाठी

०

साम्प्रतिकी[1] : नई कविता के पैंतीस प्रतिनिधि-कवियों की पचासी कविताओं का एक संकलन है, जिससे यह नई कविता का एक प्रतिनिधि-संकलन बन पड़ा है और जिसके आधार पर नई कविता के अभावों-उपलब्धियों का अनुमान किया जा सकता है। फिर भी, यह कहे विना नहीं रहा जा सकता कि इसमें ऐसे कवि भी स्थान पा गये हैं, जो या तो भूतपूर्व

१. सम्पादक : डॉ० श्रीवीरेन्द्र श्रीवास्तव, डॉ० श्रीमाहेश्वरी सिंह 'महेश' तथा प्रो० श्रीकृष्णनन्दन 'पीयूष' : प्रकाशक : विहार ग्रन्थ कुटीर, पटना; मूल्य : चार रुपये मात्र।

हो चुके हैं अथवा कविता के क्षेत्र में जिनकी विशेष देन नहीं है। इस कारण, स्वभावतः ही कुछ ऐसे कवि रह गये, जो सब तरह से इसमें स्थान पाने के अधिकारी थे।

स्व० आचार्य नलिनविलोचन शर्मा का जन्म सन् १९१६ ई० में हुआ था (दे० 'साहित्य' का नलिन-स्मृति-अंक, पृ० ६५); किन्तु 'साम्प्रतिकी' में उनका जीवन-काल सन् १९१२—१९१६ ई० बताया गया है। इस संकलन में कवियों का अनुक्रम उनके जन्म-वर्ष के अनुसार है, पर नलिनजी का स्थान न तो १९१२ के अनुसार है, न १९१६ के अनुसार। यह नीति-विपर्यय समझ में नहीं आया।

कवियों का परिचय स्तरीय नहीं है। कुछ खास विशेषणों का प्रयोग अधिकांश कवियों के लिए किया गया है। कवियों की निजी विशेषताओं और उनकी उपलब्धियों का का विवेचन-मूल्यांकन नहीं हो सका है। नागार्जुन के परिचय में कहा गया है—'प्रगतिवादी काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं।' तब, नई कविता के संकलन में उनको स्थान देने का तात्पर्य? प्रगतिवादी काव्य को नागार्जुन की जो देन है, उसका संकेत-मात्र यहाँ होता और नई कविता को उनकी देन का सविस्तर उल्लेख भी अपेक्षित था। कवियों का परिचय प्रस्तुत करने में परिश्रम नहीं किया गया है। इसके प्रमाण के लिए प्रस्तुत उदाहरण ही अलम् है।

संकलन का समापन दो निबन्धों से हुआ है। प्रो० कृष्णनन्दन 'पीयूष' ने अपने लेख 'नई कविता : स्थापना एवं विवेचन' में नई कविता का विकासात्मक और विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव का लेख 'प्राचीन काव्यशास्त्र की दृष्टि से नई कविता' विद्वत्तापूर्ण है। उन्होंने एक ओर यदि प्राचीन काव्यशास्त्र और नई कविता के विचारकों की मान्यताओं का तुलनात्मक विवेचन कर यह स्पष्ट कर दिया है कि दोनों काव्य के अस्तित्व के प्रश्न पर एकमत हैं, तो दूसरी ओर, नई कविता से अनेक उदाहरण देकर यह भी प्रमाणित कर दिया है कि व्यवहार में नई कविता के कवि बहुत दूर हो गये हैं। इस तरह, डॉ० श्रीवास्तव ने एक बहुत महत्त्व का प्रश्न उठाया है, जिसपर नई कविता के कवियों और विचारकों को सोचना है।

समग्रतः, 'साम्प्रतिकी' एक सुन्दर संकलन है, जो नई कविता के अध्ययन में निस्सन्देह सहायक होगा। 'साम्प्रतिकी' नाम को चरितार्थ करते हुए अगर इसमें साम्प्रतिक गातिकाव्य का भी प्रतिनिधित्व कराया जाता, तो उत्तम होता। —**डॉ० सियाराम तिवारी**

●●

विचार-विनिमय

एक महत्त्वपूर्ण पत्र और उसका उत्तर

[०]

भाषाविज्ञान-विभाग

सागर-विश्वविद्यालय, सागर
दिनांक १७-८-६४

प्रिय श्रीवासुदेवशरणजी,

'परिषद्-पत्रिका' में आपका अध्यक्षीय भाषण पढ़ा। यह अत्यन्त सुन्दर है और अनेक महत्त्वपूर्ण सुझावों से पूर्ण। फिर, आपकी विशेष शैली की छाप तो उसपर है ही। हार्दिक बधाई!

उसमें उल्लिखित एक बात की चर्चा करना चाहता था। उसमें आपने एक स्थान पर लिखा है कि अपनी लिपि का 'नागरी' अथवा 'देवनागरी' नाम पाटलिपुत्र पर पड़ा है, जो 'नगर' विशेष प्रसिद्ध हो गया था। क्या उसके कोई विशेष प्रमाण हैं? मुझे ठीक पता नहीं चल सका है कि 'नागरी' लिपि या 'नागर' अक्षर नाम पहले-पहल किस शताब्दी से मिलते हैं और इन दोनों में कौन अधिक पुराना है? क्या लिपि का 'नागरी' नाम पाटलिपुत्र पर पड़ने के कोई निश्चित प्रमाण भी हैं अथवा यह केवल अनुमान-मात्र है?

इधर मैंने 'नागर' या 'नागरी' नामकरण के सम्बन्ध में एक सुझाव दिया था कि सम्भव है, यह नाम (नागर) वास्तुशास्त्र में प्रचलित 'नागर' (आर्य-उत्तर-भारतीय या मध्यदेशीय) शैली पर पड़ा हो। आप जानते ही हैं कि यह शैली द्राविड तथा वेसर-शैलियों से भिन्न थी और इसकी विशेषता चतुष्कोण होने में थी। इस नाम का प्रयोग मन्दिरों के अतिरिक्त रथों, शिवलिङ्ग आदि के लिए भी होता था। दक्षिणी लिपियों की तुलना में नागरी-लिपि की विशेषता इसके चतुष्कोण होने में है। अतः, यह सम्भव है कि 'नागर' व्यापक नाम इस लिपि 'नागर' अक्षर के लिए भी दे दिया गया हो। यह भी केवल कल्पना ही है। इस सम्बन्ध में आपकी क्या प्रतिक्रिया है, यह जानना चाहूँगा।

बहुत दिनों से आपसे मिलना नहीं हो सका है। मुझे यहाँ नवम्बर तक रुकना है, उसके बाद इलाहाबाद आकर रहने का विचार है, तब मिल सकने की अधिक सम्भावना है। आशा है, आपका स्वास्थ्य अब ठीक होगा। पिताजी लगभग एक वर्ष से बराबर बीमार चल रहे हैं और काफी निर्बल हो गये हैं। आपकी बराबर याद कर लेते हैं। आपको आशीर्वाद लिखा रहे हैं। बाबूरामजी तो रायपुर पहुँच गये हैं। आपका 'सहसम्ब वन' शीर्षक लेख भी बहुत रोचक था। शेष सस्नेह नमस्कार।

भवदीय
धीरेन्द्र वर्मा

[००]

का० हि० वि० वि०
२१-८-६४

प्रिय श्रीधीरेन्द्रजी,

आपका पत्र, दि० १७-८-६४ का मिला । नागरी-शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में आपका प्रश्न महत्त्वपूर्ण है । मन्दिर-वास्तु की नागर-शैली अवश्य प्रसिद्ध है और वह उत्तरापथ की वास्तुशैली थी । किन्तु, उससे समस्या का समाधान नहीं होता और यह प्रश्न बना ही रहता है कि नागरवास्तु इस नाम की उत्पत्ति कैसे हुई ?

मैं जब 'चतुर्भाणी' नामक ग्रन्थ का अनुवाद और सम्पादन कर रहा था, तब मुझे 'धूर्त्तविटसंवाद' नामक भाग में नवें श्लोक के बाद यह गद्यवाक्य मिला—**स्थाने खलु कुसुमपुरस्यानन्यनगरसदृशी नगरमित्यविशेषग्राहिणी पृथिव्यां स्थिता कीर्त्तिः ।**

इसमें यह निश्चित लिखा है कि पाटलिपु की प्रसिद्धि किसी समय केवल नगर नाम से हो गई थी । यह भाग और इसके साथ के अन्य तीन भाग चार सौ ईसवी के लगभग रचे गये, जब सौराष्ट्र के शकों पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने विजय प्राप्त कर ली थी। पाटलिपुत्र के नगर नाम से मेरे भीतर यह विचारधारा उत्पन्न हुई कि नागर प्रासाद-शैली और नागरी-लिपि इन दोनों नामों की सरल, स्वाभाविक व्युत्पत्ति पाटलिपुत्र के नगर नाम से मानना ही संगत है । नागर, द्राविड, वेसर, इन तीनों का उल्लेख सर्वप्रथम 'मानसार' ग्रन्थ में आया है—

नागरद्राविडादीनां वेसरादीन् (नां) शिखाचितम् ।
सर्वालङ्कारसंयुक्तं पूर्ववत्परिकल्पयेत् ॥ (मानसार, २६।३८)

'मानसार' लगभग छठीं-सातवीं शती की रचना मानी जाती है । तबतक तीन प्रकार की प्रासाद-शैलियाँ विकसित और नामांकित हो चुकी थीं । उन्हीं में एक नागर-शैली भी थी । इसी से सम्बद्ध प्रश्न 'नन्दिनागरी' नाम की व्युत्पत्ति का भी है । मेरे विचार में वाकाटकों के राज्य में नन्दिनगर (वर्त्तमान नान्देड़) नामक बड़ा स्थान था । वाकाटक की लिपि के अक्षर संपुटित मस्तकवाले होते थे । इन्हें ही मत्स्यपुराण में शीर्षोपेत कहा है—

लेखकः कथितो राज्ञः सर्वाधिकरणेषु वै ।
शीर्षोपेतान्सुसम्पूर्णान्समश्रेणिगतान्समान् ॥ (मत्स्य०, २१५।२६)

वाकाटक-लिपि में इन अक्षरों के लिए अँगरेजी में Box headed शब्दों का प्रयोग करना पड़ा । अतः, उस युग में भी इनके लिए विशेष नाम की आवश्यकता हुई होगी और वह नाम नन्दिनागरी हुआ जान पड़ता है । उनकी तुलना में उत्तरी भारत के विना पगड़ी के अक्षर देवनागरी कहे गये, यह सम्भाव्य है; क्योंकि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजधानी होने के कारण पाटलिपुत्र की सं । 'देवनगर' भी सम्भव थी । उसका नगर नाम होने में तो सन्देह है ही नहीं । इस प्रकार, नागरी, देवनागरी और नन्दिनागरी नामों की व्युत्पत्ति के विषय में सम्भावित प्रमाणधारा सामने आती है ।

आपके पूज्य पिताजी के चरणों में मेरा सादर प्रणाम स्वीकृत हो । सस्नेह

वासुदेवशरण

हिन्दीभाषी राज्यों में हिन्दी की प्रमुखता*

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की बात हम हिन्दीवालों ने भी बहुत बाद में की है। आरम्भ में तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की प्रेरणा स्व० केशवचन्द्र सेन के मन में आई और उन्होंने स्वामी दयानन्द से कहा कि यदि आप अपनी बातों को राष्ट्रव्यापी बनाना चाहते हैं, तो हिन्दी-भाषा में प्रवचन और हिन्दी में अपने सिद्धान्तों को लिपिबद्ध करें। स्वामी दयानन्दजी ने केशव बाबू के इस मूल्यवान् परामर्श को माना। इस इतिहास के आधार पर हम कह सकते हैं कि एक बंगाली और एक गुजराती मनीषी ने हिन्दी की उपयोगिता को स्वीकार कर उसको राष्ट्रीय धरातल पर रखा। आगे चलकर महात्मा गांधीजी ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कराया, किन्तु वह युग दूसरा था। वह त्याग और बलिदान का युग था। उस युग के नेताओं के निकट त्याग, बलिदान और राष्ट्र के स्वाभिमान का प्रश्न था, स्वार्थ और नौकरी का नहीं। आज का युग दूसरा है। आज स्वार्थ और नौकरी का युग है। आज यदि हम हिन्दी की बात करते हैं, तो कुछ लोग इसमें हिन्दी-साम्राज्यवाद देखते हैं। हमें हिन्दी-साम्राज्यवादी कहते हैं। इसीलिए, अब हमलोगों को सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए हिन्दी की बात नहीं करनी चाहिए। अब तो राष्ट्र की जिम्मेदारी अँगरेजीदाँ लोगों पर सौंपकर हमें अपने घर, अर्थात् हिन्दी-क्षेत्र की बात सोचनी चाहिए, जिससे अँगरेजी-साम्राज्यवादियों के मन से आशंका तो दूर हो जाय। और, कौन कहता है कि हमें अपने घर में, अर्थात् हिन्दी-क्षेत्र में, हिन्दी को पूर्णरूप से राजभाषा बनाने का अधिकार नहीं है। यह अधिकार हिन्दीभाषी जनता को है और हिन्दीभाषी राज्यों की जनता ने बहुत पहले ही अपनी भाषा हिन्दी को राज्यासन पर आसीन कर दिया है; किन्तु अबतक अँगरेजी को हटाया नहीं गया है और इसी कारण हिन्दी का विकास रुका हुआ है। अतः, अब यह आवश्यक है कि हिन्दी-प्रदेशों से अँगरेजी को हटा दिया जाय।

मुख्यतः हिन्दीभाषी राज्य पाँच हैं—१. बिहार, २. उत्तरप्रदेश, ३. मध्यप्रदेश, ४. राजस्थान और ५. हिमांचल-प्रदेश। इनके अतिरिक्त आधे से अधिक पंजाब भी हिन्दी-भाषी है। इन सभी राज्यों की जनसंख्या २० करोड़ के आसपास है। इस क्षेत्र में निश्चय ही कुछ लोगों की भाषा हिन्दी के अतिरिक्त और भी हो सकती है। उसी तरह कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि क्षेत्रों में ऐसी भी जनसंख्या है, जिनकी अपनी भाषा हिन्दी है। इसी लिए, मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि हिन्दी-भाषाभाषियों की जनसंख्या लगभग २० करोड़ है और यह जनसंख्या पूरे राष्ट्र की जनसंख्या का लगभग ४४ प्रतिशत है।

---

*दि० १५ अगस्त (१९६४ ई०) को नई दिल्ली में आयोजित भारत के हिन्दीभाषी-राज्यों के हिन्दी-सम्मेलन में बिहार-विधानसभा के अध्यक्ष डॉ० श्रीलक्ष्मीनारायण सुधांशु द्वारा अध्यक्ष-पद से दिये गये भाषण का अंश।

इस प्रकार, यह क्षेत्र ऐसा है, जिसकी एक निश्चित भौगोलिक सीमा है, जिसका आपस में सामाजिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध है, जो एक सर्वमान्य हिन्दी-भाषा के माध्यम से व्यवहार करते हुए अभिव्यक्ति के एक माध्यम से आबद्ध है। अर्थात्, संवैधानिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और न्याय-नीति के अनुसार जिसकी अपनी हिन्दी-भाषा को अपने क्षेत्र में राज्यासीन होने का पूर्ण अधिकार है। इस क्षेत्र के नेतागण, चाहे वे किसी भी दल के हों, चाहे किसी भी स्तर का चुनाव हो, मुख्यतः हिन्दी-भाषा द्वारा जनता से वोट माँगते हैं, इसलिए भी इस क्षेत्र के प्रशासन की भाषा हिन्दी ही हो सकती है; किन्तु यह एक दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना है, अथवा अँगरेजीपरस्त नौकरशाही का व्यापक षड्यन्त्र है, जिस कारण आज तक इस भूखण्ड के भी शासन में हिन्दी को वह स्थान नहीं प्राप्त हो सका, जिसका उसे पूर्ण अधिकार है।

हिन्दीभाषियों ने कभी अपने स्थानीय स्वार्थ में आबद्ध होकर राष्ट्रीयता अथवा हिन्दी की बात नहीं कही है। वे औरों की अपेक्षा प्रादेशिक भावना से बहुत कुछ मुक्त हैं। हिन्दी-क्षेत्र की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दोनों ही परिस्थितियों ने हिन्दीवालों के दृष्टिकोण को व्यापकता प्रदान की है। हिन्दी की प्रकृति में भी प्रादेशिकता की प्रवृत्ति नहीं है। वस्तुतः, हिन्दी अपनी सरलता और सुगमता के कारण सर्वजनग्राह्य है, किन्तु कुछ लोग अपनी प्रादेशिक भावना के वशीभूत होकर ऐसा सोचते हैं कि यदि राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी राजकाज की भाषा हो जायगी, तो सरकारी नौकरियों में अँगरेजी के माध्यम से आज उनका जो स्थान और प्रभाव है, उसमें कमी आ जायगी तथा सरकारी नौकरियों में हिन्दीभाषियों का प्राधान्य हो जायगा, जिससे उनके अथवा उनकी सन्तान के स्वार्थ की हानि होगी।

आज हम लोकतन्त्र के युग में रहते हैं। अतः, हमें लोकतान्त्रिक परम्पराओं का पालन अवश्य करना चाहिए। लोकतन्त्र में शिक्षित प्रशासक-वर्ग और जनसाधारण के बीच का अन्तर मिटाना परम आवश्यक है। विना यह अन्तर मिटाये वास्तविक लोकतन्त्र की स्थापना हो ही नहीं सकती। इस दृष्टि से विचार करने पर खेर-आयोग के शब्दों में हमें यही कहना पड़ता है कि "...केवल भारतीय भाषाओं के माध्यम से हम जनसाधारण की सेवा के लिए अभिप्रेत अपने राष्ट्रीय जीवन का वह व्यापक पुनरुत्थान करने में सफल हो सकते हैं, जो संविधान में उल्लिखित राजकीय नीति के निर्देशक सिद्धान्तों, मूल अधिकारों, वयस्क-मताधिकार, निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा, सामाजिक न्याय के विस्तार और सबके लिए समान रूप से अवसर सुलभ करने के लक्ष्य पूरे करने के लिए आवश्यक हैं।" अतः, हिन्दीभाषी सभी राज्यों के राजकाज में हिन्दी को प्रमुखता देना लोकतन्त्र के अनुकूल है। ऐसी स्थिति में २६ जनवरी, १९६५ ई० के बाद हिन्दीभाषी-राज्यों में अँगरेजी को कायम रखना संविधान की मंशा के विरुद्ध ही नहीं, उसकी उपेक्षा करना होगा।

०

प्रेमपर्व : विधि-निर्दिष्ट अभिसार

[यहाँ हम महर्षि श्रीअरविन्द-रचित 'सावित्री' महाकाव्य के पाँचवें और सबसे छोटे प्रेमपर्व के सबसे नन्हा प्रथम सर्ग का हिन्दी-पद्यान्तरण उपस्थित कर रहे हैं। यह तो केवल उस निगुह्य स्थल का वर्णन है, जहाँ सृष्टि के अन्तर की सबसे बड़ी साध पूरी होनेवाली है और सावित्री की एकाएक पहले-पहल सत्यवान् से भट होनेवाली है। उपयुक्त वर की खोज में वह दो वर्ष की अविराम और अथक यात्रा में, नगरों, ग्रामों और तपोवनों में बड़े-बड़े राजा-महराजाओं, ज्ञानियों, पण्डितों और कलामर्मज्ञों से मिलकर भी अपनी आत्मा के निश्चित उद्देश्य में सफल नहीं हो सकी। उसका वह उद्देश्य अब उसे इस निर्जन और एकान्त प्रकृति के शान्त आश्रयस्थल में खींच लाया है, जहाँ वह पूरा होनेवाला है। वह इस विधि-निर्दिष्ट स्थल पर एक ऐसे जुए के नीचे, जिसमें एक ओर मृत्यु है और दूसरी ओर नियति का विधान है, खड़े अपने अजनबी प्रेमी से मिलनेवाली है। उसके प्रेम की विजय मानव के उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करनेवाली है।—विद्यावती कोकिल]

पर अब सावित्री का विधि-निर्धारित संगम-थल औ' बेला थी नियराई।
अपने निर्नाम ध्येय तक अनजाने थी धीरे-धीरे अब वह खिच आई।
यद्यपि अन्ध औ' कुटिल अकस्मात् का
एक आवरण है, जो सर्वज्ञानमय 'विधि' के सब कार्यों को ढक रखता है,
किन्तु, हमारा इक-इक कार्य उस 'अलख'
सर्वसमर्थ और सर्वज्ञ 'शक्ति' की भाषा की ही परिव्याख्या करता है,
जो प्रत्येक वस्तु के भीतर उसका दुर्निवार मूल तत्त्व बन बसती है,
बस भवलीला की सारी घटनाएँ
अपने नियत-काल पर ही औ' अपने पूर्वदृष्ट थल पर ही घट सकती हैं।
वह अब ऐसी सुकुमार और कोमल मोहक मधु वनस्थली में पहुँची थी,
जो तरुणाई मोद और हर्षों का इक पावन अभिराम तीर्थ लगती थी,
मुक्त और हरितोल्लास से भरी जो अधित्यका की उन्नत एक भूमि थी,
अलसाई-सी एक मौज में अपनी गलबहियाँ दे झगड़-झगड़, हँस-हँसकर
स्नेह-बिवाद चलाते-से इक सुखकर
ग्रीष्म, वसन्त जहाँ दोनों लेटे थे और रहे थे प्रमुदित इक प्रयत्न कर—
देखें कल पाता है कौन राज्य कर।
ऐसे में प्रत्याशा खोल अचानक अपने विशाल पर फड़फड़ा उठी थी,
जैसे पृथिवी के आनन से कोई अन्तरात्मा ही बाहर झाँकी थी,
बस पृथिवी के भीतर के सब कुछ ने अनुभव किया एक नव-परिवर्त्तन वर,
औ' फिर वह बाहर के अपने हर्षों औ' साधारण सपनों को बिसराकर
समयाह्वान और निज आत्मनियति की आज्ञा पर ही अपना चाप बढ़ाकर
परम शान्त औ' सकल-विकार-विहीना सुन्दरता से खिच ऊर्ध्व में चढ़ गया,
जिसको 'शाश्वत' नयनों के नीचे अबतक केवल देखा-सुना है गया।

पर्वतीय शीशों की एक भीड़ थी, चढ़ती चली जा रही नभ के ऊपर
बढ़ी जा रही, गगन के निकट पहुँचे स्वप्रतिस्पर्द्धी कन्धों को धकियाकर
कवच-सुसज्जित लौहपंक्ति के मानों नायक बन थे चले जा रहे आगे;
उन पाषाणी दृढ चरणों के नीचे धरा पड़ी थी सीधी चित अनुरागे।
नीचे घाटी में बन विनत झुका था विजन, सघन, मरकत वन का इक सपना,
चमकीले सीमान्त, निपट एकाकी थे, जसे हो नींद का देश अपना,
पाण्डुवर्ण जलधार दौड़ती आती झिलमिल मुक्ता-मालाओं का सरना।
सुखकारी पत्रों के बीच-बीच में इक उसाँस भूली-भटकी फिरती थी,
शीतल और सुगन्धित मत्त समीरण सुखबोझिल चरणों से मृदु मन्दाती
सुधि भूली-सी और लड़खड़ाती-सी मुग्ध फूल कलियों से थी लुड़ियाती।
इक चटकीली औ' अडोल धारी सम धवल, अचल बकुलों की पाँत खड़ी थी,
मुग्ध शुकों औ' मोरों से वन-धरणी औ' वृक्षावलि, रत्नों-सरिस जड़ी थी,
पारावत के मृदुल, मदिर अभिकूजन मुग्ध गगन को नवल विभव से भरते,
और अग्निपक्षी कलहंस अरण्यज रजत-जलाशय में थे इत-उत तिरते।
निपट अकेली निधरक धरा पड़ी थी अपने महान् प्रेमी 'नभ' के आगे
निज संगी के अरुणिम नील नयन के नीचे लेटी मुक्त, वसन सब त्यागे।
आनन्दातिरेक की उमंग में भर
तरह-तरह के कलकंठों के द्वारा अपना प्रेम-गीत थी मुद बरसाती
विकचन और स्फुटन के मिस रागों के अनगिन रूपों की माधुरी लुटाती
उन्मद पर्वक्षणों में सुध-बुध खोये सुगन्धि की औ' रंगों की कीच मचाती।
चिल्लपुकारों, कूद-छलाँगों की ज्यों आपाधापी थी बस चहुँमुख छाई,
और शिकारी इन नन्हें जीवों की घात-ताक में चोर-चाप थी धाई
उसके रत्नप्रभ नराश्व-प्राणी की दमक रही थीं झबरी हरित सटाएँ,
चमक, उष्णता के ये अपनी उसने स्वर्ण और नीलम चहुँ ओर लुटाये।
जग के सुख-उन्मादों का जादूगर,
सुख-चंचल, इन्द्रियस्पर्शी, बेफिकरा सरल, दिव्य प्राण था उमड़ाता,
उसके विविध-रूप-आनन्द-थलों में बहा जा रहा कहीं, कहीं छिप जाता,
नीचे तपोनिमग्ना प्रकृति-जननि की फैली थी महान नीरव निश्चलता।
आदिशान्ति का साम्राज्य छाया था
जो निज सुस्थिर अविक्षुब्ध अन्तर में पशु-पक्षी के सब कलहों को खींचे
लिये पड़ी थी सबकुछ आँखें मींचे।

चिन्तक-भाल जहाँ यह मानवशिल्पी नहीं पदार्पण अपना कर पाया था,
सुखी, अचित् इन द्रव्यों में दुनिया के नहीं डाल वह अपना कर पाया था,
नहीं विचार वहाँ था, बुद्धि नहीं थी राई-रत्ती तौल तोलनेवाली,

श्रम की कठोर चौकस दृष्टि कहाँ थी हानि-लाभ की परख पकड़नेवाली,
निज ध्येयों के संग बेसुरेपन की जीवन ने थी अभी न आदत डाली।
महाजननि लेटी थी अँग ढीले कर निश्चिन्त बनी अपने पाँव पसारे,
प्रथम योजना उसकी पूर्ण सफल थी ठीक-ठीक चलते थे कारज सारे।
विश्वात्मा की आनन्देच्छा के वश
तरुवर अपने हरितोल्लास में मुदित कानन में फूले-फूले फिरते थे,
औ' आजाद जंगली शावक दुख पर कभी बैठकर सोच नहीं करते थे।
इस सबके आखिर में पड़ा फैलकर एक मार्ग था अति दुर्गम औ' भीषण,
गहराइयाँ जहाँ अस्पष्ट, जटिल थीं प्रश्नेच्छुक गम्भीर खड़े पर्वतगण,
शिखरावलियाँ थीं जैसे आत्मा ही होकर रही कठोर तपस्या निशिदिन,
सुदूर और कवच-रक्षित-सी थी जो एकाकीपन में ही गौरवशाली,
यथा विचार-आवृता शाश्वतियाँ हों
जो नट-नागर के लीला-नर्त्तन की स्मिति-विमुग्धता के पीछे हों फैली।
एक जटाधर-विपिन-शीश ने उठकर गगन-चढ़ाई करने को था ताका,
शैल-निबद्ध-गुफा से अपनी बाहर
आकर नीलकंठ कोई योगी ने
जग को अल्प-टिकाऊ हलचल को निज दृष्टि उठाकर जैसे था टुक झाँका,
औ' पीछे दूर-दूर तक छाया था गुरु-प्रभाव जिसकी विशुद्ध आत्मा का।
भीषण एकान्तवास से उठ-उठकर एक शक्तिशाली रव का अभिगुंजन,
श्रवणों पर छाया जाता था बरबस अन्तविहीन उदास एक आवाहन,
मानों कोई आत्मा जग-वैभव से विदा लिये जा रही चली हो उन्मन।
ऐसा था वह दृश्य जहाँ कुछ सुखकर
दिवस बिताने की खातिर रहस्यमय विश्वजननि ने स्थान-विशेष चुना था
और परम एकाकी इस निर्जन में
जग से दूर, मनुज के ही सुख-दुख में अपने अभिनय का आरम्भ किया था।
सावित्री के अन्तर्मन पर उस थल रहस्य-प्रांगण एक-एक प्रगटे थे,
गुह्य चमत्कार और सुन्दरता के छिपे द्वार पर द्वार जहाँ उघरे थे,
स्वर्ण-भवन में पक्ष-निनाद सुना था,
और मधुरता का मन्दिर अवलोका, अग्निल परिक्रमा-पथ को देखा था।
दुख-दारिद्र्य-भरे इस 'काल'-पन्थ पर जैसे एक अजनबी अचक भेंटाये
नियति, मृत्यु के महा-जुए के नीचे जाकर कोई अमर खड़ा हो जाये,
इस प्रकार वह लोक और लोकान्तर के सुख औ' आनन्दों का आहुतिकर
प्रेम मिला आ औचक सावित्री को उस अरण्य-निर्जनता में अब भुज भर।

[पाँचवें पर्व का प्रथम सर्ग समाप्त]
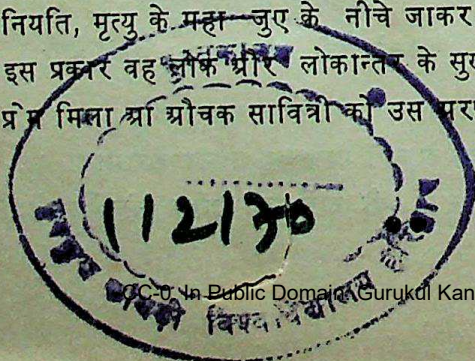
संक्षिप्त परिचय

- बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् बिहार-सरकार के शिक्षा-विभाग द्वारा संस्थापित और संचालित है।
- यह संस्था गत १४ वर्षों से हिन्दी में साहित्य, संस्कृति, कला, विज्ञान आदि विभिन्न विषयों के शोधपूर्ण, मौलिक तथा उपयोगी ग्रन्थों का प्रकाशन करती आ रही है।
- इस संस्था की ओर से अबतक लगभग ६५ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।
- परिषद् के प्रकाशन उच्च कोटि के अधिकारी विद्वानों, मर्मज्ञ आलोचकों तथा प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं द्वारा मुक्त कंठ से प्रशंसित एवं पाठकों में लोकप्रिय हैं।
- परिषद् के प्रकाशन सुरुचिपूर्ण, आकर्षक और स्थायी महत्त्व के होते हैं।
- भारत-सरकार और राज्य-सरकारों के विभिन्न संस्थानों द्वारा इस संस्था की १५ पुस्तकें अबतक पुरस्कृत हो चुकी हैं।
- अन्य भाषाओं के महत्त्वपूर्ण साहित्यिक और वैज्ञानिक ग्रन्थों के हिन्दी-रूपान्तर को प्रकाशित करने तथा सांस्कृतिक महत्त्व के लोक-साहित्य को हिन्दी में उपलब्ध कराने में परिषद् का विशिष्ट योगदान रहा है।

परिषद् के प्रकाश्यमान ग्रन्थ

***

१. काशी की सारस्वत साधना :
म० म० डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज

२. भारतीय नीति का विकास : डॉ० श्रीराजबली पाण्डेय

३. यात्रा का आनन्द : आचार्य काका साहेब कालेलकर

४. सार्थवाह (द्वितीय संस्करण) : डॉ० श्रीमोतीचन्द्र

५. काव्यमीमांसा (द्वितीय संस्करण) :
अनु० पं० श्रीकेदारनाथ शर्मा सारस्वत

६. विद्यापति-पदावली (खण्ड २) :
विद्यापति-विभाग द्वारा प्रस्तुत

७. रामजन्म : ह० लि० ग्रन्थशोध-विभाग द्वारा प्रस्तुत

८. कहावत-कोश : लोकभाषा-विभाग द्वारा प्रस्तुत

९. कृषिकोश : ,, ,, ,,

१०. अंगिका-संस्कार-गीत : ,, ,, ,,

११. भारतीय अब्दकोश (१९६५) :
अब्दकोश-विभाग द्वारा प्रस्तुत

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना-४

प्रकाशक : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-४ :: मुद्रक : ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४